उद्धव व्रजगमन

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

उद्धव व्रजगमन

श्रीमद्भागवत महापुराण / दशम स्कन्धका

(४६ तथा ४७वाँ अध्याय)

☆

प्रवचन :

जगत्-श्री विभूषित

स्वामी-श्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

☆

संकलनकर्त्री :

श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी

☆

सम्पादिका :

श्रीमती प्रमिला मलिक

प्रकाशक व पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालाबार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो.: 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

●

प्रथम संस्करण : 1100
गुरुपूर्णिमा, 24 जुलाई 2002
संवत् : 2059 वि0
द्वितीय संस्करण : 500
विजयादशमी
28 सितम्बर 2009
तृतीय संस्करण : 500
नवरात्रि, अप्रैल 2013

चतुर्थ संस्करण : 500
दिसम्बर 2018

© सर्वाधिकार सुरक्षित

●

मूल्य : रु. 270/-

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी - 221001
मो. : 9415624020

प्रकाशकीय

'उद्धव व्रज गमन'का तृतीय संस्करण महाराजश्री परमपूज्य स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीकी कृपासे उन्हींके कृपापात्र श्रीमती ज्योत्स्ना बेन, श्रीसुरेन्द्र भाई शाह, बड़ौदाके आर्थिक सहयोगसे प्रकाशित किया जा रहा है।

अलभ्य ग्रन्थ उपलब्ध करानेमें सहयोग हेतु। धन्यवाद!

-सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
मुम्बई / वृन्दावन

प्रकाशकीय

मनुष्य जीवनके महापुराणमें अनेक स्कन्ध हैं-कोई अनुरोध स्कन्धमें रमे हैं, कोई विरोध स्कन्धमें जमे हैं, कोई अवरोध स्कन्धमें फँसे है, परन्तु जो भगवद्भक्त हैं उनके मन तो श्रीमद्भागवत महापुराणके दशम स्कन्ध-निरोध-स्कन्धमें लगे हैं।

क्योंकि भक्त हृदयकी भाव-भूमिपर भगवान अवतरित होते हैं, सगुण होते हैं, साकार होते हैं-भक्त चाहे तो साथ हँसते-रोते हैं, जागते-सोते हैं। उन्हीं भगवान और उनके भक्तोंकी लीलाकी अनुपम झाँकी लिए यह उद्धव व्रजगमन प्रसंग है। परमपूज्य परमादरणीय महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्दजी महाराज जैसे परम भागवत वक्ताने जब इस लीला-चरितका पान भगवद् भक्तोंको कराया तो वे भाव-विभोर हो उठे तथा भक्ति-भक्त-भगवान् एक हो गये।

इस भागवत कथाके प्रवचनोंको लिपिबद्ध करनेका श्रमसाध्य कार्य श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठीने बड़े मनोयोगसे किया है तथा श्रीदेवधर शर्मा व श्रीमती प्रमिला मलिकने निपुणतासे सम्पादन-हम इनके आभारी हैं। पू. ब्रह्मचारी श्री श्रवणानन्दजीने महाराजश्रीकी वाणी सत्साहित्यके रूपमें जनसामान्य तक पहुँचे अतः इस ग्रन्थके प्रकाशन हेतु आर्थिक सहयोग प्रदान किया। परमपूज्य महाराजश्री एवं महन्त स्वामीश्री ओंकारानन्दजी सरस्वती महाराजकी कृपा इन पर अनवरत बनी और बढ़ती रहे यही कामना है।

आप इस लीलामृतका पान स्वयं तो करेंगे ही साथ ही अपने परिवारको भी इसके अवगाहन हेतु प्रेरित कर 'सत्साहित्य'के प्रचार-प्रसारमें पुण्य भागी होंगे।

ट्रस्टी

जुलाई-2002 सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

सविनय निवेदन

स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वतीजीने अपने मुम्बई-प्रवासके दौरान श्रीमद्भागवतके उद्धव-व्रजगमन और भ्रमरगीत-प्रसंगपर कुछ प्रवचन दिये थे। यह प्रसंग भागवतके दशम स्कन्धके ४६वें तथा ४७वें अध्यायमें है। पूज्य पं० देवधरजी शर्मने इसका सम्पादन प्रारम्भ किया था, और शुरूके ३८ प्रवचन उन्हींके द्वारा सम्पादित हैं।

स्वामीजीके प्रवचनोंको संपादनकी तो आवश्यकता ही क्या हो सकती है। जिस सुलझे हुए ढंगसे वे अत्यन्त कठिन दार्शनिक सिद्धान्तोंको भी सरल ढंगसे प्रस्तुत कर देते हैं, वह तो सबके सामने ही है। एक ही बातको जो वे एकाधिक बार समझाते हैं, बस, वहाँ उस पुनरुक्तिको बचा दिया गया है या फिर अनेक संस्कृत-ग्रन्थोंमें-से वे अनेक उद्धरण देते हैं, वहाँ तक मेरी अल्प बुद्धिकी पहुँच न होनेके कारण उनके अर्थमात्र यहाँ दे दिये गये हैं। कहीं-कहीं संस्कृतकी पंक्तियाँ अधूरी होनेके कारण निकाल दी गयी हैं। ऐसा बहुत जगह पर हुआ है। क्षमाप्रार्थी।

स्वामीजीकी वाणी तो स्वयं बोलती है। अर्थके साथ-साथ भाषाकी प्रकृति भी वे समझाते चलते हैं। 'इतिकृत्य' अंग्रेजीका 'सेटिकेट' बन गया, 'श्लाघा' संस्कृतसे हिन्दीमें आते-आते 'सराहना' बन गया। अनेकानेक ऐसे उदाहरण हैं, जिनसे अध्यात्म-चर्चाके गम्भीर वातावरणमें वे हल्की-फुल्की फुहारोंकी रस-वर्षा कर देते हैं।

हमारे सांसारिक दुःखोंको दूर करनेका कैसा विश्वसनीय, आसान तरीका स्वामीजी बताते हैं, 'भगवान्‌को मनमें बसा लो, दुःख कहाँ रहेगा।' लेकिन स्वामीजी महाराज, भगवान्‌को मनमें बसा लेना आसान है क्या? आपने तो अपना अनुभव हमें बता दिया। अब वह साँवरा-सलोना, पीताम्बरधारी, मोर-मुकुटवाला बंशी बजाते हुए हमारे मनमें भी बस जायें न! आपके शब्दोंके साथ हम भी कह सकें ना..... देख-देख, वह नृत्य कर रहा,—मेरा प्यारा नन्दकिशोर।

स्वामीजीके चरणोंमें शत-शत प्रणाम

—प्रमिला मलिक

अनुक्रमणिका

प्रवचन संख्या	श्लोक संख्या	पृष्ठ संख्या
	छियालिसवाँ अध्याय	
१	१ - २	१
२	२ - ४	१२
३	४ - ५	२२
४	४ - ५	३२
५	४ - ५	४१
६	५ - ६	५१
७	६ - ८	५९
८	८ - १०	७०
९	१० - १३	८१
१०	१३ - १७	९१
११	१८	१०२
१२	१८ - २०	११२
१३	२० - २१	१२१
१४	२१ - २२	१३१
१५	२३ - २६	१४२
१६	२७ - २८	१५२
१७	२९ - ३०	१६१
१८	३०	१७१
१९	३० - ३१	१८१
२०	३१ - ३२	१९०
२१	३२ - ३४	१९८
२२	३४ - ३५	२०९
२३	३६ - ३७	२१९
२४	३८ - ३९	२२७
२५	४० - ४३	२३८
२६	४४ - ४६	२४७
२७	४६ - ४८	२५६
	सैंतालीसवाँ अध्याय	
२८	१ - २	२६३
२९	३ - ६	२७३

प्रवचन संख्या	श्लोक संख्या	पृष्ठ संख्या
३०	७ - १०	२८२
३१	११ - १२	२९०
३२	१२	२९९
३३	१३	३०९
३४	१३ - १४	३१८
३५	१४ - १५	३२८
३६	१५ - १६	३३७
३७	१६ - १७	३४७
३८	१८ - १९	३५६
३९	२० - २१	३६१
४०	२१ - २३	३७१
४१	२३ - २५	३८१
४२	२५ - २६	३९२
४३	२६ - २७	४०१
४४	२८ - २९	४०९
४५	२९	४१९
४६	३० - ३२	४२८
४७	३३ - ३७	४३९
४८	३८ - ४०	४५०
४९	४१ - ४२	४६३
५०	४३ - ४४	४७२
५१	४५ - ४७	४८१
५२	४८ - ५०	४८९
५३	५१ - ५३	४९८
५४	५३ - ५८	५०९
५५	५८	५१९
५६	५८ - ५९	५२९
५७	५९ - ६०	५३९
५८	६० - ६१	५५०
५९	६१	५६०
६०	६२	५७१
६१	६३ - ६७	५७९
६२	६६ - ६९	५८९

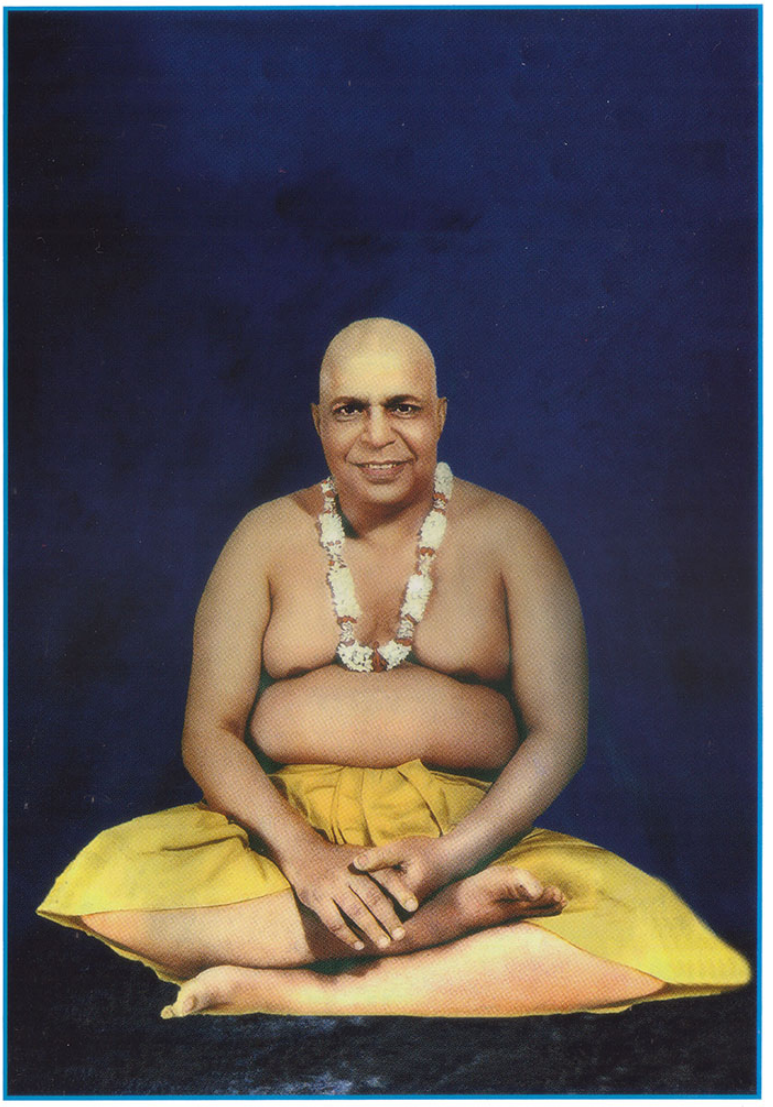

स्वामीश्री अखण्डानन्दजी सरस्वती

उद्धव व्रजगमन

प्रथम प्रवचन

श्रीमद्भागवत महापुराण भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप है। भगवान् स्वयं पुरुष-रूपसे प्रकट हुए हैं, और श्रीमद्भागवतमें जो बारह स्कन्ध हैं—वे भगवान्‌के बारह अंग माने गये हैं।

पहले स्कन्धमें अधिकारीका निरूपण है। श्रवणके अधिकारी तो बहुतसे हैं—जैसे शौनक, सूत और व्यास। उनमें सबसे श्रेष्ठ अधिकारी परीक्षित हैं—यह बात बतानेके लिए प्रथम स्कन्ध है। इसीलिए तीन अध्यायोंमें व्यासजीकी कथा, दो अध्यायोंमें शौनककी कथा और शेष सारे अध्यायोंमें राजा परीक्षितके वंशका, उनके पूर्वजोंका और उनकी महिमाका वर्णन है। दूसरा स्कन्ध साधन-स्कन्ध है। मनुष्यको अपने जीवनमें कैसा साधन करना चाहिए, इसका वर्णन है। तीसरे स्कन्धमें प्रकृतिसे सृष्टि कैसे होती है; चौथेमें ब्रह्माजी सृष्टि कैसे बनाते हैं। पाँचवेंमें सम्पूर्ण जगत्‌की स्थिति कैसे होती है; छठेमें भगवान् कृपा कैसे करते हैं और सातवेंमें मनुष्यके जीवनमें सत्संगका प्रभाव कैसे पड़ता है—यह बताया है। हिरण्यकशिपुका असुरका बालक गर्भमें सत्संग करके प्रह्लाद हो गया—यह सत्संगकी अनुपम महिमा है। आठवें स्कन्धमें मन्वन्तरोंका वर्णन है; बलि पर, सत्यव्रत पर भगवान्‌की कृपाका वर्णन है। नवेंमें वैराग्यके लिए राजवंशका वर्णन है। बड़े-बड़े राजा हुए, धरती तौलनेवाले—लेकिन आखिर सब चले गये। तो उद्देश्य यह है कि भगवान्‌का भजन करना चाहिए।

दशम स्कन्ध निरोध-स्कन्ध है। इसमें सब लोग भगवान्‌से प्रेम करते हैं—इसका वर्णन है; और भगवान् अपने भक्तोंसे प्रेम करते हैं—इसका वर्णन है। यह निर्गुण-ब्रह्म विद्या नहीं है, सगुण विद्या है। जो प्रसंग मैं सुनाने जा रहा हूँ, उसको निर्गुणकी कसौटी पर मत कसना। इसमें पञ्च-विवेककी कोई जरूरत नहीं है; इसमें तीन अवस्थाओंकी भी कोई जरूरत नहीं है। यह तो जहाँ हम हैं—मनुष्य लोकमें—वहाँकी कथा है।

अब भगवान्‌का बाल्यकाल तो बीत गया, और भगवान् मथुरा पहुँच गये। उनका यज्ञोपवीत संस्कार हो गया। ग्यारह बरस तकका जो स्वच्छन्द आचरण था, उसकी निवृत्ति हो गयी। बारह बरसका पुत्ता, छः महीनेका कुत्ता—गया सो गया। बारहवें बरसमें पुत्रके जो लक्षण हैं, वे प्रकट होने लगते हैं—कि आगे चलकर यह कैसा होगा? तो ग्यारह बरस तक जो स्वच्छन्द आचरण था—माखन-चोरी, चीर-हरण, गोपियोंके साथ लीला आदि—सब गया; यज्ञोपवीत-संस्कारके साथ वे शुद्ध क्षत्रिय जातिमें आगये, तब उन्होंने गुरुसे विद्या प्राप्त की, और गुरु-दक्षिणा भी दे दी। इसमें बहुत दिन लग गये।

अब भगवान्‌के मनमें यह शंका हुई—कि व्रजवासी कहीं हमको अकृतज्ञ न समझ लें; कि हम लोगोंने तो कृष्णसे इतना प्रेम किया, परन्तु कृष्ण मथुराके वैभवमें जाकर हम लोगोंको भूल गये। जाते समय वादा किया—'अरी गोपियों! मैं तुम लोगोंके बीचमें फिर आऊँगा।' नन्दबाबा जब लौटने लगे, तो तब भी कृष्णने यही वादा किया, कि—

यात यूयं व्रजं तात वयं च स्नेहदुःखितान्।
ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्॥

१०.४५.२१

ये जो हमारे सगे-सम्बन्धी हैं, इनके सुखकी, हितकी व्यवस्था करके मैं तुम लोगोंके बीचमें आऊँगा। परन्तु इतने दिन बीत गये और श्रीकृष्ण लौट करके आये नहीं—नन्दबाबा, यशोदा मैया अपने मनमें क्या सोचेंगे! हमारे ग्वाल-बाल क्या कहेंगे! गोपियाँ मेरे बारेमें क्या सोचती होंगी—कि कृष्ण कितने निष्ठुर हैं! तो उन सबके मनमें जो ये बातें हैं—उन सबको निकालनेके लिए छियालीसवें अध्यायसे उनचासवें अध्याय तक सात भक्तोंकी कथा है—कि भाई, भगवान् कैसे करते हैं उनके ऊपर कृपा; यह प्रसंग बताया हुआ है। वे सात भक्त कौन हैं? पहले तो यशोदा मैय्या, दूसरे ग्वाल-बाल, तीसरे गोपी, चौथी कुब्जा, पाँचवें अक्रूर, छठी कुन्ती और सातवें धृतराष्ट्र हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण मथुरामें रहके भी अपने दूर-दूर रहनेवाले भक्तोंकी यांद करते हैं। केवल भक्त ही भगवान्‌की याद नहीं करते, भगवान् भी भक्तोंकी याद करते हैं। भगवान्‌की आँखोंमें भी अपने प्रेमियोंके लिए आँसू आते हैं। उन्हें भी अपने भक्तोंके लिए रातको नींद नहीं आती है। वे भी उनके पास संदेशा भेजते हैं; उनका संदेशा मँगाते हैं। यह जो भगवान्‌के हृदयमें करुणा है, कृपा है, अपने

भक्तोंके प्रति प्रीति है—इसका वर्णन करनेके लिए छियालीसवेंसे उनचासवें अध्याय तकमें सात भक्तोंका वर्णन किया गया है। यह पूर्वार्द्धका अन्तिम प्रसंग है। इसमें यदि कोई यह शंका करे—कि भगवान् कृष्ण आये क्यों नहीं—तो विचार करके देखो; श्रीकृष्णने गोपियोंसे यह नहीं कहा कि तुम मथुरामें आजाना; वे बोले, कि मैं तुम्हारे पास आऊँगा। गोपियाँ तो मथुरा जा नहीं सकती थीं। यह व्यंजित हो गया, कि श्रीकृष्णने यह नहीं कहा, कि गोपियों! तुम मथुरामें आजाना। उनकी इच्छाके विपरीत उनके पास कैसे जायँ? और यह कहा—कि मथुराके लोगोंको सुखी करके फिर तुम्हारे पास आवेंगे। अब मथुराके लोग हैं—देवकी, वसुदेव, रोहिणी—ये लोग कृष्णको एक दिनके लिए भी वृन्दावन जाने देना नहीं चाहते; अपनी सौगन्ध दिला देते हैं, स्पष्टरूपसे आज्ञा दे देते हैं—कि बेटा कृष्ण! तुम हमें छोड़कर अब गोकुल—वृन्दावन मत जाना। नन्दबाबाको इस बातका पता चलता है, तो वे कहते हैं—कि भाई, वे बड़े लोग हैं। उनकी आज्ञाके विपरीत अगर कृष्ण यहाँ आयेगा, तो सम्भव है, उसका कोई अनिष्ट हो जाय। क्योंकि गुरुजनोंकी आज्ञा नहीं माननेसे अनिष्ट होता है—**आयुर्विद्या यशो बलम्**—आयु, विद्या, यश और बल—इन चार बातोंका नाश हो जाता है।

तो नन्दबाबा और यशोदा मैय्या यही समाचार हमेशा भेजते हैं—कि कृष्ण! जब देवकी और वसुदेव प्रेमसे कहें—कि तुम हो आओ वृन्दावन—तब आना। दूसरी बात यह देखनेकी है, कि जब कृष्णने कंसको मार दिया, तो कंसके जितने मित्र थे—वे सब-के-सब कृष्णके विरोधी हो गये। इनमें बाणासुर था, जरासन्ध था; शाल्व, शिशुपाल—ये बड़े भारी राजा थे। जरासन्धने तो अट्ठारह बार मथुरा पर चड़ाई की। कालयवन भी आया! तो नन्दबाबा यशोदा मैय्याको समझाते थे—कि जब कृष्णके इतने बड़े-बड़े शत्रु हो गये हैं तो हम लोग तो चलते-फिरते छकड़ोंमें रहनेवाले लोग हैं—इनके बीचमें आकर कृष्णका रहना ठीक नहीं है। जहाँ बहुत अच्छी चहारदीवारी हो, खाईं हो, किला हो--वहीं कृष्णको रहना चाहिए। यदि श्रीकृष्ण हम गँवारोंके बीच रहेगा, तो पता नहीं—कब कौन शत्रु चढ़ाई कर दे, और कृष्ण घिर जाय! यहाँ कोई खाईं नहीं, किला नहीं, कोई लड़नेवाले बहादुर नहीं हैं। तो श्रीकृष्णकी सुरक्षाके लिए उनका मथुरामें ही रहना उचित है; उनका वृन्दावनमें आना उचित नहीं है। और भाई! हम लोग जायें, तो देखो! दोनों तरफसे असमंजस है। यदि व्रजके गोपी और ग्वाल मथुरामें चले जायँ, तो मथुरा-वासियोंके लिए कितना अटपटा हो जाता? तो ऐसी परिस्थितिमें भलेमानुस जो होते हैं, वे दबाते

किसको हैं ? यह बात मैंने अनुभव करके देखी है। घरमें कोई मेहमान आजाय और घरमें चीज थोड़ी हो, तो किसको खिलाओगे ? एक दिन माताजीको घी न मिले, तो कोई बात नहीं; श्रीमतीजी भूखी रह जायँ तो कोई हर्ज नहीं, क्योंकि वे तो अपनी हैं। जो बाहरका आया हुआ है, उसको तो खूब खिला-पिलाकर, सन्तुष्ट करके भेजना चाहिए।

तो श्रीकृष्ण मथुरा-वासियोंको प्रसन्न करनेके लिए वृन्दावन और गोकुलवालोंको तकलीफ देते हैं; तो उनका अपने घरका कौन हुआ? अपने घरका वृन्दावन-गोकुलवालोंको मानते हैं, कि मथुरावालोंको मानते हैं? नहीं, अपने घरका तो वृन्दावन-गोकुलवालोंको ही मानते हैं। वसुदेव-देवकी आदिको तो बचपनमें देखा ही नहीं है। बचपनमें जो सहज प्रीति होती है, वह तो यशोदा-नन्दमें है, देवकी-वसुदेवसे तो है ही नहीं, यह बात बिलकुल स्पष्ट है, क्योंकि यशोदा और नन्दको जब प्रणाम करते हैं, तो वे झट उठाकर श्रीकृष्णको गोदमें ले लेते हैं, पीठपर हाथ फेरते हैं, कृष्णका सिर चूमते हैं। और कृष्णकी आँखोंमें आँसूकी धारा बहने लगती है। भागवतमें वर्णन है कि जब यशोदा मैय्याकी गोदमें सिर रख दिया कृष्णने, तो उनकी आँखोंसे इतने आँसू निकले, कि यशोदा मैय्याकी गोद भींग गयी। लेकिन देवकीको जब प्रणाम करते हैं, तो देवकीकी हिम्मत नहीं पड़ी कि इनको उठाकर अपने हृदयसे लगावे; तो ईश्वर हैं, चतुर्भज हैं, नारायण हैं। तो कौन है घरकी मैय्या? असली पिता कौन हैं? नन्द हैं कि वसुदेव हैं?

तो यह प्रीतिकी रीति बड़ी विलक्षण है। वहाँ दबाया जाता है—तो अपना, और लिहाज किया जाता है परायेका। संकोच परायेसे होता है, और स्पष्टता, निष्ठुरता अपनोंसे। भगवान्‌का शास्त्रमें एक नाम है 'निजजन निष्ठुर'। वे अपनोंके प्रति बड़े निष्ठुर हैं, और परायोंके प्रति बड़े उदार हैं। उनके जो अपने हैं—वे कभी-कभी कह भी देते हैं, कि हम जानते हैं, तुम्हारे हृदयमें कितनी निष्ठुरता है। यह उदारता तो सिर्फ बाहर-बाहर दिखलानेके लिए है।

अब श्रीशुकदेवजी महाराज उस प्रसंगका वर्णन करते हैं, जिसमें गोपियोंको, ग्वालबालोंको, नन्द-यशोदाको समझाने-बुझानेके लिए उद्धवजीको भेजते हैं। इस प्रसंगमें पहले उद्धवजीका ही वर्णन है, कृष्णका नहीं। भगवान् तो बादमें बनता है, पहले भक्त ही होता है। अगर भक्त न होवे, तो भगवान् किसका? गीतामें आप लोगोंने श्लोक पढ़ा होगा—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥

गी. १३.१९

इस श्लोकके भाष्यमें श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं—कि पुरुष और प्रकृति, दोनों अनादि हैं। अनादि क्यों कहते हो? तो हेतु लिखा है उन्होंने—

ईशितव्याभावे ईशितत्वाभावप्रसङ्गात्।

यदि कोई शासन करनेके लिए प्रजा ही न रहे, तो राजा किसका होगा? यदि संचालन करनेके लिए प्रकृति न हो, नियमन करनेके लिए यदि पुरुष न हो—माने, जीव और प्रकृति जब होंवे ही नहीं, तो ईश्वर किसका ईश्वर होगा? ईश्वरके ईश्वरत्वकी सिद्धिके लिए जीव और प्रकृतिका अनादि होना जरूरी है। अगर प्रेमी न हो, तो प्रियतम किसका? भक्त न हो, तो भगवान् किसका? इसलिए भगवान्से भी बड़ा कौन? भगवान्से बड़ा भक्त है। अगर आपको भगवान्की प्राप्ति करनी हो, तो पहले भगवान्के पास मत जाओ, पहले भक्तके पास जाओ। सुनते हैं, विलायतमें यह प्रथा है कि पहले मेमसाहबसे परिचय होता है, तब उनके द्वारा साहबसे परिचय होता है।

भगवान् कहाँ रहते हैं? अपने भक्तके चारों ओर मँडराते रहते हैं। तो आओ, आज सबसे बड़े, भगवान्के एकान्ती भक्त उद्धवजीका दर्शन करें।

उद्धवजी कैसे भक्त हैं? उद्धवजीके छह गुण तो वैसे ही बताये गये हैं, जैसे भगवान्के हैं, और तीन गुण भगवान्से ज्यादा बताये गये हैं। नौ गुण हैं उद्धवजीमें—

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः॥

भा. १०.४६.१

उद्धवके छह विशेषण हैं पहले श्लोकमें। भगवान्में भी छह गुण होते हैं। फिर तो भगवान् और भक्त बराबर हो गये कि नहीं, भगवान् अपने भक्तको बढ़ाकर रखते हैं। तीन बातें भगवान्ने अपनी ओरसे दी हैं उद्धवजीको—

तमाहं भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित्।

ये तीन गुण हैं—प्रेष्ठ, भक्त और एकान्तिक। कुल मिलाकर नौ गुण हो गये। नौ पर तो समझो, संख्याका अन्त हो गया। नौ-से बड़ी कोई संख्या नहीं है। अब देखो, उद्धवजीमें नौ गुण कौन-कौनसे हैं—इसपर दृष्टि डाल लें। उद्धव माने

उत्सव; उत्+हवः=उद्धव; हव माने हवन, यज्ञ! साक्षात् यज्ञमूर्ति। संस्कृतमें कंठसे 'हव' दन्त्यसे 'सव' और तालव्यसे 'शव' होता है, जो मुर्देके अर्थमें आता है। 'सव' यज्ञके अर्थमें आता है, और 'हव' हवनके अर्थमें आता है।

तो उद्धवजी साक्षात् यज्ञमूर्ति हैं, उत्सव हैं। जहाँ-जहाँ पधारते हैं, वहाँ-वहाँ आनन्द होता है। वे अपने हृदयमें परमान्द-कन्द, नन्द-नन्दन, श्याम सुन्दरको लिये-लिये डोलते हैं। उनकी आँखसे कृष्णकी ज्योति निकलती है, उनकी वाणीमें श्रीकृष्णकी मिठास है। उनका अंग भी साँवरा है। हरिवंश पुराणमें लिखा है कि वसुदेवजीके भाई थे देवभाग; उन्हीं देवभागके पुत्र उद्धवजी हैं; तो कृष्णके चचेरे भाई हैं। भागवतमें देवभागके पुत्रका नाम उद्धव नहीं है, बृहद्बल है। तो बृहद्बल ही उद्धवजीका दूसरा नाम है। किसी-किसी सम्प्रदायमें उद्धवको कृष्णका चाचा भी मानते हैं। इस प्रसंगमें उनका चाचा होना बहुत संगत नहीं है, चचेरा भाई होना बहुत संगत है।

अब उद्धवजीकी क्या विशेषता सुनावें! पाँच बरसके जब उद्धवजी थे, तो एक दिन आँख बंद करके बैठे हुए थे। मैय्या आयी—कि लाला चलो, कलेवा करलो। तो बोले—कि ना, अभी कलेवा नहीं करूँगा। क्यों? कि अभी मैं कृष्णकी पूजा कर रहा हूँ। पाँच बरसके वे और इतने प्रेमी कि खाना मंजूर नहीं, कृष्णकी पूजा करना मंजूर है। वे वही खाते, जो कृष्ण खाते। पहनते भी वह वही पीताम्बर, पर कृष्णका उतरा हुआ। उच्छिष्ट भोजन होता था। बैठते कृष्णके साथ, सोते कृष्णके साथ। जब कृष्णके बहुत विवाह हो गये तो रनिवासमें भी उद्धवजीका वैसा ही प्रवेश था, जैसा कृष्णका था। थे भी देखनेमें साँवरे-साँवरे और पीताम्बरधारी। श्रीकृष्णने अन्तमें विचार किया—यह बात भागवतमें आयी है—कि मेरे ज्ञानकी रक्षा कैसे होगी? तो बोले—कि ज्ञानकी रक्षा तभी होगी, जब उद्धवजी रहेंगे। उद्धवजी मुझसे जरा भी कम नहीं हैं। क्यों कम नहीं हैं? कि विषयोंमें उन्हें कोई रस नहीं है; इन्द्रियोंने कभी उद्धवजीको अपने नीचे रौंदा नहीं है-माने, विषयोंके कभी अधीन नहीं हुए। भगवान् कहते हैं—जो अपने जीवनमें कभी विषयोंके अधीन नहीं हुआ, वह मुझसे कम नहीं है। वह प्रभु है, वह ईश्वर है—

नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः॥

भा. ३.४.३१

उन्हीं उद्धवजीका वर्णन प्रारम्भ करते हैं। उद्धवजी कैसे हैं कि **वृष्णीनां प्रवरः**। जातिमें उनका कितना आदर है—यह बताते हैं। इसका पाठ कहीं-कहीं

ऐसा भी है—**वृष्णीनां सम्मतः**। वृष्णी माने यदुवंशी, कामवर्षी। वृष्णी उसे कहते हैं, जिसके पास कोई माँगने जाय, तो उदार होवे उसपर, कि वर्षा कर दे धनकी। **वर्षन्ति इति वृष्णयः**—जो वर्षा करे, उसका नाम वृष्णि! उनके दरवाजेपर जाकर याचक कभी खाली हाथ नहीं लौटता। उनमें उद्धवजी प्रवर हैं; प्रवर हैं—माने श्रेष्ठ हैं, समादृत हैं। यह बताते हैं, कि ऐसे-वैसे आदमीको सन्देश देकर नहीं भेज देना। ऐसे आदमीको भेजना चाहिए, जिसमें योग्यता हो। कैसी? कि आभिजात्य, कुलीनता हो; खानदानी आदमी हो, और अपने खानदानमें भी जिसका आदर हो! कई लोग ऐसे होते हैं, जिनका दूर-दूरतक बहुत आदर होता है, परन्तु अपने घरमें उनका आदर नहीं होता। उद्धवजी विश्वसनीय व्यक्ति हैं, क्योंकि उनका अपने वंशमें बड़ा भारी आदर है। अपने आचरणसे, अपने भाषणसे, अपनी वेश-भूषासे उनका आदर है। कई लोग होते हैं न, वे इतनी बड़ी-बड़ी मूँछें निकालते हैं, ऐंठती हुई, और गलमुच्छा बना लेते हैं—वेशभूषा उद्धत हो जाती है उनकी—कि उनकी शकल देखकर गाँवके लोग डरते हैं। लाठी ली, तो ऐसी—कि स्वयं अपने हाथसे छोर न छुआ जाय।

तो वेशभूषा ऐसी हो, कि जिसका अपनी जातिमें आदर हो। खान-पान कैसा? कि अपनी जातिमें आदर हो। रहन-सहन कैसा? कि जिसका आदर हो आचरण, भाषण, सार-सुष्ठु-एतान् मधुः। थोड़ा बोले, सार-सार बोले, मीठ बोले।

अब दूसरा गुण देखो—**कृष्णस्य मन्त्री दयितः सखा**। कृष्णने उन्हें अपन मन्त्री बना रखा था। मन्त्री किसको कहते हैं? जो मन्त्रको गुप्त रखें। मन्त्र मा सलाह। **षट्कर्णैर्भिद्यते मन्त्रः**। जब कोई सलाह छह कानोंतक पहुँचती है, तो फू जाती है। जिसको तुम अपने पेटमें नहीं पचा सके, उसको तुम्हारा दोस्त पचावेगा—यह उम्मीद बिलकुल व्यर्थ है। मन्त्र वह होता है, जहाँ गोपनीयत हो—**मन्त्र गुप्त परिभाषणे**। श्रीकृष्णके वे मन्त्री हैं, अर्थात् श्रीकृष्णकी जो सलाह होती है, उसको वे गुप्त रख लेते हैं।

अच्छा, अब मन्त्री तो हो, लेकिन प्रेमास्पद कोई दूसरा हो, तो? काम बिगड़ जायेगा। मन्त्री चिढ़ जायेगा—कि प्रेम तो दूसरेसे करते हैं और सलाह हमसे लेते हैं। और प्रेमी चिढ़ जायेगा—कि सलाह तो दूसरोंकी लेते हैं और हमको अपना प्रियतम बताते हैं। उद्धवजी मन्त्री भी हैं, और 'दयित' भी हैं। 'दयित' माने—उनके कृपापात्र। उनके लिए कभी-कभी कृष्णका हृदय डावाँडोल हो जाता है कि

उद्धव हमारी इतनी सेवा करते हैं; हम उनका क्या उपकार कर सकते हैं? इसी लिए 'दयित' शब्द है।

अच्छा, मन्त्री भी होवे, दयित भी होवे, लेकिन छोटा होवे, तो? जो अपनेसे छोटे होते हैं, उनसे अकसर सलाह भी कर लो, प्रेम भी कर लो; लेकिन वे अपने मनकी बात नहीं कर पाते—दब जाते हैं। क्योंकि वे सोचते हैं—इतने बड़े हैं ये, इनकी जब यह राय है, इनका यह मन्त्र है और हमसे इतना प्रेम करते हैं—तब इनकी बात मान लेनी चाहिए। अपने मनकी कहते नहीं हैं। तो उद्धवजी सखा हैं—माने कृष्णसे डरते नहीं, संकोच नहीं करते और अपने मनकी बात भी कृष्णसे कह देते हैं। जातिसे उत्तम हैं, अपनी जातिके हैं, मन्त्री हैं, गोपनीयताकी रक्षा करते हैं, प्यारे हैं और सखा हैं। सलाह केवल लेते ही नहीं, सलाह देते भी हैं।

अच्छा भाई, यह सब तो ठीक है, किन्तु कुछ पढ़े-लिखे भी हैं या बिलकुल 'काला अक्षर भैंस बराबर' हैं? बोले—**शिष्यो बृहस्पतेः साक्षात्** उद्धवजी बहुत पढ़े-लिखे हैं; साक्षात् बृहस्पतिके शिष्य हैं। पहलेके लोगोंका सम्बन्ध देवताओंके साथ होता था। सत्राजितकी पुत्री सत्यभामाने सूर्यलोकमें रहकर विद्या प्राप्त की थी। उद्धवजीने भी बृहस्पति-लोकमें रहकर बृहस्पतिसे विद्या प्राप्त की थी—वेद-विद्या, विज्ञान-विद्या, यहाँ तक कि भागवत-विद्या भी। निगुरे नहीं थे उद्धवजी। निगुरे लोगोंका विज्ञान बड़ा विचित्र होता है। उनमें शास्त्र नहीं होता, अनुभव नहीं होता—केवल मनोराज्य-प्रधान ज्ञान होता है। मनमें जब जो आया, उसीको ठीक मान लिया।

अच्छा भाई, पढ़े-लिखे तो बहुत हैं, विद्या तो बहुत है, लेकिन अपनी बुद्धि कहाँतक है? अपनी बुद्धि न होवे, तो विद्या समय पर काम नहीं देती। विद्याका प्रयोग भी देश-काल-पात्रके अनुसार किया जाता है। हमारे एक स्वामीजी हैं। काशीमें रहकर उन्होंने व्याकरण पढ़ा है। एक-एक शब्दके व्याकरणसे कई अर्थ निकाल लेते हैं। उन बेचारेको काशीमें तो प्रवचन करना नहीं पड़ता, उनको प्रवचन करना पड़ता है मारवाड़की स्त्रियोंमें। अब वे वहाँ अपने व्याकरणका ज्ञान बघारते हैं। अब सोचो, जो लोग व्याकरणकी बात बिलकुल नहीं जानते, उनके बीचमें अपनी व्याकरण-विद्याको प्रकट करनेसे क्या होगा? व्यर्थ ही होगी न सब! देश-काल-पात्रका विचार तो नहीं हुआ न! किसके सामने कौन-सी बात किस ढंगसे कहनी चाहिए—यह विद्या होनेपर भी अगर बुद्धि न हो, तो काम नहीं चलता।

उद्धवजी कैसे हैं? बोले—**बुद्धिसत्तमः**। बुद्धिमानोंमें सत्तम हैं। वे धर्मात्मा

भी हैं, योगाभ्यासी भी हैं, भगवान्‌के भक्त भी हैं। इसलिए ये छह गुण उद्धवजीमें हैं। यह भक्तकी महिमा है; यह कृष्णने अपना प्रेम, अपनी मित्रता, अपनी विद्या, अपनी बुद्धि उद्धवजीको दे दी है।

देखो, एक प्राकृत कवि और एक दिव्य कवि-दोनोंका भेद बताता हूँ। एक कविने वर्णन किया—'कि एक दिन टहलते-टहलते भगवान् श्रीकृष्ण सायंकाल यमुनाजीके तटपर निकले। वहाँ देखा, एक स्वर्ण वर्णका कमल बहता हुआ आरहा है। उस पीत कमलको देखकर उन्हें राधारानीके मुखारविन्दका स्मरण हो आया। तुरन्त उनके आँखोंसे आँसू टपक पड़े और 'राधे-राधे' बोलकर वे किनारे बैठ गये। इस बीच उद्धवजी आये।' यहाँ प्राकृत कवि है। प्राकृत कविका क्या अर्थ है? कि श्रीकृष्णके हृदयमें राधिकाजीका जो स्मरण है, उसको वह नैमित्तिक मानता है। पीले रंगका कमल देखकर कृष्णको राधारानीकी याद आयी—इसका अर्थ तो यह हुआ कि वे राधारानीको बिलकुल भूल ही गये थे। कमलके निमित्तसे उन्हें स्मरण हुआ। अब इसमें श्रीकृष्णमें प्रेमकी न्यूनताका जो दोष आता है, उसको प्राकृत कवि भूल गया। ऐसा कोई क्षण नहीं, जिसमें श्रीकृष्णको राधारानीका स्मरण न होता हो। लोग उन्हें घेरे रहते हैं, मौका नहीं मिलता। तो 'क्वचित्'का अर्थ है—एक दिन संयोगवश एकान्त मिल गया और श्रीकृष्ण व्रजवासियोंके चिन्तनमें मग्न हो गये। उसी समय उद्धवजी उनके पास आगये। उद्धवजी कैसे हैं?

तमाहं भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित्।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः॥ १०.४६.२

भक्त हैं, प्रेष्ठ हैं, एकान्तिन हैं। भक्त शब्दका एक अर्थ होता है—जो अपनेको छोटा बना ले। भक्त शब्दका प्रयोग गौण अर्थमें होता है; 'भात्तं' बोलते हैं दर्शन शास्त्रमें। **भक्तिर्लक्षणा मुख्यार्थासम्भवे**—जहाँ मुख्यार्थका ग्रहण नहीं होता, वहाँ भक्ति लक्षणा। मुख्य हैं भगवान् और गौण है भक्त। संस्कृत भाषामें भातको 'भक्तं' बोलते हैं। भक्त शब्द संस्कृतमें पुँल्लिंग है—**भक्तिरस्यास्तीति भक्तः**—जिसके हृदयमें भक्ति है, उसका नाम भक्त है। और **भज्यते मूसलेन इति भक्तः**—जो मूसलसे कूटा जाय—सो भक्त चावल।

अब देखो, जब चावल परिपक्व होता है, तब क्या होता है, एक तो उसके ऊपर छिलका था, भूसी; तो वह आवरण है। आवरण-भंग होने पर चावल निकलता है। आवरण-भंग हुए बिना भक्त नहीं निकलेगा। उसके बाद उसका परिपाक होता है, माने—वह तपता है। बिना तपाये बनेगा भात? नहीं, गर्म पानीमें

उसको तपाना पड़ता है। जो तपनेसे डरेगा, वह भात नहीं बनेगा, वह भक्त नहीं बन सकता। अच्छा, इसके बाद क्या हुआ? अलग-अलग है, लेकिन कण उसके भीतर नहीं रहना चाहिए। अगर दबाने पर, एक बार मसलनेपर उसमें जरा-सा भी कण निकल आवे, तो समझना-कि अभी भात पका नहीं। हलवेकी तरह भात नहीं बनाना, अलग-अलग चावल हो, एक-एक, उज्ज्वल, चमकदार। भक्त वह है, जिसमें अभिमानकी कणिका नहीं; बिलकुल कोमल है। परिपक्व है और खानेमें मीठा है। कितना मीठा है! यह आवरण-भंग करके आया है भक्त।

जैसे चावल मनुष्यका भोग्य बन जाता है, वैसे जो अपनेको भगवान्‌का भोग्य बना ले—उसका नाम भक्त है। भगवान्‌की जीभको स्वाद देनेके लिए, उसके दाँतोंके नीचे जो कुचल जाय—उसका नाम भक्त होता है। उद्धवजी कैसे हैं? उन्होंने अपनेको कृष्ण भातका बना दिया; चाहे नमकीन बनाओ, चाहे मीठा बनाओ, चाहे फीका रखो। भातको अपने लिए स्वादकी जरूरत नहीं, स्वाद भातको नहीं आता, स्वाद खानेवालेको आता है। तुम चाहे जैसा खाओ, तुम्हारी मौज है। अरे, उड़ीसामें तो ऐसे खाते हैं कि तीन-तीन दिन पानीमें रख देते हैं चावलको। तब उसे पानीमें-से निकालकर नीबू और नमक डालकर खाते हैं।

यह तो भक्तकी महिमा हुई। अब जरा देखो, भगवान्‌ने उद्धवको क्या माना? वे बोले—प्रेष्ठं। उद्धवजी कैसे हैं? कि प्रेष्ठं हैं भगवान्‌के। प्रेष्ठ माने प्रेमी नहीं होता, प्रियतम होता है। आजकल लोग संस्कृतका यह शब्द शायद समझते हों, न समझते हों। जैसे आशिक-माशूक बोलते हैं न! तो प्रेष्ठ माने आशिक नहीं होता, माशूक होता है—महबूब। जो प्रेमका आश्रय होता है, उसको प्रेमी; और जो प्रेमका विषय होता है—उसको प्रेष्ठ बोलते हैं। इसका यह अर्थ हुआ, कि भगवान् प्रेमी हैं और उद्धव प्रियतम हैं। उद्धव हुए भगवान्‌के भक्त और भगवान् हुए उद्धवके प्रेमी, सगुण भगवान्‌की यही विशेषता है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। गी. ४.११

जिस भावसे भगवान्‌के पास आते हैं, भगवान् उसी भावसे उसका भजन करते हैं।

अब तीसरी बात है 'एकान्तिनं'की। 'एकान्तिनं'का क्या अर्थ है—**एकान्तिनो यस्य न कंचनार्थं वाञ्छति।** श्रीमद्भागवतमें आया है—जो भगवान्‌से कुछ प्रयोजन रखकर प्रीति नहीं करता—'हमको धर्म चाहिए, भोग चाहिए, धन चाहिए, मोक्ष चाहिए'—वह एकान्तिन है। किसीका नौकर था। जबतक वह

जवान रहा, खूब सेवा करता रहा। जब बुढ़ापा आया, तो मालिकने कहा—कि भाई, अब तुम बूढ़े हो गये, काम करने लायक नहीं हो। अब तुम अपने घर पर रहो, हम तुम्हें पेंशन देंगे। चलो, हम तुम्हें शिमलामें रख देंगे, एक मकान तुम्हारे लिये दे देते हैं। वह बोला—कि नहीं बाबू, अब मैं शिमला नहीं जाऊँगा। तब क्या करोगे? कि हमको तो आदत पड़ गयी है आपकी सेवा करनेकी। आपके दरवाजेपर बैठा रहूँगा और पंखा खींचा करूँगा—जबतक हाथ चलेगा। कोई चोर-चकार आयेगा, तो चिल्ला दूँगा। लेकिन आपकी सेवा छोड़कर पेंशन लेना नहीं चाहता।

ये भक्त लोग भी होते हैं प्रेमी। जब वे खूब भक्ति करते हैं, तो भगवान् बुलाते हैं—कि बेटा, आओ! तुम्हें मोक्ष देते हैं, मोक्ष माने पेंशन। अब तुम्हें संसारके आवागमनसे मुक्त करते हैं। बोले—कि न न! हमको मोक्ष नहीं चाहिए। हम तो बस, आपकी सेवामें ही रहना चाहते हैं—

ताते जे हरिभगत सयाने, मुकुति निरादरि भगति लुभाने।

एकान्ती शब्दका अर्थ यह है—कि माता-पिता तकका परित्याग करके, धर्म-अर्थ-काम-मोक्षतकका परित्याग करके केवल भगवान्की सेवामें ही परिनिष्ठित हो गया है; भगवान्के प्रगाढ़ प्रेमसे परिपूर्ण हो गया है। तो श्रीकृष्णके प्यारे उद्धव और उद्धवके प्यारे श्रीकृष्ण—दोनों इकट्ठे हुए एकान्तमें और यह अवसर मिला बहुत दिनोंके बाद।

अब भगवान्ने उद्धवजीका हाथ अपने हाथमें लिया—**गृहीत्वा पाणिना पाणिं**। हाथको अपनी गोदमें रख लिया। भगवान्की आँखोंमें आँसू, भगवान्के शरीरमें रोमांच, हृदय पिघलता हुआ—और उद्धवजीसे वचन कहने लगे!

बाकी आपको कल सुनावेंगे।

दूसरा प्रवचन

श्रीकृष्णने उद्धवजीको गोपियोंके पास भेजा; इस प्रसंगमें कल उद्धवजीका वर्णन सुनाया था। श्रीशंकराचार्यजी महाराजने पहले उद्धवजीका वर्णन सुनाया था। श्रीशुकदेवजी महाराजने भी पहले उद्धवजीका ही वर्णन किया है। जो पहले दिखे—उसका पहले वर्णन और जो बादमें दिखे—उसका बादमें वर्णन होना चाहिए। पहले भक्तका दर्शन होता है, भगवान्‌का दर्शन बादमें होता है।

उद्धवजीमें नौ विशेषताएँ वर्णित कीं। छह तो ऐसी हैं, जिनको भगवान्‌को जरूरत थी—यदुवंशियोंमें अपने आचरण, भाषण आदिसे आदरणीय; मन्त्रको, सलाहको गुप्त रखनेवाले, अपने वस्त्राभूषणादिसे सम्मानित, प्रेमास्पद, सखा, मौके पर चूकनेवाले नहीं। अपने मनकी बात साफ-साफ कह देते हैं। फिर राजनीतिमें निपुण—**शिष्यो बृहस्पते साक्षात्**—बृहस्पतिका शिष्य होना माने—राजनीतिमें भी निपुण होना; वेद-विद्यामें, भागवतमें निपुण होना और स्वयं बुद्धिमान् होना—ये छह गुण जो हैं उद्धवजीमें, ये तो मन्त्री होनेके योग्य उनको बनाते हैं। तीन गुण ऐसे हैं, जो भगवान्‌के विशेष कृपापात्रमें ही हो सकते हैं—प्रेष्ठ, भक्त तथा एकान्तिन। भगवान्‌के अत्यन्त प्रियतम हैं। श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें एक प्रसंग है—उद्धवजीने ही पूछा—कि भगवन् तुम्हारा सबसे प्यारा कौन है? **आत्मयोनिः**? क्या ब्रह्माजी आपके प्यारे हैं? भगवान् बोले—कि नहीं वह मेरे बेटे हैं—यह बात मैं मानता हूँ, परन्तु मेरे उतने प्यारे नहीं हैं। अच्छा, शंकरजी आपके प्यारे हैं? कि न, शंकरजी तो अपनी आत्मा ही हैं। फिर उद्धवजीने कहा—**संकर्षणः** बलरामजी आपके भाई हैं, वह आपको बहुत प्यारे होंगे? बोले—न, यहाँ रिश्तेदारी नहीं चलती है, भाई-भतीजावाद यहाँ नहीं है। तो बोले—अच्छा, लक्ष्मी तो आपकी घरवाली है, वह आपको बहुत प्यारी है? बोले—न, वह भी प्यारी नहीं है। बोले—अच्छा, फिर नाम बता दीजिये, क्या नाम है आपके प्यारेका?

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

भा. ११.१४.१५

आप अपने आपसे तो प्रेम करते होओगे? बोले—नहीं-नहीं! मैं अपने आपसे भी प्रेम नहीं करता। तब ? यथा भवान्—आप मेरे प्यारे हैं।

उद्धवजी भगवान्के परम प्रेष्ठ, परम भक्त, एकान्ती भक्त हैं। उद्धवजी भगवान्को छोड़कर दूसरे किसीको नहीं चाहते।

तमाह भगवान्—कहीं एकान्तमें पकड़कर ले गये भगवान् उनको। प्रयोजन भगवान्का ही है, उद्धवका नहीं। जो अर्थी होता है, वह छोटा हो जाता है—चाहे राजा हो, चाहे रईस हो। जब ईश्वरको काम पड़ा—कि उद्धवजी हमारा काम बना सकते हैं—तो उद्धवजी बड़े हो गये।

गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः। यहाँ भगवान्के कुछ विशेषण हैं। भगवान् कैसे हैं? कि भगवान्में तीन बातें है और उद्धवमें नौ गुण हैं। तो उद्धवसे एक तिहाई हो गये भगवान्। श्रीकृष्णने उद्धवजीका हाथ पकड़ लिया। श्रीमद्भागवतमें हाथ पकड़नेका प्रसंग अनेक जगहोंपर आता है। ब्रह्माजीका हाथ भगवान् नारायणने पकड़ा, तो वे बड़े प्रसन्न हो गये; बोले—कि जैसे एक मित्र दूसरे मित्रका हाथ पकड़ता है, वैसे आपने मेरा हाथ पकड़ लिया है। हूँ तो मैं आपका बेटा, आपका आज्ञाकारी, लेकिन आज हाथ मिलाकर आपने मुझे अपना मित्र बना लिया। तो हाथ मिलाना मित्रताका लक्षण है।

अब दूसरी बात देखो। पाणि जो है—यह हाथ है। जिससे काम किया जावे, जिससे व्यवहार होवे, उसका नाम पाणि। तो कोई काम ऐसा आ पड़ा है, जो कृष्णके करनेका है, परन्तु कृष्ण स्वयं उसको किसी कारणवश नहीं कर पाते। तो हाथ मिलानेका अर्थ यह हुआ, कि जो मेरे करनेका काम है, वह तुम करके आओ। अपने कर्त्तव्य-कर्मका उद्धवमें संचार करनेके लिए पाणिको पाणिसे पकड़ते हैं। हथेलीसे हथेली मिलाना, हाथ-से-हाथ मिलाना—माने दिल-से-दिल मिलाना—माने मेरे जो भाव हैं, उनको मैं तुम्हारे हृदयमें स्पार्शी-दीक्षा द्वारा प्रविष्ट करा रहा हूँ। तुम जाकर गोपियोंको हमारे भाव समझाना; इसलिए हाथ पकड़ लिया।

व्रजलीलामें इस प्रकारका काम सुबलको करना पड़ता था—प्रिय नर्म सखा! यशोदा मैया और नन्दबाबाके पास एक संदेश पहुँचाना, ग्वालबालोंसे दूसरा संदेश कहना, गोपियोंसे तीसरा संदेश कहना! तो ऐसा व्यक्ति चाहिए—जो तीनों प्रकारके भावको धारण कर सके। माता-पितासे जो बात की जायेगी, उसमें वात्सल्यकी प्रधानता होगी, ग्वालबालोंसे जो बात की जायेगी, उसमें सख्यकी प्रधानता होगी

और गोपियोंसे जो बात की जायेगी, उसमें मधुर रसकी प्रधानता होगी। इसके लिए भगवान्‌ने उद्धवजीका संस्कार कर दिया। यह संस्कार क्या है? कि जैसे स्त्री-पुरुषका पाणिग्रहण संस्कार होता है, वैसे यहाँ मित्र-मित्रका ही पाणिग्रहण संस्कार है। 'हाथ पकड़ लिया'का अर्थ है—कि उद्धव! तुम तो मुझसे कभी अलग होनेवाले नहीं हो, कभी छूटनेवाले नहीं हो। तुम मेरा संदेश, मेरा भाव लेकर व्रजमें जाओ। एक आचार्यने कहा—कि भगवान्‌ने उद्धवजीका हाथ पकड़कर सिर्फ हाथमें ही नहीं रखा, उसे अपने हृदयसे लगा लिया—देखो उद्धव! मेरे हृदयपर हाथ रखकर देखो। इसकी क्या दशा है। बोले—भाई, यह भगवान्‌को ऐसी क्या पड़ी, कि वे उद्धवजीको एकान्तमें ले जायँ और उनका हाथ पकड़ें तथा उनकी तारीफ करें। उनसे कहें—कि तुम जाकर हमारा यह काम कर दो। वे तो स्वयं भगवान् हैं, जो चाहें सो कर सकते हैं। बोले—कर तो सब सकते हैं, लेकिन जब अपने भक्तोंका दुःख देखते हैं, तब बड़ी विलक्षण दशा उनकी हो जाती है। **प्रपन्नार्तिहरो हरिः**—श्रीकृष्ण प्रपन्नार्तिहारी हरि हैं। यह भगवान्‌का स्वभाव है न, कि एक बार जो कोई भगवान्‌की शरणमें आजाय और उनसे याचना करे—कि मैं तुम्हारा हूँ—तो इतनेसे ही वे उसका सब दुःख मिटा देते हैं, उसे निर्भय कर देते हैं। यह भगवान्‌की प्रतिज्ञा है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

तो 'प्रपन्नार्तिहर' शब्दका जो यहाँ प्रयोग है, वह 'कैमुतिक न्याय'से है। जब प्रपन्नोंकी आर्ति भी भगवान् हरण कर लेते हैं, तो केवल प्रपन्न ही नहीं—जो अतिशय प्रिय हैं, जिनके बिना भगवान्‌को नींद नहीं आती, आँखोंसे आँसू निकलते हैं, हृदय व्याकुल होता है—उन भक्तोंके ऊपर कोई दुःख होवे, तो भला उसका हरण कैसे नहीं करेंगे!

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। 'प्रपन्न' शब्दसे तो आप लोग बहुत परिचित हैं। भगवान् प्रपन्नार्तिहारी हैं—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
कामैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य - देवताः॥

प्रपन्न माने अन्याश्रयका त्याग करके भगवान्‌की शरणमें आया हुआ। उसके ऊपर जो आर्ति आती है, उसको—भगवान्‌ने आगे चलकर इस प्रसंगमें कहा है—'**तान् विभर्म्यहम्। विभर्मि अंतर्धारयामि**'—मैं अपने ऊपर ले लेता हूँ। गोपीको

भगवान्‌के विरहमें कोई दुःख हुआ, तो गोपीको भगवान्‌ने अपने हृदयमें धारण कर लिया। तो वह दुःख गोपीको नहीं हो रहा है, वह दुःख कृष्णको हो रहा है। क्यों? कि भक्त जैसे भगवान्‌का ध्यान करते हैं, वैसे ही भगवान् अपने भक्तका ध्यान करते हैं।

भगवान्‌में दो गुण हैं, एक 'हर'का, एक 'हरि'का। दोनों एक ही धातुसे बने हैं, प्रत्यय अलग-अलग हैं। लेकिन दोनोंका काम जुदा है। आर्तिका हरण करके उसका नाश करते हैं, इसलिए 'हर' हैं। 'हरि' काहेके लिए हैं? कि 'मनोहर' हैं; अपने भक्तोंका मन चुराकर अपने पास रख लेते है, और दुःख चुराकर उसको नष्ट कर देते हैं। 'हर' जो है, वह प्रलयकारी है—प्रलयंकर; और हरि जो है, वह पालक है। तो अपने भक्तोंका दुःख भी चुराते हैं भगवान् और सुख भी चुराते हैं। दुःख चुराकर वे नष्ट कर देते हैं, और सुख चुराकर अपने पास रख लेते हैं। 'हरि' जो हैं—वे तो सुख चुराकर अपने पास रखनेवाले हैं, और 'हर' जो हैं—वे दुःख चुराकर उसका नाश करनेवाले हैं। दुःख-नाशक और सुख-नाशक; इसलिए भगवान्‌के लिये 'प्रपन्नार्तिहरः' और 'हरिः'—दोनोंका प्रयोग होता है।

और अब रहा 'भगवान्'। सो भगवान् तो ऐसी-ऐसी जगह पर आता है—जहाँ 'अपि' कहना होता है, वहाँ भी भगवान् आजाता है। गोवर्धन-धारणके प्रसंगमें कहा है—कि भगवान् होने पर भी ग्वालोंके साथ ही रह रहे हैं, उनके साथ रासलीला कर रहे हैं—

भगवानपि तत्रैव अपश्यन्निवसन्।

भगवान्‌को संदेश देनेकी कोई जरूरत नहीं है—**अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः**। भगवान् सर्वान्तर्यामी हैं, सर्वव्यापक हैं, सर्वात्मा हैं। वे किसी मनुष्यका सहारा लें, और उसके द्वारा संदेश भेजें? नहीं! वे तो भीतर-ही-भीतर दिल पकड़ें, और अपनी बात कह दें। नहीं, यहाँ भगवान् होने पर भी अपनी भगवत्ता नहीं दिखाते। गोपियोंके प्रेममें अपनी भगवत्ता भूल गये। ऐसा लगने लगा भगवान्‌को—कि मैं बड़ा निष्ठुर हूँ! कि मैं तो इतना निष्ठुर, इतना निष्ठुर निकला—कि गोपियोंके बीच जाने लायक नहीं रहा। कैसे जाके नन्दबाबाके सामने खड़ा होऊँगा? कैसे मैयाको मुँह दिखाऊँगा? ग्वाल-बालोंसे कैसे मिलूँगा? बोले—कि हमको तो शर्म लगती है उद्धवजी! तुम चले जाओ मेरी जगह; जो काम है, उसको तुम करके आओ। क्योंकि, देवकी मैया आज्ञा नहीं देतीं, कि तुम वृन्दावन जाओ। वसुदेव आज्ञा नहीं देते; कि तुम वृन्दावन जाओ। वसुदेव आज्ञा नहीं देते; कहते

हैं—कि एक दिनके लिए भी नहीं छोड़ेंगे। और अपने गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लंघन करके जाना—यह अमंगलका सूचक है।

अच्छा, यशोदा मैया और नन्दबाबा बुलाते भी नहीं। वे कहते हैं—हमारा बेटा किलेमें रहे; मथुराके दुर्गमें रहे। गोकुलमें छकड़ोंमें रहेगा, तो कोई और जरासंध आके आक्रमण कर देगा। यहाँ कोई सुरक्षा नहीं, कोई सेना नहीं, कोई राज्य नहीं। हमारा बेटा वहीं रहे; उसका मंगल हो।

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रौर्नौ प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्संदेशैर्विमोचय॥ ३.४६
ता मन्मनस्का तत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः।
ते त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् विभर्म्यहम्॥ ४.४६

भगवान् उद्धवजीको सौम्य कहकर संबोधन करते हैं। सौम्यका अर्थ है—कि तुम्हारे अन्दर वात्सल्य है; जैसे अनुग्रह-विग्रह जगदम्बा और सदाशिव भगवान् सौम्य हैं। उमा-सहित वे हैं सोम। भगवती पार्वती सहित सदाशिवके हृदयमें जो अनुग्रह है, जो वात्सल्य है—सो तुमको प्राप्त है। सोम माने है चन्द्रमा-जिसकी चाँदनी छिटकती है; आह्लादिनी—जिसको देखकर मनुष्यके हृदयमें आह्लाद हो जाता है। उद्धव! तुम्हारी मूर्ति इतनी सौम्य है कि देखकर गोपियोंको शान्ति मिलेगी, सान्त्वना मिलेगी। तुम्हारा स्वभाव अमृतवर्षी है, सोम अमृतवर्षी है। सौम्य माने सोमका पुत्र बुध! ज्योतिषमें, पुराणमें यह बात प्रसिद्ध है कि चन्द्रमाका पुत्र बुध है।

तो उद्धव! तुम बड़े कृपालु हो, बड़े आनन्दवर्षी हो, बड़े बुद्धिमान्-विद्वान् हो; और उत्सव-मूर्ति हो। इसलिए तुम व्रजमें जाओ और वहाँ चारों ओर जो उदासी छा रही है, उसको जाकरके तुम उत्सव बना दो। वहाँ आनन्दकी चाँदनी बरसा दो। **गच्छोद्धव व्रजं सौम्य**—मेरे प्यारे मित्र उद्धव!

यहाँ मुख्य काम क्या है? माँ-बापसे शुरू करते हैं—**पित्रौर्नौ प्रीतिमावह।** कोई 'नौ' पाठ मानते हैं, कोई 'नः'। वल्लभाचार्यजी महाराज 'नौ' पाठ मानते हैं और श्रीजीवगोस्वामी आदि 'नः' माठ मानते हैं। 'नः'का तात्पर्य है कि हमारे और बलरामजीके जो माता-पिता हैं नन्द-यशोदा, उनके लिए प्रीति ढोकर ले जाओ—**प्रीतिमावह।** कोई ऐसी चीज ले जाओ, जिससे उन्हें एक बार संतोष हो जाये, तृप्ति मिल जाये, प्रसन्नता मिल जाये। 'आवह'का अर्थ है 'बलादपि प्राप्य'। यदि

सामान्यरूपसे समझाने-बुझानेसे, संदेश देनेसे वे प्रसन्न न होते हों तो तुम अपनी विशेष शक्तिका प्रयोग करके भी उन लोगोंको प्रेमसे, प्रीतिसे भर दो। और न होवे तो? बोले—वे हमारे भी पिता हैं, बलरामके भी पिता हैं, और तुम्हारे भी पिता हैं। हम-तुम—सब लोगोंके प्रति इनका बड़ा वात्सल्य है—**न आत्मा सर्वेषां पिता।** बोले—नन्दबाबाके लिए यह जगत्पिताकी उपाधि और यशोदा मैयाके लिए जगत्माताकी उपाधि-यह कैसे? बोले—असलमें यदि नन्द-यशोदा श्रीकृष्ण भगवान्‌का पालन-पोषण न करते और उनको फिर मथुरामें न छोड़ देते—तो न कंस मरता, न धर्मात्माओंकी रक्षा होती। न धर्म होता, न वेद होता, न यज्ञ होता, न गौएँ होतीं। तो असलमें जगत्‌के पालक होनेसे जगत्‌के पिता नन्द हैं और जगत्-जननी श्रीयशोदा मैया है। तो 'पित्रौर्नौ'की जगह 'पित्रौर्नः'का मतलब है—हम सबके माता-पिता नन्दबाबा और यशोदा मैया हैं।

आप जानते हैं कि ईश्वरके कोई माँ-बाप नहीं होता। इसी प्रसंगमें आया है—**न माता न पिता तस्य**—भा. १०.४६.३८

कृष्णके न माता हैं, न पिता हैं। ऐसे उद्धवजीने कह दिया व्रजमें। और श्रीकृष्ण कहकर भेजते हैं, कि हम सबके माता-पिता वही हैं। तो दोनोंमें विरोध है? नहीं है। एकने कहा—कि भाई, तुम किससे प्रेम करते हो? बोले—हम सबसे प्रेम करते हैं। तो सबसे प्रेम करते हैं, तो व्यक्ति-विशेषसे जो राग है, वह कट गया कि नहीं? कट गया। जब एक आदमीसे राग नहीं है, तो विश्वात्मासे प्रेम हो गया ना। विश्वात्मासे प्रेम होना—माने किसी एक व्यक्तिसे राग नहीं हुआ। तो भगवान्‌ने जब कहा—कि हम सबके माता-पिता नन्दबाबा और यशोदा मैया हैं, तो विशेष पितृत्व और विशेष मातृत्वका निषेध हो गया। इसलिए उनकी बातका यह अर्थ समझकर उद्धवने कह दिया—कि उनके न माँ हैं, न बाप हैं।

लेकिन माता-पिताकी दृष्टिसे देखो—तो ईश्वरको जो पेटसे जन्म दे, वह ईश्वरका माँ-बाप नहीं होता। ईश्वरको जो अपना बेटा मानता है—वह ईश्वरका माँ-बाप होता है। तो ईश्वरको अपना बेटा कौन मानता था—यशोदा मैया कि देवकी? नन्द सा वसुदेव? श्रीमद्भागवतमें यह प्रसंग आया है, कि देवकी-वसुदेव तो कृष्णको बेटा माननेमें हिचकिचाते थे—

कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शंकितौ॥ १०.४४.५१

बलराम-कृष्णने देवकी-वसुदेवके चरणोंमें वन्दना की, तो उन्होंने उठाकरके उन्हें हृदयसे नहीं लगाया। और यहाँ यशोदा-नन्दके चरणोंमें बलराम-

श्रीकृष्ण गिरते हैं, तो खूब रोते हैं। गोदमें बैठके उनके रोनेका भी वर्णन है भागवतमें। सगुण ईश्वरकी यही महिमा है, कि वह प्रेमियोंके लिए, भक्तोंके लिए कभी-कभी रोता भी है।

तो अब गोपियोंकी याद आयी भगवान्‌को। श्रीकृष्ण कहते हैं—उनको जाकर प्रसन्नता दो। कृष्ण समझते हैं कि माँ-बापको तो थोड़ी तृप्ति ये दे भी देंगे। क्यों? कि जब बेटेकी महिमा सुनते हैं ना माँ-बाप; जब यह सुनते हैं—कि हमारे बेटेको राज्य मिल गया, हमारा बेटा बहुत पढ़-लिख गया, हमारा बेटा बहुत ऊँचे पदपर पहुँच गया, हमारे बेटेके पीछे चलनेवाले हजारों आदमी हैं—तो माँ-बापका दुःख मिट जाता है और वे खुश हो जाते हैं। लेकिन जो गोपियाँ हैं न, उनके बारेमें श्रीकृष्णको पूरा पता है—कि उनको खुशी तो होनेवाली नहीं है। अतः उनके लिए बोले—कि तुम जाकर उनका दुःख छुड़ा दो। नन्द-यशोदाको प्रीति दो, प्रसन्नता दो और गोपियोंका दुःख मिटा दो। केवल दुःख मिटा देना दूसरी चीज है, और दुःख मिटाके सुख देना दूसरी चीज है। गोपियोंका दुःख कैसे मिटायें? उपाय बताते हैं—

गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्संदेशैर्विमोचय।

गोपियाँ बेचारी गोपनशीला हैं। क्योंकि उनको हमारे विरहकी वेदना गुप्त रखनी पड़ती है। यह गुप्त रखना तो बड़ा भार है ना! नन्दबाबा-यशोदाके मनमें कृष्णके विरहका दुःख हो, तो छाती पीटके, और चिल्लाके रो लेंगे। लेकिन गोपीके मनमें विरहका दुःख हो, तो वे चिल्लाके रो नहीं सकतीं। उन्हें सब काम करना पड़ता है घरका। पतिकी सेवा है, पुत्रकी सेवा है, देवरकी, सास-ससुरकी सेवा है, माँ-बापकी प्रसन्ता है—सब काम करती हैं वे। दिलमें कृष्णको लिये दूसरोंका काम करती हैं। गोपी हैं ना। **गोपनार्था गोपना**—जो कृष्णके प्रेमको गुप्त रखती है, उसीका नाम तो गोपी है। उनकी पीड़ा बड़ी विलक्षण पीड़ा हो गयी है। इसीलिए भगवान्‌ने आधि शब्दका भी प्रयोग किया है—**मद्वियोगाधिं**। व्याधि होती है शरीरमें—स्थूल उपाधिमें, और आधि होती है सूक्ष्म उपाधिमें। और समाधि भी होती है सूक्ष्म उपाधिमें। व्याधि और समाधि—ये तीनों उपाधिमें होती हैं; शुद्ध वस्तुसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं।

तो गोपीके हृदयमें श्रीकृष्णके वियोगकी आधि है। आधि है—माने चिन्ता है। उनको कृष्णके सिवाय और कुछ सूझता ही नहीं। तो बोले—गोपियोंने कहा ही है—

हिये में रह्यो नाहिन ठौर।
नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और॥
ऊधो, मन न भए दसबीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को अवराधे ईस?
जित देखो तित स्याममई है।

किसी गोपीको सर्वत्र भगवान्‌का दर्शन हो रहा है। किसी गोपीका मन कृष्णके पास चला गया है। किसी गोपीके हृदयमें आकर कृष्ण बैठ गये हैं। तो वियोगकी आधि उनको लगी है। यह मत समझ लेना—कि गोपियोंको कोई दूसरा दुःख है। खाना नहीं मिला, कि कपड़ा नहीं मिला, कि दूध नहीं मिला, कि दही नहीं मिला। या माँ-बापने तिरस्कार किया, कि सास-ससुरने कुछ कहा, कि पतिसे कोई लड़ाई हो गयी। ना, यह कोई दुःख नहीं है। जिसको दूसरेकी वजहसे दुःख होता है, उसको प्रेम नहीं है। सुख तो अपने प्रियतमसे मिलता ही मिलता है। देखो उसे—तो सुख, सुनो तो सुख, बोलो तो सुख। पर हमारा प्रियतम तो हमको सुख देता है, लेकिन पड़ोसी तो हमको दुःख देता है। अच्छा जो तुमको दुःख देता है, उसकी तुमको याद आती है या नहीं? आती है। तो जितनी देर दुःख देनेवालेकी याद रहती है, उतनी देर तक तुम्हारे दिलमें पड़ौसी रहता है कि नहीं? यह मंद प्रेमका लक्षण है। 'उज्ज्वल नीलमणि' में इसका बड़ा सुन्दर वर्णन है। एक गोपी रो रही थी—कि आज तो हमको सौतकी याद आगयी। जिस हृदयमें श्रीकृष्णका स्मरण होना चाहिए, उस हृदयमें सौतका स्मरण हुआ; मेरे हृदयमें कृष्णके प्रति प्रेम कहाँ है? दुःख भी होता है—तो दुःख देनेवाला अपना प्रियतम है। प्रियतम ही दुःख भी देता है, और वही सुख भी देता है। दुःख भी होगा, तो प्रियतमके लिए कि हमको छोड़के चले गये, हमसे ऐसे बोल दिये आज खाया नहीं, पानी तक पिया। दुःखका कारण भी प्रियतम ही होता है। यह प्रेमकी बड़ी विचित्र, अद्भुत लीला है। दूसरेसे दुःख होता है, तो तुम्हें दूसरेका चिन्तन होता है। यहाँ तो दूसरेकी याद ही नहीं, दूसरेके दिये हुए दुःख पर दृष्टि ही नहीं। हमारा प्रियतम अगर प्रसन्न है—हमारे सामने खड़ा है, मुस्कुरा रहा है, खुश है—तो उसकी एक मुसकानकी रेखापर हम अपने सौ शरीर निछावर कर सकते हैं। दूसरेने हमको क्या दुःख दिया, और क्या सुख दिया और क्या व्यवहार किया—इसपर दृष्टि ही क्यों जाय!

तो उद्धवजी! तुम व्रजमें जाकर यह कल्पना कभी मत करना—कि गोपीको जो दुःख है, वह मेरे सिवाय किसी और कारणसे है।

अब मान लो, उद्धवजी कह दें—कि कृष्ण! अब वहाँ जाके मैं देख लूँगा कि गोपियोंको कैसा दुःख है, और मैं अपनी बुद्धिसे, और शास्त्रसे ऐसी-ऐसी बात गोपियोंको सुनाऊँगा—कि उनका दुःख दूर हो जायगा। तो भगवान्‌ने कहा—यह गलती भी मत करना उद्धव! देखो, हम पहले ही सावधान कर देते हैं तुमको। वहाँ तुम्हारी अक्लसे गोपियोंका दुःख दूर होनेवाला नहीं। **मत्संदेशैः**—मेरा संदेश सुना-सुनाकर उनका दुःख दूर करना। बोले—कि अच्छा महाराज! एकाध! एकाध संदेश आप दे दीजिये, हम सुना देंगे। बोले—नहीं, एक संदेशसे काम नहीं चलेगा। **मत्संदेशैः** बहुवचन है। संदेश एक नहीं है। जितनी गोपियाँ हैं, प्रत्येक गोपीके लिए एक-एक संदेश अलग-अलग लेके जाओ। नहीं तो एक कहेगी—उसके लिए संदेश भेजा, और मुझे भूल गये, मेरे लिए कोई बात नहीं कही। तो प्रत्येक गोपीके लिए अलग-अलग संदेश लेकर जाओ, और उनका दुःख दूर करो—**विमोच्य**। उनके मनमें जो दुःख है, कि हमारे प्रियतम श्रीकृष्ण हमसे वायदा करके गये, कि आवेंगे, संदेश भेजा—कि आवेंगे; वे नहीं आये। तो क्या श्रीकृष्ण कृतज्ञ नहीं हैं? हमारे प्रेमको नहीं समझते? हमारी याद नहीं करते हैं? कृष्णके मनमें क्या बात है? कृष्ण तो संदेश भेजते हैं—

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्।

भा. १०.४७.२९

असलमें प्रेमी जो होते हैं, उनको संयोगमें सुख हो और वियोगमें दुःख हो—सो बात नहीं। जो सच्चा प्रेमी है, उसको वियोगमें भी अन्तरंग संग, अन्तः-संयोग प्राप्त होता है। बाह्य वियोगमें अन्तः-संयोग बढ़ जाता है, और बाह्य-संयोगमें अन्तः-संयोग घट जाता है। प्रेममें बाह्य और अन्तरकी जो उपाधि है, यह अकिंचित्कर है, कुछ नहीं है। प्रेममें प्रियतम अपना दूर है, कि निकट है—इसकी कोई परवाह नहीं। दूर है, तो हमारे हृदयमें घुसा हुआ है। जितनी दूरी-उतनी ही ज्यादा गहराई, और पास है—तो जितना पास, उतना भीतर भी है। तो दूरी और देरी—ये दो चीजें प्रेममें नहीं होती हैं। जहाँ मनसे मिले हैं, तनसे मिले हैं, आत्मासे मिले हैं—वहाँ क्या उनका दुःख दूर करना!

अब उद्धवजीके मनमें शंका हुई—कि गोपियोंमें ऐसी क्या विशेष बात है, जिसके लिए श्रीकृष्ण इतना समझा-बुझाके एकान्तमें, हमको भेज रहे हैं? तब श्रीकृष्णके मुँहसे गोपियोंकी महिमाका वर्णन हुआ है। किन्तु शुकदेवजी महाराजने श्रीकृष्णके कहनेसे पहले ही साक्षी भर दी है; गवाही पहले ही दे दी है। कहते हैं

ना—कि मुद्दई सुस्त, गवाह चुस्त। कृष्णने गोपियोंकी अभी इतनी तारीफ नहीं की थी, तबतक शुकदेवजीने पहले ही कह दिया—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥

भा. १०.३.४४

श्रीकृष्ण बोलते हैं—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।

गोपी कैसी है? कि उसका मन मुझमें है। तो—

मयि मनो यासां ता मन्मनस्का,
मम मनो यासु ता मन्मनस्का,
अहमेव मनो यासां ता मन्मनस्का।

मुझमें जिनका मन है, उनको बोलते हैं, मन्मनस्का, मेरा मन जिनमें है, उनको बोलते हैं मन्मनस्का, मैं ही जिनका मन हूँ, उनको बोलते हैं मन्मनस्का तीन व्युत्पत्तियाँ मन्मनस्काकी हैं—गोपीका मन कृष्णमें, कृष्णका मन गोपीमें, और गोपीका मन और कृष्णका मन एक।

मोहि मोहि री मनमोहन मन मेरो भयो री।

गोपियोंको न दुनियाँकी परवाह है, न अपनी जिन्दगीकी परवाह है। और न ही कहीं अन्यत्र उनका प्रेम है।

मामेव दयितं प्रेष्ठ मात्मानं मनसा गताः।

अब यह प्रसंग कल सुनावेंगे।

❋

तीसरा प्रवचन

श्रीकृष्ण उद्धवजीको संदेश देकर व्रजमें भेज रहे हैं। एक बात तो यह ध्यानमें रखने लायक है—कि ज्ञानकी पराकाष्ठामें यह बात मानी जाती है—और है सच्ची—कि एक बार सच्चा ज्ञान हो जाने पर स्मरण और विस्मरण—याद रहे कि न रहे—इसकी कोई जरूरत नहीं रहती है। याद रहे—तो ठीक है, न रहे—तो ठीक है। ज्ञान स्मृतिके अधीन नहीं है—लोकमें भी, और परलोकमें भी और परमार्थमें भी कहीं भी ज्ञान स्मृतिके अधीन नहीं होता। जैसे हम सब लोगोंको घड़ेका ज्ञान है, तो क्या चौबीसों घंटे घड़ेकी याद रहती है? नहीं रहती है। तो घड़ेकी याद न रहनेसे क्या घड़ेका ज्ञान मिट जाता है? नहीं मिटता है। अपना कोई भाई है, अपना कोई मित्र है, पति है, पुत्र है; उनके बारेमें अपनी जानकारी है। तो क्या जानकारी होनेका अर्थ यह है—कि चौबीसों घंटे ये दिमागमें घूंमते रहें? समय-समयपर जितनी जरूरत होती है, उतनी याद आती है।

जब ज्ञानके बारेमें यह बात बिलकुल पक्की है, तो प्रेमके बारेमें भी यह बात पक्की होनी चाहिए। क्योंकि ज्ञान चित्स्वरूप है, तो प्रेम आनन्द-स्वरूप है। परमार्थमें ज्ञान और आनन्द दोनों अलग-अलग नहीं हैं। इसलिए जहाँ सच्चा प्रेम है, वहाँ यह नहीं समझना चाहिए—कि विस्मरण होनेसे प्रेमका नाश हो जायेगा। यह बात लोकमें भी है, परलोकमें भी है और परमार्थमें भी है। यशोदा मैया जब श्याम सुन्दरके लिए रोटी बनाने लगती है, या दही बिलोकर मक्खन निकालने लगती है, तो मक्खन बढ़िया-से-बढ़िया मिले—यह उनका ख्याल रहता है। एक बार कन्हैयाका विस्मरण भी हो जाय, तो उससे यशोदा मैयाके प्रेममें कोई बाधा नहीं पडती है। वे सो जायें—तो भी प्रेममें बाधा नहीं पड़ती; क्योंकि सोती इसलिए हैं, कि अच्छी तरह सो लेंगे, तब सबेरे उठेंगे, लालाके लिए जो काम होगा घरमें, सो करेंगें।

यशोदा मैयाका सोना भी कृष्ण प्रेम है, जागना भी कृष्ण प्रेम है, स्मरण भी कृष्ण-प्रेम है, विस्मरण भी कृष्ण-प्रेम है। इसलिए प्रेमकी उच्च दशामें जब दिव्य आनन्द हो जाता है—उस समय स्मृति-विस्मृतिका कोई ख्याल नहीं है। प्रेमीका

तो सर्वस्व ही अपने प्रियतम प्रभुके लिए, भगवान्‌के लिए है। इसीसे जैसे प्रेमी लोग भगवान्‌से प्रेम करते हैं, वैसे ही भगवान् भी प्रेम-स्वरूप हैं, गोपियोंसे प्रेम करते हैं। कंसको मारें—तो गोपियोंसे प्रेम है; उज्जयिनी जाकर कालनेमिसे लड़ें—तब भी गोपियोंसे प्रेम है। जब राजनीतिके काम करते हैं—तब भी गोपियोंसे प्रेम है। प्रेम माने जड़ता नहीं है—कि महाराज! हमारा आपसे बड़ा प्रेम है, हमारे लिए एक सेवा बाँध दो। कौन-सी? कि रोज हम आपके लिए चना लाया करें, कि मठरी लाया करें, कि लड्डू लाया करें। अरे बाबा! प्रेम लड्डूमें, चनेमें, मठरीमें नहीं बढ़ता है। यदि प्रेम वस्तु बन जायेगा तो वह जड़ हो जायेगा। कभी खिलाना प्रेम होता है, कभी भूखे रखना भी प्रेम होता है। कभी प्रेमसे बोलना भी प्रेम है, कभी दुतकारना भी प्रेम होता है। प्रेम किसी सेवामें, किसी वस्तुमें, किसी स्थितिमें अगर बँध जाय, तो वह प्रेम ही क्या है? फिर तो वह जड़ता है, वह बन्धन है, वह मोह है।

अब देखो श्रीकृष्णका प्रेम! गोपियोंके साथ प्रेम एक रहस्य है। रहस्य माने एक गुप्त बात है। इसको सब लोग नहीं समझते, जो प्रेमके अनुभवी हैं—वही समझते हैं। जबतक यह मालूम पड़े—कि हम बहुत प्रेम करते हैं, और सामनेवाला कम प्रेम करता है—तबतक समझना, प्रेमकी नींव खोखली है। बालूकी भीतपर टिका हुआ है यह महल। जब ऐसा मालूम पड़ने लगता है—कि सामनेवालेका हमसे बहुत प्रेम है, और उसके सामने हमारा प्रेम तो कुछ है ही नहीं—तब प्रेमकी नींव मजबूत होती है। तब यह होता है—कि ये जो करते हैं, ठीक करते हैं, प्रेमसे करते हैं। उन्होंने गाली दी, तो प्रेमसे दी होगी। उन्होंने तुम्हारी निन्दा की, तो प्रेमसे की होगी। और यह ख्याल हो जाय, कि प्रेम टूट गया है उनका—तो किसीने कहा, वह तुम्हारी तारीफ कर रहे थे—तो बात बनावटी मालूम पड़ेगी। सामनेवालेके प्रेममें जो विश्वास है, वही प्रेमकी नींव है, प्रेमकी आधार-शिला है।

अब यहाँ इस कसौटी पर श्रीकृष्णके प्रेमको कसो। गोपियोंके बारेमें श्रीकृष्णका क्या ख्याल है? वे यह नहीं कहते हैं—कि हमारा गोपियोंसे बहुत प्रेम है। उनको तो यह जानकारी है कि गोपियोंका हमसे बहुत प्रेम है। हम प्रेम न करें, हम उपेक्षा करें—तो भी गोपियाँ प्रेम करती हैं। हम भूल जायँ, हम दुःख दें, तकलीफ दें—तब भी गोपियाँ प्रेम करती हैं। गोपियोंके प्रेम पर श्रीकृष्णका विश्वास कैसा है? अब यह बात कहकर सुनाता हूँ; यह श्रीकृष्ण बोल रहे हैं; वर्णन है गोपियोंके हृदयमें रहनेवाले प्रेमका—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः॥
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् विभर्म्यहम्॥ ४॥
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्य विह्वलाः॥

५.१०.४६

गोपियोंकी स्थिति क्या है? गोपियाँ अगर अपने मुँहसे कहतीं—कि हम इतना प्रेम करती हैं, इतना प्रेम करती हैं—तो प्रेमका अभिमान हो जाता ना! अपने प्रेमका अपने आप वर्णन करना प्रेमका अभिमान है, और सामनेवालेके प्रेमका वर्णन करना—तो उसमें डूब जाना है।

गोपियाँ कैसी हैं? कि **मन्मनस्का** हैं। अच्छा, 'मन्मनस्का' शब्दको जान लो पहले। इससे आपकी जान-पहचान है। गीतामें भगवान्ने अर्जुनसे कहा था—कि **मन्मना भव**। इसका मतलब क्या हुआ? कि अर्जुन अभी मन्मना नहीं है; उसको मन्मना होनेके लिए भगवान् आज्ञा देते हैं। मयि मनो यस्य एवं भव—अर्जुन! तुम अपना मन मुझमें लगा दो। आपसी बात थी। अर्जुनको भगवान् कहते हैं—कि तुम मेरे प्रेमी बनो; अपना मन मुझमें लगाओ। गोपियोंका वर्णन उद्धवसे करते हुए कहते हैं—कि ता मन्मनस्का; गोपियोंका मन मुझमें लगा हुआ है। 'मन लगाओ' और 'मन लगा हुआ है'—इन दोनोंमें फर्क हुआ ना! अर्जुनको तो धीरे-धीरे अभी प्रेमी बना रहे हैं, और गोपियाँ हैं—वे प्रेमके समुद्रमें बाहर-भीतर एकरस भीगी हुई हैं।

डूबा प्रेम-सिन्धु का हमने नहीं उछलते देखा।

प्रेमके समुद्रमें एक बार अगर कोई डुबकी लगा ले, तो फिर वह छलांग भरके बाहर नहीं निकलता है। गोपियोंका मन कहाँ है? कि कृष्णमें है। उनको हर समय यही सूझता है, शरीरसे कोई काम होता रहे! संयोग क्या, वियोग क्या!

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खनार्भरुदितो क्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्त यानाः॥

भा. १०.४४.१५

गोपियाँ गाय दुहते समय, धान कूटते समय, दही मथते समय, घर लीपते समय, बच्चेको पालने पर सुलाते समय, बालक रोता हो—तो उसको चुप कराते समय, उसको नहलाते समय, रोटी बनाते समय, झाड़ू लगाते समय क्या बोलती

हैं? कृष्ण! कृष्ण! कृष्ण! यह गोपीका जीवन है, यह गोपीका प्राण है। बुद्धिमें अनुराग है, और कंठमें आँसू हैं—**अश्रुकण्ठ्या**! आँखमें आँसू नहीं। आँखमें आँसू हों, तो घरवाले क्या कहेंगे? कि यह क्या अमंगल है! जब देखो—तब इसकी आँखमें आँसू हैं, रोती रहती है। घरमें किसीकी आलोचनाका पात्र भी न बनाना पड़े; आँसू गलेमें ही पी लिये जायँ, पचा लिये जायँ। किसीको पता न चले; और प्रेमसे भरकर श्रीकृष्णका गान कर रही हैं।

व्रजमें तो ग्यारह बरस तक ही रहनेका समय मिला ना भगवान्‌को! और जो बात मैं आपको सुनाने जा रहा हूँ, वह तबकी हैं—जब एक सौ पच्चीस बरस पूरे हो गये थे। ग्यारह बरसके बाद, एक सौ चौदह बरसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीसे गोपियोंका वर्णन करते हैं; ग्यारहवें स्कन्धमें यह प्रसंग है—

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥

भा. ११.१२.१२

गोपियोंकी चित्तवृत्ति मुझमें ऐसी लग गयी थी, ऐसा प्रेम, ऐसी अनुरक्ति, ऐसी आसक्ति, ऐसी भक्ति गोपियोंकी थी; अनुषङ्ग बद्धधियः—आसक्तिके द्वारा उन्होंने अपनी चित्तवृत्तिको मेरे साथ बाँध दिया था, कि उन्हें शरीरकी याद नहीं रहती थी। लोककी, परलोककी; आत्माकी परमात्माकी भी याद नहीं रहती थी। तो गोपियोंकी चित्तवृत्ति कैसी थी? **यथा समाधौ मुनयो**—समाधि लगाने पर मुनियोंकी जो दशा होती है, श्रीकृष्ण-प्रेममें गोपियोंकी वही दशा थी। अच्छा, समाधि लगाने पर मुनियोंकी क्या दशा होती है? तो दूसरा दृष्टान्त दिया—कि जैसे नदियाँ समुद्रके जलमें प्रवेश कर जाती हैं, और अपने नाम-रूपका परित्याग कर देती हैं। उपनिषद्‌में यह मन्त्र है; नदी हिमालयसे निकलकर चली। बहते-बहते समुद्रमें मिली। और समुद्रमें मिल जानेके बाद यह पता नहीं चलता—कि यह अमुक नदीका जल है, कि अमुक नदीका जल है। नाम भी गया, रूप भी गया। ऐसे गोपियोंकी चित्तवृत्ति श्रीकृष्ण पर गयी और अपनेको खो दिया। प्रेम माने अपने अहंका हवन, प्रेम माने अपने स्वार्थको स्वाहा कर देना। **श्रीकृष्णाय स्वाहा न मम**—यह जो मैं हूँ, यह श्रीकृष्णके लिए स्वाहा हूँ। ये मन्त्र जो होते हैं ना—अष्टादशाक्षर, द्वादशाक्षर—जिनमें 'स्वाहा' होता है—गोपीजन बल्लभाय स्वाहा, कृष्णाय गोविन्दाय स्वाहा—इनमें 'स्वाहा' माने होता है—हमने अपना 'स्व' ही तुमको दे दिया—आत्मत्याग! अपने 'स्व'का पूर्णरूपसे हवन कर देना—इसका

नाम है स्वाहा। स्वाहा माने स्व, अ और ह है। 'ह' माने त्याग भी है और हवन भी है। 'आ' माने पूरी तरहसे, और 'स्व' माने अपना; प्रेमकी अग्निमें अपने आपको पूरी तरहसे हवन कर देना, अपने अहंकी आहुति दे देना—इसका नाम स्वाहा है। गोपियोंने प्रेमकी अग्नि प्रज्वलित करके उसमें श्रीकृष्णके उद्देश्यसे अपने 'अहं' और 'मम'की आहुति दे दी।

गोपियोंका मन कहाँ है? गोपियोंका मन वहाँ है, जहाँ श्रीकृष्ण हैं। वे धरतीसे पूछती हैं—कृष्ण कहाँ हैं? हरिणीसे पूछती हैं—कृष्ण कहाँ है? वृक्षसे पूछती हैं—कि कृष्ण कहाँ है।

त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।

गोपियाँ ढूँढ रही हैं। किसको? कृष्णको। गोपियाँ नाच रही हैं—किसके साथ? कृष्णके साथ। गोपियाँ दही बिलो रही हैं—किसके लिए? कृष्णके लिए। तो गोपियोंका मन कृष्णमें, और उनके सारे काम कृष्णके लिए। वे अपने पतिकी सेवा भी इसीलिए करती हैं—कि वे सो जायँ, तो कृष्णसे मिलें। वे अपने माँ-बापकी सेवा भी इसीलिए करती हैं—कि ये प्रसन्न रहें, तो कृष्णसे मिलनेमें बाधा नहीं पड़ेगी। माँ-बापकी सेवा उद्देश्य नहीं है, उद्देश्य है—कि ये प्रसन्न होंगे, तो हमारी कृष्ण-प्राप्तिमें बाधा नहीं पड़ेगी। प्रेमका उद्देश्य बदल लिया है।

गोस्वामी तुलसीदासजीका एक दोहा है—चातकने अपने बच्चेको सिखाया है, कि मरो—तो कहीं गिरके तुम्हारी चोंच पानीमें, गंगाजलमें गिरे, पर गिरनेके बाद चोंच अपनी बादलकी तरफ उठा देना; गंगाजल पीना नहीं। मरते समय भी अपने जीवनका व्रत टूटना नहीं चाहिए। तो संसारमें किसीसे आसक्ति मत करो, और आगे बढ़ते चलो। गिरो, तब भी उठकर आगे बढ़ते चलो। गिरना कोई अपराध नहीं, गिरके न उठना अपराध है। गिर भी पड़ो, तो मुँह उधर ही रहे।

तो गोपियोंका मन कृष्णके पास है। **मयि मनो यासां**—कृष्णमें है मन जिनका। आपने वेणुगीत सुना है; तो कृष्ण हैं वनमें, गोपियाँ हैं घरमें। और उनको दीखता क्या है? कि यह हरिणी कृष्णका दर्शन कर रही है; ये देवियाँ कृष्णका दर्शन कर रही हैं। क्योंजी! तुम तो घरमें बैठी हुई हो, तुमको यह कैसे मालूम पड़ता है? कि हम घरमें नहीं बैठी हैं। हमारा मन घरमें नहीं है, कृष्णमें है।

मम मनो यासां—दूसरा अर्थ है। कृष्णका मन कहाँ है? गोपियोंमें है। जो कुब्जाके प्रेमका भी आदर करता है, जो भीष्म पितामहका ध्यान करता है—उसका मन गोपियोंके प्रेमका अनादर करेगा?

अहं मनो यासां—तीसरा अर्थ है इसका। जरा गोपियोंके मनकी परीक्षा करो। क्या है गोपियोंके मनमें? रास-लीलाके प्रसंगमें यह बात बहुत साफ है। एक गोपीने झट अपनी साड़ी ऊपर टाँगी, और बोली—देखो, देखो! यह मैंने गोवर्धन उठा रखा है। मैं कृष्ण हूँ। एक गोपीने दूसरी गोपीके कन्धेपर हाथ रखा, और बोली—देखो-देखो! मैं कृष्ण हूँ। कितनी सुन्दर है मेरी चाल!

कृष्णोऽहम्, पश्यत् गतिं ललिता इति कल्मना।

ऐसा क्यों हुआ? गोपीका मन तदाकार हो गया, कृष्णाकार हो गया। **भूली री भवन।** अपना घर भूल गयी, देह भूल गयी! देखो, मैं कैसी सुन्दर बाँसुरी बजाती हूँ! यह मैंने पहाड़ उठा रखा है!

मोहि मोहि मोहन भयो री।
हरिचन्द ने भेद पहचान परत। प्रान भए का हाय।
कान्ह भए प्राणमय। हिये में न जानि परे कान्ह है कि प्रान है।

श्रीकृष्णने अपने भक्तोंके लक्षण बताये गीतामें—

मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परं।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

गी. १०.९

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

गी. १०.१०

इसमें तुष्यन्ति अलग है और रमन्ति अलग है। जो संस्कृत जानते हैं, उनके लिए यह बात बोल दी। पाणिनि व्याकरणके अनुसार 'रमन्ते' होता है, 'रमन्ति' नहीं। पर जब 'च रमन्ति' कर देते हैं, तो वह ठीक हो जाता है। मतलब मेरे भक्त सन्तुष्ट हो जाते हैं और चरमावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं।

प्राणाका अर्थ क्या है? यह कहते हैं कि किसी युगमें प्राण हड्डीमें रहते हैं, किसी युगमें माँसमें रहते हैं, किसी युगमें प्राण अन्नमें रहते हैं। कितना भी प्रेम हो, पर दो दिन रोटी खानेको न मिले, तो दिमाग चकरा जाय। खाने-पीनेके बाद ही लोग प्रेमकी चर्चा करते हैं। ये मरनेवाले भी जरा जोशमें मरते हैं—चाहे फाँसी लगा लें, चाहे कूद पड़ें, चाहे जहर खा लें। उनसे कहो—तुम्हारा बड़ा प्रेम है? कि हाँ, है तो भाई! तो उसके लिए छह महीने भूखे रहकर व्यतीत करो। पाँच-सात दिनमें ही मालूम पड़ेगा—कि तुम्हारा प्रेम अन्नमें है। हमारे प्राण अन्नमें बसते

हैं। झूठ ही बोलते हैं—कि हमारे प्राण तुम हो। दिल्लीमें अकबरके भाट कहा करते थे—'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा'—यह दिल्लीका बादशाह है, कि सारे संसारका मालिक खुदा है। ऐसे ही आजकलके जो बनावटी प्रेमी होते हैं, वे कहते हैं—तुम्हीं हमारे प्राण हो; तुम्हीं हमारे ईश्वर हो, प्राणेश्वर हो। वे बेवकूफ जानते तक नहीं, कि प्राणेश्वर क्या होता है। हृदयेश्वर क्या होता है। दुनियामें न कोई किसीका प्राणेश्वर होता है और न हृदयेश्वर होता है। सबके प्राण भी रहते हैं और सबके हृदय भी रहते हैं, और सबका व्यवहार भी चलता है। यह दुनिया ऐसे ही चलती रहती है।

तो **मत्प्राणा**का अर्थ यह है, कि गोपियोंका जो जीवन है, प्राण है; उनकी क्रिया है, क्रिया-शक्ति है—वह कृष्णके लिए है। गोपी कृष्णैक-जीवन है। इसका अर्थ यों समझो—कि कृष्णके विरहमें गोपी मर जायगी। व्रजवासी लोग इसका बड़ा सुन्दर अर्थ करते हैं। जब नन्दबाबा श्रीकृष्णको मथुरामें छोड़कर वृन्दावनमें लौट आये, तो यशोदा मैयाको बड़ा दुःख हुआ। वे बोलीं—कि महर! तुम अपने प्राणको मथुरामें छोड़ आये, और जिन्दा ही लौट आये? मर क्यों नहीं गये? दुःख था बड़ा! दुःखमें ऐसी बात भी मुँहसे निकल जाती है। तो नन्दबाबाने समझाया—कि यशोदा! विचार करो, कि मैं श्रीकृष्णके विरहमें मर जाता, तो यह खबर कृष्णको मिलती, कि नहीं मिलती? तो जब उसको यह मालूम पड़ता, कि मेरा प्यारा बाबा मेरे विरहमें तड़प-तड़प कर मर गया, तो उसके हृदयमें कितनी पीड़ा होती! तो मैंने अब यह सोचा है कि मैं घुल-घुलकर मर जाऊँगा, घुलता रहूँगा सैकड़ों बरस तक—लेकिन मरनेका समाचार कृष्णके कानमें पड़ने नहीं दूँगा। ऐसे तो मुझे दुःख होगा ना! मेरे मरने पर उसको तो दुःख नहीं होगा। मुझे दुःख न हो—यह प्रेमका स्वरूप नहीं है। उसको दुःख न हो—यह प्रेमका स्वरूप है। 'तत् सुखे सुखित्वं'—प्रियतमके सुखमें सुखी होना ही प्रेमका स्वरूप है। मैं भले ही दुःखी होऊँ, लेकिन जिन्दा रहूँ तो वह सुखी रहेगा। और मैं मर जाऊँ, तो मैं तो सुखी हो जाऊँगा, दुःखसे छूट जाऊँगा—लेकिन वह दुःखी हो जायेगा। इसलिए मेरा मरना ठीक नहीं।

अब सोचो—कृष्णके वियोगमें नन्द-यशोदा मर जायें, ग्वाल-बाल मर जायें, गौएँ न रहें, ब्रजभूमि न रहे—और यह बात श्रीकृष्णके कानमें पड़ेगी, तो कृष्णकी दशा क्या होगी? प्रेममें यह देखना होता है। अपने लिए कि उनके लिए—किसको सुख पहुँचानेके लिए तुम यह काम कर रहे हो? यह बात प्रेममें देखनी पड़ती है।

आप लोगोंको सुनाया होगा—हमारे एक गाँवके भाई हैं; वैसे तो वे ब्राह्मण भी नहीं हैं; तो धर्मके भाई हैं—ऐसा समझो। हम उनके घर एक दिन दोपहरको गये, तो उनकी पत्नी रूठी हुई थी। मैंने लड़कीसे पूछा—कि बेटी! तुम्हारी माँ क्यों रूठी हैं? क्या चाहिए उनको? रुपया चाहिए, कि कपड़ा चाहिए, कि जेवर चाहिए? तो लड़की बोली—कि मेरी माँ अपने कपड़ेके लिए, जेवरके लिए, अपने सुखके लिए कभी नहीं रूठती। तो किसके लिये रूठी है? कहा—कि हमारे पिताजीने समयसे स्नान नहीं किया, जलपान नहीं किया। इनको सर्दी हो जायेगी, खाँसी हो जायेगी, बीमार पड़ जायेंगे। पिताजी इस तरहकी गड़बड़ करते रहते हैं। तो उनको कोई नुकसान न होवे—इसके लिए माँ रूठी है। आज ऐसा किया, तो किया। कलसे ऐसा नहीं चलेगा। यह प्रेमकी बात है। एक स्त्री है, वह अपने कपड़ोंके लिए जेवरके लिए रूठती है, अपनी बात मनवानेके लिए रूठती है, अपने सुखके लिए रूठती है, वह प्रेमके लिए नहीं रूठती है। वह कामसे रूठती है, वह मोहसे रूठती है—उसमें सच्चा प्रेम नहीं है। इसका मतलब है, कि सच्चा प्रेम होवे—तो रूठना तो वैसा ही होता है, पर उसका उद्देश्य बदल गया।

अब देखो, **ता मन्मनस्का मत्प्राणा**—गोपियाँ जीवित हैं, पर किसलिए जीवित हैं? वे कहती हैं—कि अगर ये प्राण हमारे होते, तो हम इनको छोड़ देते। ये प्राण तो हमारे प्यारेके हैं, अर्पित हैं; इनको हम कैसे छोड़ें? इनको तो सँभालना हमारा काम है। उनकी चीज कहीं हमसे बिगड़ न जाय, उसकी चीजको सँभाल कर रखना है। दूसरे—यदि हम मर गयीं और उनको समाचार मिला, तो वे बड़ा दु:खी होंगे। तीसरे—मिलनेकी आशा भी है। प्रेममें एक बहुत बड़ी शक्ति है आशा की। जियेंगे, तो जरूर मिलेंगे। तो **मत्प्राणा**का अर्थ क्या है? कि गोपियोंके जो प्राण हैं, वे कृष्णके लिए हैं। कृष्ण ही गोपियोंके जीवन हैं; उन्हींके लिए वे जी रही हैं।

अथवा कृष्ण बोलते हैं—**मम प्राणा**। उद्धवजी! तुम देखते हो—कि मैं मथुरामें साँस ले रहा हूँ। मैं जिन्दा हूँ, लेकिन यहाँ केवल हवाकी साँस ले रहा हूँ। मेरे असली प्राण तो वृन्दावनमें रहते हैं। और वे प्राण कौन हैं? कि वे प्राण गोपियाँ हैं। एक अन्तस्थ प्राण होता है, और एक बहिस्थ प्राण होता है। तो ये गोपियाँ हमारी बहिस्थ हैं; हैं तो बाहर, परन्तु हमारी प्राण हैं। गोपियोंके बिना हम सुख-पूर्वक जीवन नहीं बिता सकते। और गोपियोंका **अहमेव प्राणा:**—मैं ही उनका प्राणेश्वर हूँ, मैं ही उनका हृदयेश्वर हूँ, मैं ही उनका परमेश्वर हूँ।

अब गोपियोंकी एक और बात बताते हैं—**मदर्थे त्यक्तदैहिका**। गोपियोंने मेरे लिए क्या नहीं छोड़ा। देह और दैहिक—सब छोड़ दिया। यह प्यारकी विशेषता है। **मन्मनस्कामें** चिन्तनकी विशेषता है, और **मत्प्राणामें** अपनेको दुःख देकर भी उनको लेशमात्र सुख पहुँचाना; अपने प्रियतमको एक ग्रास भोजन पहुँचानेके लिए स्वयं चौबीस घंटे भूखे रह जाना, बहुत तकलीफ उठाकर भी उनको थोड़ा-सा सुख पहुँचाना। तो प्रेममें त्यागकी विशेषता है। प्रेममें प्रेमका अभिमान नहीं होता है, प्रेममें अपने प्रेमका बखान नहीं होता है। प्रेममें दूसरेकी वजहसे अपनेको दुःख भी नहीं होता है, क्योंकि दूसरेकी तो गिनती ही नहीं है। अपना बड़ा है—तो प्यारा; छोटा है—तो प्यारा है। रोते हैं—तो उसके लिए, हँसते हैं—तो उसके लिए। दूसरा मर गया—तो क्या! जिन्दा है—तो क्या! दसरेसे सुख नहीं, तो दूसरेसे दुःख भी नहीं है। और उसके लिए त्याग कितना बड़ा है! हमारे वैष्णवोंमें तो गोपियोंका एक नाम है। गोपियोंको धन नहीं चाहिए, कुटुम्ब नहीं चाहिए, अपने वंशकी प्रतिष्ठा नहीं चाहिए; यश-कीर्ति दुनियाँमें नहीं चाहिए। गोपियोंको घर नहीं चाहिए, भोग नहीं चाहिए। श्रीमद्भागवतमें यह सब बात आयी है। गोपियोंके लिए **विनिवृत्तकामा** शब्द है। वे कहती हैं—**मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलं भक्ता**।

सम्पूर्ण विषयोंका त्याग करके हम तुम्हारे पाद-मूलकी आकांक्षा करती हैं।

एक उद्धव-शतक ग्रन्थ है। जगन्नाथदास रत्नाकरजीने लिखा है। उसमें एक गोपी उद्धवजीको सम्बोधित करके कहती हैं—

चाकर नहीं हैं काहू ब्रह्म के बबा की हम
सूधो कहि देति ऊधो कान्ह की कमेरी हैं॥

किसी ब्रह्मके बाबाकी हम चाकर नहीं हैं। सीधी-सीधी बात तुमसे कहे देती हैं, ऊधो! हम तो अपने कन्हैयाकी कमेरी हैं, कहार हैं, छोटे-छोटे काम करनेवाली हैं।

तो धर्मका त्याग, अर्थका त्याग, भोगका त्याग, सम्बन्धीका त्याग, देह-देहीका त्याग। मोक्ष भी नहीं चाहिए गोपियोंको।

एक गोपीने कृष्णसे प्रश्न किया—कि तुम प्रेम करनेवालोंसे प्रेम नहीं करते, तो तुम कृतघ्न हुए कि नहीं? श्रीकृष्ण बोले—मैं जानता हूँ गोपियों! कि तुमने हमारे लिए कितना त्याग किया है!

एवं मदर्थोज्झित-लोक-वेदा-
स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजतातिरोहितं
मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥

भा. १०.३२.२१

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वासाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः संवृश्च्य
तद् वः प्रतियातु साधुना॥

भा. १०.३२.२२

कृष्णने गलेमें दुपट्टा डालकर हाथ जोड़ दिये गोपियोंके सामने। कृष्णने कहा—तुमने घर-द्वारके सारे सींकचे तोड़कर, चहारदीवारीकी एक-एक ईंट उखाड़कर फेंक दी, और मुझसे प्रेम किया। अगर तुम चाहो—कि तुम्हारे प्रेमका बदला मैं चुकाऊँ, तो अगणित काल तक यदि मैं तुम्हारी सेवा करूँ, तो भी बदला नहीं चुका सकूँगा।

तो इस त्यागका स्मरण करके भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीको व्रजमें भेजते हैं—

मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः।

गोपियोंका दयित मैं, परम प्रियतम मैं; गोपियोंकी आत्मा मैं हूँ।

यह आत्मावाली बात बड़ी विलक्षण है श्रीमद्भागवतमें। अच्छा, अब फिर आगे कल।

❋

चौथा प्रवचन

प्रेमकी महिमा विचित्र है। प्रेमीके गुण तो गुण होते ही है, उसके दोष भी गुण होकर दिखायी पड़ते हैं। दोष देखनेका कुछ ऐसा ढंग है, कि अपने शत्रुके गुण भी दोष दिखायी पड़ते हैं। इसमें मनुष्यका दोष नहीं होता, राग-द्वेषका ही दोष होता है। भगवान् गोपियोंके मन-वाक्-काय हैं।

भगवान्‌के सामने एक ओर अर्जुन आदि भक्तोंको रख लो, और दूसरी ओर गोपियोंको रखो। अब भगवान्‌से पूछो—कि तुम्हारा ज्यादा प्रेमी कौन है—अर्जुन कि गोपियाँ? गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनको आदेश दिया—'**मन्मना भव**'—तुम अपना मन मुझमें लगाओ। और गोपियोंका वर्णन करते हुए कहते हैं—'**ता मन्मनस्का**'—गोपियोंका मन मुझमें लगा हुआ है। तो अर्जुनको अभी करना बाकी है, जो गोपियाँ कर चुकी हैं। भक्तिमें श्रेष्ठता अर्जुनसे भी गोपियोंमें है। बात चल गयी, तो सुनाता हूँ—आप देखो! एक जगह तो अर्जुनमें ऐसी कमजोरी मालूम पड़ती है न! भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा, कि '**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय**'—अर्जुन! तुम अपना मन मुझमें रख दो और अपनी बुद्धि मुझमें मिला दो। तो अर्जुनको ऐसा लगा—कि मैं अपना मन भगवान्‌में नहीं लगा सकता। तब भगवान्‌ने दूसरी बात बतायी—

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थितम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय॥ गी. १२.९

अगर तुम अपना मन मुझमें नहीं लगा सकते, तो इसका अभ्यास करो। भगवान् अर्जुनके लिए खास तौरसे कह रहे हैं—**न शक्नोषि मयि स्थिरम्**—में मध्यम पुरुष है। तुम अपना मन अगर मुझमें नहीं लगा सकते—तो अभ्यास करो। यहाँ दो बातें हो गयीं। अब तीसरी बात है—अगर अभ्यास नहीं कर सकते, तो बोले—'**मत्कर्मो परमो भव**'—मेरी सेवा-पूजा करो। चतुर्थ इसके बाद कहते हैं—यदि तुम मेरे लिए कर्म भी नहीं कर सकते, तो '**सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।**' मन लगाओ; मन नहीं लगा सकते, तो अभ्यास करो, अभ्यास नहीं कर सकते—तो हमारी सेवा-पूजा करो, सेवा-पूजा नहीं कर सकते—तो निष्काम कर्म करो। यह अर्जुनके लिए भगवान्‌का उपदेश है।

और गोपियोंकी क्या स्थिति है? गोपियोंकी तो यह स्थिति है—कि उनका मन, उनके प्राण कृष्णमें रखे हुए हैं। कहते हैं, कि कई बार मृत्यु गोपियोंके पास

आयी—कि इनको मारकर ले चलें। जब आकर गोपियोंके शरीरमें मौत घुसी, देखा, गोपियोंका प्राण, और गोपियोंका मन गोपियोंके शरीरमें है ही नहीं। तो बार-बार मौत निराश होकर लौट जाती थी। श्रीमद्भागवतमें एक प्रसंग है; श्रीकृष्ण भगवान्‌के सामने ब्रह्माजी खड़े थे। आप जानते ही हो—देवताओंमें सबसे बूढ़े ब्रह्माजी ही हैं। अधिकांश देवताओंके तो ब्रह्माजी परदादा हैं—माने पिता कश्यप हैं, दादा मरीचि हैं, और परदाता ब्रह्मा हैं। ब्रह्माजी बड़े ज्ञानी हैं; हंस पर चढ़ते हैं। हंस विवेकका पक्षी है। नीर-क्षीरको अलग करता है, और बड़ा सात्त्विक है। सरस्वती ज्ञानकी देवी है—और उनकी पत्नी है। चारों वेद उनके हाथमें हैं; मुखसे वेद—मन्त्रोंका उच्चारण होता रहता है। और दिमाग भी एक नहीं, चार-चार हैं, क्योंकि उनके चार-चार सिर हैं। इतने बड़े-बूढ़े और ज्ञानी ब्रह्माजी जब श्रीकृष्णके सन्मुख खड़े हुए, तो श्रीकृष्णने देखा—कि ब्रह्माजी कुछ परेशान हैं। कृष्णने पूछा—कि क्यों ब्रह्माजी! आपको चिन्ता किस बातकी है? तो ब्रह्माजी बताते हैं—

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देवरातेतिन-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राण्ययन् मुह्यति॥

महाराज, मेरा दिमाग चकरा रहा है। चारों सिर मेरे चकरा रहे हैं। क्योंकि ये जो गाड़ियोंमें रहनेवाले, छकड़ोंमें रहनेवाले, कभी यहाँ कभी वहाँ चलते-फिरते व्रजवासी हैं, इनको आप क्या देंगे? श्रीकृष्णने कहा—ये हमारी सेवा करते हैं, पूजा करते हैं, हमसे प्रेम करते हैं। इनको इनके कियेका फल देंगे। आखिर आप इनको क्या फल देंगे? यह तो बताइये! हम तो सोच रहे थे, कि हम ही वह फल पहलेसे सृष्टिमें बनाकर रख दें। लेकिन हमारे दिमागमें तो कोई बात नहीं आती, कि इनके लिए बनाकर रखें। बोले—कि ब्रह्माजी! भक्तिका, प्रेमका, सत्संगका, भगवत्पूजाका फल तो मैं ही हूँ, और मैं इनको मिल रहा हूँ। ब्रह्माजी बोले—अगर इनकी सेवा-पूजा और प्रेमके फलरूपमें आप ही इनको मिले, तो इनको क्या मिला? ये तो बड़े घाटेमें रहेंगे। यदि स्वयं आप इनको मिल जायें, तब भी इनके प्रेमका बदला नहीं चुकता है। मैंने ढूँढ़ लिया सम्पूर्ण विश्वमें। इनके प्रेमका फल कहीं मिलनेवाला नहीं है। तो बोले—मैं भी इनके प्रेमका फल नहीं हूँ? मैं इनका सेवक बन जाता हूँ, मैं इनका प्यारा बन जाता हूँ; बेटा बन जाता हूँ, सखा बन जाता हूँ, पति बन जाता हूँ। ये जो बनायें—बननेको तैयार हूँ। ये नचावें—तो नाचूँगा, ये बेचें—तो बिकूँगा, ये सुलावें—तो सोऊँगा, ये जगायें—तो जागूँगा, खिलावें—तो खाऊँगा। हम इनके पराधीन हैं। ब्रह्माने कहा—महाराज, यह चीज तो आपने बहुत सस्ती कर दी है।

सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता।
यद्धामार्थ सुहृत्प्रियात्मतनय प्राणाशयास्त्वत्कृते॥

माँ-का वेष बनाकर आयी पूतना-**हृद्द्वेषादिव**-हृदयमें था द्वेष, मारनेकी इच्छा है दिलमें। और स्तनमें लगा है जहर, और वेष बनाया है माताका। लोगोंको देखनेमें लगती थी लक्ष्मी-सरीखी। ऐसी पूतनाको आपने अपने आपका दान कर दिया।

भगवान् बोले—ठीक है ब्रह्माजी! उसको तो मैं मिल गया और व्रजवासियोंके सारे खानदानको मैं मिलूँगा। ब्रह्माजी बोले—इसमें भी क्या है? बकासुरको मिल गये, अघासुरको मिल गये। वे तो सब पूतनाके भाई थे ना! बोले—तब ब्रह्माजी! तुमको व्रजवासियोंमें ऐसी क्या विशेषता मालूम पड़ती है—जिसके लिए आप चिन्तित हो रहे हैं?

तो बोले—ये जो व्रजवासी हैं, इनका घर कृष्णके लिए है; **गृह्णाति**—जो पकड़ ले। ग्रहण कर ले, उसका नाम गृह है। बोलते हैं—बाबा, घरमें-से तो निकलनेकी फुरसत नहीं। कई लोग होते हैं ना; उनको कहो—कथामें आओ, सत्संगमें आओ—तो कहते हैं, महाराज! क्या करूँ! मरनेकी फुरसत नहीं है। जब आदमी मरने लगता है—तो सबको फुरसत मिल जाती है। तो व्रजवासियोंने अपना घर कृष्णका घर बना दिया, और पैसा-धन कृष्णका बना दिया। अपने सगे-सम्बन्धी, अपना शरीर, अपना पुत्र, अपने प्राण और अपना हृदय—सब कुछ हथेलीमें ले-लेकर व्रजवासियोंने कृष्णके प्रति अर्पित किया हुआ है। तो ब्रह्माजी कहते हैं—अगर ऐसे व्रजवासियोंको भी वही चीज मिली—जो पूतनाको मिली थी, तो कौन आपको न्यायमूर्ति कहेगा? हमको लगता है, श्रीकृष्ण! कि अब तुम हमेशाके लिए हम लोगोंके हाथसे गये। इनके कर्जदार हुए, इनके पराधीन हुए; अब जैसे गोपियाँ रखेंगी वैसे रहोगे; जैसे नचावेंगी—वैसे नाचोगे। हमारा तो दिमाग चकरा रहा है, इनसे अब कैसे छुट्टी मिलेगी तुमको!

श्रीकृष्ण बोले—ब्रह्माजी! तुमने सोचा तो बहुत बढ़िया है। मैं तो यही चाहता हूँ, कि बारम्बार जन्म लूँ, और ये अपनेसे प्रेम करनेवाली जो गोपियाँ हैं—इनकी मैं सेवा करूँ।

न पारयेऽहं निरवद्य संयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः॥ १०.३२.२२

श्रीकृष्णको बोलते हैं कृतज्ञ! वह गोपियोंका वर्णन कर रहे हैं—गौपियोंके मनमें कृष्ण, गोपियोंके प्राण कृष्ण; और देह और देहके सम्बन्धी—सब कुछ गोपियोंने छोड़ दिया है।

पति सुतान्वय भ्रातृबान्धवानपिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि॥ गोपीगीत १६
कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्।
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्॥ प्रणयगीत ३३

गोपियाँ कहती हैं—कि हमको पति नहीं चाहिए, पुत्र नहीं चाहिए। कि इतना भी प्रेम नहीं पति-पुत्रसे? तो बोलती हैं—आर्तिदैः—वे दुःख देनेवाले हैं। कैसे दुःख देते हैं? हमारे रहते मर जायँ—तो रुलाकर मरते हैं, और इनके रहते हम मरने लगें—तो वे दुःखमें मरते हैं। ये संसारके सम्बन्ध दुःख देनेवाले हैं। इसलिए बुद्धिमान मनुष्य अपना मन भगवान्‌में फँसाते हैं। भगवान्‌को छोड़कर जो अपना मन दूसरी जगह फँसावेगा—उसको दुःख ही मिलेगा; बिलकुल पक्की बात है। क्योंकि संसारमें जिससे भी सम्बन्ध जोड़ोगे, वह चीज छूट जायेगी। देहका सम्बन्ध भी हमेशा चलनेवाला नहीं है।

अवश्यं याताराद् चिरन्तरमुतर विषया—संसारके विषय भले दस दिन ज्यादा रहें, अपने घरमें दस दिन कम रहें या किसीके घरमें—लेकिन छूटेंगे जरूर।

हमको एक बात याद आगयी। मैंने चौरासी वैष्णवोंकी वार्तामें एक आख्यान पढ़ा था—कि महाप्रभुजीके यहाँ कोई सज्जन ठाकुरजीकी सेवामें अर्पित करनेके लिए दस हजार मोहरें लेकर आये थे। भीतर ठाकुरजीकी सेवा हो रही थी, और बाहर वे मोहरें गिन गिनकर दे रहे थे। वे खनक गयीं; उनकी आवाज आने लगी; तो महाप्रभुजीने कह दिया—कि तुम्हारी यह सेवा ठाकुरजी स्वीकार नहीं करते। क्यों? कि बोले—ठाकुरजीको अर्पण होनेसे पहले ही ये जाहिर हो गयीं। ठाकुरजीको गुप्त सेवा बहुत भाती है। यह नहीं—कि लोगोंकी आँख खिंच जाय। हमने अहमदाबादमें देखा किसीको! रुपये देनेके लिए लेकर आते हैं न! यह समझो, दो रुपये हैं, एक-एक रुपयेके दो नोट। तो दूरसे ऐसा मालूम पड़ेगा न, कि एक ही रुपया है। दोनोंको दबाकर, जरा टेढ़ा कर देते हैं, और दिखाते हुए चढ़ाते हैं, कि यह ख्याल हो—कि दो रुपया नहीं, एक रुपया चढ़ा रहे हैं।

यह प्रीतिकी रीति बड़ी विलक्षण है। यह हृदयकी वस्तु है। संस्कारमें किसीसे मन जोड़ो; जीव है अमर और शरीर सहित संसारकी प्रत्येक वस्तु मरनेवाली है। अगर कोई अमर जीव मरनेवाली वस्तुसे प्रेम करेगा, तो जीव बना रहेगा—और मरनेवाली वस्तु बिछुड़ेगी। इसके बाद क्या रहेगा? रोना ही रहेगा। जब छूटना ही है, तो मनुष्य स्वयं क्यों नहीं छोड़ देता कि जाओ हटो, हमने तुमको छोड़ दिया। क्या

भेद है जीवनमें ? यह भेद है—कि अगर विषय खुद छोड़कर जायेगा, तो बहुत दु:ख देकर जायेगा, और तुम स्वयं छोड़ दोगे, तो बड़ी भारी शान्ति मिलेगी—**व्रजन्त स्वातंत्र्याद् अतुलपरितापाय मनसा। और स्वयं त्यक्त्वा येते सम सुखमनन्तं।** जो संसारसे प्रेम करेगा—उसे रोना पड़ेगा, उसको दु:खी होना पड़ेगा और भगवान्‌से प्रेम करोगे—तो अजर-अमर हो जाओगे तुम। भगवान् अजर-अमर हैं न! उसमें कभी वियोग नहीं होता, कभी मृत्यु नहीं होती उसकी। ईश्वर कभी अविश्वसनीय नहीं होगा। तुम्हारे प्रेमके वश होकर ईश्वर तुम्हारा पुत्र बननेको तैयार है, तुम्हारा मित्र बननेका तैयार है, तुम्हारा पति बननेको तैयार है। ऐसा है वह—

प्रेम कनौड़ो राम सों, त्रिभुवन तिहुँकाल न भाई।

भगवान् सरीखा प्रेमके अधीन होनेवाला दूसरा कोई नहीं। इसलिए यदि प्रेमका सच्चा आनन्द लेना हो, तो मरने-गलनेवाले हड्डी-मांस-चामके पुतलेसे नहीं, ईश्वरसे प्रेम करना चाहिए। ईश्वर प्रेमका कितना आदर करता है, आप देखो! गोपियोंकी चर्चा कर रहे हैं; श्रीकृष्ण स्वयं बोल रहे हैं उद्धवजीसे—

मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गता:।

कृष्णके लिए गोपियोंने क्या नहीं छोड़ा! **मदर्थे त्यक्तदैहिका**—देहका सम्बन्ध छोड़ दिया।

आपने रास-पंचाध्यायीके प्रारम्भमें देखा होगा—जो गोपी भोजन करती थी, उसने भोजन छोड़ दिया; जो शृंगार करती थी—उसने शृंगार छोड़ दिया; जो बच्चेको दूध पिलाती थी—उसने दूध पिलाना छोड़ दिया। जो पतिकी सेवा कर रही थी, उस गोपीने सेवा छोड़ दी। और सब चलीं; जैसे नदी समुद्रसे मिलनेके लिए दौड़ती है। यह गोपी सबके हृदयमें रहती है; सबके हृदयमें गोपी-भाव मौजूद है। चित्तवृत्तियाँ जो हैं—वे सब भगवान्‌से अभिसार करें, भगवान्‌से मिलनेके लिए ब्याकुल होवें—यही गोपी-भाव है।

ज्ञानसे अहंभाव नष्ट होता है। 'मैं देह हूँ' यह ज्ञान से कटता है। जब भगवान्‌को बोलोगे—कि भगवान् मेरा है, कृष्ण मेरा है—तो 'मेरा'का पेट भरनेके लिए संसारमें कोई नहीं रहेगा। अहंका पेट भरता है परिच्छिन्न देहके द्वारा; कारण-सूक्ष्म-स्थूल देहके द्वारा अहंका पेट भरता है। तब बोलते हैं—'यह मैं हूँ'! और संसारके सम्बन्धियोंके द्वारा 'मेरा'का पेट भरा जाता है, तब बोलते हैं—'यह मेरा है।' तो 'मेरा'—का पेट भरो भगवान्‌से और मैं-का पेट भरो ब्रह्मसे। इससे छोटा मैं भी मर जायेगा और दुनियामें जो मेरा-तेरा जुड़ा है, वह भी चला जायेगा। ममता कटती

है भक्तिसे। एकसे ममता जुड़ी और संसारसे कटी! और अहंता काटनेके लिए ज्ञानसे बढ़कर कोई युक्ति नहीं। अहंता काटनेके लिए ज्ञान और ममता काटनेके लिए भक्ति! अच्छा, पहले कौन कटेगा? कि पहले ममता कटेगी। वैराग्य नहीं होगा, तो ज्ञान कहाँसे होगा? इसलिए पहले हृदयमें वैराग्य आवे, इसके लिए भक्तिकी जरूरत है। तो गोपियोंका क्या निश्चय है? **मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः।**

भगवान् कहते हैं—'मामेव। माम्-एव; एव शब्दका अर्थ है—कि केवल मनसे गोपियाँ मेरे पास आयी हैं। इसमें अनेक भाव हैं; जो तुम्हें प्रिय लगता हो न, उसे ले लो। कृष्णमें संगीत भी है। अगर मीठी आवाज और संगीत तुम्हें प्रिय हो, तो श्यामसुन्दरकी बाँसुरी सुनो। उनका स्पर्श बड़ा कोमल है; उनका रूप बड़ा सुन्दर है; उनका रस बेजोड़ है। उनका सौरभ, उनकी सुगन्ध—क्या चाहते हो? आखिर तुम्हारे मनमें कुछ चाह है कि नहीं? अगर कहो—कि हमारे मनमें कोई चाह ही नहीं, तो फिर पूछेंगे—कि तुम दुःखी होते हो कि नहीं? अगर तुमको कोई दुःख होता है बाबू, तो चाह जरूर है। याद रखना, आह जो है, वह चाहमें छिपी है। जहाँ आह है, वहाँ चाह जरूर है। देखो, ब्रह्माजीने पहले 'आह' बनायी। जब वह सृष्टिमें आयी, तो उसे कोई मंजूर ही न करे। बेचारी लौटकर आयी ब्रह्माजीके पास—कि हमें तो कोई दिलमें नहीं रखता। ब्रह्माजीने कहा—तो, एक चादर ओढ़ लो, और 'च' की चादर ओढ़ा दी आहके मुँह पर। 'आह' बन गयी 'चाह'। तब लोग बोलने लगे—कि आओ, आओ! हमारी दिलदार बनो; हमारे दिलमें बैठो। यह 'चाह'की माया है।

अगर कहो—कि हमारे चाह नहीं है, तो हम पूछते हैं—कि दुःख है कि नहीं? अगर तुम्हारे जीवनमें दुःख है, तो चाह जरूर है! कुछ-न-कुछ जरूर तुम चाहते हो! यह तुम्हारी समझकी बलिहारी है, जो होते रहते हो दुःखी और कहते रहते हो—कि हमको चाह नहीं। जिसको चाह नहीं, वह दुःखी नहीं हो सकता। तो ढूँढ़ो—चाह तुमको किस चीजकी है। तुम एक दिनमें ही निराकार ब्रह्मको नहीं पा सकोगे; उसके लिए तुम्हें अपनी चाहको संसारमें-से हटाना पड़ेगा। कहाँ जोड़ें अपनी चाहको? अगर संसारमें ऐसी जगह अपनी चाहको जोड़ोगे, जहाँ भोगका सम्बन्ध जुड़ जाये—तो? नारायण कहो? अनदेखा अनमिला कृष्ण साजन नहीं है; वह तुम्हारे दिलमें होना चाहिए। उसके साथ अपना प्रेम जोड़ो—**मामेव वा।** श्रीकृष्णके सिवाय दूसरे किसीसे प्रेम मत जोड़ो। गीतामें स्वयं श्रीकृष्ण क्या कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ गी. ९.२२

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ गी. ८.१४
मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ गी. १०.९
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ गी. १०.१०

प्रीतिपूर्वक और सतत मेरा भजन करो। मेरे साथ अपना रिश्ता जोड़ो, नाता जोड़ो। उसमें एक 'एव' लगा दो। यह नहीं—कि हमसे भी प्रेम करो और दूसरेसे भी प्रेम करो। बड़ा ईर्ष्यालु है भगवान्। कोई कहे—कि हे भगवान्! तुम भी हमारे दिलमें रहो और दूसरों-को भी बसावेंगे—तो यह ऐसे लोगोंका काम है, जिनको थर्डक्लासके मुसाफिरखानेमें रहनेकी आदत पड़ गयी है न! मुसाफिरखानेमें दस आये, दस गये। अब भगवान्‌को लाकर तुम कैसे अपने दिलमें बसाओगे? जहाँ गन्दगी भरी है! ऐसे नहीं, वे तो अकेले ही रहते हैं। जब देखते हैं भगवान् कि यहाँ तो पहले से ही दस जने बैठे हैं और उनसे प्रेम, इनसे भी प्रेम, तो सीताराम! दस आवें, दस जावें—सो नहीं। मुसाफिरखानेमें भगवान्‌को बिठाओगे? अरे, हृदयका कमरा साफ करो भाई! भगवान् कहते हैं—मैं अकेला रहूँगा। भगवान् कैसे रहते हैं किसीके दिलमें—यह बात भगवान् लोगोंको मालूम होने नहीं देना चाहते हैं। वे कहते हैं—कि हम अकेले दिलके कमरेमें जैसे रहते हैं, वह हम जानें और हमारा प्रेमी जाने। उनके साथ रिश्ते बहुत होते हैं। वे तो एक हैं, और रिश्ते उनके साथ बहुत हैं—**त्वमेव माता च पिता त्वमेव**! लो भला! दिल बदल लेते हैं भगवान्। कभी माँ बनकर लाड़ लड़ाते हैं, तो कभी पिता बनकर आँख दिखाते हैं। **त्वमेव बन्धुश्च**—कभी बैठकर भाई-भाईकी तरह सलाह करते हैं, तो कभी सखाकी तरह, हँसी-खेल करते हैं। **त्वमेव सर्वं मम देवदेव**! उन्हें सब कुछ बनकर रहना ही स्वीकार है। अगर भगवान्‌के साथ एक रिश्ता होता, तब तो बिलकुल खुले भी रह सकते थे, लेकिन जब एकके ही अनेक रिश्ते होवें, तो फिर खुलेमें काम नहीं चल सकता; उसके लिए तो बन्द कमरा चाहिए। मतलब यह—कि ईश्वरके साथ अपने सारे भाव, सारे सम्बन्ध जोड़ना है और वह ईश्वरके सिवाय दूसरे किसीके साथ नहीं होना चाहिए। **मामेव दयितं श्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः**।

बोले—तुम कौन हो देवता, कि इतना तुम्हारा दावा, इतनी तुम्हारी माँग है, कि मेरे सिवाय दिलमें और कोई न रहे? बोले—गोपियोंको देखो न! गोपियोंका मैं कौन हूँ? 'दयितं, श्रेष्ठं, आत्मानं'। एक तो गोपियोंने अपना सर्वस्व मुझे दे दिया।

'दयितं' शब्दका अर्थ है—जिसको सब कुछ दे दिया गया हो। 'दय' धातु दान आदिके अर्थमें है—'**दयिते स्म इति दयिते**'—जिसको सब कुछ दे दिया गया हो। देना भी कैसा? यह नहीं—कि मेरा था, और मैंने दिया। वह तो पहलेसे ही तेरा था। हमारी तो यह भूल थी, जो हम समझते थे कि हमारा है—***मेरा मेरा कुछ नहीं जो कछु है सो तोर।*** अच्छा, धरती तुम्हारी है? बोले—धरती तो नहीं है हमारी। तो धरती नहीं, तो शरीरकी यह जो माटी है, यह तुम्हारी है? सम्पूर्ण जल तुम्हारा है? कि नहीं। तो शरीरमें जो जल है, वह तुम्हारा कहाँसे हुआ? अच्छा, सारी हवा तुम्हारी है? कि नहीं है। तो शरीरमें जो साँस है, वह तुम्हारी कहाँसे हुई? जो सबका मालिक है, वही तुम्हारी साँसका भी मालिक है। तो यह मेरा-मेरा नहीं चलता। 'दयितं'—अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया है अपने स्वामीके हाथमें।

फिर बोले—**प्रेष्ठं**—प्रेष्ठ हैं। माने उसका नाम लेकर, उसकी याद करके बड़ी तृप्ति होती है। यह मनको संसारसे हरानेकी युक्ति है। एक आदमीके मनमें सौ इच्छाएँ हैं। अगर आप लोगोंको गिननी हो, तो एक रजिस्टर बना लो, और रोज सोचकर उसपर लिखते जाओ—कि आज क्या इच्छा हुई! आज क्या इच्छा हुई! यह लिस्ट कभी पूरी होनेवाली नहीं है। मान लो, कि सौ इच्छाएँ हैं। तो जब सौ इच्छाएँ तुम अपने मनमें रखते ही हो, तो एक यह भी रख लो—कि हम भगवान्‌को पाना चाहते हैं। देखना, यह गन्दे जलमें फिटकरीका काम देगी। एक सौ एकवीं इच्छा सौ इच्छाओंको काट देगी। इसमें इतनी शक्ति है। एक इच्छा ईश्वरकी प्राप्तिकी प्रबल होवे, चाह दिलमें होवे, कृष्णसे ममता हो और मिलनेकी तीव्र प्यास अपने हृदयमें उत्पन्न होवे, तो देखो! संसारका तो पता ही नहीं चलेगा! प्यारा-ही-प्यारा दिखेगा!

अब देख लो! तुम्हारा प्यारा कौन है? अरे भाई, भरी सभामें तो सब कह देते हैं, कि हमारे प्यारे भगवान् हैं। जरा एकान्तमें बैठकर देखो—'कहीं **भज कलदारं भज कलदारं कलदारं भज मूढमते**—की स्थिति तो नहीं है? पैसा प्यारा है, रिश्तेदार-नातेदार प्यारे हैं, सगे-सम्बन्धी प्यारे हैं, देह प्यारी है! सबको छोड़ सकते हैं, देहको नहीं छोड़ सकते। सबसे ज्यादा प्यारी देह है।

प्रेष्ठका अर्थ है—केवल भगवान्‌से तृप्ति मिले। अपनी तृप्तिको बेचो मत। रोटीमें तृप्ति है, कि पैसेमें तृप्ति है, कि कपड़ेमें तृप्ति है, कि मकानमें तृप्ति है? खुब नोटोंके बण्डल देख लिए, और बोले—अरे, शान्ति नहीं मिली। जरा आँख बन्द करके भगवान्‌का ध्यान किया—बोले—आहा, अब शान्ति मिली। बाजारमें बहुत चर्चा कर ली, बोले—कि मजा नहीं आया। कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण—लो भगवान्‌का

नाम; अब मजा आया। अपना मजा, अपनी तृप्ति भगवान् के नाम में, भगवान्के स्मरणमें, भगवान्की पूजामें जोड़ो। संसारसे मन युक्तिसे उठता है, हुक्म देनेसे नहीं उठता है। किसी बड़े आदमीने कह दिया, बड़े भारी उपदेशकने सुना दिया, और आज्ञा दे दी—कि आप अपना मन भगवान्में लगा दो, न तो कहने वालेका मन भगवान्में लगा, न तो सुननेवालेका मन लगा। भगवान्में मन लगानेके लिए युक्ति करनी पड़ती है, उपाय करना पड़ता है। मनका स्वभाव है नीचेकी ओर जाना; ऊपर ले जाता ही नहीं; जबतक हड्डी-मांस मिले, तबतक ईश्वरसे प्रेम करना पसन्द नहीं करता। प्रह्लादके चरित्रमें सूकरकी एक कथा सुनाते हैं। प्रह्लादने सूअरसे कहा—कि 'वैकुण्ठ चलो!' तो उसकी घरवालीने पूछा, कि वहाँ हमारा भोजन मिलेगा कि नहीं? ऐसे ही यह मन हड्डी-मांस-चामकी ओर ही खिंचता है। प्यारा है, तो एकमात्र भगवान्। उसका नाम प्यारा है, उसका स्मरण प्यारा है, उसकी पूजा प्यारी है।

अब उद्धवजी बोले—कि प्यार तो अपनी आत्मासे होता है; यह गोपियोंने तुमसे कैसे कर लिया? भगवान् बोले—उद्धवजी! मैं ही आत्मा हूँ—आत्मानं। गोपियोंका असली 'मैं' मैं हूँ। गोपियोंका दयित, प्रेष्ठ, ईश्वर, आत्मा मैं ही हूँ। मेरे सिवाय दूसरा कोई आत्मा गोपियोंका नहीं। गोपियोंके लिए दूसरा कोई ब्रह्म नहीं, दूसरा कोई ईश्वर नहीं। तुम उद्धव, जिस आत्माकी चर्चा कर रहे हो, वह आत्मा मैं हूँ, कि नहीं? उद्धवने कहा—हो तो सही। बोले—तब उन्होंने मुझसे ही प्रेम किया है, मेरा ही ध्यान किया है।

उद्धवजीसे कृष्णके सन्देशको सुनकर गोपियोंकी क्या दशा हुई—यह वर्णन आगे भागवतमें है। **ता ऊचुरुद्धवं**—गोपियोंने उद्धवसे कहा—**प्रीता**—बड़ी प्रसन्न; तृप्त होकर कहा। इतनी तृप्ति गोपियोंको कहाँसे मिली? **ज्ञात्वात्मानं अधोक्षजम्**—उनको मालूम हो गया—कि जो हमारी आत्मा है, वही श्रीकृष्ण है। कृष्णने जो सन्देश दिया, उससे गोपियोंकी समझमें यह आया कि हमारी आत्मा कृष्ण है। तो गोपियाँ कृष्णको आत्माके रूपमें, परमात्माके रूपमें, अपने सर्वस्वके रूपमें मानकर प्रेम कर रही हैं। कृष्ण उद्धवसे वर्णन कर रहे हैं कि मेरे लिए जो इतना त्याग करता है, इतना प्रेम करता है, उसका तो मैं दिन-रात ध्यान करता हूँ उद्धव! **ये त्यक्ता लोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्**—जो मेरे लिए लोकका, धर्मतकका त्याग करके हमारे पास आते हैं, **बिभर्मि**—उनका मैं पालन-पोषण करता हूँ। पालन-पोषण ही नहीं, हमें केवल उन्हींका ध्यान रहता है।

अच्छा, अब यह प्रसंग फिर सुनावेंगे। ❋

पंचम प्रवचन

भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे वर्णन कर रहे हैं कि गोपियोंके हृदयमें मेरे प्रति क्या भाव है। वे तो मन्मनस्का हैं, मत्प्राणा हैं, मदर्थे त्यक्तदैहिका: हैं। उनके मनमें मैं हूँ, उनके प्राण मेरे लिए हैं, और उन्होंने मेरे लिए सारे सम्बन्ध छोड़ दिये हैं। लेकिन धर्मकी रीति तो देखो, कि संसारमें कुछ सम्बन्ध ऐसे हैं, जो छोड़ने योग्य नहीं हैं। पुत्रका कर्तव्य है कि वह आजीवन माता-पिताकी सेवा करे। पति-पत्नीका कर्तव्य है कि आजीवन एक-दूसरे के साथ रहें। एक दूसरेकी सहें, और निभावें। धर्मकी दृष्टिसे, यह सब ऐसा है। यदि कोई पुत्र माता-पिता को छोड़ दे, पति-पत्नी आपसमें अलग हो जायँ, भाई-भाई एक-दूसरे की न मानें, तो? बोले—कि छोड़ देना बुरा नहीं है। यह देखो, कि उनको छोड़ा किसके लिए है। 'मदर्थे' शब्दका जो अर्थ है, उसको पकड़ो किसके लिए छोड़ा भाई? दूसरा ब्याह करने के लिए अपनी पत्नीको छोड़ दिया? भगवान्के लिए गोपियोंने सब कुछ छोड़ा। क्योंकि वे माता-पिताके भी माता-पिता हैं, वे गुरुके भी गुरु हैं। जहाँ दैहिक सम्बन्ध परमेश्वरकी प्राप्तिके लिए छोड़े जाते हैं; वहाँ उनका छोड़ना संन्यास हो जाता है; धर्म हो जाता है और जहाँ दैहिक सम्बन्ध दैहिक भोगके लिए और धनके लिए छोड़े जाते हैं वहाँ वह स्वार्थ हो जाता है। गोपियों ने किसके लिए दैहिक सम्बन्धोंका **पति सुतान्वय भ्रातृबान्धवान्** परित्याग किया? उन्होंने कृष्णको पानेके लिए अपने शारीरिक सम्बन्ध छोड़ दिये।

अच्छा, कोई संसारका शारीरिक सम्बन्ध तो छोड़ दे और भगवान्के साथ सम्बन्ध न जोड़े, तो क्या होगा? ये संसार के सम्बन्ध भी सहारे हैं; एक सहारा था, उसको भी छोड़ दिया! पत्नीका सम्बन्ध किस लिए? कि पुरुष व्यभिचारसे बच सके। पुरुषका सम्बन्ध किस लिए? कि स्त्री व्यभिचारसे बच सके। ये ससारके सम्बन्ध भी अपने मन और अपनी इन्द्रियोंको रोकनेके लिए होते हैं। ये बुरे नहीं हैं; अच्छे हैं। उन्हें तो छोड़ दिया और ईश्वरके साथ जुड़े नहीं। *धोबीका कुत्ता, न घरका, न घाटका।* कहींका न रहा न! कृष्ण बताते हैं, कि गोपियोंने अपना सम्बन्ध मेरे साथ जोड़ा है—

मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गता:।

धर्मदृष्ट्या दयितं, प्रेमदृष्ट्या प्रेष्ठम् और ज्ञानदृष्ट्या आत्मानं। गोपियोंके तीनों श्रीकृष्ण हैं। धर्मसे सम्बन्ध होता है पति-पत्नीका। धर्मकी दृष्टि धारणात्मिका है।

पति-पत्नीके मनको, इन्द्रियोंको धर्म रोकता है, नियन्त्रण करता है। चाहें, कि हम कानूनसे लोगोंको रोक लेंगे? नहीं धर्मसे रोक लेंगे। सिपाही-पुलिससे रोक लेंगे? नहीं! लोगोंके मन में यह भाव चाहिए, कि हम बुरा काम नहीं करेंगे। और मनमें यह भाव कहाँसे आयेगा? धर्मसे आयेगा। इसलिए धर्म छोड़कर कोई शासन बहुत दिनोंतक नहीं चल सकता। कोई-न-कोई कायदा-कानून बनाना पड़ेगा।

धर्मकी दृष्टिसे दयित होता है पति—जिसको अपने शरीरका दान किया गया। गोपियोंने श्रीकृष्णके प्रति अपने शरीरका दान किया; धर्मदृष्टिसे गोपियोंके पति श्रीकृष्ण हैं—यह बात श्रीमद्भागवतमें कई बार आयी है।

गोपियाँ उद्धवजीसे श्रीकृष्णकी चर्चा करती हैं, तो कहती हैं—आर्यपुत्र श्रीकृष्ण इस समय मथुरामें हैं। अच्छा, विवाह तो हो गया; धर्मका सम्बन्ध जुड़ गया, लेकिन प्रेम नहीं हुआ—तो? श्रीकृष्ण बताते हैं—**दयितं प्रेष्ठं। दयितं पति प्रेष्ठं-प्रेयसां**—अर्थात् अतिशय प्रेमास्पद उनका मैं हूँ। रागास्पद, अनुरागास्पद भी हूँ। गोपियोंने सारा प्रेम मेरे साथ जोड़ रखा है। बोले—अच्छा भाई! प्रेम भी जुड़ गया, तो ज्ञान तो रह गया न! श्रीकृष्ण बोले—**आत्मानं**। गोपियोंने जान लिया है कि कृष्ण और हम जुदा नहीं हैं; एक ही आत्मा हैं। यह ज्ञान दुःख मिटानेवाली चीज है। अतः अपना सम्बन्ध श्रीकृष्णके साथ जोड़ो। संसारसे सम्बन्ध छोड़ो।

मैं अपना मन हरि सौं जोर्‍यो।
हरि सौं जोरि सबन सौं तोर्‍यो॥

संसारके सम्बन्ध टूटनेवाले हैं, कटनेवाले हैं, मिटनेवाले हैं, मरनेवाले हैं—

ऐसे बर को के बरूं, जो जनमे और मर जाय।
बर बरिये गुपाल जू म्हारो चुड़लो अमर हो जाय॥

मन-ही-मन ब्याह कर लो श्रीकृष्णसे; पुरुष हो, चाहे स्त्री हो। पुरुष हो, तो उसको भी स्त्री बनाकर भगवान् ब्याह कर लेते हैं। आपने सुना होगा मीरा गयी वृन्दावन जीव गोस्वामीजीके पास। बोली वृन्दावनमें तो एक ही पुरुष है—कृष्ण। तुम कहाँसे पुरुष बनकर आगये?

ठाकुरजी बड़ी-बड़ी दाढ़ी-मूँछवालोंको भी, पके बालोंवालोंको भी, बिना दाँतवालोंको भी किशोरी बनाकर उनके साथ विवाह कर लेते हैं। विवाहितको कुमारी बना लेते हैं, विधवाको सधवा बना लेते हैं, पुरुषको स्त्री बना लेते हैं, बूढ़ेको जवान बना लेते हैं। उनको ब्याह करनेका बड़ा शौक है।

एक बार मैं स्वर्गाश्रम गया था। किसीने आकर पूछा—श्रीकृष्णकी सोलह हजार पत्नियाँ थीं? मैंने कहा—भलेमानुस! यह तो बहुत कम करके लिखा गया है। संसारमें जितने जीव हैं, सब श्रीकृष्णकी पत्नियाँ हैं। सोलह हजार तो नसों-नाड़ियोंका हिसाब लगाकर, वृत्तियोंका हिसाब लगाकर लिखा गया है। सम्पूर्ण विश्वकी सम्पूर्ण वृत्तियाँ, सम्पूर्ण नाड़ियाँ, सम्पूर्ण श्रुतियाँ श्रीकृष्णकी पत्नियाँ हैं। डरो मत, उनके साथ रिश्ता जोड़ो, सम्बन्ध जोड़ो। तुम्हारे सारे दुःख मिट जायेंगे। आज ही तुम्हारे मनमें यह भाव आ जायेगा—कि हम तो आनन्द-कन्द, नन्दनन्दन, श्यामसुन्दर, मुरली-मनोहर, पीताम्बर-धारी, मन्द-मन्द-मुस्कानवाले, साँवरे सलोने व्रजराजकुमारकी पत्नी हैं। यह मनमें भाव आवे। छोड़ो संसारके सम्बन्धोंको। देखो, क्या आनन्द आता है। इसके लिए शरीरकी जरूरत नहीं है—**आत्मानं मनसा गताः**—गुरुका दिया हुआ जो शरीर है, भावनामय—वही असली है। माता-पिताका दिया हुआ जो शरीर है, वह तो भौतिक है, रज-वीर्यसे बना हुआ है; यह गन्दी चीजोंसे बना है।

दुकूलं विद्रानाम् सकुच तलयुगे कंचुकतटं
प्रसादं स्वामिन्याः स्वकरदत्तं प्रणयतः।
सुतां नित्यं पार्श्वे विविधपरिचर्येतु चतुरा
किशोरीं आत्मानं किमपि सुकुमारि नु कलये॥

मनेमें यह ध्यान करो—कि हम तो व्रजकी एक सुकुमारी किशोरी हैं और श्यामसुन्दरके साथ हमारा सम्बन्ध है। संसारके सारे दुःख कट जायेंगे, सारी आपत्ति-विपत्ति कट जायेगी। बोले—फिर धर्मका पालन किसके साथ करना? धर्मका पालन भगवान्‌के साथ करना; सच्चा पति वही है।

कृष्णने गोपियोंके साथ व्यंग्य किया है, जब कहा रासलीलामें कि 'लौट जाओ', **शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः। सतीः शुश्रूषध्वं**—

अभी तुम्हारे भाग्यमें पतियोंकी सेवा बदी है। जाओ-जाओ, पतियोंकी सेवा करो। तो पतियोंकी सेवा माने—कौन पति? जो एक जन्ममें एक, दूसरे जन्ममें दूसरा, तीसरे जन्ममें तीसरा; अभी तो हजारों जन्म हैं तुम्हारे। और हजारोंसे ब्याह होगा। धन्य है तुम्हारा सतीत्व! और ईश्वरसे ब्याह कर लिया, तो सच्चा सतीत्व आ जायेगा। ईश्वरसे ब्याह कर लो, तो जन्म-जन्म वही पति होगा। स्त्रीके लिए, पुरुषके लिए—सबके लिए यही बात है। ऐसा नहीं हुआ, तो संसारका जो सम्बन्ध है, वह दुःख देगा।

बोले—अच्छा! संसारका सम्बन्ध कट गया, तो? धर्म छूट गया। अरे बाबा, धर्म ईश्वरसे मिलानेके लिए है। अगर ईश्वरसे न मिलावे, तो धर्म बेकार हुआ। वह धर्म नहीं श्रम हुआ। भागवतमें इसका बड़ा भारी आनन्ददायी विवेचन है—

ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्।

कृष्ण कहते हैं—मैं गोपियोंकी ही बात नहीं करता। चाहे जो कोई होवे, और मेरे लिए लोक-धर्मका त्याग कर दे। शास्त्रमें तो इसकी आज्ञा है—

धर्मं भजस्व सततं त्यजलोकधर्मान्।
सेवस्व साधुपुरुषं जहि कामतृष्णाम्॥

अपने असली धर्मकी सेवा करो और जो लौकिक, नकली, दिखाऊ धर्म है, उनको छोड़ दो। साधु पुरुषकी सेवा करो। काम-भोगकी तृष्णा छोड़ो—

अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा कथामृतमहो नितरां पिब त्वं॥

दूसरेमें क्या गुण है, क्या दोष है—इसकी फिकर छोड़ो। भगवद्भक्ति और भगवद् रस—कथाके रसका पान करो। इससे जीवन सुखी रहेगा। और दूसरेके चिन्तनमें अपने मनको लगाओगे—कि वह ऐसा, वह ऐसा—तो दोषाकार वृत्ति हो जायेगी तुम्हारी। वह तुम्हारे दिलको जला कर छोड़ेगी।

आप जानते हैं, कि अर्जुनपर भगवान् कितने खुश हैं और सारी गीतामें यही बताते हैं कि अपने धर्मके लिए मर मिटो—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि। गी-२.३१
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। गी-३.३५
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते। गी-२.३१

धर्म, धर्म, धर्मकी चर्चा! नारायण कहो! धर्म-पालनका उपदेश तीनों पंक्तियोंमें है। लेकिन अन्तमें हुकम दे दिया अर्जुनको, बिलकुल उलटा। बहस दूसरे ढंगकी है और बयान तनखी दूसरे ढंगकी है। तजबीज दूसरे ढंगकी, और फैसला बिलकुल दूसरा दिया गया—**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।** यह फैसला है। **अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः**—अर्जुन! तुम अभी मेरी शरणमें नहीं आये हो। तुम झूठ ही बोलते हो, कि **शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।** मुझ एककी शरणमें आओ—**मामेकं शरणं व्रज।**

अच्छा, गोपियोंको क्यों नहीं कहते—कि मुझ एक की शरणमें आओ? अर्जुनको क्यों कहते हैं? इसका यह अर्थ है कि अर्जुन अभी एक कृष्णकी शरणमें नहीं आया है; थोड़ा कृष्णकी शरणमें है, और थोड़ा धर्मकी शरणमें है। और

गोपियाँ तो सब छोड़-छाड़कर कृष्णकी शरणमें आयी हैं। इसीलिए श्रीमद्भागवतमें बताया है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसाम्—मनुष्य धर्मका खूब पालन करे। परन्तु भगवान्‌की लीलामें उसका प्रेम न हो, तो वह धर्म क्या है? बोले—श्रम एव—वह केवल मेहनत-मजदूरी है, परिश्रम है। कर लो परिश्रम। तनखाह मिल जायेगी तुमको। भला बिना प्रेमके धर्म क्या होता है! धर्म है ही इसलिए कि भगवान्‌से प्रेम उत्पन्न होवे। एक जगह भागवतमें धर्म और प्रेमकी तुलना की हुई है; धर्म और भजनकी तुलना की हुई है। जो भागवत पढ़ते हैं, उनकी दृष्टिमें वह प्रसंग जरूर आया होगा—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ-पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥

भा. १.५.१७

अच्छा, एक आदमीने अपना धर्म छोड़ दिया और भगवान्‌का भजन किया। भगवान्‌के भजनका परिपाक न होनेसे वह गिर गया—तो क्या उसका अमंगल होगा? अकल्याण होगा? नहीं। जिसका उसने भजन किया है, वह उसे पकड़कर उठा लेगा। लेकिन जिसने भगवान्‌का भजन नहीं किया, केवल धर्मका पालन किया—उसको क्या मिलेगा? बहुत होगा, तो स्वर्गमें हो आयेगा; अमृत सूँघ आयेगा, अप्सराओंका भोग कर आयेगा और पार्कमें घूम करके फिर धरतीपर आ जायेगा। **क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।** इसलिए सबसे बड़ा कौन है? जो सब धर्मोंका परित्याग करके मेरा भजन करे। भरोसा धर्मका नहीं रखते हैं, भरोसा मेरा रखते हैं।

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥ भा. ९.५.६५

अम्बरीष—दुर्वासाके प्रसंगमें स्वयं भगवान् दुर्वासासे प्रतिज्ञा कर रहे हैं—कि जिन्होंने मेरे लिए स्त्री छोड़ी, घर छोड़ा, पुत्र छोड़ा, स्वजनोंको छोड़ा अपना शरीर छोड़ा, प्राण छोड़ा, धन छोड़ा, लोक-परलोक छोड़ा और सबकुछ छोड़कर मेरी शरणमें आये, मैं उनका परित्याग कैसे कर सकता हूँ? मैं सबको छोड़ सकता हूँ, परन्तु अपने भक्तको नहीं छोड़ सकता।

हम भगतन के भगत हमारे।
सुन अरजुन परतिज्ञा मेरी यह व्रत टरत न टारे॥

यह भगवान्‌का व्रत है। गोपियोंने किसके लिए संसारका त्याग किया? **मदर्थे।**

आजकल देखो, लोग ऐसे हैं, जो प्रातः-सायं सन्ध्यावन्दन-रूप धर्मका परित्याग कर रहे हैं। तो भाई, सुबह सन्ध्या क्यों नहीं की? अरे महाराज, दस बजे तो नींद टूटी, क्या बतावें! अच्छाजी, सायंकाल सन्ध्या क्यों नहीं की? बोले, सायंकाल ताश खेलते रहे। ताश खेलनेके लिए सन्ध्या-वन्दन छोड़ दिया। और दूसरे लोग—वे भगवान्‌का स्मरण करने लगे महाराज! आँखोंमें आँसू आ गये, शरीरमें रोमाञ्च हो गया; ऐसा भाव बन गया, कि याद ही नहीं रहा, कि इस समय सन्ध्या करनी है। अब दोनोंके छोड़नेमें कुछ फर्क है कि नहीं है? एकने तो ताश खेलनेके लिए अपने सन्ध्या-वन्दन धर्मका परित्याग किया, और एक भगवान्‌के प्रेममें मग्न हो गया—तो उसको सन्ध्या-वन्दनकी याद नहीं आयी। दोनोंमें बहुत फर्क है। भगवान् कहते हैं—कि मेरे लिए जो अपने धर्मका परित्याग करता है, उसकी ओरसे धर्मानुष्ठान मैं कर देता हूँ—**तान् बिभर्म्यहम्**। जब हमारा भक्त हमारे प्रेममें—कृष्ण-कृष्ण-कृष्णके स्मरणमें डूब गया हो; ऐसी स्थितिमें **सन्ध्या-वन्दन भद्रमस्तु भवते भोः स्नानं तुभ्यं नमः**—हे सन्ध्या-वन्दन, तुम्हारा कल्याण हो। हे स्नान, तुम्हें नमस्कार हो। अरे ओ देवताओ, और पितरो, हमसे तर्पण नहीं होता; हमें माफ करो।

बैठ गये कहीं—सामने देखा, तो यमुनाका पुलिन है। काली-गोरी बालुका फैली हुई है। गौएँ जल पीनेके लिए जा रही हैं। ग्वाल-बाल खेल रहे हैं और उनमें मोरपंखवाला, मुरलीवाला, पीताम्बर-धारी, मन्द-मन्द मुस्कुराता हुआ नन्द-नन्दन नृत्य कर रहा है। अरे बाबा, ऐसा आनन्द आया—कि हमको तो भूल गया कि चलो, सन्ध्या-वन्दन करें। कृष्णकी यादमें, कृष्णके ध्यानमें, कृष्णकी भावनामें जब यह भूल गया, तो कृष्णने कहा—अच्छा भक्त! तुम मुझे देखो; और मैं तुम्हारा प्रतिनिधि बनकर सन्ध्या-वन्दन कर रहा हूँ। वे झट यमुनाजीके तटपर पहुँच गये; पाँव धो लिए, हाथ धो लिए। हाथमें जल लिया; आचमन किया, मार्जन किया, प्राणायाम किया, उपस्थान किया; गायत्रीका जप करने लगे। बोले—कृष्ण भगवान्, यह क्या कर रहे हो? कि अपने भक्तके लिए कर रहा हूँ। हमारा भक्त प्रेमसमाधिमें मग्न है, जिसकी आँखसे इस समय आँसू गिर रहे हैं; उसके लिए मैं सन्ध्या-वन्दन कर रहा हूँ! भक्त देख रहा है, कि भगवान् हमारे लिए सन्ध्या कर रहे हैं। वाह-वाह वाह! प्रेममें मग्न हो गये!

ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्! जो मेरे लिए लोक—धर्मका परित्याग कर देते हैं, उनकी रक्षा मैं करता हूँ। 'रक्षा करता हूँ'का एक अर्थ यह हुआ, कि उनके ऊपर कोई आपत्ति-विपत्ति आवे तो उन्हें मैं बचाता हूँ। दूसरे,

उनके योग-क्षेमके लिए जो करना चाहिए, सो मैं कर देता हूँ। उनके धर्मका ध्यान मैं रखता हूँ। जो मेरी यादमें डूबे रहते हैं—मैं उनकी यादमें डूबा रहता हूँ।

यह प्रेम-भक्तिका मार्ग है। यहाँ तर्क-वितर्कसे कुछ नहीं होता। कोई युक्तिसे आदमीको हरा सकता है, लेकिन उसके दिलको नहीं जीत सकता। और भक्ति जो है—यह दिलको जीतनेवाली है। अब भगवान् उद्धवके सामने गोपियोंको याद करते हैं—

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः॥ ४६.५
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन।
प्रत्यागमनसंदेशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥ ४६.६

जाना व्रजमें, उद्धव! **गच्छोद्धव**। जाकर देखना कि मैं अब उन गोपियोंसे दूर पड़ गया हूँ—**दूरस्थे**। दूर होनेसे क्या होता है। श्रीमद्भागवतमें वर्णन आया है—कि जिस समय गोपियाँ श्रीकृष्णका दर्शन कर रही होती थीं, उस समय जब पलकें गिर जाती थीं, तो उनके मनमें यह होता था कि ये पलकें नोचकर फेंक दें! कृष्ण और हमारी पुतलीके बीचमें ये पलकें क्यों आती हैं! *देख री देख अनिमेष या मोहन को।* अरी सखी, निमेष नहीं गिरने पावे! इस वेशको देख। भागवतमें वर्णन आया है कि जैसे आदमीके हाथ-पाँवमें कभी-कभी खुजली होती है, वैसे ही गोपियोंकी आँखमें खुजली होती रहती थी। **दिदृक्षित दृशा**—आँखकी आदत पड़ गयी थी; आँखें नहीं मानती थीं।

लाज लगाम न मानत नैना मो बस नाहिं।

आँखें मेरे वशमें नहीं हैं, लाजकी लगाम नहीं मानती—

मुँहजोर तुरंग लों ऐंठत हूँ चलि जाएँ।

मुँहजोर घोड़ा जैसे लगाम खींचनेसे नहीं मानता, वैसे हमारी आँखें मानती नहीं हैं। मैं खींचती ही रह जाती हूँ और ये चली जाती हैं।

गोपियोंकी आँखमें दिदृक्षा है। एक दिन उन्होंने ब्रह्मको ही गालियाँ देनी शुरू कर दीं। भागवतमें ही यह वर्णन है—

कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम्—

घुँघराले बाल जिस श्रीमुखपर लटके हुए होते हैं और लक्ष्मी शोभा बनकर जिसपर निवास करती हैं, उस मुखको देखते समय हमारी आँखोंपर पलकें बना दीं जिसने, जो गिर जाती हैं; हमारी आँखोंपर, ऐसी पलकें बनानेवाला वह ब्रह्मा जड़

है, मूर्ख है। उसने हमारी आँखोंपर गिरनेवाली ये पलकें क्यों बनायीं? अरे, गिरनेवाली न बनाता, तो क्या करता? बोले—कि खुली आँख बना देता। काहेके लिए? कि निरन्तर श्रीकृष्णका दर्शन होता। आँखें भर-भरकर श्रीकृष्णके रूपअमृतका पान करती थीं गोपियाँ। श्रीकृष्णका दर्शन किये बिना एक निमेष भी गोपियोंके लिए चार युगके समान हो जाता था—**त्रुटिर्युगायते त्वमपश्यताम्।**

श्रीकृष्ण वर्णन करते हैं—कि उन्हीं गोपियोंसे मैं दूर हो गया हूँ—**ताः गोकुलस्त्रियः**—वे गोकुलकी स्त्रियाँ, जिनका सोनेसे लेकर जागने तक और जागनेसे लेकर सोनेतक सारा काम हमारे लिए है; जिन्होंने हमारे लिए सब कुछ छोड़ दिया, धर्म और मोक्षकी भी परवाह नहीं की—उन गोपियोंसे मैं दूर रह रहा हूँ। उनकी क्या दशा होगी, उद्धव!

एक बातपर आप ध्यान दें। यह भगवान्‌के विरहका जो वर्णन है—यह हमारे लिए कितना उपयोगी है? संसारके लोग तो कमानेमें लगे हैं। बहुत-से तो भगवान्‌को मानते ही नहीं; जो मानते भी हैं, वे सुबह-शाम हाथ जोड़ लेते हैं! चलो, छुट्टी हुई! कई लोग कहते हैं—जब बुढ़ापा आयेगा, तो ईश्वरका नाम ले लेंगे। तो देखो भाई, ईश्वरको मानना या न मानना दूसरी चीज हैं; हाथ जोड़ देना दूसरी चीज है। अब जिसको यह शंका है कि ईश्वर है कि नहीं, उनकी तो बात ही अलग है। उनको समझानेकी युक्ति दूसरी है; उनके लिए हम यह बात नहीं कर रहे हैं। जो लोग हाथ जोड़कर ही संतोष कर रहे हैं, उनकी भी बात नहीं कर रहे हैं; क्योंकि जो लोग ईश्वरका भजन नहीं करते, वही लोग करनेवालोंकी निन्दा करते हैं। साधुओंके, भजन करनेवालोंके विरोधी कौन हैं? जो उनके पास नहीं जाते। कारण क्या है? कि उन्हें इसका स्वाद नहीं आया है। भजनका स्वाद तब आता है, जब एक बार ईश्वरसे मिलनेका जो अभाव है, वह खटके। जैसे बालक स्कूलसे समयपर नहीं लौटता है और एक्सीडेंटका डर होता है न मनमें, उस समय बच्चेसे मिलनेकी जैसी इच्छा मनमें होती है; अपने पतिके परदेश जानेपर उससे मिलनेका मनमें जैसी इच्छा होती है; अपने इष्ट-मित्रके वियोगमें उससे मिलनेकी जैसी इच्छा होती है; माँको बेटेके लिए, गायको बछड़ेके लिए, चिड़ियाको अपने बच्चेके लिए जैसी ललक होती है—ऐसी एक बार ईश्वरसे मिलनेकी इच्छा अपने चित्तमें उदय होनी चाहिए। इसके बिना कुछ समझमें भी नहीं आता है। भक्तिकी बात तबतक समझमें नहीं आती, जबतक ईश्वरसे मिलनेकी इच्छा अपने हृदयमें उदय न हो। वेदान्तकी बात भले समझमें आजाय, भक्तिकी समझमें नहीं आवेगी, क्योंकि वेदान्तमें यह समझ जल्दी आजाती है कि

कुछ करने-धरनेकी जरूरत नहीं है। लोग इसे बहुत जल्दी पसंद कर लेते हैं। बस, एक दिनमें कृतकृत्य! जब सुनते हैं कि घोड़ेके रकाबमें पाँव डालें, और तत्त्वज्ञान हो गया, तो कहते हैं—आओ भाई! आज हम ही रकाबमें पाँव डाल लें। उसमें कुछ करना-धरना नहीं। यह भक्ति—यह तो हृदयमें पीड़ा जगाना है। पहले ईश्वर-प्राप्तिके लिए दिलमें दर्द पैदा करो। जैसे धन-प्राप्तिके लिए, सम्बन्धियोंके लिए अपने हृदयमें पीड़ा होती है, वैसी ही पीड़ा भगवत्प्राप्तिके लिए अपने हृदयमें जगाओ।

अच्छा, तो कह दिया—पीड़ा जगाओ और हमने जगा दी। लेकिन हुकुम देनेसे पीड़ा नहीं जागती है। यह तो दिल्लीकी मातमपुर्सी हो जायेगी न! किसीके घरमें कोई मर जाता है, तो दो-दो रुपये देकर दस औरतोंको ले गये, बोले कि रोओ उनके लिए। तो हम कहदें—कि तुम ईश्वरके लिए रोओ और तुम ईश्वरके लिए रोने लग जाओ, तो कुछ नहीं होगा न! भगवान्‌के लिए पीड़ा जगानेका उपाय यह है कि श्रीकृष्णके जो असली विरही हैं, उनका संग करो। गोपियोंकी कथा सुनो—कि श्रीकृष्णके विरहमें उनकी क्या दशा होती है। जब यह तुम सुनोगे, तो तुम्हारे मनमें एक गोपीकी शकल आवेगी; एक गोपी उतरेगी तुम्हारे मनमें और जब वह गोपी व्याकुल होगी कृष्ण-प्राप्तिके लिए, तब तुम्हारा मन भी व्याकुल होगा। फिर जब तुम्हारा मन श्रीकृष्ण-प्राप्तिके लिए व्याकुल होगा, तब जो भक्तिकी बात कही जावेगी, वह तुम्हारी समझमें आवेगी। जबतक तुम्हारे मनमें प्यास नहीं है, और हम कहते रहें—कि हमारे पास घड़ों पानी है—तो वह तुम्हारे किस काम का? बोले—हमको नहीं चाहिए, नहीं चाहिए। प्यास ही नहीं है, तो हमारा घड़ों पानी किस काम का!

प्यास होनेपर ही भलेकी बात समझमें आती है। ये जो वृन्दावनी भगत लोग हैं,ये कहते हैं—कि पहले प्यास जगाओ। तभी मालूम पड़ेगा कि इसमें क्या रस है, क्या स्वाद है। तो गोपियाँ कैसी हैं?

पीडाभिः नवकालकूटकटुता गर्भस्य निर्वासनः।

जब गोपियोंको विरहका भाव होता है, तो उसकी पीड़ा उन्हें वैसी ही होती हैं, जैसे समुद्रमें-से निकला हुआ हलाहल विष खानेकी पीड़ा उदय हो गयी हो। जब श्रीकृष्णके मिलनका भाव आता है, तो लगता है—जैसे उनका सर्वांग अमृतमें सिंच गया हो। जिसके हृदयमें नन्द-नन्दन श्यामसुन्दरके प्रति प्रीति जग जाती है, उसीको पता चलता है—कि प्रेम कैसा आड़ा-तिरछा होता है और आड़ा-टेढ़ा होनेपर भी कितना मीठा होता है। एक ओर तो यह काँटेकी तरह गड़ता है, और दूसरी ओर उसका गड़ना मीठा लगता है।

श्रीकृष्ण उद्धवजीसे कहते हैं—कि मैं गोपियोंका 'प्रेयसां प्रेष्ठे'—अर्थात् अत्यन्त प्यारोंसे प्यारा हूँ। देखो, इसका प्रश्न भागवतमें उठाया गया है। राजा परीक्षितने शुकदेवजी-से पूछा—'सब लोग कृष्णसे इतना प्रेम क्यों करते हैं?' शुकदेवजीने बताया—'वैसे तो संसारमें स्त्री भी प्रिय है, पुत्र भी प्रिय है, धन भी प्रिय है, लेकिन सबसे ज्यादा प्रिय है अपना 'मैं'। सबका 'मैं' अलग-अलग होता है, और उसी 'मैं'की तृप्तिके लिए, 'मैं'के सुखके लिए, 'मैं' के आनन्दके लिए संसारमें लोग प्रेम जोड़ते हैं। उन सबके अपने-अपने अलग-अलग 'मैं'को एकमें मिला देनेपर जो एक ही वस्तु होगी; सब 'मैं'के भीतर रहनेवाला जो एक 'मैं' है, उसका नाम श्रीकृष्ण है। इसीलिए वे सबके प्रिय हैं।

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥ भा० १०.१४.५०

अपनेको सुख देते हैं, इसलिए सब प्यारे लगते हैं। बोले—बाबा, अपनापन तो छोटा-छोटा है। जो सब अपनोंका अपना है, उसका नाम श्रीकृष्ण है। मनुष्यके लिए धन, मकान, स्त्री, पति, पुत्र—ये सभी प्रिय हैं। अपने-अपने जो 'मैं' हैं—वे प्रियके भी प्रिय हैं—प्रेयं। और कृष्ण कौन है? 'प्रेयसां प्रेष्ठ' है, सब प्यारोंका प्यारा है। वह परिच्छिन्न शरीरमें नहीं; सब प्यारोंका जो प्यारा है, वह श्रीकृष्ण है। उसी कृष्णके लिए गोपियाँ विह्वल हैं—

स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्य विह्वलाः।

कभी सोचो, उस श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए तुम्हारे हृदयमें प्यास जगी, कि नहीं? कभी उसके लिए भूख लगी? कभी उससे मिलनेके लिए तुम्हारी आँखमें दो आँसू आये? सीधा सवाल है। बेटेके लिए रोते हो, पतिके लिए रोते हो, पत्नीके लिए रोते हो, माँ—बापके लिए रोते हो, सास-ससुरके लिए रोते हो; भाई-भतीजोंके लिए, धनके लिए, मकानके लिए रोते हो। तुम्हारा यह रोना तुम्हारे हृदयको गंदा कर गया। तुम संसारकी प्राप्तिके लिए तो रोते रहे, और ईश्वरकी प्राप्तिके लिए दो बूँद आँसू भी तुम्हारे खर्च नहीं हुए। यही जो प्यास है, यही देनेवाली गोपी है। इसीसे कहते हैं—कि गोपीसे प्रेम करो—तो कृष्णसे प्रेम हो जायेगा। इसीसे कहते हैं—गोपीसे मिलो—तो तुम्हें कृष्ण मिल जायेंगे; क्योंकि वे गोपियोंके चारों ओर रहते हैं। एक बार उस प्यासको, उस रसको हृदयमें आने दो, भाई!

अच्छा, अब फिर कल।

*

छठा प्रवचन

धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन।
प्रत्यागमनसंदेशैर्वल्लभ्यो मे मदात्मिकाः॥ ६॥

मथुरामें भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंका स्मरण करके व्याकुल हो जाया करते थे। जितना प्रेम भक्त भगवान्से करते हैं, उससे बहुत ज्यादा प्रेम भक्त से भगवान् करते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् में कोई तराजूका वर्णन नहीं है, कि बराबर-बराबर भगवान् प्रेम देते हैं। तुम जैसा प्रेम करोगे, वैसा प्रेम भगवान् करेंगे—यह तो यह वर्णन है। अगर तुम एक कदम भगवान्की ओर चलोगो, तो भगवान् भी एककदम तुम्हारी ओर चलेंगे। परन्तु, तुम्हारा कदम तो होगा नन्हा-सा, बहुत छोटा; और भगवान्का एक कदम होगा बहुत बड़ा। वे तो एक पाँवमें ही सारी धरती नाप लेते हैं। यदि तुम्हारा मन भगवान्की ओर चलनेका है, तो वे भी तुम्हारी ओर चलनेका मन करते हैं। तुम्हारा संकल्प भले अधूरा रह जाय, लेकिन भगवान्का संकल्प अधूरा नहीं रहता है। इसलिए उनका संकल्प पूरा होकर भक्तको भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

एक तो यों ही भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्तोंके स्मरणमें मगन रहते थे, दूसरे यमुनाजीके तटपर बैठे थे, तो वृन्दावनकी ओरसे बहता हुआ एक कमल मिल गया। कमल था पीला; उत्सुकतावश उठा लिया और उसको सूँघ लिया। सूँघ लिया, तो राधारानीके अंग जैसी गन्ध थी! उनके हाथकी जैसी गन्ध थी, वैसी गन्ध उस कमलमें थी। तुरन्त ख्याल आया—कि श्रीराधारानीने वृन्दावनमें यमुनाजीके तटपर इस कमलको यमुनाजीमें डाल दिया होगा और यह वहींसे बहता हुआ आता है। यह उन्हींका भेजा हुआ कमल है। उसी समय एक तोता—जो एक वृक्षपर बैठा हुआ था—राधे, राधे, राधे बोल उठा। अब तो कृष्णके हाथ-पाँव ठंडे पड़ गये। श्रीकृष्णकी भगवत्ता प्रेमके वेगको, प्रेमके प्रवाहको रोकनेमें असमर्थ हो गयी। भगवान् सबके मालिक हैं, सारी सृष्टि उनके अधीन है, सारे जीव उनके अधीन हैं, यहाँतक कि ब्रह्मा—विष्णु-महेश भी ईश्वरके अधीन हैं। लेकिन वह ईश्वर भी

प्रेमके अधीन है; प्रेम ईश्वरके अधीन नहीं है। प्रेम ईश्वरको ऐसे-ऐसे नाच नचाता है। प्रेम ईश्वरको कभी मछली बनाता है, कभी कछुआ बनाता है, कभी शूकर बनाता है, कभी सिंह बनाता है; हयग्रीव बनाता है, राम बनाता है, कृष्ण बनाता है। यह प्रेमका ही कानून है, जिससे निर्गुण भी सगुण हो जाता है, निराकार भी साकार हो जाता है। सबका बाप भी बेटा बन जाता है; परिपूर्ण भी परिच्छिन्न बन जाता है। प्रेमके अधीन ईश्वरको रहना पड़ता है।

ज़ब श्रीकृष्ण बेहोश होकर गिरने लगे, तो उद्धवजीने उनको सम्हाल लिया। उद्धवजीको मालूम था, कि क्या उपचार करनेसे श्रीकृष्ण होशमें आते हैं; वे उनको व्रजवासियोंकी कथा सुनाने लग गये, क्योंकि सामान्य रूपसे सभी व्रजवासी श्रीकृष्णको प्यारे हैं। जब श्रीकृष्ण होशमें आये, तो उन्होंने उद्धवसे कहा—भाई! अब तुम व्रजमें जाओ! उन्होंने पहले यशोदा और नन्दकी याद की, फिर गोपियोंकी याद की। किसीका नाम लेकर संदेशा भेजा, किसीका नाम बिना लिए ही संदेशा भेजा। किसीकी उद्धवसे चर्चा की, किसीकी नहीं की।

अब उद्धवजीने पूछा—श्यामसुन्दर! तुम इतने विह्वल क्यों हो रहे हो? श्रीकृष्णने कहा—उद्धव! गोपियाँ मेरे लिए विह्वल हो रही हैं। तो गोपियाँ क्यों विह्वल हो रही हैं? कि विरहके कारण उनकी उत्कण्ठा बढ़ गयी है, और उत्कण्ठासे वे विह्वल हो रही हैं।

प्रेमके कई रूप होते हैं; एक तो उत्कण्ठा-प्रधान प्रेम होता है, दूसरा विश्वास-प्रधान प्रेम होता है। तीसरा अविवेक-प्रधान प्रेम होता है। नन्द-यशोदा और गोपियोंका उत्कण्ठा-प्रधान प्रेम है। उनकी उत्कंठा पल-पल, छिन-छिन बढ़ती जाती है। उनकी उत्कण्ठाका यह स्वरूप है—कि चलते-चलते उनको मालूम पड़ता है, कि यह कृष्ण है; पर फिर वे कहते हैं—कि यह मेरे मनका भ्रम है। सचमुच कभी-कभी श्रीकृष्ण अपने संकल्पसे नन्द-यशोदा और गोपियोंके सामने प्रकट हो जाते हैं, बात करते हैं, मिलते हैं, खाते-पीते हैं, परन्तु फिर उन्हें मालूम पड़ता है—कि यह तो हमारा स्वप्न था, भ्रम था; यह तो हमारे मनकी कल्पना थी। उनके हृदयमें श्रीकृष्णसे मिलनेकी बड़ी तीव्र उत्कण्ठा है।

गीताप्रेस, गोरखपुरमें हमारे एक मित्र हैं पं० रामनारायण शास्त्री। उनकी एक रचना है, जो सूक्ति-सुधाकरमें छपी हैं—

निज विकुण्ठ्या कण्ठमुत्कंठ्यासा। नवमुखमिन्दोभद्र त्वरन्ति।

ये हमारे प्राण हैं। अपनी सांसत नहीं सह सकते; विकुण्ठा माने सांसत,

साँस। अब इनमें इससे ज्यादा सांसत सहनेकी ताकत नहीं लगती। अब हमारे प्राण उत्कण्ठाके वशीभूत होकर कण्ठमें आगये हैं। क्या उत्कण्ठा है? ये तुम्हारे मुख-रूपी चन्द्रमाका दर्शन करनेके लिए व्याकुल हो रहे हैं। उत्कण्ठा माने 'उत्' और 'कण्ठा'—वहाँ, जो उठकर कण्ठमें लग गयी। साँस नीचे जाती ही नहीं है, ऊर्ध्वत्वात् हो गयी है। गोपियोंके विरहकी यह अवस्था है कि उनकी पूरी साँस नहीं चलती है। वे मूर्च्छित, विरहोत्कण्ठ, विह्वल दशामें रहती हैं; कभी होशमें आती हैं, कभी होशमें नहीं आती हैं। प्राय: बेहोश रहती हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराणमें वर्णन है—कि श्रीकृष्णके विरहके बाद राधारानी प्राय: प्रेम-समाधिमें ही मग्न रहती थीं। उनको बाह्य-ज्ञान होता ही नहीं था।

गोपियाँ उत्कण्ठा-प्रधान हैं। उनको मिलनेपर भी उत्कण्ठा होती है। न देखनेपर देखनेकी उत्कण्ठा होती है, देखनेपर बात करनेकी उत्कण्ठा होती है, बात करनेपर सट जानेकी उत्कण्ठा, सट जानेपर एकमेक होनेकी उत्कण्ठा, एक होनेपर भी कभी न बिछुड़नेकी उत्कण्ठा होती है। प्रेममें 'इति श्री प्रेम पुराणे' होता ही नहीं। प्रेमका 'अथ' होता है, 'इति' नहीं होती; इति और मिति—परिमिति, समाप्ति नहीं होती। प्रेम कभी तौला नहीं जाता, यह अतुलनीय है। प्रीतिकी रीति बिलकुल निराली है।

श्रीदामा आदि जो सखा हैं—वे विश्वासप्रधान प्रेमी हैं। उनका ऐसा विश्वास है कि श्रीकृष्ण लोक-प्रतीतिसे तो मथुरा रहते हैं, लेकिन जब उन्हें मौका मिलता है, चुपचाप हमारे पास आ जाते हैं। रातको जब हम सोते हैं, हमारे पास सोते हैं। जब हम वनमें अकेले हो जाते हैं, तब वे यहाँ आकर हमसे बातचीत करते हैं, हमारे साथ खेलते हैं, हमारे कन्धेपर चढ़ते हैं। हमारा प्यारा श्यामसुन्दर हमको कभी छोड़ नहीं सकता। उन दिनोंमें भी—जब लोग उन्हें मथुरामें समझते हैं—लोक—दृष्टिसे भले ही वह मथुरामें हैं, सचमुच तो वह हमारे ही पास हरते हैं। ऐसे लोगोंसे कोई आकर कहे—कि श्रीकृष्ण तो मथुरा रहते हैं और तुम्हारी याद करते हैं। तुम्हारे लिए उन्होंने बड़े प्रेमका संदेशा भेजा है—तो उनको कभी संदेश लानेवाले पर विश्वास नहीं होगा। वे संदेश सुनेंगे नहीं, कहेंगे—कि यह तो बेवकूफ है। हमारा कन्हैया भैया तो हमारे साथ रहता है और यह आकर हमको उपदेश करता है। इनको विश्वास प्रधान प्रेमी बोलते हैं।

एक होते हैं अविवेक-प्रधान प्रेमी—जैसे गौएँ हैं—उन्हें श्रीकृष्णसे बड़ा प्रेम है। जब श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाते हैं, तो गौएँ मुँहकी घास न उगलती हैं, न

निगलती हैं। कान खड़े करके बाँसुरी सुन रही हैं। उनकी आँखोंमें श्यामसुन्दर हैं, हृदयमें श्यामसुन्दर हैं। शरीरमें रोमांच है। मग्न हो रही हैं। कभी श्यामसुन्दर अपने हाथसे उनकी पीठ सहला देते हैं, तो उनके थनका सारा दूध झर जाता है। जिस समय श्रीकृष्ण उनके सिरपर हाथ फेरते हैं, उनके गलेपर हाथ लगाते हैं, उनकी ललरी जो है गलकंबल—उसको सहलाते हैं—वे अपना सिर उठा देती हैं, आँख बन्द कर लेती हैं और उनके स्पर्शका आनन्द लेती हैं। परन्तु उनका प्रेम ऐसी दशामें पहुँच गया है, कि श्रीकृष्ण तो चले गये मथुरा, पर उनको वे जहाँ-तहाँ दीखते हैं। वे तमाल वृक्षके नीचे जाकर खड़ी होती हैं। तमाल वृक्ष उनके शरीरसे छूता है, तो उनको ऐसा ही लगता है कि कृष्ण उन्हें छू रहे हैं। उनको कोई ग्वाल-बाल आकर छूता है। तो ऐसा ही लगता है, कि कृष्ण ही छू रहे हैं। उनके नीचे कोई दूध दुहने बैठता है, तो ऐसा ही लगता है कि श्रीकृष्ण ही बैठे हैं। उनका सर्वात्मभाव हो जानेके कारण—कि सर्वत्र कृष्ण-ही-कृष्ण हैं—यह विवेक नहीं रहा, कि असली कृष्ण कौन हैं और स्फुरणाके कृष्ण कौन हैं।

अब देखो, कृष्ण संदेश किसको भेजेंगे? जिन गायोंको विवेक ही नहीं है कि श्रीकृष्णका विरह हो गया, उनके लिए संदेश क्यों भेजेंगे? उनको याद दिलाकर कि हमारा-तुम्हारा विरह हो गया है—उनका दुःख जगानेकी कोई जरूरत नहीं है। जो संयोगाभिमानी हैं, जिनको विश्वास है—कि भगवान् हमसे मिले हुए हैं—कि रातको कृष्ण हमसे मिलते हैं, दिनमें हमारे साथ खाते हैं, हमारे कन्धेपर हाथ रखते हैं—उन सखाओंको भी संदेश भेजनेकी कोई जरूरत नहीं है। परन्तु जिनका प्रेम अत्यन्त उत्कण्ठाकी दशामें है, उनको तो स्फुरणा नहीं है। जैसे गायोंको जगह-जगह श्रीकृष्ण दिखते हैं, वैसे गोपियोंको भी जगह-जगह श्रीकृष्ण दिखते हैं, लेकिन उनको यह विश्वास नहीं होता—कि ये कृष्ण हैं। श्रीकृष्ण स्वयं भी एक बार उनके सामने आजायँ, तो वे ठोंक-पीटकर परीक्षा ही करेंगी, कि यह असली है, कि नहीं। यह बड़ा छलिया है; और हमारा मन तरह-तरहका रूप धारण करनेवाला है। वही कहीं कृष्ण बनकर हमारे सामने खड़ा तो नहीं हो गया? तो उन गोपियोंके लिए संदेश भेजनेकी जरूरत थी। इसीलिए जब श्रीकृष्णने उद्धवजीको व्रजके लिए भेजा है, तो केवल दो हीका नाम लिया एक तो **पित्रोर्नौ प्रीतिमावह**—हमारे जो माता-पिता यशोदा और नन्द हैं—उनके लिए सुख ले जाओ, ढोकर ले जाओ; और **गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्संदेशैर्विमोच्य**—जो गोपियाँ हैं, मेरे वियोगमें दुःखी हैं—उनको एक-एक गोपीको अलग-अलग मेरा सन्देश देना। कोई युक्ति

मत बनाना, अपनी अकल मत लगाना; जो मैं कहता हूँ—वही उस गोपीसे कहना, नहीं तो वह पहचान जायेगी—कि उद्धवजी अपनी ओरसे बना रहे हैं।

अब श्रीकृष्ण गोपियोंके लिए सन्देश भेजते हैं, तो '**मयि ताः ताः गोकुलस्त्रियः**' शब्दोंका प्रयोग उनके लिए करते हैं। भागवतमें '**ताः**' शब्दका प्रयोग गोपियोंके लिए बहुत आया है। पत्नी अपने पतिका नाम नहीं लेती और कहती है—'वे' ऐसा कह रहे हैं। पति भी प्रेमी होते हैं, और कहते हैं—'उनकी' यह राय है। 'उनकी' माने हमारी घरवाली। सर्वनामका प्रयोग पत्नी पतिके लिए और पति पत्नीके लिए करता है। पत्नीके लिए सर्वनाम पति है, और पतिके लिए सर्वनाम पत्नी है। माने हमारे सब कुछ वही हैं। वैसे ही 'ताः'का अर्थ है—कि गोपियाँ हमारी सर्वस्वभूत हैं—**ताः सर्वस्वभूताः गोकुलस्त्रियः**। एक बार अर्जुनने श्रीकृष्णसे पूछा—'श्रीकृष्ण! तुम किसीसे कुछ, और किसीसे कुछ कहते हो। किसीसे एक बर्ताव करते हो, किसीसे दूसरा बर्ताव करते हो। कभी कहते हो—**स्वधर्मे निधनं श्रेयः**, कभी कहते हो—**सर्वधर्मान् परित्यज्य**'। यह बात क्या है? तुम्हारी बातका असली रहस्य कोई समझता है? कृष्णने कहा—'हाँ, समझनेवाले हैं तो सही, अर्जुन!'

जानन्ति गोपिका पार्थ न मे जानन्ति तत्त्वतः।

मेरी बातका असली मतलब गोपियाँ समझती हैं। दूसरा कोई नहीं समझता।

तो **भक्त्या हि लब्ध्ये कृष्ण**—भक्तिसे श्रीकृष्णकी प्राप्ति होती है। बोले—'इसमें प्रमाण क्या है?' प्रमाण हैं गोपियाँ ही—**तत्र गोपिकाः**। ये जो 'गोकुलस्त्रियः'—गोकुलकी स्त्रियाँ हैं, ये साधारण स्त्रियाँ नहीं हैं—

गोकुल गाँव को पैंडो हि न्यारो।
कै जानत वृषभानुनन्दिनी कै वै कान्हड़ कारो॥

यह तो ऐसे हैं, कि—

भगवत रसिक रसिक की बातें रसिक बिना कोउ समझ सकै ना।

एक बार चार गोपियाँ इकट्ठी हुईं। सायंकाल था, श्रीकृष्ण गोचारण-से लौट चुके थे। एक ने पूछा—कि क्यों सखि, आज तुम्हारे घर काम-धन्धा नहीं हो रहा था? तुम्हारे बाल बिखरे हुए हैं, सिरपर साड़ी नहीं है। तुम्हारी दशा क्या है? बोली—क्या बतावें सखि! जब हमारे प्राणप्यारे मुरली-मनोहर पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर नन्दनन्दन गोचारणके लिए बनमें चले जाते हैं, तो हमारी दशा ऐसी हो जाती है।

कुजगतिं गमिता न विदामः कश्मले न कबरे वसनं वा।

यह भागवतका श्लोक है। कुजगति—कुज माने वृक्ष; हम वृक्ष-सरीखी हो जाती हैं। ऐसी मूर्च्छा आती है, कि हमें पता नहीं चलता—कि हमारे बाल बिखरे हुए हैं और हमारे शरीर पर कपड़ा है या नहीं। अपने शृंगारकी सुधि नहीं रहती। जब दिनमें गोचारणके लिए जानेपर गोपीकी यह दशा होती है, तब कृष्णके मथुरा चले जानेपर क्या दशा हुई होगी? श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं—

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।

वे गोपियाँ, जो दिनमें हमारे निकल जानेके बाद इस दशाको प्राप्त हो जाती थीं; उनका समय कैसे बीतता होगा?

वीणा करे मधुमतीं—एक गोपी वीणा ले लेती है हाथमें—**मधुर स्वरां तां। आधाय नागरशिरोमणि-भाव लीलां। गायन्त्यो**—

आँखोंसे आँसूकी धारा बह रही है, हाथमें वीणा है और कृष्णकी लीलाका गान कर रही है। एक गोपी जड़ हो जाती है। दो-चार गोपियाँ बैठकर मेरी चर्चा करके दिन बिताती हैं। गोचारणके लिए जानेपर यह दशा हो जाती है गोपियोंकी; और अभी भी वही मैं हूँ, वही गोपियाँ हैं और आज उनसे इतनी दूर हो गया हूँ।

उद्धव! गोपियोंका मैं कौन हूँ? **प्रेयसां प्रेष्ठ**। आपको कल सुनाया था—सबको अपना आत्मा प्यारा है। अपना आपा हमारा, अपना आपा तुम्हारा और अपना आपा उनका; इन सबका जो अपना आपा है, उसका प्यारा कौन? कि उनका प्यारा श्रीकृष्ण। अनेक तो आत्मा हैं भिन्न-भिन्न शरीरमें, अनेक कर्ता—भोक्ता तो जीव हैं, उन सबका आत्मा कृष्ण है, सबका प्रेमास्पद कृष्ण है। श्रीकृष्ण कहते हैं—वही हूँ मैं और मैं अब इस समय गोपियोंको लगता हूँ दूर! बोले—अच्छा भाई! दूर हो गये, तो प्रेम घट जायेगा? कभी-कभी संसारमें ऐसा होता है कि बहुत दिनों तक मिलना न हो, तो प्रीति घट जाती है। काल बीचमें पड़ जाय—तो प्रेम कम हो जाता है। और निवासमें दूरी हो गयी, तब प्रेम कम हो गया। बोले—इतनी दूर कौन जायेगा, कौन मिलेगा। क्रियामें विपरीतता हो जाय, तो प्रेम कम हो जायगा। बोले—यह सब प्रेम नहीं, प्रेमाभास है। यह प्रेमका जनाजा है, प्रेमका मुर्दा है, छाया है। दूरी उपाधि है, देरी उपाधि है। सच्चा जो प्रेम होता है, वह हड्डी—मांस-चामसे नहीं होता, परमात्मासे होता है; दूरी होनेपर वह घटता नहीं, समीप होनेपर बढ़ता भी नहीं। उसका स्वभाव ही बढ़ना है। अपना पक्का सम्बन्ध अपने प्यारे परात्माके साथ होना चाहिए। श्रीकृष्ण उद्धवजीके लिए 'अंग' सम्बोधन करते

हैं; 'अंग' माने 'हे', 'भो', प्यारका सम्बोधन है। ऐसे भी कहो—तुम अंग हो, मैं अंगी। माने भगवान् कहते हैं उद्धवसे—'तुम मेरी जीभ हो, या तुम मेरे अंग हो—माने तुम मेरे दिल हो। उद्धवजी, मैं तुमको नहीं भेज रहा हूँ व्रजवासियोंके पास; तुम्हारे रूपमें अपने अंगको ही भेज रहा हूँ। तुम मेरी जीभ बनकर व्रजवासियोंमें जाओ और मेरी बात बोलो। तुम मेरा दिल बनकर व्रजवासियोंमें जाओ, और उनका दुःख मिटाओ।

स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः।

गोपियाँ मुझे याद कर-करके—'स्मरन्त्यो विमुह्यन्ति; विमुह्यन्त्यः स्मरन्ति।' वे मेरा स्मरण करके बेहोश हो जाती हैं। बोहोश होनेके बाद फिर उन्हें सपना आता है, उसमें भी मेरा स्मरण करती हैं और फिर होशमें आती हैं। कहते हैं—कि जब गोपीके हृदयमें श्रीकृष्णके विरहकी पीड़ा उत्पन्न हुई, तो श्रीकृष्णको मालूम पड़ गया—कि अब पीड़ा कहाँ तक पहुँची है। अब इससे अधिक पीड़ा होगी, तो ये मर जायेंगी। तब कृष्णने मूर्च्छाको बुलाया—अरी ओ मूर्च्छा! इधर आ। बोली—क्या आज्ञा है, महाराज? आज्ञा यह है—कि ये जो हमारी प्यारी गोपियाँ हैं, ये हमारे विरहमें मर न जायँ। इसलिए तुम जाकर उन्हें अपनी गोदमें ले लो और वे मरने न पावें। उन्होंने मूर्च्छा सखीको गोपियोंके पास भेज दिया। यह मूर्च्छा भी एक सखी है। गोपी जब प्रेमकी दसवीं दशा—मृत्युको प्राप्त होने लगती है, तब यह मूर्च्छा आकर उसके प्राणोंको बचाती है। गोपियोंकी सेवा करनेके लिए यह भगवान्की भेजी हुई है।

अब अगर कहो—कि गोपियाँ तो मरना ही चाहती थीं—नहीं, नहीं; गोपियाँ भी मरना नहीं चाहती थीं—

धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन।
प्रत्यागमनसंदेशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥ ४६.६
अति कृच्छ्रेण कथंचन प्रायः प्राणान् धारयन्ति।

गोपियाँ बड़े कष्टसे शरीर धारण किये हुए हैं। यह विरह प्रेमका विरोधी नहीं है। यह विरह प्रेमका वर्धन करनेवाला है। प्रेमके दो अंग हैं—संयोग और वियोग। और—

न विना विप्रलम्भेन संयोगः माश्नुते।

विरहके बिना संयोगका रस बढ़ता भी नहीं है; यह भी प्रेम शास्त्रका नियम है। विरह होनेसे ही मिलनका मजा मालूम पड़ता है, और फिर उसकी इच्छा होती

है। इसलिए विरह संयोगमें रुचि बढ़ानेवाला होता है। कोई भी प्रेमी मरना नहीं चाहता। क्योंकि प्रेमकी एक वृत्ति है आशा। अतः वह आशा प्रेमीको मरने नहीं देती। परन्तु यह बात तो बहुत छोटी है—कि प्रेमीके दिलमें जो आशा है, वह उसे मरने नहीं देती। दूसरी बात यह है—कि प्रेमका स्वभाव ही है कि प्रेमी चाहता है कि हमको चाहे कितनी तकलीफ हो, लेकिन हमारे प्रियतमको कोई तकलीफ न हो और हम अपनेको कोटि-कोटि कष्ट देकर भी प्रियतमको तिलमात्र, राईके दानेके बराबर, थोड़ा-सा भी सुख पहुँचावें। उसके बदलेमें हमें पहाड़के बराबर दुःख मिले—उसे हम सहनेको तैयार हैं। यह प्रीतिकी रीति है। यह तो '*प्याली भरे न खाली होय।*'

गोपियाँ बड़े कष्टसे जीवित हैं और अपने प्राणोंको धारण किये हुए हैं। बोले—**कथंचन**? है कोई ऐसा कारण—जिससे वे जी रही हैं? एक दिन ललिता सखी कृष्णके पास गयी। कृष्णने पूछा—सखि, तुम अपनी स्वामिनी किशोरीजीका हाल-चाल बताओ, कुशल-मंगल बताओ। ललिता बोली—कि महाराज! जी रही है। कृष्ण बोले—अरी ललिता! मैं तो कुशल-मंगल पूछ रहा हूँ। ललिताने कहा—कह तो दिया महाराज कि जी रही हैं। बोले—कि बावरी! तू मेरी बातका जवाब ठीक-ठीक क्यों नहीं देती? कुशल-मंगल बताओ, हाल-चाल बताओ। बोली—कि महाराज! जबतक वह जिन्दा हैं, तबतक कैसे कह दूँ—कि मर गयीं? जबतक वह साँस ले रही हैं—जिन्दा हैं। बस महाराज साँस ही चल रही है। यही उनकी दशा है। बोले—तब यह साँसा कैसे चल रही है? कौन-सी ऐसी चीज है उनके पास जो साँसको सम्हाले हुए है? बोली—**प्रत्यागमनसन्देशैः**—तुमने जो बारम्बार यह सन्देश दिया है—कि मैं आऊँगा, मैं आऊँगा। कोई गोपी यह सोच ही नहीं सकती कि कृष्णने जो हमसे वायदा किया है—वह झूठा हो सकता है। वह सोचती है कि कृष्ण आयेंगे; और जब उन्हें मालूम पड़ेगा कि उनके विरहमें हम मर गये—तो उनको कितना दुःख होगा। इसलिए गोपियाँ प्राण धारण कर रही हैं। अतः उद्धवजी! जाओ तुम उनके पास, और जाकर मेरा सन्देश पहुँचाओ।

सातवाँ प्रवचन

श्रीकृष्ण सबकी पारमार्थिक आत्मा हैं। तत्त्वदृष्टिसे विचार किया जाय तो सबके शरीरमें जो 'मैं' फुदक रहा है, वह फुदकनेवाला तो छोटा 'मैं' है, लेकिन उसमें जो तत्त्व है, धातु है, सार-सार है—वह एक है। तो परमार्थकी दृष्टिसे तो सबके आत्मा श्रीकृष्ण हैं। यह कोई जान लेता है, कोई नहीं जानता। भेद ज्ञान-अज्ञानका ही है, वस्तुतः भेद नहीं है।

अब गोपियोंकी बात सुनो। गोपियोंके कृष्ण केवल पारमार्थिक आत्मा ही नहीं हैं, उनकी व्यावहारिक आत्मा भी श्रीकृष्ण ही हैं। परमार्थमें तो मच्छरकी आत्मा भी—असली आत्मा श्रीकृष्ण ही हैं। पर देखना यह है—कि व्यवहारममें कृष्णको आत्माके रूपमें कौन जानता—मानता है। अब आत्माके तीन लक्षण देखो—सत्, चित् और आनन्द। मच्छरको जो आनन्द होता है, वह होता तो ब्रह्मसे ही है, किन्तु वह यह जानता नहीं। मच्छरको जो प्रकाश मिलता है, ज्ञान मिलता है—वह मिलता तो ब्रह्मका ही ज्ञान है, लेकिन क्या मच्छरको मालूम है? नहीं मालूम। मच्छरको मालूम नहीं—कि उसका ब्रह्मसे ही जीवन है, वह ब्रह्ममें जी रहा है, ब्रह्मके प्रकाशमें जी रहा है। ब्रह्म ही उसका परमानन्द है—यह मच्छरको कहाँ मालूम है?

अब देखो, परमार्थकी बात नहीं, व्यवहारमें गोपीका आनन्द कौन है? व्यवहारमें गोपीके परमानन्द कृष्ण हैं, गोपीके प्रकाश कृष्ण हैं, गोपीके जीवन-धन, प्राणोंके प्राण हैं। उसके जीवन-सर्वस्व कृष्ण हैं। जीवन-सर्वस्व माने—सब। उन्हींसे जीयें, उन्हींके लिए मरें, उन्हींमें रहें। उन्हींके ज्ञानमें, उन्हींकी बुद्धिमें, उन्हींके प्रकाशमें गोपियाँ काम करती हैं। आनन्द है गोपियोंको—तो केवल कृष्णका आनन्द है।

गोपीनां परमानन्दः आसीत् गोविन्ददर्शने।

जब श्रीकृष्णका दर्शन होता है, तब गोपियोंको परमानन्द होता है।

क्षणं च युगशतमिव यासां येन विना भवति।

कृष्णके बिना गोपियोंका एक क्षण सैंकड़ों चतुर्युगीके समान है। वे गोपियोंके जीवनधन हैं, ज्ञानके उद्गम हैं, ज्ञानके उत्स हैं, ज्ञानके निधान हैं; परमानन्द हैं। परमार्थरूपसे कृष्णको आत्मा मानकर संतोष करनेवाले संसारमें बहुत होंगे, पर व्यवहारमें सचमुच जिन्होंने कृष्णको अपना आत्मा, परम प्रेमास्पद अनुभव करके प्रकट कर दिया—उन्हींको गोपी बोलते हैं। गोपी कहते हैं उसको—

जो अपनी इन्द्रियोंके द्वारा श्रीकृष्ण-रसका पान करे। **गोभिः इन्द्रियैः पिबन्ति इति गोपी।** कोई वृत्तिके द्वारा ब्रह्मको विषय बना करके अविद्याको निवृत्त करते हैं। कोई वृत्तिको तदाकार करके समाधिमें बैठते हैं। कोई निदिध्यासन करते हैं, कोई मनन करते हैं। पर गोपियाँ अपनी आँखोंसे कृष्ण-रसका पान करती हैं, त्वचासे श्रीकृष्ण-स्पर्शका अनुभव करती हैं, जिह्वासे श्रीकृष्ण-रसका स्वाद लेती हैं, नासिकासे कृष्ण-गन्धको, कृष्ण-सौरभको सूँघती हैं। वे हाथसे उनको पकड़ती हैं, पाँव से चलकर उनके पास जाती हैं। उनका हृदय कृष्णके हृदयसे मिलता है। उनकी नाककी साँस कृष्णकी नाककी साँससे मिलती है। कृष्णकी आँखमें गोपी अपनी परछाईं देखती है, और गोपीकी आँखमें कृष्ण अपनेको देखते हैं।

मो कों तो भावति ठौर प्यारे के नयनन में,
प्यारो होना चाहे मेरी आँखन के तारे में।

व्रजमें ऐसा गाते हैं। प्यरा चाहता है कि मैं अपनेको गोपीकी आँखमें देखूँ, और गोपी चाहती है—कि मैं अपनेको प्यारेकी आँखमें देखूँ। जहाँ आँखसे आँख मिली है, साँससे साँस मिली है, स्वाद-से-स्वाद मिला है, हृदय-से-हृदय मिला है—वहाँ गोपी कृष्णसे एक हो चुकी है।

अब श्रीकृष्ण उन्हीं गोपियोंके लिए सन्देश भेजते हैं। उनकी स्थिति बताते हैं—

धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन।

उद्धव! गोपी व्रजमें जीवित है, परन्तु कैसे जीवित है? अति कष्टसे अपने प्राणोंको रोके हुए है। माने उनकी इन्द्रियाँ बेकार हैं, उनका मन बेकार है, उनकी बुद्धि बेकार है; वे तो केवल प्राण रोके हुए हैं। अच्छा जी! सच्चे प्रेममें अपने प्राणोंको रोक लेना—यह तो बड़ा मुश्किल है। प्रेमका तो शास्त्र है न! जो प्रेमी मनुष्यके मनमें घटित होता है, वह सब शास्त्र बन जाता है।

कैतवरहितं प्रेम न भवति मानुषे लोके।

मनुष्य-लोकमें निष्कपट प्रेम नहीं होता है। कुछ-न-कुछ अपना सुख, कुछ-न-कुछ अपना स्वार्थ उसमें लगा रहता है। **यदि भवति**—यदि निष्कपट प्रेम होवे, तो **कस्य विरहः**—फिर विरह किसको होगा? और **विरहे सत्यति को जीवन्ति**—यदि विरह हो जाय, तो विरहमें जीवित कौन रहे? परन्तु गोपी तो जीवित है; अपने प्राणोंको धारण किये हुए है। उद्धवजीने कहा—वह कौन-सी युक्ति है, श्यामसुन्दर? गोपियाँ कैसे अपने प्राणोंको धारण किये हुए हैं?

अब यह युक्ति कुछ ऐसी है, जिसको कृष्ण बता नहीं सकते। **कथंचन** माने किसी प्रकार, जैसे-तैसे प्राण धारण किये हुए हैं; माने उनके प्राण धारणकी प्रक्रिया भी अनिर्वचनीय है। यदि किसी पण्डितके लिए अनिर्वचनीय हो, तब तो बात बन जाय, श्रीकृष्णके लिए किसी वस्तुका अनिर्वचनीय होना—यह बड़े—आश्चर्यकी बात है। फिर मायाकी अनिर्वचनीयता तो सबके लिए है, ब्रह्मकी अनिर्वचनीयता भी सबके लिए है, परन्तु गोपियोंने जिस युक्तिसे अपने प्राण धारण कर रखे हैं, उसकी अनिर्वचनीयता क्या है? असलमें यह युक्ति गोपियोंकी नहीं है, कृष्णकी है। कृष्णने ही ऐसी युक्ति कर दी है, जिससे गोपियोंके प्राण बचे रहें। अपनी विशेषता कृष्ण उद्धवको बताते नहीं हैं, कह देते हैं—**कथंचन**—जैसे-तैसे, ज्यों-त्यों, किसी प्रकार गोपियाँ बड़े कष्टसे अपने प्राणोंको धारण किये हुए हैं। वह प्रकार क्या है? श्री वल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं—**प्रमेयबलं हि**—इसमें श्रीकृष्णका ही बल है, श्रीकृष्णकी ही कृपा है। कृष्णने विचार किया—कि यदि विरहमें सब लोग मर जाया करेंगे, यही आदर्श बन जाया करेगा कि जिसको विरह हो—सो मर जाये, इसीमें प्रेम पूर्ण होता है—तो संसारके जितने भी जीव हैं, जितने मनुष्य हैं, वे तो हमारे विरहमें ही हैं; और उनको विरहमें कैसे प्रेम करना चाहिए, कृष्णसे कैसी भक्ति करनी चाहिए—यह ज्ञात नहीं होगा। तब संसारके जीवोंपर अतिशय कृपा, अतिशय करुणा कृष्णके हृदयमें उमड़ आयी और उन्होंने गोपियोंके प्रेमका उदाहरण संसारके सामने रख दिया।

अब कृष्ण उद्धवसे कहते हैं—मैंने गोपियोंको सन्देश दिया है—कि मैं लौट आऊँगा। **प्रत्यागमन** माने लौटना; मिलेंगे। जैसे शबरी रोज देखती है—मिलेंगे राम, मिलेंगे राम—***शबरी देखयले सपनवाँ आज घर रामा अइहें!*** वह रोज झाड़ू लगाती थी, रोज फल लाकर रखती थी, आसन लगाती थी—आवेंगे, आवेंगे, आवेंगे। गोपियोंके मनमें भी यह आशा बँधी हुई है—कि श्यामसुन्दर मिलेंगे। प्रत्यागमनकी जो युक्ति है, यह जो संदेश श्रीकृष्णने दे दिया—कि मैं आऊँगा—तो अपने प्रियतमपर कभी अविश्वास नहीं हो सकता। प्रेमका माँ-बाप विश्वास ही है। अगर विश्वास बना रहे, तो प्रेम फिर-फिर पैदा हो जायेगा और विश्वास टूट गया तब फिर प्रेमकी गुंजायश नहीं रहती। विश्वास बना रहना चाहिए। विश्वास ही प्रेमकी जड़ है, विश्वास ही प्रेमका मूल है।

भगवान्‌पर तुम्हारा विश्वास है कि नहीं? वे लौट आवेंगे, हमारी आँखके सामने प्रकट होंगे, मिलेंगे। जो मनकी आँखसे दिखता है, वह बाहरकी आँखसे भी

दिखता है। आप विश्वास करो; कोई कहे—कि भगवान्‌का दर्शन आँखसे नहीं हो सकता, तो उसकी बात मत मानना, किसीके कहेमें मत आना। क्योंकि यह पूछो मत कि आँखसे भगवान्‌का दर्शन हो सकता है कि नहीं? अगर मनसे हो सकता है, तो आँखके रास्तेसे भी मन ही तो देखता है। आँख तो चश्मेकी तरह है। अगर दिलमें भगवान् है, तो वे आँखके चश्मेसे बाहर भी दीख सकते हैं। जिसके दिलमें भगवान् नहीं हैं, उसको बाहर भी नहीं दीखेंगे। यही भगवद्दर्शनका रहस्य है। जिसके मनमें इतना सामर्थ्य है—कि वह बाहर भगवान्‌का दर्शन करलो, वह तो क्षणभरमें संसारकी मायाको नष्ट कर सकता है। मन इतना शक्तिशाली है, कि वह भगवान्‌का दर्शन करता है। इसलिए हृदयमें भगवान्‌का दर्शन करो। आज भगवान् तुमसे दूर चले गये हैं, कल तुम्हारे निकट आवेंगे। आज तुम्हें इन्तजार करनी पड़ रही है, कल तुमसे मिल जावेंगे। आज तुम्हारी आँखमें नहीं दीख रहे हैं, कल दीखेंगे। निश्चय समझो—इसीका नाम प्रत्यागमन सन्देश है। चले गये हैं, लेकिन आवेंगे और निश्चय ही मिलेंगे।

जब लोग भगवान्‌के रास्तेपर—भक्तिके रास्तेपर चलते हैं, उनके जीवनमें नौ बातें आती हैं। एक तो जो भक्त होगा—वह किसीसे लड़ाई-झगड़ा नहीं करेगा, नहीं तो द्वेष हो जायेगा; वह ईश्वरका चिन्तन छोड़कर दुश्मनका चिन्तन करने लगेगा। वह अपराधीको भी माफ कर देगा। दूसरे—एक मिनट भी समय मिल जाय, तो उसमें भगवान्‌का भजन करना, समय व्यर्थ नहीं बिताना। तीसरा—किसीसे राग नहीं करना। अगर दुनियामें कहीं मुहब्बत कर बैठोगे, तो ईश्वर और दूर-दूर-दूर छूटेगा। चौथी बात भक्तमें यह होती है—कि वह अभिमान नहीं करता है। अगर अपनेपर नजर आयी कि हम तो बहुत बड़े हैं—तो भी भगवान् छूट जाता है। और दूसरेपर दृष्टि गयी—कि यह बहुत सुन्दर है—तो ईश्वरकी सुन्दरता छूटी।

भक्तमें दूसरेके प्रति राग नहीं, अपने प्रति मान नहीं और समय को खोना नहीं। कोई अपराध भी करे, तो उसे दण्ड नहीं देना—ये चार बातें भक्तमें निश्चित रूपसे रहती हैं। अब और भी सुनो—

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता॥
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः।
आसक्तिस्तद्गुणख्याने प्रीतस्तदसतिस्थले॥
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाऽङ्कुरे जने। भ.र.सि.

यह आशा बनी रहे—कि आज भगवान् आयेंगे। उत्कण्ठा बनी रहे—अब

आये; अब आते हैं ? इतनी देर क्यों हो रही है ? और नाम लेते जा रहे हैं—कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण—**नामगाने सदा रुचिः**। उनके नाम-गानमें रुचि है। **आसक्तिस्तद् गुणख्याने**—उनके गुण-वर्णनमें आसक्ति है—भगवान् ऐसे हैं, ऐसे हैं! और **प्रीतस्तद्वसतिस्थले**—उनके रहनेकी जो जगहें हैं—वृन्दावन, द्वारिका, अयोध्या—उनमें प्रीति है। ये सब बातें भक्तमें आती हैं।

यही प्रत्यागमनका सन्देश है—कि आशा बँधी हुई है—कि मिलेंगे। वही गोपियोंको जिन्दा रखे हुए है।

अब प्रश्न यह हुआ—कि गोपियाँ स्त्री हैं और उद्धवजी पुरुष हैं। स्त्रियोंके बीचमें एक पुरुषको प्रेमका सन्देश देकर भेजना कहाँतक ठीक है ? श्रीकृष्ण कहते हैं—**बल्लव्यो मे**—हैं तो बल्लवी, परन्तु मेरी हैं। बल्लवी माने बल्लरी लता। लता किसी वृक्षके सहारे रहती है न! तो मैं हूँ कल्पवृक्ष और मेरे सहारे रहनेवाली लताएँ गोपियाँ हैं। कल्पवृक्षके सहारे रहनेवाली लताएँ गोपियाँ हैं। कल्पवृक्षके सहारे रहनेवाली लता फिर नीमके सहारे नहीं जाती है। जो मेरी गोपी हैं, मेरे सहारे रहनेवाली हैं—वे किसी दूसरेसे प्रेम नहीं कर सकतीं। हमारा दृढ़ निश्चय है—कि हमसे प्रेम करनेवाला दूसरेसे प्रेम नहीं कर सकता। दूसरी बात—'बल्लव्या'का दूसरा आशय है—कि व्रजके जितने गोप हैं, वे अपनी गोपियोंसे बहुत प्रेम करते हैं। व्रजके गोप हैं बल्लव और गोपियाँ हैं बल्लवी, परन्तु वे गोपोंकी पत्नी होनेपर भी मेरी हैं—मे। यह क्यों ? कि गोप-पत्नी हैं, फिर भी तुम्हारी हैं—यह कैसे ? भगवान्‌की होनेके लिए अदालतमें जाकर कोई रजिस्ट्री नहीं करानी पड़ती है। जैसे आजकल रजिस्ट्रीसे ब्याह होते हैं, वैसे भगवान् श्रीकृष्णसे ब्याह करनेके लिए रजिष्ट्रीकी जरूरत नहीं होती। भगवान्‌को बेटा बनानेके लिए उनको पेटमें धारण करनेकी जरूरत नहीं पड़ती। भगवान्‌को भाई बनानेके लिए एक माँके पेटसे जन्म लेनेकी जरूरत नहीं पड़ती। भगवान् भावसे पकड़े जाते हैं। भगवान्‌की पत्नी बननेके लिए जरूरी नहीं—कि भगवान् हमारे सिरमें सिन्दूर डालें या हमारा बाप उनको कन्यादान करे। भावसे श्रीकृष्णके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ो। ऐसा सम्बन्ध जोड़ो कि तुम्हारा सुहाग अखण्ड हो जाय, अविचल हो जाय; दूसरे जन्ममें किसीसे ब्याह करनेकी, किसीको हाथ पकड़नेकी जरूरत न पड़े। अपने जो माँ-बाप हैं—वे माँ-बापकी जगहपर रहें, अपने जो भाई-बन्धु हैं—वे भाई-बन्धुकी जगहपर रहें; जो पति हैं—वे पति रहें; जो पुत्र हैं—वे पुत्र रहें; शरीरके जो सम्बन्ध हैं—वे अपने-अपने स्थानपर रहें और भावसे श्रीकृष्णको

अपने पतिके रूपमें वरण करो। कृष्णके साथ जो सम्बन्ध है—वह भावका, आत्माका मानस सम्बन्ध है। वह हंर तरहसे ग्रहण करना चाहिए। अयोध्या जाओ, तो विनय करो—कि तुम्हें कोई सेवा मिल जाय; वहाँ भगवान् महाराजा हैं ना! द्वारिकामें जाओ तो परिणय कर लेंगे, विवाह कर लेंगे। विवाहकी राजधानी द्वारिका है। वृन्दावनमें जाओ—तो प्रणयका सम्बन्ध, प्रेमका रिश्ता जोड़ लेंगे। कहीं विनय है, कहीं प्रणय और कहीं परिणय। **नी, प्रापणे** धातु सर्वत्र एक सरीखी है—विनयमें भी, प्रणयमें भी और परिणयमें भी। यही भगवान्के पास पहुँचानेवाले नयन हैं।

भगवान्के साथ भावका सम्बन्ध मनमें जुड़ना चाहिए। भगवान् कहते हैं—गोपियाँ कैसी हैं—**अहमेव आत्मा यासां** अथवा **मयि आत्मा यासां**—उनका मन मुझमें लगा है अथवा मैं ही उनका परम प्रेमास्पद आत्मा बनकर बैठा हुआ हूँ। अतः उद्धव! अब तुम सन्देश लेकर गोपियोंके पास जाओ। हमारे जो माता-पिता हैं—उनके लिए आनन्द लेकर जाओ। यह तीन शब्दोंमें कह दिया—कि **पित्रोर्नौ प्रीतिमावह**। गोपियोंके पास जाओ—यह बात चार श्लोकोंमें कही। अब तीन शब्दों और चार श्लोकोंमें कितना फरक होता है ना! है न पक्षपात!

श्रीशुकदेव उवाच

इत्युक्त उद्धवो राजन् संदेशं भर्तुरादृतः।
आदाय रथमारुह्य प्रययो नन्दगोकुलम्॥ ७॥
प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान् निम्लोचति विभावसौ।
छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः॥ ८॥

श्रीशुकदेवजी महाराज वर्णन करते हैं—कि यह देखकर—कि श्रीकृष्ण अपने प्रेमियों के कितने कृतज्ञ हैं, मथुरामें बैठे-बैठे गोपियोंकी याद कर रहे हैं—राजा परीक्षित आनन्दमें निमग्न हो गये। क्योंकि सबलोग यही जानते हैं कि जीव भगवान्से प्रेम करते हैं, किन्तु ईश्वर जीवसे कितना प्रेम करता है—यह लोगोंको मालूम नहीं है। 'श्रीमद्भागवत-सन्दर्भ'में जिसको 'षट्संदर्भ' बोलते हैं—एक प्रकरण ही इस बातका है कि भगवान् अपने किस-किस भक्तके लिए रोते हैं। किस-किसके लिए उन्हें नींद नहीं आती और किसका, किसका ध्यान करते हैं। ऐसे प्रसंग भागवतमें कहाँ-कहाँ हैं, उनको छाँट करके 'षट् सन्दर्भ'में एक अध्यायकी, एक परिच्छेदकी रचना की गयी है। भगवान् यशोदा-नन्दके लिए रोते हैं, खूब आँसू बहाते हैं। सुदामाका प्रसंग तो प्रसिद्ध ही है—

पानी परात को हाथ छुयो नहिं,
नैनन के जल सों पग धोये।
देखि सुदामा की दीन दशा
करुणा करके करुणानिधि रोये॥

सुदामाके लिए भगवान् रोते हैं। अगर भगवान् न रोयें, तो जीव भी नहीं रो सकता, क्योंकि मूलमें तो जीव और ईश्वर—दोनों एक हैं न! अगर ईश्वरके हृदयमें प्रीति न हो, तो जीवके हृदयमें प्रीति आवेगी कहाँसे? भगवान्के हृदयमें जीवोंके प्रति जो प्रीति है, उसीसे तो जीवोंके हृदयमें प्रीति आती है! जब हम यह सोचते हैं—कि भगवान् हमसे प्रेम करते हैं, हम चाहे उनसे प्रेम करें, चाहे न करें—तो कितना आनन्द आता है!

शुकदेवजी महाराज परीक्षितसे कहते हैं—राजन्! 'राजन्' कहनेका अभिप्राय यह है—कि तुम तो समाधिमें मग्न हो गये हो! अब हम आगेकी कथा सुनाते हैं। इस प्रकार शुकदेवजी महाराज राजा परीक्षितको-प्रेमकी समाधिमें, भावकी समाधिमें मग्न हैं जो—उनको जगाते हैं। दूसरा अभिप्राय यह है—कि जैसे राजाका हुक्म उसका मंत्री मानता है, उसका सेवक मानता है और उसके अनुसार काम करता है—इसी प्रकार उद्धवजीने भगवान्का मन्त्र माना।

इत्युक्त उद्धवो राजन् सन्देशं भर्तुरादृतः।

उद्धवजीने अपने भर्ताका सन्देश बड़े आदरसे ग्रहण किया। यह श्रीकृष्णके लिए 'भर्ता' शब्द आया है न, तो इसी शब्दका हिन्दीमें 'भर्तार' हो जाता है। भतार माने पति; उद्धवजीने कृष्णको अपना पति मान लिया—'भर्तु' शब्द यहाँ इस बातका सूचक है। ऐसे कैसे हुआ? कि अभी आपको भूला नहीं होगा, कि जब कृष्ण उद्धवजीसे बात करने लगे, तो **गृहीत्वा पाणिना पाणिं**—पाणिग्रहण कर लिया; हाथ से हाथ पकड़ लिया। पहले हुआ पाणिग्रहण संस्कार और उद्धवजीने कृष्णको अपना भर्ता मान लिया—माने सखी भावमें आगये, कान्ता भावमें आगये। अब गोपियोंके पास सन्देश लेकर जानेका उनको सम्पूर्णाधिकार प्राप्त हो गया; अब वे निःसंकोच गोपियोंके पास जा सकते हैं। और फिर उद्धवजी उत्सव-मूर्ति हैं। सो कैसे? इसका अभिप्राय बताते हैं;—पुष्टि मार्गमें तो यह बताया गया है—कि उद्धवजी उत्सव-रूप हैं। जैसे मन्दिरमें दो प्रतिमाएँ रखते हैं। अचल प्रतिमा जो होती है, वह तो अपनी जगहपर होती है और जो चल प्रतिमा होती है—उसे उत्सव-मूर्ति कहते हैं। वह उत्सवके दिनोंमें बाहर निकाली जाती है, घुमायी जाती

है; उसका जुलूस निकाला जाता है। उद्धवजी भगवान्‌की उत्सव-मूर्ति हैं, चल-मूर्ति हैं। व्रजमें जब वे आये—तो उनके रूपमें उत्सव आगया। इसका अभिप्राय वल्लभाचार्यजी महाराजके अनुयायियोंने बताया कि उद्धवजीके आनेके बाद व्रजमें कोई दुःख ही नहीं रहा; नित्य उत्सव हो गया। नित्य उत्सव करनेके लिए ही उद्धवजी महाराज व्रजभूमिमें पधारे। **आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम्** उनको स्वामीका आदेश है और दूसरे उनके हृदयमें आदर है, सम्मान है।

अब देखो! इस व्रज-यात्राको लेकर उद्धवजीका लोकमें अपयश भी तो होगा न! गोपी-ग्वालिनोंको मिलने उद्धवजी गये! कहाँ तो वृहस्पतिजीके शिष्य, देवभागके पुत्र यदुवंशियोंमें श्रेष्ठ उद्धवजी और वे मामूली प्रेमका संदेश लेकर व्रज की गँवार ग्वालिनोंमें जायें! बदनामी होगी कि नहीं? बोले—बदनामी तो होगी। परन्तु **आदृतः**—कृष्णके प्रति इतना आदर है, कि कृष्णके लिए यह बदनामी यदि होवे, तो अपने लिए तो नहीं है न! यह कृष्णके लिए है; स्वामीकी सेवाके लिए है। लोग अपने लिए बदनाम होते हैं। यहाँ अपने स्वामीकी सेवाके लिए, अपने प्रियतमकी प्रीतिके लिए उनकी आज्ञाका पालन कर रहे हैं। कोई परवाह नहीं। काम छोटा है या काम बड़ा है; कि काम हमारी योग्यताके अनुसार है कि नहीं है—इसका कोई महत्त्व नहीं है उद्धवजीके लिए। वे उत्सव हैं; बड़े आदरके साथ व्रजमें गये और सन्देश दिया।

कोई-कोई कहते हैं—कृष्णने उद्धवको चिट्ठी लिख कर दी। पता नहीं उस समय श्रीकृष्णको लिखना आता था कि नहीं। चैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायमें ऐसा प्रसिद्ध है—कि श्रीकृष्ण पत्तोंपर चिट्ठी लिखकर राधारानीके पास भेजते थे और राधारानी भी अपनी महावरसे चिट्ठी लिखकर श्रीकृष्णके पास भेजती थीं। किन्तु यहाँ तो सन्देशका वर्णन है। कृष्णने उद्धवजीको सन्देश दिया, बता दिया कि जाकर गोपियोंसे कहना या माता-पितासे कहना।

अब सन्देश लिया, तो जायँ कैसे वृन्दावनमें? पैदल जायें? पैदल जानेमें डर है कि कभी-कभी भगवान्‌के स्मरणका ऐसा आवेश उद्धवको आता है, कि बैठे ही रह जायँ। ध्यानमें बैठे हैं! अब चलें ही नहीं—तो? रथमें बैठे। कृष्ण जिसके लिए इतने व्याकुल हैं—वह काम देरसे क्यों करना? जल्दी पहुँच जायँ—इसलिए रथपर बैठे, ठीक सज-धजकर! और हम एक उत्तम काम करने जा रहे हैं—इस प्रकृष्ट भावसे युक्त होकर उन्होंने नन्दबाबाके गोकुलकी यात्रा की। पहले किससे मिलें—गोपियोंसे मिलना, यही निश्चय किया उन्होंने—कि पहले माता-पिताके पास जाना

चाहिए। उन्हींका नाम कृष्णने पहले लिया था। जाना कब? देश-कालका भी सब विचार किया—

प्राप्तो नंदव्रजं श्रीमान् निम्लोचति विभावसौ।
छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः॥ ८॥

उद्धवजी रथपर चले और बड़ी तेजीसे रथ चला। व्रजमें पहले वे वहाँ पहुँचे, जहाँ नन्दबाबाकी गौएँ रहती थीं।

उद्धवजी अतिथिके रूपमें गये, पर नन्दबाबाके अतिथि नहीं हुए। अतिथि तो बिना किसी सामानके, बिना किसी सूचनाके भोजनके समयपर आगया, तो उसे भोजन कराओ, घरमें ठहराओ—यह धर्म है। भोजनके समय कोई अतिथि घरमें आजाय और उसे भोजन न करायें तो पाप लगता है—ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन है। परन्तु उद्धवजी तो अतिथि नहीं हैं—**पित्रोर्नौ प्रीतिमावह**—कृष्णने कहा था—हमारे पिता हैं नन्दबाबा, बलरामके पिता हैं नन्दबाबा और तुम्हारे पिता भी नन्दबाबा हैं। उद्धवजी सुन्दर वस्त्र आभूषण धारण किये हुए हैं, श्रीकृष्ण जैसा कंगन, कृष्ण जैसा बाजूबन्द, वैसा पीताम्बर, वैसी बाँसुरी है, वैसा ही श्यामवर्ण है। भक्त भगवान्‌का ध्यान करते-करते वैसा ही हो जाता है। तो अतिथि बनकर नहीं आये, उद्धव अपने ही घर आये। उद्धवजीके लिए 'श्रीमान्' शब्दका प्रयोग है—माने उद्धवजीके आभूषण भी श्रीयुक्त हैं, उनका मन भी श्रीयुक्त है। मनमें बड़ी प्रसन्नता है, वे आनन्दसे आये हैं। हीनताकी भावना लेकर नहीं आये।

अब व्रजमें आये, तो **विभावसौ**—सूर्यास्तके समय आये। वैसे 'विभावसौ' शब्दका अर्थ सूर्य भी है, अग्नि भी है। **विशेषेण भाएव वसु फलं यस्य**—विशेष रूपसे प्रकाश ही है फल जिसका—उसको बोलते हैं 'विभावसौ'। अब 'निम्लोचति'का अर्थ क्या है? सूर्यास्तके समय बड़े-बूढ़े लोग सन्ध्यावन्दनमें लग गये, ध्यान करने लगे। जो अग्निहोत्री थे—और उनकी अग्नि बुझ गयी और प्रत्यवाय उनके घरमें उपस्थित हो गया—वे प्रायश्चित्त करनेमें लग गये। बोले—ग्वाल-बाल तो होंगे उनके घरमें; गोपियोंने बाहर आकर क्यों नहीं देखा? तो उसका वर्णन करते हैं—सीधे नन्दबाबाके घरमें गये। न किसी गोपीसे मिले, न ग्वालसे मिले; न गाँववालोंको पता लगा, क्योंकि पहला सन्देश नन्दको मिलना चाहिए। और उनका रथ ढँक गया। कैसे ढँका?

छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः।

गाय-बैल-भैंस-बकरी-भेड़—जो चरनेके लिए जंगलमें गयी हुई थीं—उन

सबके लौटनेका समय हुआ है। भागवतमें सबका वर्णन है। यहाँ जो 'अजा'—का वर्णन है, उसका अर्थ हमारे वैष्णव लोग दूसरा ही कर देते हैं। वे कहते हैं कि अजा माने वह गाय—जिसका अभी बच्चा नहीं हुआ है। **अजा गावो महिष्यश्च।** गाँवमें धनी-गरीब सब तरहके लोग रहते हैं। किसीके यहाँ गाय होती है, किसीके बकरी होती है। तो झुण्डके झुण्ड गाय, भैंस, बैल जंगल से चरकर लौट रहे थे। उनके खुरोंसे इतनी धूल उड़ती थी कि धूलमें रथ ढँक गया। चरवाहोंको भी पता नहीं चला—कि यहाँसे कोई रथ निकल रहा है।

अच्छा, अब देखो अधिकारीकी समग्रता—कि व्रजमें ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे—जो चाहे घुस जायँ? सो बात नहीं है; बड़ा विलक्षण है यह व्रज-प्रदेश! आप लोग अभी देखें—यह रेलगाड़ी जाती है वृन्दावनमें। तो रेलवेने यह निश्चय किया—कि पत्थरकी गिट्टियाँ डाल दी जायँ पटरीपर। तो विरोध करनेके लिए सभा हुई—कि नहीं, रेल लाइनपर ये पत्थर नहीं डाले जायँ। क्यों? कि पत्थर डाले जायेंगे, तो धूल उड़नी बन्द हो जायेगी। फिर जो यात्री आते हैं, उनके ऊपर यह रज नहीं पड़ेगी। तब वे पवित्र कैसे होंगे? आनेवाले यात्रियोंके शरीरपर उड़-उड़कर खूब व्रजकी धूल पड़े—कि वे पवित्र होकर व्रजमें प्रवेश करें—क्योंकि व्रजकी रज तो साधारण रज नहीं है न; अभावकोंको वह नहीं मिलती है। अद्भुत लीला है उस रजकी। इसीलिए उद्धवजीने अन्तमें यह कामना की कि हमको किसी तरहसे गोपियोंके चरणकी रज मिलती रहे—चाहे व्रजमें गोपियोंके चरणकी रज मिलती रहे—चाहे व्रजमें हम घास बन जायँ, कोई लता-पत्ता बन जायँ।

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्॥ १०.४७.६१

गोपियोंकी चरण-रजका अधिकार बड़ा मुश्किल है; उनकी चरण-धूलि बड़ी मुश्किलसे मिलती है। आप लोग तर्क-वितर्ककी दृष्टिसे इस बातको मत देखना। चिद्ज्ञानकी दृष्टिसे ज्ञानका जितना महत्त्व है और सद्भावकी दृष्टिसे धर्म और योगका जितना महत्त्व है, उतना ही महत्त्व आनन्दकी दृष्टिसे प्रेमका है। सच्चरित्र होनेके लिए धर्म, सत्स्वरूपमें स्थित होनेके लिए समाधि, चित्स्वरूपको जाननेके लिए ज्ञान और अपने आनन्द-स्वरूपकी अभिव्यक्तिके लिए प्रेम भी उतना ही आवश्यक है—नहीं तो आनन्द-स्वरूपकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। प्रेम वह होता है, जो मलिन स्थान या मलिन पात्रसे होता है। यदि हड्डी-मांस-चामसे होगा—तो उसका नाम मोह हो जायेगा और कृष्णसे होगा—तो उसका नाम शुद्ध प्रेम हो जायेगा। इसीका नाम ब्राह्मी स्थिति है।

अब देखो! हुआ क्या—कि ब्रह्माजी व्रजमें आये, तो कृष्ण उनसे बोले ही नहीं। ब्रह्माजी स्वयं चाहते हैं, कि हमको वह सौभाग्य मिले। कौन-सा सौभाग्य मिले?

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रि रजोऽभिषेकम्।

ब्रह्माजीको यह उम्मीद नहीं है—कि हमको गोपी-ग्वालके चरणोंकी धूल मिलेगी—वे कहते हैं कि हमको मोक्ष नहीं चाहिए, हमको ब्रह्माका जन्म नहीं चाहिए, हमको मथुरा शहर नहीं चाहिए; हम व्रजमें घास-पात हो जायँ और यहाँकी गायोंकी चरण-रेणु—चरणरज हमको मिले। ऐसा क्यों?

यज्जीविद्धं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव।

१०.१४.३४

व्रजवासी अपने लिए जीते ही नहीं हैं; वे कृष्णके लिए जीते हैं। अपने लिए जीना दूसरी बात है और कृष्णके लिए जीना दूसरी बात है। यह पाँच हजार बरस पहलेवाले कृष्णकी बात मैं नहीं कर रहा हूँ—उन कृष्णकी बात कह रहा हूँ, जो आज भी विद्यमान हैं। वृन्दावनवासी कहते हैं—कि हम वृन्दावनकी परिक्रमा कर रहे हों और कृष्ण हमारे बायें हाथ माने परिक्रमाके बाहर आकर खड़े हो जायँ और कहें—कि भक्त! हमें देखो—तो हम अपना मुँह फेर लेंगे। हम दाहिनी तरफ—वृन्दावनकी ओर ही देखेंगे, कृष्णकी तरफ नहीं देखेंगे—

रे मन! वृन्दा विपिन निहारु।
यद्यपि मिले कोटि चिन्तामणि तऊ न हाथ पसारु।
विपिनराज सीमा के बाहर हरिहूँ को न निहारु॥

वृन्दावनके रसमें प्रवेश करनेके लिए, नन्द-यशोदाके सुखमें प्रवेश करनेके लिए, गोपियोंके प्रेम-राज्यमें प्रवेश करनेके लिए वहाँकी धूलमें पहले नहाना पड़ता है। रथ-सहित उद्धवजी महाराज पशुओंके खुरसे उड़नेवाली धूलमें सन गये, लथपथ हो गये; इतने डूब गये, कि किसीको उनका अस्तित्व मालूम नहीं पड़ा—कि कोई उद्धव नामकी चीज है। ये प्रेम अभिमानीको नहीं मिलता। यह उसको मिलता है—जो अभिमान छोड़कर प्रेमियोंके गाय-बैलके खुरोंसे उड़ती हुई धूलमें स्नान करता है। उसीको इस प्रेमकी प्राप्ति होती है।

छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः।

अब उद्धवजीने वृन्दावनमें प्रवेश किया। वृन्दावन कितना सुन्दर है, इसका वर्णन आगे आवेगा।

❋

आठवाँ प्रवचन

प्राप्तौ नन्दव्रजं श्रीमान् निम्लोचति विभावसौ।
छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः॥

भा. १०.४६.८

नन्दःप्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्चयत्॥

भा. १०.४६.१४.१४

आओ, व्रजमें चलें। व्रजमें भक्तके पीछे-पीछे जाओगे, तो वहाँका रहस्य मालूम पड़ेगा और बिना किसी भक्तके स्वतन्त्ररूपसे वहाँ चले जाओ, तो कुछ मालूम नहीं पड़ेगा।

मैं पहले-पहले सन् छब्बीसमें वृन्दावन गया, तो ऐसा ही लगा। जैसे सब जगहकी धरती होती है, वैसी ही धरती; वैसे ही पेड़, वैसे ही आदमी। और जैसी नदियाँ होती हैं, वैसी ही नदी जमुनाजी। जैसे मन्दिर होते हैं, वैसे ही मन्दिर—कोई विशेषता नहीं मालूम पड़ी। मैं रंगजीके मन्दिरके बाहर एक पेड़के नीचे सो गया। सोचने लगा—कई लोग कहते हैं कि व्रज दिव्य है, वृन्दावन दिव्य है। वहाँ बड़े-बड़े आनन्द हैं; बड़ा रस है। यहाँ तो कुछ भी नहीं। सूर्यास्त होते-होते एक भक्तने आकर मुझे उठाया और कहा—कि यहाँ क्यों पड़े हो? मैंने अपनी तकलीफ बतायी—कि आया था वृन्दावनका रस लेने; और यहाँ तो सब सूखा-ही-सूखा मालूम पड़ता है। पेड़ोंमें पत्ते भी ज्यादा नहीं हैं, पानी भी खारा है, पण्डित-पुजारी भी जो मिलते हैं—सो भी कुछ माँगते हैं। यहाँ तो कोई मजा नहीं। उन्होंने कहा—अच्छा, आओ मेरे साथ। अब मैं उनके साथ-साथ चलने लगा, वे एक-एक मन्दिरकी बात बताने लगे कि यह मन्दिर कैसे बना, यहाँ ठाकुरजी कैसे पधराये गये, यहाँके ठाकुरजीको क्या भोग लगता है, वे किस दिन दर्शन देते हैं, उनकी क्या सेवा होती है। यहाँ देखो, चैतन्य महाप्रभुने यह वृक्ष पहले देखा—तो देखकर बेहोश हो गये। इसीकी डालपर बैठकर श्यामसुन्दर बाँसुरी बजाते थे। यह उसी कदम्बके वंशमें पैदा हुआ है। ये वही गौएँ हैं—जिनको ठाकुरजी चराते थे। यह देखो—बिहारीजी प्रत्यक्ष दही-बड़ा खाते हैं। राधावल्लभजी खिचड़ी खाते हैं।

राधारमणजीको कढ़ी बहुत पसन्द है। श्रीरंगजीकी गोष्ठी बड़ी प्रसिद्ध है। एक-एक बात उसने बताना शुरू किया, व्रजवासी महात्माओंके पद और श्लोक सुनाने लगा। उसकी आँखोंसे आँसू बहते जायँ और वह व्याकुल हो गया वह सब सुनाते-सुनाते। अब ऐसा आनन्द आया वृन्दावनका, कि आपको क्या सुनावें!

वृन्दावनमें जाना हो, तो स्वतन्त्ररूपसे नहीं किसी रसिकका साथ चाहिए—

अनाराध्या राधापदाम्भोजयुग्मं
अनाश्रित्य वृन्दाटवीं तत पदान्ताम्।
असंभाष्यत्तद्भावगम्भीर - चित्ताम्
कुतः श्याम - रसप्यावगाहा॥

'जबतक श्रीराधारानीके चरणारविन्दोंकी आराधना नहीं करोगे, जबतक राधा-कृष्णके युगलपदारविन्दसे चिह्नित धूलमें नहीं लौटोगे, जबतक वहाँके जो रसिक हैं—उनसे एकान्तमें बैठकर सम्भाषण नहीं करोगे—तबतक साँवरे-सलोने व्रजराज—किशोरका जो मधुर-मधुर रस है, उसका आस्वादन नहीं होगा।'

इसलिए व्रजमें चलना हो, तो जरा उद्धवजीके पीछे-पीछे चलो। उद्धवजीने पहले नन्दबाबाके व्रजमें प्रवेश किया, क्योंकि नन्दबाबाका नाम श्रीकृष्णने पहले लिया था। जो लोग भोगमें अनुरक्त हैं या दिन-रात काम-धन्धेमें फँसे हुए हैं—या जिनको **भज कलदारं भज कलदारं** के सिवाय कुछ सूझता ही नहीं, उन लोगोंको व्रजभूमिकी विशेषता नहीं दिखायी पड़ती। आपने सुना होगा—कि श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज एक बार व्रजकी यात्रा कर रहे थे। उन्हें एक कोई गड्ढा-सा दिखा। जाकर झट जल लिया, अपने सिरपर डाला और आचमन किया। उनके साथ जो कोई सेवक था, वह बोला—महाराज, यह कौन-सा तीर्थ है? पूरा जल भी नहीं, यह तो कीचड़ है। जो पानी है, सो भी गँदला-गँदला दिख रहा है। यह भी कोई तीर्थ है? तो कहते हैं कि आचार्य महाप्रभुने क्रोधकी लीला की और उसकी गर्दन पकड़कर गड्ढेमें डाल दिया। जब वह गड्ढेमें गिरा—तो क्या देखता है, कि निर्मल जलका सरोवर है, उसमें कमल खिले हुए हैं, हंस खेल रहे हैं, रत्नोंकी सीढ़ी बनी हुई है। वह तो युगल सरकारके विहारका स्थल है! बोले—देखो, यह है व्रज—माने, बिना आचार्यकी कृपाके, बिना गुरुकी कृपाके अगर भगवत्प्राप्ति हो जाय, भगवान् स्वयं दर्शन भी दे दें, तो उसका भी मजा नहीं आता है। कोई दिखानेवाला चाहिए—कि देखो, यह रस है। यह मजा है!

यह जो व्रजभूमि है—यह दिव्य है। आपको उसकी उपासनाका रहस्य बताते हैं। इसी प्रसंगमें ब्रह्मज्ञानकी बात भी आपको सुनाते हैं। इसमें हमको यह मेल-जोल करना नहीं भाता है—कि ब्रह्मज्ञानकी चर्चामें रसकी चर्चा मिला दें और रसकी चर्चामें ब्रह्मकी चर्चा मिला दें। दोनों ही निर्गुण-प्राप्तिके लिए ब्रह्मज्ञानकी बात करते हैं।

जो व्रजके रसिक हैं, वे कहते हैं कि अगर कोई प्रेमी यह समझने लगे—कि 'सबमें वही, सबमें वही' तो उसका प्रेम नष्ट हो जायेगा। यदि वह यह समझने लगे—कि नाम मिथ्या है, रूप मिथ्या है, लीला मिथ्या है, धाम मिथ्या है और सबमें वही है, सबमें वही है—तो एकसे प्रेम करके चित्तका, अन्तःकरण जो निर्माण होता है, वह नहीं होगा। पहले चित्तको दुनियासे खींचकर एकमें तो लगाओ। फिर जब तुम्हारा चित्त एकमें लग जायेगा, दूसरेकी स्पृहा न रहे—तो वही एक साथ सब जगह दीखता है। एक जगह तो लगा नहीं, 'सबमें वही है' देखने लगे—तो चित्त बिखर जाता है। इसलिए पहले चित्तको एकमें जोड़ना पड़ता है। यह मैं आपको भक्ति-शास्त्रका रहस्य सुना रहा हूँ। सब मनुष्य हैं और सबमें भगवान् हैं, लेकिन जिस मूर्तिकी तुम पूजा करते हो, उसके बारेमें भी तुम्हारा यही ख्याल बनेगा—कि जैसे सब पत्थर हैं, वैसे ही हमारी यह पत्थरकी मूर्ति है; या जैसे सब पीतलकी मूर्तियाँ है, वैसे ही यह भी है—तो तुम्हारी भक्ति पूर्ण नहीं होगी। पहले समझना पड़ेगा—कि हमारी यह मूर्ति सच्चिदानन्दघन है! यह बोलती है, हँसती है, खेलती है। इसी तरह अगर ऐसे ही समझोगे—कि जैसे दुनियामें सब साधु हैं, वैसे ही हमारे गुरुजी हैं—तो तुम्हारा भाव नहीं बनेगा। सब साधु दूसरे होते हैं और अपना गुरु दूसरा होता है। गुरु खास अपने लिए होता है—ईश्वरको मिलानेवाला। मूर्ति खास अपने लिए होती है—भगवान्‌के रूपमें प्रकट होनेवाली। अब कहो—कि सब तो भगवान्‌के ही नाम हैं, सफल नहीं होगा। एक मन्त्र होना चाहिए, एक नाम होना चाहिए। उसमें भी एक भाव, एक श्रद्धा, एक प्रेम होना चाहिए। अगर कहो—कि भाई! सातों दिन बराबर हैं—तो नहीं, नहीं; सातो दिन बराबर तो हैं, लेकिन उनमें जन्माष्टमी दिव्य है, रामनवमी दिव्य है, शिवरात्रि दिव्य है। इनको सब दिनोंके समान नहीं माना जा सकता, नहीं तो उपासना नहीं बनेगी। जब एक कालमें मनको स्थापित कर लेते हैं—कि रामनवमी, जन्माष्टमीके इस कालमें भगवान् प्रकट हुए—तब मन एकाग्र होगा। यह नहीं समझना—कि आगरा है, कि अलीगढ़ है, कि

हाथरस है; न न—सब समान नहीं है। बम्बई वाली धरती और व्रजवाली धरती—सब एक नहीं है। जब तुम व्रजको भगवान्‌की लीला-भूमि मानोगे, तब तुम्हारा मन एकाग्र होगा। मनको घेरनेके लिए एक दिन चाहिए, मनको घेरनेके लिए एक काल चाहिए, मनको घेरनेके लिए एक वस्तु चाहिए, मनको घेरनेके लिए एक व्यक्ति चाहिए, मनको घेरनेके लिए एक क्रिया चाहिए और मनको घेरनेके लिए भगवान्‌का प्रसाद, भगवान्‌के प्रसादका भोग चाहिए। तभी मन भगवान्‌में लगता है। अगर पहले ही—सबमें वही, सबमें वही, सबमें वही—करने लगोगे, तो क्या होगा? बोले—गाँव भरसे बराबर प्रेम करते हैं। तो मतलब यह हुआ—कि अपने पतिसे प्रेम नहीं है, अपने पुत्रसे प्रेम नहीं है, अपने माँ-बापसे प्रेम नहीं है, अपने गुरुजनोंसे प्रेम नहीं है। यह उपासनाके क्षेत्रमें 'बराबर' नहीं चलता है। वहाँ तो अपने गुरुसे, अपने मन्त्रसे, अपने इष्टसे, अपने धामसे विशेष प्रेम करनेकी आवश्यकता होती है। तभी मनुष्य आगे बढ़ता है। सबमें आत्मा देखो, सबमें परमात्मा देखो—यह बड़ी ऊँची स्थिति है।

अब देखो! जो यह व्रजभूमि है, यह गोलोकसे सीधे आयी है। गर्गसंहितामें आया है—कि यह भूमि मर्त्यलोककी भूमि नहीं है, दिव्यलोकसे आयी है। एक दिन गोलोकमें युगल-सरकार श्रीराधाकृष्ण विराजमान थे। सखियाँ सेवा कर रही थीं। दरवाजेपर चन्द्रानना सखी हाथमें बेंत लिए खड़ी थी। इतनेमें ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदि सब देवता दरवाजेपर पहुँचे और भीतर घुसने लगे। चन्द्राननाने बेंत फटकारा—कौन हो तुम? देवताओंको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा—ब्रह्माको नहीं पहचानती हो? इन्द्रको, शंकरको नहीं पहचानती हो? पूछती हो—कौन हो? हटो, जाने दो। चन्द्रानना बोली—देखो, जैसे घरमें बहुत सारी मक्खियाँ भिनभिनाया करती हैं, वैसे ही यहाँ ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, चन्द्रमा और वरुण रोज चक्कर काटते रहते हैं। उनको भीतर प्रवेश करनेका मौका नहीं मिलता है। तुम पहले अपना परिचय-पत्र लाओ। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमें कोटि-कोटि ब्रह्मा—शंकर रहते हैं। किस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा हो तुम? अब तो सब देवता लोग चुप हो गये। ब्रह्माजीने कहा—कि सखि! हम उस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा हैं, जिसमें भगवान्‌का वामनावतार हुआ था। वे फिर त्रिविक्रम बनकर पाँवसे विश्वको नापने लगे, तब उनके पाँवका अँगूठा जाकर ब्रह्माण्डके शिरोभागमें लगा और वह ब्रह्माण्ड फट गया। तब गंगाजीकी धारा हर-हर करती हुई गिरने लगी। हम उस ब्रह्माण्डके हैं! तब सखी बोली—कि अच्छा, बैठो!

हम खबर देते हैं। श्रीराधाकृष्णके पास खबर पहुँची। देवता बुलाये गये और उन लोगोंने जाकर प्रार्थना की—कि महाराज! अवतार ग्रहण करो। श्रीकृष्णने कह दिया—कि हाँ, चलेंगे। वे चले गये। अब श्रीराधारानी रूठ गयीं। बोलीं—हमसे सलाह नहीं की; ऐसे ही मान लिया—कि मर्त्यलोकमें चलेंगे। तुम अकेले जाओगे क्या? अब श्रीकृष्णने मनाया; बोले—कि अकेले नहीं जायेंगे भाई। तुमको भी ले चलेंगे। राधारानी बोलीं—हम ऐसे नहीं जायेंगी। वहाँ जमुनाजी नहीं, स्नान कैसे करेंगे? वहाँ वृन्दावन नहीं, तो वनका आनन्द कहाँसे आवेगा? वहाँ गिरिराज नहीं, तो पहाड़पर कैसे जायेंगी? भगवान् श्रीकृष्णने कहा—कि अच्छा! जो-जो तुमको प्रिय है—सब ले चलेंगे। जमुनाजीको ले चलेंगे, तुम्हारा वन वृन्दावन—पार्क वहींसे आवेगा। यह पहाड़—यह हिलस्टेशन भी अपने साथ लेकर चलेंगे। कदम्बके वृक्ष, ये गौएँ, ये अपनी सखियाँ और ये ग्वाल-बाल, समूचा वृन्दावन धाम साथ लेकर चलेंगे।

देखो, यह व्रज! शास्त्रमें आया है—कि असलमें तो सब ब्रह्म हैं, लेकिन सर्वत्र मायाका प्रभाव रहता है। भगवान् कृष्ण अपनी विशेष शक्तिसे ब्रह्मके जितने अंशमें-से मायाका प्रभाव घटा देते हैं, उसका नाम 'व्रज' होता है। वहाँ शुद्ध ब्रह्म रहता है; वहाँ माया नहीं रहती।

इस व्रजमें उद्धवजी आये। श्रीकृष्णका असली रूप व्रजमें गये बिना मालूम कैसे पड़े? ऐसे किसीकी हिम्मत है—कि श्रीकृष्णको 'सारे' कहकर पुकारे? व्रजके एक-एक बालक 'सारे' बोलते हैं, गाली देते हैं। क्यों? कि वहाँ तो सभी के साथ श्रीकृष्णका सम्बन्ध है। वहाँ कृष्णके सम्बन्धी रहते हैं, रिश्तेदार रहते हैं। सारी सृष्टिमें कृष्णके सेवक रहते हैं, और व्रजमें कृष्णके रिश्तेदार रहते हैं। कोई साला है, कोई सास है, कोई ससुर है। कोई साली है, कोई सलहज है। वह भगवान्‌के रिश्तेदारोंकी जगह है, सेवकोंकी नहीं।

अच्छा, अब एक और आश्चर्य देखो! धरतीपर नन्द गाँव-बरसाने जैसे गाँव शायद ही हों। दोनों में पाँच-छह मीलका फर्क है; ऊँचाईसे देखनेपर दोनों एक दूसरे गाँवसे दीखते हैं। पर, बरसानेकी लड़की नन्दगाँव में ब्याहीं नहीं जाती। बरसाने वाले कहते हैं—देखो, एक रिश्ता हो गया है। राधा हमारी लड़की नन्दगाँवमें ब्याही गयी अब नया रिश्ता बनायेंगे, तो पुराना भूल जायेगा और नया आ जायेगा सामने। इसलिए वही पुराना रिश्ता रखो कि हमारी लड़की ब्याही है नन्दगाँवमें! पाँच हजार बरससे एक गाँवकी लड़की दूसरे गाँवमें नहीं ब्याही जाती।

इसका क्या मतलब हुआ? संसारमें कहीं ऐसे दो गाँव नहीं हैं, जहाँ इतने दिनों तक ऐसे प्राचीन सम्बन्धका निर्वाह हो। यह सम्बन्धकी बात है।

अब सुवर्ण और आभूषणके परस्पर सम्बन्धपर ध्यान दो। हम सोनेकी चर्चा नहीं कर रहे हैं, हम जेवरकी चर्चा कर रहे हैं। कितना बढ़िया है यह जेवर। सोना रहता है तिजोरीमें रखने के लिए। जो तत्त्वकी चर्चा है, वह सुवर्णकी चर्चा है; सोना खरा है कि नहीं? और उस शुद्ध सोनेमें जो जेवर बना, हार बना छातीपर पहननेके लिए, कंगन बना हाथमें पहननेके लिए, नकबेसर बनी नाकमें पहननेके लिए—वह कितनी सुन्दर है? उसका डिजाइन कैसा है? तो ब्रह्म-रूप सोनेमें यह व्रज-रूप जो आभूषण बना है न—ऐसा डिजाइन ब्रह्ममें और कहीं नहीं है, एक ही है। समूचे देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्मतत्त्वमें व्रजरूप जो आभूषण है, वह एक ही है।

यह व्रजलोक गोलोकसे उतरा हुआ साक्षात् दिव्यधाम है। यह मायाके प्रभावसे रहित है। अब व्रजमें चलो। व्रजमें जानेके लिए व्रजवासियोंके चरणोंकी रेणु चाहिए। यहाँ तीन बातोंकी महिमा है—कृष्णके होठोंपर वेणु, उनके आगे-आगे धेनु और पाँवोंमें रेणु; और कर लो श्रीकृष्णके दर्शन। ये साँवरे-सलोने व्रजराज-कुमार पीताम्बरधारी मुरली-मनोहर आनन्द-कन्द हैं।

जब उद्धवने प्रवेश किया, तो **छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः।** पशुओंके खुरसे उड़ी हुई धूलमें उनका रथ ढँक गया है। यहाँ 'पशु' शब्दका क्या अर्थ है? कि इनको विवेक नहीं है कि श्रीकृष्ण हमको छोड़कर मथुरा चले गये हैं। वे जब वनसे लौटते हैं, तो उनके मनमें आता है कि आगे गये कृष्ण! गौएँ दौड़ती हैं, कि चलकर छू लें। नन्दबाबाके महलमें प्रवेश करनेसे पहले ही हम श्रीकृष्णके पास पहुँच जायँ। इसलिए लौटते समय व्रजके पशु जोरसे दौड़ते हैं—कि कृष्णको छू लें। जोर से दौड़ते हैं, तो धूल उड़ती है। धूल उड़ती है, तो उद्धवजीके रथको, उनकी पोशाकको, उनके बालोंको, उनके मुखारविन्दको ढँक देती है। बिना इस धूलमें लथपथ हुए कोई श्यामसुन्दरके प्रेम-धाममें प्रवेश कैसे करेगा? इसलिए उद्धवजी भले ही वृहस्पतिके शिष्य और वेद-शास्त्रके विद्वान् हैं, पर भगवान्ने ऐसी व्यवस्था कर दी, कि वे धूलमें लथपथ होकर व्रजमें प्रवेश करें।

अब व्रजके भाव देखो। यह भावनाकी वस्तु है, यह कोटि-कोटि तर्क-वितर्कोंसे मिलने वाली नहीं है। एक प्रबोधानन्द सरस्वती नामके महात्मा हुए हैं,

जो पहले काशीमें रहते थे। अद्वैतवादका प्रामाणिक ग्रन्थ 'वेदान्त-सिद्धान्त मुक्तावली' उन्होंने लिखा है। उन्होंने ही 'वृन्दावन महिमामृत' नामका दस हजार श्लोकका ग्रन्थ लिखा है। जब वे वृन्दावनमें आये और उनकी चैतन्य महाप्रभुसे भेंट हुई, तो उन्होंने वृन्दावनकी महिमाका वर्णन किया। वे कहते हैं—कि जो लोग दृश्यका निषेध करके अपने स्वरूपमें स्थित होनेका दावा करते हैं, कि हम अन्नमय कोशमें नहीं, प्राणमय कोशमें नहीं, मनोमय नहीं, विज्ञानमय नहीं, आनन्दमय नहीं, नेति-नेति करके सबका निषेध करके बोलते हैं, कि हम अपने आपमें स्थित हो गये हैं—वे भ्रममें हैं। अभी उनको अद्वैतका अनुभव नहीं हुआ; क्योंकि जब तुम किसीसे न्यारे हुए—जाग्रत्से न्यारे, सुषुप्तिसे न्यारे, स्वप्नसे न्यारे तो द्वैत हुआ या अद्वैत? न्यारे होना तो द्वैत है। यह दृश्य है, मैं द्रष्टा हूँ, और अपने स्वरूपमें बैठा हूँ—यह कहाँका अद्वैत हुआ? यह तो द्वैत हुआ। अद्वैत तो तब, हुआ जब अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोश भी अपने स्वरूपसे जुदा नहीं रह जाते। अपने सिवाय कुछ नहीं—प्रकृति नहीं, जीव नहीं। बोले कि जब द्रष्टा-दृश्यका भेद मिट जाता है। तब यह वृन्दावन धाम अपना स्वरूप प्रकट करता है। ब्रह्मज्ञानको सन्धि मानकर चलो; ब्रह्मज्ञानसे पूर्व जो दृश्य है—वह अनात्मा है, जड़ है, विकारी है—और ब्रह्मज्ञानके अनन्तर जो दृश्य है-वह जड़ नहीं, अनात्मा नहीं, विकारी नहीं। वह साक्षात् ब्रह्म है। इसमें कारणरूप है द्वारिका, सूक्ष्मरूप है मथुरा और स्थूल रूप है वृन्दावन, जहाँ चैतन्य प्रकट है। वृन्दावन ही वह स्थली है—निकुञ्ज है जहाँ श्रीराधाकृष्ण युगल-सरकार अनादि कालसे विहार करते हैं।

तो आओ, एकबार वृन्दावनमें प्रवेश करो।

वासितार्थेऽभियुध्यद्भिर्नादितं शुष्मिभिर्वृषैः।
धावन्तीभिश्च वास्त्राभिरूधोभारैः स्ववत्सकान्॥ ९॥
इतस्ततो विलङ्घद्भिर्गोत्सैर्मण्डितं सितैः।
गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च॥ १०॥

मोटे तौर पर इन श्लोकोंको कोई पढ़े, तो यही कहेगा कि इनमें गाय-बैलका वर्णन है। कहते हैं—कि गौएँ प्रेममें मग्न हैं और उनके लिए मतवाले साँड़ अथवा बैल मतवाले होकर आपसमें लड़ रहे हैं। वे जोर-जोरसे शब्द करते हैं, पाँवसे मिट्टी फेंकते हैं और उखाड़ते हैं। एक दृश्य यह है।

दूसरा दृश्य क्या है? कि थोड़े दिनोंकी व्यायी हुई गौएँ हैं। उनके बड़े-बड़े

थन हैं, उन थनोंमें-से दूध गिरता जा रहा है। वे गौएँ अपने बछड़ोंकी ओर दौड़ती जा रही हैं।

तीसरा दृश्य है—कि सफेद-सफेद बछड़े—छोटे-छोटे—इधर-उधर छलांग भरते हैं और आपसमें मिलकर खेल रहे हैं।

असलमें व्रजमें तीन रस हैं—मधुर रस, वात्सल्य रस और सख्य रस। भक्तिमें पाँच रस मानते हैं, क्योंकि संसारमें मनुष्यको कई प्रकारसे रस आता है न! पतिके साथ मिलनेमें रस आता है, बच्चा खिलानेमें रस आता है और अपने मित्रोंसे मिलनेमें रस आता है। जब संसारमें आदमीको मजा आता है और उससे कहे—कि इस संसारमें तो दुःख ही दुःख है, इससे वैराग्य करो—तो क्या वह मान लेगा? यह तो ऐसा ही हुआ—कि एक आदमी नोटोंका बंडल अपने कंधेपर लादे लिए जा रहा है और उसको मजा आ रहा है, कि देखो, हमारे पास इतने नोट हैं। अब कोई कहे—कि ऐ! देखो, कितना बोझ लादे हुए हो—तो उसके दोष बतानेसे वह आदमी क्या नोटोंके बंडल फेंक देगा? नहीं फेंकेगा।

इस संसारमें गृहस्थोंको तो आ रहा है मजा-स्त्रीमें, पुरुषमें, पुत्रमें, मित्रमें—और बाबाजी कहते हैं—कि इन सबमें दुःख है, इन्हें छोड़ो-छोड़ो-छोड़ो। अब उनके कहनेसे कौन छोड़े? भगवान्‌ने देखा—कि इस तरहसे किसी बाबाजीकी बात चलनेवाली नहीं है। यह बात कब चलती है? जब उससे भी बड़े मजेकी बात बतायी जाय। आपको एक व्यापारी मिले और आप उसके विश्वासपात्र होवें, और कहें—कि भाई! तुम्हारे पास लाख रुपये हैं? कि हैं। तो आओ मेरे साथ। तुमको ऐसा व्यापार बताते हैं—उसमें एक लाखके पाँच लाख हो जायेंगे तुम्हारे। सचमुच? हाँ, सचमुच। तो लो, लाख रुपया हम अभी लगा देते हैं। पाँच लाख मिलनेवाला हो, तो हिचकिचाहट कहाँ होती है?

भगवान्‌ने देखा कि संसारी लोगोंको संसारमें बड़ा मजा आरहा है। अगर इनको हम बदलेमें दूसरा मजा नहीं देंगे और बहस करके समझायेंगे—कि स्त्री-पुरुषके मिलनेमें बड़ा दुःख है, बच्चा खिलानेमें बड़ा दुःख है, मैत्री जोड़नेमें बड़ा दुःख है—तो ऐसे बहस करके, शास्त्रार्थमें हरा करके लोगोंको समझानेसे कोई छोड़नेवाला है क्या? सो भगवान्‌ने कहा—लो, हम तुमको मजा देते हैं। यह भक्ति जो है न—रस ही तो लेता है। शान्त रस, दास्य रस, सख्य रस, वात्सल्य रस और मधुर रस—ये पाँच रस होते हैं भक्तिमें। रस माने मजा, स्वाद मीठा-मीठा। वेदान्ती लोग जैसा शान्त रस बताते हैं, वैसा भक्त लोग नहीं मानते। वेदान्ती कहते हैं—कि

भक्त और भगवान्‌का एक हो जाना शान्त रस है। भक्त बोले—नहीं, ऐसा नहीं। बिना ममताके भगवान्‌के दर्शनका आनन्द लेना यह शान्त रस है। कैसे? जैसे चन्द्रमाको देखते समय—चन्द्रमा मेरा है—यह ममता तो नहीं होती, लेकिन देखनेमें मजा आता है। ऐसे सामने श्रीकृष्ण खड़े हों—मुरली-मनोहर, पीताम्बरधारी, श्यामसुन्दर मन्द, मन्द मुस्कुरा रहे हों, और तिरछी आँखसे कभी-कभी देख लेते हैं; कभी-कभी आँख मिल जाती हो, तो मुस्कुरा लेते हैं और कहते हैं—कि आओ भक्त, भैय्या! हमारे हृदयसे लग जाओ। यह देखनेमें जो मजा आता है, यहाँ ममता तो नहीं है न! इसका नाम शान्त रस है।

फिर बोले—कि आओ, आओ! तुम हमारी सेवामें रहो। हमारे पाँव दबाओ, झाड़ू लगाओ। एक गिलास पानी लाओ, पिलाओ। आज तो हम तुम्हारे हाथका भोजन करेंगे। यह दास्य रस है—सेवा!

हाथ जोड़ लेना ठाकुरजीको मन्दिरमें, घरमें उनकी तस्वीर रख लेना, चार बार उनका नाम ले लेना और इसमें अपनेको बड़ा भारी भक्त समझ लेना—यह भक्ति नहीं है। भक्ति बिना सम्बन्धके नहीं बनती। उसमें रिश्ता जोड़ना पड़ता है। जब उधर मजा आवेगा तब दुनियाका सम्बन्ध फीका पड़ जायेगा। और मजा नहीं आवेगा, तो? फिर इधरके मजे जो हैं—वे चीख-चीखकर बुलावेंगे।

दास्यसे भी बढ़कर सख्य रस होता है। वैकुण्ठमें शान्त रस ज्यादा होता है। अयोध्यामें दास्य रस ज्यादा होता है। व्रजभूमिमें तीन रस ज्यादा होते हैं—भगवान्‌को अपना सखा मानना पहला रस है। कन्धे पर हाथ रख करके चलना, कभी कुश्ती लड़ लेना और कुश्ती लड़ते समय जब वे छूते हैं न, तो सामनेवाले ग्वाल-बाल और गोपियाँ बेचारी ईर्ष्या ही करती रह जाती हैं। नन्द-यशोदा सामने बैठे हैं और आया श्रीदामा और उठकर खड़े हुए श्रीकृष्ण और दोनों हाथोंसे पकड़ा, और हृदयसे लगा लिया। तब दूरसे गोपियाँ देख रही हैं, जल रही हैं—कि अरे! हम श्रीदामा नहीं हुए, नहीं तो बाबाके सामने हमको भी तो हृदयसे लगाते! गोपियोंके मनमें ईर्ष्या पैदा होती है! सख्य रस इसको कहते हैं।

दूसरा है वात्सल्य रस। भगवान् बच्चे बन गये और तीसरा है मधुर रस। अपने प्रियतम, पति बन गये भगवान्। व्रजमें तीन रस हैं—इस बातको प्रकट करनेके लिए ही यह तीन प्रकारका वर्णन है—

वासितार्थेऽभियुध्यद्भिर्नादितं शुष्मिभिर्वृषैः।
धावन्तीभिश्च वास्त्राभिरूधोभारैः स्ववत्सकान्॥ ९॥

मतवाले बैल उठी हुई गायोंके लिए आपसमें युद्ध कर रहे हैं और बीच-बीचमें गर्जना कर रहे हैं। यह वीर रससे संपुष्ट शृंगार रसका वर्णन है।

अपने बछड़ोंकी याद करके, उनको देखकर गायोंके थनोंमें दूध आजाता है। व्रजमें हमने ऐसी-ऐसी गौएँ देखी हैं—कि जिनके थनोंको कपड़ेसे उनकी पीठके साथ बाँध देना पड़ता है; नहीं तो थन इतने लटके हुए होते हैं, कि धरतीमें लगते चलते हैं। उनमें-से दूध बरसता चलता है। श्रीरूपगोस्वामीने वर्णन किया है—कि मैंने देखा व्रजमें, कि गौएँ जब चलती थीं, तब उनके थनों-से दूध गिरता था। खट्टी-खट्टी घास होती है न, उनके ऊपर जब दूध गिरता, तो वह दूध दही बन जाता। **देवमातृकमभूत वृन्दावनं**—सारे वृन्दावनमें घास कहीं दूधसे चिपी हुई है, तो कहीं दहीसे चिपी हुई है। वह हरी-हरी घास, और उसपर सफेद-सफेद दूध और दही! यह है व्रजभूमिका दिव्य वर्णन। अपना सम्पूर्ण सौन्दर्य व्रजभूमि प्रकट करती है ऐसे।

ये गौएँ काहेके लिए दौड़ रही हैं? अपने-अपने बछड़ोंके लिए दौड़ रही हैं। अपने बच्चोंके प्रति जो स्नेह है—यह वात्सल्यरस है, और गायोंके प्रति बैलोंका जो आकर्षण है—वह मुधर रस है।

अब सख्यका वर्णन करते हैं। पहले मधुर, उसके बाद वात्सल्य और उसके पीछे सख्य रसका वर्णन है—

इतस्ततो विलङ्घद्भिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितैः।

मैत्रीमें सितता होना जरूरी है। सित माने उज्ज्वल। ये बछड़े जो हैं, ये ज्यादातर सफेद हैं।

जल पय सरिस बिकाय, देखु प्रीति की रीति भलु।
बिलग होय रस जाय, कपट खटाई परत पुनि॥

प्रीतिकी रीति कितनी भली है। दूध और पानीकी प्रीति है। जब पानी दूधसे मिल जाता है, तो जो भाव दूधका, वही भाव पानीका। लेकिन कपटकी खटाई जब पड़ जाती है, तो दूध फट जाता है। फिर पानी पानीके भाव भी नहीं बिकता। तो 'बिगल होत रस जाइ'—रस भी, स्वाद भी—दोनों चले गये। अलग भी हो गया, क्योंकि बीचमें कपट की खटाई पड़ गयी।

मैत्री है उज्ज्वल, उसका रंग श्वेत है। उसमें कपटकी कालिमा नहीं चल सकती। 'सितै' शब्दके दो अर्थ हैं—एक तो उज्ज्वल; और दूसरा सित माने प्रेमसे परस्पर बँधे हुए। अपने झुण्डसे बाहर नहीं जाते और खूब इधर-से-उधर, उधर-

से-इधर छलांग भर रहे हैं। यह एक विशेष स्वभाव बताते हैं—जिससे व्रजका ध्यान लग जाय।

अब रसकी बात बताते हैं। **गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च**—अर्थात् व्रजमें बड़ा भारी संगीत छिड़ा हुआ है। तीनों रसोंके साथ संगीतका बड़ा जोड़ है। प्रेमी लोग कहते हैं कि राग और राग और भोग और भोग—इन चार बातोंसे भक्ति बनती है। राग माने हृदयमें जो प्रेम होता है—अनुराग, और राग माने संगीत। राग और राग; हृदयमें राग हो और बाहर भजनका संगीत हो। और भोग और भोग हृदयमें युगल सरकारके भोगका—मिलनका चिन्तन होवे और बाहर थालके थाल भोग लगाये जावें। इस प्रकार चार बातोंसे भक्ति सम्पन्न होती है।

व्रजमें जगह-जगह गौएँ दुही जा रही हैं और उनके दुहनेका जो शब्द है—वह मांगलिक है। जहाँ गाय दुही जाती है, वहाँ देवता प्रसन्न होते हैं। देखो न, यहाँ गाय है—सर्वदेवमयी है; इसका दुग्ध हविष्यात्मक है। देवता प्रसन्न होते हैं, पितर प्रसन्न होते हैं—कि हमको यहाँ भोग मिलेगा, श्राद्ध मिलेगा। भगवान् प्रसन्न होते हैं और **वेणूनां निःस्वनेन च**—उनकी बाँसुरी बजती रहती है। व्रजमें श्रीकृष्णने ऐसी बाँसुरी बजायी—कि अब भी बजती है। अब भी महात्मा लोग जब कभी जंगलमें जाते हैं—जहाँ दूर-दूरतक मनुष्य नहीं होते हैं—और शान्त नीरव एकान्तमें बैठकर जब श्रीकृष्णका ध्यान करते हैं, तो उनको वह वंशी-ध्वनि सुनाई पड़ती है। ऐसे व्रजमें उद्धवजीने प्रवेश किया।

अब गोपियाँ वहाँ क्या कर रही हैं, व्रजवासियोंके घर कैसे हैं और वहाँ क्या-क्या हो रहा है, और नन्दबाबाने उद्धवजीका कैसे स्वागत-सत्कार किया—यह सब आगे है। आपको फिर सुनावेंगे।

नवाँ प्रवचन

गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः।
स्वलंकृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम्॥ ११॥

सायंकालके समय उद्धवने व्रजमें प्रवेश किया। सायंकाल अनुरागका समय है। उस समय आकाशमें लाली होती है, काले बादल भी उस समय लाल हो जाते हैं—माने कालिमामें भी रक्तिमाका संचार हो जाता है। काले दिलको भी लाल बनानेवाला समय सायंकाल है। भगवान् कृष्णने विचार किया कि इस समय उद्धवजी पहले-पहल हमारे व्रजमें प्रवेश कर रहे हैं और वहाँ जाकर प्रथम दर्शनमें उन्होंने देखा—कि गौएँ रो रही हैं, पेड़ोंकी आँखसे भी आँसू टपक रहे हैं, गोपियाँ बेहोश पड़ी हैं और घरद्वारमें कहीं झाड़ू नहीं लगा है—तो उद्धवजीके ध्यानमें व्रजका विषाद प्रवेश कर जायेगा। फिर आगे उन्हें गोपियोंका भक्त होनेपर, गोपियोंके प्रति श्रद्धा-प्रीति होनेपर जो दिव्य दर्शन होना है—शृंगार रसका आस्वादन होना है—उन सबमें बाधा पड़ जायेगी। उन्होंने अपनी योगमाया शक्तिको बुलाया और बोले—कि देवि, देखो! उद्धवजी व्रजमें जा रहे हैं। इस समय उनके सामने व्रजका अनावृत सौन्दर्य प्रकट करो। वहाँकी सुन्दरतापर कोई पर्दा न रहे, पूरी-पूरी सुन्दरता व्रजकी उद्धवके सामने प्रकट हो जाय; जिससे जब भविष्यमें उद्धवजी व्रजका ध्यान करेंगे, तब उन्हें रसीला, रंगीला व्रज ध्यानमें आयेगा; रोते हुए दुःखी व्रजका ध्यान नहीं आयेगा। तब योगमायाने क्या किया—कि व्रजमें-से वैराग्यको, निर्वेदको, विषादको, दैन्यको, आर्तिको—सबको हटा दिया और वहाँ हर्ष, उत्फुल्लता, चपलता, उत्साह बहा दिया। कल आपको सुनाया था—कि कहीं बैल गौओंके लिए आपसमें लड़ रहे हैं, कहीं गौएँ अपने बछड़ोंको दूध पिलानेके लिए दौड़ रही हैं और कहीं नन्हें-नन्हें, सफेद-सफेद बछड़े इधर-उधर छलांग भर रहे हैं।

मैंने यह भी सुनाया था—कि यह जो बैल और गायोंका वर्णन है—यह शृंगाररसका उद्दीपक है और जो गायें बछड़ेको दूध पिलानेके लिए दौड़ रही हैं—वह वात्सल्य रसका उद्दीपक है। और नन्हें-नन्हें बछड़े झुण्ड-के-झुण्ड छलांग भर रहे हैं, उछल-कूद मचा रहे हैं—यह सख्य रसका उद्दीपक है। व्रजमें तीन ही रस हैं—मधुर रस, माने श्रीकृष्णको पति रूपमें भजना; वात्सल्यरस, माने बच्चेके रूपमें उनसे प्रेम करना और सख्यरस, माने वे हमारे मित्र हैं—ऐसा मानकर भगवान्से प्रेम

करना। केवल भगवान्‌को मान लेना और हाथ जोड़ लेना ही काफी नहीं है। उनके साथ सम्बन्ध जोड़ना—और प्रेम करना।

अब बताते हैं—कि वहाँ आनन्दकी न्यूनता नहीं है। ये तीनों दृश्य यद्यपि आनन्दके ही हैं, तथापि खानेकी वस्तु भी उसके लिए चाहिए और थोड़ा गाना-बजाना भी चाहिए। अपने शास्त्र सब-के-सब आनन्द-प्रधान हैं। सैंकड़ों नाटक संस्कृत-साहित्यमें हैं, उनमें-से एक-दो ही दुःखान्त हैं, बाकी सब-के-सब सुखान्त हैं। आखिरी ग्रास मधुर होना चाहिए। वैदिक संस्कृति यह है कि भोजनकी समाप्ति भी मधुर रससे ही होनी चाहिए। करेला या लालमिर्च या अचार या चटनी खाकर भोजन समाप्त नहीं करना, आखिरमें खीर खालो।

आनन्दके लिए, समझो—चार उपवेद आवश्यक हैं। पहला है आयुर्वेद—हमारा शरीर स्वस्थ रहे; दूसरा धनुर्वेद—दुश्मन हमारे ऊपर कब्जा न कर सके; तीसरा—रहनेकी जगह बहुत सुन्दर होवे—स्थापत्य वेद और चौथा, गाना हो, बजाना हो, नाचना हो, हँसना हो, खेलना हो—गांधर्व वेद। मनुष्यका जीवन बड़ी मुश्किलसे मिलता है। इसको रो-रोकर नष्ट नहीं करना चाहिए। आनन्दका अनुभव करनेके लिए ही यह मनुष्यका जीवन प्राप्त हुआ है। यह रसका जीवन है, आनन्दका जीवन है।

बोले—व्रजमें भाई, और तो सब ठीक था; खाने-पीनेका ढंग कैसा था? हमारे एक मामा थे—बहुत मोटे, बड़े तगड़े! सत्तर-पचहत्तरकी उम्र थी। जब कहीं जानेकी बातचीत चलती, तो वे कहते—पहले चबन्तवाली बात कर लो। वहाँ खाने-पीनेकी सुविधा है कि नहीं? अगर हलवा-पूरी ठीक-ठीक मिले, तब वहाँ जाना चाहिए। जहाँ भोजनकी ही व्यवस्था न हो, वहाँ जाकर क्या करना! तो भाई, व्रजमें भोजनकी कैसी व्यस्था है? **गोदोहनशब्दाभिरवं**—जगह-जगह गौएँ दुही जा रही हैं। और घर्र-घर्रकी जो सम्मिलित ध्वनि उठती है, उस गोदोहनके शब्दसे सारा व्रज भरा हुआ है। इसका मतलब हुआ कि वहाँ दूध-दही, घी-मक्खन, मलाई-रबड़ी, हलवा-पूरी, खीर-जितनी चीजें दूधसे बननेवाली हैं, उनकी कभी कमी नहीं होगी, भरपेट खानेको मिलेगा। यह भोजन तो हविष्य है, देवता लोग भी इसके लिए तरसते हैं।

कहनेका अभिप्राय यह है—कि वहाँ, व्रजमें रस है। गाना-बजाना भी है वहाँ—**वेणूनां निःस्वनेन च**—एक-एक बाँसके छिद्र बज रहे हैं। श्रीकृष्णके सभी ग्वाल-बाल सखा बाँसुरी लेकर अलग-अलग बजा रहे हैं। सबके मुँहमें वेणु है, सबके आगे धेनु है और सबके शरीरपर भगवान्‌के चरणोंका स्पर्श करके उड़ती हुई रेणु है। रेणु है, धेनु है, वेणु है। यह तो व्रजभूमि है न! आनन्दकी भूमि है।

बोले—गोपियाँ जरूर उदास होंगी? राम कहो, यहाँ उदासीका क्या काम है?

जो बिछुड़े हैं प्यारे से भटकते दरबदर फिरते।
हमारा यार है हममें हमन को बेकारारी क्या?

जो प्यारेसे बिछुड़ते हैं, वे दर-बदर भटकते हैं, रोते हैं। यहाँ तो *जित देखौं तित स्याममयी है।* गोपीकी जिधर नजर पड़ती है, वहाँ श्यामसुन्दर दिखाई पड़ते हैं। प्रेम रसीली वस्तु है। यह दुःख बेवकूफीमें-से निकलता है। दुःखका उद्‌गम नासमझी है—**प्रज्ञापराध एष दुःखमिति यस्य।** जब आपको कभी दुःख मालूम पड़े—तो समझना, कि हिसाब लगानेमें गलती हो गयी है। यह नहीं समझना कि हमारा दिवाला निकल गया है, या हमको घाटा हो गया है। यह समझकर सिर मत पीट लेना; हिसाब-किताब देखना बन्द मत करना। तुम्हारी पूँजी तो है प्रेमकी, और वह तो तुम्हारे हृदयमें है। जब पूँजी अपने पास है, तो रोना-धोना किसके लिए?

जब इश्क ही अव्वल इश्क ही आखिर
तब हुस्न-परस्ती कौन करे!
जब मेरी ही कुदरत मेरा ही जलवा
तब मेरी तमन्ना कौन करे!

सबसे बड़ी पूँजी है अपना आनन्द-स्वरूप आत्मा। जब वह अपने पास है, तो उसके रहते हुए दूसरेके लिए रोना-धोना! क्या वाहियात बात है! वाह्यात माने बाह्यार्थ है। नास्तिकोंका जो बाह्यार्थवाद है, उसीको वाह्यात कहते हैं।

तो गोपियाँ क्या कर रही हैं?

गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः।
स्वलंकृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम्॥ ११॥

रोज सायंकाल कृष्ण आते थे गोचारणके बाद। दिन भर तो नन्दबाबाको विरह रहता ही था और सायंकाल रोज संयोग होता था। नन्दबाबाको कृष्णके विरहका दुःख कब होता? सायंकाल बहुत ज्यादा होता। इसलिए जब सायंकालमें उद्धवजीने प्रवेश किया, तो सीधे नन्दबाबाके पास गये। यह सायंकालके समयका भाव है। **छन्नयानः** अर्थात् रथको ढँक दिया कि कोई दूसरा देखकर रोक न ले। नन्दबाबाका व्रज है, अतः पहले यशोदा मैया और नन्दबाबासे बात करके फिर दूसरोंसे बात करेंगे। अब गोपियोंको देखो!

प्रेमका यह स्वाभाव है कि वह अपने आश्रयको रससे सराबोर कर लेता है।

आप जानते हैं न—प्रेमका एक आश्रय होता है और एक विषय होता है। इसको ऐसे समझो—कि एक बल्ब है। उसमें रोशनी हो रही है। बल्ब रोशनीकी आश्रय है और उससे जो दीख रहा है, वह विषय है। प्रेम जिसके दिलमें होता है, वह प्रेमका आश्रय होता है और जिससे होता है—वह प्रेमका विषय होता है। प्रेमका स्वभाव है—जिसके हृदयमें रहता है, उसको वह रससे सराबोर किये रहता है। अपने आश्रयको आनन्दित रखना—यह प्रेमका स्वभाव है। गोपियोंके हृदयमें जो प्रेम है, वह उछल-कूद मचा रहा है। प्रेमकी उछल-कूद क्या है? कि जिसके दिलमें प्रेम होता है, उसके पाँव सीधे धरतीपर नहीं पड़ते। वह प्रेममें मगन रहता है, नाचता हुआ चलता है। प्रेमकी चालमें एक उछलाहट होती है। इठलाते हुए, नखरेके साथ पाँव रखते हुए चलते हैं। उस नखरेमें, उस उछलाहटमें नृत्य रहता है। जिनके दिलमें प्रेम है, उनकी स्वाभाविक चाल भी नृत्यमयी होती है; उनके बोलनेमें शहद घुली हुई होती है! मिश्री घुली हुई रहती है। प्रेमीके दिलमें प्रेमका स्वाद होता है। वह जब बोलता है, तो उसकी बोलीमें प्रेम घुल जाता है। प्रेमीकी बोली ही संगीत है। उसकी स्वाभाविक बातचीतमें भी संगीत होतो है। गोपियाँ आपसमें जो बातचीत करती हैं, वह भी संगीतमय है!

काह ब्रह्म की ज्योति ध्यान काह सों करौं ऊधो।
हमरे तो सुन्दर श्याम प्रेम को मारग सूधो॥

उनके बोलनेमें संगीत है। उनके चलनेमें नृत्य है। **गायन्तीभिश्च**—झुण्ड-की-झुण्ड गोपियाँ गा रही हैं। असलमें सब गोपियोंको ख्याल होता था, कि आज श्यामसुन्दर जरूर आवेंगे। तो क्या गा रही हैं?

कार्माणि शुभानि बलकृष्णयोः। बलराम और कृष्णके शुभ कर्मोंका गान कर रही हैं। जो कृष्ण-बलरामकी शुभ कथाका गान करता है, उसको शुभ होता है। राम और कृष्णके कर्म शुभ देनेवाले हैं। शुभ फलानि-शुभानि। देखो, एक आदमी बाजार-भावका गान करे, सिनेमामें काम करनेवाले लोगोंके चरित्रका गान करे—तो उसके चित्तमें वासना आवेगी कि नहीं? ऐसा मकान होवे, ऐसी स्त्री होवे और ऐसा पुरुष होवे और ऐसा बच्चा होवे—मनमें ऐसी-ऐसी वासनाएँ उठेंगी। और उनकी पूर्ति नहीं हो, तो दिलमें आग लगेगी कि नहीं? और कृष्णका गान करो, उनके शुभ कर्मोंका गान करो—तो वासना मिटेगी। शुभ कर्मका और कोई मतलब नहीं। जिस कर्मसे अपने चित्तकी वासना मिटे—सो शुभ, और जिस कर्मसे अपने चित्तकी वासना बढ़े—सो अशुभ। हमको यह भी चाहिए, वह भी चाहिए; हमारे

घरमें यह नहीं, वह नहीं—जिस कामसे अपने घरमें अभाव मालूम पड़े, हीनताका भाव आवे, और वासना बढ़े—वह अशुभ है। जब यह मालूम पड़े—कि इस चीजके बिना हम नहीं रह सकते—तो समझ लो, हमने अपना सत्यानाश कर लिया। हमारे पास अशुभ आगया।

श्रीकृष्ण और बलरामजीके शुभ कर्मका गान करनेसे संसारकी वासना मिटती है, अन्तःकरण शुद्ध होता है और उसमें भगवान्‌की लीला प्रकट होती है। इसलिए वह शुभ है। अब इसको दूसरी तरहसे देखो; सचमुच गोपियोंके लिए शुभ और अशुभ—दोनों तरहसे भगवान्‌का काम है। वह क्या? भगवान् छोड़कर चले गये—यह क्या उन्होंने कोई अच्छा काम किया? कोई गोपी नहीं कह सकती, कि छोड़कर चले गये तो बड़ा अच्छा काम किया। यह भगवान्‌का अशुभ काम है। तब? गोपियाँ गान तो करती हैं, लेकिन यह गान करती हैं—कि हमारे घरमें माखन-चोरीके लिए कैसे आते थे! हमारा चीर-हरण कैसे किया! हमारे साथ रास-लीला कैसे की। **शुभानि कर्माणि गायन्तीति**—का अर्थ है कि हमको छोड़ गये—यह नहीं गाती हैं; गाती हैं तो यही गाती हैं कि हमसे कितना प्रेम करते थे। इसलिए 'शुभानि' विशेषण लगा है।

अब इसमें तीसरी बात देखो! कई गोपियाँ कुमारी हैं, कई विवाहिता हैं, कई घरवाली हैं। वे केवल कृष्ण-कृष्ण-कृष्णका गान करें, तो उनके घरमें जो देवर हैं, जेठ हैं, सास-ससुर हैं, माँ-बाप हैं—उनको कैसा लगेगा? उनके सामने वैसी बात नहीं कर सकतीं, जैसी श्रीकृष्णके रहनेपर करती थीं। तो **बलकृष्णयोः**—बलराम और कृष्ण—दोनोंका कीर्तन करती हैं। माने सामान्यरूपसे जैसे सारा व्रज उनके विरहमें दुःखी है, वैसे हम भी दुःखी हैं। इसलिए बलराम और कृष्ण-दोनोंका नाम लेनेसे कृष्णके प्रति जो विशेष प्रेम है, वह छिप जाता है। यह छिपानेका ढंग है। इसलिए गोपियाँ बलराम और कृष्ण—दोनोंके शुभ कर्मोंका गान कर रही हैं।

अच्छा भाई! कहो, उनकी वेषभूषा कैसी है? **स्वलंकृताभिः**—एक तो कृष्ण भगवान्‌ने उनका रूप प्रकट कर दिया, दूसरे उनको ख्याल है कि कहीं आज ही कृष्ण आगये तो? आयेंगे, और देखेंगे कि गोपीने तो बाल नहीं सँवारा है, कि कपड़े इसके मैले हो गये हैं, और इसने शरीरमें अंगराग नहीं लगाया है। श्रीमद्‌भागवतमें वर्णन है—कि गोपियाँ पहले शरीरको रँगती थीं। उनके कपोलोंपर रंग होता था, होठोंपर रंग होता था। केसरका रंग शरीरमें और जगहोंपर भी होता था। वे आभूषण धारण करती थीं, बालोंमें फूल लगाती थीं। बादमें जब गुण्डे-बदमाश बहुत बढ़

गये, तो खुले शृंगारका निषेध हो गया। इतना शृंगार करके नहीं निकलना चाहिए। यह पीछेकी बात है; पहले सब प्रेममें मग्न थीं। उनका शृंगार भी वैसा ही था; पुष्प-माला भी थी, वस्त्र भी था, आभूषण भी था और अंगराग भी था। **लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने**—रासलीलाके प्रसंगमें आया है—कोई गोपी शरीरमें लेप कर रही है और कोई मार्जन कर रही है। बोले—भाई! ये गोपियाँ क्या भगवान्‌की भक्त हैं? ये तो अपना शरीर सँवारनेमें ही लगी रहती हैं। इसका उत्तर स्वयं भगवान् कृष्णने दिया है—

निजाङ्गमपि गोप्योः ममेति तनूपासते।

गोपियाँ अपने शरीर कृष्णका शरीर समझती हैं। हमारे सँवरे-सुधरे बाल, हमारा सुन्दर चेहरा, हमारे सुन्दर वस्त्राभूषण देखकर, कृष्ण प्रसन्न होंगे—इसलिए गोपियाँ रोज-रोज शृंगार करती हैं। गोप भी अपनेको सजाकर रहते हैं—**सुविराजितम्**। जैसे प्रतिदिन सायंकाल श्रीकृष्णके शुभागमनके समय व्रज रहता था, वैसे ही उस दिन भी था—कि उद्धवजी देख लें कि व्रजवासी कितने प्रेमसे श्रीकृष्णजीका स्वागत—सत्कार करते हैं।

अब बोले—अरे! यह सब तो ठीक है। खाना-पीना भी ठीक, बाजा-गाजा भी ठीक, संगीत-वाद्य भी है, वस्त्राभूषण भी है, गोधन भी है, सम्पत्ति भी है; सब कुछ है। पर व्रजमें धर्म है कि नहीं? ज्ञान है कि नहीं? वैराग्य है कि नहीं? असली आभूषण तो यही है! भक्तोंके दृष्टिकोणमें, और वेदान्तियोंके दृष्टिकोणमें थोड़ा फर्क होता है। भक्ति भावकी प्रधानतासे होती है और तत्त्वज्ञान विवेककी प्रधानतासे होता है। भक्तोंका यह सिद्धान्त है—कि जो ज्ञान प्रवृत्तिका साधन होवे, माने ईश्वरकी सेवाके लिए, अपने प्रियतमको सुख पहुँचानेके लिए सहायक हो—वह ज्ञान तो रखना है। जो ज्ञान अपने प्रियतमकी सेवामें, उसकी प्राप्तिमें मददगार न होवे—वह ज्ञान तो भार है। व्रजवासियोंका ज्ञान कैसा है? सब कुछ श्रीकृष्णके लिए है। श्रीमद्‌भागवतमें आगे चलकर यह प्रसंग आया है कि व्रजवासी जप, तप, होम, व्रत, स्वाध्याय, संयम आदि—सब कुछ करते हैं, पर किसलिए?

माँगों तुलसिदास कर जोरे।
बसहु राम सिय मानस मोरे।
गाइए गणपति जगवन्दन॥

पूजा कीजिये गणपतिकी और कहिये—हे गण्पतिजी! कृपा करके हमारे हृदयमें सीतारामको बिठा दो!

व्रजवासियोंका ज्ञान धर्मका भी है, वैराग्यका भी है, तत्त्वका भी है, लेकिन किस लिए है? श्रीकृष्णकी सेवाके लिए है, श्रीकृष्णसे प्रेम करनेके लिए है। **प्रवृत्ति-स्वभाव-ज्ञानमुपयोगी**—श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं—कि संसारका ऐसा ज्ञान चाहिए, जो अपने प्रियतमकी सेवामें प्रवृत्त करे।

व्रजभूमिमें धर्म खूब है। उसीसे वहाँ मंगल है। रोज होम होता है। लोग सन्ध्यावन्दन करते हैं, यज्ञ-होम करते हैं और प्रार्थना करते हैं—कि हमारा कृष्ण जहाँ रहे, सुखी रहे—*तुम नीके रहो, उनहीं के रहो।* तुम भले ही हमारे बीचमें मत रहो, भले ही हमारे मत रहो—उनके रहो, लेकिन स्वस्थ रहो; सुखी रहो। तुम मथुरावालोंके होकर रहो, कुब्जाके होकर रहो, देवकीके बेटे बनो, वसुदेवके बेटे बनो—परन्तु नीके रहो, सुखी रहो, स्वस्थ रहो! प्रसन्न रहो। व्रजमें वैदिक, स्मार्त और तान्त्रिक—तीनों प्रकारके धर्मका अनुष्ठान होता है। व्रजवासी आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक—तीनों प्रकारकी पूजा करते हैं।

अग्न्यर्कातिथिगोविप्रपितृदेवार्चनान्वितैः ।
धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम्॥ १२॥

व्रज कैसा है? कहीं अग्निकी पूजा हो रही है, किसीके घरमें अग्निहोत्र हो रहा है। कहीं सूर्यकी पूजा हो रही है—सायंकालीन अर्घ्य दिया जा रहा है। किसीके घरमें अतिथि आया हुआ है, तो उसकी षोडषोपचार पूजा हो रही है—माने अतिथि नहीं आया, भगवान् आगये—*आजु हमारे भाग जागे, संत आये पाहुना।* कहीं गायकी पूजा हो रही है, कहीं ब्राह्मणोंकी पूजा हो रही है। ये सब श्रौत हैं। यहाँ अग्निकी पूजा, सूर्यकी पूजा, ब्राह्मणकी पूजा, गायकी पूजा, सब प्रत्यक्ष रूपसे पूजा करनेके लिए मिलते हैं। सबकी मूर्तियाँ हैं, सब आधिभौतिक रूपसे प्राप्त हैं पूजाके लिए। वेदोंमें भी इनकी पूजाका वर्णन है। और **पितृ देवार्चनान्वितैः**—पितर और देवता आधिदैविक हैं। ये प्रत्यक्ष रूपसे पूजा करनेको नहीं मिलते हैं, लेकिन इनकी पूजा कीजाती है। यह स्मार्त हो गया। और तान्त्रिक—**धूपदीपैश्च माल्यैश्च**—कहीं धूप दिया जा रहा है, कहीं दीपक दिखाया जा रहा है, कहीं माला चढ़ायी जा रही है। यह तान्त्रिक है, माने क्रियात्मक है। वस्तुका एक खास ढंगसे—अपने कल्याणके लिए प्रयोग किया जा रहा है। तो धूप, दीप, माला आदि से **गोपावासैर्मनोरमम्**। इस तरहका गोपोंका आवास है।

गोप जो हैं—वे भागवतकी दृष्टिसे वैश्य जातिके अन्तर्गत हैं। जिनको 'ग्वाले' कहते हैं न—ये दो तरहके होते हैं; एक तो शूद्र जातिके होते हैं और दूसरे वैश्य

जातिके अन्तर्गत होते हैं। जिसको 'आभीर' बोलते हैं, वे शूद्र जातिके अन्तर्गत हैं, और ये 'गोप' जो हैं, वे वैश्य जातिके अन्तर्गत हैं। भागवतमें कई जगह इसकी चर्चा है। एक जगह तो नन्दबाबाने गर्गाचार्यसे कहा, कि **कुरुद्विजातिसंस्कारं स्वस्ति-वाचनपूर्वकम्**—आप स्वस्तिवाचन-पूर्वक हमारे बालकका द्विजाति—संस्कार कीजिये और दूसरी जगह श्रीकृष्णने कहा—कि चार प्रकारका व्यापार होता है और उसमें गोरक्षा हमारा प्रधान कर्म है। इसका अर्थ हुआ कि वे वैश्य वर्णके हैं।

यह गोपोंका आवास है—बड़ा ही मनोरम है। मनोरमका अर्थ यही है कि अगर कोई बाहर वाला आदमी भी देखे तो उसे यही प्रतीत हो कि यह प्रेम की भूमि है। उसका मन रम जाय। संसारमें किसीसे भी प्रेम करो, तो कभी मर जाये, कभी बिछुड़ जाये, कभी बेवफा हो जाये, कभी मिले, कभी न मिले, दुःख दिये बिना नहीं रह सकता। व्यवहार संसारका सब करो—पुत्रसे पुत्रकी तरह, पतिसे पतिकी तरह, पितासे पिताकी तरह, लेकिन अपने दिलकी जो प्रीति है, वह भगवान्‌से जोड़कर रखो—फिर कभी दुःख नहीं होगा।

यह व्रजभूमि बहुत मनोरम है-**मनो याति तदात्मकम्**। मन इसमें रम जाता है।

सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम्।
हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मषण्डैश्च मण्डितम्॥ १३॥

अब कहते हैं—भाई, किसीका घरमें मन न लगे, तो? अब वैराग्यका वर्णन करते हैं। पहले धर्मका वर्णन हुआ—कि घरमें रहकर धर्म करो। गोपोंके निवासस्थान बड़े सुन्दर हैं। इनके घरमें बैठ जाओ, देखो—कितना बढ़िया धर्म हो रहा है। अग्नि-पूजा, सूर्य-पूजा, अतिथि-पूजा, ब्राह्मण-पूजा, देव-पूजा—बड़ा आनन्द है। बोले—बाबा, हम तो बड़े विरक्त हैं। घरमें रहकर कोई पूजा देखनेमें कोई आनन्द नहीं है। जरा घरसे बाहर निकलो और देखो—व्रजमें क्या है!

सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम्—पुष्पोंसे युक्त बड़े ही सुन्दर-सुन्दर वृक्ष हैं। ये वृक्ष जो व्रजमें हैं—ये महात्मा लोग हैं। हम लोगोंने यह अनुभव किया है कि व्रजके वृक्ष सामान्य वृक्ष नहीं हैं। बड़े-बड़े महात्माओंने यह संकल्प किया कि हम व्रजमें वृक्ष बनें—

आसामहो चरणरेणु जुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।

स्वयं उद्धवजीने कहा—कि मैं वृन्दावनकी झाड़ी बनूँ, लता बनूँ, औषधि बनूँ।

कदम कुंज ह्वै हौं कबहूँ या वृन्दावन माहिं।
ललित किशोरी लाड़िले विहरहिंगे तेहि छाँहि॥

हम बनेंगे कदम्बका वृक्ष और हमारे नीचे राधिका-कृष्ण युगलसरकार विहार करेंगे। वह सौभाग्यका दिन कब होगा? महात्मा लोग वृक्ष बनते हैं। उनके मधुर भाव हैं, कि कृष्ण हमारे प्यारे प्रियतम हैं, हमारे मित्र हैं, हमारे पुत्र हैं, हमारे स्वामी हैं, आत्मा हैं—ये इन वृक्षोंके फूल हैं, कोई पीला है, कोई लाल है, कोई हरा है, कोई नीला है। यह सब भाव हैं।

'वन' शब्दका अर्थ संस्कृतमें 'जल' भी होता है और 'जंगल' भी होता है। वन उसको कहते हैं, जहाँ भजन किया जा सके—**वन संभक्तौ**। जहाँ सम्यक् प्रकारसे भक्ति की जा सके, भजनके उस स्थानको वन बोलते हैं। जहाँ-तहाँ बेला, चमेली, चम्पा, गुलाब तरह-तरहके फूल खिले हुए हैं, वहाँ बड़े-बड़े महात्मा लोग आकर शब्द करते हैं—**द्विजालिकुलनादितम्**—द्विज माने चिड़िया और अलि माने भौंरा; और द्विजालि=युग पंक्ति माने महात्मा लोग। अब एक-एक बातका वर्णन देखो—**नृत्य मयूरादितम्**—मोर नाच रहे हैं। कोयल कुहू-कुहू बोल रही है। हम यहाँ बम्बईमें जहाँ रहते हैं न; वहाँ सबेरे चार बजेसे कोयल जो बोलना शुरू करती है; उसको तो जैसे चुप रहना आता ही नहीं है। बस, बोलना ही आता है। हमारे एक मित्र आये वृन्दावनसे और बोले—कि भक्त कोकिलजी आपके मित्र थे न; वही अब यहाँ आकर बस गये हैं और वही बोलते हैं। सबेरे बोलें, शामको बोलें; कोई समय नहीं छोड़ें! बस कुहू-कुहू-कुहू!

तो भगवान्ने बताया कि व्रजमें ये द्विज कौन हैं—

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन् कृष्णेक्षितं तदुदित कलवेणुगीतम्।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान् शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः॥

भा. १०.२१.१४

श्रीमद्भागवतमें बताया कि व्रजमें बड़े-बड़े ऋषि मुनि, भगवान्के भक्त हैं। कोई चिड़िया बनकर, कोई भौंरा बनकर भगवान्की सेवा करते हैं। जब व्रजभूमिमें रासलीला हो रही थी, बड़ा आनन्द था। कहते हैं, कि एक-एक गोपी, एक-एक कृष्ण थे—**अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधव**। जितनी गोपियाँ थीं, उतने कृष्ण थे। ता-ता-थेई नृत्य हो रहा था। तब नाचते-नाचते, गाते-गाते सब थक गये। अब न कृष्ण गावें, न गोपी नाचें और बाजे भी बन्द हो गये—

वलयानाम् नूपुरः नूपुराणां च किंकणी च योषिताम्।

केवल हाथके कंगन बज रहे हैं, पाँवके नूपुर बज रहे हैं। कमरमें किंकिणी बज रहे हैं और गोपी-कृष्ण नाच रहे हैं। गानेवाला कोई नहीं। उस समय **भ्रमरगायकाः रासगोष्ठ्यां**—भँवरोंने गाना प्रारम्भ कर दिया। ये कोई साधारण भ्रमर हैं? नहीं, भगवान्‌के प्रेमी हैं। व्रजमें जहाँ देखो—भँवरे गुंजार कर रहे हैं। कोकिल आदि पक्षी कलरव कर रहे हैं। **हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मषण्डैश्च मण्डितम्** हंस, कारण्डव आदि पक्षी पुलकित हैं।

हंसोंके कई प्रकार होते हैं—हंस, राजहंस और कमलोंके गुट-के-गुट हैं। दोनों तरहके कमल हैं—स्थलकमल और जलकमल। बड़ी शोभा हो रही है व्रजकी।

अब नन्दबाबाने देखा कि उद्धवजी आगये—

तमागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम्।
नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्चयत्॥ १४॥

यहाँ शब्दों पर ध्यान दो। पहली बात है कृष्णस्य, कृष्णके। दूसरी बात है अनुचरं माने पीछे चलनेवाला, माने कृष्णके अनुयायी हैं। कृष्णकी बुद्धि, कृष्णके भाव, कृष्णकी रुचि, कृष्णकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाले हैं। उनके हृदयमें कृष्णकी बुद्धि, कृष्णके भाव, कृष्णकी रुचि, कृष्णकी आज्ञाके विपरीत कभी कोई भाव ही नहीं आया। फिर 'प्रियम्'—प्यारे हैं। नन्दबाबाने देखा कि आगया उद्धव। झट उठकर खड़े होगये। उद्धव छोटे हैं—तो क्या हुआ!

नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्चयत्। नन्दबाबाका रोम-रोम प्रीतिसे भर गया। उन्होंने दोनों हाथोंसे पकड़कर उद्धवजीको हृदयसे लगा लिया, उसे परिष्वज्य—आलिङ्गन किया। आलिंगन माने क्या? दिलोंका बहुत निकट आना। हृदयसे लगाते हैं न! उससे दिलकी धड़कनें बहुत पास-पास हो जाती हैं। हृदयका सामीप्य ही आलिंगन है! भाई, तुम भी कृष्णके प्रेमी, हम भी कृष्णके प्रेमी। दोनोंके हृदयमें एक ही वस्तु फुरफुरा रही है। **वासुदेवधियार्चयत्**—साक्षात् भगवान् हमारे घर आगये—ऐसा नन्द बाबाने सोचा। भक्त तो भगवान् होते ही हैं, परन्तु जिस भक्तके हृदयमें प्रत्यक्ष रूपसे भगवान् विराजमान हों, वह तो साक्षात् भगवान् है। साधारण अतिथिका आदर भी सद्बुद्धिसे करना चाहिए; यह तो साक्षात् भगवान्‌का भेजा हुआ है।

अब नन्दबाबाने उद्धवजीकी कैसी पूजा की यह प्रसंग आगे कहेंगे।

❋

दसवाँ प्रवचन

उद्धवजी महाराज व्रजमें प्रविष्ट हुए। यहाँ व्रजका जो वर्णन है, वह कई दृष्टियोंसे किया गया है—शृंगार रसकी दृष्टिसे, वत्सल रसकी दृष्टिसे और सख्य रसकी दृष्टिसे। गोपियाँ जैसे अपना समय व्यतीत करती हैं और विरहमें भी वे रसमें डूबी रहती हैं—यह उनकी विशिष्टता है। जीवनकी एक शैली है कि प्रवृत्तिमें मनुष्य रहे, पर निवृत्तिका रस ले। बाहरसे प्रवृत्तिमें रहे और भीतरसे निवृत्तिका आनन्द आवे और बाहरसे निवृत्तिमें रहे और भीतरकी जो प्रवृत्ति है न—भगवत्प्रवृत्ति, भागवत-प्रवृत्ति-उसका आनन्द आवे। बाहरसे जंगलमें हैं और भीतरसे महलमें हैं तथा बाहरसे महलमें हैं और भीतरसे जंगलमें। अगर मनुष्य वासनाकी निवृत्तिमें रस लेना सीख ले, जिस समय वासना पूरी न हो रही हो, उस समय भी रसास्वादन कर सके—तो मनुष्य अपने जीवनमें कभी दुःखी नहीं होता है।

गोपियाँ बाहरसे कृष्णके साथ नहीं हैं, लेकिन उनका मन कृष्णमें है। वे वियोगमें भी संयोगका रस ले रही हैं। इसीलिए **गायन्तीभिश्च** कहा। व्रजमें वैदिक धर्म, पौराणिक धर्म और तान्त्रिक धर्म तीनोंका यथास्थान अनुष्ठान हो रहा है—यह वर्णन किया। अग्निकी पूजा, सूर्यकी पूजा, अतिथिकी पूजा, गाय-ब्राह्मण आदिकी पूजा यह वैदिक धर्म है। पितरोंकी पूजा, देवताओंकी पूजा पौराणिक धर्म है और धूप-दीप-माल्य आदि वस्तुओंका प्रयोग करना; कौन-सी क्रिया कैसेकी जावे, कौन-सी मुद्रा कैसे बिठावें—इनको तान्त्रिक बोलते हैं। उसके बाद भक्तिका रस बताया कि बिना भक्तिके रसके वैराग्य नहीं होता।

अब विवेककी बात देखो। व्रजमें हंस कारण्डव हैं। हंसोंकी एक अवान्तर जातिका नाम कारण्डव है। ये विवेकके पक्षी हैं, दूध और पानीको अलग-अलग करने वाले हैं। हंसका दर्शन करो, तो मनमें विवेकका उदय होता है। हंस, परमहंस—ये भगवत्तत्त्वका अनुभव करते हैं। हंस एक तो श्वेत पक्षी है—तो सात्त्विक है और नीर-क्षीरका विवेकी है, इसलिए बुद्धि भी उसकी बड़ी बढ़िया

है। वह कमलका रस पीता है—इसलिए रसास्वादी है। वह मांसभोजी पक्षियोंके समान नहीं है। मोती चुगता है, कमलका रस पीता है, विवेक करता है, शुद्ध सात्त्विक है। उसकी बोलीमें भी कठोरता नहीं है; बड़ा मधुर बोलता है। ऐसे हंस कारण्डवोंसे वृन्दावन भरा हुआ है।

अब योगकी बात करो। **पद्मषण्डैश्च मण्डितम्**—जगह-जगह कमल खिले हुए हैं। कोई दो दलका है, कोई चार दल का है, कोई आठ दल का है, कोई बारह दलका है, कोई छह दलका है, कोई सहस्र दलका है—सहस्रारमें जैसे है। जैसे योगाभ्यासकी दशामें लोगोंको भिन्न-भिन्न प्रकारके कमलोंका अनुभव होता है, वैसे व्रजमें भिन्न-भिन्न प्रकारके कमल खिले हुए हैं। ये सब व्रजके स्वरूप हैं? ये सब व्रजके शृंगार हैं। 'मण्डितम्' माने शृंगार हैं। शृंगार स्वरूपमें नहीं होता, वह तो बाहरसे आता है। योग, विवेक, वैराग्य, उपासना—ये सब व्रजके आभूषण हैं, व्रजके स्वरूप नहीं हैं। व्रजका स्वरूप तो केवल प्रेम है। भक्तिशास्त्रमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी इनकी व्याख्या मिलती है। कोई कहते हैं—कि ज्ञान और वैराग्य ये भक्तिके आभूषण हैं। इनको पहनो-तो-पहनो, और न पहनो, तो न पहनो। ये आगन्तुक हैं। कोई कहते हैं—ये भक्तिके पुत्र हैं। भक्ति और भगवान्‌का जहाँ सम्बन्ध हो गया, वहाँ पुत्रके रूपमें ज्ञान-वैराग्य होते हैं। पुत्र होना—माने फल होना। कोई कहते हैं—ज्ञान वैराग्य भक्तिके दो नेत्र हैं, अंग हैं। बिना ज्ञान-वैराग्यके भक्ति अन्धी है—यह वेदान्तियोंका सिद्धान्त है। बिना ज्ञान-वैराग्यके भक्तिकी शोभा नहीं होती, वह निष्फल है—यह भी ज्ञानमिश्रा भक्तिवालोंका सिद्धान्त है। भक्तिके जो मार्मिक सिद्धान्तवादी हैं, वे कहते हैं-कि ज्ञान-वैराग्य होवे या न होवे—**न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भक्त्ययाः**। भक्ति स्वयं रसरूपा है। उसकी यह विशेषता है कि जो भक्ति करेगा, उसका कल्याण हो जायेगा।

इस तरह व्रजमें योग भी है, विवेक भी है। भावोंके फूल भी खिले हैं। तन्त्र भी है, वेद भी है, पुराण भी है। ये सब व्रजकी सेवा कर रहे हैं—यह बात उद्धवजी ने देखी। पहले आपको सुना चुके हैं—उद्धवजी तो उत्सव-स्वरूप हैं। जहाँ जाते हैं, वहाँ आनन्द-ही-आनन्द हो जाता है। असलमें भक्त है ही वही, जो अपने हृदयमें आनन्दको लिए-लिए फिरता है। यहाँ कुछ लोग ऐसे बैठे हैं, जिनको मैं जानता हूँ। उनको मैंने बहुत दुःखी भी देखा है, रोते भी देखा है; ऐसे भी देखा है—जैसे उनको कुछ सूझता ही नहीं हो। अब देखते हैं, तो ऐसे खिलते रहते हैं, जैसे

फूल खिल गया हो। उनकी खुशी देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। यह भक्तिका प्रभाव है। भक्ति संसारका दु:ख मिटाने वाली है और परमानन्द देनेवाली है। भक्त जहाँ-जहाँ जाता है—अपने हृदयमें भगवान्‌को लेकर जाता है। तुम देखो—कि तुम्हारे लिए कोई रो रहा है परदेशमें, तो तुम्हारी आँखोंमें आँसू आने लगेंगे, चेहरा मुरझा जायेगा। तुम यह देखो कि तुम्हारे हृदयमें नन्द-नन्दन, श्यामसुन्दर मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए, बाँसुरी बजाते हुए, पीताम्बर फहराते हुए, ठुमुक-ठुमुक कर नृत्य कर रहे हैं—अब तुरन्त फर्क पड़ जायेगा तुम्हारे हृदयमें। अगर तुम्हारे दिलमें कोई मुस्कुरा रहा है, तो तुम उदास कैसे रह सकते हो? दु:खी कैसे रह सकते हो? मन ही तो कृष्ण होकर मुस्कुरा रहा है। जब मन कृष्णकी आकृति धारण करके मुस्कुराने लग गया—तो दु:ख कैसा? दु:ख उसी समय तक है, जिस समय तक भगवान् भूले हुए हैं। और जहाँ भगवान् याद आये—वहाँ सारा दु:ख गया और आनन्द-ही-आनन्द आ गया। इसलिए यह भक्ति जो है—यह आनन्द प्रधान सिद्धान्त है। धर्म आदर्श प्रधान सिद्धान्त है; ज्ञान यथार्थ-प्रधान सिद्धान्त है। भक्ति नकद माल है। इसमें उधार नहीं चलता कि यहाँ धर्म करो और परलोकमें जाकर हँसो; वहाँ अप्सरा मिलेगी। यहाँ तो यहीं भगवान्‌को अपने हृदयमें बसाओ और खुश हो जाओ।

अब उद्धवजीको देखकर नन्दबाबा अपने आसनसे उठ गये। वैसे नन्दबाबा बड़े थे और उद्धवजीके चाचा लगते थे। नवम स्कन्धमें यदुवंशकी वंशावली है। चाहिए तो यह था कि नन्दबाबा बैठे रहते और उद्धवजी आकर प्रणाम करते। पर महाराज! यह प्रेम है न! यह समाधि भी नहीं लगने देता, बैठने तो क्या देगा! योगाभ्याससे समाधि लगती है और प्रेम शान्तिसे नहीं बैठने देता। ले जाकर खिड़कीमें लगा देता है, रास्तेमें ले जाता है, दरवाजेमें ले जाकर खड़ा कर देता है—देखा होगा आपने। नन्दबाबा उठ गये और आगे बढ़कर समागम्य—मिल गये। जब दोनों ओर आनन्द हो, तो मिले बिना कैसे रहेंगे? उधर उद्धवजीके हृदयमें आनन्दकी हूक उठ रही है, आनन्दका ज्वार आरहा है—कि मैंने कृष्णका काम किया और उधर नन्दबाबाके हृदयमें आनन्द तरंगायित हो रहा है—कि कृष्णका सखा हमारे घरमें आगया। **कृष्णस्यानुचरं**—यह कृष्णका अनुचर है; आगे-आगे कृष्ण, पीछे-पीछे उद्धव और प्रियं—अपना भी प्यारा है और कृष्णका भी प्यारा है। प्रेमकी रीति यही है। जो अपने प्यारेका प्यारा होता है, वही प्यारा होता है। अगर तुम्हें दूसरा प्यारा लगने लगे—तो

समझो कि तुम्हारा मन बाहर फँस गया। अत: प्यारेके नातेसे जो प्यारा है, समझो, वही सच्चा प्यारा है।

नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं।
तुलसी सो सब भाँति परमहित पूज्य प्रान तें प्यारो।
जाते होइ सनेह रामपद एतो मतो हमारो॥

× × ×

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
तज्यौ पिता प्रह्लाद विभीषण बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कत व्रज बनितनि भये मुद मंगलकारी॥

नाते नेह रामके मनियत—भगवान्‌का रिश्ता ही अपना रिश्ता है। जो भगवान्‌का सम्बन्धी है—वह हमारा सम्बन्धी है। भगवान्‌के भक्त ही हमारे सगे हैं, सम्बन्धी हैं। उनका आना ही हमारे आनन्दका, मंगलका हेतु है।

नन्दजी यह देखकर प्रसन्न हो गये कि उद्धव तृप्ति देने आरहे हैं। श्रीकृष्णका स्मरण उद्दीप्त करते हुए उद्धव पाँव रख रहे हैं। हमारे लालाको हृदयमें लेकर वे आरहे हैं। इनके रोम-रोममें हमारा लाला बसा है; अत: आनन्दसे भरकर नन्दजीने उद्धवजीको हृदयसे लगा लिया। नन्दबाबाका भाव था—कि हमारे हृदयमें भी वही, तुम्हारे हृदयमें भी वही। तो आओ, दोनों एक हो जायँ; हृदय-से-हृदय एक हो जाय।

अब इसके बाद **वासुदेवधिया अर्चयत्**। केवल व्यवहार ही नन्दबाबाका ऐसा नहीं है; उनकी बुद्धि भी वैसी है। अगर बुद्धि अलग हो और काम अलग हो, तब उसमें मजा नहीं रहता है। बुद्धि और आनन्दको जब अलग कर दोगे, तो आनन्द टिकाऊ नहीं होगा, और बुद्धि और आनन्द जब मिले रहेंगे, तब तुम्हारा आनन्द भी टिकाऊ होगा और बुद्धि भी टिकाऊ होगी। इसका मतलब है—जो काम बुद्धिके विपरीत है और तुम्हारी बुद्धि कहती है कि यह ठीक नहीं है—और उसमें तुम आनन्द लेते रहोगे, तो थोड़े दिनोंके बाद आनन्द और बुद्धिमें वैमनस्य हो जायेगा। आनन्द न आये और बुद्धिको लगाये रखो, तो भी बुद्धि ज्यादा दिन नहीं लगेगी। इसलिए बुद्धिसे होना चाहिए उचित, और उसमें आना चाहिए आनन्द। अनुचितमें जो आनन्द आता है, वह टिकाऊ नहीं होता है। नन्दबाबाकी बुद्धि भी

ठीक है और व्यवहार ठीक है। वे उद्धवजीसे मिल रहे हैं और उनकी बुद्धि कहती है—कि बस, ये कृष्ण ही हैं। **अर्चयत्** का अर्थ है—कि पूजा की।

जो बड़े होते हैं, वे दूसरोंकी पूजा नहीं करते हैं। उनके बड़प्पनको तो हाथ जोड़ लेना चाहिए। ऐसा बड़प्पन भक्तके जीवनमें कभी नहीं आना चाहिए, जो दूसरेकी पूजामें बाधक हो—हम तो इतने बड़े हो गये, दूसरेको हाथ कैसे जोड़ें? सिर कैसे झुकायें? उसको चन्दन कैसे लगावें? ईश्वर करे कि ऐसा बड़प्पन कभी किसीके पास न आवे। अरे, यह देह तो देह है! चाहे इसपर फूल चढ़ाओ, माला चढ़ाओ, जैसा चाहे ऊँचा बिठाओ—देह देह ही रहेगा। यह बदलनेवाला नहीं है।

नन्दबाबाने उद्धवको पहले अर्घ्य दिया; उद्धवजीका हाथ धुलाया, पाँव धुलाया, मुँह धुलाया। जब अपने घरमें कोई अतिथि दूरसे रास्ता चलकर आया, तो हाथमें, पाँवमें न जाने क्या-क्या लग गया! मुँह सूख गया है। इसलिए उसका हाथ-पाँव धुलाना, मुँह धुलाना अपना कर्तव्य है। यही पूजा है। यदि स्नानकी आवश्यकता हो तो स्नान करावे। ठाकुरजीको—उनकी दिव्यताको अपनी दृष्टिसे देख लो। इतनेमें ही उनका स्नान हो जाता है। उनके कपड़े उतारकर, नंगे करके नहलानेकी जरूरत नहीं पड़ती। मानस-पूजामें स्नानकी आवश्यकता नहीं होती। कैसी चमाचम हुई देह है और कैसा शुद्ध वस्त्र धारण किये हुए हैं! अब वहाँ स्नानकी जरूरत नहीं। चन्दन लगा दिया, माला पहना दी, धूप-दीप जला दिये, तो चन्दन लगाना, माला पहनाना अपना सत्कार है। और जहाँ आदमीको रखोगे, वहाँ सुगन्ध चाहिए न—वह धूप है। वहाँ दीपक जलाना—प्रकाश जरूर रखना चाहिए। और भोजन कराना—ये सब अर्चयत्—माने अर्चाकी पद्धति है और पूजाकी इस पद्धतिसे मनुष्यका हृदय शुद्ध होता है। इसमें संकोच नहीं करना चाहिए। यह करनेवालेके लाभके लिए होता है, जिसका किया जाता है—उसके लाभके लिए नहीं होता। यह जो सेवा है, श्रद्धा है—यह जिसके हृदयमें रहती है, उसका कल्याण होता है; जिसके प्रति की जाती है—उसका कल्याण नहीं होता। इसलिए यह देखते रहना—कि अपने हृदयमें श्रद्धा है कि नहीं, सेवा है—कि नहीं। अभिमानकी दवा सृष्टिमें सिवा सेवा और श्रद्धाके दूसरी कोई है नहीं। अभिमानकी निवृत्तिके लिए रामबाण औषध है श्रद्धा और सेवा।

काम-क्रोध आदिकी निवृत्तिके लिए शम, इन्द्रियोंको रोकनेके लिए दम, कर्म-प्रवृत्तिको सीमित करनेके लिए उपरामता, दुःख सहनेके लिए तितिक्षा,

अभिमान मिटानेके लिए श्रद्धा और मनोराज्य मिटानेके लिए समाधान—इसको बोलते हैं षट्सम्पत्ति। छह दुश्मनोंके निवारणके लिए ये छह कारण हैं। यही मनुष्यका कल्याण करनेवाले हैं। अतिथि-पूजा, गौ-पूजा करनेवालोंके विषयमें यह नहीं समझना, कि गाय की पूजा करनेवाला पशु हो जायेगा। ऐसा कभी नहीं समझना। हमारे एक मित्र थे, वे पूजाके बड़े विरोधी थे। वे कहते थे कि पत्थरकी पूजा करनेवाला पत्थर हो जायेगा। नहीं, पत्थरकी पूजा करते समय उनकी बुद्धि जैसी होगी—अगर उसकी बुद्धिमें भगवान् आवेंगे—तो वह भगवदाकार हो जायेगा। यही पूजाका तत्त्व है। इसलिए **वासुदेवधियार्चयत्**—वासुदेवको अपनी बुद्धिमें धारण करके—हमारे घरमें ये साक्षात् वासुदेव आये हैं—नन्दबाबाने उद्धवजीकी पूजा की।

भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम्।
गतश्रमं पर्यपृच्छत् पादसंवाहनादिभिः॥ १५॥

कई लोग अतिथिके लिए चन्दन, मालापर तो बहुत खर्च करते हैं; आरती भी उतारते हैं और उनसे कहो—कि भाई! तीन-चार घंटेसे चले हैं, प्यास लगी है—पहले पानी पिला दो, कुछ खिला दो—तो बोलोंगे—नहीं महाराज, हम तो पहले पूजा ही करेंगे। तो यह सूखी पूजा है। पूजामें विवेक चाहिए। यह नहीं—कि चन्दन, माला तो बहुत लाये और भोजनके नामपर ठन-ठनपाल! कि नहीं, ठन-ठनपाल नहीं, **भाजितं परमान्नेन**—श्रेष्ठ अन्नसे नन्दबाबाने उद्धवको भोजन कराया। यह भी मैत्रीका—प्रेमका लक्षण है। देना-लेना, खाना-खिलाना, पूछना-बताना—ये छह बातें प्रेममें होती ही हैं। यह तो मन ही नहीं मानता है न! क्या किया जाय! **ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति-भोज्ये षड्विधि प्रीतिलक्षणम्**—देना-लेना, पूछना-बताना और खाना-खिलाना—प्रीतिके छह लक्षण हैं। उद्धवजीको खूब खिला-पिलाकर तृप्त किया।

संविष्टं कशिपौ सुखम्—बड़े सुन्दर पलंगपर सुख-पूर्वक बिठाया। पर्यंक माने पूरी तरहसे आदमी जिसकी गोदमें आजाय। अंक माने गोद, परि माने पूरी तरहसे। पूरी तरहसे जिसकी गोदमें आजाय, उसका नाम होता है पर्यंक और संस्कृतमें 'र' और 'ल'में भेद नहीं मानते हैं, इसलिए पर्यंकका हो गया पल्यंक और उसका हो गया पलंग। पल्यंक हो, तब भी चल सकता है=जिकसे अंग ढीले-ढाले हों। ढीले-ढालेका अर्थ है—जरा नरम हो; बैठनेपर झुक जाय और उठनेपर उठ जाय; स्प्रिंगवाला पलंग। **कशिपौ** माने बहुत बड़ी शैय्यापर, **सुखम्** माने

आरामसे, आनन्दसे सुलाया। यह नहीं—कि पलंगपर सोनेको कह दिया और खुद भी उसपर जाकर बैठ गये। अब वह आदमी हाथ-पाँव कैसे फैलायेगा? सुखम्का अर्थ है कि उनको एकान्त दिया।

गतश्रम पर्यपृच्छत् पादसंवाहनादिभिः—ऐसा वर्णन आता है—कि रथपर बैठे-बैठे उनके पैर दुःख गये थे। तो पाद-संवाहन—पंखा आदिके द्वारा उनका श्रम मिटाया, थकान दूर की। अब यह पाद-संवाहन किसके द्वारा हुआ—यह बात स्पष्ट नहीं है। कई लोग कहते हैं—सेवकोंके द्वारा हुआ। जैसे पहले गाँवमें नाई होते थे न—मालिश करनेवाले—उनको नन्दबाबाने बुला लिया, कि मालिश करो उद्धवकी। ऐसा नहीं, स्वयं उन्होंने पाँव दबाया। यह भी पहले एक विद्या थी। श्रीमद्भागवतमें एक-दो ज़गह ऐसा भी वर्णन आया है कि श्रीकृष्णने स्वयं अपने हाथसे अतिथिके पाँव दबाये थे। रुक्मिणीके यहाँसे जो ब्राह्मण संदेश लेकर आया था, वह जब रातमें सोया, तब भगवान्ने अपने हाथसे उसके पाँव दबाये। जब कृष्ण ब्राह्मणके पाँव दबाते थे, तो नन्दबाबाको भी पाँव दबाना जरूर आता होगा। और उन्हें श्रीकृष्णकी याद आगयी हो और नन्दबाबाने खुद प्रेमसे उद्धवका पाँव दबाया हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

अब दूसरी बात लो ध्यानमें। **पर्यपृच्छत**—माने पूछा। प्रश्न कब करना चाहिए? जिससे प्रश्न किया जाय, उसका मूड पहले ठीक रहे, तब प्रश्नका ठीक उत्तर मिलता है। उसकी सेवा करके, उसे प्रसन्न करके ही उसके दिलकी बात निकलवाओ। प्रश्न करके पूछनेका मतलब उसके दिलकी बात मुँहके रास्तेसे निकलवाना है। कोई-कोई तो ऐसा लट्ठामार प्रश्न पूछते हैं, ऐसे असमयमें प्रश्न पूछते हैं कि क्या कहें! सड़कपर चल रहे हैं, एक्सीडेंट होनेका डर लगा है कि आगेसे मोटर न आजाय और उन्होंने पूछा—कुछ तत्त्वका उपदेश कर दीजिये, महाराज! कुछ चेतावनीकी बात सुनाइये, कुछ वैराग्यकी बात बताइये। ऐसे कहीं तत्त्वकी बात सुनायी जाती है! राधेश्याम कहो! प्रणाम करते समय घुटनेपर ऐसा नाखून लगाते हैं, कि पाँच मिनटतक छनछनाता रहता है—जैसे काँटा ही लग गया! इसीसे बताया—**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया**। पहले प्रणिपात—सेवा, तब प्रश्न।

नन्दबाबाने उद्धवजीकी थकान जब मिटा ली, खिला-पिला लिया, आराम पहुँचा लिया और उद्धव शान्तिसे बैठे, तब नन्दबाबाने उनसे बातचीत प्रारम्भ की। बात करनेका समय होता है; जो उसे नहीं पहचानता, वह बात करनेमें फेल हो

जाता है। नींद आते समय किसीसे जब बात करोगे, तो वह आदमी यही सोचेगा—कि कैसे इसे टाल दें। भोजन करते समय कोई गम्भीर तत्त्वकी बात करोगे, तो भोजनका सारा मजा ही चला जायेगा। अरे भाई! बादमें पूछ लेना न! अपने-अपने समयपर जो बात होती है, वही ठीक होती है।

अब जब सब ओरसे उद्धवजी और नन्दबाबा—दोनों निश्चिंत हो गये, तब नन्दबाबाने उद्धवजीसे पूछा—

कच्चिदङ्ग महाभाग सखा नः शूरनन्दनः।
आस्ते कुशल्यपत्याद्यैर्युक्तो मुक्तः सुहृद्वृतः॥ १६॥
दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना।
साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि यः सदा॥ १७॥

बात करनेका भी ढंग होता है। असलमें जिसकी किसीसे आसक्ति हो जाती है, उसको बात-बातमें वही सूझता है, भारी आसक्ति होती है। नन्दबाबाकी तो कृष्णसे बड़ी भारी आसक्ति है और उनको बात-बातमें कृष्ण ही सूझते हैं। लेकिन बुद्धि नन्दबाबाने खोयी नहीं है। नन्दबाबाके मित्र वसुदेव जिन्दा हैं, उनके यहाँ रहते कृष्णसे बात कैसे प्रारम्भ होगी? यह तो बाबाका अनादर करके बेटेसे प्रेम हुआ न! उद्धवजीके सामने पहले कृष्णकी चर्चा करें, कि वसुदेवकी? अरे, बुद्धि नहीं खोनी चाहिए! ऐसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। आसक्तिके अनुसार नहीं चलना चाहिए, बुद्धिके अनुसार चलना चाहिए।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

गी. २.६७

इन्द्रियोंको प्यारा लगा मन और उनके पीछे चला। प्रज्ञा बेचारी चौपट हो गयी, उसका सत्यानाश हो गया।

अब देखो, कितनी सावधानीसे नन्दबाबा बात करते हैं! **अङ्ग महाभाग**—उद्धवजी, तुम मेरे बहुत प्यारे हो—यहाँसे बात प्रारम्भ होती है। अब कोई प्यारा हो लेकिन दुःखी हो—तो उससे कैसे बात करें? बोले—नहीं, महाभाग! तुम बड़े भाग्यवान हो! देवता-स्वरूप हो! उद्धवजी देखने लगे कि नन्दबाबा क्या बोलते हैं। **सखा नः शूरनन्दनः**—अपने सखाकी बात करते हैं। नन्दबाबा उद्धवके सखा-कृष्णकी बात नहीं करते हैं, अपने सखाकी बात करते हैं। माने, नन्दबाबा बिलकुल प्रकृतिस्थ हैं, उनकी बुद्धिने साथ नहीं छोड़ा है। अगर रागने बुद्धिको नष्ट कर दिया,

तो जीवन नष्ट हो गया। इसलिए नन्दबाबा सावधान हैं कि उद्धवजी यह न समझें—कि नन्दबाबा रागमें इतना डूब गये हैं कि वसुदेवको छोड़कर पहले कृष्णको पूछ रहे हैं। बोले—हमारे सखा शूरनन्दन—कैसे हैं? सखा—**सह खादति**, जिसके साथ खाया जाय—वह सखा। जिसके साथ खायें-पीयें व्यवहार करें। यहाँ 'ख' शब्दका अर्थ है—जिसके साथ सारे व्यवहार हों। **समप्राणः सखास्मृतः**—जिसका जीना-मरना समान हो, जो साथ ही खिन्न हो और साथ ही हँसे भी, रोये भी साथ उनको सखा बोलते हैं। **शूरनन्दनः**—वे अपने पिताको बड़ा आनन्द देनेवाले हैं। चर्चा उसकी करनी चाहिए, जिसने आपने बापको कुछ आनन्द दिया हो। जो बेटा अपने बापको दुःख ही देता रहे, उसका तो नाम ही नहीं लेना चाहिए। शूरनन्दन—वसुदेवजीका नाम लेते हैं। फिर पूछते हैं—**आस्ते कुशल्यपत्याद्यैर्युक्तो मुक्तः सुहृद्वृतः**। अपने अपत्य बलराम आदिके साथ कुशलसे हैं न! वसुदेवजीके कई संतानें हैं। बहुत लम्बा-चौड़ा परिवार है उनका। उनकी पत्नियोंका परिवार भी बहुत बड़ा है और उनके बच्चोंका परिवार भी बहुत बड़ा है। तो वे **अपत्याद्यैः**—अपने भाई, पत्नी, पुत्र आदिके साथ कुशली तो हैं न? **मुक्तः**—संकटसे मुक्त हैं न? यदुवंशी लोग भाग-भागकर दूर चले गये थे। अब उनको ला-लाकर बसाया जा रहा है। सब वसुदेवको घेरकर रह रहे हैं। **सुहृद्वृतः**—सुहृदोंने उनका वरण किया है, वे उनके आसपास रह रहे हैं। वे सबके मान्य हैं। देखो, वसुदेवजी संकटसे मुक्त हैं, सुहृदोंसे वृत्त हैं, सन्तान आदिसे युक्त हैं और स्वयं अपने पिताको आनन्द देनेवाले हैं। हैं न कुशली!

अब नन्दबाबा वसुदेवजीकी चर्चा करनेके बाद कृष्णकी चर्चा करते हैं। उनका निशाना तो वही है—**दिष्ट्या कंसो हतः सानुगः स्वेन पाप्मना**—बड़े सौभाग्यकी बात है कि पापी कंस अपने अनुयायियों समेत मारा गया। 'पापी' कहकर यह बताते हैं कि कंस मारनेके योग्य था। यह बतानेके लिए—कि कंस वधके योग्य था—उसको विशेषण दिया 'पापः'। पापी है न! पापी उसको कहते हैं—जो भलेपर भी पापकी शंका करे। कंस माने हिंसक, **कसि हिंसायां-कंसति**; जो भले लोगोंको काटे—उसका नाम कंस है। वह अकेला नहीं, उसके अनुयायी भी मारे गये।

अब कंसको मारा किसने? नन्दबाबाको यह बात नहीं जँचती है, कि हमारे लालाने कंसको मारा। वैसे महात्मा लोग किसीको कर्ता-वर्ता समझते ही नहीं हैं। महात्मा लोग या तो सबको अपना स्वरूप देखते हैं या सबको माया देखते हैं या

सबको ईश्वर देखते हैं या सबको पंचभूतकी पुतली देखते हैं। यह कर्ता-भोक्ता महात्माओंकी दृष्टिमें नहीं होता है। होता भी है, तो सपनेमें जैसा होता है, वैसा ही होता है। इसमें कोई तत्त्व नहीं है।

नन्दबाबाने दो बातोंको पहले कहा—**दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना**। ध्यान दो—**दिष्ट्या**—माने हम लोगोंके सौभाग्यसे, हम लोगोंके सत्कर्मका कोई ऐसा फल उदय हुआ—जिससे कंस मारा गया। कृष्णका इसमें कोई दोष नहीं है। इसकी बात है—**पापः**—वह तो मरने योग्य ही था। तीसरी बात क्या है? कि **स्वेन पाप्मना**—वह पापी अपने पापसे मारा गया। हमारा लाला काहे उसको मारे? हमारे लालाके तो मीठे-मीठे हाथ हैं, मीठी-मीठी आँखें हैं, मीठे-मीठे पाँव हैं, मीठा-मीठा दिल है; वह किसीको मारनेका काम थोड़े ही करता है! कंस कैसे मरा? कंस अपने आपसे मरा। बोले—नन्दबाबा! तुम्हें तो कृष्णका पक्षपात है, इसलिए कह गये—कि कंस अपने पापसे मर गया; वह मारने लायक था; हमारे सौभाग्यसे मरा। यह अभिनन्दन है कंसकी मृत्युका। वह पापी था—यह उसके मरनेकी योग्यता है। **स्वेन पाप्मना**—यह मरनेका निमित्त है। निमित्त हैं कंसके पाप, मरनेके योग्य है कंस और अभिनन्दन है—कि यह बड़े सौभाग्यकी बात है, हमारा सौभाग्य है! बोले—नन्दबाबा, तुम तो कहते हो कि अपने पापसे मरा, सौभाग्यसे मरा आदि; सारी दुनिया तो यह कहती है कि तुम्हारे पुत्र कृष्णने कंसको मारा! तो कहते हैं—अच्छा, कोई बात नहीं। लोग कहते हैं, तो हम इसको भी मानते हैं। क्यों? बोले—वह साधुद्वेषी, धर्मशील—द्वेषी और यदु-द्वेषी था। ऐसे द्वेषीको हमारे लालाने मार भी दिया—तो कोई बात नहीं! बहुत बढ़िया किया! तीन बातें हैं—

साधूनां धर्मशीलानां यदुनां द्वेष्टि यः सदा।

यदुवंशियोंमें तीनों बाते हैं—यदुवंशी भक्त हैं, धर्मशील हैं—धर्मात्मा हैं और साधु-ज्ञानी हैं। जो आध्यात्मिक साधनामें लगे हुए हैं—वे तो साधु हैं और जो यज्ञ-यागादि धर्मानुष्ठानमें लगे हुए हैं—वे धर्मशील हैं और जो कृष्णकी सेवामें, भक्तिमें लगे हुए हैं—वे यदु हैं, सात्वत हैं। वे भक्त हैं। कंस तीनोंका द्वेषी था—**यदून् द्वेष्टि,साधून् द्वेष्टि, धर्मशीलान् द्वेष्टि**। कंसके दिलमें एक आग जल रही थी। जब किसीको होम करते देखता, तो उसका चित्त द्वेषकी आगसे जल जाता। कृष्ण—जन्मके समयकी स्थिति देखो—

अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समिन्धत। ३.४

इसका अर्थ महात्माओंने यों किया है—कि मथुराके आसपास ब्राह्मणोंके घरमें होत्रकी जितनी आग थी—कंसने सबमें पानी डलवा दिया था, इसलिए वह आग बुझ गयी थी। कृष्णजन्मके समय **तस्मिन् काले स्वयं समिन्धतः**—वह आग स्वयं प्रज्वलित हो गयी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह धर्मात्माका द्वेषी था। ऐसे कंसको यदि कृष्णने मारा—तो बहुत बढ़िया किया। वह मारने ही लायक था।

अब एक बड़े प्रेमका प्रसंग है; हृदयको पिघलानेवाला प्रसंग है। ये भक्तिके प्रसंग किस लिए होते हैं? ये दिलको गलानेके लिए, पिघलानेके लिए होते हैं। दिल जो अपना सख्त हो गया है—'यह मेरा', 'यह मेरा' करके; पकड़े रहो, छोड़ो मत—तो भक्ति—की बात जब करते हैं, तो एक बार दिल तो पिघल जाता है! अपनी मुट्ठी ढीली हो जाती है, मेरापन हलका हो जाता है और उसमें भगवान् प्रकट होते हैं।

अब नन्दबाबा कृष्णकी चर्चा करते हैं—बताओ तो उद्धव! कृष्ण कभी हमलोगोंकी याद करता है?

अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन्।
गोपान् व्रजं चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम्॥ १८॥
अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान् सकृदीक्षितुम्।
तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम्॥ १९॥

इतना कहते-कहते नन्दबाबाकी आँखोंमें आँसू आने लगे, यशोदा मैय्याकी आँखोंमें आँसू आगये और उद्धवजी भी द्रवित हो गये। क्या बोल रहे हैं नन्दबाबा? अब यह प्रसंग आपको कल सुनायेंगे।

❋

ग्यारहवाँ प्रवचन

आपको मालूम ही है—श्रीकृष्णके भेजे हुए उद्धवजी व्रजमें आये। नन्दबाबाने उनका सत्कार किया। उसमें महात्माओंने कई भाव निकाले हैं। एक भाव यह है—'जबसे श्रीकृष्ण मथुरा गये, तबसे व्रजकी दूसरी ही दशा हो गयी। वहाँ न कोयल बोलती, न पपीहा बोलता; न गौएँ प्रेमसे घास चरतीं, न बछड़े छलांग भरते; न व्रजवासियोंके घरमें चूल्हा-चौका चलता। वे कन्द-मूल-फल खाकर अपनी गुजर-बसर करते और श्रीकृष्णके विरहमें बड़े दुःखके साथ अपना समय व्यतीत करते।'

दूसरी बात महात्मा लोग यह कहते हैं—कि 'श्रीकृष्णके जानेपर भी व्रजवासियोंकी रहनीमें कोई अन्तर नहीं पड़ा, क्योंकि उनके मनमें यह आशा थी, विश्वास था—कि एक दिन कृष्ण अवश्य आवेंगे। और जब आवेंगे और देखेंगे कि उनकी गैयाँ दुबली हो गयीं, उनके बछड़े उदास हो गये, उनके घरमें सफाई नहीं हुई और उनके प्रेमी व्रजवासी खाये-पीये बिना बेहाल हो गये हैं—तब उनको बड़ा दुःख होगा। इसलिए व्रजवासी प्रतिदिन सबेरे से लेकर शाम तक खा-पीकर प्रसन्न-वदन उनकी प्रतीक्षा करते कि आवेंगे तो हम उनके गले लगेंगे। बड़े लोग सोचते कि आवेंगे, तो उनको गोदमें बैठायेंगे; चूमेंगे; उनको अपना दूध पिलायेंगे।

जिस दिन उद्धवजी व्रजमें आये, उस दिन भी दो तरहका वर्णन हमारे महापुरुषोंने किया है; एक तो यह—कि श्रीकृष्णने उसदिन व्रजमें ऐसी लीलाका प्रकाश कर दिया, कि उद्धवजीको सर्वत्र संयोग—लीलाका रस दिखायी पड़े। केवल नन्दबाबाके घरमें उन्होंने वियोग-लीलाका प्रकाश किया। व्रज तो दिव्य, चिन्मय भाव है न! वहाँ तो श्रीकृष्णके संकल्पानुसार ही सब कुछ होता है। वहाँके वृक्षोंकी हरियाली उनकी अपनी हरियाली नहीं—श्रीकृष्णका संकल्प है। वहाँके वृक्षोंमें जो पुष्प हैं, वे साधारण पुष्प नहीं, श्रीकृष्णके संकल्प हैं। वहाँके पक्षियोंका कलरव श्रीकृष्णका लीला-विलास है। उद्धवजीके सामने और सर्वत्र तो श्रीकृष्णने मिलन-रस प्रकट कर दिया और केवल नन्दबाबाके महलमें विरहका रस प्रकट

किया। दूसरे महात्मा ऐसे कहते हैं—कि नन्दबाबाने जब देखा कि मथुरासे उद्धवजी आये हैं, तो उनके मनमें संकल्प हुआ—सारे व्रजवासी तो भूखे-प्यासे, कन्द-मूल-फल खाकर गुजारा करते हैं; सबके मुँहमें कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण नाम है; सब व्याकुल हैं—तो उद्धवजी यदि आज भूखे रह जायेंगे, तो यह ठीक नहीं रहेगा। उनके मनमें उद्धवजीको भोजन करानेका संकल्प हुआ, तो किसी ब्राह्मणके बुलाकर उद्धवजीके लिए बढ़िया भोजन बनवाकर उन्हें खिलाया। उद्धवजीने थोड़ा विश्राम किया। उसके बाद रात्रिमें सब इकट्ठे होकर बैठ गये और नन्दबाबा उद्धवजीसे अब श्रीकृष्णकी चर्चा कर रहे हैं।

अब एक बार अपनी चित्तवृत्तिको वहाँ ले चलिए। प्रेम-भक्तिकी जो बातें होती हैं, वे समझनेके लिए नहीं होतीं। ब्रह्मज्ञानकी जो बात होती है, वह समझनेके लिए होती है; समझो और अविद्याको मिटा दो। भक्ति-प्रेमकी जो बातें होती हैं, ये भावके लिए होती हैं। तन्मय हो जाओ, अपनी चित्तवृत्तिको तदाकार कर लो। ध्यान करो—यह भगवान्‌का धाम है नन्दगाँव। इसमें यह नन्दबाबाका महल है। यह रात्रिका समय है। इसमें नन्दबाबा, यशोदा मय्या, उद्धवजी एक जगह बैठे हुए हैं और वहाँ नन्दबाबाकी आँखोंसे झर-झर कभी-कभी आँसू टपक पड़ते हैं। यशोदा मय्याकी आँखोंसे आँसू बह रहे हैं। दोनों बीच-बीचमें कृष्ण-कृष्ण कहकर रो पड़ते हैं। वे अपने हृदयकी पीड़ाको जाहिर तो नहीं करना चाहते हैं, लेकिन वह कभी-कभी उनके मुँहसे प्रकट हो जाती है। और वे बोलते हैं—हमारा कृष्ण! यह पहली बात है।

अपि स्मरति नः कृष्णो—उद्धवजी! एक बात बताओ। हमारा कृष्ण क्या हमें कभी स्मरण करता है? यह **नः** पद है न, **नः अस्माकं**—यह हमारा जो कृष्ण है, वह **अस्मान् स्मरति किम्**? हमारा लाला, हमारा कन्हैया, हमारा दुलारा, हमारी आँखोंका तारा, हमारे प्राणोंका प्यारा वह श्याम-सुन्दर, हमारा साँवरा-सलोना, भोला-भाला लाला, वह हमारा है—यह पहली बात है। **कदाचित् नः स्मरति**—कभी वह हम लोगोंका स्मरण करता है क्या? देखो, बात तो बड़ी सीधी-सी है, पर इसकी तहमें घुसो तो यह मर्म भेद करनेवाली है। दिलको चीर देनेवाली है। जो रात-दिन हमारा रहा—हमारी गोदमें पैदा हुआ, हमारी गोदमें बढ़ा, दूध पिया; हमारी गोदमें खेला; जो कभी हमारी दाढ़ी पकड़कर खींचता था, चोटी पकड़कर खींचता था, हमारी नाकमें ऊँगली डालता था, हमारे कन्धेपर बैठता था—वह हमारा प्यारा कृष्ण कभी हमारी याद करता है? माने अब वह ऐसी परिस्थितिमें

पहुँच गया है, जहाँ उसको हमारी याद आनी भी मुश्किल है! यह हृदयकी पीड़ा है—यह वार्ता नहीं है। दिलका दर्द है यह **अपि स्मरति। स्मरति किम्?** व्याकरणका नियम है कि जब बारम्बार स्मरणका प्रयोग किया जाय, तो षष्ठी विभक्तिका प्रयोग होना चाहिए और एकाध बार जब स्मरणकी बात हो तब द्वितीया विभक्तिका प्रयोग कर सकते हैं। **नः अस्मान् कदाचित् एकदाऽपि स्मरति किम्?** हम लोगोंको कभी एक बार भी याद करता है क्या?

उद्धवजीने कहा—बाबा, ऐसे मत बोलो। भला तुम्हारा लाला तुम्हें स्मरण नहीं करेगा, तो किसको करेगा? वह तो दिन-रात तुम्हारे स्मरणमें डूबा रहता है। नन्दबाबाने कहा—नहीं उद्धवजी, कृष्णने कंसको मार दिया। उसके ससुर साहब—जरासन्ध—बड़े प्रबल, प्रतापी हैं। उनके पास बड़ी सेना है; शाल्व, बाणासुर, भौमासुर आदि बड़े-बड़े मित्र अभी जिन्दा हैं। वे बार-बार मथुरापर चढ़ाई करेंगे। यदुवंशियोंको कंसने भगा रखा है—वे देशमें जगह-जगह बिखरे हैं। उनको समेटकर लाना है, बसाना है। उनकी सुख-सुविधाकी व्यवस्था करनी है। हमारे लालाको नयी माँ देवकी मिल गयी है, नये बाप वसुदेव मिल गये हैं; उसे उनकी व्यवस्था करनी है। अब हमारी याद उसको काहेको आवेगी? क्या कभी ऐसा अवसर आता है उसके जीवनमें, जब वह हमारी याद करे?

देखो, याद करनेके लिए आठ स्थान बताते हैं। **अपि स्मरति नः**—यहाँ 'अपि' शब्दका प्रयोग सम्भावनाके अर्थमें है। क्या कभी स्मरण करता है? फिर 'कृष्ण' कहा। अच्छाजी, वह भी याद नहीं करता तो तुम काहेको करते हो? ऐसा उद्धवजी कह तो नहीं सकते, लेकिन नन्दबाबाके मनमें यह बात आ सकती है—कि उद्धवजी ऐसा कह सकते हैं। सो कहते हैं—वे भूल जायें—तो भूल जायें। हम कैसे उसको भूलेंगे? **नः कृष्णः**—वह हमारा कृष्ण है।

'कृष्ण' शब्दका अर्थ है—जो खींचले। **कर्षति आकर्षति चित्तवृत्तिं भक्तानां मनांसि च**—जो भक्तोंके मनको खींच ले। **सर्वजनान् कर्षति**—कृष्ण तो चुम्बक है। अगर मनुष्यका दिल कठोर लोहा है, तो अपनी ओर उसको खींचनेकेलिए कृष्णका नाम चुम्बक है। कृष्ण माने काला—काला रंग हुआ और खींचनेवाला, तो काला चुम्बक; यह धात्वर्थ हुआ। काला-काला खींचनेवाला कौन? बोले—जो चुम्बन-धर्म है। चुम्बन ही जिसका धर्म है—उसको चुम्बक बोलते हैं। उसीको बोलते हैं—कृष्ण। यह कृष्ण-जिसका नाम बड़ा ही मधुर

और मीठा है—वह गलेमें फँसनेवाला है। यह 'क'के नीचे एक अंकुश लगा हुआ है न; 'क'के नीचे एक अंकुशाकार 'ऋ'की मात्रा लगी हुई है—जैसे उँगली टेढ़ी करते हैं—ऐसे! तो जब कृष्ण-कृष्ण बोलते हैं; उसका नाम जब कानमें पड़ जाता है, तो **ब्रीडां विलोडयति**—लज्जाको मथ देता है। लज्जाकी गाढ़ता मिट जाती है, वह पतली पड़ जाती है। दही जब मथा जाता है, तो वह गाढ़ेसे पतला हो जाता है। शर्मको, लज्जाको यह कृष्ण नाम मथ देता है। **लुम्पति धैर्यं**—धैर्यका लोप कर देता है। **आर्य-भीतिं भिनत्ति**—बड़ोंका जो डर है—उसको तोड़-फोड़ देता है। **परिलुम्पति चित्तवृत्तिं**—चित्तवृत्तिको छीन लेता है, लूट लेता है। कृष्ण नाममें ऐसी ताकत है।

कृष्ण नाम जब ते श्रवण सुन्यो री आली,
भूली सी भवन हौं तो बावरी भई री॥

जिसने एक बार कृष्णका रूप देख लिया—उसकी आँखोंमें चढ़ गया। इतना सुन्दर; झिलमिल-झिलमिल करता हुआ यह कृष्ण है? कि साँवरा अमृत है। उसके नेत्रोंका अंजन, उसके होठोंकी मुसकान एक बार यदि ध्यानमें भी ठीक-ठीक आजाय, तो मनुष्यका सर्वस्व छिन जाता है। वह सम्पूर्ण प्राणियोंकी चित्तवृत्तिको आकृष्ट करनेवाला है। उसके पीछे शिव डोलें, नारद डोलें; इन्द्र, चन्द्र, वरुण, कुबेर उसकी सेवा करें। नन्दबाबाने यह अपनी आँखसे देखा है। वरुण लोकमें नन्दबाबा जब गये थे, तो वरुणने कैसी पूजा की थी कृष्णकी! जब नन्दबाबाको अजगरने पकड़ लिया था, तो उस अजगरमें-से निकलकर सुदर्शन गंधर्वने नन्दबाबाके सामने ही स्तुति की थी!

देखो, अन्य देवताओंमें और कृष्णमें क्या फर्क है? और देवताओंको चित्त देना पड़ता है। कोई सिर सीधा किये ध्यानमें बैठे हैं—तुम्हें हजार बार गरज हो तो प्रणाम करो। पुकारो—तो तुम्हारी आवाज पहुँचे, न पहुँचे। कोई लक्ष्मीसे पाँव दबवानेमें मग्न हैं। उन्हें जोरसे पुकारो—तो कभी आँख खोलकर देखें, कभी न देखें। और देवताओंको जब तुम खूब प्रेमसे पुकारो, उनसे छेड़-छाड़ करो—तो तुम्हारी ओर देखते हैं। और कृष्ण? कृष्ण तो अपने आप आता है। ऐसे न देखो, तो वह ठुमुक-ठुमुककर नाचने लगे! ऐसे न देखो, तो वह हँसने लगे। ऐसे उसकी ओर न खिंचे—तो वह बाँसुरी बजाकर नाचने लगे। वह तो प्रेमकी मूर्ति है। आकर्षण ही उसका धर्म है। जिसका दिल पत्थरका बना हुआ है, उसमें भी प्रेमका बीज बोकर खेती कर लेता है। जो पत्थरको पिघला करके उसमें प्रेमकी खेती

करे—उस किसानका नाम कृष्ण है। **कृषति**—जो हल चलाता है। पत्थर दिलमें-से वासनाओंकी घास उखाड़ करके, ममताके कंकड़ बीन करके, कठोर-से-कठोर हृदय-रूपी खेतको जोत करके जो अपनी वंशीके मार्गसे प्रेमके बीज बोता है—उसका नाम है—कृष्ण। बड़ा मधुर, अमृत ही अमृत, रस ही रस—उसको बोलते हैं कृष्ण। प्रेमका देवता कृष्ण है; धर्मके देवता राम हैं; पालन-पोषणके देवता नारायण हैं। दूधकी जरूरत हो—तो नारायणके पास खबर भेजो। वे क्षीरसागरमें-से एक नल तुम्हारे घरमें लगा देंगे। लक्ष्मीकी तुम्हें जरूरत हो तो वे तुरन्त लक्ष्मीजीसे कह देंगे—कि जरा उसकी ओर कृपा करके देखो! ठनाठन गिरने लग जाय तुम्हारी ओर। जगत्का पालन करना, जगत्की रक्षा करना, जगत्को सब वस्तुएँ मुहैया कराना नारायणका काम है। और यहाँ कृष्णके पास न शंख है, न चक्र है, न गदा और न पद्म है। यह तो दोनों हाथोंमें बाँसुरी लेकर अधरामृत बाँटने आया है। बाँसुरीके छिद्रमें-से वह राग बाँटता है। वह सर्वके चित्तको अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला है। उसे गोपी कृष्ण बोलती है, ग्वाल-बाल कृष्ण बोलते हैं, नन्दबाबा कृष्ण बोलते हैं।

नन्दबाबा बोले—मैंने देखा है—हमारे लालासे गौएँ प्रेम करती हैं, हरिणियाँ प्रेम करती हैं, चिड़ियाँ प्रेम करती हैं। हमारा लाला जिस वृक्षके नीचे जाता है, वह अपने फल-फूलसे सिर झुका देता है उसके चरणोंमें! फूलसे शृंगार करो, फल खाओ, छायामें बैठो। वह जिस लताको अपने नाखूनसे छू देता है, वह खिल जाती है। कहती है—पहले पेड़से लिपटी थी, अब श्याम-सुन्दर! तुम्हारे साथ लिपटेंगी। ऐसा है हमारा कृष्ण। सबका चित्त चुरा लिया है उसने। अब जाकर मथुरामें बैठ गया है। उद्धवजी, तुम बताओ—कभी उसको हमारी याद आती है कि नहीं?

अब दूसरा सवाल है—**मातरं सुहृदः सखीन्**। अच्छा, क्या माँ को भी भूल गया है? हमारा लाला ऐसा तो नहीं है—कि माँ को भी भूल जाय। अब उद्धवजीकी दृष्टि यशोदाकी ओर पड़ी, जो पास ही बैठी हैं। यशोदा मय्याने उद्धवजीसे एक शब्द भी मुँहसे नहीं कहा। भागवतमें यशोदा और उद्धवका संवाद नहीं है। आपसे पूछते हैं—क्या बोलना ही प्रेम प्रकट करनेका माध्यम है? बोल-बालकर ही प्रेम प्रकट किया जाता है? बिना बोले भी प्रेम प्रकट होता है। **अश्रुनिवास राशिं**—यशोदा मय्या माँ हैं न! वे तो सृष्टि कर रही हैं। काहेकी सृष्टि कर रही हैं? कि आँसुओंकी। आँखोंसे झराझर-झराझर—बस, आँसू गिरते जा रहे

हैं। मय्या सिर्फ सुन रही हैं। नन्दबाबाने उद्धवजीसे इशारा किया—जरा इधर देख तो! इसको भी भूल गया? **मातरं**—माँको कौन भूल सकता है, जिसने दस महीने तक पेटमें धारण किया? ईश्वरकी ओरसे जिसे बच्चेके पालनका ठेका मिला हुआ है? आप जानते हैं—सहज स्वभावसे माँ बच्चेका पालन करती है, बापको कुछ नहीं करना पड़ता। बच्चा जब पेटमें आता है, तो माँके शरीरकी नली बच्चेके शरीरसे जुड़ती है और बच्चेको पोषणके लिए माँके शरीरसे तत्त्व जाता है, बापके शरीरसे नहीं। और जब बच्चा पैदा होता है, तो माँको थनमें दूध आता है, बापके थनमें नहीं। वात्सल्य तो दोनोंमें ही होता है किन्तु माँ-सरीखा प्रेम सृष्टिमें कहीं औरसे कैसे प्राप्त हो सकता है? वैसे कृष्ण जब मथुरा गये—तो वहाँ कहनेके लिए हजारों माएँ मिल जायेंगी।

देखो, इसमें एक बात है। **नः** और **मातरं**में एक फर्क है, व्याकरणकी दृष्टिसे फर्क है। **नः अस्मान् स्मरति**—हम लोगोंकी याद करता है? यह बहुवचन है। और माताका जब नाम है, तब एकवचन है। **मातृन् स्मरति**—ऐसा नहीं है—**मातरं स्मरति** है। पिता-सरीखे बहुत हो सकते हैं, लेकिन माँ-सरीखी बहुत नहीं हो सकती हैं। यह नहीं समझना—कि यशोदा-सरीखी कोई माँ मथुरामें मिल जायेगी। माँ-का वात्सल्य अद्भुत है। यशोदा मय्याने कृष्णके लिए क्या-क्या किया है! हम याद दिलावें, तो कृष्णके ऊपर भी भार हो जायेगा। कितना प्यार-दुलार माँने दिया! हिन्दीमें 'श्रीअयोध्या सिंह उपाध्याय'का एक काव्य है 'प्रियप्रवास' नामका। जब नन्दबाबा मथुरासे लौटकर आये, तो उनको अकेले देखकर यशोदा माता बोलती हैं—

प्रिय पति वह मेरा प्राण-प्यारा कहाँ है?
दुःख जलनिधि में डूबी का सहारा कहाँ है?
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ,
वह तनय हमारा नयनतारा कहाँ है?

वह यशोदा मय्याकी आँखोंका तारा है—माने कृष्णके बिना यशोदा मय्या अन्धी हैं। उन्होंने अपनी आँखोंमें कृष्णको भर लिया है। अब उनको दुनिया नहीं दीखती है, उनको कृष्ण दीखता है। उनको कृष्णके सिवाय दूसरेकी आवाज नहीं सुनायी पड़ती।

सुहृदः—कृष्णके मामा हैं, चाचा हैं, ताऊ हैं। बड़े भाई लगनेवाले लोग हैं। वे हर समय कृष्णकी भलाई चाहते थे, उसका ध्यान रखते थे।

सखीन्—कृष्णके सखा हैं, जिनके साथ कृष्ण खेलते थे। आपको याद होगा! एक बार ग्वाल-बाल अघासुरके मुँहमें प्रविष्ट हो गये थे। कृष्ण भी उनके साथ अघासुर अजगरके मुँहमें चला गया। एक बार ग्वाल-बाल दावाग्निमें घिर गये, कृष्णने वह आग उठाकर पी ली। ये ग्वाल-बाल हैं—जिनके साथ खेलते हुए कृष्ण खुद हार जाते थे। श्रीदामाको कन्धे पर बैठाकर भांडीर वट तक ले जाते थे। कृष्ण इन ग्वाल-बालोंको कैसे भूल गये?

गोपान्—इस शब्दमें गोपियाँ भी हैं। यह व्याकरणका नियम है कि **माता च पिचा च**—इसका समास करेंगे, तो **पितरौ** बोलेंगे, माता पितामें समा जायेगी। वैसे ही **गोप्यश्च गोपाश्च**का **गोपान्** बनता है। जो गोपोंका स्मरण करता है? गोपियोंका स्मरण करता है। किसका-किसका नाम गिनावें? व्रजमें तो सभी कृष्णको प्यार करते हैं।

उधर श्रीकृष्ण भी उद्धवजीसे कहते थे—

ऊधो मोहि ब्रज विसरत नाहिं।

एक क्षणके लिए भी व्रज मेरी आँखोंसे ओझल नहीं होता। यह तन्मय होनेके लिए कथा है। व्रजके एकमात्र स्वामी कृष्ण हैं, व्रजका दूसरा राजा नहीं है। थोड़े क्षेत्रके राजा नन्द थे, थोड़े क्षेत्रके राजा वृषभानु थे और थोड़े क्षेत्रका राजा कंस भी था। कंस मारा गया, नन्द और वृषभानु दोनों मिल गये। अब यह सम्पूर्ण व्रजका राज्य किसका? कि कृष्णका। कृष्ण केवल व्रजकी धरतीका मालिक नहीं है। दिलके मालिकका नाम कृष्ण है। वह दिलको गुदगुदाता है, दिलसे छेड़-छाड़ करता है। वह दिलमें हँसता है, दिलमें नाचता है, दिलमें गाता है, दिलमें बजाता है। दिलमें ही उसके अधरामृतकी धारा प्रवाहित होती है। उसकी मुस्कान, उसकी चितवन, उसकी वंशीकी ध्वनि सब हृदयमें प्रवाहित होती है। कृष्णने स्वयं बताया है कि व्रजके साथ उसका क्या सम्बन्ध है। जिस समय इन्द्रने चढ़ाई कर दी व्रजमें—कह दिया कि व्रजवासियोंका नाश कर दे। **पशून् नयत संक्षयम्**—ये कमबख्त सब-के-सब पशु हैं, तो कृष्णने कहा—कि अच्छा, इतनी हिम्मत इन्द्रकी?

तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं मन्नाथं मत्परिग्रहम्।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः॥

भा. १०.२५.२०

तस्मान्मच्छरणं गोष्ठं—यह मेरा घर है, मेरा रहनेका स्थान है। **मच्छरणं**का

अर्थ है—मेरा घर है। **शरणं विवरक्षत्**—यह मेरी शरणमें है और यह मेरा शरण्य है—घर है। **मन्नाथं**—मैं इसका स्वामी हूँ। **मत्परिग्रहम्**का अर्थ होता है—इसमें मेरी पत्नियाँ भरी हुई हैं। परिग्रह माने पत्नी। मैं ही इसका स्वामी हूँ और मेरी पत्नियाँ ही इसमें भरी हुई हैं और यह मेरा असली घर है। इन्द्रकी हिम्मत है—जो इसका नाश करे? अब जैसे पतिका कर्तव्य है अपनी पत्नीकी रक्षा करना, वैसे मेरा कर्तव्य है व्रजकी रक्षा, व्रजवासियोंकी रक्षा।

नन्दबाबा बोलते हैं—**आत्मनाथं**। यह वह व्रज है, जिसका एकमात्र स्वामी, एकमात्र मालिक कृष्ण है। क्या उसको व्रजकी याद नहीं आती? **गावो वृन्दावने**—बोलना चाहिए 'गा' और नन्दबाबा बोलते हैं 'गावो'। 'चाहिए' और 'बोले हुए'में फर्क क्यों? कि इस समय कृष्णका स्मरण हो रहा है। मनुष्यका सबसे बड़ा सत्संग यह है कि वह धनसे, दौलतसे, सगे-सम्बन्धियोंसे उठ करके एक बार अलौकिक जगत्में चले। यह इतिहास पढ़नेके लिए नहीं है, ऐतिहासिक अनुसन्धान करनेके लिए नहीं है। यह खोज मत करना—कि उस समय नन्दबाबाने यह बात कही थी या नहीं। कोई ताम्रपत्र, कोई शिलालेख, कोई ऐतिहासिक शोध—ये सब उन लोगोंके जिम्मे डाल देना—जो ये सब काम करते हैं। अपने चित्तको ले चलो वहाँ, जहाँ गौएँ हैं।

बहुत दिनोंकी—सन् पैंतीस छत्तीसकी बात होगी। तब मैं साधु नहीं हुआ था। एक बार मैं कहींसे व्रजमें आया। उस समय एक जागीरदारके यहाँ सेठ जयदयालजी वृन्दावनमें थे। सत्संग हुआ श्रीजीके बगीचेमें। बहुत लोग थे वहाँ। रात हो गयी और मैं वहीं सो गया। चार बजते-बजते एक साधु मेरे पास आये, बोले—उठो, उठो! क्या है? बोले—चलो मेरे साथ। अब वह श्रीजीके बगीचेसे उठाकर ले गये मैदानकी तरफ-विरुद्ध दिशामें। चाँदनी रात थी। बड़ी गुलाबी हवा चल रही थी। आनन्दका वातावरण था। इतनेमें क्या देखा—सौ-सौ गौएँ, बिलकुल धौरी धौरी, हृष्ट-पुष्ट दौड़ती हुई चली आरही हैं। अरे, यह क्या? बोले—ये गौएँ दिखती हैं न! इनके चरवाहेका ख्याल करो। इनके साथ कोई चरवाहा है, जो हम लोगोंको नहीं दिखता है। तो व्रजकी प्रेममयी भूमि, एक ओर यमुना बह रही है, दूसरी ओर हरे-हरे वृक्ष हैं। गौएँ दौड़ती हुई चली आरही हैं। इनके साथ चरवाहा भी है। ध्यान करो, ध्यान करनेकी चीज है—बिना चरवाहेके गौएँ नहीं हैं। ये कृष्णकी गौएँ हैं।

आपको मालूम है न, श्रीवल्लभाचार्यजीको श्रीनाथजीकी मूर्ति कैसे मिली?

एक गाय रोज गिरिराजजी पर जाती थी और वहाँ एक पत्थरकी चट्टान पड़ी थी। उसके पास जाकर खड़ी होती और उसके थनका सारा दूध उस चट्टान पर झर जाता। एक दिन, दो दिन, दस दिन देखा। देखकर उनको कौतूहल हुआ—कि आखिर बात क्या है—कि गाय यहाँ आकर खड़ी होती है और उसका दूध झर जाता है। महाप्रभुने जाकर पत्थरको उलटा-पलटा, तो उसके नीचे श्रीनाथजीकी मूर्ति थी। वहाँसे श्रीनाथजीकी मूर्ति निकली। यह गायका वात्सल्य है श्यामसुन्दरसे।

गावश्च कृष्ण - मुखनिर्गत - वेणुगीतं,
पीयूषमुत्तभित कर्णपुटैः पिबन्त्यः।

जब श्यामसुन्दर बाँसुरी बजाते हैं, तब गौएँ अपने मुखका ग्रास न उगल सकती हैं, न निगल सकती हैं। उनके दोनों कान खड़े हैं और श्यामसुन्दरकी ओर टकटकी लगी है। आँखमें आँसू हैं, और हृदयमें श्यामसुन्दर। यह व्रजकी गायकी स्थिति है। व्रजकी एक-एक गाय चाहती थी कि श्यामसुन्दर हमारे थनमें मुँह लगाकर दूध पीयें। जब ब्रह्माने बछड़ोंका हरण कर लिया, तो सचमुच श्रीकृष्ण सब गायोंके बछड़े बन गये और उनके थनका उन्होंने दूध पीया। यह प्रेम है। ऐसी गायोंको श्रीकृष्ण भूल गये? वे गौओंको उनके गंगा, जमुना, सरस्वती आदि नाम लेकर पुकारते थे—तो गौएँ दौड़ी चली आती थीं। चरवाहे कहते थे—इतनी फैली हुई गौएँ; हम एक-एकको कहाँ इकट्ठा करें? और कृष्णने बाँसुरी उठायी और जो गायोंका नाम लेना शुरू किया—तो सब पूँछ उठाकर, कान उठाकर कृष्णके पास दौड़ी चली आयीं। कृष्ण क्या अब उनको भूल गये?

वृन्दावन गिरिम्—और यह वृन्दावन। वृन्दावनका नाम लेते ही हृदयमें प्रीतिका संचार होता है। वृन्दावन धरतीका नाम नहीं है; प्रेमलोकका नाम वृन्दावन है। ऐसा वर्णन आया है कि बलराम-कृष्णके हृदयमें प्रेम तो था, पर माँका प्रेम ज्यादा था, भाई-बन्धुओंका प्रेम ज्यादा था। लेकिन जिस समय उन्होंने वृन्दावनका दर्शन किया, उस समय उनके हृदयमें गोपियोंके प्रति प्रथम प्रेमका संचार हुआ है। **वृन्दावनं गोवर्धनं यमुना च।** व्रजके महात्मा लोग कहते हैं—कृष्णसे भी ज्यादा महिमा वृन्दावनकी है। हमारे असली कृष्ण तो वृन्दावनमें रहते हैं। **वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति**—वृन्दावन छोड़कर कहीं एक कदम नहीं जाते हैं। प्रेम, बस प्रेम ही प्रेम है यहाँ।

विपिनराज सीमा के बाहर हरिहूँ को न निहार।

वृन्दावनकी सीमाके बाहर स्वयं कृष्ण भी हों, तो उनको भी मत निहारो। अभागे लोग वहाँ जाते हैं, तो वहाँ भी उनको कृष्ण नहीं दिखते हैं। प्रेमी हृदयका, पवित्र हृदयका काम है कि वृन्दावनमें जायें, तो वहाँ कृष्ण-ही-कृष्णका दर्शन होवे।

वृन्दावनका अर्थ आप जानते हैं। वृन्दावन माने तुलसीका वन; वृन्दा माने तुलसी। तुलसीके वनकी क्या महिमा है? यह नहीं—कि उसकी सुगन्ध बड़ी अच्छी होती है। अगर कोई कह दे—कि तुलसीके पत्तेसे मलेरिया दूर होता है, इसलिए तुलसीकी बड़ी महिमा है—तो उसको हाथ जोड़ना। हैजा दूर करनेके लिए वृन्दावन नहीं जाते हैं। वृन्दा नामकी देवी थी, जिसके सतीत्वसे जालंधरकी रक्षा हो रही थी। उनके सतीत्व पर स्वयं विष्णु भगवान् इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने अपना धर्म छोड़कर वृन्दाको स्वीकार किया। यह वृन्दावन ऐसा है, जहाँ श्रीकृष्ण भी प्रेमके अधीन हो जाते हैं, अपने धर्मको छोड़ देते हैं। यह श्रीकृष्णके प्रेमी होनेका प्रमाण है। श्रीकृष्ण अपने भक्तके कितने प्रेमी हैं। वृन्दावन क्या है? श्रीकृष्णके प्रेमकी पताका है। यहाँ सिर्फ गोपियाँ ही प्रेमके अधीन होकर अपने धर्मसे ऊपर नहीं उठ जातीं, कृष्ण भी प्रेमके अधीन होकर धर्मको छोड़ देते हैं। यह वृन्दावनका महत्त्व है।

नन्दबाबा पूछ रहे हैं—कृष्णको वृन्दावनकी याद आती है? वृन्दावनको भूल गये कृष्ण? कितने दुःखकी बात है। गिरिराज गोवर्धन क्या भूलनेकी चीज है?

अब आगेका प्रसंग कल सुनावेंगे।

❋

बारहवाँ प्रवचन

अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान् सकृदीक्षितुम्।
तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम्॥ १९॥
दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना॥ २०॥
स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम्।
हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः॥ २१॥
सरिच्छैलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्॥ २२॥

आपको मालूम ही है, श्रीकृष्णके भेजे हुए उद्धवजी व्रजमें आये। नन्दबाबाने उनका सत्कार किया। इस समय नन्दबाबा और उद्धव—दोनों एक आसनपर बैठे। यशोदा माता नीचे बैठीं। वे चाहती थीं कि उद्धव मथुरासे आये हैं, तो हमको रोते न देखें। कोई अपने घरमें आवे, और उसको सुख पहुँचानेकी जगह रोने लग जायँ—तो यह कोई शिष्टाचारकी रीति नहीं है। जहाँतक हो सके, अपने हृदयमें जो सुख है—वही दूसरोंके सामने प्रकट करना चाहिए, दुःख प्रकट नहीं करना चाहिए। हमारा दुःख ज्यादा न प्रकट हो—यह सोचकर यशोदा माता संकोचके साथ नीचे ही बैठ गयीं। परन्तु आँसू तो उनकी आँखोंसे झर-झर गिर रहे हैं। क्योंकि माँके हृदयमें अपने बच्चेके प्रति जैसी प्रीति होती है, वैसी संसारके किसी भी दूसरे प्राणीकी दूसरेके प्रति नहीं होती। प्रकृतिके नियममें यह बात बँधी हुई है, कि अपने बच्चेके लिए माँकी छातीमें दूध आता है। स्नेह एक तो होता है भावात्मक और एक होता है द्रव्यात्मक। संस्कृत भाषामें दही, दूध, घी, मक्खन आदिको भी स्नेह बोलते हैं। यह द्रव्यात्मक स्नेह है। चीज है, तौल लो तराजूपर। और एक भावमें स्नेह होता है। भावात्मक स्नेह भाईका भाईसे, बापका बेटेसे जो होता है—वह है। यह जो माँ अपने बच्चेसे स्नेह करती है, वह दोहरा स्नेह होता है। भावमें तो बच्चेके प्रति स्नेह होता ही है, द्रव्यात्मक ठोस धातु बनकर, स्नेह दूध बनकर अपने बच्चेके लिए आता है। यह केवल माँकी छातीकी वस्तु है, दूसरेकी छातीकी नहीं।

नन्दबाबाने कहा—हमें भूल जाय तो भूल जाय; लेकिन जिस माँकी छातीका उसने दूध पिया है, उस माँको हमारा लाला कैसे भूलेगा? मातरं! आपने वह कथा सुनी होगी, जब वसुदेवजीके आँगनमें भीड़ इकट्ठी हुई और श्रीकृष्णका यज्ञोपवीत

संस्कार हुआ। गर्गाचार्यजीने जब यह संस्कार कराया, उस समय जब माताओं भिक्षा माँगनेका प्रसंग आया, तब श्रीकृष्ण झोली लेकर खड़े हुए; माताओंकी ओर देखने लगे। वहाँ देवकी बैठी थीं, रोहिणी बैठी थीं। कृष्ण कहने लगे—कि हमारी माँ कहाँ हैं? और 'माँ' 'माँ' करके, हाथमें झोली लिए हुए रोने लगे। मेरी माँ, मेरी माँ तो यशोदा है! यह बात जिन्होंने सुनी है, उनको मालूम है। माँका नाम लेनेपर श्रीकृष्णके मनमें देवकी नहीं आती थीं, रोहिणी नहीं आती थीं; केवल यशोदा आती थीं। अब उनके बारेमें नन्दबाबा पूछ रहे हैं—भूल गये क्या उस माँ को? व्रजके सुहृद्, व्रजके सखा, व्रजके गोप और समूचा व्रज—कृष्णके सिवाय जिसका दूसरा कोई स्वामी नहीं है; गौएँ; यह वृन्दावन, जिनकी चरण-लक्ष्मीसे चिह्नित है—वह गिरिराज; सबको भूल गये कृष्ण? और सबको भूल जायँ, तो भूल जायँ, क्या श्रीकृष्ण गिरिराजको भी भूल गये हैं?

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो यद्रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः।
मानं तनोति सह गोगणयोस्तर्योयत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः॥

गिरिराज गोवर्धन धन्य है, धन्य है। कहते हैं, भगवान्‌के जितने दास-शिरोमणि हैं, उनमें एक नम्बर गिरिराज हैं, क्योंकि राम-कृष्णके चरणोंका जैसा आनन्द इनको मिला, वैसा और किसीको नहीं मिला। जब श्रीकृष्ण गिरिराजपर चढ़ने लगते हैं, तो झरनेका जल आता है और उनके पाँव पखारने लगता है। बैठनेके लिए बढ़िया दूर्बाका आसन देते हैं। शरीर रँगनेके लिए गेरू और खड़िया, सँवारनेके लिए फूल, खानेके लिए फल, विश्रामके लिए वृक्षोंकी छाया, प्रकाशके लिए मणि—षोडषोपचार पूजा बलरामकी और कृष्णकी करते हैं गिरिराज! मनुष्यके जीवनकी सफलता इसीमें है और गिरिराजने श्रीकृष्णकी पूजा की। जिस गिरिराजके नीचे वात्सल्य-रसवाली माताएँ, मधुर-रसवाली गोपियाँ, सख्य-रसवाले ग्वाल-बाल-सब इकट्ठे हो गये, जब इन्द्रने प्रकोप किया था। कृष्णने अपने हाथपर गिरिराजको उठाया और ग्वालोंने डंडे लगाये। उस गिरिराजको—जिसके द्वारा व्रजकी उन्होंने रक्षा की—उसको श्रीकृष्ण भूल जायेंगे? उद्धवजी, बताओ तो सही; कभी-कभी गिरिराजका कृष्ण स्मरण करते हैं? ग्वाल-बाल अब जब गोचारणकेलिए जाते हैं, तो कभी-कभी आगे-आगे गौएँ और पीछे-पीछे ग्वाल-बाल जाते हैं और उनको ख्याल आता है कि श्रीकृष्ण आज हमारे साथ नहीं हैं—तो विरहकी स्फूर्ति उनको हो जाती है। जब उनको याद आती है कि कृष्ण हमारे साथ नहीं हैं, तो बेहाल होकर सैंकड़ों ग्वाल गिरिराजकी तलहटीमें गिर पड़ते हैं। जब हरिण देखते हैं ये श्याम

सुन्दरके प्रिय सखा-सुहृद्—ये पेड़ हैं धरतीमें, तो उनके पास जाते हैं, उनकी नाकसे अपनी नाक लगाके सूँघते हैं—कि साँस चल रही है कि नहीं और जब देखते हैं, कि ये कृष्णके विरहमें पड़े हैं, तो हरिणोंकी आँखोंसे इतने आँसू निकलते हैं—कि ग्वाल-बालोंके चेहरे भींग जाते हैं। हरिण अपने आँसुओंका जल छिड़क-छिड़ककर ग्वालोंको होशमें लाते हैं। वही कृष्णके मुँहबोले नर्म सखा ग्वाल आज यहाँ रह रहे हैं और श्रीकृष्ण मथुरा रह रहे हैं। क्या श्रीकृष्णको अपने मित्र ग्वालबालोंका भी स्मरण नहीं होता? इतने कठोर हो गये हमारे कृष्ण! उद्धवजी; हम और कुछ नहीं चाहते हैं, केवल इतना चाहते हैं कि हमारी प्रीति उनके साथ जुड़े। हम मोक्ष नहीं चाहते हैं, ब्रह्मा-विष्णु-महेशकी पदवी नहीं चाहते हैं, स्वर्ग नहीं चाहते हैं। हमारे कर्मके अनुसार हमारा जन्म हो बारम्बार और चाहे जिस योनिमें जन्म हो—हम पशु हों, पक्षी हों, कीड़ा हों, मकोड़ा हों—हमें कोई भोग नहीं चाहिए, कोई सुख नहीं चाहिए, कोई स्वाद नहीं चाहिए। ईश्वरकी इच्छा हमारे सिर-आँखोंपर। जहाँ भेजें, वहाँ जायें, जो बनावें—बन जावें। लेकिन हम यह चाहते हैं कि अगर हमारा कोई पुण्य होवे और हमारी इच्छा अगर पूछी जावे—तो हम यही चाहते हैं वह हमारा कन्हैया, हमारा श्यामसुन्दर, हमारा मुरलीमनोहर, हमारा मोर-मुकुटवारा, हमारा ईश्वर—**रतिर्नः कृष्णीश्वरे**—उस ईश्वरमें हमारी रति हो। हम दूसरोंके ईश्वरमें अपना मन नहीं लगाना चाहते, हम अपने ईश्वरमें—कृष्णमें अपना मन लगाना चाहते हैं। बस, इतना ही तो चाहते हैं।

अब उद्धवजीने नन्दबाबाको आश्वासन दिया। बोले—बाबा, तुम कृष्णके कोमल हृदयको जानते हो। वह कितना प्रेमी है, प्रेमियोंके वशमें हो जानेवाला है! उसके लिए यह पूछना—कि कृष्ण हमारी याद करता है—बड़ा अन्याय है। अगर हम जाकर यह बात कह देंगे—कि बाबा हमसे पूछते थे कि कृष्ण हमारी याद करता है कि नहीं—तो कृष्णको कितना दुःख होगा! बाबा, यह बात मैं कभी कृष्णसे कहनेवाला नहीं। बाबा, आप जानते हो; यदुवंशियोंको बसाना है, उनके अन्न-वस्त्रकी व्यवस्था करनी है। कंसके जो सखा हैं, मित्र हैं—उनसे सावधान रहना है। अपने धर्मकी स्थापना करनी है। कृष्णके सामने कितना काम है। इस बीचमें भी वे कभी-कभी रो पड़ते हैं। तुम्हारे लिए, माँके लिए, ग्वाल-बालोंके लिए, गायोंके लिए, वृन्दावनके लिए मचल पड़ते हैं। गिरिराजपर खेलनेके लिए उनका मन हो आता है। वे व्याकुल हो जाते हैं और तुम पूछते हो—क्या वे हमारी याद करते हैं?

नन्दबाबा कुछ आश्वस्त हुए। बोले—अच्छा उद्धव! वह हमारी याद करता

है; धन्य हैं हम। हम धन्य हैं—कि कृष्ण हमारी याद करता है। पर एक बात बताओ। जो जिसको याद करता है, उसके मनमें उससे मिलनेकी इच्छा होती है। और मिलनेकी इच्छा होती है, तो वह कभी आता भी है। केवल स्मरण करनेका नाम भक्ति नहीं है। स्मरण दुश्मनका भी होता है। कभी किसीसे लड़ाई हो जाय, तो वह दिमागमें ऐसा घुसता है कि घंटों नहीं निकलता। केवल स्मृतिको ही अगर भक्ति मानोगे, प्रेम मानोगे—तब तो दुश्मनकी भी स्मृति आती है, उससे भी प्रेम हो, उससे भी भक्ति हो! स्मरणका नाम भक्ति नहीं है, स्मरणका नाम प्रेम नहीं है।

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

(भक्तिरसामृत सिन्धु)

अनुकूल भावसे स्मरण होना चाहिए। प्रतिकूल भावसे स्मरण करना शत्रुता है। अच्छा, कृष्ण हमारा स्मरण करेगा, तो स्मरण करते-करते उसके हृदयमें वासना भी बनेगी। और वासना बनेगी, तो एक दिन आवेगा यहाँ। उद्धवजी, बता दो तुम इतनी-सी बात, तुम झट अपने मुँहसे बोल दो, कि **अप्यायास्यति गोविन्दः किं स्वित् इह आयास्यति**—क्या यहाँ हमारा कृष्ण आवेगा? माने उसके आनेकी संभावना भी इस समय क्षीण हो गयी है। तुम उससे यह तो पूछना—कि हमारी याद करता है, तो क्या हमारे पास आवेगा? कृष्ण सर्वस्व है व्रजका। मथुराका शासन तो कोई और भी चला सकता है, लेकिन व्रजका जीवन-सर्वस्व, व्रजका प्राण, व्रजका जीवन-धन, व्रजका हृदय तो कृष्ण है—गोविन्द है। कोई कहे कि कृष्ण व्रजमें आवेंगे, तो अब गौण होकर रहेंगे और मथुरामें तो प्रमुख हैं—तो बोले—नही, मथुरामें ही गौण हैं; यहाँ तो सदा-सर्वदा मुख्य हैं। कैसे? कि 'गोविन्द नाम व्रजका है। क्या आप जानते हैं उद्धवजी—कि गोवर्धन-धारणके बाद इन्द्र आये और उन्होंने क्षमा माँगी, स्तुति की। उसी बीच कामधेनु भी आयी। सहस्र-सहस्र गायोंसे परिवेष्ठित कामधेनुने अपने दूधकी धारासे श्रीकृष्णको सिंचित किया और उसने साफ कह दिया—कि इन्द्र अगर तीनों लोकोंके राजा हैं—तो बने रहें; आजसे हम गौएँ इन्द्रको अपना राजा नहीं मानतीं। आजसे हमारे राजा तुम हो, श्रीकृष्ण! इन्द्रने कहा—ठीक है।

अहं इन्द्रो हि देवानां त्वां गवां इन्द्रतां गता गोविन्देति कृष्ण—अब आजसे तुम्हारा नाम गोविन्द हुआ। मैं इन्द्र, तुम गोविन्द!

न नाम प्यारा हमें यदुनाथ है। श्रीकृष्णको कोई यदुनाथ कहे, वह उसको प्यारा नहीं है। क्या नाम प्यारा है? बोले—गोविन्द नाम प्यारा है, मुकुन्द नाम प्यारा

है, मुरली-मनोहर नाम प्यारा है। हमको तो कृष्णके यही नाम प्यारे हैं। यहाँ व्रजभूमिमें वह मुख्य है। श्रीकृष्णकी मुख्यता ग्वालबालोंमें है, मथुराके श्रीमन्तोंमें नहीं है। वहाँ तो राजा उग्रसेन हैं, चाचा हैं, ताऊ हैं, बड़े भाई हैं, लेकिन यहाँ तो केवल कृष्ण है। हम ज्यादा उम्मीद नहीं करते कि कृष्ण हमारे बीच आयेंगे। हम चाहते केवल यह हैं, कि एक बार वे आवें—**सकृद् स्वजनान्,** केवल एक बार वे आ जावें, तो हम लोगोंके मनमें जो यह बैठ गयी है बात, कि एक बार हम लोगोंसे वायदा करके उसे झूठा कर दिया—हमारे मनसे वह निकल जायेगी।

ईक्षितुम्—जैसे किसीके घरमें कोई रोगी पड़ा हो, तो लोग उसे देखनेके लिए जाते हैं, वैसे ही हम श्रीकृष्णके विरहके रोगसे व्यथित होकर अपने-अपने घरोंमें पड़े हैं। तो क्या कृष्ण हम रोगियोंको, दुःखियोंको एक बार देखने भी नहीं आवेंगे?

अच्छा, दुनियामें तो बहुत रोगी होते हैं। कौन-कौन किस-किसके घर जायें? बोले—**स्वजनान्**—हम तो उसके स्वजन हैं। अच्छा, रोगीके घर भी रोज-रोज कौन जाता है? बोले—**सकृद्**—एक बार। माने हम उसके सगे-सम्बन्धी हैं और केवल यही चाहते हैं कि एक बार आकर वह हमारी दशा देख जावे। कौन-सी तुम्हारी दशा अच्छी है, कि उसको दिखाना चाहते हो? बोले—नहीं, हम उसको देखलें, बस। **तर्हि द्रक्ष्याम्**। बस, हम उसको देखना चाहते हैं। वह एक बार आये। बोले—तुम्हीं चलकर देख आओ। अगर कोई कहे—कि हम लोग ही मथुरा चलकर कृष्णको क्यों नहीं देख लेते—तो यह बात उसकी मर्जीके खिलाफ होगी। ध्यान देनेकी बात है, यह बात उद्धवजीने नहीं कही है, किन्तु प्रेमियोंका दिल उलटी बात सोच लेता है।

अनिष्टाशंकीनि बन्धूहृदयानि भवन्ति—

अपने प्रेमियोंका दिल स्वयं उल्टी बात भी सोच लेता है। यह भी प्रेमका एक स्वभाव है। नन्दबाबा ऐसा सोचते हैं—कि कहीं कृष्ण ऐसा कहें, तो कहीं उद्धव ऐसा कहें कि जब तुम्हारे मनमें कृष्ण-दर्शनकी इतनी उत्कट इच्छा है, तो तुम उनकी प्रतीक्षा क्यों करते हो? मथुरा जाकर मिल क्यों नहीं आते? इसका समाधान भी स्वयं नन्दबाबा ही कर देते हैं—

आप्यायास्ति गोविन्दः स्वजनान् सकृदीक्षितुम्

नन्दबाबा यह बताते हैं—कि जब कृष्णने हमसे कह रखा है, कि हम आयेंगे—तो उसका अर्थ यही है कि हमें मथुरा नहीं जाना चाहिए। प्रेमी लोग बहुत दूर तक सोचते हैं और उन्हें पता रहता है कि उनका प्रियतम प्रेमास्पद क्या चाहता

है। इसलिए नन्दबाबाके लिए मथुरा जाकर मिलनेका प्रश्न ही नहीं उठता। उनसे तो श्रीकृष्ण स्वयं कह गये हैं—

आयास्य ज्ञातिन बोध द्रक्ष्युम् स्याम विधाय।

आप लोगोंका दर्शन करनेके लिए मैं स्वयं आऊँगा। इसलिए मथुरा जानेका निरोध हो गया, रुकावट पड़ गयी। ईश्वर न तो भीतरसे प्रेरणा देता है—कि चलो, और न बुलाता है—कि आओ। कहता है—कि यहीं रहो। इसीमें कृष्णका भला है, सुख है। जो प्रेमी अपने प्रियतमकी सुख-सुविधाको नहीं सोच सकता, उसका प्रेम जड़ है। यदि नन्दबाबा कृष्णको वृन्दावन ले आवें, तो यहाँ जरासन्ध आदि शत्रुओंका भय है। फिर मथुरामें उनकी देखभाल कौन करेगा, जो पहलेसे ही कृष्णके सिर पड़े हैं? नहीं, कृष्णके किसी काममें बाधा नहीं पड़नी चाहिए। नन्दबाबा फिर कहते हैं—

स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम्।
हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः॥ २१॥

उद्धवजी हम व्रजवासियोंके शरीरमें अब इतनी ताकत नहीं है कि यहाँसे चलकर मथुरा पहुँच जायें। हमको श्रीकृष्णके पराक्रमका स्मरण आता है, उसकी चितवन याद आती है उसकी हँसी याद आती है, उसकी मुस्कान याद आती है और उसकी बोलन याद आती है। किन्तु **सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः** अब हमसे अपने हाथसे खाया नहीं जाता, पाँवसे उठकर चला नहीं जाता, मुँहसे बोला नहीं जाता। ऐसी स्थितिमें कोई हमसे कहे कि तुम यहाँसे कृष्णके पास चलो तो यह हमारे वशकी बात नहीं है। आना तो कृष्णको ही पड़ेगा। लेकिन वह आयेगा क्या?

तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम्।

फिर जब वह आवेगा तो हम उसका मुखारविन्द देखेंगे। यहाँ यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि मनको किसी आकृतिमें टिकाने अथवा मनमें कोई आकृति बैठानेके लिए मनको कहीं ले जाना नहीं होता। यह नहीं है कि मनको यहाँसे कहीं ले जायेंगे, तो वह रेलगाड़ीकी तरह चलकर जायेगा या विमानकी तरह उड़कर जायेगा। ऐसा भी नहीं है कि कोई चीज बाहरसे लाकर मनमें भरी जायेगी। न शालिग्रामकी बटिया आँखके रास्ते दिलमें घुसेगी और न दिल आँखके रास्ते निकलकर द्वारकामें जायेगा। ध्यानका रहस्य बड़ा विलक्षण है। यहाँ तो चुटकी बजाओ और ध्यान लग जाये, क्योंकि इसमें न तो मनको कहीं ले जाना पड़ता है और न मनमें कुछ लाना पड़ता है। ध्यानके समय मनकी एक आकृति बना लो। इस समय हमारा मन कैसा है? तो साँवरा-साँवरा मुस्कुराता हुआ मुखारविन्द, घुँघराले बाल, प्रेमभरी चितवन

गोरोचनका तिलक हमें दिखायी पड़ रहा है। इस प्रकार तुम्हारे मनने यह आकार धारण कर लिया। यदि कहो कि हमारा मन यह आकार नहीं पकड़ता, तो क्यों नहीं पकड़ता? या तो मनको टिकानेमें तुम्हारी श्रद्धा नहीं है या तुम्हारा मन कोई दूसरी आकृति पकड़कर बैठा हुआ है जिसको छोड़ता नहीं है। अगर तुम्हारे मनमें किसी दूसरेसे राग नहीं है और भगवान्‌की मूर्तिमें श्रद्धा है, तो उस मूर्तिको न तो बाहरसे लाकर भीतर डालना है और न मनको भीतरसे निकाल कर बाहर ले जाना है। मन जहाँ है वहीं उसको आकृति पकड़ा दो। पकड़ा दो माने इस समय ऐसा ध्यान करके देखो कि हमारा मन मन्द-मन्द मुस्कुरा रहा है, प्रेम भरी चितवनसे देख रहा है। मनमें जैसी शक्ल बनाओगे, बन जायेगी। बिहारीका दोहा देखो—

अमिय हलाहल मदभरे श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत इकबार॥

आँखोंमें लालिमा है, कालिमा है, श्वेतिमा है। आँखोंमें अमृत है, शराब है, विष है। वह प्रेमभरी गुलाबी आँखें, वह मंजुल मुखारविन्द, वह सुन्दर नासिका, वह **सुस्मितेक्षणं** होठों पर मुस्कान, वह प्यार भरी चितवन। यह आकृति ही तो है जिसको तुमने मनमें बैठा लिया। इसको न बाहरसे खींचना पड़ा और न इसके लिए मनको बाहर ले जाना पड़ा। एक प्रेमी भक्त गा रहा था कि हमारी आँखोंमें आकर नन्दलाल बस गये। एक कुतर्कीने कहा कि तुम्हारी आँखें तो इतनी छोटी-छोटी हैं इसमें इतने बड़े नन्दलाल आकर बसेंगे, तो तुम्हारी आँखें फूट नहीं जायेंगी? यह बेवकूफीकी बात है। नन्दलाल पत्थर या सोनेकी मूर्ति बनकर आँखोंमें अथवा दिलमें नहीं घुसेंगे जिससे आँख या दिल फट जाये। जब तुम अपने मनमें किसी दुश्मनको घुसाकर रखते हो, तब तुम्हारा कलेजा फटता है? जिसमें तुम्हारी प्रेमिका घुसती है, जिसमें तुम्हारे प्रियतम घुसते हैं, जिसमें बंडल-के-बंडल नोट घुसते हैं, वह तुम्हारा दिल कहाँ फटता है? हम तो उस मनकी बात कहते हैं, जो तुम्हारे पास है और जिसमें अच्छी-बुरी आकृतियाँ बनती-बिगड़ती हैं। उसी अपने मनकी एक सुन्दर-मधुर आकृति बनाओ। फिर देखो, तुम्हारे मनमें कितना बढ़िया ध्यान आता है? जहाँ एक आकृति पकड़कर मन बैठा, वहाँ तुम्हारा ध्यान लगा, स्थिरता आयी और बुद्धि शुद्ध हुई। यदि पूछो कि यह आकृति आती कहाँसे है, तो इस आकृतिका आधान गुरु-कृपासे होता है। सद्गुरु अपने मनसे शिष्यके मनमें इस सुन्दर-मधुर आकृतिका आधान करते हैं।

नन्दबाबा कहते हैं—कि उद्धवजी, जब श्यामसुन्दर हमारी आँखोंके सामने

आयेंगे तब हम उनका मुखारविन्द देखेंगे। उनका मुखचन्द्र, जिसमें बड़ी सुन्दर नासिका है, सुन्दर मुस्कानसे युक्त चितवन है—हमारी आँखोंमें बसा है। हम उसे कभी भूल नहीं सकते। अब देखो, ध्यान करनेवाले ऐसे ही तो ध्यान करते हैं—श्याम सुन्दर मुस्कुरा रहे हैं, उनके कपोलोंपर, गालोंपर लाली आगयी है। नाक भी लाल हो रही है। भीतरकी खुशी होठों और आँखोंमें प्रकट हो रही है, पर दाँत नहीं दिखते हैं। कभी दाँत दिख जाते हैं, तो आवाज नहीं आती। कभी-कभी आवाज आती है तो सुनायी नहीं पड़ती, उसे खास-खास लोग ही सुन सकते हैं। मतलब यह कि भक्त लोग भगवान्‌के मुखारविन्दका ध्यान कभी स्मितरूपमें, कभी विस्मितरूपमें, कभी हसितरूपमें, कभी प्रहसितरूपमें और कभी अतिहसित अर्थात् अट्टहाससे युक्तरूपमें करते रहते हैं। श्रीकृष्णसे प्रेम करनेवालोंको ही पता लगता है कि उनके इन रूपोंमें क्या जादू है, क्या सुख है। इसका ब्रह्मज्ञानसे कोई विरोध नहीं है। क्या ब्रह्मज्ञान हो जाने पर जीभको चटनी और खीरका भेद नहीं मालूम पड़ता? क्या ब्रह्मज्ञानियोंकी जीभ खराब हो जाती है या सुन्न कर दी जाती है? क्या ब्रह्मज्ञान हो जाये, तो आँखसे लाल और कालें रंगोंकी पहचान नहीं होगी? क्या ब्रह्मज्ञान हो जाने मन शूकराकार है या कृष्णाकार है—इसका पता नहीं चलेगा? अरे बाबा, यह तो जीवनकी वस्तु है। ब्रह्मज्ञान सुवर्ण-तत्त्व क्या है—यह बोध कराता है और सुवर्णमें कितना सुन्दर आभूषण बना है—इसका पता भक्ति तत्त्वसे चलता है। तुम अपने मनको देखो। तुम्हें क्या लगता है? उसमें केवल अन्धेरा रहता है या कोई शक्ल रहती है? यदि कोई शक्ल रहती है, तो उसमें दुनियाकी दूसरी शक्लोंके स्थानपर श्रीकृष्णकी शक्ल भरो। अपने मनमें श्यामसुन्दरको बैठाओ। उनकी मुस्कान उनकी प्यार भरी चितवनका स्मरण करो। कपिलदेवके प्रसंगमें बताया गया है कि भगवान्‌की मुस्कानका ध्यान करनेपर शोकके आँसू सारे-के-सारे सूख जाते हैं—**शोकाश्रुं श्रुषाम्**—भला बताओ तो श्यामसुन्दर तुम्हारे हृदयमें खड़े होकर मुस्कायें, तो क्या तुम रोओगे? रो नहीं सकते। भगवान्‌की मुस्कान तो सम्पूर्ण दुःखोंको मिटानेके लिए महौषध है। फिर भगवान्‌की करुणाका ध्यान करो और देखो कि वह कितना कृपालु है। हमारा सम्पूर्ण जीवन ही उसकी कृपा पर अवलम्बित है।

दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना॥ २०॥

नन्दबाबा उद्धवजीसे उन्हीं दुःखोंका वर्णन करते हैं, जिनको वे अपनी आँखोंसे देख चुके हैं और जिनसे श्रीकृष्णने उन्हें बचाया है। उन दुःखोंका नाम

नहीं लेते, जिनको उन्होंने अपनी आँखोंसे नहीं देखा। पहला दुःख है दावाग्निः। दावाग्निका पान कृष्णने दो बार किया। एक बार जब गोकुलके पास कुञ्ज वनमें दावाग्निसे गौएँ घिर गयी थीं, तब ग्वालबालोंकी आँख बन्द करवाकर श्रीकृष्णने उस दावाग्निका पान किया। यह दैत्य दावाग्नि थी। दूसरी बार जब श्रीकृष्णने वृन्दावनमें कालियदहसे कालियनागको भगाया, तब दिन भरके भूखे-प्यासे, थके माँदे व्रजवासी सब के सब रातमें घर नहीं लौट सके, वहीं सो गये। वहाँकी धरती, घास तथा पेड़-पौधे और पानी आदि सब-के-सब कालियनागके विषसे विषैले हो गये थे। देव-दावानलने यह सोचा कि अगर यह विष बना रहा, तो सबेरे उठकर गौएँ घास चरेंगी, व्रजवासी पानी पीयेंगे और उन सबकी मृत्यु हो जायेगी। इसलिए व्रजवासियों और गौओंके जागनेके पहले रातमें ही कालियनागके विषको समाप्त करनेके लिए देव-दावानल आया और जब काम पूरा हो गया तब भगवान्‌ने उसका पान कर लिया। इस दावाग्निको नन्दबाबाने अपनी आँखोंसे देखा था। दूसरा दुःख है—**वातवर्षाच्च**। इन्द्रने कोप करके जो आँधी-पानी भेजा था, उसको भी नन्दबाबाने देखा था। तीसरा दुःख है **वृषसर्पाच्च**। सायंकाल जो वृषभासुर आया था, वह भी नन्दबाबाके सामने ही आया था और अम्बिका वनमें रातके समय तो अजगरने स्वयं नन्दबाबाको ही निगल लिया था। उससे किस प्रकार श्रीकृष्णने उनको बचाया, यह वे कैसे भूल सकते थे? इतना ही क्यों—

कंसादिके द्वारा ऐसे-ऐसे मृत्युके प्रसंग उपस्थित हुए, जिनसे कोई नहीं बचा सकता था। किन्तु महात्मा कृष्णने हमारे पुत्रका रूप धारण करके, सुहृद्‌का रूप धारण करके बड़ी उदारताके साथ हम सबकी रक्षा की। इसलिए नन्दबाबा उन सब दुःखोंका स्मरण करते हुए उद्धवजीसे कहते हैं कि अब पता नहीं मथुरामें श्रीकृष्णको हमारी कोई याद दिलानेवाला है या नहीं। किन्तु यहाँकी एक-एक चीज हमको कृष्णकी याद दिलाती है। यह नदी, यह पर्वत, यह वन। ये श्रीकृष्ण-चरणारविन्दके चिह्न। यहाँ वे आँख-मिचौनी खेलते थे, यहाँ पुल और घरौंदा बनाते थे। कहाँ तक बतावें। यहाँकी जितनी भी चीजें हैं, सबसे कृष्णकी स्मृति जुड़ी हुई है। इसलिए उद्धवजी, मथुरामें कृष्ण हमें भले ही भूल जायँ, लेकिन हम तो यहाँ कृष्णको एक क्षण भी नहीं भूल सके।

अच्छा, अब आगेका प्रसंग फिर।

❋

तेरहवाँ प्रवचन

स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम्।
हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः॥ २१॥
सरिच्छलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्॥ २२॥
मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमे।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा॥ २३॥

व्रजकी भूमि ब्रह्ममयी है—ऐसा रसिकोंका कहना है। सनत्कुमार-तन्त्रमें या श्रीकृष्ण-यामलमें जहाँ व्रजभूमिके ध्यानका वर्णन है, यह बताया गया है कि व्रजभूमि सत्ता-सामान्य है। वहाँ सब चिन्मय है, सब मधुमय है, सब प्रेममय है। उसमें राग नहीं, द्वेष नहीं। वह ध्येय भूमि है। मतलब यह कि भक्तके हृदयमें जो व्रजभूमि है, उसपर ध्यान जाना चाहिए।

व्रज क्या है? ब्रह्मरज है। ब्रह्मके 'ब्र'से प्रारम्भ होता है और रजके 'ज'से समाप्त होता है। इसलिए ब्रह्मरजको ही संक्षेपमें 'व्रज' बोलते हैं। जैसे संस्कृतमें शतक्रतु शब्द है। यह इन्द्रका एक नाम है; जिसने सौ-सौ यज्ञ किये—उसे कहते हैं शतक्रतु। इसको संक्षिप्त बनानेके लिए शतका 'श' और क्रतुका 'क्र' लेकर दोनोंको मिलाया तो 'शक्र' शब्द बन गया। इसकी व्युत्पत्ति हो गयी-**शक्रः कस्मात् यत्र शतक्रतु**। शतक्रतुका सांकेतिक नाम हो गया शक्र। इसी तरह व्रज शब्द भी ब्रह्मरजका सांकेतिक नाम है। रज ही व्रजकी विशेषता है, वही वहाँकी विशेष वस्तु है। रजके बिना 'ब' केवल बकता है।

व्रजभूमि ध्येय है, यह बात ध्यानमें रखो। किन्तु आप सामान्य रूपसे, बिना राग-द्वेषके, उसका ध्यान करने लगोगे, तो वह ध्यानमें नहीं आवेगी। या तो मित्रका ध्यान आयेगा या शत्रुका ध्यान आयेगा। जिस वस्तुके साथ आपका कोई सम्बन्ध ही नहीं, वह ध्यानमें कैसे आवे? आजकल ऐसे बहुतसे लोग हैं, जो ईश्वरको मानते हैं। वे सबेरे-सबेरे उठकर हाथ भी जोड़ते हैं, नाम भी जपते हैं, पूजा भी कर लेते हैं, पर भगवान्‌के साथ कोई खास रिश्ता कायम न होनेके कारण उन्हें उनका ध्यान नहीं लग पाता। जहाँ सौन्दर्य-बोध होनेका भी सम्बन्ध नहीं रहता, वहाँ ध्यान

टिकाऊ नहीं होता। जैसे आपको चन्द्रमाके सौन्दर्यका बोध है, तो जब चन्द्रमाको देखेंगे, तब बहुत आनन्द आयेगा। परन्तु चन्द्रमासे ममत्व न हो, तो आप घरमें बैठकर चन्द्रमाके ध्यानका रस लेना चाहें, तो नहीं ले सकते। यह चन्द्रमा श्रीकृष्णके साथ जुड़ा हुआ है। इसीलिए श्रीकृष्णचन्द्र बोलते हैं। ऐसा क्यों? इसलिए कि श्रीकृष्ण और चन्द्र दोनोंमें आह्लाद-तत्त्वका साम्य है। श्रीकृष्ण भी हृदयको आह्लाद देता है और चन्द्रमा भी हृदयको आह्लाद देता है। आह्लादन—साम्यके कारण श्रीकृष्ण और चन्द्र दोनों एक हो जाते हैं।

अब देखो—कि आपको श्रीकृष्णचन्द्रके संयोगमें रसका अनुभव होता है या नहीं? अथवा श्रीकृष्णचन्द्रके वियोगमें दुःखका अनुभव होता है या नहीं? भक्ति यहाँसे प्रारम्भ होती है। जबतक संयोगकी स्फूर्तिसे रसका आस्वादन नहीं होता और वियोगकी स्फूर्तिसे दुःखकी अनुभूति नहीं होती, तबतक समझ लो कि भक्तिका प्रारम्भ नहीं हुआ। तुम प्रतिमापर चन्दन लगा लो, माला पहना लो, अक्षत चढ़ा लो, उसकी आरती उतार लो, लेकिन जबतक तुम उससे सम्बन्ध नहीं बनालोगे, तबतक तादात्म्यका सुख नहीं प्राप्त कर सकेंगे। जैसे मित्रके, पुत्रके, पतिके संयोग-वियोगमें सुख-दुःख होता है, वैसे ही श्रीकृष्णके संयोग-वियोगमें जबतक सुख-दुःख नहीं होता तबतक भक्तिरसका आस्वादन नहीं होगा। भक्तिरसका आस्वादन या तो संयोगमें होता है या वियोगमें होता है। पहले वियोगका अनुभव हो तब संयोगका स्वाद आता है। **न बिना विप्रलम्भेन संभोगापुष्टिमश्नुते**—वियोगरसके बिना संयोग-रसकी पुष्टि नहीं होती।

अब संयोग-वियोगमें-से हम लोगोंके लिए क्या उपयोगी है, यह देखो! एक मतके अनुसार यदि हमारे मनमें संसारसे वैराग्य होवे और फिर हम यह ध्यान करें कि भगवान् हमारे हृदयमें बैठे हुए हैं—तब मजा आजायेगा। अगर संसारमें वैराग्य नहीं है और हम यह ध्यान करें कि भगवान् हमसे मिले हुए हैं, तो उतना मजा नहीं आवेगा। तुम्हारा दिल मुसाफिरखाने जैसा है। उसमें पहलेसे ही सैकड़ों आदमी भरे हैं भगवान्के रूपमें एक और बढ़ गया तो क्या हुआ? वास्तवमें सत्सङ्ग-लाभ होनेके बाद ही उसके विषयकी लोभोत्पत्ति होती है। श्रीकृष्णकी, श्रीरामकी, ईश्वरकी, परमात्माकी, ब्रह्मकी, सत्यकी, चेतनकी, आनन्दकी—कुछ भी नाम रख लो, उसकी चर्चा पहले सुनो। सुनते-सुनते हृदयमें लोभकी उत्पत्ति होती है। जैसे कोई चोर जब यह सुनता है कि अमुकके पास बहुत बढ़िया हीरा है, तब उसके मनमें उसको हथिया लेनेका लोभ हो जाता है, वैसे ही भगवान्का श्रवण

करते-करते उनको प्राप्त करनेकी लालसा उत्पन्न हो जाती है। अब भगवान् कैसे प्राप्त हों, यह जाननेके लिए सद्गुरुके पास जाना पड़ता है। पहले सद्गुरु मिले, उन्होंने भगवान्को पानेकी तरकीब बता दी और उसके अनुसार भजन-साधन होने लगा। जप अथवा ध्यान करते-करते भी लोभकी उत्पत्ति हो जाती है और फिर भगवत्प्राप्तिके लिए सद्गुरुकी शरण ग्रहण की जाती है। दोनों क्रम हैं—लोभोत्पत्तिके अनन्तर सद्गुरु-करण अथवा सद्गुरु-करणके अनन्तर लोभोत्पत्ति। विश्वनाथ चक्रवर्तीकी एक पुस्तकका नाम है—"रागवर्तनचन्द्रिका" जिसका अर्थ है अनुरागके मार्गकी चाँदनी। तात्पर्य यह कि अगर तुम प्रेमके रास्तेमें चलना चाहते हो, तो यहाँ तुमको चाँदनी मिलेगी, सुन्दरता मिलेगी।

अब आओ व्रजमें चलें, जहाँ उद्धवजी चुपचाप बैठे हैं। वहाँ रात्रिका समय है, चाँदनी छिटकी हुई है और यशोदा मय्याकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिर रहे हैं। वह कुछ बोल नहीं सकती, केवल नन्दबाबा बोल रहे हैं। नन्दबाबामें बोलनेका सामर्थ्य है, किन्तु यशोदा मय्या अपने प्रिय पुत्रके विरहमें इतनी कातर हो गयी हैं कि उनमें बोलनेका सामर्थ्य नहीं है। उद्धवजी यह सब देख रहे हैं और देखते-देखते उनके कठोर हृदयमें करुणा उत्पन्न होगयी है। उद्धवजी यदुवंशके मन्त्री थे, बृहस्पतिके शिष्य थे, बड़े योग्य पुरुष थे, किन्तु उनके हृदयमें द्रवता नहीं थी, पिघलाहट नहीं थी। श्रीकृष्णने देखा कि यह इतना बड़ा विद्वान्, इतना बड़ा मन्त्री, इतना बड़ा संयमी, इतना बड़ा इन्द्रियजयी, इतना बड़ा साथी है, जो मुझसे जरा भी कम नहीं है—**नोद्धवाऽण्वपि मन्न्यूनो**—परन्तु इसके हृदयमें प्रेमका संचार नहीं है। इसलिए श्रीकृष्णने उद्धवजीको व्रजमें भेजा कि उनके ऊपर प्रेमियोंका शक्तिपात हो। प्रेमी लोग अपने विरहकी आँच दे-देकर उनके दिलको पिघलावें। अतः श्रीकृष्णके इस संकल्पके अनुसार उद्धवजीके दिलको पिघलानेकी प्रक्रिया चल रही है और उसका प्रभाव पड़ना भी प्रारम्भ हो गया है।

नन्दबाबा कह रहे हैं कि क्या कृष्ण हम लोगोंको कभी स्मरण करते हैं? क्या कभी कृष्ण हमारे बीचमें आयेंगे? मृत्यु अनेक बार हमें चट कर जानेके लिए आयी, किन्तु कृष्णने बचा लिया। वह क्या इसी दिनके लिए बचाया था? कितनी हृदय-द्रावक बात है यह।

अब देखो, अर्जुनने सारी गीता सुनकर कहा था कि श्रीकृष्ण, तुम्हारे कृपा-प्रसादसे मुझे तुम्हारी स्मृति प्राप्त हो गयी—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्ध्वा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। गी.-१८.७३

भगवान्‌ने भी गीतामें अर्जुनको अनेक बार अपने स्मरणका माहात्म्य बताया—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। गी.-८.१४

अर्जुन, मेरा स्मरण करो, स्मरण करो; तभी तुम्हारा हृदय शुद्ध होगा। तात्पर्य यह कि अर्जुनके लिए श्रीकृष्ण स्मरणीय हैं, किन्तु यहाँ नन्दबाबा किस भूमिकामें हैं? कहते हैं कि कृष्णके स्मरणने हमारा बण्टाधार कर दिया। कितनी ऊँची कक्षा है उनकी!

स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम्।
हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः॥ २१॥
सरिच्छैलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्॥ २२॥

नन्दबाबा बोले उद्धव, हमें रात-दिन श्रीकृष्णके पराक्रमका स्मरण होता रहता है। यहाँ 'कृष्णवीर्याणि'को '**कृष्णस्य वीर्याणि**' समझना चाहिए, समाससे पृथक् करके, विभक्तिका लोप करके। 'कृष्णस्य वीर्याणि, कृष्णस्य लीला-पाङ्गनिरीक्षतम्', कृष्णस्य हसितं, कृष्णस्य भाषितं—इस प्रकार प्रत्येकके साथ कृष्णस्य लगना चाहिए। नन्दबाबा पहले श्लोकमें बोलते हैं—'कृष्णेन सुमहात्मना' और दूसरे श्लोकमें कहते हैं—'स्मरता कृष्णवीर्याणि।' बारम्बार 'कृष्ण' शब्दका प्रयोग करते हैं। इसका कारण क्या है? यह, कि कृष्ण उनके दिलमें बसा है, उनकी जीभपर बसा है। अनचाहे भी कृष्ण नाम निकल जाता है। कितना मीठा है, कितना मधुर है। इसमें अंकुश है, जो एक बार फँस जानेपर निकलता नहीं। 'कृ'में नीचे जो 'ऋ' है, वही अंकुश है। 'कृ'को ही काली-विद्या बोलते हैं, उसको कालीके उपासकोंने बीजाक्षर बना लिया है। 'क्लीं' इसी 'कृ'से निकला हुआ है। इसको मुसलमानोंने 'करीम' कर लिया, ईसाई लोग 'क्राइस्ट' कहने लगे। कृष्णका जो 'कृ' है बड़ा व्यापक है। हमारे जो सरदार लोग हैं, उनका तो 'ककार' के बिना कुछ चलता ही नहीं है, उनके यहाँ 'क' का साम्राज्य है। पाँच ककार होते हैं उनके। तो, कृष्ण नाम दिलमें छिपे हुए प्रेमको निकालकर सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त कर देनेवाला है। उच्चारणमें 'क'की स्थिति नीचे कंठमें है, 'ऋ' 'ष', 'ण', इन तीनोंकी स्थिति उसके ऊपर है। मतलब यह कि कण्ठसे नीचे अटकी हुई जो भावनाएँ हैं, वासनाएँ हैं और उनको लेकर बैठा हुआ जो जीव है, उसको 'क' ऊपर खींचता है, 'ऋ' उसे

सिरमें परमात्माके पास पहुँचाता है और 'ष' 'ण' ये दोनों मिलाकर मिला देते हैं परमात्माको।

कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण! यह अद्‌भुत शक्ति-सम्पन्न शब्द है। प्राकृतमें श्रीकृष्णको कनहड़ बोलते हैं। व्रजमें कृष्णको बड़े प्यारसे कान्हा, कन्हैया, कनुआ बोलते हैं। अपने बेटेका नाम काला रखना साधारण प्यारका सूचक नहीं है, अन्यथा बेटा भले ही काला हो, लोग उसका नाम सुवर्णप्रसाद ही रखते हैं। तो, कालेको काला कहना बड़े भारी प्यारका लक्षण है और वह कृष्ण नाम नन्दबाबाके मुखपर बारम्बार आता है।

नन्दबाबा कहते हैं कि हम कृष्णको स्मरण करते हैं—**स्मरतां**। क्या स्मरण करते हैं? पराक्रमका स्मरण करते हैं—**वीर्याणि**। कैसा पराक्रम? देखो, अजगरने मुझे खाना चाहा, तो कृष्णने पाँवसे छूकर उसको निर्बल बना दिया। पानीके देवताने मुझे डुबोना चाहा, कृष्णने बचा लिया। अग्निने हमको जलाना चाहा, कृष्ण पी गये अग्निको। वायु देवताने हमको उड़ाना चाहा, कृष्णने पहाड़की आड़ कर दी। हम उसके किस-किस पराक्रमकी याद करें? यदि कहो कि हम उसके पास चले क्यों नहीं जाते—तो जब उसमें इतना सामर्थ्य है—तब उसका मिलनेका मन होगा, तो वह स्वयं हमारे पास नहीं आजायेगा? अथवा हमको पकड़कर खींच नहीं लेगा? अब हमारे करनेके लिए बाकी ही क्या रह गया है? **सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः**—हमारी तो सब क्रियाएँ शिथिल पड़ गयी हैं। योगियोंकी समाधिमें जैसे स्थिति होती है वैसी स्थिति हमारी हो गयी है। वेदान्तियोंकी जैसी नैष्कर्म्य स्थिति होती है, वैसी हमारी अपने आप हो गयी है।

अब देखो भगवान्‌के स्मरणकी विशेषता। कहते हैं कि श्रीकृष्णका स्मरण करने पर सारे साधन अपने आप ही आजाते हैं। पहले जब मैं श्रीकृष्णमन्त्रका जप करता था तब किसीने समझाया कि कुण्डलिनी-जागरणके लिए योगकी विशेष क्रिया करनी चाहिए। इसपर मैंने एक महात्मासे पूछा, तो वे बोले—कि योग-क्रिया करनेकी कोई आवश्यकता नहीं, इस कृष्ण—नाममें ही ऐसी शक्ति है कि इससे कुण्डलिनी जाग्रत् हो जायेगी। यदि तुम दूसरा साधन करने लगोगे तो मन अन्यत्र चला जायेगा और अन्याश्रय हो जायेगा। प्रेमकी दिशा बदल जायेगी। प्रेमका स्वभाव है कि वह एक दिशामें चलता है—तब तो पूरा होता है, अन्यथा इधर-उधर चलनेपर गड़बड़ा जाता है, क्षीण हो जाता है। इसलिए प्रीतिको एक मार्गमें ले चलना चाहिए। ज्ञानसे जो नैष्कर्म्य प्राप्त होता है, वह 'कृष्ण-कृष्ण'का जप करनेसे

भी प्राप्त हो जाता है। समाधिसे जो नैष्कर्म्य प्राप्त होता है, वह भी 'कृष्ण-कृष्ण'से प्राप्त हो जाता है। संसारसे जो उपरामता प्राप्त होती है, कुछ करनेका मन ही नहीं होता—वह भी श्रीकृष्ण-स्मरणका ही फल है।

कृष्णस्य सर्वाकर्षकस्य, सर्वचित्ताकर्षकस्य--सबके चित्तको अपनी ओर आकर्षित करनेवाला, खींचनेवाला कृष्ण बड़ा प्रबल है। मैं एक बार इसी बम्बईके प्रेम-कुटीरमें श्रीकृष्ण-चरितकी कोई कथा कहने लगा तो वहाँके एक बड़े निष्ठावान वेदान्ती मेरे पास एकान्तमें आये और बोले—कि महाराज, आप हमारे दिलको झकझोर देते हो। हमारे मनमें यह संशय हो जाता है कि हमें क्या करना चाहिए? इसलिए यह सब यहाँ मत सुनाया करो। मैंने उत्तर दिया—कि मैं तो भक्तिके प्रसंगमें भक्तिकी बात सुनाता हूँ और ज्ञानके प्रसंगमें ज्ञानकी बात सुनाता हूँ। रामके ब्याहमें गये, तो रामका गीत गाया और श्यामके ब्याहमें गये, तो श्यामका गीत गाया। जिसका ब्याह, उसका गीत। जैसा प्रसंग-वैसी उसकी चर्चा। मेरे लिए तो जो ब्रह्म है, वही कृष्ण है, जो कृष्ण है, वही ब्रह्म है, जो ब्रह्म कृष्ण है, वही मैं हूँ, जो मैं हूँ वही ब्रह्मकृष्ण है। सबका आत्मा एक है, अद्वय है। अतः अमुकके नामपर ऐसा कहा जाय और अमुकके नामपर वैसा कहा जाय, यह बात बनती नहीं है।

श्रीकृष्णसे प्रेम करनेवालोंको उनके पराक्रमोंका स्मरण होता है। पूतना विषरूप है। शकटासुर मृत्तिका रूप है। दावनल अग्निरूप है। कालियनाग जलका दोष है। इनमें भी सात्त्विक, राजस, तामसकी दृष्टिसे भेद होते हैं। विष तामस दोष है, कालियनाग राजस दोष है, गरुड़ सात्त्विक दोष है। इन तत्त्वोंमें जो दोष हैं, उनका निवारण—अर्थात् पंचभूत और पांचभौतिक शरीरसे पृथक् करना श्रीकृष्ण प्रेमसे होता है।

नन्दबाबा वर्णन कर रहे हैं कि उद्धव, हमारे सारे कर्म हमसे छूट रहे हैं—

सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः।

इस प्रसंगमें श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने कहा है कि यहाँ 'क्रियाः'के पहले जो 'सर्वाः' है उसका अर्थ समझो। नन्दबाबाकी दैहिक क्रिया भी छूट रही है, लौकिक क्रिया भी छूट रही है और मानसिक क्रिया भी छूट रही है। घर-गृहस्थी और कुटुम्बसे सम्बन्ध रखनेवाले सारे क्रिया-कलाप छूट रहे हैं। सब कुछ शिथिल पड़ता जा रहा है। इसलिए नन्दबाबा कहते हैं कि उद्धवजी, किसीको मथुरा चलनेके लिए कहनेका मन नहीं होता। यह भी मन नहीं होता कि मथुरा जानेके

लिए पाँव उठाकर धरती पर रखें। और तो और, स्नान करनेका मन नहीं होता, भोजन करनेका मन नहीं होता। पानी पीनेका मन नहीं होता, पलक उठानेका मन नहीं होता। हम तो बस श्रीकृष्णके पराक्रममें मग्न हैं। अब हम क्या करें!

यहाँ देखो, भगवान्‌के जो पराक्रम प्रकट हो रहे हैं, वे दुःखकी निवृत्तिके लिए हैं। इन्द्रियोंके मालिक हैं इन्द्र। कर्मका दोष निवृत्त करनेके लिए श्रीकृष्णका वीर्य है, पराक्रम है—गोवर्धन-धारण। इसी प्रकार आकाशके दोषकी निवृत्तिके लिए व्योमासुर, प्राणके दोष—निवारणके लिए प्रलम्बासुर, धर्मके दोष निवारणके लिए वृषभासुर, देहाध्यासके दोषके निवारणके लिए धेनुकासुर और अविद्याके दोष-निवारणके लिए पूतनाका संहार अथवा उद्धार हुआ है। श्रीकृष्णके इन पराक्रमोंका रहस्य यही है कि इनका जब स्मरण होता है तब दोषोंकी निवृत्ति होती है।

किन्तु मनुष्य-जीवनमें दोष-निवृत्ति ही सब-कुछ नहीं है। रसास्वाद भी होना चाहिए, गुणाधान भी होना चाहिए। इसलिए नन्दबाबा कहते हैं—**लीलापाङ्गनिरीक्षितम् हसितं भाषितं चाङ्गसर्वा नः शिथिलाः क्रियाः**—श्रीकृष्णका स्मरण करानेवाले आठ पदार्थोंमें उनका पराक्रम प्रथम है। दूसरा 'लीलापाङ्गनिरीक्षितम्'। आँखोंमें जो स्वाभाविक विलास होता है, उसको लीला कहते हैं। 'अपाङ्ग' माने आँखका कोना और लीलापूर्वक आँखके कोनेसे, कनखियोंसे जो निरीक्षण है, जिसमें तरह-तरहके इशारे हैं—जैसे माँग लेना, मना कर देना, कहीं पहुँचनेके लिए कह देना, प्रेम प्रकट कर देना आदि—वह है—**लीलापाङ्गनिरीक्षितम्**। श्रीकृष्ण वाणीका प्रयोग किये बिना केवल आँखोंके कोनेसे बहुत कुछ कह जाते हैं। जैसे कहना हो—कि गोपी! तुम हमारे प्राण हो—तो यह आँखसे कह देते हैं। उसमें भावका माधुर्य है, आर्ति है, याचना है। वह ललित है, कलित है, वलित है, भिन्न-भिन्न भावोंका प्रदर्शन है। एक बार मय्या और बाबा दोनों सामने खड़े थे। मय्याने कहा—लाला मुझसे ज्यादा प्रेम करता है और बाबाने कहा—नहीं, लाला हमसे ज्यादा प्रेम करता है। फिर दोनोंने कहा—अच्छा, लालासे पूछ लिया जाय। अब श्रीकृष्ण मुँहसे कह रहे हैं कि बाबा! तुम ज्यादा प्रेम करते हो, मेरा तुमसे ज्यादा प्रेम है, लेकिन आँखसे मय्याको बता रहे हैं—कि चुप रहना, बोलना नहीं। बाबाको कहने दो, मैंने उनको खुश करनेके लिए कहा है। हम तुम तो एक हैं। फिर श्रीकृष्ण बाबाकी गोदमें चले गये और कानमें कह दिया कि बाबा! मैं प्रेम तो तुमसे ज्यादा करता हूँ, लेकिन मय्या दुःखी न हो, इसलिए उसकी गोदमें

चला जाता हूँ। फिर जोरसे यह बोलते हुए कि न, न, मैं तो मय्याके पास रहूँगा—मय्याकी गोदमें चले गये। यह श्रीकृष्णके ध्यानकी लीला है। जो लोग उनके बालचरित्रको अनुकरणकी दृष्टिसे, अनुसन्धानकी दृष्टिसे पढ़ते हैं, उन लोगोंकी समझमें वह आनेवाला नहीं है। यह तो श्रीकृष्णका प्रेम-पूर्वक ध्यान करनेवालोंकी मनोवृत्तिको पकड़नेके लिए है।

हसितं भाषितं चाङ्ग—श्रीकृष्ण कभी हँसते हैं, कभी मुस्कुराते हैं। देखनेवाला पागल हो जाता है। ***हासो जनोन्माद करी च माया***—स्वजनोंको उन्माद प्रदान करनेवाली माया श्रीकृष्णके हासमें है। आपको एक उदाहरण सुनावें—

मय्या श्रीकृष्णको गोदमें लेकर अपने स्तनोंका दूध पिला रही है। श्रीकृष्ण पीते गये, पीते गये। यह सोचकर कि लालाको कहीं अपच न हो जाय, उनका मुँह हटा दिया और चूमने लगी—कि कहीं रो न पड़े। श्रीकृष्ण हँस पड़े। मय्याने उनके मुँहमें देखा तो सम्पूर्ण विश्व दूध पी रहा था। श्रीकृष्णके हँसते ही माया आगयी और मानो बोली कि अरी मय्या, क्या तू समझती है कि मैं अकेला दूध पी रहा हूँ। देख, मेरे मुँहमें। सारी दुनिया दूध पी रही है। माँने गोदमें उठा लिया—

तमङ्कमारूढमपाययत् स्तनं स्नेहस्रुतं सस्मितमीक्षती मुखम्।

मय्याका दूध पीते समय श्रीकृष्णके मुखपर बार-बार मुस्कान आती है। मय्या उसे देखती है और दूध पिलाती जाती है। एक बार बोले कि मय्या! तुमको मैं प्यारा हूँ कि दूध प्यारा है? मय्या बोली कि बेटा, तुम प्यारे हो, दूधमें क्या रखा है! इसपर भी श्रीकृष्ण हँस गये। उधर दूधमें उफान आगया। मय्या उसे सम्हालनेके लिए लालाको धरतीपर रखकर चली गयी। बस, यही माया है। दूधमें जो उफान है, वह भी माया है।

हसितं—श्रीकृष्णका हास्य बड़ा उदार हृदय है। वह बड़ी उदारतासे हँसते हैं, हँसनेमें कंजूसी नहीं करते। आप लोगोंमें-से कई लोग ऐसे हैं, जो भीतर-ही-भीतर हँसते तो हैं, लेकिन झेंपते भी जाते हैं। किन्तु भगवान् हँसते हैं, तो झेंपते नहीं। उन्मुक्त, खुला हास्य है उनका। परन्तु उनके उदार हास्यका दूसरा तात्पर्य भी है। हँसी शरीरमें होनेवाली एक चेष्टाका नाम है और वह आनन्दकी अभिव्यक्तिके लिए होती है। भगवान् ऐसी-ऐसी बहुत सारी चेष्टाएँ करते हैं, पाँवसे नाचते हैं, उँगलीसे इशारा करते हैं, आँखसे देखते हैं और मुखारविन्दसे हँसते हैं। किन्तु उनकी हँसी-रूप चेष्टामें यह उदारता है कि आपके जीवनमें चाहे जितना भी दुःख हो, आप एक बार ध्यान कीजिए—कि श्रीकृष्ण हँस रहे

हैं—तो तत्काल वह दुःख दूर हो जायेगा और आपके हृदयमें आनन्दकी अभिव्यक्ति हो जायेगी। भगवान्‌की हँसीमें हमारे हृदयके दुःखको मिटाकर आनन्द देनेकी उदारता है। जब आप भगवान्‌की हँसीका ध्यान करोगे, तो उनका पूरा मुखारविन्द आपको ध्यानमें आ जायेगा और जब उनका पूरा मुखारविन्द ध्यानमें आजायेगा तो उनका पूरा शरीर भी नख-शिख तक आपके ध्यानमें आजायेगा। ठुमुक-ठुमुककर नाचता और पादविन्यास करता हुआ, पीताम्बरधारी, मोरमुकुट, विशाल वक्षःस्थल और प्रेम भरी आँखोंवाला, मुरलीमनोहर, उदार-चक्र चूड़ामणि, श्यामसुन्दर तुम्हारे हृदयमें प्रकट हो जायेगा। हँसी भगवान्‌की सेविका है, दासी है, चेष्टा है, परन्तु उसमें इतना सामर्थ्य है कि वह अपने स्वामीको, श्यामसुन्दरको प्रकट कर देती है, इसलिए तुम उससे अपना नाता-रिश्ता जोड़ लो! बारम्बार उसको देखो, उसका स्मरण करो, वह तुम्हारे हृदयमें श्यामसुन्दरको लाकर बैठा देगी और संसारका जो रोना-धोना है, उसे बहा देगी। यह जीवन दुःखी होनेके लिए नहीं प्राप्त हुआ है, अपितु तुम्हारी आत्मामें, तुम्हारे हृदयमें जो भरपूर सच्चिदानन्द है, उसे प्रकट करनेके लिए हुआ है। अतः भगवान्‌की हँसीको निमित्त बनाकर इसे जाहिर करो।

हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः।

अब '**भाषितं**' पर ध्यान दो। आजकल लोग विलायतसे भाषणकी कला सीखकर आते हैं। भाषण-कला सीखनेके लिए विदेश जाते हैं, किन्तु अपने सद्‌गुन्थोंमें वह कितनी विकसित है, इसपर ध्यान नहीं देते। श्रीमद्‌भागवतमें अनेक स्थानोंपर महापुरुषोंके व्याख्यान हैं। पृथुका व्याख्यान है, सनत्कुमारका व्याख्यान है, ऋषभदेवका व्याख्यान है, द्रौपदीका व्याख्यान है। द्रौपदीके व्याख्यानमें क्या-क्या गुण थे, इसका वर्णन है—

धर्मं धर्म्यं न्यायं सकरुणं निर्व्यलीकं समं महत्।

द्रौपदीके भाषणमें छः गुण थे। आप भी अपने घरमें बात-चीत करें, तो इसका ध्यान रखें। भाषण एक तो धर्मके विरुद्ध न हो। दूसरे उसमें न्याय हो, किसीके साथ पक्षपात नहीं हो। तीसरे वह सम हो, उसमें राग-द्वेष न हो। चौथे दुःखीके प्रति करुणा हो। पाँचवें वह निर्व्यलीक हो—उसमें छलकपट न हो, झूठ न हो और छठें वह महत् हो, उसमें अपनी ओरसे खूब उदारता बरती गयी हो। इन छः बातोंको ध्यानमें रखकर द्रौपदी अपने मुँहसे कुछ बोलती थी। इसी प्रकार पृथुके

भाषणमें चार गुण रहते थे—**सारं सुष्ठु मितं मधु**—वे जब कभी बोलते थे, सार-सार बोलते थे। यह नहीं कि बात थोड़ी हो, किन्तु बोलते समय उसमें घण्टाभर लगा दिया और सार कुछ नहीं निकला। पृथु सुष्ठु बोलते थे, निर्दोष बोलते थे। व्याकरणकी दृष्टिसे भी उसमें दोष नहीं होता था। पृथु मित बोलते थे, थोड़ेमें सब कुछ कह देते थे। और मधु बोलते थे, उसमें मिठास होती थी। यह सब इसलिए बताया कि श्रीमद्भागवतमें भाषणको बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है। यदि लोग उसपर ध्यान दें, तो उसकी कलामें पारंगत हो सकते हैं।

अब हम आपको श्रीकृष्णके भाषणकी बात सुनाते हैं। गोवर्द्धन—धारणका प्रसंग देखिये, श्रीकृष्णको मालूम था कि इन्द्रकी पूजाके लिए क्या-क्या समारम्भ हो रहे हैं। उनको उसका विरोध करना था। किन्तु वे शान्त भावसे सभामें आये। पहले नन्दबाबाको प्रणाम किया, फिर नीचे बैठ गये और नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर बोले कि पिताजी, यह क्या हो रहा है? पहले ऐसे बोले, जैसे कोई अनजान भोला-भाला बोलता है। जब नन्दबाबाने सब कुछ बता दिया, तब श्रीकृष्ण गम्भीर हुए और ऐसा भाषण दिया, जो **सारं सुष्ठु मितं मधु**से ओत-प्रोत है। उनके भाषणका सार यह है कि स्वर्गके सम्पूर्ण देवताओंके राजा इन्द्रकी अपेक्षा अधिक महत्त्व हमारी व्रजभूमिकी एक शिलाका है। इसकी पूजा करो। जिस धरतीपर हम घूमते हैं, उसकी पूजा करो। जो हमारी गायोंको भोजन देता है, उसकी पूजा करो। पूरा भाषण भागवतमें है और उसमें बड़े भारी सिद्धान्तका प्रतिपादन है।

नन्दबाबा कहते हैं कि प्यारे उद्धव, जब हम कृष्णके भाषणका स्मरण करते हैं, तब यह ख्याल होता है कि अब हमें कुछ करनेकी जरूरत ही नहीं है। जो हो रहा है, वह ठीक है। जो हुआ है, वह ठीक है। हमारी तो सारी क्रियाएँ, हमारे सारे-कर्म-पक्ष कृष्णके प्रेममें शिथिल हो गये हैं।

अच्छा आगेका प्रसंग कल सुनावेंगे।

❋

चौदहवाँ प्रवचन

सरिच्छैलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्॥ २२॥
मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा॥ २३॥

जैसा कि कई दिनोंसे प्रसंग चल रहा है, नन्दबाबा उद्धवजीसे अपनी दशाका वर्णन कर रहे हैं। कहते हैं कि श्रीकृष्णका पराक्रम, उसकी प्रज्ञा, उसका प्रभाव, उसकी वीरता सब-कुछ अवर्णनीय है। मैं कहाँतक बताऊँ? जिसको ऐसा यशस्वी बेटा मिला हो, उसका कोई कर्तव्य शेष रह जाता है? वह जितना ऐश्वर्य-सम्पन्न है, उतना ही माधुर्य-सम्पन्न है। लीलापूर्ण दृष्टिसे आँखके कोनेसे देखना, उसीसे सब-कुछ कह देना और सामनेवालेके मनका अपहरण कर लेना—यह कृष्णकी विशेषता है। उसकी हँसी, उसका भाषण, उसका एक-एक व्यवहार भुलाये नहीं भूलता। उसका सब कुछ अविस्मरणीय है। उससे हम इतने प्रभावित हैं कि हमारी सब क्रियाएँ शिथिल हो गयी हैं। अब हमारे लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह गया है।

आप जानते हैं, शास्त्रमें यह विधान है कि विधि और निषेध दोनोंकी एक अवधि है, एक सीमा है, एक मर्यादा है—

स्मर्तव्यः सततं विष्णुः विस्मरेन्न तु जातुचित्।

शास्त्रके विधि-निषेधोंका वास्तविक तात्पर्य यह है कि आपके हृदयमें रात-दिन भगवान्‌का स्मरण होने लगे, एक क्षणके लिए भी भगवान्‌का विस्मरण न हो। यदि किसी भी कारणसे तुम्हें भगवान्‌का स्मरण निरन्तर होने लगा, तो तुम्हारे लिए फिर किसी भी शास्त्रीय विधि-निषेधकी आवश्यकता नहीं। जब फलकी प्राप्ति हो गयी, तो पेड़पर ढेला फेंकनेकी क्या जरूरत? जितने भी साधन हैं, वे पेड़पर ढेला फेंकनेके समान हैं और उनका फल भगवान्‌का निरन्तर स्मरण है।

नन्दबाबा, यशोदा मय्या, ब्रजवासी—इन सबको श्रीकृष्णके स्मरणका नैरन्तर्य प्राप्त हो गया है। कैसे हुआ? भगवान्‌के सम्बन्धसे हुआ, सौन्दर्य-माधुर्यके

आस्वादनसे हुआ और ऐश्वर्यके दर्शनसे हुआ। जब उनको निरन्तर भगवत्स्मृतिकी प्राप्ति हो गयी, तो अब उनके लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा। धीरे-धीरे उनकी सारी क्रियाएँ शिथिल हो गयीं। भक्त लोग कहते हैं कि अब हमें मुक्तिकी ओर देखनेकी भी जरूरत नहीं है। मतबल यह कि आँखकी पलक उठावें, तब तो मुक्तिकी ओर देखें। वृन्दावनधामके एक भक्त अपनी कुटियामें बैठकर भजन कर रहे थे। कुटिया पक्की नहीं, झोपड़ी थी। चारों तरफ बाँसका घेरा लगा हुआ था। रातको कुछ खट-खट हुई, तो देखा-मुक्ति चार रूप धारण करके सामने दरवाजेपर खड़ी है। मुक्ति तीन तरहकी होती है—रूपिणी, अरूपिणी और उभयात्मिका; सामीप्य, सालोक्य और सारूप्य—ये तीन मुक्तिरूपिणी होती हैं। कैवल्य मुक्ति अरूपिणी और उभयात्मिका होती है। इन चारों रूपोंमें मुक्ति सामने खड़ी थी। भक्त बोले कि क्यों, क्या बात है? मुक्ति बोली—महाराज, हम आपकी सेवा करनेके लिए आयी हैं। महात्मा बोले कि अच्छा देखो, मुझे अवकाश मिलेगा, तो तुमसे बात करूँगा। अभी तो मौका नहीं है। मुक्तिने पूछा कि महाराज! किस काममें लगे हो? महात्माने उत्तर दिया, काम क्या बतावें, तुम खुद ही देख लो—

रोमाञ्चेन चमत्कृतिप्रततया भक्त्या मनो नन्दितम्।
प्रेमाश्रूणि विभूषयन्ति वदनं कण्ठं गिरो गद्गदाः॥
नास्माकं क्षणमात्रमप्यवसरः कृष्णार्चनं कुर्वताम्।
मुक्तिर्नो विदधाति किं बहुविधाः यूयं तस्या च किं जायते॥

शरीरमें रोमांच है, चमत्कार है, सीत्कार है। रोएँ खड़े हैं। भक्तिसे मन आनन्दित है। आँखोंसे प्रेमके आँसू बह रहे हैं। कण्ठमें वाणी गद्गद हो रही है। श्रीकृष्णकी सेवा-पूजा हो रही है। क्षणभरका भी अवकाश नहीं। फिर मैं चार प्रकारकी मुक्तिका क्या करूँगा? वह बारम्बार क्यों खटपट कर रही है? क्यों चंचलता दिखा रही है? मुझे मुक्तिकी कोई जरूरत नहीं। मुक्ति चाहनेवाले तो दूसरे लोग होते हैं। जिनके जीवनमें दुःख-ही-दुःख होता है, वे चाहते हैं कि इससे कब छूटें और कब मुक्ति पावें। किन्तु जिनके जीवनमें आनन्द होता है, वे उससे क्यों छूटना चाहेंगे? जिनको सेवाका आनन्द आ गया, पूजाका आनन्द आगया, प्रेमका आनन्द आगया, वे इससे छूटना क्यों चाहेंगे? उन्हें तो सुख-ही-सुख है। वे जहाँ देखते हैं, वहाँ अपना प्यारा दिखायी देता है।

जित देखौं तित स्याममयी है। वे तो प्रेममें मग्न हैं! उनके लिए मुक्ति अपेक्षित नहीं होती है। एक भक्त कहते हैं—

नार्था भ्रमे न वसूनिचये नैव कामोपभोगे
यद् भावयत् तद् भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत् प्रार्थ्यं मम बहुमतं जन्म जनमान्तरेपि
त्वत्पादपादाम्भोरुहगता निश्चला भक्तिरस्तु॥

धर्ममें अपनी आत्मा है, धन चाहिए नहीं और भोगमें कोई रुचि नहीं हैं। तब इस जीवनमें क्या चाहिए? सुख चाहिए? वह भी नहीं चाहिए। जो होना हो; हो जाय—

'होनी होय सो होय।' मैं तो गिरिधर हाथ बिकानी।

अब तो हमने अपनी जिन्दगी श्यामसुन्दरके हाथ बेच दी, जो होना हो, वह हो जाय। जब घोड़ा बेच दिया, तब वह मरता है या जिन्दा रहता है, उसका मालिक क्या करता है—इससे क्या मतलब? इस शरीरका घोड़ा तो अब श्यामसुन्दरका हैं, इसपर चढ़ो, चाहे मत चढ़ो, इसे खिलाओ चाहे मत खिलाओ, रखो चाहे मत रखो—इससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। न मैं, न मेरा, यह तो तुम्हारा है। बोले—अच्छा मोक्ष तो चाहिए? नहीं, वह भी नहीं चाहिए। जन्मजन्मान्तरेपि—एक जन्म नहीं, हजार जन्म हों, इसकी चिन्ता नहीं। हम चाहते केवल यही हैं कि प्रभो! तुम्हारे चरण-कमलोंमें हमारी निश्चल भक्ति होवे, निश्चल प्रीति होवे। अरे भाई, इस जन्ममें नहीं तो अगले जन्मके लिए ही सही, स्वर्ग या मोक्ष कुछ तो चाहिए? नहीं, कुछ भी नहीं चाहिए, क्योंकि—

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तकप्रकामम्।
अवधीतशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

भक्त भगवान्‌के ऐश्वर्य, भगवान्‌के माधुर्य, भगवान्‌के लीलापाङ्गनिरीक्षित, भगवान्‌के हसित, भगवान्‌के भाषितको स्मरण करते हैं और वे सम्पूर्ण कर्म तथा कर्म-फलोंसे स्वभावतः मुक्त हो जाते हैं।

अब उद्धवजीने कहा कि नन्दबाबा! तुम दिन भर घरमें बैठे रहते हो। बैठे-बैठे तुमको कृष्णकी याद आती रहती है और सब काम-धन्धा छूट गया है। इसलिए थोड़ी देरके वास्ते घरसे बाहर निकल जाया करो। बाहर जानेपर देखोगे—नदी है, पर्वत है, वन है। ये सब निर्मल, शान्त-रस प्रदान करनेवाले हैं। जिस वस्तुमें यह ममता होती है कि यह मेरी है, उसको देखनेसे शान्तरसका उदय जल्दी नहीं होता, किन्तु जिस वस्तुमें ममत्व नहीं होता उसको देरतक देखते रहो, तो हृदयमें शान्तरसका प्रार्दुभाव होता है। यह स्वाभाविक बात है। उदाहरणके

लिए गंगा किनारे बैठ जाओ और सोचो कि गंगा किसकी है? तुम्हारी है, दूसरेकी है या तीसरेकी है? नहीं, नहीं, वह किसीकी नहीं है, केवल भगवान्‌की है। इस भावसे आप गंगाजीका दर्शन करोगे, तो हृदयमें शान्तरस आयेगा। बद्रीनाथजीकी यात्रामें जाते हो, तो देखते हो कि बड़े बड़े पहाड़ खड़े हैं, दूर दूरतक बहुत अच्छी हरियाली है, बर्फ है; और उन सबको देखकर चित्त शान्त हो जाता है, निर्मल आनन्दका उदय होता है, आह्लाद होता है, परन्तु ममत्व नहीं होता। इसीका नाम शान्तरस है। उद्धवजीने कहा कि बाबा! तुम्हारे हृदयमें पुत्र-वियोगके कारण व्याकुलता आगयी है, इसलिए सारी क्रियाएँ शिथिल हो गयी हैं। तुमको सब समय वही दिखता रहता है। अतः मन बहलानेके लिए थोड़ी देर घरसे बाहर निकलो।

नन्दबाबाने कहा कि बेटा उद्धव, क्या बताऊँ? मैंने बाहर जाकर भी देख लिया। जैसे घरका कोना-कोना कृष्णकी स्मृतिसे सराबोर है, वैसे बाहरकी भी एक-एक वस्तु कृष्णकी स्मृतिसे भरी हुई है। जहाँ भी, जिस वस्तुको देखो, वही वस्तु कृष्णका स्मरण दिलाती रहती है।

इस प्रकार नन्दबाबाने पहले चार बातें बतायीं—

वीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितं हसितं भाषितं....।

अब चार बातें और बताते हैं और ये दोनों मिलकर भगवान्‌के आठ स्मारक हो जाते हैं—

सरिच्छैलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्॥ २२॥

नन्दबाबा कहते हैं कि प्यारे उद्धव, जब मैं सरिता—तटपर जाता हूँ, गिरिराजकी ओर देखता हूँ, बनपर मेरी दृष्टि पड़ती है, तो उन सब जगहोंपर उसकी याद आती है, क्योंकि इन सब स्थानोंपर उसने लीलाएँ की हैं, सब जगहोंपर खेला है। ब्रजकी चप्पा-चप्पा भूमि कृष्णके चरण-चिह्नों से भूषित है। जहाँ भी जाओ, वहाँ कृष्णका ही स्मरण होता है। यहाँ देखो, नन्दबाबाके कथनमें तीन नाम पहले आये हैं—सरिता, शैल और बन। उद्देशका अर्थ प्रदेश भी है और नाम भी है। सरिता, शैल और वन—तीनों प्रेमके प्रतीक हैं। सरिता पर्वतमें-से निकलती है, बहती है और घूम-फिरकर समुद्रमें जा मिलती है। बहना इसका धर्म है। सरिता उसीको कहते हैं, जो निरन्तर गतिशील हो। सरित् शब्द गत्यर्थक धातुसे बना है। उपनिषद्‌में वर्णन आता है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय।

जैसे नदियाँ स्यन्दमान अर्थात् धीरे-धीरे बहती हैं, कहीं पर चट्टान, पेड़ या झाड़-झंखाड़ पड़ता है, तो थोड़ी देर रुक जाती हैं और फिर उनको तोड़कर बहा देती हैं। समुद्रमें पहुँचे बिना उनको शान्ति नहीं मिलती। वैसे ही प्रीति हृदय-सरोवरसे निकलकर भगवान्‌की ओर चलती है। मानस-सरोवर ही प्रीति-सरिताका उद्‌गम स्थान हैं। वही इसका ग्लेशियर है। दिल गलता है और सलिलकी भाँति वह बह निकलता है। प्रेममें प्रवाह है; वह अनन्त है, प्रतिक्षण वर्धमान भी है। वह नहर नहीं, गंगा है। नहर जहाँसे निकलती है, वहाँ तो बड़ी होती है, लेकिन ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती है, पानी घटता जाता है। वह छोटी होती जाती है और सूख भी जाती है। जहाँ नदी निकलती है, वहाँ छोटी होती है पर ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों बड़ी होती जाती है। वैसे प्रतिक्षण प्रवहमानता तथा वर्धमानता प्रेमका स्वभाव है, वैसे ही प्रेमकी नदी, प्रीतिकी सरिता प्रतिक्षण प्रवाहित और वर्धमान होकर निरन्तर भगवान्‌की ओर बढ़ रही है। एक भक्त कविके शब्दोंमें—

द्विगुणित मम चित्तधारा।

मेरे चित्तकी धारा क्षण-क्षणमें द्विगुणित होकर, अपने प्रियतम श्यामसुन्दरसे मिलनेके लिए दौड़ रही है।

अब शैलपर ध्यान दो। शैल प्रेमकी दृढ़ताका प्रतीक है। जैसे पर्वत दृढ़ है, स्थिर है और उसकी दृढ़ता-स्थिरता ही जगत्‌की रक्षा करती है, वैसे ही प्रेम भूमि व्रजका रक्षक गोवर्धन है, जिसको भगवान् अपने हाथपर धारण करते हैं।

प्रेममें पर्वत-सरीखी दृढ़ता और सरिता-सरीखा प्रवाह है। **वनोद्देशान्**—वन खेलनेके लिए छाया देता है। उसमें फूल खिलते हैं, फल लगते हैं और वे प्रेमियोंके काम आते हैं।

व्रजके वनोंमें बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और सन्त-महात्मा भगवान्‌के विरहसे जन्य जड़ताको दूर करनेके लिए वृक्ष बने हुए हैं। वन दूसरोंकी दृष्टिसे तो एक वस्तु है, किन्तु स्वयं अपनी दृष्टिमें कुछ नहीं है। 'श्लोकवार्तिक' नामक ग्रन्थमें कुमारिल भट्टने इस विषयपर बड़ा भारी विचार किया है कि वन नामका कोई पदार्थ है या नहीं, वनकी अपनी कोई आकृति है या नहीं, वनकी कोई जाति है या नहीं? वन आरम्भ है कि परिणाम है कि विवर्त है? वन वस्तुतः है क्या? एक वृक्षका नाम है या अनेक वृक्षोंका नाम है—इत्यादि। आप तो व्रजके वनको देखो। यह प्रेमका वन

है। प्रेममें अभिमान नहीं होता। जहाँ यह अभिमान आया कि मैं बड़ा भारी प्रेमी हूँ, वहाँ प्रेम पर वज्र गिरा।

प्रेमी तो यह मानता है कि श्यामसुन्दरके प्रति मेरे हृदयमें लेशमात्र भी प्रेम नहीं है। मेरा यह रोना-धोना तो सब दिखानेके लिए है।

'द्वारादयं वदनतस्तु निर्याति शान्तिमथवा तनुतामुपैति'—प्रेम मुँहके दरवाजेसे बाहर निकलते ही क्षीण हो जाता है।

सरिता मिली तड़ागसे हो गई कूल दुलार।
नाम मिट्यौ सरिता भई अब कौन निबड़ै बार।
ग्वालिनी प्रगट्यो पूरन नेहु,
दधिभाजन सिर पै लिए, वै कहती गुपालहिं लेहु

ग्वालिनी गोरसका मटका सिरपर लिए जा रही है। उसे कहना तो यह है—कि 'कोई दही लेगा दही?' किन्तु यह भूल गयी है और बोलती है कि 'कोई गोपाल लेगा गोपाल' मतलब यह हुआ कि उसके मटकेमें कृष्ण हैं और वह कृष्णको बेचनेके लिए निकली है। यह है प्रेम—प्रमत्तकी अवस्था। वह निकलता कहींके लिए है, जाता कहीं है।

धरत कहीं पग परत कि तैकूँ भूल जाय गति धामकी।
लगन लगी घनश्याम की।

प्रेम निरभिमान होता है। उसमें भावके फूल खिलते रहते हैं और अपने प्रियतमको रस देनेके लिए फल लगते रहते हैं। प्रेमी अपने प्रियतमको अपनी गोदमें लेकर, अपनी छायामें लेकर लाड़ लड़ाते रहते हैं।

कदम कुंज ह्वैहों कब हौं वा वृन्दावन माँहि।
ललित किसोरी लाड़िलै विहरेंगे तेहि छाँहि॥

वृन्दावनके सारे वृक्ष अधोमुख हैं। प्रत्यक्ष देखना हो, तो वृन्दावन चलो, अन्यथा मन-ही-मन चलो। कोई वृन्दावन जाय और वहाँ कृष्णको भूल जाय, यह सम्भव नहीं है, क्योंकि वहाँ तो—मुकुन्दपदभूषितान्—नदीका जल भी मुकुन्द पद-भूषित है। नदीका पुलिन भी मुकुन्द पद-भूषित है। मुकुन्द कौन? जो मुक्ति दे-वह मुकुन्द—

मुकुं मुक्तिं ददाति इति मुकुन्दः।

नन्दबाबाको सरिता, शैल और वन तीनों जगह मुक्ति मिली है। सरिता में नन्दबाबाको मुक्ति मिली। उनको वरुणका अनुचर रातके समय पकड़कर ले गया

था। कृष्णने वहीं, नदीमें जाकर नन्दबाबाको छुड़ाया था। अतः नन्दबाबाके लिए कृष्ण मुकुन्द-मुक्ति देनेवाले हुए। इसीलिए नन्दबाबा बोलते हैं कि जब नदीकी ओर देखता हूँ, तो यही याद आता है कि वरुणका दूत किस प्रकार मुझे पकड़कर ले गया और हमारे श्याम सुन्दर, मुरली मनोहरने किस प्रकार मुझे उससे बचाया। फिर जब हम अपने शरीरको देखते हैं तब यह प्रतीत होता है कि कृष्णने कैसे हमको अन्याश्रयसे छुड़ाया। हम लोग इन्द्रकी पूजा करते थे, वह छुड़ाकर उसने हमसे गिरिराजकी, भूमिकी पूजा करवायी। कृष्णने किस प्रकार इन्द्रकी पूजाका परिवर्तन करके गोवर्धन पूजाका प्रर्वतन किया। इसी प्रकार वन देखते हैं, तो स्मरण होता है कि किस प्रकार सुदर्शन गन्धर्वने, जो शापवश अजगर बन गया था रातको सोते समय मुझे पकड़ लिया था और कैसे वह कृष्ण-चरणका स्पर्श पाकर मुक्त हुआ और कृष्णकी स्तुति करने लगा। अजगर भी मुक्त हो गया और मैं भी मुक्त हो गया। वरुणने भी अपने लोकमें कृष्णकी स्तुति कीऔर संशयसे मुक्त हुए। वरुणको कृष्णके बारेमें जो संशय था, उससे उनको मुक्ति मिल गयी। मैं भी कृष्णको पुत्र रूपमें प्राप्त करके सब दुःखोंसे मुक्त हो गया। इन्द्र अभिमानसे मुक्त हो गये और हम लोग इन्द्रकी पूजासे मुक्त हो गये। व्रजके सरितप्रदेश, शैल अथवा शरीर-प्रदेश और वन-प्रदेश—तीनों ही मुकुन्द-पद भूषित हैं, कृष्णके चरणारविन्दसे सुशोभित हैं।

अब '**मुकुन्द**' शब्दका दूसरा अर्थ देखिये। **मुकुन्दः-मुक्तिं द्यति**—जो अपना प्रेमदान करके मुक्तिका खण्डन कर दे, उसका नाम मुकुन्द। 'द्यु' खण्डने धातुसे द्यति बनता है। मीमांसामें इसका बहुत प्रयोग मिलता है। कोई राजा—रईसकी सेवा करे, तो उसको यह प्रतीक्षा रहती है कि वह दिन कब आवेगा, जब हम नौकरीसे छूटेंगे, हमको पेंशन मिल जायेगी और हम घरमें आरामसे रहेंगे। उसकी पेंशन लेकर घरमें रहनेकी जो भावना है, वह मुक्तिकी भावना है। किसी राजा-रईसकी नौकरी करो या किसी देवी-देवताकी नौकरी करो, तुम्हारे मनमें यह बात बनी रहेगी कि कब नौकरीसे छुटकारा मिलेगा, कब पेंशन मिलेगी और कब अपने घरमें रहेंगे। लेकिन जो कृष्णकी नौकरी करता है, वह कृष्णका भक्त हो जाता है, सेवक हो जाता है। उसके मनमें यह बात कभी नहीं आती कि कब हम नौकरीसे मुक्त होंगे, पेन्शन लेंगे और अपने घर रहेंगे। वह मुक्ति नहीं चाहता, केवल यही चाहता है कि जब तक रहूँ, कृष्णकी सेवा करता रहूँ। उसके मनमें मुक्तिके प्रति तिरस्कार भाव हो जाता है।

अनेक प्रसंगोंमें श्रीकृष्ण स्वयं अपने भक्तोंसे कहते हैं कि आओ, तुमको सेवा करते-करते बहुत दिन हो गये, अब तुमको मुक्ति देते हैं, पेंशन देते हैं। तुम अपने घरमें रहो, स्व-स्वरूपमें मग्न रहो। **तत्त्वमसि**—तुम तो ब्रह्म हो। जो मैं हूँ, वही तुम हो। मुझमें तुममें कोई भेद नहीं। इसपर भक्तने कहा—महाराज! मुझे मुक्ति नहीं, सेवा चाहिए। अपने घरके किसी कोनेमें मुझे रहनेकी जगह दे दो। मैं तुम्हारा पंखा खींचा करूँगा, झाड़ू लगा दिया करूँगा। लेकिन आपको छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। मुझे मुक्तिमें मजा नहीं, पेंशनमें मजा नहीं। यह सच्चे अनुरागीका लक्षण है, सच्चे सेवकका लक्षण है। जो अनुरागसे सेवा करता है, वह देनेपर भी मुक्ति नहीं चाहता—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।

श्रीमद्भागवतमें आया है—

मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न तु भक्तियोगः।

भगवान् कहते हैं कि नहीं-नहीं, हम तो तुमको मुक्ति देंगे ही। अरे बाबा, तुम इतने दिनों तक जेलखानेमें बन्द रहे। जाओ, अब तुमको जेलखानेसे छोड़ देते हैं। तुम्हारे ऊपर हमारी बड़ी कृपा है, तुम मुक्त हो जाओ। अभी तुम इस योग्य नहीं हुए हो कि तुमको घरमें रखें, महलमें रखें और राधारानीकी सेवा सौंपें, अथवा अपनी विशेष सेवामें लगावें!

मुक्तिं दयति प्रेमदानेन—जो प्रेम-दान करके, सेवा-दान करके मुक्तिको काट देता है, उसका नाम है मुकुन्द। **मुकुन्दपदभूषितान्**—व्रजमें सबको मुकुन्दका प्रेम मिला है। यहाँ सरिताको भी प्रेमदान किया गया है। जब नदी बंशी-ध्वनि सुनती है, बाँसुरीका प्यारा-प्यारा संगीत सुनती है, तब उसकी क्या दशा होती है, इसका वर्णन वेणुगीतमें आया है—

नद्यास्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतं आवर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः।
आलिङ्गनस्थगतिमूर्मि भुजैर्मुरारेः गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः॥

भा. १०-२१-१५

नदी वंशी-ध्वनि सुनकर जड़से चेतन हो जाती है, जलसे देवी हो जाती है। कालिन्दीके मनमें कृष्ण-मिलनकी व्याकुलता हो जाती है। वह कमलका उपहार लेकर भगवान्के चरणोंमें अर्पित करती है और उनके चरणोंको धोती है!

बोलो क्या कोई ऐसा अवतार है; जिसमें नदीको भगवान्ने अपनी घरवाली बनाया है। यह तो श्रीकृष्ण ही हैं, जो कालिन्दीको, व्रजकी लीलामें सम्मिलित

करते हैं और रासलीला करते-करते उसके जलमें प्रवेश करके जल-विहार करते हैं। यही कालिन्दी देवी फिर इन्द्रप्रस्थसे यमुनातट जाने पर मिलती हैं और द्वारिकामें पटरानी बनती है।

अब बोले कि ठीक हैं श्रीकृष्णने नदीको प्रेम दिया, किन्तु नदी तो स्वयं सरस होती है। जो स्वयं द्रव है, स्निग्ध है, उसको प्रेम देना तो कोई बड़ी बात नहीं। अच्छा, नहीं सही, लेकिन पत्थरको भी तो प्रेम दिया श्रीकृष्णने। देखो, कैसा-वर्णन है—

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो यद् रामकृष्ण-चरणस्पर्श-प्रमोदः।
मानं तनोति सहगोगणयोः तयोर्यत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः॥

१०-२१-१८

गोवर्धन आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रकी पूजा करता है और उनके चरणारविन्दको अपने हृदयपर धारण करके प्रमुदित होता है। गिरिराज पर जहाँ-जहाँ भगवान्‌ने अपना चरणारविन्द रखा, वहाँ-वहाँ उसका पाषाण पिघल गया। आज भी ऐसे पत्थर मिलते हैं, जिनपर भगवान्‌के चरणारविन्दके चिह्न हैं। श्रीमद्‌भागवतमें भगवान्‌ने जितनी प्रशंसा सन्त-महात्माओंकी की हैं, उतनी किसीकी नहीं की हैं। आप कभी इस दृष्टिसे देखें कि श्रीकृष्ण महात्माओंका कितना सम्मान करते हैं। वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष ईश्वर सन्त-महात्मा ही तो हैं—

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥ १०.२८-३१
सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥ ११.२६-३४

मैं ही मन्त्र हूँ, सन्त ही आत्मा हैं, सन्त ही भाई-बन्धु हैं, सन्त ही सर्वस्व हैं। ऐसी प्रशंसासे बढ़कर और प्रशंसा क्या हो सकती है? इसके जोड़की प्रशंसा अगर किसी और की है तो व्रजके वृक्षोंकी है। भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीसे व्रजके वृक्षोंकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—कि देखो न, ये अपने फलसे, फूलसे अपनी छायासे, डालीसे, अपने रससे, अपनी गोंदसे, अपनी छालसे, अपनी जड़से, अपने अंकुरसे और अपने कोटरोंसे खुद तो जल जाते हैं, किन्तु **कामान् वितन्वते**—दूसरोंकी भलाई करते हैं—**अहो एषां वरं जन्म**—अगर किसीका जन्म श्रेष्ठ है, तो इन वृक्षोंका है। और वे वृक्ष हैं, जो फूल और फलका भार ले-लेकर भगवान्‌के चरणोंमें झुकते हैं।

वृक्षोंको, हमारे शरीरको, गिरिराजको, पर्वतको, यहाँतक कि नदीतक को प्रेमका दान करनेवाला कोई है—तो वह मुकुन्द है। सबके हृदयोंमें मुकुन्दका पद है। यमुनाजी श्रीकृष्णका ध्यान करते-करते साँवरी हो गयीं। गिरिराजजी पिघल गये और उन्होंने अपने ऊपर भगवान्‌के चरण-चिह्न अंकित कर लिये। वनके वृक्ष इसलिए झुक गये कि हमारे नीचे कृष्ण खेलते हैं, क्रीड़ा करते हैं; उनको कोई कष्ट न हो। तो, जड़ोंको भी प्रेम दान करनेवाला मुकुन्द है। मुक्तिका अवदान करके, मुक्तिको काट कर प्रेमदान करनेवाला मुकुन्द है। **मु मुखे कुन्दवद् हासो यस्य**—जिसके मु अर्थात् मुखारविन्दपर कुन्दकलीके समान दाँत दिखते रहते हैं, हर समय मुस्कुराहट बनी रहती है। साक्षात् आनन्द हैं, परमानन्द हैं। उनके चरणारविन्दसे सरित्प्रदेश, शैलप्रदेश, वनप्रदेश—सब-के-सब विभूषित हैं।

नन्दबाबा कहते हैं कि उद्धवजी, तुम कहते हो कि बाहर निकलो। किन्तु यहाँ तो जहाँ जाते हैं, वहीं कृष्ण दिखायी पड़ते हैं। **आक्रीडानीक्षमाणानां**—यहाँ जितने भी स्थान हैं, सब कृष्णके आक्रीड अर्थात् क्रीड़ाके, खेलके स्थान हैं। धरतीकी ओर देखते हैं, तो याद आता है कि यहाँ हमारा लाला लोट जाता था और कहता था—मय्या, गोदमें उठाओ! यहाँ ग्वालोंके साथ घर-घरौंदा बनाया करता था। यहाँ गोपियोंके साथ खेला करता था। कौन-सा ऐसा घाट है, जिसमें कृष्णने जलविहार न किया हो, जिसपर मैंने उसको स्नान करते न देखा हो, जहाँ गोपियोंको पानी पिलाते न देखा हो। अब तुम्हीं बताओ, मैं कहाँ जाकर कृष्णको भूलूँ? ऐसी कौन-सी जगह है, जहाँ जानेसे कृष्ण भूल जायँ।

यदि कहो कि मैं आँख बन्द कर लूँ, तो वह आँख बन्द करनेपर भी वैसा ही दिखायी पड़ता है, जैसा प्रत्यक्ष दिखायी पड़ता था। **ईक्षमाणानां**—ईक्षमान शब्दका अर्थ है—इसी समय हम देख रहे हैं। वर्तमानमें ही हम देख रहे हैं। आँख बन्द करें तब भी हमको लगता है कि नदी-तटपर वही खेल रहा है, पहाड़के शिखरपर बैठकर वही बाँसुरी बजा रहा है और वही वृक्षकी जड़में त्रिभङ्गललित भावसे खड़ा हुआ है। उद्धवजी, अब तो बोलनेका, देखनेका, हाथ-पाँव हिलानेका जो कुछ भी काम बचा है, वही नहीं होता—

आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्।

हमारा मन ही बदल गया है। अब हमें धरती नहीं दीखती है, कृष्ण दीखता है। जल नहीं दीखता, कृष्ण दीखता है। हमें अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा नहीं

दीखते, कृष्ण दीखता है। जल, पृथिवी, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा—ये सब अपनी-अपनी जगहपर होंगे! हम वेदान्तका निरूपण करके उनकी सत्ताका खण्डन नहीं करना चाहते। इनके सम्बन्धमें तो हमारे मनका ही रूप बदल गया है और बदलकर कृष्णरूप हो गया है—**मनोयातितदात्मताम्**—जब हम देखते हैं कि हमारे मनमें क्या है, तो हमको अपना मन नहीं दिखता; कृष्ण दिखता है। यदि तुम कहो कि मैं कृष्णका ध्यान करूँ और उसके विरहका दुःख भुला दूँ, तो बताओ—क्या ध्यान करूँ? क्या योगाभ्यासके द्वारा कृष्णका दुःख भुला दूँ? किन्तु यहाँ मन ही नहीं है, यहाँ केवल कृष्ण है। अब मैं तत्त्वज्ञान द्वारा किस प्रपंचका बाध करूँ? समाधिके द्वारा किस विक्षेपको निकालूँ उपासनाके द्वारा किस एकमें मन लगाऊँ, धर्मके द्वारा किस मनको पवित्र करूँ? यहाँ कृष्णके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं—**मानो याति तदात्मताम्**। मनका स्वरूप ही बदल गया, वह कृष्णस्वरूप हो गया।

इस प्रकार बोलते—बोलते नन्दबाबाने देखा कि उनका मन ऐसी दिशामें जा रहा है, जहाँ बातचीत बन्द हो जायेगी। इसलिए उसे सम्हालना चाहिए और यह सोचकर नन्दबाबाने थोड़ा ऐश्वर्यका प्रसंग चलाया। जब माधुर्यका अतिशय चिन्तन होने लगे, तो उस समय थोड़ा ऐश्वर्यका ध्यान करनेसे मन रुक जाता है। यहाँ अद्भुत बात यह है कि व्रजवासी लोग कृष्णमें मन लगानेके लिए ध्यान नहीं करते, कृष्णसे मन हटाकर सावधान रहने लिए ध्यान करते हैं।

अच्छा, अब आगेका प्रसंग कल!

❋

पन्द्रहवाँ प्रवचन

सरिच्छैलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम्॥ २२॥
मन्येकृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा॥ २३॥
कंसं नागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं तथा।
अवधिष्टां लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः॥ २४॥
तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट्।
बभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद् गिरिम्॥ २५॥
प्रलम्बो धेनकोऽरिष्टस्तृणावर्तो बकादयः।
दैत्याः सुरासुरजितो हता येनेह लीलाया॥ २६॥

श्रीशुक उवाच

इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्त – धीः।
अत्युत्कण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः॥ २७॥

जैसा कि कल बताया, नन्दबाबाने सोचा कि अपने मनको कृष्णकी स्मृतिमें डूब जानेसे बचावें और उद्धवजीसे बातचीत करें। उन्होंने बताया कि श्रीकृष्णकी स्मृति हमारे लिए असह्य हो गयी है। अब यही अच्छा है कि उसकी याद ही न आवे।

देखो, यह प्रेमकी साधारण स्थिति नहीं, बहुत ऊँची स्थिति है। सामान्यतया यह बात कही जाती है कि भगवान्‌का स्मरण मंगलप्रद है, कल्याणकारी है। जो लोग संसारके स्मरणमें लगे हुए हैं—उनके लिए तथा जो लोग अपने भी भगवान्‌की स्मृति मंगलमयी है। श्रीमद्‌भागवतमें दोनोंके ही उदाहरण हैं। जब ग्वालबाल अघासुरके मुखमें घुसने लगे और श्रीकृष्णको भूल गये, तो वे विपत्तिमें पड़ गये तथा जब गोपियाँ अपनी ओर देखने लगीं, श्रीकृष्णको भूल गयीं, तब वे

भी विपत्तिमें पड़ गयीं। यशोदा मय्या आये-गये लोगोंको देखने लगीं। पूतनाको देखने लगीं, तो वे भी विपत्तिमें पड़ गयीं। सबसे बड़ी बात यह है कि अगर संसारकी याद आती हो, तो भगवान्‌की याद करो, संसार छूट जायेगा। अपनी याद आती हो, तो भी भगवान्‌की याद करो; क्योंकि अपना जो अभिमान है, परिच्छिन्नता है, वह भगवान्‌की यादसे कटेगी। नहीं तो आदमी '**सोऽहम्, सोऽहम्**'—मैं कौन? मैं कौन? करके अपनेको परिच्छिन्न रूपमें सच्चिदानन्द मान लेता है, जो पतनका कारण बन जाता है। इसलिए मनुष्य जबतक तत्पदार्थसे अभेद करके अपनेको सच्चिदानन्दघन ब्रह्म नहीं जानता, तबतक कल्याण नहीं होता। अहंताके साथ अपनी ओर देखना और इसमें आत्मतुष्टिका अनुभव करना भी एक विघ्न है। यह बिना भगवद्दर्शनके मिटनेवाला नहीं। नन्दबाबाकी स्थिति यह है कि उनके मनमें अपने-आप स्मृतिकी सरिता बह रही है और वे स्वयं उसमें डूब रहे हैं।

आपको कभी सुनाया होगा, एक बार नारदजी महाराज वीणा बजाते हरि गुण गाते, आकाश मार्गसे वृन्दावनके यमुनातटपर उतरे। नारदजीकी अवस्था हमेशा सोलह वर्षकी रहती है। वे देवताओंके ऋषि हैं। पहलेके गन्धर्व हैं। उनको दाढ़ी-मूँछ नहीं आती। बड़ी-बड़ी भूरी-भूरी जटाएँ हैं, गौर वर्ण हैं, हाथमें वीणा है और नित्य-निरन्तर '***गोविन्द माधव मुकुन्द कृष्ण***'का गायन करते रहते हैं। जब वे यमुनाजीके तटपर उतरे तो देखा—कि एक गोपी पीठकी रीढ़ सीधी करके सिद्धासान लगाये, अधखुली आँखोंसे ध्यान कर रही है। उसका घड़ा एक ओर पड़ा हुआ है। जब उसके कानमें '***गोविन्द माधव मुकुन्द कृष्ण***'की ध्वनि पड़ी, तब वह ध्यानसे उठ गयी; और देखा—सामने नारदजी खड़े हैं। उसने उनको प्रणाम किया। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। शङ्कराचार्यजीने कहा है कि पहलेके लोग देवताओंके साथ प्रत्यक्ष व्यवहार करते थे। उनका उनसे मिलना-जुलना होता था। यदि कोई तार्किक कहे कि न तो प्राचीन कालके लोग देवताओंके साथ व्यवहार करते थे और न आजकलके लोग व्यवहार कर सकते हैं, तो उसका कहना गलत है। इतिहास और पुराण इस बातका प्रतिपादन करते हैं। उपनिषदोंमें यह बात आयी है कि यदि महात्मा पुरुष चाहे तो देवलोक-पितृलोक उसके सामने प्रकट हो जाते हैं। उनके आह्वानपर पितर तथा देवता उपस्थित हो जाते हैं—

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्चकामान् तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः॥

—मुण्डकोपनिषद्

नारद बाबाने पूछा कि क्यों री ग्वालिन, क्या ध्यान कर रही है? क्या कृष्णका ध्यान कर रही है? आज वे मिले नहीं क्या? ग्वालिन बोली—बाबा, तुम उनका नाम मत लो। नन्दबाबाका ढोटा बड़ा दुःखदायी है। इसकी टेढ़ी-टेढ़ी आँखें, इसके टेढ़े-टेढ़े बाल, इसका टेढ़ा चिबुक, टेढ़ा गला, इसकी टेढ़ी कमर, इसके टेढ़े पाँव, इसकी टेढ़ी चाल, टेढ़ी बोलन, बाँकी टेढ़ी चितवन और टेढ़ी मुस्कान; इसका सब कुछ टेढ़ा ही है। नाम मत लो इसका। यह घरका कोई काम नहीं करने देता। न गायका दूध दुहने दे, न घर लीपने दे, न धान कूटने दे, न पानी भरने दे। जहाँ जाती हैं, वहाँ पीछे लगा डोलता है। नारदजीने तनिक आश्चर्यसे कहा, "अरे गोपी, तुम हजारों और नन्दनन्दन एक। वह किसके-किसके पीछे लगा डोलेगा?" गोपीने कहा—यही तो बात है बाबा! वह पीछे लगा नहीं डोलता, खुद हमारा मन ही बिगड़ गया है। जहाँ देखो, वहीं उसकी स्मृति, जहाँ देखो, वहीं उसकी स्फूर्ति! इसलिए हमने सोचा कि अगर घरका काम धन्धा ठीक बनाना है, तो मनको वशमें करना पड़ेगा। बिगड़े हुए मनसे घरका कोई काम नहीं चल सकता। वह सोचकर हमने पतंजलि मुनिकी शरण ग्रहण की है। उनके बताये पथपर चल रही हैं। आसन बाँधकर, प्राणायाम करके, अपने मनको वशमें कर रही हैं और कहती हैं "कि मन, तू कृष्णको बाहर निकाल दे।"

अब देखो, संसारके लोग भगवान्‌का स्मरण बनाये रखनेके लिए सत्सङ्ग करते हैं, कथा सुनते हैं, भजन करते हैं, चाहते हैं कि कृष्णके लिए दो बूँद आँसू गिरें। लड़की-लड़केके लिए आँसू आ जाते हैं, सगे-सम्बन्धियोंके लिए आँसू आते हैं, किन्तु भगवान्‌के लिए नहीं आते। भक्त लोग कहते हैं कि प्रभो, अपने लिए हमारी आँखोंमें दो बूँद आँसू दो। लेकिन व्रजवासियों और गोपियोंके भीतर-बाहर सब जगह श्यामसुन्दर ही श्यामसुन्दर हैं। उनके हृदयमें दूसरेके लिए कोई ठौर ही नहीं है—

हिय में रह्यो नाहिन ठौर
नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और।

इसलिए वे योगाभ्यासके द्वारा अपने मनको वशमें, संयममें ले आना चाहती हैं और कृष्णसे हटाकर दूसरी जगह स्थापित करना चाहती हैं। यह देखकर नारदबाबाने कहा—कि धन्य है गोपी। सारी सृष्टि जिसमें मन लगानेके लिए व्याकुल रहती है, उसमें-से अपना मन निकालनेके लिए गोपीको साधन-भजन करना पड़ता है—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनो धित्सते
बालाऽसौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहारन्ती मनः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल तस्य पश्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥ वि.मा.

बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, योगी-यती, साधु-संन्यासी—प्रयत्नपूर्वक प्राणायाम—प्रत्याहार और धारणा-ध्यान करके अपने मनको श्रीकृष्णमें लगाना चाहते हैं। यह कामना करते हैं कि उस पीताम्बरधारीके पीताम्बरकी छोर एक बार हमारे हृदयमें फहरा जाये।

'वा पटवीत की फहरान'। उनके नखचन्दकी लाली हमारे हृदयको रँग दे, उनकी मुस्कानकी सफेदीसे हमारा हृदय सफेद हो जाय और नहीं तो उनकी परछाईंकी झलक ही हमारे हृदयमें दिख जाय। परन्तु गाँवकी यह ग्वारिन कितनी भोली है, कितनी बाबरी है। चाहती है कि वह कृष्ण, नन्दनन्दन, श्यामसुन्दर मेरे हृदयसे निकल जायँ तो मैं घरका काम करूँ।

यह प्रेमकी बड़ी ऊँची कक्षा है। आप लोगोंने सुना होगा, संस्कृत-साहित्यमें एक ग्रन्थ है—'प्रेमपत्तनम्'। उसका अनुवाद है 'प्रेमका शहर', प्रेमनगर! अभी उसका हिन्दीमें अनुवाद नहीं हुआ है। मैं समझता हूँ, बंगलाके अतिरिक्त दूसरी किसी भी भाषामें अनुवाद नहीं हुआ है। उसमें बताया गया है कि प्रेमकी चाल उलटी होती है। वह प्रेमनगर है, वहाँके कानून दूसरे हैं। वहाँ संविधान किसी औरने बनाया है। प्रेमनगरके राजा हैं मधुमेचक। मेचक माने श्याम, मधु माने मधुर। पहले उसने शास्त्राभ्यासकी पुत्री मतिके साथ विवाह किया, बादमें रतिके साथ विवाह कर लिया। जब रतिका साम्राज्य हुआ तब उसने मतिको घरसे बाहर निकाल दिया। मतलब यह कि जहाँ प्रीति होती है, वहाँ मति नहीं होती, बुद्धि काम नहीं देती। मति भिक्षा माँगकर खाने लगी और ब्रह्मचारियोंमें रहने लगी। रतिने अपने कानून बनाये। ऐसे कानून बनाये, जिसमें मीठे श्याम और रतिके मध्य जो सम्भाषण हुए, उसके अनुसार करके मुकर जाना—यह जायज माना गया। प्रेमनगरका यह कानून है कि 'हाँ'की जगह 'न' बोला जायेगा और 'न' की जगह पर 'हाँ' बोला जायेगा। वहाँ उच्छिष्ट अनुच्छिष्ट है, धृष्टताका नाम विनय और विनयका नाम धृष्टता है। वहाँ सत्य असत्य है, असत्य सत्य है, धर्म अधर्म है और अधर्म धर्म है! स्मृति ही विस्मृति और विस्मृति ही स्मृति है! बड़ा अद्भुत है प्रेमका साम्राज्य! वहाँ चौंसठ कानून

हैं, धाराएँ हैं। वह इस धरतीका नहीं, भगवान्‌का नगर है। वहाँ सब कुछ उल्टा है, पर दिव्य है।

नन्दबाबाने देखा—मनकी स्थिति ऐसी होती जा रही है कि अब उद्धवजीसे बातचीत भी नहीं हो सकती! कृष्णका मित्र, जो कृष्णके ही समान है और कृष्णका ही भेजा हुआ है, घरमें आया है और उसको सामने कृष्णकी मधुर-मधुर लीलाओंकी स्मृति ऐसी घनीभूत हुई कि नन्दबाबाकी जबान बन्द होने लगी। तब उन्होंने अपनेको सम्हाला। कैसे सम्हाला? कृष्णके ऐश्वर्यका स्मरण करके सम्हाला। माधुर्यकी तन्मयता ऐश्वर्यके स्मरणसे किंचित् शिथिल हो जाय, इसके लिए नन्दबाबाने कृष्णके ऐश्वर्यका वर्णन प्रारम्भ किया। जो माधुर्यके प्रेमी होते हैं, उनको ऐश्वर्य पसन्द नहीं होता। गोपियाँ कहती हैं—हमें यदुनाथ नाम नहीं, गोकुलेश्वर नाम प्यारा है, हम यदुनाथकी नहीं, गोकुलेश्वरकी हैं। इसीका नाम अनन्यता है। जो प्रेमी होते हैं, उनको आभूषण पसन्द नहीं, अपने प्रियतमका अङ्ग पसन्द होता है। आभूषण आवरण है, संवृति है, शरीरको ढँक देता है। मिलनेके समय बीचमें आजाता है। इसीसे हमारे वेदान्ती लोग कहते हैं कि प्रेमकी प्रकृति द्वैतकी नहीं, अद्वैतकी है, क्योंकि वह अपने बीचमें कोई संगी रखनेको तैयार नहीं है। प्रेमी लोग रसाद्वैत, विशुद्धाद्वैत, शुद्धाद्वैतके चक्करमें नहीं पड़ते। प्रेमकी प्रकृति न तो दूरी सहती है, न देरी सहती है और न तृतीय पदार्थ—तीसरी चीज सहती है। एक गोपी यही स्मरण करेगी कि श्यामसुन्दर—हमारे साथ नाच रहे हैं; यह स्मरण नहीं करेगी कि कंसको मार रहे हैं। कंसकी बड़ी-बड़ी दाढ़ी और बड़ी-बड़ी मूँछोंको वह अपने मनमें क्यों ले आवेगी? उसके चित्तमें वह सुकुमार किशोर ही आयेंगे। वे भंयकर यमदूत, जो उसको मार रहे हैं, क्यों आयेंगे? प्रेमियोंको ऐश्वर्यकी लीला पसन्द नहीं है। वे उसका स्मरण तभी करते हैं, जब विरहकी पीड़ाको ढँकना होता है। चित्तमें ऐश्वर्यका भाव आजानेपर वह विरहकी पीड़ाको बचाता है। इसलिए नन्दबाबाने बात बदली।

जैसे पण्डित लोग धर्म-शास्त्र पढ़ते हैं, व्यापारी लोग अर्थशास्त्र पढ़ते हैं, भोगी लोग भोग-शास्त्र पढ़ते हैं, मोक्ष चाहने वाले लोग वेदान्त शास्त्रका स्वाध्याय करते हैं, वैसे ही प्रेमी लोग प्रेम-शास्त्र पढ़ते हैं, परन्तु आजकल प्रेम शास्त्रके अध्ययन-अध्यापनका लोप हो गया है। प्रेम-शास्त्र भोग-शास्त्र नहीं है। भोग शास्त्र केवल यह बतानेके लिए है कि भोग इस ढंगसे करो कि रोग न

हो। मोक्ष-शास्त्र दु:खसे बचाता है। अर्थशास्त्र भूख और नंगेपनसे बचाता है। धर्मशास्त्र अनियन्त्रित जीवनसे बचाता है। लेकिन प्रेम-शास्त्र केवल बचने-बचानेका शास्त्र नहीं है। यह हृदयमें रसका संचार करनेवाला शास्त्र है। लेकिन इसको किताबमें पढ़कर नहीं समझा जा सकता। किताबमें पढ़कर केवल काम समझा जा सकता है। जब तुम राधाकृष्णके प्रेमको समझोगे तब प्रेमका रहस्य ज्ञात होगा। स्त्री-पुरुषके भोगसे इसका पता नहीं लगेगा। यहाँ अपने प्रियतमका जरा-सा दु:ख मिटानेके लिए प्रेमी अपना सर्वस्व त्याग करनेके लिए तत्पर रहता है। एक गोपी कहती है कि जब श्यामसुन्दर सोवें तो मैं मच्छरदानी बन जाऊँ! अरी गोपी, तू मनुष्यत्व छोड़कर मच्छरदानी क्यों बनना चाहती हो? इसलिए कि मैं भले ही जड़ हो जाऊँ, रुई हो जाऊँ, बटी जाऊँ, सूत हो जाऊँ, कपड़ा बन जाऊँ, लेकिन हमारे श्यामसुन्दरको, प्राणप्यारेको कोई मच्छर न काटने पावे। उनके एक मच्छरसे बचानेके लिए गोपी सौ-सौ कठिनाइयाँ, सौ-सौ कष्ट उठानेके लिए तैयार है। यहाँ तक कि अपने प्रियतमको पसीना न आवे, इसके लिए गोपी जड़ बरफ बननेको भी तैयार है?

मैं उसके पंखेकी हवा बन जाऊँ, मैं उसके पाँवकी धूल बन जाऊँ, मैं उसके जूतोंकी चमक बन जाऊँ, यह गोपीकी स्वाभाविक अभिलाषा है। कितना ऊँचा है यह प्रेम। यह प्रेम कोई साधारण वस्तु नहीं है। इस प्रेम-शास्त्रका एक रहस्य है। आत्मा-परमात्माका जो ज्ञान है, वह तो सीधा-साधा है, वह सिद्ध वस्तुका ज्ञान है। किन्तु, प्रेम सिद्ध वस्तुका ज्ञान नहीं, साध्य वस्तुका ज्ञान है। श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

स्वत: सिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता।

हृदयमें स्वत: सिद्ध भगवत्स्वरूप प्रेमके प्रकट होनेका रहस्य क्या है? प्रेमके दो भाव होते हैं—एक संयोगका फुरना और दूसरा वियोगका फुरना। वियोग भी दो तरहका होता है—एक अयोग दूसरा वियोग। अयोग माने पहले कभी मिले ही नहीं और वियोग माने मिलकर फिर बिछुड़ गये हैं। कहते हैं, संयोग चन्द्रमा है, आह्लाद देता है, किन्तु विरह सूर्य है। वह विरही को दो चीज देता है—एक तो ताप और दूसरा प्रकाश। प्रकाश होनेसे अपने प्रियतमके सद्गुण, प्रभाव, प्रताप, ऐश्वर्य और प्रमाण ये सब दीखने लग जाते हैं! विरह कालमें मालूम पड़ता है कि ओहो, हमारे प्रियतमने कितने बड़े-बड़े काम किये थे। किन्तु संयोग-कालमें सब घुल जाता है। लगता है कि हमारे

प्रियतम मामूली हैं। उनको सुरखाबके पर नहीं लगे हैं। जैसे हम आदमी हैं, वैसे वे भी आदमी हैं।

संयोग-कालमें नन्दबाबाको यह कभी नहीं मालूम पड़ा कि हमारे लालाने गोवर्धन उठा लिया। वे यही अनुभव करते रहे कि वह तो हमारा लाला है, हमारा बेटा है, हमारी गोदमें बैठनेवाला है, हमारे कन्धे पर चढ़नेवाला है, हमारी दाढ़ी-मूँछ खींचनेवाला है। कई बार मैंने आँख टेढ़ी की, तो वह रोने लगा। यह सब याद करते-करते जब नन्दबाबाको गर्गके वचन याद आते हैं और वे देखते हैं कि कृष्ण हमसे दूर चले गये हैं और वहाँ कितने बड़े-बड़े काम कर रहे हैं, तब यह अनुभव करते हैं कि जिसको हम अपना बेटा समझते थे, वह कितना बड़ा है! उसको बेटा माननेमें मुझसे भूल हो गयी—

मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा॥ २३॥

नन्दबाबा कहते हैं—उद्धवजी, मेरी ऐसी मान्यता है, मेरा ऐसा अनुभव है कि कृष्ण और बलराम दोनोंके रूपमें कोई श्रेष्ठ देवता हमारे घर आये हैं। 'सुरोत्तमौ'में सुरका अर्थ ब्रह्मा, विष्णु, महेश—सब हैं और उनमें ये दोनों सबसे उत्तम हैं। ये अपने-आप जान-बूझकर हमारे घर प्रकट हुए हैं। पहले कृष्ण और पीछे राम! बड़प्पनकी दृष्टिसे, आयुकी दृष्टिसे पहले राम होना चाहिए बादमें कृष्ण होना चाहिए, परन्तु ममता तो सब जगह होती है और जिससे ममता होती है, वह सबसे बड़ा दिखायी देता है। इसीसे लोग कहते हैं कि हम जिस मन्त्रका जप करते हैं, वह संसारके साथ करोड़ मन्त्रोंमें सबसे श्रेष्ठ है। हम जिस इष्ट देवता का ध्यान करते हैं, वह ईश्वरके समस्त रूपोंमें सबसे श्रेष्ठ है। हमारा गुरु संसारके सब महात्माओंमें श्रेष्ठ है! सच पूछो तो निष्ठा बनती भी इसीसे है। निष्ठासे ही मनुष्य आगे बढ़ता है! जहाँ निष्ठा है, वहाँ गुण-दोषकी परीक्षा नहीं होती, उसमें निष्ठाकी ही आवश्यकता पड़ती है। नन्दबाबा कहते हैं कि हमारा कृष्ण, हमारा कन्हैया तो सच्चिदानन्दघन है।

इसी तरह हमारा राम है। वह चुपचाप बैठा रहता है और योगी लोग उसमें रमते रहते हैं—**रमन्ते योगिनो यस्मिन्**। लोग जिससे प्रेम करते हैं, उसको राम बोलते हैं और योगी लोग जिसमें रमते हैं, वह राम है। किन्तु जो दूसरोंको खींच-खींचकर आँखसे, गालसे खींचकर, भौहोंसे खींचकर, होठसे खींचकर, हाथसे खींचकर, छातीसे खींचकर पटक दे—उसको बोलते हैं कृष्ण। कृष्णने बड़े-

बड़े अभिमानियोंके अभिमान तोड़ दिये। उद्धवजी, मैं मानता हूँ कि ये कोई श्रेष्ठ देवता हैं—

'मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ' और **सुराणां महदर्थाय**—देवताओंका प्रयोजन पूर्ण करनेके लिए, उनका मनोरथ सिद्ध करनेके लिए हमारे घर आये हैं।

अब देखो, ईश्वरके बारेमें अनुमान लगाना ठीक नहीं है। ईश्वर अनुमानगम्य नहीं है। बड़े-बड़े पण्डित कभी-कभी दूरकी हाँक देते हैं और कहते हैं कि हम अनुमानसे भी ईश्वरकी सिद्धि करेंगे। पर अनुमानसे सिद्धि उसी चीजकी होती है, जो प्रत्यक्षगम्य होता है। महर्षि गौतम कहते हैं कि—

प्रत्यक्ष पूर्वकं तत्र विधा—अनुमान प्रत्यक्ष-पूर्वक ही होता है! यदि प्रत्यक्ष मान लोगे, तो ऐन्द्रियक हो जायेगा। फिर अनुमानकी क्या जरूरत रह जायेगी। अग्निका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। पहले अनुमान लगाया, बादमें प्रत्यक्ष होता है। ईश्वरकी सिद्धि तर्क, युक्तिसे नहीं होती, महापुरुषकी कृपासे होती है। नन्दबाबाको भी महापुरुषकी कृपासे ही कृष्ण पुत्रके रूपमें मिले हैं। पहले धरा और द्रोण दोनों वसु थे, पति-पत्नी थे। उन्होंने ब्रह्माजीसे निवेदन किया कि हमको भगवान्‌की साक्षात् सेवा मिले। ब्रह्माने कहा—अच्छा जाओ, भगवान् तुम्हारे पुत्र हों। फिर भगवान् नन्दबाबा और यशोदाजीको तो मिले ही, महापुरुषके वचनसे नलकूबर और मणिग्रीवको भी भगवत्प्राप्ति हो गयी भगवान्‌का एक नियम है कि वे अपनी बात कभी-कभी झूठी कर देते हैं, लेकिन महात्माकी बात झूठी नहीं करते। कहते हैं कि महात्मा झूठे हो जायेंगे, तो दुनियामें फिर इनकी कोई नहीं सुनेगा। हम झूठे हो जायेंगे, तो कोई बात नहीं। हम तो परोक्ष हैं, लेकिन महात्मा लोग प्रत्यक्ष रहते हैं। इनको झूठा नहीं करना। इन्होंने जो कह दिया, उसे स्वीकार कर लिया। बोले बाबा, देवताओंका काम बनानेके लिये साक्षात् भगवान् पधारे हैं, यह बात तुम अनुमानसे कहते हो? नहीं—**गर्गस्य वचनं यथा**—गर्गाचार्यजीका महावचन इसके सम्बन्धमें है। गर्गाचार्यने मुझसे कहा है कि तुम्हारे पुत्र गुणमें नारायणके समान हैं—**नारायणसमो गुणैः**। अतः देवताओंका काम बनानेके लिए कृष्ण और बलराम आये हैं। ये कोई साधारण नहीं, श्रेष्ठ देवता हैं।

अब देखो, नन्दबाबाकी इस कथनमें बेटेवाली बात कट गयी। उसके स्थान पर ईश्वर आगये।

कंसं नागायुत प्राणं मल्लौ गजपतिं तथा।
अवधिष्ठां लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः॥ २४॥

उद्धवजी, प्रत्यक्ष रूपसे भी यही मालूम पड़ता है कि कृष्ण ईश्वर हैं। **कंसं नागायुत-प्राणं** कंसको मारना क्या किसी मनुष्यका काम है? जो कंसको मार सकता है, वह मनुष्य क्यों रहे, ब्रह्मा ही क्यों न हो जायें? कंस शब्द संस्कृतमें काटने वालेके अर्थमें बनता है। **कसि हिंसायां कंसति इति कंसः**—जो दूसरोंकी हिंसा करे, उसको कंस बोलते हैं। वह अहंकार है, **अस्ति, प्राप्तिका** पति है, जरासन्धका जमाई है। अस्ति-प्राप्तिको तो आप जानते ही हैं? गीतामें इसका उल्लेख है—

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्—इतना तो हमारे पास है; दबाकर रखा है, वह ब्लैकका माल है—यह अस्ति है तथा इतना धन और मिलेगा, साल-सालमें बढ़ता जायेगा—यह प्राप्त है। तो, अस्ति-प्राप्ति केवल कंसकी ही दो पत्नियाँ नहीं थीं। तुम्हारे घरमें भी हो सकती हैं, जरा देखना। अगर तुम्हारे शरीरमें कहीं कंस है, तो उसकी दो पत्नियाँ अस्ति और प्राप्ति भी जरूर होंगी।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोध - परायणाः।
ईहन्ते काम - भोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥ गी. १६.१२
इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ गी. १६-१३

अस्ति और प्राप्ति दोनों श्रीमतियाँ प्रत्यक्ष दिखती हैं। ये जिसके सहारे हृदयमें रहती हैं, उसीका नाम कंस है। इसको कौन मारता है? इसको जीव नहीं मार सकता। केवल भगवान् मार सकते हैं। बोले इनको मारनेके लिए भगवान्को तकलीफ उठानी पड़ेगी? ना, ना, भगवान् जहाँ तुम्हारे हृदयके सिंहासनपर चढ़ने लगेंगे, वहाँ उनको देखते ही इसका हार्ट-फेल हो जायेगा। कंसका हार्ट फेल ही हुआ था, उसको मारना नहीं पड़ा। वैसे कंस बड़ा बलवान् है—

कंस नागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं तथा।

दस हजार हाथियोंमें जितना बल होता है, उतना बल इस एक कंसमें है। यह कालनेमिका पुत्र है, उग्रसेनका नहीं। चाणूर और मुष्टिक नामके जो मल्ल हैं, वे भी दस-दस हजार हाथियोंके बलवाले हैं। गजपतिं अर्थात् कुवलयापीड नामक हाथीको कृष्णने खेल-खेलमें मार डाला! उसको कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ा। **पशूनिव-मृगाधिपः** जैसे सिंह जंगली जानवरोंको स्वाभाविक ही, बिना परिश्रमके

मार देता है, वैसे ही कृष्णने मार डाला। और तो और, वह जो शंकरजीका विशाल धनुष था—

तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट्।
बभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद् गिरिम्।।

तीन ताल लम्बा, धनुष उसको एक हाथसे वैसे ही तोड़ दिया, जैसे हाथी गन्नेको तोड़ देता है और गोवर्धन जैसे पहाड़को सात दिनों तक हाथपर उठाकर रखा; प्रलम्ब, धेनुक, अरिष्ट, तृणावर्त, बकासुर आदि जो सुरासुरजित् अर्थात् देवता और दैत्योंको जीतनेवाले दैत्य थे, उनको कृष्णने लीलामें मार डाला। निश्चय ही कृष्ण-बलराम देवता हैं।

इस प्रकार अभी नन्दबाबाकी बात पूरी नहीं हुई कि शुकदेवजी महाराज बोल उठते हैं—

इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः।
अत्युत्कण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेम - प्रसर - विह्वलः॥ २९॥

शुकदेवजी नन्दबाबाकी स्थितिका वर्णन करते हैं। कहते हैं कि नन्दबाबा संस्मृत्य, संस्मृत्य बोल-बोल कर नहीं, याद कर-करके विभोर हो गये हैं। **कृष्णानुरक्तधीः**—उनकी बुद्धिमें कृष्णानुराग है और मनमें कृष्णकी स्मृति है। **अत्युत्कण्ठः**—उनका कंठ अत्यन्त उत्कंठित है। उनकी वाणी बोलनेमें असमर्थ है, वे मौन हैं और ***प्रेमप्रसरविह्वलाः***—इतने प्रेम-विह्वल हो गये हैं कि उनसे कुछ बोला ही नहीं जा रहा है। आगेकी बात कही नहीं जा रही है।

अब नन्द-यशोदा दोनोंकी क्या स्थिति होती है और उद्धवजी उनको क्या समझाते हैं, यह प्रसंग कल सुनावेंगे।

❋

सोलहवाँ प्रवचन

नन्दबाबा उद्धवजीसे अपना प्रेम प्रकट करनेके लिए श्रीकृष्णके ऐश्वर्यका वर्णन करने लगे। जैसा कि पहले बताया, ऐश्वर्यका स्मरण होनेपर माधुर्यका भाव थोड़ा दब जाता है। परन्तु ऐश्वर्यका वर्णन करते-करते भी उनका बोलना बन्द हो गया। यदि किसी दूसरेके ऐश्वर्यका वर्णन करना हो, तब तो वाणी खुल जाती है, चाहे कितना भी बोलते जाओ, लेकिन जहाँ प्रगाढ़ ममता होती है, वहाँ ऐश्वर्यका वर्णन करते-करते भीतरसे यह बात आजाती है कि हमारा अपना, जो इतना ऐश्वर्य-सम्पन्न, इतना सद्गुणी, इतना कृतज्ञ, इतना सर्वज्ञ है—हमसे बिछुड़ा हुआ है। जब यह बात आती है तब पीड़ा और बढ़ जाती है। इसलिए नन्दबाबाके हृदयमें एक ऐसे भावका उफान आया कि वे ऐश्वर्यका वर्णन करते-करते, बात पूरी हुए बिना ही चुप हो गये। प्रेममें न तो चुप रहना नियम है और न बोलते जाना नियम है। वहाँ तो कभी बोलना होता है, कभी चुप होना होता है, क्योंकि प्रेम किसी क्रियामें बँधा हुआ नहीं है। प्रेममें कभी देना होता है, कभी लेना होता है और कभी दोनों नहीं होते। कभी मिलना होता है, कभी विछुड़ना होता है, कभी इतनी तन्मयता आजाती है कि मिलना-बिछुड़ना दोनोंका विस्मरण हो जाता है। इससे कहते हैं कि प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है—**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपं**। जिसने प्रेमको एक वस्तुमें, एक क्रियामें, एक भावमें, एक स्थितिमें बाँध दिया—उसने उसको जड़ बना दिया। ऐसा करना ही पड़ेगा यह तो मशीनी प्रेम है। प्रेम चिन्मय है, स्फुरणरूप है, उसको कहीं बाँधकर नहीं रखा जा सकता। वह तो नये-नये रस, नये-नये विलास, नये-नये आनन्द भीतरसे भेजता रहता है। प्रेमका यह काम है कि वह दिलमें बैठे और रोम-रोममें आनन्दकी धारा प्रवाहित करता रहे। उसके रोनेमें भी आनन्द है, हँसनेमें भी आनन्द है, मरनेमें भी आनन्द है। प्रेम भीतरसे आनन्द-ही-आनन्द भेजता है। प्रियके भावका नाम प्रेम है। प्रीणाति, प्रयति, प्राययति, प्रीयति—इतने प्रकारसे प्रेम शब्दकी व्युत्पत्ति होती है। इसका भाव अर्थमें प्रत्यय हुआ है—**प्रियस्य भावः प्रेम**। 'म' अथवा उन्मन प्रत्यय लगकर प्रेम शब्द बनता है। यह नपुंसक भी होता है और पुल्लिंग भी होता है। प्रेमा भी होता है और प्रेम भी होता है। अकर्मक भी होता है, सकर्मक भी होता है। प्रेम शब्दका व्याकरण बहुत अद्भुत है।

प्रेम तरह-तरहकी आकृति, तरह-तरहकी शक्ल-सूरत बनाता है। यदि कोई

कहे कि प्रेममें ऐसी ही शक्ल होनी चाहिए, तो यह बात नहीं बनती। शीशेमें देख-देखकर भावके अनुसार भौंहोंको ऊपर-नीचे करने, होठोंको टेढ़ा-सीधा-तिरछा करने आदिका अभ्यास करना और उस तरहकी आकृतिसे प्रेम प्रकट करनेका प्रयास करना, यह सब जड़ताके नियम हैं, प्रेमके नियम नहीं हैं। प्रेमका व्याकरण बन्द रहे, चाहे खुला रहे, वह किसी नियममें बँधा नहीं है। वहाँ दाँत दिखें चाहे न दिखें, भौंह उठे चाहे न उठें—सब चलता है। प्रेममें यह खाना ही पड़ेगा, ऐसे बैठना ही पड़ेगा, ऐसे बोलना ही पड़ेगा, ऐसे नियम बना लोगे, तो वह प्रियतमके लिए बन्धन हो जायेगा, सुखदायक नहीं होगा। जहाँ बन्धन होगा, वहाँ दुःख होगा—यह प्रेमकी रीति है, प्रेमका व्याकरण है।

प्रेमका अपना व्याकरण ही नहीं होता, उसका अपना न्याय होता है, उसकी अपनी मीमांसा होती है, उसका अपना वेदान्त होता है और उसका अपना योग और सांख्य होता है। जहाँ प्रेमी-प्रियतमका स्वरूप एक हो जाता है, वहाँ प्रेमका वेदान्त हो जाता है। वहाँ प्रेमकी मीमांसा होती है। जहाँ प्रेमी प्रियतमको देखता है, वहाँ प्रेमका सांख्य होता है और जहाँ प्रेमी प्रियतमसे सटता है, वहाँ प्रेमका योग होता है।

अब आओ, नन्दबाबा कृष्णके प्रेममें कैसे हो रहे हैं, इसका दर्शन करें। बाबाकी गोदमें उनका लाला खेल चुका है। कृष्ण नन्दको ही अपना पिता जानते हैं और नन्द कृष्णको ही अपना पुत्र जानते हैं। कृष्ण वसुदेवके यहाँसे आये थे, यह बात नन्दबाबाको मालूम नहीं है। वे तो यही समझते हैं कि कृष्ण अपना बेटा है, अपना लाला है।

इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः।
अत्युत्कण्ठो भवत्तूष्णीं प्रेम – प्रसर – विह्वलः॥ २७॥

इसमें जो 'इति' शब्द है, उसका अर्थ यह मत लेना कि नन्दबाबाने इतना ही कहा। 'इति'का तात्पर्य यह है कि इसी प्रकार नन्दबाबा न जाने क्या-क्या बोलते रहे। बार-बार यह स्मरण करते रहे कि हमारा लाला ऐसा है, हमारा लाला वैसा है। संस्मृत्य-संस्मृत्यको दो बार बोलनेका मतलब है कि कृष्णका स्मरण बारम्बार हो रहा है। उनके हृदयमें कृष्णमयी तरंग उठती है, फिर शान्त हो जाती है, फिर उठती है, फिर शान्त हो जाती है। उनके चित्तमें स्मृतिकी, संस्मरणोंकी धारा बह रही है। कृष्णने पूतना मारी, कृष्णने शकटासुर-वध किया, कृष्णने तृणावर्तका गला घोंट दिया और कृष्णने यमलार्जुन गिरा दिया। इतना ही नहीं, कृष्णने माखन-चोरी भी

की। उस दिन मैं पूजा कर रहा था तो कृष्णने शालिग्रामको उठाकर मुँहमें डाल लिया। मैंने पूछा कहाँ है? तो इशारा किया मुँहमें। मैं स्नान कर रहा था, तो खड़ाऊँ चुरा ली। खड़ाऊँ लेकर भाग गया। एक दिन ब्राह्मण-भोजन करा रहा था और ब्राह्मणने अभी खाना शुरू नहीं किया था कि थालीमें खाने लग गया। इस प्रकार नन्दबाबाको ऐश्वर्य और माधुर्य—दोनोंका बार-बार स्मरण आरहा है, पर वे बोल नहीं पाते। ये संस्मरण चित्तमें-से निकल रहे हैं; नन्दबाबाकी यह पूँजी हैं। सामान्यतया किसीके चित्तमें सांसारिक पदार्थों की स्मृतियाँ उदित होने लगती हैं तो वह कहता है कि हमारे मनमें ये सब ऊल-जलूल विचार क्यों उत्पन्न हो रहे हैं। इनको बन्द करनेके लिए प्राणायाम करो, प्रणवका उच्चारण करो। लेकिन नन्दबाबाको तो इन संस्मरणोंमें रस आता है, मजा आता है। वे चाहते हैं कि इसीमें डूब जायँ। ये संस्मरण त्याज्य नहीं हैं, बुद्धिके द्वारा उद्भूत हो रहे हैं। एक बात बुद्धिको जँचती है, तब याद आती है। नन्दबाबाको जो स्मृतियाँ हो रही हैं, वह सब बुद्धि-सम्मत हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि कृष्णके अनुरागके रंगमें रंगी हुई है—**कृष्णानुरक्तधीः**। एक सन्तने कहा, अरे कन्हैया, तुमको मेरी बुद्धिसे ही होली खेलनेमें आनन्द आया? मेरी बुद्धिको तूने अनुरागके रंगकी पिचकारीसे सराबोर कर दिया! यहाँ नन्दबाबाकी बुद्धिका क्या हाल है? वह कृष्णके रंगमें रँगकर काली तो नहीं हो गयी? नहीं, नहीं, यहाँ तो उलटी रीति है—

या अनुरागी चित्त की गति समुझे नहिं कोय।
ज्यों ज्यों भींगे श्यामरंग त्यों त्यों उज्वल होय॥

भिगोते हैं काले रंगमें और निखरता है उज्ज्वल रंग, श्वेत रंग! यहाँ कालेमें श्वेतिमाकी पराकाष्ठा छिपी हुई है! देखो, **कृष्णानुरक्तधीः** में तीन बातें हैं। एक तो '**धी**' है, जिसका अर्थ है चित्तवृत्ति। विशेष प्रकारकी बुद्धिको ही '**धी**' बोलते हैं। जो धारणात्मिका बुद्धि है, वही धी है। संस्कृतमें एक वस्तुके नाम अनेक होते हैं, पर उनमें थोड़ा-थोड़ा फर्क होता है! जैसे बुद्धिके इतने नाम हैं—

बुद्धिर्मनीषाधिष्णाधीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः।

परन्तु इनके अर्थमें थोड़ा-थोड़ा अलगाव है। वह है जो धारण करनेवाली है—**धारयति इति धीः**। नन्दबाबाकी जो बुद्धि है, वह क्या धारण करती है? उसमें विषय कौन है? कृष्ण। कृष्णके प्रति उनका भाव कौन-सा है? अनुराग। नन्दबाबाकी धी कृष्णके प्रति अनुरक्त है, कृष्णके अनुरागसे भरी हुई है।

अब नन्दबाबाके मनकी दशा बताते हैं। उनके मनमें क्या है? वे अत्यधिक

उत्कंठित हो रहे हैं कि कृष्ण, तुम्हारे बिना मैं अपना दिन कैसे व्यतीत करूँ? उनके हृदयमें प्रेमकी पिपासा जाग्रत् हो गयी है—

असह्य निरविकुण्ठाः कुण्ठमुत्कण्ठायासाः नवतमंमुखमिन्दुं ...।

श्यामसुन्दर! मेरे प्राण प्रेमकी तीव्र प्याससे पीड़ित हो रहे हैं। मेरी साँसोंकी साँसत हो रही है। तुम्हारी कथा सुनकर, तुम्हारी चर्चा सुनकर मैं अपने प्राणोंको एक क्षण भी कैसे धारण करूँ? अब हमारे साँस अपनी साँसत नहीं सह सकते, प्राण कण्ठमें आगये हैं। ये तुम्हारे मुखचन्द्रका दर्शन करनेके लिए जल्दी कर रहे हैं, उतावली कर रहे हैं। आओ प्राणनाथ प्रभो, पधारो, पधारो!

हे कृष्ण! मुझे अपने जीवनमें उस क्षणकी प्रतीक्षा है, जब तुम मेरी आँखोंके सामने होओगे—

हे देव! हे दयित! हे भुवनैकबन्धो!
हे कृष्ण! हे चपल! हे करुणैकसिन्धो!
हे नाथ! हे रमण! हे नयनाभिराम!
हा हा कदानुभवितासि पदं दृशोर्मे। (श्रीकृष्णकर्णामृत)
युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्द विरहेण मे॥

प्यारे श्यामसुन्दर, तुम्हारे बिना एक-एक पल कल्पके समान बीत रहा है। आँखें वर्षा ऋतुकी तरह झर रही हैं। सारी दुनिया सूनी दिखती है। तुम्हारे सिवाय मुझे और कुछ दीखता ही नहीं है! इस प्रकार कृष्ण-कृष्ण कहते-कहते नन्दबाबा अत्युत्कण्ठ हो गये, उनका गला रुँध गया। उनकी उत्कण्ठा सीमापार कर गयी! अब बोला नहीं जाता। 'तूष्णीं अभवत्' मौन हो गये, चुप हो गये! पहले स्मरण हुआ, बुद्धि अनुरागके रंगमें रँग गयी, फिर उत्कण्ठा आयी और उसके बाद चुप हो गये! **प्रेमप्रसरविह्वलः**—नन्दबाबामें प्रेमका ऐसा प्रसार हुआ कि जैसे नाड़ीमें रक्त दौड़ता है, वैसे ही उनकी धमनियोंमें प्रेम दौड़ने लगा! रक्तमें जिस प्रकार चमकवाले, ज्ञानवाले, प्रकाशवाले कण होते हैं और जिनसे वस्तुओंका बोध होता है, उसी प्रकार रक्तमें, नखसे लेकर शिखापर्यन्त प्रेम-द्रव दौड़ता है, अतः प्रेमके प्रसारसे, फैलावसे नन्दबाबाका शरीर विह्वल हो गया। इसका यह अर्थ समझो कि उनका अंग-अंग टूटने लगा। जब छोटी चीजमें कोई बढ़ने लग जाय, तो क्या होता है? रबड़की छोटी थैलीमें कोई चीज डाली जाय और वह फूलने लगे, तो क्या होगा? वह फटने लगेगी। इसी तरह नन्दबाबाकी नस-नस बिखरने लगी, हड्डी

टूटने लगी, वे प्रेमका प्रसार होनेसे प्रेमकी बड़ी-बड़ी तरंगे उठनेसे, प्रेमके समुद्रमें ज्वार आजानेसे विह्वल हो गये।

अब आप देखो। यहाँ बात यह कही जा रही है कि नन्दबाबाने पहले श्रीकृष्णके माधुर्यका वर्णन किया, पर जब प्रेमकी तरंग उठी, तब ऐश्वर्यका वर्णन करके उसको रोकना चाहा। परन्तु प्रेम ऐश्वर्यसे दबता नहीं है। प्रेममें इतनी शक्ति है कि वह बड़े-से-बड़े ऐश्वर्यवानको अपना बनाकर उसका साधारणीकरण कर लेता है। इसको बोलते हैं प्रेम-रसायन। पारेको मुँहमें डालो तो वह जीभको छेद देता है, लेकिन जब रसायनकी प्रक्रियासे उसकी गोली बना लेते हैं, तब उसका सेवन करनेसे कोई हानि नहीं होती। इसी तरह कोई ईश्वरको, ब्रह्मको, व्यापक तत्त्वको अपने दिलमें ले आकर रखना चाहे, तो यह सम्भव नहीं है। वह इतना बड़ा है कि कोई उसको अपने दिलकी छोटी-सी कोठरीमें कैद ही नहीं कर सकता। किन्तु जब उसे प्रेमके रसायनमें भावित करते हैं, तब वह निर्गुण भी सगुण हो जाता है, निराकार भी साकार हो जाता है। यहाँ तक कि दास अथवा बेटा भी बन जाता है। यह प्रेम रसायनका चमत्कार है! प्रेमकी यही सिफत है कि वह बड़ेको छोटा बनाकर ममताके घेरेमें ले लेता है। नन्दबाबामें पाँच बातें बताई गयीं है—पहली बारम्बार स्मरण, दूसरी अनुरागके रंगमें रंगी हुई उनकी बुद्धि तीसरी उत्कण्ठाकी अतिशयता, चौथी उनका चुप हो जाना और पाँचवीं प्रेमके सिवाय दूसरा कुछ न रहना!

प्रेम एक चन्द्रमा है। वह आह्लाद देता है। आकाशका चन्द्रमा अन्नपर, प्राणियोंपर लोगोंकी आँखोपर अमृतकी वर्षा करता है। किन्तु प्रेम दिलका चन्द्रमा है! यह एक-एक नसपर, एक-एक नाड़ीपर, एक-एक रोम पर प्रेमामृतकी वर्षा करता है। प्रेम आध्यात्मिक चन्द्रमा है। जो चन्द्रमा आकाशमें होता है, जिसपर ग्रहण लगता है, वह आधिभौतिक है। एक चन्द्रमा आधिदैविक चन्द्रमा है। वह मनका देवता है। जिस चन्द्रमापर राहु दैत्यसे ग्रहण लगता है वह आधिदैविक है और जिस चन्द्रमापर पृथिवीकी छायासे ग्रहण लगता है, वह आधिभौतक है। आकाशका चन्द्रमा तो घटता-बढ़ता रहता है—*घटइ-बढ़इ विरही दुःखदायी*—किन्तु प्रेमका चन्द्रमा, प्रेम-चन्द्र कभी घटता-बढ़ता नहीं, क्षीण नहीं होता, एक रस रहता है। आकाशका चन्द्रमा चन्द्रकान्त मणिको द्रवित करता है, पिघलाता है, किन्तु प्रेमका चन्द्रमा हृदयकी चन्द्रकान्त मणिको द्रवित करता है, पिघला देता है। जिसके हृदयमें प्रेमकी चाँदनी छिटकती है, उसके

हृदयमें कठोरता नहीं रहती, कोमलता आजाती है, वह द्रवित हो जाता है। हृदयकी कठोरता क्या है? ममत्वकी चक्की है। यदि किसी वस्तुके प्रति ममत्व हो और तुम उसको पकड़ रखना चाहो, तो उसे हाथ कठोर किये बिना कैसे पकड़ोगे? यह ममता ही हृदयकी कठोरता है और जब हृदयमें प्रेमचन्द्रका उदय होता है, तब इस ममता की कठोरता समाप्त हो जाती है। संसारमें ममत्व छूट जाता है। यह प्रेमका स्वभाव है कि ममता अपने प्यारेमें रहती है। चन्द्रमा अधूरा रहता है और टेढ़ा होता है। प्रेम भी टेढ़ा तो होता है, किन्तु पूरा होता है। टेढ़ापन क्या है? यही कि बुलाकर भाग जाता है, देखना चाहो, तो मुँह फेर लेता है। इसीको बोलते हैं वक्रिमा। कभी-कभी प्रेमचन्द्रमें जो मान आ जाता है, वही उसका बाँकपन है, तिरछापन है।

भाई, चन्द्रमा निकलनेसे अन्धकार भी तो मिटता है। हाँ, जरूर मिटता है। किन्तु जब हृदयमें प्रेमचन्द्रका उदय होता है, तब चित्तके मयका अन्धकार मिट जाता है। भाई, चन्द्रमा तो सायंकाल उदय होता है। हाँ, लेकिन प्रेमचन्द्र भी प्रदोष-कालमें ही उदय होता है। प्रदोष काल क्या है? जिस समय अपने प्रियतममें कोई दोष दीखने लगता है, उस समय यह ज्यादा उभरता है। उस दोषको छोड़ देंगे, ढक लेंगे, जाहिर नहीं होने देंगे, उसे मिटा डालेंगे। प्रियतमके दोषको देखकर दुनिया हँसती है, किन्तु प्रेमी खुश होता है। अब बोले—भाई, चन्द्रमाको देखनेपर तो बड़ा आनन्द आता है, प्रेमचन्द्रका उदय होनेपर क्या होता है? यह होता है कि हृदयमें नयी-नयी रुचि, नया-नया स्वाद, नया-नया उन्माद आता है, जिसके हृदयमें प्रेमका चन्द्रमा उदय होता है, उसके हृदयमें एक अद्भुत चाँदनी खिलती है, एक अद्भुत रसायन प्रकट होता है और वह उसके रोम-रोमको अद्भुत बना देता है, दिव्य बना देता है। प्रेम माने विकार नहीं, प्रेम माने भोगकी वासना नहीं, प्रेम माने मलिनता नहीं, प्रेम माने दिव्य उज्ज्वलता। जब हृदयमें प्रेम आता है, तब क्या होता है, यह किसी प्रेमीका दर्शन करनेपर ही ज्ञात हो सकता है। वृन्दावनमें एक सिन्धी साईं रहते थे, जिनको हम लोग 'भक्त कोकिल'भी बोलते थे। आप जानते हो, अपने राम वेदान्तके निरूपणमें कभी कोई लाग-लपट नहीं रखते। बेलिहाज वेदान्तका निरूपण करते हैं और अज्ञानकी निवृत्तिके लिए वेदान्तसे बढ़कर कोई प्रबल वस्तु नहीं मानते—**न वेदान्तात् प्रबलंमामानुषे**। वृन्दावन रहनेपर वहाँ नित्य प्रातःकाल वेदान्तकी चर्चा होती ही है। उसमें 'भक्त-कोकिलजी' भी आते थे। मैं भी उनके निवास-स्थानपर

जाता था। आपको क्या बताऊँ, 'भक्त कोकिलजी'के साथ बैठनेपर प्रेमकी, भक्तिकी ऐसी-ऐसी बातें चित्तमें उदय होती थीं, जो कहीं दूर रहनेपर नहीं होती थीं। मैं आश्चर्यमें था कि उसका क्या कारण है? एक दिन रूप-गोस्वामी कृत 'भक्तिरमामृतसिन्धु,' नामक ग्रन्थमें जीव गोस्वामीकी टीका पढ़ते-पढ़ते यह प्रसंग आया कि जब प्रेमीके पास ऐसा कोई व्यक्ति आकर बैठ जाता है, जिसके चित्तमें कोई राग-द्वेष न हो, पक्षपात न हो, ईर्ष्या-द्वेष न हो, जिसका हृदय शुद्ध हो, तो उस बैठनेवालेके मानस-सरोवरमें प्रेमी भक्तके प्रेमचन्द्रकी, भाव-चन्द्रकी छाया पड़ती है। जितनी देरतक वह व्यक्ति उस प्रेमी भक्तके पास बैठा रहेगा, उतनी देरतक उसके मानस-सरोवरमें वैसी ही तरंगें उठेंगी, जैसी तरंगें चन्द्रमाको देखकर समुद्रमें उठती हैं। और वे सब-की-सब प्रेमसे सम्बन्धित होंगी। प्रेमीके पास बैठनेसे अपने आप ही हृदयमें प्रेमभावका संचार होने लगता है।

हम कभी-कभी सुनाते हैं कि यदि किसीको धन चाहिए तो उसे धनीके पास मिलेगा, भिखारीके पास नहीं मिलेगा। इसी तरह यदि तुम्हें प्रेम चाहिए तो वह किसी प्रेमीसे ही मिलेगा। जिसके हृदयमें प्रेम नहीं होगा, वह तुमको प्रेम कहाँसे देगा? यदि कहो कि भगवान् देंगे तो भगवान् स्वयं प्रेमके भिखारी हैं, एक-एक भक्तसे प्रेम माँगते-फिरते हैं कि अरी गोपी, मुझे प्रेम दे, अरे ग्वाला, मुझे प्रेम दे! प्रेमका धनी प्रेमी है। अगर तुम्हें प्रेम लेना हो, तो यह सिर काटनेसे भी नहीं मिलता—

जो सिर काटे हरि मिले, तो हरि लीजै दौर।

यदि सिर काटनेसे भगवत्प्रेम मिलता, तो अब तक कई सिर कटा कर ले चुके होते। भक्त कहते हैं कि—**कृष्ण भक्ति रस भाविता मतिः यदि कुतोऽपि लभ्यते क्रीयतां क्रीयतां**—यदि 'कृष्ण भक्ति रस भाविता मति' कहीं मिलती है, तो खरीद लो! 'कृष्ण भक्ति-रस भाविता मति'का अर्थ है कृष्ण भक्तिके रसमें भिंगाई हुई बुद्धि। ऐसी बुद्धि, जो कृष्ण-भक्तिके रसमें सराबोर हो, तर हो, डूबी हुई हो। उसको खरीदो, देर न करो। यह मत पूछो कि वह कहाँ मिलेगी, जहाँ भी मिले, वहाँ से लो यह मत कहो कि हम इसी दुकानसे लेंगे। दुकानका नियम बनाओगे तो काम नहीं चलेगा। जिस दुकानमें मिल जाय, उसी दुकान से ले लो। **कतोऽपि लभ्यते**—कहींसे भी मिल जाय—बच्चेसे मिले, स्त्रीसे मिले, पुरुषसे मिले, पशुसे मिले, पक्षीसे मिले, वृक्षसे मिले। जहाँसे मिले, वहींसे ले लो।

अच्छा, उसकी कीमत ही बतादो कि कितनी मेहनत, कितनी मजदूरी

करनेपर वह मिलेगी? बोले— यह पूछोगे तो काम नहीं बनेगा। क्योंकि—**जन्म कोटि-सुकृतेन न लभ्यते**—कोटि-कोटि जन्मोंके पुण्यसे, धर्मसे, दानसे, मिलने वाली वस्तु नहीं है। यह कर्म-जन्य नहीं हैं, किसी भी कर्मसे मिलने वाली नहीं है। तब यह कैसे मिलेगी? ऐसे मिलेगी कि—**तत्र मूल्यमपि लौल्यमेकलं**—इसके लिए मचल जाओ, ललक जाओ, व्याकुल हो जाओ—कि हम तो इस भक्तिरसको, प्रेम रसको प्राप्त करके ही रहेंगे। इसके लिए जितनी ललक और व्याकुलता तुम्हारे चित्तमें होगी, उतनी ही जल्दी यह मिलेगा। लौल्य और व्याकुलता ही इसका मूल्य है। प्रेमका मूल्य समाधि लगाना है, प्राणायाम-प्रत्याहार करना नहीं है। यह पैसेसे भी नहीं मिलता। केवल ललक और व्याकुलतासे मिलता है। और उसके पास मिलता है, जो इसका धनी है, जिसके हृदयमें प्रेम भरा हुआ है, उसीसे इसको प्राप्त करो, वहींसे यह मिलेगा।

नन्दबाबा **प्रेम प्रसर विह्वलः** अर्थात् प्रेम विह्वल हो गये हैं। उन्होंने पहले उद्धवजीका स्वागत सत्कार किया, खिलाया-पिलाया, बातचीत की और अन्तमें विह्वल हो गये। लेकिन यशोदा मय्या? वे तो शुरूसे ही विह्वल थीं—

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्त्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा॥ २८॥

नन्दबाबाको कृष्णका नाम मालूम है, किन्तु यशोदा मय्याको नाम भी मालूम नहीं। उनको तो बस अपना बेटा याद है। जिस दिन उन्होंने देखा कि नन्दबाबाके साथ हमारा बेटा लौटकर नहीं आया, उसी दिनसे उनकी आँखें बहती रहती हैं और वे उनको ढँके रहती हैं कि कोई देख न ले! यहाँ भी जो उद्धवजी के पास बैठी हैं, आँखोंको कपड़से ढँककर ही बैठी हैं। लेकिन आँसू झर-झर बह रहे हैं और जब पुत्रस्य चरितानि—पुत्रके प्रभाव-पूर्ण चरित्र-श्रवणसे उनकी यह दशा हो रही है, तब उसके सौन्दर्य-माधुर्य और बाललीलाकी बातें सुनते समय उनकी क्या गति हुई होगी? जरा ध्यान तो कीजिये उस यशोदा मय्याका, जिसके सामने उनका लाड़ला श्यामसुन्दर धूलमें लोटने लगता था—**तत् पूर्णब्रह्म भूमौ लुण्ठति**। अब यदि यशोदा मय्याको यह याद आजाय कि उसलाला मेरे पास आया और जमीनमें लोट-लोटकर रोने लगा। बस, रोता जाय और 'मय्या-मय्या' पुकारता जाय, इसलिए—कि वह मेरी छाती का दूध पीना चाहता था। जब मैंने उसको गोदमें लेकर दूध पिलाया तब उसका विलाप बन्द हुआ। अब बताओ—यशोदा मय्याको यह याद आने पर वह कैसे धैर्य धारण करेंगी? वह जब अपने बेटेके ऐश्वर्यका

चरित्र सुनकर भी अपनेको नहीं रोक सकती, तो उसके बेटे ने अपनी मय्याके साथ जो-जो लीलाएँ की हैं, उनको सुनकर कैसे अपनेको रोक सकती है?

शृण्वन्ती—कृष्णके चरित्र सुनकर यशोदा मय्याके प्राण कानमें आ गये। प्रेममें यह बड़ी विचित्र बात है कि प्राण किसी एक इन्द्रियमें आ जाते हैं। देखने लगो, तो देखते ही रह जाओ, फिर पाँव नहीं चलेंगे, हाथ काम नहीं करेंगे, कान सुनेंगे नहीं, नाक सूँघेगी नहीं—उसे सुगन्ध नहीं मालूम पड़ेगी और जीभको स्वाद नहीं मालूम पड़ेगा। इसी तरह यदि जीभ में स्वाद आने लग जाय, तो स्वाद-ही-स्वाद आता रह जाये, सुनो तो सुनते ही रह जाओ, छूओ तो छूते ही रह जाओ। भक्त एकेन्द्रिय हो जाता है। उसकी सारी-की-सारी इन्द्रियाँ अपना-अपना स्थान छोड़कर उस एक इन्द्रियमें आ जाती है, जिससे अपने प्रियतमका अनुभव होता है। इसलिए इस समय यशोदा मय्याके कान ही प्राण है। वे अपने पुत्रके चरित्रका श्रवण कर रही हैं। उनकी आँखोंसे अपने आप आँसू की धार बह रही है और उनकी स्थिति स्नेहस्रुत पयोधरा की ही गयी है। यशोदा मय्याको ऐसी संवित् हो गयी है, कि लाला हमारी गोदमें बैठ गया है और दूध पी रहा है। अतः स्नेहकी अधिकतासे दूधकी धारा क्षरित होने लगी है। यही संवित् उनके जीवनका हेतु बन गया, अन्यथा यशोदा मय्या कृष्णके विरहमें, उनका चरित्र श्रवण करके जीवित ही नहीं रहती है।

अब उद्धवजीने देखा कि अरे, नन्द-यशोदाके हृदयमें अपने पुत्रके प्रति परमानुराग है। ऐसे अवसरपर साधारण व्यक्ति होता, तो दुःखी हो जाता। किन्तु उद्धवजी ठहरे महापुरुष! अतः उनको बड़ा आनन्द आया। उन्होंने सोचा कि ओ हो, हमारे कृष्णसे इनका इतना प्यार है। संसारमें छोटे-मोटे प्रेमी ईर्ष्यालु हो जाते हैं और चाहते हैं कि जिससे हम प्रेम करते हैं, उससे दूसरा कोई प्रेम न करे! किन्तु जो सच्चे प्रेमी होते हैं, वे इस बातसे आनन्दित होते हैं कि अहाहा! जिससे हमारा प्रेम है, उससे दूसरे भी प्रेम करते हैं। वाह, वाह, हमारा प्रियतम कितना अच्छा है, और सुख पहुँचानेवाले उससे प्रेम करनेवाले कितने अच्छे हैं।

उद्धवजीको यशोदानन्दका प्रेम देखकर जो आनन्द आया, उसका प्रसंग आपको कल सुनावेंगे।

सत्रहवाँ प्रवचन

तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः।
वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा॥ २९॥

उद्धव उवाच

युवाश्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद।
नारायणेऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी॥ ३०॥
एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम्।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य ज्ञानस्य चेशातइमौ पुराणौ॥ ३१॥
यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम्।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः॥ ३२॥

अब आओ, चलें व्रजमें। शरीर भले ही बम्बईमें रहे, किन्तु मन तो चल सकता है। व्रजमें पहुँचकर नन्दगाँव चलो और नन्दगाँवमें नन्दबाबाका घर देखो! वहाँ उद्धवजी, नन्दबाबा और यशोदा मय्या—तीनों बैठे हैं। नन्दबाबा और उद्धवजीमें बातचीत हो रही है और वात्सल्य मूर्ति यशोदा मय्या चुपचाप सुन रही हैं! इस सृष्टिमें माताएँ बहुत होती हैं, लेकिन यशोदाने अपने पुत्र श्रीकृष्णसे जैसा प्रेम किया, वैसा प्रेम करनेवाली दूसरी कोई माता नहीं हुई। कोई कह सकता है कि यशोदा माताके वर्णनसे आज हमारा क्या लाभ है? कई लोगोंको अपने फायदेकी फिक्र ज्यादा होती है और उसी फिक्रके कारण उनको फायदा नहीं हो पाता। हमको क्या लाभ, हमको क्या लाभ-की बात सोचते-सोचते वे स्वार्थी हो जाते हैं।

यहाँ कोई दुकानदारीकी बात नहीं हो रही है, रागानुरागा भक्तिकी बात हो रही है। भक्तिके कई प्रकार होते हैं। एक तो होती है वैधी भक्ति। वैधी माने विधि-विधान या संविधानके अनुसार, कायदे-कानूनके अनुसार, वेदविधिके अनुसार की जानेवाली भक्ति! उपास्यकी पूजाके समय पहले अर्घ्य देना, फिर पाद्य देना, फिर आचमनीय देना, फिर चन्दन देना; यह सब विधिके अनुसार होता है। अक्षत किसी देवताको चढ़ाया जाता है, किसीको नहीं। जिसको अक्षत चढ़ाया जाता है, उसको चढ़ाना, जिसको नहीं चढ़ाया जाता उसे नहीं चढ़ाना।

पुष्पोंमें केतकीका फूल किसीको चढ़ता है, किसीको नहीं चढ़ता! कनेरका फूल किसीको चढ़ता है, किसीको नहीं चढ़ता। तुलसी किसीको चढ़ती है, किसीको नहीं चढ़ती! बिल्वपत्र किसीको चढ़ता है किसीको नहीं चढ़ता! उपासकको इसका ध्यान रखना पड़ता है! शास्त्रमें जैसा वर्णन है, उसके अनुसार उपासना करनेका नाम वैधी भक्ति है! साधनके आरम्भमें यह करना आवश्यक है। इसको रामानुज—सम्प्रदायमें क्रियायोग, वल्लभ-सम्प्रदायमें मर्यादा और श्रीचैतन्य महाप्रभुके सम्प्रदायमें वैधी बोलते हैं। यह भक्तिका प्रारम्भिक रूप है और भीतरके प्रेमको पहचाननेका बाहरी नक्शा है! मानसी सेवा कैसे की जाती है, इसके लिए पहले बाहर थोड़ा सीखना पड़ता है। आगे चलकर जब प्रेमलक्षणा भक्ति उदय होती है तब उसके दो रूप होते हैं—एक रागानुराग और दूसरी रागात्मिका! रागानुगा भक्तिमें साधक यह सोचता है कि हम गोलोकसे आये कोई सिद्ध भक्त तो हैं नहीं, परन्तु हमारी यह कामना है कि हमारे भीतर यशोदा मय्याकी भक्ति आवे, गोपियोंकी भक्ति आवे, गोप-ग्वालोंकी भक्ति आवे। इसके लिए वह यह ध्यान करता रहता है कि श्रीकृष्णसे किस प्रकार यशोदा मय्या स्नेह करती हैं, किस प्रकार गोपियाँ प्रेम करती हैं और किस प्रकार ग्वालबाल प्यार-प्रीति करते हैं। यदि तुम भी श्रीकृष्णके प्रति यशोदा मय्याके स्नेह, गोपियोंके प्रेम और ग्वालबालोंकी प्यार-प्रीतिका चिन्तन करोगे, तो तुम्हारे हृदयमें वह स्नेह-प्रेम और प्यार-प्रीति उतर आवेगी! यशोदा मय्याके वात्सल्य, गोपीके प्रेम और श्रीदामा, सुबल आदि सखाओंके सख्यभावका ध्यान किया जाय। हृदयको भक्तिमय बनानेकी यह एक मनोवैज्ञानिक प्रणाली है, प्रक्रिया है कि इससे बढ़कर लाभकी बात और क्या हो सकती है कि तुम्हारे हृदयमें यशोदा मय्याका अवतरण हो जाय और यह बात बैठ जाय कि वह अपने लालासे कैसा प्यार करती है। तो यशोदा मय्यावाला प्रेम तुम्हें प्राप्त हो जायेगा!

अब यशोदा नामके अर्थपर ध्यान दो! यशोदा उसे कहते हैं, जिसने अपने पुत्रको यशस्वी बनाया है—यशो ददाति इति यशोदा—जो यशदान करे, उसका नाम यशोदा। वह पुत्र कैसा है, जिसको यशोदाने यश-दान किया? जो यशके परम आश्रय हैं, जिनसे बढ़कर इस सृष्टिमें और कोई यशस्वी नहीं है, वह परमात्मा यशोदाका पुत्र है और उसको यशदान किया है यशोदाने! यह कितने आश्चर्यकी बात है! भला भगवान्‌को भी कोई यशस्वी बना सकता है, यशदान कर सकता है? अवश्य कर सकता है। देखो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि भगवान् बहुत बड़े हैं। जो

लोग उनके बारेमें जानते हैं, उन्हें पता है कि भगवान् निर्गुण हैं, निराकार हैं, सर्वकारण हैं, सर्वव्यापक हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, न्यायकारी हैं। लेकिन इसके साथ-साथ ईश्वर कृतज्ञ भी है और अपनेसे प्रेम करनेवालेके वशमें हो जाता है। वह अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-नायक, त्रिलोकी नाथ, साक्षात् परब्रह्म होते हुए भी अपने बड़प्पनका ख्याल छोड़कर अपने प्रेमीके वशमें हो जाता है और इतना वशमें हो जाता है कि निर्गुणसे सगुण बन जाता है, निराकारसे साकार बन जाता है, कारणसे बेटा बन जाता है, व्यापकसे गोदमें आजाता है और रंगरूप-विहीन होनेपर भी साँवरा-सलोना बन जाता है। तो मय्या ईश्वरको ऐसा किसने बनाया? उसपर वशीकरणका प्रयोग किसने किया? इसका एकमात्र उत्तर है—यशोदा मय्याने! यशोदा मय्याके कारण ही ईश्वरको यह यश मिला कि वह भक्तवत्सल है, प्रेम-परवश है, प्रेम-पराधीन है। ईश्वर अपना सम्पूर्ण ऐश्वर्य छोड़कर, सृष्टिकी स्थिति और पालनकी चिन्ता छोड़कर अपने प्रेमीकी मुट्ठीमें आजाता है, अपने प्रेमीके वशमें हो जाता है। यह बात यशोदा मय्याने ही जाहिर की है, इसीलिए उनका नाम यशोदा है!

अब श्रीकृष्णके प्रति यशोदा मय्याका जो वात्सल्य-भाव है, उसके अर्थपर ध्यान दो! **वत्सं लाति इति वत्सला**—जो अपने बछड़ेको चाटे, उसका नाम है वत्सला! वत्सला माने गाय! गाय जब बछड़ेको जन्म देती है, तब उसे ब्याना या बियाना कहते हैं! गोस्वामी तुलसीदासजीने इसका प्रयोग किया है। कहते हैं कि जिस स्त्रीका पुत्र भगवान्‌का भक्त हो, उसने तो पुत्र जाया है, किन्तु जिस स्त्रीका पुत्र भगवान्‌का भक्त नहीं हुआ है, उसने सन्तानको जन्म नहीं दिया है, वह तो व्यर्थ व्यायी है—

नतरू बाँझ भलि बादि बियानी।
राम बिमुख सुतते बड़ि हानी॥

जिस स्त्रीका पुत्र रामसे विमुख है, भगवान्‌से विमुख है, उससे अच्छा तो उसका बाँझ बने रहना था। उस स्त्रीका ब्याना, बच्चा पैदा करना बिलकुल व्यर्थ है।

देखो, वत्सला गायकी क्या विशेषता है? जब उसके बछड़ा पैदा होता है तब उसके शरीरमें मूत्र लगा होता है, गोबर लगा होता है, पीब लगी होती है, जेर लगी होती है! यदि वे चीजें अलगसे पड़ी हुई हों, तो गाय उनको खाना तो अलग, सूँघती भी नहीं है। लेकिन वही चीजें, जब अपने बछड़ेके शरीरपर लगी होती हैं, तब गाय

अपनी जीभसे चाट लेती है। इससे सिद्ध होता है कि गायका अपने बच्चेसे कितना प्रेम है, कितनी ममता है! इसीको ध्यानमें रखकर कहा गया है कि आश्रितजनके दोषको अपना भोग्य बना लेना वात्सल्यका लक्षण है। अब उदाहरण देखो।

यशोदा मय्याके घर गोपियाँ आयीं और शिकायतके स्वरमें बोलीं—कि तेरा लाला हम लोगोंके घरोंमें जा-जाकर बड़ा ऊधम मचाता है! मय्याने कहा—कि नन्हा-सा तो मेरा लाला है, अभी इसकी कमर इतनी-सी है कि मुट्ठीमें आजाय। भला, यह तुम्हारे घरमें जाकर क्या ऊधम मचाता है? गोपियाँ बोली कि क्या-क्या बतावें? एक तो बछड़ोंको खोल देता है। तुम कहोगी कि बाँध लिया करो, तो हम बाँध लिया करती हैं। लेकिन यह जो दही-दूध चुरा-चुराकर खाता है, इसके लिए क्या कहोगी? इसपर यशोदा मय्याने कहा कि देखो ग्वालिन, मैं बहुत विनती, बहुत चिरौरी करती रहती हूँ कि लाला, मक्खनका एक लोंदा खा लो, लेकिन नहीं खाता। मैं कहते-कहते हार जाती हूँ। अगर इसको अपने घरका माखन अच्छा नहीं लगता है, तुम्हारे घरका माखन अच्छा लगता है, तो जितना भी खाये, खाने दो और उसके बदलेमें दो गुणा, चार गुणा, आठगुणा—जितना चाहो उतना माखन हमारे घरसे ले जाओ। गोपियोंने कहा—मय्या, केवल अकेला खाय तो खाय, वह तो सब ग्वालोंको इकट्ठा करके खिलाता है और बानरोंको भी बाँटता है। इतना ही नहीं, वह हमारे घरोंमें मूत देता है, बच्चोंको चिकोटी काटकर रुला देता है, दो बच्चोंकी चोटी आपसमें बाँध देता है और वे रोने लगते हैं। ऐसे-ऐसे ऊधमके काम करता है कि बर्दाश्त करना कठिन है! ऐसी-ऐसी और भी न जाने कितनी शिकायतें गोपियोंने कीं इस पर यशोदा मय्याको अपने लालापर नाराज होना चाहिए! लेकिन वहाँ वात्सल्यके कारण दोष-दृष्टि ही नहीं हैं। अन्तमें जब उनकी नजर गोपियोंकी नजरपर गयी, तो भेद खुल गया—

सभयनयन श्रीमुखालोकिनीभिर्व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत्।

८.३१

अरे, यह गोपियाँ निगोड़ी तो हमारे लालाको देखनेके लिए, निहारनेके लिए, अपनी आँखकी प्यास बुझानेके लिए हमारे घर आयी हैं—और उसपर झूठा दोष लगाती हैं। हमारा भोला-भाला लाला यह सब क्या जाने? जब गोपियोंने देखा कि यशोदा मय्या ताड़ गयीं, तब प्रहसितमुखी-हँसने लग गयीं। जब गोपियाँ हँसने लगीं तब कृष्ण भी हँसने लगे। यशोदा मय्या भी हँसने लगीं। यह है वात्सल्य यशोदाका! कृष्णके दोषोंपर उनकी दृष्टि जाती ही नहीं है!

अब दूसरा पक्ष देखो! जब मालूम हुआ कि कृष्णने माटी खायी है, तब यशोदा मय्याको यह चिन्ता हो गयी कि कहीं लालाका पेट न खराब हो जाय, उसको पीले-नीले दस्त न आने लगें, कीड़े न पड़ जायँ! इस चिन्ताके कारण वे क्षुब्ध होकर डाँटने लगीं—

कस्मान्मृदमदान्तात्मन् भवान् भक्षितवान् रहः। ८.३४

अरे ओ चटोरे, ओ ढीठ। तूने माटी क्यों खायी? इसी तरह जब ज्यादा दूध पीने लगे, तब मय्याने डाँट दिया—कि बस, अब मत पीओ, अपच हो जायेगा। एक बार कृष्ण घरमें उधम मचाने लगे, तो मय्या हाथमें रस्सी और छड़ी लेकर दौड़ी; खदेड़ा, पकड़ा तथा रस्सीसे बाँध दिया। कहाँ त्रिलोकीनाथ, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-नायक, साक्षात् परब्रह्म और कहाँ रस्सीके टुकड़ेका बन्धन! यह इस बातका परिचायक है कि परमेश्वर प्रेमी भक्तके कितना अधीन हो जाता है और किस प्रकार उसकी गालियाँतक सुनता है। जब यशोदा मय्याने कृष्णके दोनों हाथ बाँध दिये तब बलदाऊ भैया आकर रोने लगे—कि लाला! तुमने यह क्या किया? लोग तेरा नाम लेकर मुक्त हो जाते हैं और तू आज बन्धनमें पड़ा हुआ है! लेकिन यह बन्धन तो प्रेमका बन्धन है। **प्रेमरज्जुकृत बन्धनमेकं**—प्रेमकी रस्सी ऐसी बाँधती हैं कि उससे छुटकारा पाना ईश्वरके वशकी भी बात नहीं है। यहाँतक कि छुटकारा पानेके लिए ईश्वरको यशोदा मय्याके सामने सफाई देनी पड़ती है—

मय्या मैं नहीं माखन खायो।

यह यशोदा मय्याकी प्रीतिका प्रभाव है! लेकिन आज उसी यशोदा मय्याको, जो कभी छड़ी लेकर माटी उगलवा चुकी हैं—

'सांटी ले उगलावति माटी'!

रस्सी लेकर बाँध चुकी हैं, गोदमें लेकर दूध पिला चुकी हैं, उद्धवजीके मुखसे अपने लालाकी कहानी सुननी पड़ रही है। कितना करुण प्रसंग है यह! आप एक बार ध्यान तो दो—

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा॥ २८॥

'वर्ण्यमानानि'—का मतलब है कि वर्तमानमें वर्णन हो रहा है। यदि सौन्दर्यका वर्णन हो और वह भी किसी दूसरेका नहीं, अपने बेटेका, तब तो कहना ही क्या है! किन्तु यहाँ तो ऐश्वर्यका वर्णन हो रहा है! इसलिए यशोदा मय्या कहती हैं—ये कान नहीं फट जाते जो यह सब सुननेके लिए जिन्दा हैं! जिसको अपनी

छातीका दूध पिलाया, गोदमें खिलाया, जिसने मेरी चोटी खींच ली, जिसको थालीमें चन्दा मामा दिखलाकर बहलाया, जिसको गढ़-गढ़ कर झूठी कहानियाँ सुनायीं और सुलाया, अब उसके ऐश्वर्यके चरित्र सुनने पड़ रहे हैं—कि आजकल कंसको मारकर मथुरा बसा रहे हैं, यदुवंशियोंका पालन कर रहे हैं, शास्त्रोंका अध्ययन कर रहे हैं, उनकी बड़ी इज्जत है, बड़ी प्रतिष्ठा है—इत्यादि। उद्धवजी, यह नहीं बताते कि आजकल जब वह नींदसे उठता है, तो माखन-मिश्री कौन देता है।

यह मत समझो कि यशोदा मय्या जो उद्धवजीके सामने मौन थीं, अब बोलने लगी हैं। मौन वे अब भी हैं। किन्तु उनके मनके भाव बिना वाणीके ही प्रकट हो रहे हैं। वे मन-ही-मन पूछती हैं कि उद्धवजी, यह तो बताओ कि हमारा लाला कभी वहाँ बाँसुरी बजाता है? हम यहाँ ताली बजाते थे तब वह नाचता था। क्या तुमने मथुरामें कभी ताली बजानेपर उसको नाचते देखा है? वहाँ कभी किसीके घरमें माखन-चोरी करने गया है? किसी गोपीके साथ कभी छेड़-छाड़ की है? मथुरामें क्या मजा आता होगा उसको? वहाँ किस गोपको कन्धेपर लेता होगा? किस गायके पीछे चलता होगा? तुम उसके ऐश्वर्यमय, प्रभावमय, आदर्श चरित्र सुना रहे हो और मैं उसकी मय्या होकर सुनती जा रही हूँ। मय्या मन-ही-मन यह सब कुछ कह रही हैं और उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है। जिस मय्याने एक दिन श्रीकृष्णकी सृष्टि की थी, वही मय्या आज आँसुओंकी सृष्टि कर रही हैं। **स्नेहस्नुतपयोधरा**—यही माँकी विशेषता है। संस्कृत-साहित्यमें 'स्नेह' शब्द-दूध-दही-घी-तेल आदिके अर्थमें प्रयुक्त होता है! पुत्रपर पिता भी स्नेह करता है और माँ भी स्नेह करती है। बापका स्नेह मनमें होता है, पर माँका स्नेह मनमें होता ही है, छातीमें भी होता है। वह मूर्तिमान वस्तु बन जाता है। पति-पत्नीमें जो प्रेम है, वह वस्तु नहीं बनता और पिता-पुत्रका स्नेह भी वस्तु नहीं बनता। मित्र-मित्रका प्रेम भी वस्तु नहीं बनता, परन्तु माताका स्नेह साक्षात् पदार्थ बन जाता है, दूध बन जाता है! माताकी छातीका दूध स्नेहका घनीभाव है! यशोदा मय्याके स्तनोंसे दूध बह रहा है, आँखोंसे आँसू बह रहे हैं। वह वात्सल्यमें मगन हो रही हैं! अब उद्धवजीकी दृष्टि पड़ी मय्याकी ओर—

तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्द - यशोदयोः।
वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा॥ २९॥

"भगवति कृष्णे तयोः नन्दयशोदयोः इत्थं परमं अनुरागं वीक्ष्य उद्धवः मुदा नन्दं आह"—उद्धवजीने देखा—कितना आश्चर्य है!

यहाँ विषयकी शुद्धि बतायी। यदि सामान्य दृष्टिसे देखें, तो लोगोंके मनमें अनुराग नहीं होता, काम होता है। यह नहीं समझना चाहिए कि जो जवान होते हैं, उन्हींको काम होता है! बूढ़ोंको भी काम होता है ओर बच्चोंको भी काम होता है। कामका अर्थ है—अपने सुखके लिए किसीके साथ सम्बन्ध जोड़ना! अमुकके साथ रिश्ता जोड़नेमें हमको बड़ा सुख मिलेगा और अमुकके साथ रिश्ता नहीं जोड़ेंगे, तो हम मर जायेंगे। इस विचारके पीछे कामकी प्रधानता है, प्रेमकी नहीं हैं। सृष्टिके सम्बन्धोंमें प्राय: प्रेम होता ही नहीं, होता है तो काम होता है! ईश्वरकी कृपासे किसीका हृदय शुद्ध हो, तभी उसमें सच्चा अनुराग आ सकता है। अनुराग आता है विश्वाससे! श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज भक्तिकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—

माहात्म्यज्ञानपूर्वकं त्रिविधा सर्वतोधिकः
स्नेहो भक्तिरिति ख्याता तया मुक्तिर्न चान्यथा।

पहले तो माहात्म्यका ज्ञान हो! यदि कोई कहे कि हम तो रसूलनको या रशीदा बेगमको सर्वेश्वरी, हृदयदेश्वरी, प्राणेश्वरी मानते हैं, तो यह व्यर्थकी बकवास है और अपनी बदमाशी छिपानेका तरीका है! क्योंकि उसके प्रति प्रेम और भक्तिका जो प्रदर्शन है, वह कामासक्ति मूलक है, झूठा है! सच्चे प्रेमके लिए ईश्वरके माहात्म्यका ज्ञान होना अनिवार्य है! हम जिसे ईश्वर मानते हैं, उसका वर्णन वेद-शास्त्रोंमें हो और महात्मा लोग भी उसको ईश्वर स्वीकार करते हों। उसके गोवर्धन-धारण—आदि जैसे ऐश्वर्यके काम देखे गये हों!

दूसरी बात है—'सर्वतोधिकः'—ईश्वरसे जितना प्रेम हो, उतना प्रेम किसी औरसे न हो! सबसे अधिकका तात्पर्य यह है कि अपनेसे भी अधिक प्रेम ईश्वरसे हो और कल्पान्तमें, महाप्रलयमें भी मिटनेवाला न हो। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजके मतमें प्रेमका नाम ही भक्ति है और ऐसी ही भक्तिसे मुक्ति मिलती है! भगवान्‌के चरणारविन्दकी, मुकुन्द-पादारविन्दकी प्राप्तिका नाम ही मुक्ति है!

अब विषयकी महिमा देखो। यशोदानन्द अपने बेटेमें भगवद्-बुद्धि नहीं करते! हमारा बेटा भगवान् हैं, ऐसा नहीं मानते! जिसको सब लोग भगवान् मानते हैं, उसको वे अपना बेटा मानते हैं! अपने बेटेको भगवान् मानना तो संसार है, किन्तु भगवान्‌को अपना बेटा मानना भक्ति है। यशोदाके प्रेमका विषय संसारी नहीं है, साक्षात् परमैश्वर्यशाली भगवान् हैं! इस बातको श्रीधर स्वामीने एक स्थानपर बहुत बढ़िया समझाया है! उनसे किसीने पूछा कि कुब्जाके मनमें तो बिलकुल

सोलहों आने काम था! कई गोपियाँ भी ऐसी थीं, जिनके मनमें कृष्णके प्रति काम ही था! फिर काम भाव होनेपर भी उनका कल्याण कैसे हुआ? इसपर श्रीधर स्वामीने एक पद बोल दिया—**विषयमहिम्ना**—यह विषयकी महिमा है। मतलब यह कि कामासक्त कुब्जा और गोपियोंकी मुक्ति उनके माहात्म्यसे नहीं हुई, उन्होंने जिससे प्रेम किया, उस भगवान् कृष्णकी महिमासे उनकी मुक्ति हुई।

भागवतकी श्रीधरी टीकापर एक टीका है—वंशीधरी टीका! वह भी बड़ी बढ़िया टीका है! उसमें सब सम्प्रदायोंका सार है! उसके टीकाकार श्रीवंशीधरजीने श्रीधर स्वामीके 'विषयमहिम्ना' पदका यह अर्थ किया है कि यदि प्रेमके विषय मुरली मनोहर, पीताम्बरधारी, नन्दनन्दन, श्यामसुन्दर, मन्द-मन्द मुस्कान और प्रेम भरी चितवनवाले, त्रिभङ्गललित भावसे खड़े, प्यारे-प्यारे श्रीकृष्ण हों, तो वे स्वयं इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उनके साथ राग, द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, किसी भी कारणसे मन जुड़ जाये, तो मनुष्यका कल्याण हो जाता है—

येनकेनाप्युपाययेन मनः कृष्ण।

उद्धवजीको यह देखकर बड़ी खुशी हुई कि नन्द-यशोदाके अनुरागके विषय भगवान् कृष्ण हैं। इसलिए नन्द-यशोदा प्रेमके अधिकारी हैं। वे प्रेमी हैं और उनके प्रेमके विषय भगवान् कृष्ण स्वयं 'परम् अनुरागं'—परम अनुराग हैं! राग और अनुरागमें भेद होता है! रागमें लोग राह चलते फँस जाते हैं! राग एक गन्दी-सी वस्तु है! मुझे बम्बईके ही एक सेठने बताया था कि अबसे लगभग पच्चीस बरस पहले जब कि वे जवान थे, उनको कोई घूँघटवाली स्त्री मिल गयी। उनके मनमें कल्पना हुई कि यह बहुत सुन्दर है। उन्होंने उसका पीछा किया! कई जगह घूमते-घुमाते जब वह अपने घरके पास पहुँची और देखा कि यह आदमी हमारा पीछा कर रहा है, तब अपने दरवाजेपर खड़ी होकर उसने अपना घूँघट हटा दिया! बोली, भाई; अच्छी तरह देख लो! वह एक वृद्धा स्त्री थी! उसके मुँहमें दाँत भी नहीं थे! इसीको राग कहते हैं। यह पार्कमें, सड़कपर, सभामें कहीं भी हो जाता है! आँखका रोग है, दिलमें छेद कर देता है, जिससे मनुष्यका मरना हो जाता है। यह बड़ा भारी दुःखदायी है!

किन्तु अनुराग? वह इस भावनाका नाम है कि भगवान् हमसे बड़ा स्नेह करते हैं, हमपर बड़ी भारी कृपा रखते हैं। हम उनको नहीं देखते, पर वे हमको देखते रहते हैं। हम उनको भूल जाते हैं, पर वे हमको नहीं भूलते! हमने उनसे रिश्ता-नाता तोड़ लिया है, पर उन्होंने हमसे अपना रिश्ता-नाता नहीं तोड़ा है। हम

उनके प्रति कृतघ्न हैं, पर हमारे ऊपर उनके उपकारोंकी सीमा नहीं है। भगवान् हमारी कृतघ्नताके बावजूद हमसे प्रेम करते हैं, हमको अपनी गोदमें रखते हैं, हमको देखते रहते हैं, हमारा पालन-पोषण करते रहते हैं! इस प्रकारकी भावना ही प्रेमकी जड़ है। अगर तुम यह मानते हो कि मैं बहुत प्रेम करता हूँ, लेकिन भगवान् नहीं करते, तो तुम्हारा प्रेम खोखला है। अपने प्रेमकी अपेक्षा प्रेमास्पदके प्रेमको अधिक माननेसे ही प्रेम बढ़ता है!

नन्द-यशोदाको श्रीकृष्णके प्रति परम अनुराग है! एक तो भगवान् श्रीकृष्ण अलौकिक प्रियतम हैं, दूसरे नन्द-यशोदा सिद्ध प्रेमी हैं और उनका अनुराग परमानुराग है! इनको देखकर उद्धवजी आनन्दित हुए और बोले; उद्धवजीके बोलनेमें भी एक बढ़िया बात है! किसी दुःखी आदमीके पास जानेपर हँस-हँसकर बात नहीं करनी चाहिए। वहाँ तो समवेदना और सहानुभूति ही प्रकट करनी चाहिए! दुःखीके दुःखके बराबर दुःख हो, तो उसे समवेदना कहते हैं और दुःखीसे एक होकर उसके दुःखका अनुभव किया जाय, तो उसका नाम सहानुभूति है! यदि कोई दुःखीसे मिलकर अपना सुख सुनाने लगे और किसीके घरमें मौत हो गयी हो, तो वहाँ जाकर अपने घरके ब्याहकी बात करने लगे, तो समझना चाहिए कि उसको शिष्ट पुरुषोंका कर्तव्य, इतिकृत्य अर्थात् एटीकेट, मालूम नहीं है! किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, इस विषयके ज्ञानका नाम इतिकृत्य—एटीकेट है!

क्या जब उद्धवजी नन्द-यशोदाके घर आये, तो उनको दुःखी देखकर उद्धवजीको भी दुःखी हो जाना चाहिए? पर वे दुःखी नहीं हुए! उनको तो भीतरसे बड़ा आनन्द आया, बोले कि अहा हा, आज मुझे ऐसे भक्तोंके दर्शन हुए! मैं समझ गया, मेरे प्यारे सखा श्रीकृष्णने, मुझे इसीके लिए यहाँ भेजा है—कि मैं नन्द-यशोदाके दिव्य अनुरागका दर्शन करूँ! मैं तो मथुरामें यूँ ही समझता था कि मैं भी श्रीकृष्णका भक्त हूँ, प्रेमी हूँ! अब नन्द-यशोदाको देखकर मालूम पड़ा कि श्रीकृष्णसे कैसे प्रेम किया जाता है! उद्धवजी आनन्दसे भर गये और बोले कि धन्य हूँ मैं, कि आप-सरीखे भक्तोंके दर्शन हुए! 'मुदा'का अर्थ है कि उद्धवजी मूडमें आगये! उन्होंने अनुभव किया कि श्रीकृष्णने मुझे बिलकुल ठीक स्थानपर भेजा है! मैं उद्धव हूँ, उत्सव हूँ, इसलिए इनके दुःखमें आनन्दका संचार करना हमारा काम है! अब देखो, जिनके पास आनन्द न हो, सुख न हो, जो स्वयं संसारी हैं, वे दूसरेको क्या देंगे? एक सत्संगी थे। उनको उपदेश करनेका बड़ा शौक था! कई

सत्सङ्गी ऐसे होते हैं, जिनको उपदेश करनेका शौक होता है, वे निगलते कम हैं, उगलते ज्यादा हैं। कानसे निगला जाता है और मुँहसे उगला जाता है। तो, हमारे जो सत्संगी थे, वे मनको कैसे वशमें करना चाहिए—इसपर उपदेश करने लगे! एक श्रोता सुनते-सुनते बोल उठा कि तुम मनको वशमें करनेका उपदेश तो बहुत करते हो, किन्तु तुम्हारा स्वयंका मन वशमें हुआ है कि नहीं? इसपर हमारे सत्संगी वक्ता आगबबूला हो गये! जो चीज खुद तुममें नहीं है, उसका उपदेश तुम औरोंको क्या करोगे? आदमी क्या देता है? जिसके पास दुःख होता है, वह दुःख देता है और जिसके पास सुख होता है, वह सुख देता है! यहाँ उद्धवजी महाराज तो सुखकी पिटारी लेकर आये हैं! इसलिए उन्होंने आनन्दमें भरकर उसे खोल दिया! **नन्दमाहोद्धवो मुदा**—कृष्णने जो आनन्द भेजा है, वह उद्धवजी दे रहे हैं, उनको स्वयं जो आनन्द आ रहा है, उसे प्रकट कर रहे हैं!

युंवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद।
नारायणेऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी॥ ३०॥

शुकदेवजी महाराज उद्धवजीका वचन प्रकट कर रहे हैं। उद्धवजी, नन्दबाबाको 'मानद' कहकर सम्बोधित करते हैं! 'मानद' माने मान देनेवाले! मान देना, दूसरोंको बड़ा बनाना भक्तका लक्षण है। किन्तु मान लेना, खुद बड़ा बन जाना भक्तका लक्षण नहीं है! **अमानी मानदो मान्या**—यह भगवान्‌का नाम है! भगवान् अपने लिए मान नहीं चाहते, दूसरेको मान देते हैं। इसीलिए वे मान्य हैं! जो मा है, उसका अर्थ है मान्यो! मा ना और अन्य माने उससे परे! जो मायासे परे हैं, असलमें वे ही मान्य हैं। संसारके रुपये-पैसे, घर-द्वार, पुत्र-कलत्र, चेला-चाटी—ये सब मान देनेवाले नहीं हैं। यदि एक लाख बेवकूफ भी किसीके पीछे चलें, तो वह बेवकूफोंका ही सरदार होता है, भगवान्‌का भक्त नहीं हो जाता। भगवान्‌का भक्त वह होता है, जो दूसरोंको मान देता है!

उद्धवजी नन्दबाबा और यशोदाका कृष्ण प्रेम देखकर आनन्दित हैं और उनको मानद सम्बोधित करके बोलना प्रारम्भ करते हैं!

अब यह प्रसंग कल फिर सुनायेंगे!

*

अठारहवाँ प्रवचन

जैसा कि कल बतलाया, शुकदेवजी महाराज राजा परीक्षितको उद्धवजीके वचन सुना रहे हैं। वे नन्द और यशोदासे बोलना प्रारम्भ करते समय उनका पहला सम्बोधन 'मानद' करते हैं। मान-दान करना साधारण लोगोंके वशकी बात नहीं है। मान-दान माने अपने बड़प्पनको दूसरेके प्रति अर्पण कर देना। जैसे अपने घरके धनका दान धनदान है, अपनी विद्याका दान विद्यादान है, अपने बलका दान बलदान है, वैसे ही तुम्हारे अन्दर जो मान है, अहं है, बड़प्पन है, उसको किसीके पैरोंपर निछावर कर देना मान-दान है। मानका दान करना सबसे गहरा दान है, अन्तरङ्ग दान है। भक्तोंमें यह बात विशेष रूपसे रहती है। श्रीचैतन्य महाप्रभुने कहा है—

तृणादपि सुनिचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

भगवान्‌की भक्ति करने वालेको चाहिए कि वह अपनेको तृणसे भी छोटा बना ले। तृण किसीके पाँवके नीचे पड़ता है, तो उड़नेकी चेष्टा नहीं करता और गड़ता भी नहीं है। यहाँतक कि अपना अस्तित्व भी नहीं बतलाता है कि मैं तुम्हारे पाँवके नीचे पड़ गया हूँ। इसी तरह भक्त वह होता है, जो अपने मानको काटता है। मानको काटते तो ज्ञानी भी हैं, परन्तु जब भक्त अपना मान काटता है तब वह सामने वालेको भगवद्रूप समझकर दे देता है!

उद्धवजी जब नन्दबाबाको मानद सम्बोधित करते हैं, तब उनका आशय यह है कि आप मुझसे हर हालतमें बड़े हैं। उम्रसे भी बड़े हैं, पदसे भी बड़े हैं—पदसे तो चाचा हैं और अनुभवमें भी बड़े हैं, फिर भी आपने मेरा सम्मान किया। उठकर खड़े हो गये। हृदयसे लगाया। इतने दुःखकी हालतमें भी मेरा स्वागत-सत्कार किया, यहाँ तक कि मेरी पूजा की। सचमुच दूसरेका इतना गान आप-सरीखे सत्पुरुषको छोड़कर दूसरा कोई नहीं कर सकता।

सचमुच लोग यह समझते हैं कि अगर हमारा सिंहासन औरोंसे चार अंगुल ऊँचा न रहा, तो हमारा बड़प्पन चला जायेगा। पहले मैं समझता था कि यदि सब सम्प्रदायाचार्य इकट्ठे हो जायँ, संघटित हो जायँ, तो धर्मका खूब प्रचार हो सकता है। एक बार काशीमें ब्राह्मण-महासम्मेलन आयोजित हुआ। उसमें देशके सब आचार्य, सभी पीठाधीश्वर पधारे। मैं संस्कृतका एक विद्यार्थी होनेके नाते स्वयं

सेवक था। वहाँ मैंने जो कुछ देखा, चकित रह गया। जमीन नापनेका फीता लेकर सभी आचार्यों और पीठाधीश्वरोंके सिंहासनोंकी ऊँचाई नापी गयी, जिससे कि किसीका सिंहासन एकाध अंगुल भी ऊँचा नीचा न हो। अन्यथा जिनका सिंहासन नीचा होगा, वे आयेंगे ही नहीं। जब सिंहासनों की ऊँचाई-निचाईकी समस्या हल हो गयी, तब यह समस्या पैदा हुई कि किसका सिंहासन दाहिने रहे और किसका बायें रहे। इस समस्याको हल करनेके लिए सभी सिंहासनोंको गोलाकार स्थापित किया गया। किन्तु उससे भी आचार्यों और पीठाधीश्वरोंको सन्तोष नहीं और उन्होंने दाँये-बायेंके कल्पित मानापमानसे बचनेके लिए यह व्यवस्था बनायी, कि जब जिसका व्याख्यान होना होता था तभी वह वहाँ आकर बैठता था और दूसरेका व्याख्यान होता था, तो उठकर चला जाता था। वे एक-दूसरेसे बात नहीं करते थे। उसी समय मेरे दिमागमें यह बात धँस गयी कि इन मानापमान-परायण आचार्यों और पीठाधीश्वरों द्वारा धर्मकी रक्षा नहीं हो सकेगी, क्योंकि ये तो सिंहासनासीन नहीं, सिंहासानाधीन हो गये।

भक्तकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके अन्दर मान नहीं है। वह अपने मानको भगवान्‌के प्रति अर्पित करके यहाँतक बोलता है कि अगर मेरे चामसे प्रियतमके पाँवकी जूती बन जाय, तो मैं उसके लिए तैयार हूँ—

ताके पग की पगतरी मेरे तन को चाम।

कितनी विनय, कितनी विनम्रता है भक्तमें!

तृणादपि सुनीचेन।

अब भक्तको 'सहिष्णु कैसा' होना चाहिए? तो—**तरोरिव सहिष्णुना**—वृक्षके समान सहिष्णु होना चाहिए। इस उक्तिको चैतन्य महाप्रभुने अपनी ओरसे नहीं जोड़ा है। श्रुतिमें भी आया है—**वृक्ष इव स्थापय छिद्यमानो न कुप्येत न कंपेत।**

अर्थात् मनुष्य वृक्षकी तरह रहे! यदि कोई उसे काटे तो वृक्षकी तरह क्रोध न करे, और काँपे भी नहीं।

अमानिना मानदेव कीर्तनीयः सदा हरिः।

जो व्यक्ति स्वयं अमानी रहे और दूसरोंको मान दे, उसीको भक्ति करनी चाहिए, क्योंकि जहाँ मान है, वहाँ नाम नहीं है। मान और नाम—ये दोनों शब्द परस्पर-विपरीत हैं, जैसे म+आ+न=मान और न+आ+म्=नाम। जहाँ भगवान्नाम है, वहाँ मान नहीं है और जहाँ मान है, वहाँ भगवन्नाम नहीं है। इसलिए भक्त अमानी अथवा अमान होता है—स्वयं तो अमान, किन्तु दूसरेको 'मानदेय', मान देनेवाला—

मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त
सो अनन्य जाके अस मति न टरई हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर रूप राशि भगवन्त॥

भक्तके लिए सब भगवान् हैं और स्वयं वह भगवान्‌का सेवक है। उद्धवजीको मान मिला और उन्होंने मानद कहकर लौटा दिया! आजकल किसीको मान मिलता है, तो वह समझता है कि हाँ-हाँ, हम तो इसके योग्य ही हैं, तभी तो ये लोग हमारा मान कर रहे हैं! इन्होंने कौन-सा बड़ा काम किया हमारा मान करके? क्या ये हमारे लिए इतना भी नहीं करते? ऐसा विचार आनेपर मनमें मान ग्रहण हो गया, मान आगया! लेकिन इसका दूसरा पहलू देखो; वे कितने उदार हैं, कितने समझदार हैं, कितने भगवद्भक्त हैं, जो दूसरोंको मान देते हैं। यह बात समझनेकी है, जीवनमें धारण करनेकी है। नम्रताके बिना, विनयके बिना मनुष्य लकड़ी है, काठ है, पाषाण है। भगवान् उस हृदयमें कैसे आवेंगे, जिसमें कोमलता नहीं होगी? तुम झुकोगे नहीं, तो भगवान् कैसे मिलेंगे? जो झुकता है, वही ऊँचे जाता है। 'महिम्नस्तोत्रं'में एक श्लोक है, जिसका यह चरण कहावत बन गया है, लोकोक्ति बन गयी है—

न कस्य उन्नत्यै भवति शिरस्सु।

जो तुम्हारे सामने सिर झुकाता है, उसको कौन-सी ऊँचाई नहीं मिलती, कौन-सी उन्नति नहीं मिलती? भगवान्‌के सामने झुको और सबसे बड़ी ऊँचाई प्राप्त करो।

अब '**इह देहिनाम्**'में जो देही शब्द है, उसका मतलब मनुष्य मात्र है। मनुष्यका शरीर दुर्लभ है! दूसरे शरीर जैसे पशु-पक्षी आदि, अपनी-अपनी जोड़ियोंमें एक दूसरेसे प्रेम करनेके लिए हैं, किन्तु मनुष्य-शरीर भगवान्‌से प्रेम करनेके लिए मिला है।

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः।

मनुष्यका शरीर हड्डी-मांस-चामसे प्रेम करके कुत्ते, सियार और गीधका भोजन बननेके लिए नहीं है। इसके दो हाथ केवल चाँटा मारनेके लिए नहीं हैं। इसके पंजे केवल पेड़पर चढ़नेके लिए नहीं हैं। इसके पाँव केवल धरतीपर चलनेके लिए नहीं हैं! तब यह क्या है? यह है कि मनुष्यके हाथ धर्म करनेके लिए हैं, मनुष्यके पाँव सत्सङ्गमें जानेके लिए हैं, मनुष्यकी वाणी भगवन्नाम बोलनेके लिए है, मनुष्यका मस्तिष्क ब्रह्म-तत्त्वका विचार करनेके लिए है, मनुष्यका हृदय

भगवान्‌के साथ प्रेम करनेके लिए है। इतना महत्त्वपूर्ण मनुष्य शरीर कहीं व्यर्थ न चला जाय। इसलिए सावधान! जब वैष्णव साधुओंकी संगत जुड़ती है, तो वे आपसमें बोलते हैं—साधु सावधान! मतलब यह कि तुम्हारा समय भगवत्स्मरणमें, भगवन्नाम-जपमें भगवद्भजनमें व्यतीत हो रहा है न? कहीं प्रमादमें समय व्यतीत नहीं कर रहे हो? इसीका नाम है सावधानता! तुम्हारी प्रीति कहाँ जुड़ रही है, यह तुम अपने दिलकी परीक्षा करके देखो! कहीं यह भटक न जाय, इसके लिए सावधान रहो।

यदि दुर्लभ मनुष्य-शरीर सुलभ भी हो जाय, तो कबतक सुलभ रहेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं है, क्योंकि यह क्षणभंगुर है! पहले सिरमें बाल नहीं थे; वे देखते-देखते उग आये, फिर कालेसे सफेद हो गये और सफेदसे झड़ गये। पेटमें रहने और फिर पेटसे बाहर निकलकर जवान-वृद्ध होने और मृत्युका ग्रास बननेमें कितनी देर लगती है? तुम सबेरे रसोई बनाते हो और वह शामतक चौपट हो जाती है, सड़ जाती है। उसी रसोईसे पालित-पोषित यह शरीर कैसे हमेशा बना रहेगा? अजी, नारायण कहो, यह रहनेवाला नहीं है! इसे तो अवश्यमेव जाना है—*रहना नहिं देस बेगाना है!* जैसे हमारे हिन्दुस्तानकी रीतिके अनुसार लड़कीका असली घर ससुराल होता है, मायका नहीं; वैसे ही इस जीवका असली घर परमात्मा है, अखण्ड सत्य है! यह आने-जानेवाली झूठी दुनिया जीवका घर नहीं है!

ईश्वर-कृपासे मनुष्य-जीवनमें सत्सङ्ग मिले और हृदयमें भगवान्‌की भक्ति आवे! हम भगवान्‌को प्रधान और अपनेको गौण बनाकर रहें! भक्ति शब्दका अर्थ यही है कि अहंकारको गौण बनाओ और ईश्वरको प्रधान बनाओ।

यह देखते रहो कि तुम्हारे जीवनमें ईश्वर मुख्य है कि तुम्हारा अहंकार मुख्य? **कस्मै देवाय**—किस देवताके लिए तुम्हारा जीवन है? ईश्वरके लिए जीते हो या किसी औरके लिए जीते हो? अगर ईश्वरके लिए जीते हो, तो तुम्हारा जीवन भक्तका जीवन है। भक्तोंमें भी सम्बन्धके बिना भजन करनेवाले और सम्बन्धियोंमें भी वैधी भक्ति करनेवाले श्लाघनीय हैं। भक्त बहुत-से हैं—ब्रह्मासे लेकर नारद और नारदसे लेकर उद्धवपर्यन्त सब भक्त ही-भक्त हैं।

उद्धवजी कहते हैं कि **इह देहिनाम्** अर्थात् यहाँ जो भगवान्‌के भक्त हैं, उन भक्तोंमें **युवां नूनं श्लाघ्यतमौ**—तुम दोनों निश्चित रूपसे श्लाघा करने योग्य हो, अत्यन्त श्लाघनीय हो! संस्कृतमें जो श्लाघा शब्द है—वह हिन्दीमें सराहना बन गया है! श्लाघनीयका जब रूप बिगड़ा, तो हिन्दीमें सराहनीय तद्भव बना। इसमें

तर-तय और जुड़ा हुआ है! यह संस्कृतकी शैली होती है! संसारमें जो धर्मका पालन करे, वही श्लाघाके योग्य है! अपने धर्मपर दृढ़तासे जुटनेवाला ही ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी कहलाता है। काल तो धर्मको शिथिल कर देता है, किन्तु भगवान् धर्मको रस देते हैं, बारम्बार अवतार ग्रहण करके धर्मको उज्जीवित करते हैं, समृद्ध करते हैं, संवृद्ध करते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

यदा-यदा माने जिस-जिस कालमें धर्मकी ग्लानि होती है, तब-तब मैं स्वयं अवतार ग्रहण करके—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

साधुओंका परित्राण, दुष्कृतोंका विनाश और धर्मका संस्थापन करता हूँ। भगवद्रस धर्मकी सिंचाई करनेवाला है और काल धर्मको तपानेवाला, सुखानेवाला है। इसीसे सत्यके बाद त्रेता, त्रेताके बाद द्वापर; द्वापरके बाद कलि आता है तथा यही काल-धर्म है। इस कालमें ही धर्मका संवर्द्धन करनेवाले भगवान्का अवतार होता है!

अपने धर्मपर दृढ़ रहना श्लाघ्य है और भगवद्भक्तिके लिए, भगवत्सेवाके लिए धर्म करना श्लाघ्यतर है अर्थात् अतिशय श्लाघ्य है! जो केवल धर्म करे, वह श्लाघ्य और जो धर्मके साथ भगवान्की भक्ति भी करे—वह श्लाघ्यतर। अब और आगे बढ़ो। धर्म और भक्तिकी बात छोड़ो, भगवान्से अनुराग करनेकी बात लो। सेवा करना दूसरी चीज है और प्रेम करना दूसरी चीज है! लोग दिनभर आफिसमें सेवा करते हैं, किन्तु सेवा करनेवालोंका उस आफिसमें बाससे, मूर्धन्यसे, शीर्षस्थसे, अनुराग नहीं है, मजदूरोंका कारखानेके मालिकसे अनुराग नहीं है, उनका अनुराग तो अपनी पत्नीसे है, अपने पुत्रसे है। केवल सेवक होनेसे ही कोई अनुरागी नहीं होता। वह अनुराग दूसरेसे करता है और सेवा दूसरेकी करता है। ऐसी हालतमें सेवाका फल किसको मिलेगा? उसको मिलेगा, जिससे सेवक को अनुराग होगा! इसी तरह लोग भगवान्की सेवा करते हैं, पर उनसे अनुराग नहीं करते! भगवान्की सेवा करके उनसे मजदूरी लेते हैं और मजदूरी लेकर जिससे अनुराग होता है, प्रेम होता है—उसको देते हैं! यहाँतक कहते हैं कि भगवान् हमारे बेटेका पहरा देना, उसको बुखार न आवे, हमारी श्रीमतीजीकी जवानी बनी रहे, हे

भगवान्, कृपा करना। यह क्या हुआ? यहाँ अनुराग दूसरी जगह है और सेवा दूसरी जगह है!

भगवद्भक्ति करना धन्यतरका लक्षण है! लेकिन केवल भगवान्की सेवाके लिए भगवान्से अनुराग करना, निष्काम भावसे भगवान्की भक्ति करना क्या है? माँ अपने बच्चेसे प्रेम करती है! माँके मनमें भी यह हो सकता है कि बच्चा बड़ा होगा, तो उसकी सेवाका बदला चुका देगा! लेकिन भगवान्की सेवा करना, तो ऐसा है जिसमें कालका कोई स्थान नहीं है! यदि भगवान्को बच्चा बना लोगे, तो वे कभी बड़े नहीं होंगे। हमेशा तुम्हारी गोदमें रहेंगे! तुम उन्हें नित्य दूध पिलाओ, वे तुम्हारे नित्य-शिशु हैं। इसीको बोलते हैं अनुराग। यह कठोर हृदयमें नहीं आता। चित्त दो तरहका होता है—एक द्रुत चित्त दूसरा अद्रुत चित्त! जो कभी पिघलता नहीं। भगवान्की लीला, कथा, नाम सुनकर जिसकी आँखोंमें आँसू नहीं आते, जिसके शरीरमें रोमांच नहीं आता, जिसका कण्ठ गद्गद नहीं होता, जिसका दिल नरम-गरम होकर द्रवित नहीं होता, उस अद्रुत चित्तवाले पुरुषके पत्थर हृदयमें भगवद्भक्ति, भगवत्प्रेम नहीं आता! किन्तु द्रुतचित्त पुरुषका दिल पिघलता है और उसके हृदयमें भगवत्प्रेम प्रकट होता है।

उद्धवजी यशोदा-नन्दसे कहते हैं—**श्लाघ्यतमौ**—आप दोनों श्लाघ्यतम हो। क्योंकि आप लोग केवल धर्मात्मा ही नहीं, केवल भक्त ही नहीं, बल्कि भगवान्के परम अनुरागी हैं। '**नूनं**' माने मैं अपनी ओरसे निश्चय पूर्वक कहता हूँ कि आप दोनों सरीखा श्रीकृष्णका अनुरागी धन्य है, धन्य है, धन्य है!

तो 'श्लाघ्यतमौ'का 'अत्यन्त श्रेष्ठ' अर्थ भावकी प्रधानतासे हुआ। यह भाव नन्दबाबाका है। पहले मैंने जो चर्चा की थी, वह विषयकी प्रधानतासे की थी। श्रीकृष्णका विषय भी प्रधान है। कोई स्थूल सृष्टिका भजन छोड़कर ब्रह्मा आदि देवताका भजन करने लगे, तो वह धन्य है, क्योंकि अर्थ, भोग, कर्म आदिसे भरे हुए संसारसे ऊपर उठनेकी इच्छा उसके मनमें जाग्रत् हुई है। पर नारायण आदिकी भक्ति करे, तो धन्यतर है और पुरुषोत्तमकी भक्ति करे, तो धन्यतम अर्थात् श्लाघ्यतम है। साधन की विचित्रतासे भी श्लाघ्यतम और साध्यकी विचित्रतासे भी श्लाघ्यतम। दास्य-भक्ति श्लाघ्य है, सख्य-भक्ति श्लाघ्यतर है और वात्सल्य-भक्ति श्लाघ्यतम है।

अब आओ, जरा यशोदा-नन्दकी ओरसे बोलें—उद्धवजी! तुम हमें 'श्लाघ्यतमौ' क्यों कहते हो? हमारा कन्हैया क्या है? हमारे हृदयका एक टुकड़ा

हैं। हमारी आँखोंका तारा है। वह हमसे दूर हो गया है और उसके वियोगमें हमारे क्षण-क्षण सौ-सौ युगके समान बीत रहे हैं। वह हमसे दूर हैं, उससे हम दूर हैं। फिर भी हमको तो कोई दुःख नहीं है। इसलिए नहीं है कि हमारा मन उसीके पास रहता है, हमें वही-वही दिखता रहता है। व्रजमें हजारों चीजें ऐसी हैं, जिनको देखकर कोई कृष्णकी याद किये बिना रह ही नहीं सकता। हमारे तो वृक्ष भी मित्र हैं। जब उनपर दृष्टि पड़ती है, तो जानते हो वृक्ष क्या बोलता है? वह कहता है, देखो नन्दबाबा, तुम्हारे लाला कृष्ण हमारे कन्धेपर बैठकर और एक पाँव नीचे लटकाकर बाँसुरी बजाते थे; क्या तुम उसे भूल गये? नदी कहती है—बाबा! तुम्हारा लाला हमारे भीतर बैठकर कितना ऊधम मचाता था। जब तुम उसके साथ स्नान करने लगते थे तब वह तुम्हारे ऊपर जल उलीचने लगता था और तुम आँख बन्द करके, हाथ उठाकर इशारा करते थे कि बस, बस, बस! वृक्ष कहते हैं कि कृष्णको याद करो, नदी कहती है कि कृष्णको याद करो, पहाड़ कहता है कि कृष्णको याद करो। उद्धवजी, हमको याद ही नहीं रहता कि कृष्ण हमसे दूर हैं। हमारे दिन अच्छी तरह कट जाते हैं, परन्तु हमारे वियोगमें हमारे लालाकी क्या हालत होगी? क्या वह मथुरामें किसीके सामने रोता होगा? वहाँ बड़े-बड़े भद्र पुरुष रहते हैं। आप जानते ही हैं कि भद्र पुरुष दिलमें भले ही रोवें, लेकिन लोगोंके सामने उनको मुस्कुराकर देखना पड़ता है! सुनते हैं नगरोंमें पति-पत्नी घरमें लड़कर बाहर निकलते हैं और रास्तेमें कोई परिचित मिलता है, तो मुस्कुराकर अभिवादन करते हैं और यह दिखलाते हैं कि हम बड़े प्रेमसे रहते हैं, हमारे घरमें स्वर्ग रहता है। वे दिलमें नरक रखते हैं, लेकिन बाहरसे स्वर्ग जाहिर करते हैं। अब जब हमारा लाला मथुराका नागरिक हो गया है, मथुराके लोगोमें रहने लगा है, तो वह भी भीतर-भीतर हमारे लिए रोता होगा और तुम लोगोंसे मुस्कुराकर मिलता होगा, बातें करता होगा! उसके हृदयमें कितनी पीड़ा होगी! उसको सबेरे-सबेरे कौन माखन-मिश्री देता है? वहाँ कभी बाँसुरी बजाता है? कभी नाचता है? कभी मोर-मुकुट लगाता है?

उद्धवजी बोले—बस-बस-बस नन्द बाबा-यशोदा मय्या मैं इसीलिए कहता हूँ कि आप लोगोंकी चित्तवृत्ति श्रीकृष्णमय हो गयी है। लेकिन कृष्ण केवल तुम्हारा बेटा ही नहीं है। वह तो—

'नारायणोऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी'

देखो, रामायण में जो 'अयण' है, उसका पूर्वरूप 'अयन' है। रामायणवाला

'अयन' ही नारायणमें भी है। परन्तु 'रामायण'में तत्पुरुष समास है—**रामस्य अयनं रामायणं** और 'नारायण'में बहुव्रीहि समास है—**नारं अयनं यस्य**।

उद्धवजीके कथनका अभिप्राय श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज बताते हैं कि 'यशोदा-नन्द'का जो श्रीकृष्णमें प्रेम है, वह लौकिक पुत्रकी बुद्धिसे है। वे मानते हैं कि श्रीकृष्ण हमारे लौकिक पुत्र हैं। इसलिये श्रीकृष्णके भेजे हुए उद्धवजीके मनमें यह ख्याल है कि नन्द-यशोदाके लौकिक प्रेमको हम ज्ञानोपदेशके द्वारा अलौकिक प्रेम बना देंगे, जहाँ उनके प्रेमका विषय उनका बेटा है, वहाँ ईश्वर उनके प्रेमका विषय बन जायेगा!

परन्तु नन्द-यशोदाका बेटा तो ईश्वरसे भी थोड़ा आगे है। ईश्वर सोलह है, तो नन्द-यशोदाका बेटा सवा सोलह है। यह कैसे? क्या ईश्वरसे बढ़कर कोई होता है? बोले—हाँ, ईश्वर भी कई तरहका होता है। यह जगत् भी ईश्वर-रूप ही है, परन्तु इसमें चित्त, आनन्द गौण है और सत् प्रधान है। विवेक करके देखो, तो इस जगत्में जहाँ-तहाँ अस्ति तो मिलता है, परन्तु आनन्द और ज्ञान गौण हो गये हैं, छिप गये हैं। नारद, वसिष्ठ, ब्रह्मा भी ईश्वररूप हैं। उनमें चिद्भाव भी प्रकट है, परन्तु आनन्द भाव गौण है। नारायणमें सद्भाव और चिद्भाव दोनों प्रकट हैं, लेकिन आनन्द भाव गौण है। किन्तु पुरुषोत्तम कृष्णमें एक साथ पूर्ण-सत्, पूर्ण-चित्, पूर्ण-आनन्द है! बताओ किसी ईश्वरका नाम, जिसने कभी रास-लीला की हो? अरे भाई, ईश्वरका ज्ञान 'मैं-मैं' करने वालोंके लिए नहीं है। जिसको आनन्द होगा, वही नाचेगा। दुःखी लोग क्या नाचेंगे? बाँसुरी चैनकी ही बजती है। वहाँ आँखमें आनन्द है, भौंहोंमें आनन्द है, होठोंमें आनन्द है, नाखूनमें आनन्द है, पाँवोंमें आनन्द है, पेटमें आनन्द है। जरा कृष्णका वर्णन देखिये—

आनन्दमात्र कर-पाद-मुखोदरादि,
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि।

जिनके हाथ-पाँव और मुख-उदर आदि सभी अंगमें आनन्द ही आनन्द हैं। उनकी रासलीला आनन्दकी अभिव्यक्ति है। रास माने लास और लासका अर्थ लास्य, नृत्य। नृत्य इस बातका वाचक है कि आनन्द नाचता है। आनन्द तो नारायणमें भी है, पर लेटा हुआ है, और श्रीकृष्णमें जो आनन्द है, वह थिरकता हुआ है। श्रीकृष्णके पाँव तो धरतीपर सीधे पड़ते ही नहीं, नृत्यकी गतिमें ही पड़ते हैं।

भाई, जगत्में भी तो आनन्द है। हाँ, जगत्में आनन्द है, किन्तु वह बिना चबाये नहीं मिलता! देख लो, आम रसाल है; उसमें आनन्द बहुत है, परन्तु पहले

तो पकनेका इन्तजार करो, बादमें चाकूसे काटो, फिर उसे मुँहमें लेकर दाँतसे चूसो! उसपर भी जिह्वा ठीक हो, तब कहीं उसमें-से रस आवे! तो—जगत् भी ईश्वर रूप है। लेकिन जगत्में आनन्द तब प्रकट होगा, जब इसको दाँतसे कुचलोगे। यहाँ हिंसाके बिना भोग नहीं होता—

नानुपहत्य भूतानि भोगः सम्भवति।

चावलका रसास्वादन करनेके लिए उसको पहले आगमें पकाना पड़ता है! स्त्री-पुरुषके आनन्दके लिए यौवनकी हत्या करनी पड़ती है। भोग यौवनका नाश करनेवाला है। जवानीको मिटाकर ही भोगका रस आता है! संसारका आनन्द चाकूसे काटनेकी, आगमें तपनेकी और शक्तिके क्षरणकी अपेक्षा रखता है। यहाँ स्वर्गका आनन्द लेनेके लिए पञ्चाग्निका सेवन करना पड़ता है, ब्रह्मलोकका आनन्द लेनेके लिए आँख बन्द करनी पड़ती है, नारायणका आनन्द लेनेके लिए वासनासे सायुज्य प्राप्त करना पड़ता है। किन्तु पुरुषोत्तम कृष्णका जो आनन्द है, वह तो घासपर थिरकता है, धूलमें थिरकता है, यमुना तटपर थिरकता है, कदम्बपर थिरकता है। यह व्यक्त आनन्द है, अभिव्यक्त आनन्द है! यह जगत् नहीं है, साक्षात् ब्रह्मका प्राकट्य है।

उद्धवजी कहते हैं कि नन्दबाबा, जिनको तुम अपना बेटा बेटा करते हो, वह कौन है, जानते हो? यह तुम्हारा बेटा नहीं है, ये नारायण हैं, पुरुषोत्तम हैं, सारी सृष्टिके गुरु हैं—**नारायणेऽखिलगुरौ।**

अब देखो, गुरुमें दो बातें हैं। एक तो उसे बाप होना चाहिए! बापमें गुरुत्व कैसा? बापमें गुरुत्व है—देहजनकत्वेन—वह देहका जनक है। केवल, सत्-अंशसे गुरुता है बापमें। जो ज्ञान देता है, उस गुरुमें चिदंशसे गुरुता है! किन्तु जो गुरु हृदयमें भगवत्प्रेमकी स्थापना करनेवाला है, वह कैसा है? शरीरको पैदा करनेवाला गुरु दूसरा है और शिक्षा-गुरु दूसरा है। यहाँ हम आपको बता दें कि एक गुरु गाँवोंमें भी होते हैं और उनको कनफुँकवा गुरु बोलते हैं। मतलब यह है कि जो कानमें मन्त्र बोल देते हैं, वह कनफुँकवा गुरु होते हैं। वे पूछ लेते हैं कि क्यों भाई, शिवजीका मन्त्र लोगे कि विष्णुका! इसका मतलब यह है कि खाने-पीनेमें छुट्टी रखनी हो, तो शिवजीका मन्त्र ले लो, और खाने-पीनेमें परहेज रखना हो तो विष्णुका मन्त्र ले लो! गाँवोंमें प्रचलित प्रथाके अनुसार वह संस्कारमात्र होता है, जिससे कि निगुरेपनका भ्रम छूट जाय, अन्यथा लोग उसके हाथका छुआ पानी नहीं पीयेंगे, खाना नहीं खायेंगे और उसका परलोक भी नहीं सुधरेगा।

यहाँ न जन्म देनेवाले गुरुसे मतलब है और न कनफुँकवा गुरुसे मतलब है। यहाँ गुरुमें तीन बाते हैं। उसे एक तो सारी सृष्टिका बाप होना चाहिए, दूसरे सारी सृष्टिको ज्ञान देनेवाला होना चाहिए और तीसरे सारी सृष्टिका नियन्ता होना चाहिए। अगर गुरु अपने चेलेको काबूमें न रख सके, तो यह कहकर—कि हम तुम्हारे गुरु होने योग्य नहीं हैं—चेला छोड़ देना चाहिए! गुरुको यदि अपनी हीनता, असमर्थताका अनुभव हो, तो शिष्यसे साफ-साफ कह देना चाहिए कि तुम्हारा गुरु कोई दूसरा होगा! गुरु तो वही है, जो जनक होता है, शिक्षक होता है और नियन्ता होता है। जो मनुष्यको संसारी भोगोंमें-से निकालकर योगमें, परमानन्दमें स्थापित करनेकी शक्ति रखता है, वही सच्चा गुरु है! श्रीकृष्ण अखिल-गुरु हैं! वे सबको एक साथ परमानन्दमें स्थापित कर सकते हैं।

श्रीमद्भागवतके रासपंचाध्यायी—प्रसंगमें जब राजा परीक्षितने पूछा कि—

'कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने'

तब शुकदेवजी महाराजने बहुत बढ़िया वर्णन किया है। वे कहते हैं कि परीक्षित, तुम पूछते हो कि कृष्णने क्या किया? गोपियोंनें क्या किया?

योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत् एतद् विमुच्यते।

अरे, श्रीकृष्णका नाम लेकर, श्रीकृष्णका स्मरण करके, श्रीकृष्णकी लीलाको हृदयमें धारण करके गोपियाँ ही नहीं, सारी दुनिया—यहाँ तक कि पशु-पक्षी, कीट-पतंगतक भी मुक्त हो सकते हैं! यह प्रसंग भीष्म-स्तुतिमें भी आया है!

यमिह निरीक्ष्य हता गताः सरूपम्।

महाभारत-युद्धमें जो लोग श्रीकृष्णको देखते-देखते मरे, उनको अपने स्वरूपका साक्षात्कार हो गया! श्रीमद्भागवतमें यह वर्णन भी मिलता है कि मथुराके कीट-पतंग भी कृष्णाकार हो गये!

उद्धवजी कहते हैं कि नन्दबाबा, श्रीकृष्ण आनन्ददातृत्वेन, ज्ञान-दातृत्वेन जीवनदातृत्वेन, सबके गुरु हैं। वे सबके आनन्द-दाता हैं, ज्ञानदाता हैं, जीवन दाता हैं और सम्पूर्ण सृष्टिके नियमनमें समर्थ हैं, चाहे जिसको अपने नियन्त्रणमें ले सकते हैं। इसीलिए कृष्णको कृष्ण कहते हैं! ऐसे अखिलगुरु नारायण अर्थात् पुरुषोत्तमके प्रति तुम्हारी ऐसी चित्तवृत्ति है—**ईदृशी मतिः**! अतः तुम्हारे-सरीखा सराहनीय और कोई नहीं है!

अब आगेका प्रसंग कल!

❋

युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद।
नारायणेऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी॥ ३०॥
एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम्।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ॥ ३१॥
यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम्।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः॥ ३२॥

श्रीउद्धवजी नन्द-यशोदाके स्नेहका, प्रेमका अभिनन्दन करते हुए उनसे बातचीत प्रारम्भ करते हैं। उन्होंने कहा—संसारमें भगवान्‌के जितने भक्त हैं, उनमें आपलोग श्लाघा करने योग्य हो।

वास्तवमें नन्द-यशोदा जैसा स्नेह श्रीकृष्णसे करते हैं, वैसा ही स्नेह हमें भी प्राप्त हो ऐसी श्लाघा सबको करनी चाहिए। किसी वस्तुकी सराहना या तारीफ करना दूसरी बात है, किन्तु उसकी श्लाघा करनेका अर्थ यह है कि वैसी ही वस्तु हमें भी प्राप्त होनी चाहिए! उद्धवजीने जो कुछ कहा, वह स्वाभाविक था! उद्धवजीने जो कुछ कहा, वह स्वाभाविक था! परन्तु भक्तोंको तो अपनी तनिक भी प्रशंसा प्रिय नहीं लगती—

अप्रेक्ष्यक्लममात्मनो विदधति प्रीत्या परेषां प्रियः।

भक्तकी तो पहचान ही वह है कि वह अपने श्रम, अपने क्लेशको न देखकर, बड़े प्रेमसे दूसरोंकी भलाई करता है! अगर कोई उसकी प्रशंसा करना शुरू करदे, सराहना करने लगे, तो उसको ऐसे लगता है, जैसे कोई पाप हो रहा है! केवल भगवान्‌की प्रशंसा सुनना चाहता है, अपनी प्रशंसा नहीं—

विद्यावित्तकुलादिभीष्टयदनायान्ति क्रमानप्रता।

भक्तके पास चाहे जितनी अधिक विद्या हो, चाहे जितना अधिक धन हो, उसका कुल चाहे जितना ऊँचा हो, उसके ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अपितु वह और भी अधिक झुक जाता है! यह भक्तके जीवनका रहस्य है। अतः श्लाघ्यतम और मानद कहनेसे न यशोदाको कोई प्रसन्ता हुई, न नन्दबाबाको। उद्धवजी इस बातको ताड़ गये और उनकी समझमें आगया कि उनसे कुछ गलती हो रही है। इसलिए बोले—कि नहीं बाबा, हम तुम्हारी नहीं, तुम्हारी भक्तिकी प्रशंसा कर रहे हैं। तुम्हारे हृदयमें जो भक्तिका भाव है, वह प्रशंसनीय है!

तो '**नारायणेऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी**'—इस श्लोककी व्याख्या कल आप सुन चुके हैं! श्रीकृष्ण दोनों ही प्रकारसे सेवनीय हैं—एक तो वह नारायण हैं और दूसरे सबके गुरु हैं! गुरुकी सेवा और नारायणकी सेवामें थोड़ा फर्क है। नारायण सबमें रहते हैं—पशुमें, पक्षीमें, मनुष्यमें, स्त्रीमें, नारायण सर्वव्यापक हैं। नारायण उसको कहते हैं, जो प्रत्येक नरके हृदयमें हो!

नराणां समूहः नारं, नारं अयनं यस्य नारायणः।

जीवोंके समूहका नाम नार है और उस नारमें जिसका घर हो, उसका नाम नारायण! अब इसको ऐसा समझो कि हम किसी सभामें होते हैं, तो यह सम्बोधन सुनते हैं कि "सभापतिजी तथा सज्जनवृन्द"। तो सभापतिजी गुरुदेव हैं और सज्जनवृन्द नारायण हैं। तो सबसे प्रेम करो और गुरुदेवसे भी प्रेम करो। कृष्ण सबमें भी हैं और गुरुदेवमें भी हैं! गुरु भी हैं और सब भी हैं। वे ऐसे हैं कि जो प्रेम करे, उसका प्रेम ले लें और जिसको प्रेम करना न आता हो, उसको प्रेम सिखा दें। जब वे गोपीके घर जाते हैं, तो जानते हो—क्या कहते हैं? अरी ओ गोपी! क्या है कन्हैया? क्या बात है श्यामसुन्दर? 'अरी, आज तेरे दूधमें कुछ खटास आरही थी, वह अच्छी तरह पका नहीं था। कल ठीक पकाकर रखना। आज तेरे मक्खनमें पानी ज्यादा था! आज तेरी मलाई ठंडी हो गयी थी।' इस प्रकार वे सबको शिक्षा देते रहते हैं। इसलिए 'अखिलगुरु' हैं!

अब दूसरी बात देखो! मनुस्मृतिमें नारायण शब्दका अर्थ दिया है—

जलमें जिसका घर हो, उसका नाम नारायण! हमारे गाँवमें कुएँको नारा बोलते हैं। कहीं-कहीं झरनेको भी नारा कहते हैं। तो नारा माने पानी! भगवान् पानीमें रहते हैं, इसका मतलब यह नहीं है कि वे क्षीरसागरमें रहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि स्त्री-पुरुषके रजवीर्यमें, पक्षियों और चीटियोंके अंडोंमें जो पानी होता है—जिससे उत्पत्ति होती है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी सृष्टिमें कारणवारि है—उसके भीतर चैतन्यरूपसे विद्यमान शक्तिका नाम नारायण है। इसके अतिरिक्त और भी कई अर्थ हैं नारायणके। अध्यात्म दृष्टिसे **नारं अयते जानाति इति नारायणः**—जो सम्पूर्ण विश्वसृष्टिको जाने, साक्षी हो, उसका नाम नारायण। **नरान् अयते प्रेरयति नारायणः**—जो सम्पूर्ण सृष्टिका प्रेरक हो, उसका नाम नारायण! जो **नारमयते व्याप्नोति**—जो सबमें व्यापक हो, उसका नाम नारायण!

जैसा कि बताया, श्रीकृष्णमें द्विविध भजनत्व है। एक तो वे सबके नियन्ता हैं—दूसरे सबके गुरु हैं! कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण सो गये, तो उनकी नाकमें

घरघराहट हुई और उससे वेद निकले। फिर जब वे जाग गये और आँख खोली, तो पाँच भूत सामने खड़े थे। उन्हें देखकर श्रीकृष्ण मुस्कुरा पड़े! उनकी मुस्कुराहटसे कोटि-कोटि प्रकारकी सृष्टि बन गयी! इतनेमें कुछ थकान मालूम पड़ी, तो उन्होंने फिर आँख बन्द कर ली और सो गये; तो प्रलय हो गया। श्रीकृष्ण ही वेदोंके, पञ्चभूतोंके, अचिन्त्य-अनन्त कला-कौशलसे युक्त सृष्टिके और प्रलयके कारण हैं। श्रीकृष्णकी मुस्कानसे जो किरण निकलती है, उससे सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि होती है!

हासो जनो उन्माद करी च माया—उनकी हँसीका नाम माया है!

अब रहा—श्रीकृष्णका गुरुत्व! उद्धवजीने उनको अखिल-गुरु कहा ही है। श्रीमद्भागवतके कालिय दमन—प्रसंगमें भी श्रीकृष्णको '**अखिलकलादिगुरु**' कहा है! इस सृष्टिमें जितनी कलाएँ हैं, उनके आदि गुरु श्रीकृष्ण ही हैं। गन्धर्वोंको गाना श्रीकृष्णने सिखाया, अप्सराओंको नाचना श्रीकृष्णने सिखाया, ब्रह्माको सृष्टि बनाना श्रीकृष्णने सिखाया और रुद्रको संहार करना श्रीकृष्णने सिखाया। इस प्रकार वे सबके आदि गुरु भी हैं और सम्पूर्ण सृष्टिके नियन्ता भी हैं तथा इन दोनों ही दृष्टियोंसे भजनीय हैं।

प्रेम करना हो, तो श्रीकृष्णसे करना चाहिए, जैसा कि नन्द-यशोदाने किया। **यत्कृता मतिरीदृशी**—में प्रेम शब्द नहीं, मति शब्द है! इसका प्रयोग गौड़ेश्वर सम्प्रदायके सन्तोंमें बहुत होता है। वहाँ यह प्रथा है कि उनको प्रणाम करो, तो जैसे ब्राह्मण लोग '**आयुष्मान् भव**' कहकर आशीर्वाद देते हैं, वैसे वे आशीर्वाद रूपमें **कृष्णे मतिरस्तु**—कहते हैं! पर यह आशीर्वाद उन लोगोंके लिए है, जो बाहरसे आते हैं। जो उनके घरके, अपने सम्प्रदायके होते हैं उनको कहते हैं—'**कृष्णे रतिरस्तु**'। मति और रतिमें जो फर्क है, वह आप जानते हैं! मतिरस्तुका अर्थ है कि कृष्णमें तुम्हारी मति लगे, बुद्धि लगे और 'कृष्णे रतिरस्तु'का अर्थ है कि कृष्णमें तुम्हारी रति हो, रमण हो, प्रीति हो!

भगवान्में बुद्धि तो वेदान्तियोंकी भी लगती है, लेकिन प्रेमियोंकी रति होती है! मति शास्त्राभ्यासकी पुत्री है और रति भगवान्की नित्य सङ्गिनी है। वह राधारानीका रूप है! भगवान्को सर्वोच्च समझना दूसरी चीज है और उनसे प्रीति होना दूसरी चीज है। भगवान्से प्रीति होनी चाहिए। अपनी प्रीतिपर दृष्टि रखो और देखो कि वह संसारके किसी मर्दमें, किसी औरतमें, किसी बच्चेमें, किसी धन दौलतमें भटक तो नहीं गयी है। बड़े बूढ़े लोग तो पक्के हैं! उनकी प्रीति जहाँ लगी है, लगी रहेगी, लेकिन जो व्यक्ति सावधान हो, उसको थोड़ा विचार कर लेना चाहिए! जिनकी वृत्ति संसारमें

लगी है, वे कथा वार्तामें भी बैठे-बैठे कोई-न-कोई प्लान बनाते रहते हैं और यह सोचते रहते हैं कि अपने राग-द्वेषको कहाँ, कैसे चरितार्थ करें! सत्संगमें भी वे अपने राग-द्वेषका चोला उठाकर बाहर फेंक देना नहीं चाहते। अरे बाबा, बाहर पहन लेना, यहाँ क्यों पहने हुए हो? मति और रति दोनों दो चीजें हैं। जैसे तुम धनकी कमाईके बारेमें बारम्बार विचार करते हो, वैसे ही अपनी बुद्धिको इसमें लगाओ कि श्रीकृष्ण ऐसे मिलेंगे, वैसे मिलेंगे! जिस प्रकार यह सोचते हो कि आज यह रसोई बनाकर अपने बच्चेको खिलायेंगे, आज अमुक शृंगार करके अपने पतिको प्रसन्न करेंगे, उसी प्रकार यह सोचो कि आज श्रीकृष्णको ऐसे प्रसन्न करेंगे, वैसे प्रसन्न करेंगे! श्रीकृष्णकी प्रसन्नतामें अपनी प्रसन्नता मिलना रति है और उनके बारेमें प्रेमपूर्वक बारम्बार विचार करना मति है। उनके अनुकूल होकर बार-बार विचार करना मति है और उनको सुख पहुँचानेका संकल्प बारम्बार उदय होना रति है! विचार दूसरी चीज है, संकल्प दूसरी चीज है। आनन्दमें रति होती है और चेतनमें मति होती है।

उद्धवजी नन्दबाबा और यशोदा—दोनोंसे जब यह कहने लगे कि तुम्हारी मति ऐसी है, तब भी उनको कोई प्रसन्नता नहीं हुई! वैसे ही नहीं हुई, जैसे किसी वेदान्तके जानकारके सामने यदि यह बात कही जाये कि तुम्हारी आँख ऐसी है, तुम्हारी नाक ऐसी है, तुम्हारी जीभ ऐसी-ऐसी है, तुम्हारी बुद्धि ऐसी है। उसको कोई प्रसन्नता नहीं होगी! वह तो यह उत्तर देगा कि जिस पञ्चकोश और शरीरकी जिन तीन अवस्थाओंको अधिष्ठानमें कल्पित एवं मिथ्या मानकर हमने छोड़ दिया है, उसकी तुम-प्रशंसा करते हो? उसपर इस प्रकारकी प्रशंसा या निन्दाका कोई असर नहीं पड़ेगा!

वर्चस्व संप्रत्यिक्ते घोषतश्च चारुधारिते।
यदि दोषं वदेत् तस्मै चुम्बाचरितौ भवेत्॥

जैसे किसीने मैदानमें मलत्याग कर दिया और जान लिया कि यह गन्दी चीज है! अब यदि उस गन्दी चीजका कोई गुण-दोष बतावे तो इससे उसको छोड़कर आने वालेको कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। वैसे ही ब्रह्मज्ञानी पुरुषकी बुद्धिकी स्तुति करो, चाहे निन्दा करो, वह जानता है कि मेरे स्वरूपमें बुद्धिका अस्तित्व ही नहीं है इसी तरह जो भक्त होते हैं, वे अपने भगवान्‌में सदा-सर्वदाके लिए रम जाते हैं, उनसे बाहर निकलते ही नहीं—

माई री! मैं तो गोविन्द सो अटकी।
चकित भए ये दृग दोऊ मेरे लखि शोभा लटकी॥

सोभा अंग-अंग प्रति सुन्दर बनमाला कटकी।
ललित अलक कर बासुँरी सोहे दुति दमिन पटकी॥
रमित भई हौं साँवरे के संग लोग कहें भटकी।
छुटि लाज कुल कानि लोग डर रहौं न घर अटकी॥
मीरा प्रभु के संग फिरे अब कुंज कुंज लटकी।
बिना गुपाल लालरी सजनी को जाने घटकी॥
या साँवरे सो मैंने नेह लगाई।
बीच बाजार पुकार कहौं मैं चाहे करो कोउ कोटि बुराई।
लाज मरजाद मिलि औरन कूं मृदु मुस्कान मेरे बट आई॥
बिन देखे मन मोहन को मुख मोहि लगत त्रिभुवन दुःखदाई।
नारायण तिन्ह कर वह फीको जिन चाखी वा रूप मिठाई॥

ब्रजवासी रतिकी भूमिकामें स्थिर हैं। भागवतमें स्वयं नन्दबाबाका ही वचन है, जिसमें वे साफ कहते हैं—

दान - व्रत - तपो - होम - जपस्वाध्यायसंयमैः।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥ ४७.२४

धर्म-कर्म आदि साधन हैं और भक्ति साध्य है! फिर बादमें कहते हैं कि देखो उद्धव, हमको मोक्ष नहीं चाहिए—

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छयाः।
मङ्गलाचरितैर्दानैरतिर्नः कृष्ण ईश्वरे॥

हम दूसरे किसी ईश्वरको नहीं जानते। हमारा तो अपना ईश्वर है और वह व्यक्तिगत है—प्राइवेट है! *हमारो मुरली वारो स्याम।*

हमारा तो जो मुरलीवाला श्याम है, वही हमारा ईश्वर है। हम दूसरे किसी ईश्वरको नहीं जानते। हमें भले ही अपने कर्मके अनुसार बारम्बार जन्म लेना पड़े! हम यदि जन्म-मरणसे छूटनेके लिए भगवान्‌का भजन करते हों, तो हमको बारम्बार जन्म-मरण मिले! रबिया भी यही कहती थी कि हे प्रभु यदि मैं नरककी आगसे बचनेके लिए तुम्हारा भजन करती होऊँ, तो तुम हमें हमेशाके लिए नरककी आगमें डाल दो! हम दुःखसे नहीं बचना चाहते, हम स्वर्गमें नहीं जाना चाहते, हमें सुख नहीं चाहिए, हमको मोक्ष नहीं चाहिए। मोक्ष तो वे लोग चाहते हैं, जिनको दुःख होता है। हमको अपने प्यारेके स्मरणमें परमानन्दकी प्राप्ति हो रही है। हम मोक्ष किससे चाहें? हम तो परम सुखी हैं और अपने प्रियतमके प्रेममें मग्न रहा

करते हैं—'**रतिर्नः कृष्णीश्वरे**'—हमारा जो अपना ईश्वर है, उसीमें हमारी रति हो! इसके लिए भले ही हमें बारम्बार जन्म लेना पड़े!

यह आपको इसलिए सुनाया—कि उद्धवजी मतिकी बात कर रहे हैं और नन्दबाबा रतिकी भूमिकामें स्थित हैं। जिसको अपने प्रियतमका संग—अहर्निश प्राप्त हो, उसको कोई कहे—कि मैं तुम्हारे प्रियतमका दर्शन खिड़कीमें-से करा दूँगा, तो यह जैसे कोई बड़ी बात नहीं है, वैसे ही जिसको भगवान्‌की रति प्राप्त है, जो भगवान्‌की प्रीतिमें दिन-रात निमग्न है, उसको यह कहना—कि तुम्हारी मति भगवान्‌में है—महत्त्वहीन है! जो खुद जाकर कश्मीर देख आया है, उसको कोई बुलाकर वहाँका नक्शा दिखाये, तो उसे कैसा लगेगा? किसीको मतिसे देखना माने उसका नक्शा देखना और उससे रति होना माने मिलना—'**यत्कृता मतिरीदृशी**'।

जब उद्धवजीने देखा कि उनकी बातोंका नन्दबाबापर कुछ असर नहीं पड़ रहा है, तब उन्होंने यह विचार किया कि अब श्रीकृष्णके ऐश्वर्यका वर्णन करना चाहिए। इससे सम्भवतः नन्दबाबा उनकी बातोंकी ओर खिचेंगे! परन्तु यह भी उद्धवजीकी भूल है, जो अभी उनकी समझमें नहीं आती! बादमें आवेगी! तो, उद्धवजी श्रीकृष्णके ऐश्वर्यका वर्णन करते हैं—

एतौ हि विश्वस्य च बीज योनी रामो मुकुन्दः पुरुष प्रधानम्।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ॥ ३१॥

नन्दबाबा, तुम्हारे बेटे राम-मुकुन्द, बलराम-कृष्ण, ये दोनों सम्पूर्ण विश्वके बीज और योनि हैं, प्रधान एवं पुरुष हैं! यह देखो, उद्धवजी नन्दबाबाकी बुद्धिको प्रेम-शास्त्रमें-से निकालकर दर्शन-शास्त्रमें लाना चाहते हैं। उन्होंने जो प्रधान और पुरुष कहा है, उसपर विचार करो। प्रधान कहते हैं जड़ प्रकृतिको और उसमें जो भगवान्‌का अंश आता है, उसको पुरुष कहते हैं! यहाँ एक गुप्त बात है, जो अभी उद्धवजीके सामने प्रकट नहीं हुई है। भगवान् श्रीकृष्णके पाँच रूप हैं—एक रूप है राम और कृष्ण दूसरा रूप है रुक्मिणी और कृष्ण, तीसरारूप है सत्यभामा और कृष्ण! चौथा और पाँचवाँ रूप अभी थोड़ी देरमें सुनाते हैं।

प्रकृति और पुरुष भगवान्‌का सर्वथा स्थूल रूप है। जड़ जगत्‌में प्रकृतिका विलास शरीर है और इसमें जो जीव है, पुरुष है, वह भगवान्‌के अंश-रूपसे बैठा हुआ है! पुरुष और प्रकृति जगत्‌की लीला है। प्रकृति पत्नी है और पुरुष पति है। गीतामें भगवान्‌ने सृष्टिकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया बतायी है। यह वह प्रक्रिया है, जो सांख्य आदिमें स्वीकार की हुई है—

मम योनिमहद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ गी. १४.३
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ गी. १४.४

अब लीलामें आगे बढ़ो तो आनन्द आवे। जो जगत्-लीलामें प्रकृति और पुरुष हैं, द्वारिका-लीलामें रुक्मिणी और कृष्ण हैं, वही व्रजलीलामें राम और कृष्ण हैं। इसको ब्रजवासी लोग ऐसे कहते हैं कि राधारानी श्यामसुन्दरसे निकुञ्जमें मिलती थीं, गुफामें मिलती थीं, घरमें मिलती थीं। पर जिस समय वे ग्वालबालोंमें खेलते होते थे अथवा नन्दबाबाके सामने बैठे होते थे, उस समय नहीं मिल सकती थीं। अतः राधारानीने पुरुष समाजमें सास-ससुर आदिके सामने भी, श्रीकृष्णसे मिलते रहनेके लिए अपना एक पुरुष आकार बलरामजीके रूपमें बना रखा है! राधा गोरी हैं, बलराम गोरे हैं। राधा नीली साड़ी पहनती हैं और बलरामजी भी नीला वस्त्र धारण करते हैं। दाढ़ी-मूँछ बलरामजीको है ही नहीं। इस दृष्टिसे भी दोनोंमें समानता है। बलरामजी राधारानीके ही एक रूप हैं।

जब सख्य-लीला होती है, तब क्या होता है? नन्द-यशोदाकी आँखोंके सामने श्रीकृष्ण और बलराम दोनों निःसंकोच एक दूसरेके कंधेपर हाथ रखे हुए टहलते हैं और परस्पर हृदयसे लगते हैं! असलमें प्रकृतिका लौकिक प्रकृतिका नहीं, चित्तप्रकृतिका, चेतन प्रकृतिका—एक रूप बलराम बनकर आया है और परम पुरुष श्रीकृष्णके साथ लीला कर रहा है।

अब ब्रजसे निकलकर द्वारिका पहुँचे, तो वहाँ सत्यभामा और रुक्मिणीमें भी थोड़ा फर्क है! सत्यभामा वामा हैं और रुक्मिणी दक्षिणा हैं। वामा माने मानमें ज्यादा रहनेवाली और दक्षिणा माने सदा अनुकूल! ऐसा वर्णन है—कि राधारानी सत्यभामाके रूपमें आयी हैं और चन्द्रावली रुक्मिणीके रूपमें अथवा लक्ष्मी रुक्मिणीके रूपमें आयी हैं।

ऐसा है कि जब भगवान् श्रीकृष्ण मथुरा गये और मथुरासे द्वारिका चले गये, तो राधारानी बेहोश हो गयीं। उनको होशमें लानेके लिए वृषभानुजी सूर्यके पास ले गये। सूर्य भगवान् भी अपने ज्ञानदानसे, उपदेशसे राधारानीको होश दिलानेमें असमर्थ हो गये। उन्होंने भगवान्का ध्यान किया, किन्तु फिर भी काम नहीं बना, तो उन्होंने राधारानीकी ही स्तुति की—कि देवि! तुम्हीं कृपा करके बताओ, तुम्हें होशमें लानेके लिए क्या युक्ति की जाय? अब उनको भीतरसे प्रेरणा हुई कि

राधारानी तबतक होशमें नहीं आ सकतीं, जबतक वे श्रीकृष्णके पास न पहुँच जाएँ। इसपर सूर्य भगवान्‌ने सत्राजितको याद किया। सत्राजित सूर्य भगवान्‌का बड़ा भारी भक्त है। सूर्य भगवान्‌ने कहा कि इस लड़कीको तुम अपनी लड़की बनाकर द्वारिकामें रखो। सत्राजितने वैसा ही किया। उधर बेहोशीमें राधारानीको सब-कुछ भूल गया कि वे वृषभानुकी बेटी हैं, बरसानेकी, गोकुलकी या वृन्दावनकी रहनेवाली हैं। उनका नवीन जीवन प्रारम्भ हुआ, सत्यभामा नाम पड़ गया और उसी रूपमें श्रीकृष्णसे ब्याह हुआ।

इधर चन्द्रावली, ललिता आदि सखियाँ श्रीकृष्णके विरहमें पहाड़पर चढ़कर कूद पड़ीं। नीचे जाम्बवानजी भालूके रूपमें थे। झट उन्होंने ललिता सखीको उठा लिया और अपने घर ले जाकर पाला। वह जाम्बवती हो गयी। एक सखी यमुनाजीमें कूद पड़ी और उसको यमुनाने बचा लिया! फिर उसमें यमुनाजीका आवेश हो गया और वह कालिन्दी बनी!

इस प्रकार ब्रजमें वे सखियाँ थीं, वे सब-की-सब श्रीकृष्णके विरहमें बेहोश हो होकर किसी-न-किसी प्रकार द्वारिकाके रनिवासमें पहुँच गयीं। बड़ी विलक्षण कथाएँ हैं। इनका ज्ञान प्राचीन ग्रन्थोंको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे होता है।

द्वारिकामें श्रीकृष्णको कोई संकोच नहीं, शान्ति नहीं! वे दिनभर काम करें और रातको व्रजवासियोंका स्मरण करके रोयें! तब उनको रोहिणीजीने सलाह दी—कि "बेटा, तुमको वृन्दावन बहुत प्यारा लगता था, उसके बिना तुम प्रसन्न नहीं दिखते हो। यहाँ एक वृन्दावन बनाओ"। इसलिए श्रीकृष्णने द्वारिकामें एक बगीचा बनवाया और उसका नाम नव वृन्दावन रखा गया! उसमें गिरिराज बनाये गये, यमुना बनायी गयी, नन्दगाँव, बरसाना, गोकुल आदि बनाये गये और वृषभानुजी, नन्दजी, यशोदाजी, राधारानी आदिकी मूर्तियाँ स्थापित की गयीं! अब रातमें जब सब लोग सो जायें, तो श्रीकृष्ण एक-एक मूर्तिके पास जाकर गले लगें और रोवें। एक दिन किसीने सत्यभामासे शिकायत कर दी कि तुम लोग तो यहाँ रनिवासमें रहती हो और श्रीकृष्ण रातको बगीचेमें जाकर क्या-क्या करते हैं, देखो तो सही! सत्यभामाने कहा—मैं पता लगाऊँगी! एक दिन वे राधारानीकी मूर्तिके पीछे छिपकर खड़ी हो गयीं! रातमें श्रीकृष्ण वहाँ पहुँचे और राधे-राधे कहते हुए वृन्दावनके सुखका वर्णन करने लगे! उनकी आँखोंसे आँसुओं की धारा बहने लगी। यह दृश्य देखकर सत्यभामाकी आँखोंमें भी आँसू आने लग गये। वे यह चिन्तन करने लगीं कि ये राधारानीसे किनता प्रेम करते हैं। उसी समय

सत्यभामाकी विस्मृति मिट गयी और उसको यह स्फुरण हो गया कि मैं ही राधा हूँ। फिर तो वह व्याकुल होकर श्रीकृष्णकी ओर दौड़ीं और श्रीकृष्णने उसको अपने हृदयसे लगा दिया। श्रीकृष्णने राधारानीको पहचाना और राधारानीने श्रीकृष्णको! यह मिलनका बहुत बढ़िया प्रसंग है और प्रेम-राज्यकी कथा है।

जैसे गोलोकमें राधाकृष्ण नित्य संग रहते हैं, वैकुण्ठमें लक्ष्मीनारायण नित्य संग रहते हैं, द्वारिकामें रुक्मिणी-श्रीकृष्ण अथवा सत्यभामा-श्रीकृष्ण नित्य संग रहते हैं, वैसे ही व्रजमें बलराम-कृष्ण नित्य संग रहते हैं। बलरामकी केवल आकृति ही पुरुषकी है, वास्तवमें वे भगवान्‌की शक्ति हैं। बलराम शक्तिमान् नहीं, शक्ति हैं; शेषी नहीं, शेष हैं।

उद्धवजी वर्णन करते हैं कि बलराम-कृष्ण दोनों बीज-योनि हैं, अर्थात् निमित्तोपादान कारण हैं! श्रीकृष्ण निमित्तकारण हैं और बलराम अपादान कारण हैं। बलरामजी रुक्मिणी हैं, राधारानी सत्यभामा हैं—लक्ष्मी हैं और ये श्रीकृष्ण साक्षात् नारायण हैं। ये केवल प्रकृति-पुरुष ही नहीं, बल्कि सारी सृष्टिमें सम्पूर्ण भूतोंमें अनुगत हैं—'**अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ**'

एक ही वस्तु दो रूपमें स्थित है—**सत्त्वमेकं द्विधा स्थितं**! जैसे घड़ेमें मिट्टी होती है, वैसे ही सृष्टिके कण-कणमें, अणु-अणुमें राम और कृष्ण व्याप्त हैं! इस संसारमें जो विविध संस्कार वाले, विविध-अन्तःकरण—रूप-उपाधि धारण किये हुए विविध जीव हैं उनको अपने संकल्पके अनुसार, तत्-तत् कर्मानुसार चलानेवाले, नियमन करनेवाले बलराम-कृष्ण ही हैं, क्योंकि वे अनादि हैं, युगल स्वरूपके ही एक विलास है—

'न आदि न अन्त विलास करैं दोउ!
लालप्रिया में भई न चिन्हारी।'
'सदा एकरस, एक अखण्डित आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहीं जानत, बिहरत जुगल सरूप॥'

इस प्रकार उद्धवजी महाराज प्रकृति और पुरुषके ऐश्वर्यका वर्णन करके नन्द-यशोदाके चित्तको माधुर्यसे खींचनेका प्रयास कर रहे हैं और यह मानकर कि उनका प्रेम लौकिक ढंगका है, ऐश्वर्यका उपदेश करनेसे अलौकिक हो जायेगा, उनके भीतर अलौकिकता भरनेकी चेष्टा कर रहा है।

अब आगेका प्रसंग कल सुनायेंगे।

❋

बीसवाँ प्रवचन

एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम्।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ॥ ३१॥
यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले क्षणं समावेश्य मनोऽविशुद्धम्।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः॥ ३२॥
तस्मिन् भवन्तावखिलात्महेतौ नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ।
भावं विधत्तां नितरां महात्मन् किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम्॥ ३३॥

उद्धवके विचारमें यशोदा और नन्दका बलराम तथा श्रीकृष्णके प्रति जो स्नेह है, वह लौकिक है। जैसे संसारी माँ-बाप अपने बच्चोंसे प्रेम करते हैं, वैसे यशोदा-नन्द कर रहे हैं। इसलिए उद्धवजी चाहते हैं कि रामकृष्णमें जो ईश्वर छिपा हुआ है अथवा जो ईश्वर ही रामकृष्णके रूपमें प्रकट हुआ है, उसको हम दिखा दें तो यशोदा-नन्दका प्रेम अलौकिक हो जायेगा।

वेदान्तियोंकी प्रणाली इसी ढंगकी है। एक सज्जनकी अपनी भैंससे बहुत प्रीति हो गयी थी। पंचदशी नामक ग्रन्थमें इसका संकेत है। वह अपनी उम्रसे मर गयी। उस सज्जनको बड़ा वैराग्य हुआ! वे अपने गुरुजीके पास गये! गुरुजीने कहा कि भगवान्‌का ध्यान करो। वे ध्यानमें बैठे, तो उनको अपनी वही काली-काली—भैंस, उसके बड़े-बड़े सींग और उसका बड़ा थन याद आने लगा। गुरुजीने पूछा-ध्यान कैसा हुआ? बोले-ध्यान तो बहुत बढ़िया हुआ, लेकिन अपनी भैंसका हुआ। गुरुजीने कहा—अच्छा भाई, अपनी भैंसका ही ध्यान करो! लेकिन देखो, भैंसमें अन्नमय कोश है, प्राणमय कोश है, मनोमय कोश है, विज्ञानमय कोश है, आनन्दमय कोश है! तुम्हारे भीतर भी ये सारे कोश हैं, और दोनोंमें साक्षी एक है। देहको छोड़ो और परमात्माको पहचानो।

कई लोग महिषीका अर्थ भैंस नहीं, राजमहिषी करते हैं! राजमहिषी माने रानी! कोई ऐसा राजा था, जिसकी अपनी रानीमें बहुत आसक्ति थी! वह मर गयी तो राजा दुःखी हुए। आदमीका मन संसारमें नामरूपको पकड़ता है! उससे छुटकारा पानेकी भी कोई-न-कोई युक्ति होनी चाहिए।

दक्षिणमें 'ज्ञानसम्बन्धम्' नामके एक महात्मा हुए हैं! उनकी पत्नीका नाम था 'नमः शिवाय' दक्षिणमें ऐसे नाम होते हैं। जब नमः शिवाय मर गयी तो

ज्ञानसम्बन्धम्‌को निरन्तर उसीका ध्यान होने लगा! उनको और किसीका ध्यान ही न हो! वे गुरुजीके पास गये! गुरुजी बोले कि नमो नारायणका जप करो। ज्ञानसम्बन्धम्‌ने कहा कि महाराज, मुझसे तो नमो नारायणम् नामका जप नहीं होगा। किसका होगा? मेरी पत्नीका जो नाम है, उसीका होगा। गुरुजी बोले कि अच्छा, अपनी पत्नीके नाम-नमः शिवायका ही जप करो और उसीमें तत्त्वका चिन्तन करो। गुरुजीने तत्त्वका उपदेश किया और ज्ञानसम्बन्धम् संसारके मायामोहसे ऊपर उठकर महात्मा हो गया! वेदान्तियोंकी प्रणाली यह है कि अगर किसीका मन कहीं फँस गया हो, तो वहीं अधिष्ठान रूपसे, प्रकाशक रूपसे विद्यमान साक्षी तत्त्वका विवेक करा देते हैं।

नन्दबाबाकी श्रीकृष्णमें जो बालकबुद्धि है, उसको उद्धवजी लौकिक बुद्धि समझ रहे हैं और मान रहे हैं कि यदि हम इसमें ईश्वरत्वका आधान करेंगे, तो यह बुद्धि अलौकिक हो जायेगी! असलमें जो प्रेमी लोग होते हैं, उनकी स्थिति विलक्षण होती है। यहाँ हम थोड़ी साधनकी बात बताते हैं। एक बार उनकी बात छोड़ दो—जो सकाम उपासना करते हैं। डाक्टरको तो लोग सैकड़ों-हजारों रुपये फीस देकर रोग मिटाना चाहते हैं, किन्तु ईश्वरके लिए पाँच रुपयेकी मानता करके रोग मिटाना चाहते हैं। दस पैसेका फूल चढ़ाया, चार पैसेका चन्दन चढ़ाया, दो पैसेकी आरती उतारी, कुछ भोग लगाया और प्रार्थना की—कि भगवान्, पाँच लाख रुपये दे दो; पुत्र दे दो! ईश्वरको गणित नहीं आता, ऐसा समझना गलत है। ज्यादा श्रद्धा ईश्वरपर है या अपने स्वार्थ पर, यह बात छिपती नहीं है! जो ईश्वरके साथ भी लेन-देनका व्यापार करते हैं, उनके स्थानपर उन लोगोंको लो, जो ईश्वरके सच्चे भक्त हैं। उनमें-से कुछ ऐसे होते हैं, जो ईश्वरके सामने जानेमें थोड़ा हिचकिचाते हैं। उनकी हिम्मत नहीं पड़ती। उन्हें इस बातका संकोच होता है कि हम इतने गन्दे हैं, ईश्वरके सामने कैसे जायें? जैसे कोई यह सोचे कि हम उनसे मिलना तो चाहते हैं, लेकिन हमारे पास वैसी पोशाक नहीं है, वैसे ही वे भक्त सोचते हैं। ऐसे लोगोंका मन ईश्वरके प्रेम, ईश्वरकी कृपा, ईश्वरके हृदयकी कोमलताको तो भूल जाता है और केवल अपना ध्यान रखता है। अपने दोषोंको उनके निवारणकी दृष्टिसे देखना तो ठीक है। यदि आपके मनमें काम आता है, क्रोध आता है, लोभ आता है तथा और भी अनेक दुर्गुण आते हैं, तो उनको दूर करनेका प्रयास कीजिये, परन्तु उनके कारण पतितपावन परमेश्वरके पास जानेमें संकोच मत कीजिये!

जो इच्छा होते हुए भी अपनी अयोग्यता देखकर भगवान्‌के पास नहीं जाते

वे भक्त तो हैं, किन्तु वे आत्मनिष्ठ हैं। उनका मन अपनी ओर रहता है, ईश्वरकी ओर नहीं जाता।

जब भक्ति आगे बढ़ती है तब अपनी ओर देखना छोड़ देती है, भगवान्‌की ओर ही देखती है। हम कैसे हैं—इसको भगवान् देखना चाहें तो देखे और न देखना चाहें, तो मत देखें। हम तो केवल भगवान्‌को देखते हैं। एक भक्त कविने कहा है कि तुम हमें देखो न देखो, हम तुम्हें देखा करें। भगवान् हमें देखेंगे, तो भी काम बन जायेगा और यदि देख लेंगे, तो उनकी नजर पड़ते ही सब कुछ ठीक हो जायेगा। हमारा काम सिर्फ भगवान्‌की ओर देखना है। भगवान्‌को हमारे लिए कोई वस्त्राभूषण पसन्द हो, तो बाजारसे खरीद कर दे दें। हम उनको धारण कर लेंगे। यदि हमको वस्त्राभूषण पहनना न आवे, तो अपने हाथसे पहना दें। हम जैसे भी हैं, उनके हैं। हमारे अन्दर क्या गुण है, क्या दोष है—यह हम नहीं जानते। परन्तु प्रभो, हमारे लिए तुम बड़े प्यारे हो, बड़े कोमल हो, बड़े उदार हो, हमसे बहुत अधिक प्रेम करनेवाले हो। तुम्हारे बारेमें हमको सब कुछ मालूम है, अपने बारेमें हमको कुछ भी मालूम नहीं। तुम्हें अगर हमारी कोई गलती मालूम हो उसको दूर करना। यदि मैं जैसा हूँ वैसा ही पसन्द होऊँ, तो मुझे बदलनेकी कोई जरूरत नहीं। मैं जन्म-जन्मान्तर तक ऐसे ही रहूँगा। यह है भगवत्परायण भक्तका चिन्तन। जबतक मनुष्यका मन अपने बारेमें सोचता है, तबतक भक्ति प्रारम्भ नहीं होती, किन्तु जब ईश्वरके बारेमें सोचने लगता है तब उसकी भक्ति प्रारम्भ होती है।

अब ईश्वरके बारेमें सोचते-सोचते एक बात आपको सुनाना चाहता हूँ। असलमें श्रीकृष्ण जीवके ईश्वर हैं। हम चाहते हैं कि ईश्वरके मार्गमें आपकी समझदारी बढ़े। यदि आप घरमें ब्राह्मणको बैठाकर भागवतका मूल पाठ सुन लो, तो उसका भी बहुत पुण्य होता है। उसका हिन्दी अनुवाद सुन लो, तो उससे भी भागवतकी सब कथा आपकी समझमें आजावेगी। घरमें भी भागवत पाठ कराना और सुनना बहुत अच्छा है। किन्तु यदि इसके पीछे इस प्रकारके अभिमानकी भावना हो—कि हमारे जैसा बड़ा आदमी बाहर जाकर भागवत क्यों सुने, हम तो अपने घरपर ही सुनेंगे और वह भी तब, जब कोई आकर सुनायेगा—तो इस अभिमानके कारण भगवान्‌की कथा भीतर धँसेगी नहीं। अभिमान बड़ा कठोर होता है। वक्ताको बुलाकर सुननेकी अपेक्षा उसके पास जाकर सुनना अच्छा है, क्योंकि उसके पास जाकर सुननेमें श्रद्धा भी होती है और विनय भी होता है। वक्ताको बुलाकर सुननेमें अभिमान ज्यादा होता है।

भगवान्‌की लीला अभिमानमें प्रवेश नहीं करती, श्रद्धा और विनयमें प्रवेश करती है। यह साधनाकी बात है।

प्रस्तुत प्रसंगमें यह बात कही जा रही है कि भगवान् जीवके स्वामी हैं, ईश्वर हैं; किन्तु प्रेममें अधीनता स्वभाविक है। जो जिससे प्रेम करेगा, वह उसके अधीन होगा। प्रेमास्पद नचावे तो नाचे, हँसावे तो हँसे और खिलावे तो खेले, रुलावे तो रोवे। कोई किसीसे प्रेम करे और उसके अधीन न हो, ऐसा नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि हम तो प्रेम भी करेंगे और स्वतन्त्र भी रहेंगे—तो यह असम्भव है, क्योंकि—

चाखा चाहे प्रेमरस राखा चाहे मान।
एक म्यान में दो खड्ग देखा सुना न कान॥

अब प्रश्न यह है कि आप जहाँ प्रेम करते हैं, वहाँ अपनी इच्छाके अनुसार सुख पहुँचाना चाहते हैं कि जिसकी सेवा करते हैं, उसकी इच्छाके अनुसार उसे सुख पहुँचाना चाहते हैं? अगर आप उसकी इच्छा दबाकर अपनी इच्छा लागू करना चाहते हैं, तो यह सुख पहुँचानेकी रीति नहीं है। जब आप उसकी इच्छाके अनुसार उसे सुख पहुँचाना चाहते हैं, तो आपको उसके अधीन होना पड़ेगा। इसलिए प्रेमी अपने प्रियतम प्रभुके अधीन होता है।

जैसे रखिहौं वैसे हि रहौं—तुम जैसे रखोगे, हम वैसे ही रहेंगे, यह वृन्दावनके भक्त बोलते हैं।

जहाँ तक ईश्वर और जीवका प्रश्न है, जीवको ईश्वरके अधीन रहकर ईश्वरकी भक्ति और सेवा करनी चाहिए। किन्तु नन्द-यशोदाका प्रेम इस कक्षासे ऊपर हो गया है। अधीनता वहींतक होती है, जहाँतक दास्यभाव होता है। वात्सल्य भावमें माँ-बाप ऊपर हो जाते हैं और बेटा नीचे हो जाता है। दास्य भावमें जीव नीचे और ईश्वर ऊपर होता है।

यशोदा-नन्दकी जो स्थिति है, वह श्रीकृष्णके ऊपर छत्रछाया करनेवाली है। अगर यशोदा मय्याकी गोदमें कृष्ण हों और वर्षा होने लगे, तो यशोदा मय्या सीधे नहीं खड़ी हो सकतीं, अपनी छातीके नीचे कृष्णको छिपाकर झुक जायेंगी। उनकी पीठ ऊपर हो जायेगी। वर्षा ही क्यों, ओले पड़े—गरमी पड़े या तेज हवा चले—उसका प्रभाव यशोदा मय्यापर पड़ेगा, श्रीकृष्णपर नहीं। इस स्नेह और वात्सल्यके कारण कृष्ण हो गये यशोदा मय्याकी छातीके नीचे और यशोदा मय्या हो गयीं ऊपर। नन्दबाबा और यशोदा मय्या कभी भले ही ताड़ना देते हुए कहें—कि लाला,

तुमने ऐसा ऊधम क्यों मचाया? परन्तु उद्धवजी जिस प्रेमका, जिस भक्तिका वर्णन कर रहे हैं, उससे नन्द यशोदा पहले ही ऊपर उठे हुए हैं। इसलिए उद्धवजीके उपदेशका स्तर नन्द-यशोदाके स्तरसे निम्न हो गया है, छोटे दर्जेका हो गया है। वह नन्द-यशोदाके ऊपर घटित नहीं होता।

यहाँ यह ज्ञात होना भी आवश्यक है कि श्रीकृष्णने पूतनाका वध किया, शकटासुरको उलट दिया, तृणावर्तका गला घोंट दिया, यमलार्जुनको गिरा दिया और बकासुर-वत्सासुर-अघासुर आदिको मारा! यह सब देखकर नन्द-यशोदाके मनमें आना चाहिए था, कि हमारा बेटा ईश्वर है और यह जहाँ चाहे रहे, इसका कोई कुछ बिगाड़ नहीं सकता! पर यहाँ बात बिलकुल उलटी है।

इस प्रसंगमें आपको एक घटना सुनावें। वृन्दावनमें श्रीउड़िया बाबाजी महाराजको बहुत तेज मलेरिया बुखार हुआ। एक सौ छह या सात डिग्री तक पहुँच गया! शिवरात्रिका दिन था! भक्तोंने कहा कि हमारे महाराज तो साक्षात् शंकर हैं, बुखार इनका क्या बिगाड़ेगा? उनको उन्होंने चौकीपर बिठाया, सिरपर फूलोंकी जटा बनायी, गलेमें माला पहनायी और गंगाजल लेकर उडेलने लग गये! बाबा तो वास्तवमें ब्रह्म थे। उस तेज बुखारमें भी उनपर गंगाजलके स्नानका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, वे ज्यों-के-त्यों बैठे रहे। किन्तु जब यह बात श्रीहरि बाबाजी महाराजतक पहुँची, तब वे वहाँ आये और बोले—कि राम-राम-राम! तुम लोग यह क्या करते हो? तुम्हारी दृष्टि शंकरजीपर है, परन्तु बाबा तो बाबा हैं! तो नारायण कहो, भक्तोंने जो कुछ किया, वह उनके प्रेमका परिचायक नहीं है।

यशोदा-नन्द जब यह देखते हैं कि उनके लालाने पूतनाको मुँहसे चूस लिया, शकटासुरको पाँवके अँगूठेसे उलट दिया, तृणावर्तको हाथसे रगड़ दिया, तब उनको यह अनुभव नहीं होता कि उनका लाला व्रजका ऐसा देवता है, जो हाथमें हथियार नहीं उठाता! प्रेमियोंको बाँसुरीसे मारता है और असुरोंको पी लेता है! इसको पकड़ने और पीनेकी आदत है! किसीका हाथ पकड़ लेता है और किसीको पी लेता है! यह तो बड़ा रसीला है! इसके विपरीत यशोदा-नन्दकी दृष्टि इसी बातपर जाती है कि हमारे लालाको पूतना मारने आयी थी, शकटासुर गिराने आया था, तृणावर्त उड़ाने आया था, किन्तु ईश्वरकी कृपा, देवताओंके अनुग्रह और ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे हमारा लाला बच गया! अब हमें इस बातकी पूरी सावधानी रखनी चाहिए कि हमारा लाला ऐसी किसी विपत्तिमें न पड़े! यशोदा नन्दकी प्रीतिकी रीति निराली है! वे यह नहीं कहते कि हमारे लालाने उन विपत्तियोंपर विजय पायी। वे कहते हैं कि ऐसी और कोई विपत्ति

भविष्यमें न आने पावे, इसकी कोशिश हमें करनी चाहिए! गोवर्द्धनको हमारे लालाने नहीं उठाया था! गिरिराज महाराज तो कृपा करके स्वयं उठ गये थे, क्योंकि इन्द्रकी पूजा रोककर उन्हींकी पूजा तो की गयी थी! इसमें हमारे लालाका कोई ऐश्वर्य नहीं। यशोदा-नन्दके सामने बारम्बार श्रीकृष्णको ऐश्वर्यकी शक्ति आती है, परन्तु उनपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता! वे कभी नहीं सोचते कि उनका लाला बड़ा ज्ञानी है, बड़ा विरक्त है, बड़ा योगी है, बड़ा भारी देवता है या साक्षात् ईश्वर है। वे तो यह सोचते हैं कि इसको बारम्बार कष्ट मिलता है, इसके ऊपर बारम्बार संकट आते रहते हैं। अब हमें रात-दिन सावधान रहना चाहिए, जिससे कि इसके ऊपर संकट न आने पावे! इसीका नाम वात्सल्य है, इसीका नाम स्नेह है।

उद्धवजी श्रीकृष्णके ऐश्वर्यका वर्णन कर रहे हैं। यह बता रहे हैं कि श्रीकृष्ण सम्पूर्ण जीवोंके ईश्वर हैं, अनादि हैं, अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं। बलराम और कृष्ण पति-पत्नी हैं, आदि दम्पती हैं। 'आदि दम्पती' माने सृष्टिके आदिकालमें बलराम और श्रीकृष्ण दोनों पति-पत्नी थे, प्रकृति और पुरुष थे। परन्तु उद्धवजीके उपदेशका नन्दबाबापर कोई प्रभाव नहीं है, क्योंकि ऐश्वर्यका प्रभाव वात्सल्यपर नहीं पड़ता। जिस ऐश्वर्यको आँखसे देखकर यशोदा-नन्द प्रभावित नहीं हुए, उसे कानसे सुनकर कैसे प्रभावित हो सकते थे?

अब उद्धवजीने सोचा कि जब ईश्वरताका प्रभाव नहीं पड़ रहा है, तो आओ, उसके फलका वर्णन करें। इसलिए वे फलका वर्णन करते हुए कहते हैं कि नन्दबाबा, तुमने श्रीकृष्णसे स्नेह किया है, इसलिए तुम्हें सद्गति मिलेगी!

इसपर मानो नन्दबाबाने कहा कि अच्छा उद्धवजी, हमने माना कि हमारा बेटा ईश्वर है, पर तुम कहना क्या चाहते हो? उद्धवजीने कहा, कि हम कहना यह चाहते हैं—कि अगर मरते समय क्षण भरके लिए भी इसमें किसीका मन लग जाय, तो उसको सद्गतिकी प्राप्ति हो जाती है! तुमने तो उसमें अपने सारे जीवनके लिए अपना मन लगा दिया है! इसलिए अब तुम्हें सद्गति जरूर प्राप्त होगी!

अरे, राम-राम, उद्धवजीने क्या कह दिया? किसी प्रेमीसे यह कहना—कि तुमने इनकी सेवा की है, इसलिए तुमको अन्तमें यह पुरस्कार मिलेगा—प्रेमीका तिरस्कार करना है! किसी भी प्रेमी सेवकको पुरस्कारकी लालच दी जाय, तो उसको अपनी सेवाका और अपने प्रेमका उपहास प्रतीत होगा और उसे सुखके स्थान पर कष्टकी अनुभूति होगी! नन्दबाबा भी ऐसे सेवक नहीं, जो सद्गतिके लिए कृष्णसे प्रेम करते हों! उनका तो यह सहज स्वभाव है!

आपने सुना होगा, श्रीचैतन्य महाप्रभु भगवान्‌के नामका निरन्तर संकीर्तन किया करते थे—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इसमें जो 'हरे' शब्द है, उसका अर्थ उनके यहाँ मुख्य रूपसे राधा माना जाता है! जैसे राधाका सम्बोधन राधे है, वैसे ही मनोहराका है हरे! **हरतीति हराः तत्संविद्धौ हरे।**

महाप्रभुसे किसीने पूछा कि आप—रात-दिन हरे राम, हरे राम, राधे कृष्ण, राधे कृष्ण क्यों बोलते हैं? इसपर महाप्रभुने बताया, हम इसलिए भगवन्नाम नहीं बोलते कि हमको गोलोकमें जाना है, वैकुण्ठमें जाना है, मोक्ष प्राप्त करना है अथवा सद्‌गति पानी है, बल्कि इसलिए बोलते हैं कि अपनेसे बोले बिना रहा नहीं जाता! हमारी ऐसी आदत हो गयी है कि हरे राम, हरे कृष्ण बोले बिना जीभ मानती ही नहीं।

प्रेमीका स्वभाव होता है सेवा करनेका, स्मरण करनेका, अपनेको न्यौछावर कर देनेका! कुछ लेने-देनेके लिए प्रेमका सम्बन्ध नहीं होता! उसकी तो आदत पड़ जाती है, उसका स्वभाव बन जाता है कि वह प्रेम किये बिना रह नहीं सकता!

श्रीकृष्णके प्रति नन्द-यशोदाका जो प्रेम है, वह स्वाभाविक है, नैसर्गिक है! किन्तु उनके सामने उद्धवजी चर्चा उन लोगोंकी कर रहे हैं, जो मोक्षके लिए ईश्वर-चिन्तन करते हैं—

यस्मिञ्जनः प्राणवियोग - काले क्षणं समावेश्य मनोविशुद्धम्।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः॥ ३२॥

जनाः माने केवल मनुष्य ही नहीं; वे सब प्राणी, जो पैदा होते हैं—**जायते इति जनाः।** संसारमें मनुष्यका सबसे प्यारा पदार्थ प्राण है। उस प्राणके साथ अगर तुम्हारा मन जुड़ा रहेगा, तो क्या होगा? जहाँ-जहाँ प्राण जायेगा, वहाँ वहाँ मन जायेगा! प्राणमें गमनागमन शक्ति और मनमें रूपकल्पक शक्ति है! प्राणमें जानेकी और मनमें रूप बनानेकी ताकत है। जब प्राण और मन दोनों मिल जाते हैं, तब कहीं जाना होता है! हम केनोपनिषद्‌में पढ़ते हैं—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो हवाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चचक्षुरतिमुच्यधीराः प्रेत्यास्माँल्लोकादमृता भवन्ति॥ केनो.

जो वाक्‌का वाक् है, प्राणका प्राण है, मनका मन है, वह क्या है?

उद्धवजीका तात्पर्य है कि नन्दबाबा, वह तुम्हारा बेटा श्रीकृष्ण है। यदि मनुष्य प्राण-वियोग-काले अर्थात् मरनेके समय, अपने मनको एक क्षणके लिए भी श्रीकृष्णमें जोड़ दे, तो उसका मन शुद्ध हो जाता है, निरहरण हो जाता है और वह मनुष्य ब्रह्ममय हो जाता है, परागतिको प्राप्त हो जाता है! श्रीमद्भागवतमें भीष्मके शरीर-त्यागका जो प्रसंग है, उसको देखो; कितना सुन्दर वर्णन है। जब भीष्मपितामहने धर्मोपदेश कर लिया, उनके शरीर छोड़नेका समय आया और सब लोग प्रणाम करके जाने लगे तब उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा कि तुम खड़े रहो, जाना मत। तुमने मुझे जिन्दगी भर बहुत परेशान किया है! अब कुछ समय ठहरो। श्रीकृष्ण खड़े हो गये और बोले कि अच्छा भीष्मजी, मैं खड़ा हूँ तुम चाहते क्या हो? कहो तो अभी समाधि लगा दें, ब्राह्मी स्थिति कर दें। भीष्म बोले कि मुझे कुछ नहीं चाहिए, केवल तुम सामने खड़े रहो।

कृष्ण लसत्पीतपटे चतुर्भुजे पुरः स्थितेऽमीलितदृक्ष्य धारयत!

श्रीकृष्ण 'पुरः स्थित' सामने खड़े हैं। बोले—ऐसे नहीं, जैसे व्रजमें खड़े होते थे—त्रिभङ्ग-ललित भावसे—वैसे खड़े हो जाओ। जरा सिर टेढ़ा करो, मुँहपर मनोहारी मुस्कान आने दो, आँखोंको खुली रखो—अमीलित-दृग् हो जाओ और थोड़ा पीताम्बर फहराओ!

भगवति रतिरस्तु मे मुमूर्षोर्यामिह निरीक्ष्य हतागताः सरूपम्—हमें तो तुम्हारे उन बालोंका दर्शन चाहिए जिनपर घोड़ोंके टापोंकी धूल पड़ी हो! फिर अन्तमें बोले—

ललितगतिविलासवल्गुहास - प्रणयनिरीक्षण - कल्पितोरुमानाः।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः प्रकृतिमगन किल यस्य गोपवध्वः॥

हमको तुम्हारा वह रूप चाहिए, जिसकी चाल बड़ी ललित है, मुस्कान मधुर-मधुर है और चितवन प्रेम भरी है। जिस रूपसे सम्मानित होकर गोपियों उन्मदान्ध हो गयी थीं, उसी रूपको भीष्म-पितामहने माँगा!

किन्तु जिन यशोदा-नन्दने जन्मसे ही श्रीकृष्णको अपनी गोदमें खिलाया हो, उनको उनमें मन लगाकर कौन-सी सद्गति प्राप्त करनी है? श्रीकृष्ण तो नन्द-यशोदाके परमाशय हैं ही। इसलिए उनके अन्तःकरणमें धर्मके संस्कार जाग्रत् करने और मनको शुद्ध करनेका साधन बतानेकी आवश्यकता ही क्या है?

अच्छा, इसका भाव आपको कल सुनावेंगे।

❋

इक्कीसवाँ प्रवचन

तस्मिन् भवन्तावखिलात्महेतौ नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ।
भावं विधत्तां नितरां महात्मन् किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम्॥ ३३॥

जैसा कि मैंने पहले भी बताया होगा, मालवीयजी महाराज कहा करते थे कि कोई काम प्रारम्भ करना हो, कहीं जाना हो—तो चार बार नारायण-नारायण-नारायण-नारायण बोल लें। उनका कहना था कि जब मैं विश्वविद्यालयके निर्माणमें लगा था, तो मुझे सहायता माँगनेके लिए बहुत भ्रमण करना पड़ता था! जिस दिन घरसे निकलते समय नारायण नाम लेना भूल जाता था, उस दिन हमारा कोई काम नहीं बनता था! किन्तु जिस दिन नारायण नाम लेकर निकलता था, उस दिन हमारा काम अवश्य बन जाता था! यह बात ऐसी है, जो सदा-सर्वदा याद रखने योग्य है!

तो आओ, आज नारायण नाम लेकर कथा-प्रसंग प्रारम्भ करें। क्योंकि अपना काम तो भगवान्‌की लीलाका वर्णन करना है।

आपको याद दिलावें कि उद्धवजी यशोदा-नन्दसे श्रीकृष्णके ऐश्वर्यका वर्णन कर रहे हैं। पहले श्लोकमें उद्धवजीने यशोदा-नन्दकी प्रशंसा की है—कि श्रीकृष्णके प्रति आप लोगोंका ऐसा भक्ति भाव है! आप लोग धन्य हैं, सराहनाके योग्य हैं।

वैसे एकाएक कोई आदमी मिले और बहुत ज्यादा तारीफ करने लगे, तो उसके ऊपर थोड़ी शंका करनी चाहिए! ज्यादा तारीफ करनेवाले कोई-न-कोई मतलब लेकर आते हैं। शास्त्रमें भी ऐसा ही लिखा है। जो लोग चन्दा लेने आते हैं, वे पहले दाताकी दया, उदारता, कोमलता आदिकी बड़ी प्रशंसा करते हैं। कई लोग तो प्रशंसाजीवी होते ही हैं! जैसे जीविकाके बहुत सारे व्यापार हैं, वैसे ही प्रशंसा करना भी है। तारीफ करनेवाले समझते हैं कि उसमें कुछ लगता तो है नहीं, हींग लगे न फिटकरी, इसलिए हम क्यों न तारीफ करके जीविका चलावें! ऐसे लोगोंकी सारी जिन्दगी दूसरोंकी झूठी-सच्ची तारीफ करनेमें बीतती है। इसलिए तारीफ करनेवालोंसे थोड़ा सावधान जरूर रहना चाहिए, क्योंकि वे फँसा देते हैं! प्रशंसा-श्रवण भी एक प्रलोभन है! यदि कोई कहे कि आहा, आप सरीखा भक्त, भजन-परायण और सत्संगी महात्मा दूसरा कोई है ही नहीं, तो समझ लो कि यह वैसा ही है, जैसा चिड़िया फँसानेके लिए चारा डाला जाता है!

जो सन्त होते हैं, उनके मुँहसे सहज वाणी निकलती है! यदि वे प्रशंसा भी

करें तो यह नहीं समझना कि कुछ लेनेके लिए ऐसा कर रहे हैं। ऐसा भी होता है कि वे अपने हृदयमें अपनी आँखोंमें भगवान्‌की विद्यमानताके कारण सर्वत्र भगवान्‌के और सबमें भक्तिके दर्शन करते हैं! परन्तु यह सन्तोंकी बात है! आप यह अभिमान मत कर बैठना कि वैसा बड़प्पन हमारे पास भी है! वह तो उनकी नजर है, उनकी दृष्टि है!

उद्धवजीने पहले श्लोकमें प्रशंसा की है। दूसरे श्लोकमें यह बात बतायी गयी है कि बलराम और श्रीकृष्ण दोनों सृष्टिके आदि अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं। तीसरे श्लोकमें कहा गया है कि मृत्युके समय इनमें जो मन लगाता है, वह कर्मबन्धनसे छूटकर मुक्त हो जाता है, मोक्ष-पद प्राप्त कर लेता है! चौथे श्लोकमें यह बताया गया है कि जब तुमने भगवान्‌के प्रति प्रीति की, भक्तिकी तो अब तुम्हारे लिए क्या कर्त्तव्य शेष रह गया!

जहाँतक रामकृष्णमें भगवद्भाव करके अपनी बुद्धिको ईश्वराकार बनानेकी बात है, वह बहुत बढ़िया है! हमारे सनातन धर्मकी रीति तो आप लोग जानते ही हैं। यदि आमका फल हाथमें लेकर कहें कि यह साक्षात् शंकर भगवान् हैं और उसपर चन्दन-पुष्प चढ़ाकर 'नमः शिवाय'का जप करें, तो भी उसका फल प्राप्त हो जाता है। कोई कहे कि यह तो आमका फल है, शंकर कहाँ हुआ? यह शंकर हो या न हो, तुम्हें जो इसके माध्यमसे बार-बार शंकरकी याद आरही है और तुम्हारी चित्तवृत्तिमें जो बारम्बार शंकर आ रहे हैं, वही तुम्हारा कल्याण करेगा! श्रावणके दिनोंमें लोग पार्थिव बनाकर पूजन करते हैं! बायें हाथपर पार्थिवकी मूर्ति रखते हैं। उसपर मिट्टीका साँप बनाकर लपेट देते हैं। फिर अक्षत-चन्दन-पुष्प-धूप-दीप-नैवेद्य लाकर पूजन करते हैं और 'नमः शिवाय च नमो भवाय च' वेद मन्त्रका पाठ करते हैं। बाह्य वस्तु क्या है, इसका विचार किए बिना, अपनी चित्तवृत्तिका निर्माण कैसा हो रहा है—इसपर ध्यान रखना चाहिए! चित्तका निर्माण करना धर्मका काम है। वस्तुका निर्माण करना धर्मका काम नहीं, भौतिक विज्ञानका काम है, किन्तु उसमें भगवत्बुद्धि करके अपनी चित्तवृत्तिको भगवदाकार बनाना हमको इष्ट है! पानी, बर्फका टुकड़ा, मिट्टीका ढेला, आगकी लौ अथवा हवाका एक झोंका ईश्वर है कि नहीं, यह अनुसन्धान करनेकी आवश्यकता नहीं, उसमें ईश्वरभाव करनेकी आवश्यकता है! अपने माँ-बापमें, पतिमें ईश्वर बुद्धि करके उनकी उपासना करनेका उपदेश हमारे धर्मशास्त्रोंने दिया है। इसी लौकिक रीतिके अनुसार उद्धवजी रामकृष्णमें नन्दबाबाकी ईश्वर-बुद्धि करवाना चाहते हैं और कहते हैं कि ये प्रकृति-

पुरुष हैं, अनादि हैं! वैसे तो मालूम पड़ रहा है कि उद्धवजी बड़े ज्ञानकी बात कर रहे हैं, किन्तु नन्दबाबाके दृष्टिकोणसे देखो, तो मालूम पड़ेगा कि यह ज्ञानकी बात नहीं है। एक आदमी नलके नीचे नहा रहा हो और उससे कहा जाये कि तुम गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती आदि पवित्र नदियोंका स्मरण करो और समझो कि तुम्हारे सिरपर जो जल गिर रहा है, वह गंगा-जल है, तो इसमें भावका माहात्म्य है! क्योंकि वह वास्तवमें नहा रहा है नलके जलसे और भाव कर रहा है गंगा जलका इसलिए उसका भाव पवित्र हो गया, किन्तु एक आदमी खास गंगा-जलमें नहा रहा हो और कोई मुसलमान उससे कहे कि तुम दरियामें क्यों नहा रहे हो, तो न पूछनेवालेको और न नहानेवालेको मालूम है कि वह गंगाजल है। किसीने कहा—अच्छा भाई, समझ लो कि गंगामें नहा रहे हो—तो भला बताओ, वह गंगामें तो नहा ही रहा है, किन्तु उसको भ्रम हो जायेगा कि यह कोई दूसरी नदी है; सामने वाला व्यक्ति इसको गंगा समझनेके लिए कह रहा है! अब एक जन हैं; न वह गंगामें नहाते हैं, न गंगाका भाव करते हैं! उनके लिए तो अपनी लुटियाका पानी ही सर्वस्व है। तो, अपनी लुटियाके पानीमें नहा लेना और नलके जलमें गंगा-जलका भाव करना दूसरी स्थिति है तथा जिसको स्वयं गंगा-जल ही प्राप्त है, उसकी स्थिति दूसरी है।

नन्दबाबा और यशोदा मय्यासे यह कहना—कि तुम समझलो कि रामकृष्ण ईश्वर हैं, उनके लिए वज्राघातके समान है! इसीलिए नन्दबाबा डरे, उन्होंने सोचा कि ये हमारे बेटोंको प्रकृति-पुरुष बता रहे हैं, जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण बता रहे हैं, अनादि बता रहे हैं! इसका यह अर्थ हुआ कि हमारा लाला हमारा बाप है! यदि हमारे बलराम-कृष्ण जगत्के माँ-बाप हैं, तो जगत्में हम भी हैं! हमारा जो बेटा अपनी यशोदा मय्याके पेटमें रहा और हमारी गोदमें खेला, उसको सारे जगत्का बाप बताकर, ये हमसे उसे छीन तो नहीं रहे हैं। मथुरावासी बड़े बुद्धिमान् हैं। हम लोग तो बाबा, गाँवके रहनेवाले हैं, इतनी चतुराई नहीं जानते! ये नगरवासी ऐसी कोई राजनीति तो नहीं चला रहे हैं—कि हमारे बेटोंको सारी दुनियाके बाप बताकर हमसे अलग कर दें?

उद्धवजीने देखा कि नन्दबाबा खुश नहीं हो रहे हैं, बल्कि मन-ही-मन घबरा रहे हैं, तो वे दूसरी बातकी ओर उनका ध्यान आकर्षित करने लगे! उन्होंने प्रारम्भमें—

एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनि रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम्।

कहकर द्विवचनका प्रयोग किया था, किन्तु दूसरे श्लोकमें—

यस्मिनञ्जनः प्राणवियोगकाले।

कहकर एक वचन कर दिया! उन्होंने देखा, वसुदेव-नन्दन बलरामका समावेश होनेसे नन्दबाबाको कुछ ऐसा न प्रतीत हो—कि ये वसुदेवके बेटेको, अपनी जाति बिरादरीको, हमारे साथ मिला रहे हैं। इसी दृष्टिसे एकका नाम नहीं लेते, दोनोंका लेते हैं। अतः उद्धवजीने दूसरी बात फलकी दृष्टिसे बतायी—कि जो श्रीकृष्णमें मन लगायेगा—खास तौरसे मरते समय—उसका मन सर्वथा विशुद्ध होकर, परमाशयका भेदन कर देगा और ब्रह्ममय अर्कवर्ण अर्थात् सूर्यके समान प्रकाशमय, चेतन होकर परागतिको प्राप्त करेगा! यह बात तो बहुत अच्छी है! आप सभी लोग जानते हैं कि यदि मरते समय भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन हो, तो वह बड़ा कल्याणकारी है। यह बात गीतामें, उपनिषदोंमें आती है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ गी. ८.५

गीता कहती है कि शंका मत करो; यदि मरते समय भगवान्‌का स्मरण करोगे, तो तुम्हें स्वयं भगवान् मिल जायेंगे! आगे कैसा जन्म मिले, इसकी फोटो आखिरी क्षणमें ही खिंचती है! इसको ऐसे समझो कि किसी गोदाममें रोज किसी चीजके बोरे-पर-बोरे रखे जा रहे हैं! एक दिन गोदाम भर गया और उसमें-से सामान निकालनेका समय आया! अब उसमें-से सबसे पहले क्या निकलेगा? वही निकलेगा न, जो सबसे आखिरमें रखा गया होगा? क्योंकि पहले वाले तो दबते गये हैं और जो सबसे आखिरमें रखा गया, वही दरवाजेके सामने है! इसी तरह आदमी जिन्दगी भर भले ही बुरा काम करे, लेकिन अगर वह बुढ़ापेमें भी सुधर जाये, तो फिर सुधर जाता है! अरे भाई, बचपनमें जो गलती हुई, सो हुई, जवानीमें जो गलती हुई, सो हुई! हमारा मतलब यह नहीं है कि तुम बचपन या जवानीमें गलती करो; पर गलती हो गयी, तो हो गयी! अगर बुढ़ापेमें भी कोई अपनेको सुधार ले, तो उसका भला हो जाता है और अगला जन्म वहींसे शुरू होता है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव - भावितः॥ गी. ८.६

अन्तकालके स्मरणकी महिमा बहुत है! कैसे भी हो, अन्तकालमें भगवान्‌का स्मरण करो! इसीलिए उद्धवजी कहते हैं कि यदि अन्तिम क्षणमें भी, प्राणवियोगकी बेलामें भी कोई अपना मन भगवान्‌में लगा दे, तो उसके अन्तःकरणमें परिवर्तन हो जाता है, उसको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है!

उद्धवजीकी यह बात है तो बहुत बढ़िया, लेकिन बेमौकेकी है। इससे यशोदा मय्या और नन्दबाबा यह समझ सकते हैं कि अब हमको जिन्दगी भर कृष्णसे भेंट नहीं होगी। इसीलिए ये कहते हैं कि हम उनका स्मरण-ध्यान करें और उनकी याद करते-करते मर जायें, तो हमारा अन्तःकरण छूट जायेगा तथा हमको मुक्तिकी प्राप्ति होगी। क्या उद्धवजी यह कह रहे हैं कि अब जिन्दगी भर तुमको कृष्ण नहीं मिलेंगे? उनकी याद करते-करते मरो और मरनेके बाद उनको प्राप्त करो? यदि ऐसा कह रहे हैं, तो यशोदा-नन्दके लिए कितना कष्टप्रद है!

उपदेश देश-काल-पात्रका विचार करके ही देना पड़ता है! कई लोग सत्संगमें, कथा-प्रवचनमें कोई बात सुन लेते हैं और घर जाकर अपने लोगोंको धुआँधार सुनाने लगते हैं! यह विचार नहीं करते कि उनके चित्तकी स्थिति कैसी है। वे सुननेके लिए राजी हैं या नहीं। अरे, उनके ऊपर जबरदस्ती अपनी बात समझानेके लिए दबाव क्यों डालते हो?

इसी प्रसंगमें आपको बता दें कि आज हमारे पास एक वैदिक ब्राह्मण आये थे। छाछठ बरसकी उम्र है उनकी। शरीरपर झुर्रियाँ नहीं हैं, आँखोंपर चश्मा नहीं है और वे वेदोंके मन्त्र बोलते हैं। मैंने देखा—वेद-मन्त्र बोलते समय उनके मुँहकी अच्छी खासी कसरत हो जाती थी! हमको ऐसा लगा कि वेद-मन्त्रोंके उच्चारण द्वारा उनके मुखमें जो व्यायाम हो रहा है, रक्त-संचार हो रहा है, उसीसे इस बुढ़ापेमें उनका मुँह चमक रहा है, आँखोंमें अच्छी ज्योति बनी हुई है। दिमागको ठीक रखनेके लिए और वायुकी शक्तिको बनाए रखनेके लिए वेदमन्त्रोंका विधिपूर्वक, विवेक सहित, ठीक-ठीक पाठ करना एक प्रकारका दैनिक अभ्यास हो गया और उसकी झलक चेहरेपर आगयी! शरीरका स्वास्थ्य ठीक रहनेपर बुद्धि भी ठीक रहेगी और तभी ईश्वरके बारेमें चिन्तन हो सकेगा! यदि शरीर बिगाड़ दोगे, तो बुद्धि भी बिगड़ जायेगी और तुम्हारे भीतर दीनता-हीनता आ जायेगी!

अध्यात्म-विद्या जीवन जीनेकी एक कला है और बड़ी आनन्द-दायिनी है! इसको अभी सीखो और आनन्दमें मग्न हो जाओ! यह बिलकुल नकद सौदा है। जो धर्म-कर्म होता है, यज्ञ-याग होता है, वह मरनेके बादके लिए होता है! पण्डितको घरमें बुलाकर पूजा-पाठ करवा लो, दान करना हो, व्रत करना हो, तो कर लो! उसका सुफल मिलेगा! किन्तु भगवान्‌की कथा तत्काल अपने मनमें बैठाकर ध्यान करनेके लिए है, चिन्तन करनेके लिए है, अपने जीवनका निर्माण करनेके लिए है! यह अगले जन्मके लिए नहीं, अभीके लिए है! अगला जन्म तो

अपने आप सुधर जाएगा ! हमारा जो कर्माशय है, भाँति भाँतिके संस्कार हैं, तरह-तरह की वासनाएँ हैं, वे सब भगवान्‌की कथाके श्रवणसे कट जाती हैं।

उद्धवजी बात तो बिलकुल शास्त्रकी कह रहे हैं! वे बृहस्पतिके शिष्य हैं, बड़े भारी पण्डित हैं, विद्वान् हैं, परन्तु उनकी बात नन्दबाबाके गले नहीं उतरती। वे सुनकर भौंचक्के रह जाते हैं, उनका मुँह सूख जाता है।

नन्दबाबाकी यह स्थिति देखकर उद्धवजी यह सोचने लगे—कि मुझसे क्या गलती हो रही है! मेरा अमूल्य उपदेश सुनकर भी नन्दबाबाके भीतर कोई खुशी नहीं आरही है। उनका दुःख दूर नहीं हो रहा है; बल्कि वे और दुःखी होते जा रहे हैं।

यदि वक्ताकी बात श्रोताकी समझमें न आवे—तो इसमें श्रोताकी नहीं, वक्ताकी गलती होती है। यह वक्ताको स्वयं समझ लेना चाहिए। मुझे वकीलोंने बताया है, जब वह सुप्रीम कोर्टमें बहस करते हैं, तब जजको यह नहीं कहते कि हजूर, आपकी समझमें नहीं आया! ऐसा कहना अदालतके ऐटिकेटके खिलाफ है। वहाँकी सभ्यतामें ऐसी बात नहीं चलती! वहाँ तो यह कहना पड़ता है कि हजूर, हम आपको ठीक-ठीक नहीं समझा सके, यह हमारी गलती है। तो, उद्धवजी भी सोचते हैं कि उनके समझानेमें कोई-न-कोई भूल रह गयी है! इसलिए वे अनादि कालकी बात छोड़ देते हैं! भविष्यमें क्या होगा, इस बातको भी छोड़ देते हैं! अब उनको वर्तमानमें ले आते हैं और यह समझानेकी चेष्टा करते हैं—कि नन्दबाबा, इस समय तुम्हारे हृदयमें कृष्णके प्रति जो प्रेम है, इससे तुम कृतकृत्य हो गये हो और अब तुम्हारे लिए कोई सुकृत्य शेष नहीं रह गया है!

तस्मिन् भवन्तावखिलात्महेतौ नारायणं कारणमर्त्यमूर्तौ।
भावं विधत्तां नितरां महात्मन् किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम्॥ ३३॥

उद्धवजी कहते हैं कि आप दोनों उनसे प्रेम करते हैं, जो नारायण हैं, अखिलात्मा हैं, अखिल हेतु हैं, सम्पूर्ण जगत्‌के कारण हैं और सर्व-स्वरूप हैं!

इसपर मानो नन्दबाबा बोले—होगा कोई नारायण! लेकिन हम किसी नारायणसे प्रेम नहीं करते। हम तो बस, अपने लालाको जानते हैं। देखो, व्रजमें अब भी ऐसे लोग होते हैं, जो नारायणको नहीं जानते। यहि जानते हैं तो इसी अर्थमें जानते हैं—कि वह हमारे लालाका कोई पहरेदार है। कहते हैं—हे नारायण, तुम हमारे कन्हैया भैयाको सुखी रखना, इस बातका ध्यान रखना कि हमारा लाला सुखी रहे! इसलिए यदि कोई यशोदा मय्यासे कहे कि तुम्हारे लाला किसी कारणवश मर्त्यमूर्ति धारण करके धरतीपर आये हैं—**कारणमर्त्यमूर्तौ**। वे महापुरुष हैं, पृथिवीका भार

उतारनेके लिए, धर्मका संस्थापन करनेके लिए, अधर्मका विनाश करनेके लिए मनुष्य बनकर आये हैं, वास्तवमें वे नारायण हैं—इसका उत्तर यशोदा मय्या यही देंगी—कि अच्छा हमारा लाला नारायण है? मैंने जिसको पेटमें रखा, दूध पिलाया, माखन-मिश्री खिलाई, साँटी लेकर जिसके मुँहसे माटी उगलवाई, वह नारायण है? जिसको मैंने ऊखलसे बाँध दिया था, वह नारायण है? एक बार मैंने कहा कि बेटा, जरा बाट तो उठा लाओ! वह गया, उसने दोनों हाथ लगाकर बाट उठानेकी कोशिश की, लेकिन नहीं उठा, तो उसपर लेट गया! कुछ सुस्ताकर फिर उठाने लगा, तब भी नहीं उठा, तो उसका मुँह लाल हो गया और वह दोनों हाथसे बाट पकड़े-पकड़े मेरी ओर देखने लगा। बोला—कि मय्या, मुझसे नहीं उठता! हमारे उसी लालाको तुम कहते हो कि वह नारायण है? राम कहो, ऐसी बात मुँहसे मत निकालो! फिर कोई कहे कि अरी यशोदा मय्या! अरे नन्दबाबा! तुम्हारा भाव बड़ा विलक्षण है। वास्तवमें तुमने साक्षात् नारायणको ही अपना बेटा समझ लिया है। मनोविज्ञानकी रीतिसे ईश्वरका साधारणीकरण कर लिया है। वस्तुतः श्रीकृष्ण ब्रह्म हैं। वेदान्ती लोग ब्रह्मको बड़ा दुर्लभ बताते हैं और कहते हैं कि वह निराकार है, निर्विकार है, निर्गुण है, निर्धर्मक है। सारी सृष्टिसे परे है, अज्ञेय है! लोग यहाँतक कहते हैं कि ईश्वरको निराकार मानकर उसकी प्रजाकी सेवा करते जाओ! वह कभी तुम्हारे मन अथवा नेत्रोंसे दीखनेवाला नहीं! केवल उसके अस्तित्वको मानकर बैठे रहो।

यह तो वैसी ही बात हुई कि कोई सोलह वर्षकी नौजवान लड़की हो और उससे कह दिया जाए कि तुम्हारे भावी पति, जिनसे तुम्हारा ब्याह होनेवाला है, परदेशमें रहते हैं। वे कभी तुम्हारी जिन्दगीमें नहीं आवेंगे। तुमसे न तो मिलेंगे और न ब्याह करेंगे, उनको कभी देख भी नहीं सकोगी। लेकिन उनका नाम ले-लेकर तुम अपनी जिन्दगी बिताओ, तो किसी लड़कीसे ऐसा कहना क्या उचित है? क्या वह लड़की उस भावी पतिकी प्रतीक्षामें बैठी रहेगी? इसी प्रकार किसी जीवसे यह कहना—कि ईश्वर सर्वथा निराकार है, वह तुम्हारी आँखोंके सामने कभी नहीं आवेगा, तुम्हारे दिलमें कभी जाहिर नहीं होवेगा, तुम्हारे साथ उसका कोई रिश्ता-नाता नहीं जुड़ेगा, लेकिन तुम उसके नामपर बैठे रहो, वह भी अनन्त कालतक, तो नहीं, ऐसा नहीं होता है भाई! ईश्वरसे तो मिलना होता है! जो ईश्वर हमारी बुद्धिमें आ सकता है, वह हमारे मनमें आ सकता है, आँखोंसे देखा जा सकता है और हमारा बेटा हो सकता है! जो हमारे अन्तःकरणके भीतर देखनेवाला है, वही आँखोंके द्वारा बाहर देखनेवाला भी है! हमारा ईश्वर बहुत विलक्षण है! यह शुद्ध

चिन्मय है। इसमें प्रकृतिका संसर्ग नहीं है, जड़ता नहीं है! यह शुद्ध चेतन है! इसलिए उद्धवजी दुहराते हैं कि नन्दबाबा, तुम तो महात्मा हो, जो तुम्हारा श्रीकृष्णके प्रति ऐसा भाव है! अब तुम खूब आनन्दमें रहो। तुम्हारा कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा गया है!

उद्धवजी, तुम्हारे इस कथनमें भी बात ही ज्यादा है। अरे, भाव-ही-भावसे कबतक काम चलेगा? इसके पीछे कुछ ठोस पदार्थ न हो, तो कोई भावको लेकर खायेगा? मनके लड्डुओंसे पेट नहीं भरता, पेट भरनेके लिए तो सचमुचके लड्डू चाहिए। जीवनमें ईश्वर भी सचमुचका मिलना चाहिए, वह ठोस होना चाहिए। ऐसा होना चाहिए, जो हमसे हाथ मिलावे, हमारी आँखोंके सामने आवे और हमारे हृदयसे लगे। जब चित्तवृत्ति ईश्वराकार बनती है, मन तदाकार बनता है, तब ईश्वर भक्ति बनकर सामने आता है। ईश्वर केवल कल्पनाकी चीज नहीं है। कल्पनाकी वस्तु तो संसारके सम्बन्ध हैं, जो केवल मनसे बनाए हुए हैं, किन्तु भगवान्‌के साथ जो सम्बन्ध है, वह असली सम्बन्ध है।

अब उद्धवजीने देखा, कि मैं इतनी बड़ी-बड़ी बात कह रहा हूँ, लेकिन नन्दबाबाको वे सब छोटी लग रही हैं और उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है। तब उनको देवकी-वसुदेवकी याद हो आयी और वे मन-ही-मन उनके प्रेमसे यशोदा-नन्दके प्रेमकी तुलना करने लगे! उन्होंने सोचा, कि कभी-कभी देवकीके मनमें यह बात आती है कि कृष्ण हमारा बेटा है। हमारी गोदमें आकर जरा दूध तो पी ले। लेकिन इस डरसे उनका दिल काँपने लगता है, कि कहीं ईश्वरके बारेमें ऐसा सोचकर मैंने कोई अपराध तो नहीं किया। इसी तरह जब कृष्ण वसुदेवजीको प्रणाम करते हैं, तो वसुदेवजीका दिल धड़कने लगता है और वे असमंजसमें पड़ जाते हैं कि कृष्णके सिरपर हाथ रखें या नहीं? उनको उठाकर हृदयसे लगावें या नहीं? क्योंकि यह बेटा हुआ तो क्या? है तो ईश्वर ही!

कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ॥ भा. ४४.५२

एक बार देवकी-वसुदेवके पाँवपर श्रीकृष्ण और बलरामने अपने सिर रख दिये, तो वे दोनों पीछे हटने लगे और सोचने लगे कि आप तो जगदीश्वर हो, यह क्या कर रहे हो? अब बताओ, वे लोग क्या माखन-मिश्री खिलायेंगे और क्या अपनी छातीका दूध पिलायेंगे, जो ईश्वर-ईश्वर करके डर बैठे। लेकिन यशोदा-नन्दके यहाँ तो ज्यादा ऊधम मचानेपर चपत लगाने वाले मौजूद हैं। इसलिए ज्यादा प्रेम यशोदा-नन्दका है या देवकी-वसुदेवका? असलमें ईश्वर उसका बेटा होता है,

जो उसको अपना बेटा मान ले। इसी तरह ईश्वरको जो मित्र मान ले, उसका मित्र और जो पति मान ले उसका पति हो जाता है। अन्यथा इस स्तुति की कोई सार्थकता नहीं होती—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव-देव॥

यहाँ, प्रश्न उठ सकता है कि जो माँ-बाप है, यह 'सर्व' कैसे होगा? जब 'सर्व' होगा तब माँ-बाप नहीं होगा और माँ-बाप होगा तो सर्वम् नहीं होगा! इसका उत्तर है कि ईश्वरसे सम्बन्ध सब होते हैं। तुम कहो कि ईश्वर मेरे पति, तो ईश्वर तुम्हारा पति है। तुम कहो कि ईश्वर मेरे मित्र, तो ईश्वर तुम्हारा मित्र है, तुम कहो कि ईश्वर मेरा बेटा, तो ईश्वर तुम्हारा बेटा है, और तुम कहो कि ईश्वर मेरा स्वामी है, तो ईश्वर तुम्हारा स्वामी है। सम्बन्धका कोई भी भाव पक्का होना चाहिए!

देवकी-वसुदेवके वात्सल्य भावमें एक बाधा पड़ गयी! श्रीकृष्णने अपनेको चतुर्भुज रूपसे प्रकट करके अपनी पहचान करायी। उसीसे वात्सल्य भावकी सृष्टि नहीं हो सकी। देवकी-वसुदेवने अपनी आँखोंसे देख लिया कि अरे, ये तो चतुर्भुज हैं। इसलिए उनको बेटा माननेमें देवकी-वसुदेवका दिल काँपता है। इधर न यशोदाने कृष्णका चतुर्भुज रूप देखा और न नन्दबाबाने देखा! कभी विश्वरूप अथवा गोवर्धनधारी बन भी गये, तो यशोदा-नन्दने यही माना—कि यह ईश्वरकी कृपा है, ब्राह्मणोंका आशीर्वाद हैं या हमारी आँखोंकी गड़बड़ हैं! आपको याद होगा कि एक बार दूध पिलाते-पिलाते यशोदा मय्याके मनमें यह शंका हो गयी—कि लाला कहीं ज्यादा दूध पी गया तो इसको अपच हो जायेगा! देवकी मय्या जब खिलाने बैठती और श्रीकृष्ण दो-चार कड़ाही हलवा पूरी खा जाते, तो वे कहतीं—कि आज ईश्वर हमारे ऊपर खुश है, श्रीकृष्णने खूब खाया! लेकिन यशोदाके सामने कृष्णने अगर दो तोलेसे ज्यादा हलवा खाया, तो मय्याने छीन लिया; इसलिए कि अपच हो जायेगा! अब देखो, दो-चार कड़ाही हलवा खिलाकर खुश हो रही हैं देवकी और दो तोलेसे अधिक हलवा खानेकी चेष्टा करनेपर मना कर देती हैं यशोदा मय्या! दोनोंमें-से माताका भाव किसमें अधिक है? यशोदा मय्यामें अधिक है। यही ऐश्वर्य और माधुर्यकी उपासनाओंमें फर्क है। माधुर्यकी उपासनामें भावकी परिपक्वता है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

मोहि तोहि नाते अनेक मानिए जो भावे।
ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु चरण शरण पावे।।

उनकी अबतक की बातोंसे नन्दबाबाका दुःख और बढ़ता जा रहा है। तब वे सोचमें पड़ गये कि आगे क्या कहें? यदि इनको मिलनेकी बात बतावें, तो क्या कहें? अगर कह दें कि कृष्ण कल आयेंगे, परसों आयेंगे, चौथे दिन आयेंगे, तो आज तो ये लोग बहुत खुश हो जायेंगे और किसी तरह तीन-चार दिन काट लेंगे, लेकिन नहीं, तो फिर ये मर जायेंगे। यदि कह दें—कि पाँच बरस नहीं आवेंगे, तो ये इतनी लम्बी अवधि तक इन्तजार नहीं करेंगे, इनके प्राण छूट जायेंगे। यदि यह कहें—कि हम उनको जर्बदस्ती ले आयेंगे, तो मथुरामें कंसका ससुर जरासंध उत्पात मचानेवाला है। वह यदुवंशियोंको भून डालेगा, सबकी हत्या हो जायेगी! यदि यह कहें कि अच्छा, हम एक दिनके लिए कृष्णको ले आयेंगे, जब वे यहाँ आकर लौटने लगेंगे, तब ये उनका वियोग नहीं सह सकेंगे! इस प्रकार विचार करते-करते उद्धवजीको एक बात सूझी! वह यह कि कृष्णके लौटनेका आश्वासन तो दें, लेकिन समयकी सीमा न बतावें। भक्तके लिए यह एक ऐसा आश्वासन है, जिसपर भक्त जीवित रहता है—

आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः॥ ३४॥
हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम्।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत्॥ ३५॥

उद्धवजी बोले—नन्दबाबा, '**आगमिष्यत्यदीर्घेण**'—बहुत समय नहीं बीतेगा और श्रीकृष्ण व्रजमें आयेंगे। देखो, उद्धवजीके बोलनेका कैसा ढंग है। **आगमिष्यति**—आवेंगे—यह बात उद्धवजीके मुँहसे निकली नहीं, कि नन्दबाबा खिल उठे! अब उद्धवजीका पिछला सारा ज्ञान-विज्ञान धरा रह गया और नन्दबाबाको आयेंगे-आयेंगे-आयेंगेका आश्वासन मिल गया! भक्तोंकी महिमा बड़ी विचित्र है! आपने वह कथा सुनी होगी; एक बार नारदजी महाराज वैकुण्ठ जा रहे थे। रास्तेमें देखा, थोड़ी-थोड़ी दूरीपर दो वृक्ष थे और दोनोंके नीचे बैठकर भक्त लोग भजन कर रहे थे। नारद बाबाके मनमें आया कि इनसे मिलते चलें। एकसे मिले तो उसने पूछा—कि कहाँ जा रहे हो? नारदने कहा—कि वैकुण्ठ जा रहे हैं। उसने उत्तर दिया—अच्छा, नारायण भगवान्से हमारा प्रणाम कहना और पूछना कि मुझको कब मिलेंगे? दूसरेके पास गये, तो उसने भी यही कहा, कि हमारा प्रणाम कहना और पूछना कि भगवान् कब मिलेंगे? अब नारदजी पहुँचे वैकुण्ठ! नारायणने देवर्षिका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। जब वे चलने लगे तो उन्होंने भक्तोंकी बात पूछ ली।

नारायणने कहा कि जो भक्त पीपलके नीचे बैठकर भजन कर रहा है, उसको मैं बारह वर्षके बाद मिलूँगा और जो इमलीके नीचे बैठकर भजन कर रहा है, उसको इमलीके पेड़में जितने पत्ते हैं, उतने जन्मोंके बाद मिलूँगा! नारद बाबाने सोचा कि इमली वालेके पास तो क्या जाऊँ, बारह वर्ष वालेके पास जाता हूँ। उसके पास पहुँचे तो उसने पूछा कि महाराज, मेरी याद आयी। आपने नारायणसे पूछा? नारदने कहा कि हाँ भाई, मैंने पूछा, तो नारायणने कहा कि वे बारह वर्षके बाद तुमसे मिलेंगे। उसने कहा कि राम राम राम! हमको भजन करते बारह वर्ष तो व्यतीत हो गये। अभी और बारह वर्षके बाद भगवान् मिलेंगे? भाई, हमसे तो अब और बारह वर्षोंतक भजन नहीं होगा! जो भगवान् मुझे बारह वर्षोंतक भजन करनेपर भी नहीं मिला, उसका भजन क्या करना! उसने भजन करना छोड़ दिया और भगवान्‌को दो-चार जली-कटी भी सुना दी। नारदजीने सोचा कि जब बारह वर्ष वालेकी यह हालत है, तो इमलीके पत्तों जितना जन्म लेने वाले की क्या मनोदशा होगी! वह सुनेगा, तो मुझे मार ही डालेगा! इस भयसे वे रास्ता छोड़कर दूसरी तरफ जाने लगे। इमली वाले भक्तने यह देख लिया और पुकार कर पूछा—कि भगवान्‌ने मेरे प्रश्नके उत्तरमें क्या कहा? नारदजी बोले कि भाई, क्या बतावें? भगवान् तुम्हें इमलीके पत्तों जितने जन्म लेनेके बाद मिलेंगे। भक्त बोला कि अच्छा, भगवान्‌को मालूम हैं कि कोई उनसे प्रेम करता है, उनकी भक्ति करता है। अरे, वे मुझे इमलीके पत्तों जितने जन्म लेनेके बाद मिलेंगे! वह खुशीसे नाचने लगा और जब नाचने लगा तब नारायण भगवान् वहाँ प्रकट हो गये। तब नारदजी बोले—महाराज, आप बड़े ही झूठे हो! अभी तो एक जन्म भी इसका नहीं बीता और आप प्रकट हो गये। नारायण बोले कि नारदजी, इसकी प्रीति तो देखो। वह बारह बरस तक इन्तजार करनेको तैयार नहीं और यह इतनी-सी बातसे ही खुश कि मुझे इसका पता है, यह मेरा है और यह मेरा भजन कर रहा है। इतना ही नहीं, यह मुझे पानेके लिए इमलीके पत्तों जितने जन्म लेनेको तैयार है! दोनोंकी चित्तवृत्तियोंमें कितना अन्तर है नारदजी।

आगमिष्यति—भगवान् आयेंगे—भक्तोंके लिए बड़े आनन्दका सन्देश है। कब आवेंगे? तो—**अदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः**—उनके आनेमें बहुत समय नहीं लगेगा, थोड़े समयमें ही आयेंगे! कहाँ आवेंगे? तो यहीं, तुम्हारे घरमें आवेंगे—**प्रियं विधास्यते पित्रोः** और आकर अपने माँ-बाप अर्थात् आप लोगोंको वैसा ही प्यार देंगे, जैसा बचपनमें देते थे।

आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्त्वतां पतिः॥ ३४॥
हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्त्वताम्।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत्॥ ३५॥

आओ, अपने मनको भगवान्‌की लीलामें ले चलो! यह मन दिन-रात रुपये-पैसों, सगे-सम्बन्धियों और कपड़े-लत्तों आदिकी बातोंको सोचते-सोचते जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, भयभीत हो जाता है, बीमार हो जाता है। और इसकी वैसी ही दशा हो जाती है, जैसी उस नौकरकी जिससे कोई आदमी दिनभर काम तो ले, लेकिन उसके आरामका ख्याल न करे। इसलिए जहाँ प्रेमकी रज है, मधुकी वायु है, अमृतकी नदी है, भावके वृक्ष हैं और जहाँ स्वयं आनन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण अपनी आह्लादिनी शक्तिके साथ लीला-विलास करते हैं, उसी दिव्य भूमिमें अपने मनको ले चलना चाहिए! वहीं हृदयको शान्ति देनेवाली, आनन्द देनेवाली वस्तु है।

अब भक्तिभावकी बात करें। उद्धवजीने कहा कि नन्दबाबा, अब आप लोगोंके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रह गया है—किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम्। क्योंकि आप लोगोंने भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीके प्रति अत्यधिक प्रेम किया है। दुनियामें लोग अपने बाल-बच्चोंसे और देहसे प्रेम करते हैं, भगवान्‌से प्रेम कौन करता है? जिसके हृदयमें भगवान्‌के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाय, भगवान्‌की भक्ति आजाय, वह अमृतके समुद्रमें निमग्न हो जाता है। उसको गड्ढेके जलसे क्या काम है? हृदयकी पवित्रता जैसी भक्तिसे होती है, वैसी और किसी साधनसे नहीं होती! क्योंकि भक्ति भगवान्‌को हृदयमें प्रतिष्ठित कर देती है और जहाँ स्वयं भगवान् प्रतिष्ठित हों, वहाँ कोई अन्य कैसे रह सकता है?

अब जरा नन्दबाबाके पक्षकी कुछ बातें सुनो। बोले—उद्धवजी, तुम कभी कृष्णकी प्रशंसा करते हो, कभी हमारी भक्तिकी प्रशंसा करते हो! लेकिन हमारा दुर्भाग्य तो देखो; कृष्ण हमको मिलकर भी बिछुड़ गया! तब हमारे जैसे अभागोंकी तुम प्रशंसा क्यों करते हो? हमको रत्न मिला और खो गया। हमारे घरमें भगवान् आये और चले गये, लेकिन तुम हो कि हमारी प्रशंसा करते जाते हो! तुम्हारी यह प्रशंसा हमको शूलकी तरह चुभती है! क्या हम प्रशंसा सुननेके लिए ही जिन्दा रह गये हैं? उद्धवजी, तुम एक बार सच-सच बता दो—कि हमारी आँखोंका तारा,

हमारे हृदयका दुलारा, हमारे प्राणोंका प्राण, हमारा छगन-मगन, हमारा नन्हा-मुन्ना फिर कभी यहाँ आकर हमारी गोदमें खेलेगा या नहीं? अरे उद्धवजी, हमारा तो उसके सिवाय दूसरा कोई और है ही नहीं। तुम बताते हो—वह अनादि है, ईश्वर है। तुम बताते हो कि उसमें हमारी भक्ति है। तुम बताते हो कि उसमें मन लगानेसे सद्गति होती है। और मनुष्य इसी जीवनमें मुक्त हो जाता है। लेकिन उद्धवजी, हमको न अनादिकी जरूरत है, न परलोकमें जानेकी जरूरत है, न जीवन्मुक्तिकी जरूरत है। हमको तो हमारा वही लाला चाहिए। उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु हमको नहीं चाहिए। तुम क्यों व्यर्थमें ईश्वरका वर्णन कर रहे हो? हमारा ईश्वरसे कुछ लेना-देना नहीं है। हमें तो केवल कृष्ण चाहिए, हमारा प्यारा कृष्ण चाहिए।

आपको ज्ञात होगा, राष्ट्रकवि श्रीमैथिली शरण गुप्तका 'साकेत' नामक काव्य है। उसके प्रारम्भमें एक पद है—

'राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या?
तो मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे?'

अर्थात् हे राम! क्या तुम ईश्वर नहीं हो, मनुष्य हो? अगर तुम ईश्वर नहीं हो, तुम्हारे सिवाय कोई दूसरा है, तो वह ईश्वर अपने घरका ईश्वर बना रहे, हमको वह नहीं चाहिए। तुम ईश्वर हो, तब तो हमको ईश्वर चाहिए, क्योंकि हम आस्तिक हैं, भक्त हैं, लेकिन अगर तुम्हारे सिवाय कोई दूसरा ईश्वर है, तो वह हमको नहीं चाहिए। वह हमको माफ करे, क्षमा करे!

यह है भक्तोंकी मनोदशा। उद्धवजीने देखा, यदि इस समय हम ईश्वरकी बात करेंगे तो नन्दबाबाके चित्तपर उसका थोड़ा भी असर नहीं होगा। इसलिए आओ, एक बार नन्दबाबाके मनकी बात कर लें। जब इनका चित्त स्वस्थ हो जायेगा, तब इनको फिर ज्ञान की बात सुनायेंगे! उद्धवजी बोले—नन्दबाबा, जिसकी तुम इतनी फिकर कर रहे हो, वह आयेगा, जैसे मैं चुपचाप आगया हूँ। मेरे आनेका व्रजमें किसीको पता ही नहीं चला, क्योंकि सायंकाल चारों ओर धूल छा रही थी! कोई मुझे या मेरे रथको देख नहीं सका। इसी तरह एक दिन तुम्हारा वह श्याम सुन्दर, मुरली मनोहर, पीताम्बार-धारी, मोरमुकुटवाला, सांवरा-सलोना व्रजराजकुमार भी आ जायेगा—आगमिष्यति।

उद्धवजीकी बात है तो जरा-सी, लेकिन इसने नन्दबाबा और यशोदा मय्याको मानो जीवनदान दे दिया। वास्तवमें भक्तके लिए भगवान्‌के मिलनकी आशा सबसे बड़ी चीज है। यदि आशा बनी रही तो भक्ति और सेवा दोनों अनुवर्ती

हो जाती हैं। श्रुतिमें कहा गया है कि तुम्हारे साथ देहकी ममता बनी रहे, वह तुमको कभी नहीं छोड़े—यह हमारी कामना है। हम लोग वेदोंका बहुत महत्त्व मानते हैं। उनमें भी यह आया है—**आशा प्रतीक्षे संगच्छताम्**—आशा रखो और प्रतीक्षा करो; उम्मीद रखो और इन्तजार करो। तुम्हारे हृदयमें आशा और प्रतीक्षा संगत करें, मिलकर बैठें। तुम्हारे हृदयका समागम आशा और प्रतीक्षासे हो।

उड़िया बाबाजी महाराज कहते थे कि बरदाश्त करो; यह सिद्धि है। मैंने उनसे पूछा कि सिद्धि क्या चीज है? तो वे बोले—बरदाश्त करो। कोई भी चीज मीठी तभी होती है, जब आँचपर पका ली जाती है या गरमीमें पका ली जाती है! जो चीज आँच सहनेसे इन्कार करती है, कहती है कि मैं आगपर नहीं चढ़ूँगी, वह पकेगी कैसे? मीठी कैसे बनेगी? अगर तुम अपने दिलको मीठा बनाना चाहते हो, तो उसे तपने दो, पकने दो! डरो मत!

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज तथा श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज कहते हैं कि जब मनुष्यके जीवनमें ताप आता है, तब वह रसायन बनता है! जबतक मन्थन न होगा, तबतक हृदयमें अमृत कैसे प्रकट होगा? जबतक विषकी ज्वाला निकल न जाय, दिलमें उफान न आवे, तबतक शीतलताका अनुभव कैसे होगा? जो दुःख सहनेके लिए तैयार होता है, उसीको सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है। धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करो और आशा रखो।

आशाबन्ध समुत्कंठा नामगाने सदा रुचि।

शबरीके मनमें आशा बँधी हुई थी और वह प्रतीक्षा-निरत थी—कि अब राम आयेंगे, अब राम आयेंगे। एक भोजपुरी गीतकी पंक्ति है—

शबरी देखय ले सपनवा आजु घर रामा अइहैं ना।

मतलब यह कि शबरी रोज सपना देखती है कि आज हमारे घर राम आयेंगे जरूर आयेंगे! तो तुम भी यह विश्वास रखो—मुझको भगवान् मिलेंगे, भगवान्की भक्ति प्राप्त होगी, इन्हीं आँखोंसे भगवान्का दर्शन होगा और इसी जीवनमें भगवत्तत्त्वका साक्षात्कार होगा। तुम्हारे अन्दर जो कमजोरियाँ हैं, उन्हींके कारण निराशा होती है और यह अनुभव होता है कि हमारा मन चंचल है तथा हमारे मनमें वासनाएँ हैं! माना कि तुम्हारे मनमें वासनाएँ हैं, चंचलता है, लेकिन प्रतीक्षा करो। वह समय शीघ्र आनेवाला है जब वासनाओंका, अशान्तिका अन्धड़ और तूफान शान्त हो जायेगा! विश्वास रखो और उस घड़ीकी प्रतीक्षा करो, जब तुम्हारे मनमें न विकार होंगे, न वासना होगी और न चंचलता होगी! वह दिन दूर नहीं, जब तुम्हारा

मन मानसरोवरके समान स्वच्छ, शान्त और निर्मल होगा तथा उसमें भगवान् प्रकट होंगे। वह समय तुम्हारे जीवनमें शीघ्र आनेवाला है।

भक्तके लिए आश्वासन बहुत बड़ी बात है। यह नहीं समझना कि जबतक हम नीची स्थितिमें रहेंगे, तबतक भगवान् कैसे आयेंगे? भगवान्‌को नीची-ऊँची स्थितियोंकी चिन्ता नहीं है। भगवान्‌के सामने कौन कुमारी है, कौन विवाहिता है, कौन वृद्धा है, कौन अमीर है कौन गरीब है, कौन सुन्दर है, कौन कुरूप है—इसका कोई विचार नहीं है। वह तो जहाँ भी अपनी जरूरत देखते हैं, वहाँ कूद पड़ते हैं। महात्मा लोग कहा करते हैं कि तुम्हें श्रीकृष्णके मिलनमें निराशा कैसे होती है, जरा बताओ तो। जो जाम्बवान भालूकी लड़की जाम्बवतीसे ब्याह करनेमें नहीं चूका, उसके बारेमें यह समझना—कि वह हमको कुरूप अथवा निम्न कोटिका देखकर नहीं मिलेगा, बिलकुल गलत है! तुम चाहे जितने भी कुरूप हो, तुम्हारे दिलमें कितनी भी कालिमा हो, किन्तु श्रीकृष्ण तुमको मिल सकता है। अरे, जिसने कंसकी दासी कुब्जाको स्वीकार कर लिया, वह तुमको भी स्वीकार करेगा। जो शबरीके घर गया, वह तुम्हारे घर भी आयेगा। निराशा तुम्हारे मनमें नहीं आनी चाहिए। आशा बनाये रखो और प्रतीक्षा करते रहो। यही भक्तिका जीवन है। अगर तुम्हारे जीवनमें आशा-प्रतीक्षा नहीं होगी, तो भक्ति कमजोर पड़ जायेगी।

उद्धवजीने नन्दबाबासे कहा—**आगमिष्यति**—कृष्ण आयेगा! इसपर नन्दबाबाने पूछा कि कब आयेगा? अब जैसा कि कल बताया, उद्धवजी असमंजसमें पड़ गये, कि क्या बताया जाये? यदि थोड़ी अवधि बतावें और वे न आये—तो ये लोग मर जायेंगे और लम्बी अवधि बतावें, तो भी प्राण-त्याग देंगे! जल्दी आयेंगे अथवा देरसे आयेंगे, दोनों ही बात कहने लायक नहीं हैं। इसलिए उद्धवजी बड़ी चतुराईसे बोले कि—**अदीर्घेण कालेन**—अर्थात् उनके आगमन कालमें लम्बाई नहीं आयेगी, काल खिंचेगा नहीं, थोड़े ही समयमें आयेंगे। अब देखो, थोड़े ही थोड़े समय के माने क्या होते हैं? प्रतिदिनका समय थोड़ा ही तो होता है। आज आयेंगे, आज नहीं तो कल आयेंगे, कल नहीं आये तो परसों आयेंगे। इसी तरह प्रतिदिन, कल-परसों, कल-परसोंकी प्रतीक्षा होगी। मतलब यह कि श्रीकृष्णके आनेका इन्तजार रोज-रोज होगा! इसी तरह भगवान्‌के प्रेमियोंको हर रोज सबेरे उठते समय यही सोचना चाहिए कि बस, आज तो हमारा आखिरी दिन है, कल-परसों भगवान् हमको अवश्य मिलेंगे! धर्मशास्त्रोंमें भी यही लिखा है कि मनुष्य प्रतिदिन सबेरे उठकर यह सोचे—कि आजका दिन हमको ठीक-ठीक बिताना है, क्योंकि आजका

दिन ही हमारे हाथमें है। **गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्**—मौतने हमारा बाल पकड़ रखा है, आज ही घसीटकर ले जा सकती है, इसलिए धर्मका पालन पहले करना चाहिए। लेकिन मृत्युसे भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं है। मृत्यु सिरपर सवार है, तो भगवान् भी तुम्हारे हृदयमें विद्यमान हैं। यदि काल अपने पाँव जल्दी-जल्दी रखता है, तो भगवान्के पाँव भी धीमी गतिसे नहीं चलते, जल्दी-जल्दी ही चलते हैं। भगवान्की चाल इतनी तेज है कि वे रुक्मिणीसे विवाह करनेके लिए रातभरमें काठियाबाड़की द्वारिकासे सुदूर स्थित बरार-विदर्भके कुण्डिनपुर पहुँच गये। भगवान्की ऐसी आदत है कि दबे पाँव पहुँचकर प्रकट हो जाते हैं! उनकी यह आदत आजकी नहीं, बहुत पुरानी है; बचपनसे ही है। यशोदा मय्या देखती रह जाती थीं कि उनका लाला कहाँ गया, किधर गया और वे अपने पाँव दबाकर दाहिने-बायें देखते हुए न जाने कब पीछेसे आकर उनकी चोटी खींच लेते थे! वे पीछेसे आकर अपने दोनों हाथोंसे मय्याकी आँखोंको बन्द कर देते थे। मय्या पहचान तो जाती थी, पर कहती थी कि कौन है रे, कौन है रे, मैं तुझे पहचानती नहीं हूँ। इसपर वे जोरसे मय्याकी आँखोंको दबा देते थे। तो पाँव दबाकर चुपके-चुपके, जल्दी-से-जल्दी पहुँचनेकी जितनी सामर्थ्य भगवान्में है, उतनी सामर्थ्य कालमें नहीं है।

'अदीर्घेण कालेन'—का एक बहुत मजेदार अर्थ यह है कि दुःखका समय बड़ी देरीसे बीतता है और सुखका समय जल्दी बीत जाता है। शादी-ब्याह अथवा किसी उल्लास-विलासमें रात-दिन कब व्यतीत हो जाते हैं, कुछ पता ही नहीं चलता, लेकिन यदि कोई मर जाये और उसका मुर्दा घरमें पड़ा हो, तो क्षण-क्षण भारी पड़ता है। काल अपनेको दुःखमें लम्बा और सुखमें छोटा कर लेता है।

अब प्रस्तुत प्रसंगमें नन्दबाबाके सामने प्रश्न यह है—कृष्ण कितने दिनोंमें आयेंगे? उद्धवजी कहते हैं कि बाबा, काल अपनेको लम्बा न करके छोटा कर देगा, अर्थात् कृष्ण जल्दी ही आयेंगे और तुम सुखसे उनका दर्शन करोगे।

अब नन्दबाबाकी इस जिज्ञासापर—कि कहाँ आवेंगे, उद्धवजी कहते हैं—**व्रजम्**—व्रजमें आयेंगे। यहीं आयेंगे—जहाँ गौएँ चरती हैं, जहाँ ग्वाल-बाल खेलते हैं, जहाँ गोपियाँ दधिमन्थन करती हैं, जहाँ यमुना जल भरने जाती हैं!

अब नन्दबाबाके मनमें आशंका होती है और पूछते हैं कि उद्धवजी, यदि न आयें तो? क्योंकि प्रेममें अनिष्टकी आशंका अधिक होती है। कहा गया है कि—**अनिष्टा शंकिनि बन्धु हृदयानि भवन्ति**—अर्थात् भाई-बन्धुओंके, सगे-सम्बन्धियोंके दिलोंमें एक दूसरेके प्रति अनिष्टकी आशंका जल्दी हो जाती है। अतः नन्दबाबाकी

यह आशंका—कि यदि न आवें तो—स्वाभाविक है। इसपर उद्धवजी बोले—अच्युत—कृष्ण कोई ऐसे-वैसे नहीं, अच्युत हैं। अपनी प्रतिज्ञासे च्युत नहीं होंगे। उन्होंने आपसे जो लौटनेकी प्रतिज्ञा की है, उसे झूठी नहीं करेंगे। इसपर नन्दबाबाके मनमें मानो यह विचार आया कि वाह रे उद्धवजी, तुम तो हमारे लालाको अच्युत-अच्युत कहते हो, लेकिन वह कभी-कभी हमारे सामने झूठ बोल जाया करता था। एक बार जब उसने मिट्टी खायी थी, तब वह झूठ बोल गया था। अब देखो, जो पवित्रात्मा लोग होते हैं, वैदिक होते हैं, कर्मकाण्डी होते हैं, वे कहते हैं कि कृष्णकी यह लीला ठीक नहीं है। कई लोगोंने तो कृष्णपर आक्षेप कर दिया है—कि वे मिट्टी तो खागये, पर कह दिया कि मैंने नहीं खायी। उनका ईश्वरत्व झूठा है।

किन्तु विचार करके देखो, जो वैकुण्ठका स्वामी है, त्रिलोकीका नियन्ता है, चुटकी बजाते संसारका प्रलय कर सकता है, वह अपनी माँको कितना मानता है? माँ भी कैसी? बड़ी-से-बड़ी भक्त, बड़ी-से-बड़ी प्रेम-करनेवाली और अपने पेटसे जन्म न देकर भी उसको असली बेटा माननेवाली। उस मय्याको सर्वशक्तिमान् सर्वाधार, सर्वेश्वर इतना मानता है कि उसके सामने डर जाता है और इस डरके मारे—कि मय्या हमको पीटेगी—उसके सामने झूठ बोल जाता है। इतना ही नहीं, उसके हाथों बँध जाता है, पिट जाता है! उसका इतना कोमल हृदय, उसमें इतनी ममता, इतना पुत्रत्व—कि उसने अपनी जगदीश्वरताको मय्याके प्रेमपर निछावर कर दिया। नारायण कहो, इसीका नाम भक्त-वत्सलता है, इसीका नाम प्रेम-परवशता है! तो, यशोदा मय्याने ईश्वरसे प्रेम किया और ईश्वरने अपनी ईश्वरता छोड़कर मय्याको अपनी मय्या बनाया—

प्रेम कनोड़ो राम सों त्रिभुवन तिहुं काल न भाई।

नन्दबाबा कहते हैं कि भाई, हमसे तो हमारा लाला कभी-कभी झूठ बोल जाता है। उद्धवजीका कहना है कि नहीं-नहीं, वह अच्युत है। एक बार उसके मुँहसे जो बात निकल गयी, वह उसको सच करके रहेगा। तुम लोग उसमें असम्भावना मत जोड़ो, वह अवश्य आवेगा! अच्छा उद्धवजी, वह आकर क्या करेगा? उद्धवजी बोले—**प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः।**

अब उद्धवजीके इस सन्देशके सन्दर्भमें श्रीकृष्णके उस वचनको याद करो, जो उन्होंने उद्धवजीको व्रज भेजते समय कहा था—**पित्रोर्नो प्रीतिमावह**—उद्धवजी, तुम हमारे माँ-बाप यशोदा-नन्दके लिए अपने हृदयमें प्रेमभर कर ले जाओ और उनको आनन्दित कर दो। उद्धवजी अपने हृदयमें प्रेम भरकर लाये हैं कृष्णका और

बोलते हैं—नन्दबाबा, तुम सचमुच कृष्णके पिता हो, यशोदा मय्या, तुम सचमुच कृष्णकी मय्या हो और इस नाते तुम मेरे भी माँ-बाप हो! मैं सच कहता हूँ, हमारा कन्हैया मय्या आवेगा और '**प्रियं विधास्यते**'—जैसे पहले तुम्हारे हाथसे माखन-रोटी खाता था, वैसे ही फिर खायेगा। उसको तुम्हारे हाथका माखन जितना भाता है, उतना मथुरामें किसीके हाथका नहीं भाता। वह तुम्हारे पास आयेगा और पहले जैसी ही क्रीड़ा करेगा! मथुरामें वह कुछ दुबला हो गया है, तुम्हारे यहाँ आकर, तुम्हारे हाथसे माखन-मिश्री खाकर, खेल-कूद करेगा और फिर तगड़ा हो जायेगा! तुम उसको देख-देखकर खुश हो जाओगे!

अब इससे बढ़कर आनन्ददायी सन्देश माँ-बापके लिए और क्या हो सकता है? उनको तो इसी बातसे प्रसन्नता होती है कि उनका बेटा उनकी आँखोंके सामने आनन्दसे रहे! फिर भी नन्दबाबा बोले—भाई, अब तो वह मथुरामें ईश्वर बन गया है। वहाँका इतना ऐश्वर्य छोड़कर कैसे आयेगा? उद्धवजीने उत्तर दिया—नहीं बाबा, **भगवान् सात्वतां पतिः**—यद्यपि वह भगवान् हैं, यदुवंश-शिरोमणि हैं, तथापि जब उसने अपने ऐश्वर्यको तुम्हारे ऊपर न्यौछावर कर दिया है, तो क्या यदुवंशके पतित्वको तुम्हारे प्रेमपर निछावर नहीं करेगा? वह अपनी भगवत्ता छोड़कर भी तुम्हारे पास आयेगा!

यहाँ भागवतकी श्रीसुबोधिनी टीकामें श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने बड़ा विलक्षण भाव निकाला है! ध्यान रहे, भागवतपर एक सुबोधिनी राम प्रतापकी भी है। कई लोग उसको पढ़कर यह समझ लेते हैं कि हमने सुबोधिनी पढ़ ली है! पर श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजकी सुबोधिनी जैसी विशेषता उसमें नहीं है। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज अपनी सुबोधिनीमें कहते हैं कि उद्धवजीने—**प्रियं विधास्यते पित्रोः**—यह बात नन्दबाबाके कानमें, यशोदा मय्याको सुनाकर कही है। इसका मतलब यह है कि कृष्ण यहाँ आयेंगे, तो ग्वाल-बालोंसे नहीं मिलेंगे, गोपियोंसे भी नहीं मिलेंगे, क्योंकि गोपियोंसे मिलेंगे, तो फिर वे बहुत रोना-धोना करेंगी और कहेंगी कि अब यहाँसे जाओ ही मत! ग्वाल-बाल तो जबरदस्ती पकड़कर रख लेंगे। लेकिन तुम लोग तो माँ-बाप हो, बड़े-बूढ़े हो, उचित-अनुचित सब कुछ समझते हो! इसलिए रातमें सबसे छिपाकर गुप्तरूपसे एकान्तमें तुम्हारे पास आया करेंगे। पहले जब यहाँ रहते थे, तब दिनमें गोचारणके लिए बाहर चले जाते थे और तुम लोग घरमें रहते थे। दिन भर तो तुमको मिलते नहीं थे, रातको ही तुमको मिलते थे! इसलिए अब वे रातके समय प्रतिदिन तुम्हारे पास आजाया करेंगे! गाँवमें

किसीको पता नहीं चलेगा। जब सब ग्वाल-बाल सो जायेंगे, सब गोपियाँ सो जावेंगी, तब वे चुपके-चुपके तुम्हारे पास आयेंगे और अपने बाबासे मिलेंगे, अपनी मय्यासे मिलेंगे, अन्य किसीको नहीं मिलेंगे। यहाँ—**प्रियं विधास्यते पित्रोः**—में 'पित्रो' शब्दका प्रयोग करके यह विशेष बात कही गयी है कि कृष्णका आप लोगोंसे जैसा प्रेम है, वैसा प्रेम न किसी ग्वाल-बालसे है, न किसी गोपीसे है और न संसारमें किसी दूसरेसे है! केवल तुम लोगोंको प्रसन्न करनेके लिए यहाँ आयेंगे।

नन्दबाबा, यदि अब भी तुमको आशंका हो, कि वे मथुरासे कैसे आ जायेंगे तो देखो, मैंने अभी कहा है कि वे भगवान् हैं और सात्वतां पतिः हैं। जो भक्त है, उनकी रक्षा करना भगवान्का काम है! पति वह है, जो रक्षा करे—**पातीति पतिः**। पिता शब्द भी उसी धातुसे बनता है। दोनोंमें धातु एक ही है। पातीति पिता और पातीति पति। केवल प्रत्ययका भेद है! मूल धातुका भेद नहीं—

कौमारे पिता पाति यौवने पति पाति।

तो 'सात्वतां पतिः'का अर्थ है कि श्रीकृष्ण यदुवंशियोंके, भक्तोंके और सात्विकोंके—सबके पति हैं, रक्षक हैं। आप लोग आशा कर सकते हैं कि भगवान् हमारी रक्षा करेंगे। अगर आप अपने धर्मके पक्के हैं, तो ईश्वर आपकी रक्षा करेगा!

देखो, आजकल लोग बाहरसे तो धर्मकी बात बहुत करते हैं, किन्तु स्वयं धर्मके बलपर धर्मकी रक्षा नहीं चाहते, अधर्मके बलपर धर्मकी रक्षा चाहते हैं। इसी कारण धर्मकी रक्षा नहीं होती है। यदि कोई धर्मात्मा बनकर धर्मकी रक्षा करे, तो धर्मकी रक्षा अवश्य होगी। लोग भीतर-भीतर तो करते हैं अधर्म और करना चाहते हैं धर्मकी रक्षा। यह कैसे हो सकता है? अरे, भगवान् हमें बचानेके लिए नहीं आये, नहीं आये—यह कहते तो हो, लेकिन भगवान् कैसे आवें? वे तो वास्तवमें जो धर्मात्मा हैं, सात्वत हैं—उनकी रक्षा करते हैं।

हमारे एक मित्र यहीं बम्बईमें व्यापार करते थे। एक दिन उनके व्यापारमें ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी—कि यदि कल रुपये नहीं चुका सकेंगे, तो दिवाला निकल जायेगा! वे पूजा-घरमें चले गये और प्रार्थना की कि हे प्रभु, अब इज्जत बचाओ। प्रार्थना करते-करते रातके दस बज गये। वे उठे और नंगे पाँव, नंगे सिर माटुंगा की ओर निकल पड़े। रास्तेमें मोटरमें आते हुए एक सेठकी नजर उनपर पड़ी। उन्होंने मोटर रोक ली और पूछा—तुम यहाँ कैसे? बोले—हमको तो ख्याल नहीं रहा कि यहाँ कैसे आ गया? मुझे एक बातकी बहुत फिक्र है और उसी फिक्रमें मैं चल पड़ा। क्या फिक्र है? तो इतने रुपये मुझको चाहिए, नहीं मिलेंगे तो बस, मेरा दिवाला निकल

जायेगा। अब सेठके पास रुपये तो थे, पर वे देना नहीं चाहते थे। फिर भी उन्होंने कहा—अच्छा परसों तुम अमुक बैंकमें आना, वहाँ मैं अमुक समय मिलूँगा! हमारे पास बाहरसे रुपये आनेवाले हैं, आगये तो दे देंगे। अब जब हमारे मित्र उनके पास पहुँचे, तो बैंकमें पता चला कि उनके रुपये कई दिन पहलेसे आकर जमा हो गये हैं। इसलिए उन्होंने दे दिये। हमारे मित्रका दिवाला बच गया। वे आज भी जीवित हैं। मैं यह कह सकता हूँ कि वे सात्विक हैं, इसीलिए भगवान्‌ने उनकी सुन ली और उनका दिवाला होते-होते बच गया। ऐसी घटनाएँ और भी बहुत-सी हुई हैं, होती रहती हैं। तो जो सात्त्वत हैं, सत्त्वगुणी हैं, सतोगुणसे युक्त हैं, उनकी रक्षा भगवान् करते हैं।

सात्त्वतका अर्थ यदुवंशी भी होता है। भगवान् यदुवंशियोंके रक्षक हैं। उनकी रक्षा कभी खिला-पिलाकर करते हैं, कभी भूखे रखकर भी करते हैं। कभी दुलारते हैं—कि तुम हमारे बेटे हो, कभी तलवार उठाकर मार भी डालते हैं। भगवान् यदुवंशियोंकी रक्षा दोनों तरहसे करते हैं; किन्तु भक्तोंकी रक्षा कैसे करते हैं? भक्तोंके हृदयमें ऐसे प्रकट हो जाते हैं—कि उनका चोला रह गया या छूट गया, इसका कोई ख्याल नहीं करते। पराये आदमीकी रक्षा तो बाहरसे शिष्टाचार रखकर करनी पड़ती है, किन्तु अपने आदमीको तो नंगा करके भी खींचना पड़ता है। रक्षा करनेकी भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं। भगवान् सबकी रक्षा करते हैं। उन्होंने अपने यदुवंशियोंको पहले भेज दिया, फिर स्वयं गये। यह उनकी रक्षा ही थी।

हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्त्वताम्।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत्॥ ३५॥

उद्धवजी बताते हैं कि नन्दबाबा, तुम्हारे कृष्ण नाटक करनेमें बड़े निपुण हैं। उन्होंने जैसे रंगमंचपर कंसको मार दिया, वैसे ही वे नाटक-नाटकमें, खेल-खेलमें तुमसे मिल जायेंगे। उनका असली प्रेम तुम लोगोंसे है।

यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत्।

कृष्णने रंगशालामें, कंसको मारनेके बाद तुमसे जो यह कहा था—कि मैं आऊँगा, उसको वे सच करेंगे।

देखो, कृष्णकी यह विशेषता है कि वह आकर्षणका केन्द्र है। कृष्ण अपनी मुस्कानसे खींचता है, अपनी चितवनसे खींचता है, अपने सौन्दर्यसे खींचता है, अपने माधुर्यसे खींचता है, अपने सौरस्यसे खींचता है, अपने सौकुमार्यसे खींचता है, अपने सौमनस्यसे खींचता है, अपने प्रेमभावसे खींचता है, अपनी चमक-दमकसे खींचता है! अगर आपमें-से किसीका मन कृष्णकी ओर आकर्षित होता

हो, तो उसे रोकना मत, जाने देना। क्योंकि कृष्णकी ओर मन जानेमें तुम्हारी कोई हानि नहीं है, अपितु परमानन्द प्रदान करनेवाला है उसका आकर्षण!

वेदान्तका विचार करनेवाले लोग कभी-कभी इस बातसे डर जाते हैं कि कहीं उनका मन कृष्णकी ओर खिंचा, तो योगाभ्यास न छूट जाये, ध्यान न टूट जाये। लेकिन वही लोग अपने घर-संसारके सम्बन्धों और पदार्थोंका न जाने कितना चिन्तन करते रहते हैं। संसारका आकर्षण बढ़िया है या कृष्णका आकर्षण बढ़िया है? संसारमें मन खिंचनेकी अपेक्षा तो भगवान्‌की ओर मन खिंचना अच्छा है! क्योंकि संसारकी ओर मन खिंचनेसे वासना बढ़ती है, तथा भगवान्‌की ओर मन खिंचनेसे वासना मिटती है और परमानन्दकी प्राप्ति होती है!

नन्दबाबा, विश्वास करो कि कृष्णने जो वायदे किये हैं, वे झूठे नहीं होंगे! देखो, गीतामें भी तो उन्होंने एक वायदा किया है। वह यह—कि जो जिस भावसे मेरा भजन करता है, मैं उसी भावसे उसका भजन करता हूँ। इसलिए आप विश्वास करो कि आप एक बार भगवान्‌का नाम लोगे, तो भगवान् दस बार आपका नाम लेंगे। आप एक कदम भगवान्‌की ओर चलोगे तो वे सौ कदम तुम्हारी ओर बढ़ायेंगे! आप भगवान्‌से प्रेम करो और देखो कि इस संसारकी क्या दशा है। लोग पैसा खर्च करके सिनेमा देखने जाते हैं और वहाँसे क्या लेकर लौटते हैं? हमारा मकान ऐसा हो, हमारी स्त्री ऐसी हो, हमारा पुरुष ऐसा हो, उसकी बोलचाल ऐसी हो, हमारा शृंगार ऐसा हो, हमारी साड़ी ऐसी हो, हमारा पहनावा ऐसा हो। आजकल तो सुनते हैं कि ऐसे-ऐसे अपराध—चित्र बन रहे हैं, जिनकी नकल हमारे नौजवान करने लगे हैं। अधिकांश चलचित्रोंसे वासना भड़कनेके अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं होता! किन्तु किसी मन्दिरमें दर्शन कर आओ, शंकरजीपर एक लोटा पानी चढ़ा आओ, हर-हर-हर-महादेव कर आओ—तो देखो, उससे तुम्हारे चित्तको क्या मिलता है। वहाँ बिना पैसे की, बिना भोगकी, बिना वासना-पूर्तिकी शान्ति मिलती है। शरीर ही सब-कुछ नहीं है, दिल बड़ी चीज है। अगर तुमको संसारकी सब चीजें मिल जाये, तुम नोटोंपर चलो, सोओ या बैठो, तुम्हारा मकान सोनेका बन जाय और तुम्हारे घरमें बहुत प्रेम करनेवाले लोग हों, लेकिन तुम्हारे दिलमें शान्ति न हो तो सब व्यर्थ है। तुम्हारा दिल नहीं बना तो क्या बना!

हमारा तो अध्यात्म शास्त्र है, यह हृदयके निर्माणका, बुद्धिके निर्माणका शास्त्र है। यह हमारे अन्तरंग जीवनको निर्मल, उज्ज्वल, पवित्र बना देनेवाला शास्त्र है और मनको रसीला बनानेकी रासायनिक प्रक्रिया है। ✱

तेईसवाँ प्रवचन

मा खिद्यत माभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके।
अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि॥ ३६॥

जब उद्धवजीने कहा कि श्रीकृष्ण थोड़े ही दिनोंमें आयेंगे, तो यह बात नन्दबाबा और यशोदा मैयाको गोल-मोल लगी और असह्य हो गयी। वे लोग इस सोचमें पड़ गये कि उद्धवजी जो '**अदीर्घेण कालेन**' अर्थात् थोड़े दिनोंकी बात कर रहे हैं, उसका क्या मतलब है? थोड़े दिन मनुष्योंके, पितरोंके या देवताओंके? मनुष्योंके दिनोंकी सीमा कुछ और होती है, पितरोंके दिनोंकी सीमा कुछ और होती है और देवताओंके दिनोंकी सीमा कुछ और होती है। उद्धवजीकी बात तो राजनीतिज्ञोंकी बात जैसी लगती है, जिसके अनेक अर्थ होते हैं। इसलिए नन्द-यशोदाको इस बातका बड़ा खेद हुआ कि उद्धवजी न जाने क्या कह रहे हैं। पता नहीं हमारा प्राण हमारे पास लौटकर आयेगा या नहीं? प्राण क्या है? साँस होती है। वह निकलकर फिर लौट आये, तब तो मनुष्य जिंदा रहता है और यदि उसके लौटनेमें देर हो जाती है, तो जीवन समाप्त हो जाता है। जीवित रहने के लिए यह अनिवार्य है कि प्राणीके श्वास-प्रश्वास लगातार आते-जाते रहें; उनका ताँता न टूटे। नन्दबाबा और यशोदामैयाके प्राण श्रीकृष्ण हैं। वे जबतक प्रतिदिन गोचारणके लिए वनमें जाकर लौट आते थे, तबतक सबकुछ ठीक चलता था। यह उनके प्राणोंका, श्वास-प्रश्वासका गमनागमन था। पर श्रीकृष्णका मथुरा जाकर बस जाना, तो उनके प्राणोंका गमन हो गया। अब वह लौटें या न लौटें, इसकी चिन्ता है। नन्द-यशोदाकी पीड़ा वही व्यक्ति जान सकता है, जिसको कभी अपने प्राणोंसे प्रिय व्यक्तिके वियोगका अनुभव हुआ हो।

उद्धवजीने समझानेकी चेष्टा की—**मा खिद्यत महाभागौ**—यशोदा मैया, नन्दबाबा, तुम लोग बड़े भाग्यवान हो। इसलिए खेद मत करो। अब देखो, यहाँ भाग्यवान् शब्दका अर्थ क्या है, एक तो कृष्णका स्मरण होना ही बहुत बड़ा भाग्य है। फिर भगवान् पुत्र बनकर आजायें और उनके प्रति वात्सल्य-स्नेहकी पराकाष्ठा

हो जाये, तो यह मनुष्यकी महाभाग्यवत्ता है। इस सृष्टिमें इससे बड़ा भाग्य दूसरा कोई नहीं है, कि मनुष्य भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध बना ले। भगवान्‌के प्रति भाव बने, प्रेम हो और उनकी सेवा होती रहे—यह मनुष्यका परम सौभाग्य है। जो लोग अर्थको, रुपये-पैसोंको सर्वोपरि समझते हैं, वे जिसके पास धन अधिक हो, उसे भाग्यवान् कहने लगते हैं। जो लोग भोगको सर्वोपरि समझते हैं वे जिनको अच्छे-अच्छे भोग मिलते हैं, उनको भाग्यवान् मानते हैं। जिनको सत्सङ्ग बड़ा प्रिय है, वे सत्संगियोंको बड़ा भाग्यवान् कहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न मान्यताओंके अनुसार भाग्यवान्‌की परिभाषा है। किन्तु इस सृष्टिमें भगवान् ही जिसकी गोदमें आकर बैठ गया, उसके भाग्यका वर्णन कौन कर सकता है।

इसीलिए उद्धवजी कहते हैं—कि यशोदा मैया और नन्दबाबा, तुम लोग महाभाग्यवान् हो। स्वयं भगवान् तुम्हारी गोदमें खेल चुके हैं, तुम्हारे हृदयमें पैठ चुके हैं, तुम्हारी आँखोंमें समा चुके हैं। **मा खिद्यत**—तुम लोग खेदके पात्र नहीं हो, तुम्हें दुःखी नहीं होना चाहिए। भगवान् जिनको अपना माता-पिता मानते हैं, वे भी यदि खिन्न हों, दुःखी हों, तो इससे बढ़कर आश्चर्य क्या होगा?

यहाँ आपको एक बात सुनावें। प्रेम और दुःखमें कोई विरोध नहीं है। हृदयमें प्रेम हो और प्रेमी दुःखी हो—तो इससे प्रेम नष्ट नहीं हो जाता, दुःखी होनेसे तो प्रेम और बढ़ता है। प्रेमका विरोधी तो द्वेष है। यदि द्वेष चित्तमें आ जाये, तो प्रेम मिट जाता है। जो श्रीकृष्णके प्रेमी होते हैं, उनके चित्तमें दुःख तो आता है, क्योंकि प्रेम दुःखमें भी है, सुखमें भी है। प्रेम वियोगमें भी है, संयोगमें भी है। संयोगमें सुखी हो रहे हैं, वियोगमें दुःखी हो रहे हैं। वियोग भी प्रेमका ही विलास है और संयोग भी प्रेमका ही विलास है। जन्म होता है प्रेमसे, मृत्यु होती है प्रेमसे। मरते हैं अपने प्रियतमके लिए और जीते हैं अपने प्रियतमके लिए। लेकिन जब दिलमें द्वेष आजाये, घृणा आजाये, तब समझना कि अब प्रेमका दुश्मन आगया है। यदि कोई कहे कि हमारे हृदयमें श्रीकृष्ण से प्रेम है, लेकिन हम चींटीसे द्वेष करते हैं, तो इससे श्रीकृष्णका प्रेम क्यों मिटेगा? हमारा कृष्ण-प्रेम बना रहेगा और हम चींटीसे द्वेष करते रहेंगे—तो यह ठीक नहीं है। प्रेम और द्वेषका आधार अथवा पात्र है हृदय। उसीमें प्रेम भी रहता है और द्वेष भी रहता है और ये दोनों एक साथ रह नहीं सकते। इसको ऐसे समझो—कि जिससे द्वेष करते हो, उसकी याद आती है कि नहीं? आती है। उसके लिए दिलमें जलन होती है कि नहीं? होती है। तुम्हारे दिलमें द्वेषके कारण दुश्मनकी

याद भी आती रहे, उसके लिए तुम्हारा दिल जलता भी रहे और तुम कहो कि जिस समय हमारा दिल जलता रहता है, उस समय भी हम श्रीकृष्णसे प्रेम करते हैं—तो यह बिलकुल बेवकूफी, नासमझीकी बात है और कहना पड़ेगा कि तुम अभी भक्तिके मार्गपर चलते नहीं हो। भक्तिका मतलब होता है हृदयकी कोमलता और वह हर हालतमें बनी रहनी चाहिए। किसीके लिए किसी भी कीमतपर दिलमें जलन नहीं आनी चाहिए। जलन आगयी, तो रस कहाँ रहा? यदि चींटीसे भी दुश्मनी करोगे, तो प्रेम नष्ट हो जायेगा। दुश्मन वही होता है जिसके प्रति हम दुश्मना हो जाते हैं, दुर्मना हो जाते हैं। जब 'दुः' उपसर्ग मनके साथ जुड़ता है तो दुर्मना अर्थात् दुष्टमना हो जाता है। जब मन दुःमन नहीं होगा, तो दुश्मन कहाँसे होगा? तो देखो—कि तुम्हारे मनमें किसीके प्रति घृणा तो नहीं है, किसीके प्रति जलन तो नहीं है, किसीके प्रति द्वेष तो नहीं है, किसीके प्रति दुश्मनी तो नहीं है। यह ध्यान रखो कि चालबाजीके साथ भगवतप्रेमका कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई कहे कि हम भगवान्‌के भक्त भी हैं और दुनियामें चालबाजी भी करते रहते हैं, घृणा भी करते रहते हैं, द्वेष भी करते रहते हैं—तो समझलो कि वह झूठ बोलता है। ऐसे लोगोंको तो भगवान्‌से क्या अपनी स्त्रीसे, अपने बाल-बच्चोंसे भी प्रेम नहीं होता। क्योंकि किसीके हृदयमें जितनी देर द्वेष रहेगा, उतनी देरतक तो प्रेम नामकी चीज रह ही नहीं सकेगी। प्रेम रसीला है। वह कोई आगका अंगार नहीं है कि चित्तमें जलन पैदा करे। इसलिए चित्तमें दुःख आवे, तो कोई परवाह नहीं। प्रेमी लोग तो कहते हैं कि दुःखमें भगवान्‌की ज्यादा याद आती है—

सुख के माथे सिल परे जो हरि को नाम बिसराए।
बलिहारी वा दुःखकी जो पल-पल नाम रटाए॥

तो, भक्त लोग दुःख चाहते हैं, क्योंकि दुःखमें प्रभुकी याद ज्यादा आती है, और कहीं भक्तको यह पता चल जाये कि हमारे दुःख होनेसे प्रियतम सुखी हो जायेंगे—तब तो वह अपने दुःखको हजार स्वर्गसे बढ़कर समझेगा। हम कोटि-कोटि कल्पोंतक दुःख सहते रहें, किन्तु हमारे प्रियतमको सुख प्राप्त हो—यह कामना प्रेमीके लिए बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु है। इस तरह प्रेम और दुःखका विरोध नहीं है, किन्तु किसी विरही व्यक्तिको समझानेवाला आदमी यह कहे कि दुःख मत करो, प्रेमी तुम्हारी आत्मा ही है, तो यह ठीक नहीं है। दुःखमें किसीको वेदान्तका उपदेश नहीं करना चाहिए। अपने ऊपर दुःख पड़े, तब अवश्य वेदान्तका चिन्तन

करके उसे दूर करना चाहिए। जब दूसरा कोई रो रहा हो, उस समय उसके सामने ज्यादा ज्ञान न बघारकर, जिस प्रकार उसका दुःख दूर हो—वैसा उपाय करना चाहिए।

यदि उद्धवजी नन्दबाबासे यह कह देते—कि तुम स्वयं कृष्ण हो, कृष्णको क्यों चाहते हो, तो समझानेका यह तरीका ठीक नहीं होता! बल्कि यह बात बिलकुल अमनोवैज्ञानिक एवं मूर्खतापूर्ण हो जाती है। इसीलिए उद्धवजीने नन्दबाबाको समझाया कि श्रीकृष्ण जल्दी ही आयेंगे। तुम खेद मत करो। **द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके**—तुम देखोगे कि एक दिन तुम्हारे लाला तुम्हारे आस-पास, तुम्हारे आंगनमें खेल रहे हैं। अब नन्दबाबाने सोचा कि अरे, ऐसा होगा! लेकिन हम तो अभी देखना चाहते हैं।

देखो, यहाँ ईश्वर तत्त्वका बड़ा ही विलक्षण निरूपण है। कोई-कोई कहते हैं कि ईश्वर निराकार-ही-निराकार है और कोई-कोई कहते हैं कि ईश्वर साकार-ही-साकार है। जो युगल सरकार अर्थात् श्रीराधाकृष्णके, श्रीलक्ष्मीनारायणके, श्रीगौरीशंकरके, श्रीसीतारामके प्रेमी हैं, वे कहते हैं कि ईश्वर साकार-ही-साकार है। वस्तुतः ईश्वर निराकार है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, लेकिन वह ऐसा निराकार नहीं, जो आँख बन्द करनेपर कल्पनामें ही दिखता है, अपितु ऐसा निराकार है—जो निराकार रहता हुआ भी साकार है, साकार होता हुआ भी निराकार है और निराकार-साकार दोनों है तथा दोनोंसे न्यारा भी है। जब आदमीको किसी बातका पक्ष पड़ जाता है तब उसका दिल-दिमाग खराब हो जाता है और वह पक्षी हो जाता है—

सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला।
सपदि होहि पच्छी चांडाला॥

मनुष्यको हृदयमें उदारता धारण करके यह समझनेकी चेष्टा करनी चाहिए कि जैसे पृथिवीका एक स्थुल रूप है, जो दिखता है और दूसरा परमाणु रूप है, जो दिखायी नहीं देता तो पृथिवी साकार भी है, निराकार भी है। जैसे जल साकार भी है, निराकार भी है। अग्नि साकार भी है, निराकार भी है। वायु साकार भी है निराकार भी है। आकाश निराकार भी है, साकार भी है। ये सब कार्यरूप भी होते हैं और कारणरूप भी होते हैं—किसीके परमाणु होते हैं, किसीके परमाणु नहीं होते। वैसे ही ईश्वर साकार-निराकार, अणु-परमाणु, कार्य-कारण सब कुछ है। यह कहना—कि ईश्वर बिलकुल निराकार ही निराकार है, किसीने कभी ईश्वरको

किसी आकारका अनुभव ही नहीं किया—उचित नहीं है। क्या संसारमें ईश्वरका साक्षात्कार करनेवाले सब लोग अन्धविश्वासी ही हैं? अरे, यह सोचो—कि ईश्वरका किसी-न-किसी रूपमें जो अनुभव होता है, वह विलक्षण रूपमें होता है कि नहीं? वही विलक्षणता उसका आकार है। ईश्वर जब हृदयमें आता है, तब हृदयकार हो जाता है। आप लोगोंने वह शास्त्रार्थ सुना होगा, जो एक शांकर सम्प्रदायके सन्त और दूसरे रामानुज सम्प्रदायके संतके मध्य हुआ था। रामानुज सम्प्रदायके संतने शांकर सम्प्रदायके सन्तसे कहा—कि तुम तो कहते हो कि परमात्मा विभु है, व्यापक है, निराकार है, किन्तु हमारे यहाँ तो लिखा है कि वह अँगूठेके बराबर है और हृदयमें रहता है। शांकर सम्प्रदायके संतने उत्तर दिया—कि तुम भी तो कहते हो कि परमात्मा अणु है, अणु है। वह अणु अंगुष्ठमात्र कैसे हो गया? रामानुज सम्प्रदायके संत बोले—कि दिल अँगूठेके बराबर होता है, इसलिए अणुको भी उपाधिकी अपेक्षासे अँगूठेके बराबर कहा गया है। शांकर सम्प्रदायके सन्त बोले—कि ठीक है। है तो वह विभु, लेकिन उसको उपाधिकी अपेक्षासे अँगूठेके बराबर कहा गया है। तो विभु हृदयकी अपेक्षासे अँगूठे भरका, और अणु हृदयकी अपेक्षासे अँगूठे भरका। बात एक ही है, लेकिन दोनोंने उसके मुख्यार्थको ग्रहण नहीं किया। जब उन्होंने अँगूठे भरकी उक्तिको गौण मानकर संगति लगायी, तब लग गयी। अपने आप ही यह बात समझमें आगयी कि अंगुष्ठमात्र आकारवाली बात उपासनाके लिए है।

आप निश्चित समझो, कि जो चीज मनमें आजाती है, उसका दर्शन बाहर भी होता है। यह जो कहा जाता है कि मीराबाईको, सूरदासको, तुलसीदासको, रामानुजजीको, मध्वाचार्यजी आदिको भगवान्‌के दर्शन हुए, वह झूठी बात नहीं, बिलकुल सच्ची है। यदि तुम कहो कि हमारे गुरुजी जो कहते हैं, वह सच्चा और तुम्हारे गुरुजी जो कहते हैं, वह झूठा—तो यह तुम्हारी समझकी बलिहारी है। क्योंकि तुम्हारे गुरु सच्चे हैं, इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। निराकार बतानेवाले गुरु सच्चे और साकार बतानेवाले गुरु झूठे अथवा साकार बतानेवाले गुरु सच्चे और निराकार बतानेवाले गुरु झूठे—ऐसा मत कहो। शास्त्रमें दोनों तरहकी बातें लिखी हैं, दोनों प्रकारके अनुभव महात्माओंको हुए हैं। जिसका अनुभव हृदयमें होता है, उसका अनुभव बाहर भी, प्रत्यक्ष भी, आँखोंसे भी होता है।

अस्तु, जब उद्धवजी नन्दबाबासे कहते हैं—कि तुम देखोगे, तुम्हारे राम

और कृष्ण दोनों तुम्हारे पास, तुम्हारे कन्धोंपर तथा तुम्हारी गोदमें बैठकर, तुम्हारे आमने-सामने खेल रहे हैं, तो इसका हेतु क्या है? इसका हेतु यह है कि—

अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि

श्रीकृष्ण सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें बैठा हुआ है, वह तुम्हारे दिलमें भी है। अब यहाँ कोई कर्तृ अर्थात् कैंचीवाला हो तो क्या कहेगा? कर्तृको संस्कृतमें ऐसे समझिये—

कर्तृ कस्मात् असौ कृन्तति। कृन्तति इति कर्तृः।

कर्तृम् कर्तः। काटना। तो जो कर्तृ वाला, काटनेवाला मिलेगा, वह कहेगा कि तुम्हारा दिल छोटा-सा है, इसमें अगर कोई साकार ईश्वर आकर बैठेगा, तो यह फट नहीं जायेगा? माताके पेटमें जो नन्हा-सा बच्चा नौ-दस महीनोंतक रहता है, वह कितनी जगह घेर लेता है? उससे थोड़ा बड़ा मोर मुकुटवाला, मुरली मनोहर, पीताम्बरधारी तुम्हारे दिलमें बैठ जाये, तो उसके मुकुटकी, वंशीकी नोक तुम्हारे कलेजेमें नहीं गढ़ जायेगी? लेकिन यह तो कुतर्कियोंके तर्क हैं। भक्त लोग तो चाहते हैं कि उसके मुकुटकी नोक, वंशीकी नोक हमारे कलेजेमें गड़े। कुतर्कियोंको हृदयका परिमाण मालूम नहीं है। वे नहीं जानते, हृदयमें कितनी बड़ी-बड़ी चीजें समा जाती हैं। अरे भाई, हृदयमें पहाड़के आकार-प्रकारका ध्यान आता है कि नहीं? आकाशकी अनन्तताका ध्यान आता है कि नहीं? नगरोंका, मकानोंका, वनोंका ध्यान आता है कि नहीं यदि आता है तो क्या तुम्हारा हृदय फट जाता है? अरे भाई, यह तो ध्यानकी बात है। ध्येय जितना विशाल हो, हृदय भी उतना ही विशाल हो जाता है।

वेदमें उसको दहर और लोकमें हृद बोलते हैं। एक उपासनाका नाम दहरोपासना है। उसमें यह है कि ईश्वर तुम सबके हृदयमें है। तुम उसे देखते नहीं हो, तो अपराधी हो। यदि किसीके घरमें कोई राजा आकर बैठा हो और घरका मालिक दरवाजेके बाहर जाकर किसी दूसरेका इन्तजार करने लगे, तो क्या होगा? वह अपराधी घोषित करके जेलखानेमें भेज दिया जायेगा।

ईश्वर बैठा है तुम्हारे हृदयमें और तुम दरवाजेपर किसको देख रहे हो? जीवका सबसे बड़ा अपराध यही है कि उसके हृदयमें ईश्वर बैठा है, लेकिन वह उसको न देखकर किसी और को देखता रहता है—**अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते।** जीवके जीवनमें दुःख है ही, इसलिए वह भीतर बैठे हुए अपने परम प्रियतम प्रभुको छोड़कर, उसकी उपेक्षा करके किसी दूसरेका इन्तजार कर रहा है। परम

कृपालु कोमल-हृदय प्रभु हमारे हृदयमें बैठकर हमारी ओर देख रहे हैं, किन्तु हमने उनकी ओर पीठ कर दी है और हम सड़ककी ओर देख रहे हैं। वे हमको अपनी गोदमें लिये हुए हैं, अपना दूध पिलाना चाहते हैं और हम संसारका स्वाद ले रहे हैं। वे खुद हमारे साथ खेलना चाहते हैं, किन्तु हम गुड़ियोंके साथ खेल रहे हैं। कितनी बड़ी विडम्बना है, कितना बड़ा अपराध है मनुष्यका।

तो मानव, सावधान! करो अवधान! तुम्हारे हृदयमें ईश्वर है। तुम्हारा हृदय एक कमल है। उसमें बहुत बढ़िया और पीली-पीली गद्दी है, जिसे कर्णिका बोलते हैं। उसपर पराग है, मंजरी है, जीरे हैं, उसके चारों ओर पंखुड़ियाँ हैं और उसके मध्यमें तुम्हारा प्यारा बसता है।

ठीक है, माना कि हमारे हृदयमें हमारा प्यारा बसता है। किन्तु वह दीखता क्यों नहीं है? इसपर उद्धवजी दृष्टान्त देकर समझाते हैं—

अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि।

ईंधन और ईंधनमें रहनेवाली आगपर विचार करो। बड़ी अद्भुत बात है। ईंधन मिट्टीसे बना है। पत्थरका कोयला हो, लकड़ीका कोयला हो या खुद लकड़ी हो, सब मिट्टीसे बनते हैं। मिट्टीसे ही घड़ा भी बनता है। दोनोंमें क्या फर्क है? घड़ा पानीमें डूब जाता है और लकड़ी पानीमें नहीं डूबती। लकड़ी जलने लगती है और घड़ा नहीं जलता। इसका कारण क्या है? यही कारण है कि घड़ेमें प्रतिबन्धक ज्यादा है और लकड़ीमें प्रतिबन्धक कम है। लकड़ीमें जो आग है, प्रतिबन्धक हटते ही दियासलाईकी एक तीली जलानेपर जलने लगती है और घड़ेमें एक तीली नहीं, सौ तीली लगाओ तब भी उसमें आग नहीं जलेगी। इसीलिए ईंधनका दृष्टान्त दिया है। तात्पर्य यह है कि तुम ईश्वर रूपी ज्योतिको जगानेके लिए लकड़ी बनो, ईंधन बनो, घड़ा मत बनो। **ज्योतिरिवैधसि**—जलो, ईश्वरके लिए जलो। उसके प्रेममें व्याकुल होओ। उसी व्याकुलतामें ताप होता है। ताप माने पश्चात्ताप। सन्त कवियोंने बड़ा पश्चात्ताप प्रकट किया है—

ऐसे ही जनम समूह सिराने।
प्राननाथ रघुनाथ सो पति तजि सेवत पुरुष बिराने।

न जाने कितने ही जन्म व्यतीत हो गये, कितने ही पति मिले, कितनी ही पत्नियाँ मिलीं, किन्तु हम अपने असली प्राणनाथ परमात्माको छोड़कर दूसरोंकी सेवा करते आरहे हैं। इसमें कितना समय बीत गया, इसका हिसाब नहीं है। क्या

इसके लिए हमें कभी पछतावा होता है, दुःख होता है, दो बूँद आँसू गिरते हैं, दिलमें जलन होती है? अरे, यह ताप अथवा पश्चात्ताप ही तो ईश्वरको मिलाता है। अगर किसीके चित्तमें ताप न हो, ईश्वरकी प्राप्तिके लिए व्याकुलता न हो, तो उसको ईश्वर कैसे मिलेगा?

हँसि हँसि कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोये।

तुम बेटेके लिए रोते हो, धनके लिए रोते हो, कपड़ेके लिए रोते हो, इज्जतके लिए रोते हो, रिश्तेदारों-नातेदारोंके लिए रोते हो। तुम्हारा कोई सम्बन्धी बिछुड़ जाता है, तो उसके लिए मातम मनाते हो, लेकिन जन्म-जन्मके बिछुड़े हुए अपने प्यारे प्रियतम प्रभुके लिए तुम्हारे मनमें कोई दुःख नहीं होता। इस दुःखका न होना ही, व्याकुलताका न होना ही प्रतिबन्धक है। वह प्रतिबन्धक सत्संगकी लौसे जल जाता है और फिर हृदयमें ताप उत्पन्न कर देता है। इसलिए वैष्णव सम्प्रदायोंमें ताप नामका एक संस्कार कराते हैं। चक्राकार लोहेको आगमें तपाकर उससे शरीरके एक भागको जला देते हैं। उसका मतलब यही है कि जब हृदयमें ईश्वरके लिए ताप होगा, तभी वह मिलेगा। तो, जैसे ईंधनमें अग्नि रहती है, वैसे ही तुम अपने हृदयको ईश्वरके प्रेमकी अग्निमें जलानेके लिए ईंधन बनाओ। तब कौन प्रकट होगा? ज्योतिर्मय परमात्मा प्रकट होगा। जैसे बाहर दूधको पकाकर उसका दही बनाते हो, माखन बनाते हो, वैसे ही अपने दिलको भी पकाओ। ईश्वरके लिए दिलका परिपाक जरूरी है।

अब उद्धवजी ईश्वरके स्वरूपका आधान करते हैं। ईश्वर और सबको तो न मिले, किन्तु हमको मिले—यह बात मनमें क्यों आती है। सबको मिले और सबको न मिले, तो हमको जरूर मिले—इस भावनामें भी हमारे अन्दर कोई खास बात होनी चाहिए, कोई विशेषता होनी चाहिए, कोई सौन्दर्य होना चाहिए, जिसको देखकर ईश्वर मुग्ध हो जाये और हमसे आकर मिले। नहींजी, यह भी नहीं, ईश्वर ही हमसे प्रेम करे और ईश्वर ही हमारे पास आकर हमसे मिले। तो तुम क्या करोगे?

मैं बौरी ढूँढन चली रही किनारे बैठ।

अरे बाबा, तुम्हारी आँख बढ़िया है, कि तुम्हारे होंठ बढ़िया हैं, कि तुम्हारा दिल बढ़िया है, कि तुम्हारा श्रृंगार बढ़िया है? ऐसी क्या चीज है तुम्हारे पास, जिसपर ईश्वर लुभा जाये और तुमसे मिले? बोले—हम कैसे भी हों, ईश्वरको हमसे मिलना चाहिए। वह क्यों नहीं मिलता? हमसे प्यार क्यों नहीं करता?

नह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिनः।
नोत्तमो नाधमो नापि समानस्यासमोऽपि वा॥ ३७॥

यदि ईश्वर अपने नियमानुसार सबसे न मिले, तो वह भी पक्षपाती हो जायेगा। जैसे कोई मिनिस्टर अपने बेटेको ठेका दिलवा दे या कमीशन एजेण्ट बनवा दे, तो लोग कहेंगे कि उसने अपने बेटेके साथ पक्षपात किया और यदि उसके दुश्मनका बेटा बहुत योग्य हो, तब भी उसको कोई चांस न दे—तो कहा जायेगा कि उसने उसके साथ कठोरता बरती, द्वेष किया। तो, क्या ईश्वरको भी ऐसा ही करना चाहिए? नहीं, ईश्वर ऐसा नहीं करता। वह तो केवल यह देखता है कि मनुष्यके हृदयमें हमारे लिए कितनी लगन है। बस, इसके अतिरिक्त उसे कुछ नहीं चाहिए। जिस हृदयमें भगवान्‌के लिए व्याकुलता है, मचलन है, ललक है, उसमें और हृदयोंकी अपेक्षा विशेषता उत्पन्न हो जाती है और वह ईश्वरके प्राकट्यका आधार बन जाता है। मनुष्यको सगुण ईश्वरकी प्राप्ति तभी होती है, जब वह अपने हृदयमें उसके लिए विशेष स्थिति उत्पन्न करता है। किन्तु जब सारी विशेषताएँ मिट जाती हैं, निर्विशेषता रूप विशेषता आजाती है, तब वह निर्विशेष परमात्माकी प्राप्ति होती है।

उद्धवजी कहते हैं कि—**नह्यस्यास्ति प्रियः कश्चित्**—श्रीकृष्णका ऐसा कोई प्रिय नहीं है, जिसके लिए वे अपने नियम तोड़ें, और उनको कोई अप्रिय भी नहीं है, क्योंकि उनमें मान नहीं है। उनके लिए कोई बड़ा नहीं है, कोई छोटा नहीं है, कोई विषम नहीं है, वे सबके प्रति समान हैं।

उद्धवजीकी ये बातें कुछ ऐसी हैं, जिनको नन्दबाबा कुछ भौंचक्केसे होकर सुन रहे हैं और मन-ही-मन सोच रहे हैं, हम यह तो मानते हैं कि हमारा ईश्वर कृष्णके सिवाय और कोई नहीं है। यह खुशीकी बात है कि उद्धवजी बार-बार घुमा-फिराकर हमारे बेटेको ईश्वर सिद्ध कर रहे हैं। इसमें हमारी बातकी पुष्टि तो होती ही है। इस प्रकार नन्दबाबा बैठकर उद्धवजीकी बात सुनते हैं और विचार करते हैं।

❋

चौबीसवाँ प्रवचन

नह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिनः।
नोत्तमो नाधमो नापि समानस्यासमोऽपि वा॥ ३७॥
न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः।
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च॥ ३८॥
न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते॥ ३९॥
सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणोगुणान्।
क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः॥ ४०॥

नन्दबाबा ने कहा कि उद्धवजी! हमारा लाला अब मथुरामें रह रहा है। वह अभी भोला-भोला है, नन्हा-मुन्ना है, गाँवमें रहता आया है। उससे कोई दो-चार मीठी-मीठी बात कर ले तो वह तुरन्त उसके वशमें हो जाता है। यहाँ कई बार ऐसा होता था कि उपनन्द, सुनन्द, महानन्द हमारे घर आयें, उसे बड़े प्यारसे गोदमें बैठा लें, पूछें कि लाला तेरा बाप कौन है, तो वह हमारी ओर इशारा करके कहता—कि ये मेरे कोई नहीं हैं, मेरे बाप तो तुम्हीं हो। तो शहरके लोग बड़े चतुर, बड़े चालाक होते हैं। कहीं देवकी-वसुदेव उसको सिखा देवें कि हम लोग ही तुम्हारे असली माता-पिता हैं, तो वह उन लोगोंके कहेमें आजायेगा, उनके प्रेममें फँस जायेगा और फिर हमारे पास नहीं आयेगा? उद्धवजी बोले—नन्दबाबा, जिसको तुम भोला-भाला समझते हो, वह भोला-भाला नहीं है; वह तो साक्षात् ब्रह्म है—

नह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिनः।
नोत्तमो नाधमो नापि समानस्यासमोऽपि वा॥

तुम्हारा लाला श्रीकृष्ण अमान और समान है। उसमें मान नहीं है, अभिमान नहीं है। वह किसी प्रमाणके द्वारा जाना नहीं जाता। उसमें देश-काल-वस्तुका कोई परिच्छेद नहीं है, माप नहीं है, तौल नहीं है, लम्बाई-चौड़ाई नहीं

है और आयु भी नहीं है। इसीलिए वह अमान है। फिर सबके प्रति समान इसलिए है कि उसका न कोई प्रिय है, न अप्रिय है। क्योंकि प्रियता और अप्रियता तो जीव-धर्म है। जो अपना उपकार करे, उसे अपना प्रिय मान लेना, जो अपकार करे, उसे अप्रिय मान बैठना, प्रियके रागमें फँस जाना और अप्रियसे द्वेष करने लगना—यह जीवका काम है। जगत्के जीव ही मीठी-मीठी, चिकनी-चुपड़ी बातोंमें फँसते हैं और किसीने चार दिन खिला-पिला दिया, मुहब्बतकी नजरसे देख लिया, तो उसका गुणगान करने लगते हैं। किन्तु श्रीकृष्ण अवधूत हैं, वे किसीकी कृतज्ञताके फंदेमें फँसनेवाले नहीं हैं। तुम विश्वास करो, गाँठ बाँध लो कि देवकी-वसुदेव आदि चाहे कितनी भी मीठी-मीठी बातें करें, चाहे कितना भी खिलावें-पिलावें, लेकिन वे उनके प्रेमके बन्धनमें बँधनेवाले नहीं हैं। इसी तरह उनका कोई अप्रिय भी नहीं है। उनके लिए न कोई उत्तम है, न अधम है; सब बराबर हैं।

अब देखो, संसारमें उत्तम-अधम किसको मानते हैं? जो उदार होता है, दाता होता है, कृपालु होता है, कोमलचित्त होता है, वह उत्तम माना जाता है और जो बद्धमुष्टि होता है, कृपण होता है, वह अधम माना जाता है। पर भगवान् न तो उपकार करनेवालेके वशमें होते हैं और न अपकार करनेवालेसे नाराज होते हैं। वे न तो उत्तमकी चापलूसी करते हैं और न अधमकी निन्दा करते हैं। यदि कहो—कि वे स्वयं तो समान होंगे, किन्तु जो आदमी दूसरोंके साथ विषमताका व्यवहार करता है, उसको तो देखते ही होंगे। ठीक है, भगवान्को यह पहचान रहती है कि कौन स्त्री-पुरुष अपने-परायेके साथ पक्षपात या उपेक्षाका व्यवहार करते हैं, किन्तु वे उनको स्वयं दण्ड देने नहीं जाते; कहते हैं कि अच्छा बच्चू, तुमलोग जो कुछ कर रहे हो, उसका फल तो तुम्हें तुम्हारे कर्म ही दे देंगे। तुम्हारी अच्छाई-बुराई तुम्हारे साथ जुड़ रही है, वह अपने आप ही तुमको ठीक कर देगी। उसके लिए हमको कुछ करनेकी जरूरत नहीं है। इस प्रकार भगवान् ऐसे लोगोंके प्रति भी समान ही रहते हैं।

यदि यह कहो कि जिनमें सुन्दरता होती है, कुरूपता होती है, पांडित्य होता है, मूर्खता होती है, उनके साथ तो उनकी स्थितिके अनुसार भगवान् पक्षपात या उपेक्षाका व्यवहार करते ही होंगे तो इसका उत्तर है कि उनके साथ भी भगवान् विषमताका व्यवहार नहीं करते। वे तो जो सबकी उपेक्षा करता है, उसकी भी उपेक्षा नहीं करते।

यदि कहो कि जब भगवान्‌का रामाकार हुआ, तो कौशल्या उनकी माँ थीं, दशरथ उनके पिता थे, सीता उनकी पत्नी थी, लवकुश उनके पुत्र थे। अब कृष्णावतारमें देवकी आदि माता हैं, वसुदेव आदि पिता हैं, रुक्मिणी आदि पत्नी हैं, प्रद्युम्न आदि पुत्र हैं। इस प्रकार ईश्वरके भी अवतार लेनेपर सम्बन्धी तो हो ही जाते हैं। ठीक है, सम्बन्धी हो जाते हैं, किन्तु यह बात वहाँ होती है, जहाँ शरीर प्रकृतिके गुणोंसे बना हुआ होता है। जहाँ शरीर प्रकृतिके गुणोंसे नहीं बना है, वहाँ तो जो यह माने कि मैं ईश्वरकी माता हूँ, वह माता, जो यह माने कि मैं ईश्वरका पिता हूँ, वह पिता, जो यह माने कि मैं ईश्वरकी पत्नी हूँ, वह पत्नी और जो यह माने कि मैं ईश्वरका बेटा हूँ, वह बेटा। यहाँ तो भावकी बात है। तुम्हारा भाव कैसे जुड़ता है, कहाँ जुड़ता है और जुड़ता है या नहीं, यह देखो। भावकी प्रधानतासे ही यशोदा मैया माता है, देवकी माता नहीं है। भगवान्‌को जीवकी तरह रज-वीर्यमें प्रवेश करके कर्मके अनुसार जन्म नहीं लेना है। गर्भाधानके लिए पिताकी जरूरत नहीं है। उन्हें गर्भमें धारण करनेके लिए माताकी आवश्यकता नहीं है। विवाह करनेके लिए पत्नीकी अपेक्षा नहीं है। उनके तो संकल्पसे ही सृष्टि हो सकती है। वहाँ प्राकृत सम्बन्ध है ही नहीं, तो पुत्र कहाँसे उत्पन्न होगा। **नात्मीयो न परश्चाणि**—उनका न तो कोई अपना है और न पराया है। जिस गोत्र-सम्बन्धको लेकर अपने-पराये होते हैं, वह गोत्र-सम्बन्ध भी उनके नहीं हैं। वहाँ तो देह मूल ही गायब है, देह ही नहीं है।

नन्दबाबा उद्धवजीकी इन बातोंको सुनते जा रहे हैं। वे शिष्ट हैं, इसलिए बहस करना, शास्त्रार्थ करना उचित नहीं समझते, मौनभावसे यह अभिप्राय प्रकट कर रहे हैं कि अच्छा उद्धवजी, तुम्हें जो कहना हो, कह जाओ। हम तो अपने पुत्रके विरही हैं। किन्तु आप आगे सुनेंगे कि गोपियोंने उद्धवजीकी एक-एक बातका उत्तर दिया है। वे कहती हैं—

जो मुख नाहिन हुतो कहो कि माटी खायो।
जो पग नाहिन हुतौ कहो कि गाय चरायो॥

तुम कहते हो कि देह नहीं है, देह नहीं है। लेकिन अगर नन्दनन्दनके देह नहीं है, तो यहाँ मिट्टी किसने खायी थी। पाँव नहीं है, तो हमारी गायोंके पीछे-पीछे कौन घूमता था?

पर उद्धवजीका अभिप्राय दूसरा है। मनुष्यका शरीर देह-देही विभागसे युक्त होता है। मनुष्यके शरीर और ईश्वरके शरीरमें फर्क होता है। मनुष्यके अथवा

अन्य प्राणियोंके शरीरमें खास बात यह है कि जब उसमें-से जीव निकल जाता है, तब वह मुर्दा रह जाता है। मुर्दा अलग, जीव अलग। सूक्ष्म शरीरकी उपाधिवाला आत्मा उड़ जाता है अर्थात् सूक्ष्म शरीर उड़ जाता है और अभिमान किया हुआ आत्मा भी उड़ जाता है तथा मुर्दा पड़ा रह जाता है। किन्तु ईश्वरके शरीरमें देह-देही विभाग नहीं होता अर्थात् उसमें चेतन-आत्मा और जड़ शरीरका अलग-अलग अस्तित्व नहीं होता। ईश्वर सशरीर आते हैं और सशरीर चले जाते हैं। वे जब वैकुण्ठमें, गोलोकमें या साकेतमें जाते हैं, तो अपने शरीरके साथ ज्यों-के-त्यों अन्तर्धान हो जाते हैं। उनकी बुद्धिमें, उनकी वृत्तिमें, उनके अनुभवमें जड़-चेतनका भेद नहीं है; वे स्वयं चिन्मात्र स्वरूप हैं। उनके शरीरकी यह विशेषता है कि वे भक्तोंकी इच्छासे ही विग्रहवान बनते हैं। इस बातको मामूली लोग नहीं समझते। जिनका प्रेम जड़तासे है, वे यह जानते ही नहीं कि चेतनका स्वरूप क्या होता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि "न देहम्"—मैं देह नहीं हूँ। वास्तवमें जब देह और देही दो नहीं हैं, तो देह कहाँसे आया?

आनन्दमात्र करपादमुखोदरादि—ईश्वर-शरीरके जो अवयव हैं, वे आनन्दमात्र हैं। इसको ऐसे समझो कि एक शक्करका डला है। उसमें कारीगरने तिरछी-तिरछी आँखे बना दीं, तोते सरीखी तीखी नाक बना दी, मीठे-मीठे होंठ बना दिये, सुन्दर कपोल बना दिये, गोरोचनका तिलक लगा दिया, और इस प्रकार एक मूर्ति बन गयी। आपने दिवालीके दिनोंमें देखा होगा, हलवाई शक्करके खिलौने बनाकर बेचते हैं। शक्करकी डलीमें जो मूर्ति बनती है, खिलौने बनते हैं, उनके पाँव भी मीठे, नाक भी मीठी, सिर भी मीठा, हाथ भी मीठे, उनका सबकुछ मीठा होता है। इसी तरह भगवान्‌का जो शरीर बनता है, वह शक्करके स्थानपर आनन्दसे बनता है। आनन्दकी तो एक धातु है, उसमें भक्तका मन अपने संकल्पकी तूलिका लेकर कारीगरी करता है। आप भी ऐसा करके देखिये। मान लीजिये, आप भक्त हैं, कारीगर हैं, चित्रकार हैं। अपने मनमें एक आनन्दका डला लीजिये और उसमें अपने संकल्पकी, भावकी तूलिकासे बड़ी-बड़ी आँखें, ऊँचा ललाट, गोरोचनका तिलक, काले-काले घुँघराले बाल, वनमाला, हाथ-पेट-पीठ-पाँव आदि अवयव, पीताम्बर बाँसुरी बनाइये और फिर देखिये कि एक तस्वीर बन गयी। वह तस्वीर कैसी है? सच्चिदानन्दमय है और सच्चिदानन्दघनके मसालेसे बनी है। उसमें मूर्ति और मूर्तिमान, देह और देहीका भेद नहीं है। इसीसे भक्तजनोंका यह सिद्धान्त है कि—

देहदेहि विभागोऽयम् ईश्वरे न प्रवर्तते।

देह-देही विभाग ईश्वरको स्पर्श नहीं करता, ईश्वरमें नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें आया है कि महापुरुषके शरीरमें भी देह-देहीका विभाग नहीं है। क्योंकि जब वह अपनेको अद्वितीय ब्रह्मके रूपमें जानता है तब जड़की सत्ता मिट जाती है।

देहदेहिविभागोऽयम विवेककृतः पुरा।
जाति - व्यक्ति - विभागोऽयं यथा वस्तुनि कल्पितः॥

भा. ६.१५-८

यह श्लोक श्रीमद्भागवतके छठे-स्कन्धमें चित्रकेतुके प्रसंगका है। इसमें भगवान्‌ने कितनी अच्छी बात कही है। वे कहते हैं कि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय—इन पाँच कोशोंवाले देह और इससे न्यारे देहीका जो विभाग है, वह ज्ञान होनेसे पहले, परमात्माका स्वरूप न जाननेके कारण अर्थात् अविवेकके कारण बनाया हुआ है। जैसे मिट्टीमें एक घड़ा बना है और उसीमें घट और घटत्व, दोनों कल्पित हैं, वैसे ही देह और देही ब्रह्मवस्तुमें कल्पित हैं। जगत् भी कल्पित है, जीव भी कल्पित है, ईश्वर भी कल्पित है और जो ब्रह्म वस्तु है, अधिष्ठान वस्तु है, स्वयं-प्रकाश चिद् वस्तु है, अद्वितीय वस्तु है, उसमें न देह है, न देही है, न व्यक्ति है, न जाति है और न विशेष है, न परमाणु है। अरे वह क्या कोई जीव है, जो देहका अभिमान करके देही बना हुआ है? जब देही नहीं है तब उसका सम्बन्धी कौन और पराया कौन? उसका बेटा कौन और पत्नी कौन? उसकी माता कौन और पिता कौन? जब देही नहीं, तो फिर जन्मका क्या सवाल है? जीवका जन्म तो कर्मके अनुसार होता है? जीवके साथ उसका अन्तःकरण रहता है; अन्तःकरणके साथ तादात्म्य रहता है, पूर्वजन्मके कर्मोंके संस्कार रहते हैं और तब उसके अनुसार जीवका जन्म प्राप्त होता है। ब्रह्माजी जीवके पूर्वजन्मको देखकर, तब कर्मानुसार उसके अन्तःकरणको अभिव्यक्ति देते हैं, जन्म देते हैं। लेकिन हमारा ठाकुर, हमारा श्रीकृष्ण—उसने तो महाराज, ब्रह्माजीको वह चाँटा लगाया कि उसका प्रसंग कभी भुलाया नहीं जा सकता। आप भी आनन्द लीजिये। एक बार ब्रह्माजी उस वनमें गये जहाँ श्रीकृष्ण ग्वालबालोंके साथ गाय चरा रहे थे। वहाँ ब्रह्माजीने देखा—

बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।

तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः
स्वैः स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलि॥

१०-१३-११

श्रीकृष्ण अपनी बाँसुरीको फेंटेमें खोंसकर शृङ्ग और वेत्रको काँखमें दबाकर-हाथ पर भातका ग्रास लिए हुए हैं और ग्वालोंके बीचमें बैठकर खाते जा रहे हैं। उन्होंने न पाँव धोये हैं, न हाथ धोया है और न मुँह धोया है। ग्वालबाल भी अपना खाया हुआ अपने पत्तोंपर रखकर एक दूसरेका उच्छिष्ट, जूठा खा रहे हैं। यह सब देखकर ब्रह्माजीने कहा कि यह कैसा ईश्वर है, जिसके भीतर कोई विधि-विधान नहीं, जो शूद्रवत् आचरण करनेवाला है। यह कभी ईश्वर नहीं हो सकता। अब ब्रह्माजीने अपना वैभव दिखाया और मर्यादाके उल्लंघनके दण्डस्वरूप गायोंकी ग्वालबालोंकी चोरी करके उनको कहीं छिपा दिया। फिर मन-ही-मन सोचा कि देखें, यह क्या करता है। श्रीकृष्ण ब्रह्माजीकी करतूत समझ गये और उन्होंने ब्रह्माजीको छकानेका उपाय निकाला। देखो, यदि किसीको छकाना हो, तो उसे उसी विषयमें छकाना चाहिए, जिसमें वह निपुण हो। यदि वह उस विषयमें निपुण नहीं है और तुमने उसको दूसरे विषयमें छकाया, तो उसमें मजा नहीं है। संस्कृतके पण्डितके सामने अंग्रेजी बोलो और वह न समझे, तो कहो कि मूर्ख है। तो यह छकाना नहीं हुआ। अरे, संस्कृतके पण्डितको संस्कृतमें बोलकर छकाओ। कई लोग महात्माओंमें जाते हैं, तो नेता बन जाते हैं और नेताओंमें जाते हैं, तो महात्मा बन जाते हैं।

यत्र वैदिकाः तत्र वैयाकरणः यत्र वैयाकरणाः तत्र वैदिकः।

जहाँ वैदिक पंडित हों, वहाँ वैयाकरण बन जाते हैं और जहाँ वैयाकरण हो, वहाँ वैदिक बन जाते हैं और **यत्रा न्योभवत्तत्र चोभयः**—जहाँ वैदिक-वैयाकरण दोनों न हों, वहाँ कहते हैं कि हम तो वेद-व्याकरण दोनोंके पण्डित हैं और जहाँ दोनोंके पण्डित हैं, वहाँ बोलते हैं—कि बाबा, हम तो पढ़े-लिखे नहीं हैं। ऐसे काम नहीं बनता।

जब ब्रह्माजी बछड़ों और ग्वालबालोंको गायब करनेकी अपनी निपुणता दिखा चुके, तब श्रीकृष्णने कहा—कि अच्छा तुम सृष्टि-निर्माणमें निपुण हो, उसी विषयमें तुम्हारा वर्चस्व है। लेकिन तुम सृष्टि तभी बनाते हो, जब जीव हों, अन्तःकरण हो, संस्कार हो। अब देखो, हम कैसे सृष्टि बनाते हैं। फिर तो श्रीकृष्णने बछड़ों और ग्वालबालोंकी ऐसी सृष्टि बनायी, जिसमें न जीव था, न

अन्तःकरण था, न संस्कार था, न पंचभूतोंका मसाला था। उस दिन सृष्टिको देखकर बेचारे ब्रह्माजी भौंचक्के रह गये, उनके चारों दिमाग फेल हो गये, उनकी सफेद दाढ़ी अपने आप सिकुड़ने लग गयी और वे क्षमा याचनापूर्वक श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे।

यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत् कराङ्घ्रादिकं।
यावद् यष्टि विषाणवेणुदलशिग् यावद्विभूषाम्बरम्।
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद् विहारादिकं
सर्वं विष्णुमयं गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ॥

भा. १०.१३-१९

ऐसे ईश्वरके लिए यदि कोई कहे कि उसका जन्म वैसे ही हुआ, जैसे जीवोंका होता है, तो यह उसके अज्ञानका बोधक है। जन्म शब्दका प्रयोग ईश्वरके लिए नहीं किया जाता। यह नहीं कहा जाता—कि ईश्वरका जन्म हुआ, श्रीकृष्णका जन्म हुआ, उनका तो जन्म नहीं, प्राकट्य या प्रादुर्भाव होता है। यह समझनेकी बात है।

ना चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते॥ ३९॥

जहाँ तक कर्मका प्रश्न है, वह किया भले ही जाये, किन्तु सामान्यता हम बन्धनसे जितना छूटना चाहते हैं, उतना ही कर्ममें फँसते हैं। लोग कहते हैं—यह करना है, वह करना है, बस एक बेटा हो जाये, बेटेका व्याह हो जाये, बेटेका बेटा हो जाये, वह पढ़-लिख जाये; इस प्रकार कर्म कभी समाप्त होनेका नाम नहीं लेता। उसमें छह महीना, एक वर्ष, दो वर्ष करके उलझते जाते हैं। कर्ममें जो फँसाव है, उसका छूटना कठिन है।

अब आपको एक बात सुनाते हैं। भक्त लोग ज्यादातर गोपियोंके पक्षमें हो जाते हैं। गोपियोंके प्रति पक्षपाती होनेके कारण कृष्ण पक्षकी बात उनकी समझमें नहीं आती। किन्तु उन्हें समझना चाहिए कि एक कृष्ण पक्ष भी है। भगवान्‌की यह महिमा देखो कि उन्होंने शुक्ल पक्ष दे दिया अपने भक्तोंको और स्वयं कृष्ण पक्ष ले लिया अपने लिए। राधारानीका जन्म हो शुक्ल पक्षमें, हम कृष्ण पक्षमें ही जन्म लेंगे। तुम दिनमें जन्म लेना, हम रातमें जन्म लेंगे। किन्तु भगवान्‌की इतनी उदारताके बाद भी बहुतसे लोग कृष्णको भला-बुरा कहते हैं। यह आरोप लगाते हैं—कि उन्होंने वृन्दावन छोड़ दिया, व्रज छोड़ दिया, गोपियाँ

छोड़ दीं, ग्वाल-बाल छोड़ दिये, माँ-बाप छोड़ दिये। इसका कारण यही है कि लोग गोपियों और ग्वालोंसे तो जल्दी मिल जाते हैं, किन्तु कृष्णसे मिलना, कृष्णके साथ एकत्वका अनुभव होना बड़ा कठिन है। लोगोंको गोपियों-ग्वालोंके पक्षकी बात तो आसानीसे समझमें आजाती है, किन्तु कृष्णके पक्षकी बात जल्दी समझमें नहीं आती। हम कहते हैं कि वह कितना बड़ा महापुरुष है, जिसने इतने बड़े रागकी भूमिको चुटकी बजाते छोड़ दिया। श्रीकृष्णसे व्रजके पेड़-पौधे भी प्रेम करते थे, पशु-पक्षी भी प्रेम करते थे, नदी भी प्रेम करती थी, पहाड़ भी प्रेम करता था। व्रजका एक-एक व्यक्ति, एक-एक बेटी, एक-एक बहू, एक-एक माँ, एक-एक नानी, एक-एक दादी, सब-के-सब श्रीकृष्णसे प्रेम करते थे। किन्तु फिर भी वह उस प्रेम-भूमिको छोड़कर चले गये। क्या यह उसके वैराग्य और उसकी असंगताका द्योतक नहीं है? जरा एक बार ध्यान दो कि श्रीकृष्णके चित्तमें कितना महान् वैराग्य है, कितनी अद्भुत असंगता है, राग और ममत्वको काट डालनेकी कितनी बड़ी शक्ति है। देखो, कर्म कहीं भी कृष्णको स्पर्श करते हैं? लोग कहते हैं कि श्रीकृष्ण व्रजवासियोंको छोड़कर चले गये। तो क्या हुआ? मथुरामें कुब्जाको रख लिया, द्वारिकामें सोलह हजार एक सौ आठ राजकुमारियाँ इकट्ठी कर लीं। वे उनको चाहते थे, तभी तो वे भी उनपर मरती थीं और कहती थीं—कि इनसे हमारा ब्याह हो जाये! लेकिन लोग इस बातपर ध्यान नहीं देते कि वे सोलह हजार एक सौ आठ स्त्रियाँ कौन थीं। उन सबको भौमासुरने अपने घरमें बन्दी बना रखा था। जब वे मुक्त हुईं, तब संसारमें उनको कोई आश्रय देनेवाला नहीं था। सब कहते थे ये पराये घरमें रह चुकी हैं, इनको हम अपने घरमें रखकर समाजमें अपना नाम नहीं बिगाड़ेंगे। लेकिन श्रीकृष्णने कहा—इनको हम रखेंगे। अब इस बातको छोड़कर महात्माओंके शापपर ध्यान दो। उस शापमें भी प्रेरणा श्रीकृष्णकी थी। वे जानते थे, कि समयपर उस शापका उपयोग होगा। उन्होंने कोई वसीयतनामा नहीं लिखा। बहुओंके लिए अलग-अलग सम्पत्ति नहीं बाँटी। बेटोंके लिए जायदादका बँटवारा नहीं किया। किन्तु जब संहारका समय आया, तब बलरामके साथ मिलकर सबका संहार कर दिया। कहनेका मतलब यह—कि जैसे संसारके लोग आसक्तिके वश होकर, कामनाके वश होकर, सम्बन्धके वशीभूत होकर कर्म करते हैं, वैसे श्रीकृष्ण कर्म नहीं करते थे। यह कितनी बड़ी प्रशंसाकी बात है, कि उन्होंने सोनेकी नगरी द्वारिकाका—जहाँ उनके अपने

हजारों महल थे, पति-परायण पत्नियाँ थीं, बच्चे थे, राज्य था, वैभव था—अपने हाथों विध्वंस कर दिया। जो वैराग्य और असंगता व्रज छोड़नेके समय थी, वह द्वारिका छोड़नेके समय भी अखण्ड रूपसे बनी हुई थी। कृष्णका पक्ष दूसरा है और वह इतना उज्ज्वल है कि उसपर ध्यान देने मात्रसे हृदयान्धकार दूर हो जाता है।

श्रीकृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं, संसारके सम्बन्धोंमें फँसानेवाले जीव नहीं हैं। उन्होंने इसे छिपाया भी नहीं है, स्वयं सब-कुछकी घोषणा कर दी है—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफलस्पृहा।
इति मां योभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

गीता १४.४

श्रीकृष्ण कहते हैं कि किसी भी कर्मका लेप मुझपर नहीं है और मैं किसी भी कर्मका फल चाहने वाला नहीं हूँ। मेरे इस स्वरूपको जो जान लेता है, वह कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

इसलिए भाई, श्रीकृष्णको अपने सरीखा मत समझो—**न चास्य कर्म वा लोके**—जैसा कर्म लोगोंका होता है, वैसा कर्म श्रीकृष्णका नहीं है। **सदसन्मिश्रयोनिषु**—उनका अभिनिवेश किसी भी शक्ल-सूरतमें हो, कोई फर्क नहीं पड़ता। शक्ल-सूरतमें तो संसारी लोग फँसते हैं, ईश्वर नहीं फँसते। वे सद्-असद् योनियोंमें पैदा होते हैं। कभी सद्योनिमें राम-कृष्ण-वामन आदिके रूपमें देवता बनते हैं, कभी असद्योनिमें मत्स्य, कछुआ और सूअर बनते हैं। मछली बननेपर क्या उनके चरणारविन्दकी नखज्योति कहीं दिखती होगी? क्या हस्तकमलका पता लगता होगा कि कैसे हैं? कभी **मिश्रयोनिषु**—मिश्र योनिमें उत्पन्न होते हैं। मिश्र योनि माने हयग्रीव और नृसिंह हैं। हयग्रीवमें आधा घोड़ा और आधा देवता है। नृसिंहमें आधा पशु और आधा मनुष्य हैं। वे सब योनियोंमें अवतार लेते हैं। लेकिन कहीं भी, किसी भी आकृतिमें फँसते नहीं हैं। तब फिर सब काम अपने संकल्पसे ही क्यों नहीं कर लेते? ये सब बनने-बनानेकी क्या जरूरत है? इसका उत्तर यह है—कि यह उनका खिलवाड़ है। उनकी क्रीड़ा है। जब आप अपने बच्चेके साथ खेलने लगते हैं, तो कभी घोड़ा बनते हैं या नहीं? जब आप अपने बच्चेके लिए घोड़ा बन सकते हो, तो भगवान् भी अपने भक्तोंके लिए कभी-कभी घोड़ा बन जाते हैं, कभी शेर बनते हैं।

क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते।

यदि कहो—कि भगवान् यह सब बखेड़ा क्यों करते हैं, खेल क्यों खेलते हैं—तो इसका उत्तर यह है कि साधुओंके परित्राणके लिए करते हैं। गीतामें भी यही बात आयी है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे॥ गीता

वेदान्त-दर्शनमें एक सूत्र है—**लोकेवसत्तु लीलाकैवल्यं**—भगवान् कभी एकान्तमें रहते हैं और कभी समाजमें रहते हैं। मतलब यह है कि कभी लीला करते हैं, कभी अकेलेमें रहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य कभी लोगोंके बीचमें और कभी एकान्तमें रहना पसन्द करता है, कभी सोता है और कभी भीड़में बैठता है, उसी प्रकार भगवान् भी कभी लीला करते हैं और कभी अकेलेमें रहते हैं। भागवतमें इसकी व्याख्या है, देखें वेदस्तुति-प्रसंग।

भगवान् कभी अपनी मायाके साथ विहार करते हैं, तो कभी अपने आपमें ही विराजमान रहते हैं। यह उनका लीला-कैवल्य है।

भगवान्के अवतारका हेतु दुष्टोंका विनाश और साधुओंका परित्राण तो है ही, उनके दर्शनोंके लिए व्याकुल भक्तोंकी मनोकामना भी है। यशोदा मैया व्याकुल हो रही थीं कि भगवान् हमारे लाला बनकर कब हमारी गोदमें आवेंगे और कब दूध पीयेंगे। नन्दबाबा सोच रहे थे कि भगवान् कब आकर हमारे कन्धों पर बैठेंगे? वसुदेवजी इस चिन्तामें थे कि भगवान् कब हमारे घर प्रकट होंगे? इस प्रकार भक्तोंके मनमें जो लालसा थी, उसे यदि संकल्प-कल्पद्रुम भक्त-मनोरथ-चिन्तामणि भगवान् स्वयं आकर पूरी न करते, तो भक्त लोग मर ही जाते।

तो, भक्तोंकी लालसा-पूर्तिके द्वारा उनका तथा जगत्का मंगल करनेके लिए ही भगवान्का अवतार होता है।

❋

पच्चीसवाँ प्रवचन

सत्त्वंरजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान्।
क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः॥ ४०॥
यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते।
चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाहंधिया स्मृतः॥ ४१॥
युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान् हरिः।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः॥ ४२॥

उद्धवजीने देखा कि नन्दबाबा श्रीकृष्णको बेटा-बेटा कहकर उनकी यादमें घुलते जा रहे हैं। यशोदा मैयाकी भी वही स्थिति है। दोनोंका प्रेम बढ़ता जाता है, और व्याकुलता भी बढ़ती जाती है। इसलिए कोई ऐसी युक्ति करनी चाहिए कि इनकी व्याकुलता कुछ कम हो।

किसीको सान्त्वना देनेकी यही रीति है। पहले उसके मनसे अपना मन मिलाओ। उसके मनको अपनी ओर खींचो। यदि तुम उससे मन नहीं मिलाओगे, जोर-जबरदस्ती करोगे, तो वह तुमसे खटक जायेगा। फिर वह न तो तुम्हारे साथ मिलेगा और न तुम्हारे मनका काम करेगा? यहाँ नन्द-यशोदा अतिशय दुःखी हैं और उद्धवजी उनको सुख देना चाहते हैं। सुख-दुःख दोनों परस्पर विरुद्ध भाव हैं। इसलिए उद्धवजी नन्द-यशोदाके साथ दुःखी हो गये। उनका श्रीकृष्णके साथ बहुत-बहुत प्रेम है और वे उनके प्रतिनिधि बनकर आये हैं। उन्होंने बताया कि श्रीकृष्ण आयेंगे। नन्द-यशोदा भी यही चाहते हैं कि श्रीकृष्ण आवें। अतः उद्धवजी और नन्दबाबा एकमत हो गये। दोनोंकी राय मिल गयी। राय मिलनेसे नन्दजीका मन उद्धवजीकी ओर कुछ खिंचा। उद्धवजी यह समझ गये। उन्होंने सोचा कि अब नन्दजीके मनमें श्रीकृष्णके ईश्वरत्वका आधान किया जा सकता है। वे अभी यह नहीं समझ पा रहे हैं, कि नन्दबाबा और यशोदा मैयाके प्रेमकी ऊँचाई ईश्वरकी सीमाको पार किये हुये है। उनको श्रीकृष्ण ईश्वर हैं या नहीं, इसकी कोई परवाह नहीं है। वे तो अनजानेमें ही उससे प्रेम करते हैं, जो वस्तुतः शुद्ध ईश्वर है। यदि कोई मूर्खतावश प्रकृतिसे प्रेम करने लग जाये, राग-द्वेषसे अभिभूत हो जाये—तो ईश्वरकी चर्चा करके उसका अज्ञान दूर किया जा सकता है। उसके प्रेमको ईश्वरका निरूपण करके हल्का नहीं किया जा सकता। उसका प्रेम तो ऐश्वर्य देखकर भी हल्का नहीं पड़ता, बल्कि और बढ़ता है।

फिर भी उद्धवजी यशोदा-नन्दके सामने श्रीकृष्णके ऐश्वर्यका निरूपण कर रहे हैं। कहते हैं, कि हम जो श्रीकृष्णके अवतार-ग्रहणका प्रयोजन बता आये हैं, उसको समझो।

क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते।

साधु पुरुषोंके परित्राणका तात्पर्य है—भक्तजनोंके भावकी रक्षा। उनको कोई अपना स्वामी समझता है, कोई पति समझता है, तो कोई प्रियतम समझता है। उन सब भक्तोंको उनके भावोंके अनुसार श्रीकृष्णकी प्राप्ति हो तथा उनकी भक्ति और बढ़े एवं प्रगाढ़ हो—इसके लिए वे अवतार धारण करके आते हैं और क्रीड़ा करते हैं, खेलते हैं। ईश्वरके बारेमें यह सोचना सर्वथा असंगत है कि वह अपने आनन्दको, अपने ज्ञानको अथवा अपनी सत्ताको प्रकट नहीं कर सकता। एक ओर ईश्वरको ईश्वर मानना और दूसरी ओर यह मानना कि वह अपने सच्चिदानन्द रूपकी अभिव्यक्तिमें, अभिव्यंजनामें समर्थ नहीं है, ये दोनों मान्यतायें परस्पर विरोधी हैं। ईश्वर यदि ईश्वर है और यदि वह अपनेको अभिव्यक्त करनेमें असमर्थ है, तो फिर ईश्वर नहीं है। ईश्वरका यह मधुर ऐश्वर्य है कि उसके अन्दर अपनेको नन्हें-मुन्नेके रूपमें भी प्रकट करनेकी सामर्थ्य है। जो केवल अनन्तमें बैठा रहे, जो न तो ब्रह्माण्ड बनावे और न सृष्टिका निमित्त-उपादान कारण बने, जो ठोस धातु न हो—केवल भावात्मक हो, उस तत्त्वको हिन्दू धर्ममें ईश्वर नहीं मानते। वेदोंमें ईश्वर उसको कहा गया है, जो सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिका अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। नैयायिक लोग केवल निमित्तकारणको ही ईश्वर मानते हैं, उपादान कारणको नहीं। नास्तिक लोग निमित्तकारणको मानते ही नहीं। वे केवल उपादानको सृष्टि मानते हैं। उपासक लोग उपादानको नहीं मानते, केवल निमित्तसे ही सृष्टि मानते हैं। हमारे भाई मुसलमान और ईसाई भी उपादान कारण नहीं मानते। कहते हैं—ईश्वरने कहा 'कुन्' और सृष्टि हो गयी। मतलब यह कि ईश्वरके संकल्पसे ही सृष्टि हुई। चार्वाक आदि नास्तिक कहते हैं कि उपादान कारण मैटर है। वही अदल-बदलकर सृष्टि बन जाता है।

हमारे श्रीवैष्णव रामानुजाचार्य आदि यह मानते हैं कि वही एक अंशमें उपादान और दूसरे अंशमें निमित्त है। श्रीवल्लभाचार्य आदि मानते हैं कि परिणामी उपादान वह नहीं है, अविकृत उपादान है। निम्बार्काचार्य आदि मानते हैं कि शक्ति-विक्षेप ही उपादान है। अद्वैत वेदान्ती मानते हैं कि अभिन्ननिमित्तोपादान कारण विवर्ती है। उसमें कोई हेर-फेर नहीं, कोई संकल्प नहीं। यदि कहो कि ईश्वर और चाहे जो कुछ हो, है तो निर्गुण ही, जैसा कि इस श्लोकमें आया है—

सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान्।

अब यदि श्रीकृष्णको ईश्वर कहा जाये तो प्रश्न उठता है कि वह जगत्का निमित्त कारण है, कि उपादान कारण है, कि अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है कि विवर्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है? किसीको ईश्वर माना जाये, किन्तु उसको सृष्टि बनानेवाला न माना जाये और कहा जाये कि सृष्टिके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, तो वह वैदिक धर्मके अनुसार ईश्वर नहीं हो सकता। वेदोंमें कहा गया है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ये न जातानि जीवन्ति।
यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म जन्माद्यस्य यतः॥

स्वयं श्रीकृष्णने भी गीतामें छाती ठोककर कह दिया—**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते**—मैं सबका आदि कारण हूँ और मुझसे ही सबकी प्रवृत्ति हो रही है। इसलिए उद्धजीको यदि यह कहना है कि श्रीकृष्ण ईश्वर है, तो उन्हें यह बात समझानी पड़ेगी—कि उसीने सृष्टि बनायी है। अस्तु!

उद्धवजी बोले—**निर्गुणः**—ईश्वर वस्तुतः निर्गुण है। निर्गुण शब्दका अर्थ है—**गुणेभ्यो निष्क्रान्तः निर्गुणः**—जो गुणोंसे पार हो, उसका नाम निर्गुण होता है। इसमें जो 'नि' उपसर्ग है, वह क्रान्ताद्य अर्थमें है, निरामयक्रान्ताद्यस्यकंचनया। यह निर्मल है, माने गुणोंका मल इसमें नहीं है, यह गुणोंसे निराला है।

अब आपको एक हँसीकी बात सुनाऊँ। यह सुनी हुई हैं। आपने हिन्दीके प्रख्यात कवि निरालाजीका नाम सुना होगा। उनसे 'निर्मल' नामके एक सज्जन मिले। निर्मलजी यह नहीं जानते थे कि उनके नामके साथ भी 'निर्' उपसर्ग लगा हुआ है। वे बोले कि अरे यार निराला, तुमने अपने नाममें यह निर्-निर् क्या लगा रखा है? इसपर निरालाजी बोले, कि महाशय—मेरे नाममें-से निर् निकल जायेगा, तो आला बना रहेगा, लेकिन तुम्हारे नाममें-से कहीं निर् निकल गया, तो सिर्फ मल ही रह जायेगा।

यह निर् उपसर्ग निकाल देनेके अर्थमें है। जैसे निराना बोलते हैं—**गेहूँ निरा रहे हैं**। वस्तुको उसके गुणसे अलग करके समझना जिज्ञासुका काम है। इसको ऐसे समझो कि हम एक पद खूब अच्छे स्वरमें गा दें, तो आप झूम उठोगे। यह स्वर उस पदका गुण हुआ। परन्तु पदमें बात क्या कही गयी, यह समझनेकी चीज है। उदाहरणके तौरपर हम यह अच्छे स्वरमें गावें कि—'**बना दो बुद्धिहीन भगवान्**' अथवा '**बना दो विमल बुद्धि भगवान्**।' अब आप हमारे अच्छे स्वरपर तो झूम उठे, लेकिन मतलब किसीका भी न समझे—तो क्या होगा? आप गलेबाजीके गुणमें

फँस जायेंगे और उन परस्पर विरोधी अर्थोंवाले पदोंमें क्या कहा गया है, यह आपके पल्ले नहीं पड़ेगा। उनमें जिस तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है, उसपर आपकी नजर नहीं जायेगी। इसी फँसानेवाली चीजको वेदकी निरुक्तकी भाषामें 'बिल्म' कहा गया है। बिल्म माने फिल्म और फिल्म माने बनावटी दुनिया। आप बनावटी दुनियामें फँस गये, आपने असली चीजको नहीं देखा।

निर्गुण यह बतलाता है कि आप काले-गोरेमें मत फँसो। लम्बे-नाटेको अथवा मोटे-दुबलेको मत देखो। उसमें असलियत क्या है, यह देखो। एक पीतलकी सिल्ली पाव भर वजनकी हो—पालिश की हुई चिकनी और दूसरा तोले भर सोनेका एक छोटासा खुरदुरा टुकड़ा हो। आप पीतलकी सिल्लीको यह कहकर पसंद कर लें—कि वह भारी भी है, चमकता भी है और सोनेके टुकड़ेको यह कहकर छोड़ दें—कि वह छोटा है, खुरदुरा, इसकी बनावट अच्छी नहीं है, तो क्या होगा? यही होगा कि आपने पीतल और सोनेके तत्त्वको नहीं देखा, दोनोंकी असलियतको नहीं समझा। इसी तरह आपके सामने एक मालिक और दूसरा उसका नौकर खड़ा हो। नौकर की पोशाक अच्छी हो और मालिक लस्टम-पस्टम हो। आप नौकरको तो पसन्द कर लें और मालिकका तिरस्कार कर दें, तो क्या होगा? आप पोशाकमें फँस गये और असलियत छूट गयी। नौकरमें फँस गये और मालिक छूट गया।

तो गुण नौकर है और जो गुणोंसे ऊपर रहता है, वह मालिक है। **गुणेभ्यो निष्क्रान्ता**—ऐसे-ऐसे हजारों-लाखों उसके नौकर हैं। तो निर्गुणका तात्पर्य है—गुणमें नहीं फँसना, वस्तुकी जाँच करना। आजकल औरतें बाजारोंमें साड़ी खरीदने जाती हैं, तो डिजाइन देखती हैं, रंग देखती हैं, यह देखती हैं कि वह चमकीली है कि नहीं, आँखोंको खींचती है या नहीं, किन्तु उसका सूत कैसा है, उसकी बनावट कैसी है—इसपर उनकी दृष्टि कम जाती है। पालिश देखना, रंग देखना, डिजाइन देखना तो है, गुण देखना और उसका सूत देखना, उसकी बनावट देखना, उसका तत्त्व देखना नहीं है। ईश्वर निर्गुण है का मतलब ईश्वर उस सूर्यकी तरह है जिसमें-से कोटि-कोटि किरणें निकलती हैं, किन्तु वह स्वयं उन सबसे परे होता है।

क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः।

ईश्वर सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणको पकड़े हुए ऐसा लगता है—मानो वह गुणोंका भजन कर रहा है। श्रीकृष्ण जब अपने बालोंमें कंघी लगाने लगते हैं, तो लगता है कि बालोंके बड़े प्रेमी हैं। जब पीताम्बर सम्हालने लगते हैं तो मालूम पड़ता है कि पीताम्बरके बड़े प्रेमी हैं। अरे भाई, उनके लिए सँवरे हुए बाल और

पीताम्बर ही सबकुछ नहीं है, यह तो उनकी क्रीड़ा है। इसी प्रकार ईश्वरके लिए सृष्टिका निर्माण वैसा ही है, जैसे बच्चे घर-घरौंदा बनाते हैं। हमने देखा है, गाँवमें बच्चे मिट्टीसे गाय बनाते हैं, घोड़ा बनाते हैं, हाथी बनाते हैं, घर बनाते हैं। एक रईसके घरमें देखा, बच्चे रसोईघरमें जाते और उसमें-से गुँधा हुआ आटा निकालकर उससे तरह-तरहकी मूर्तियाँ बनाते और उनसे खेलते। एक घरमें बच्चोंको मोमसे खिलौने बनाते और उनके साथ खेलते देखा। इसी प्रकार ईश्वरके लिए यह सृष्टि एक खेल है और हमलोग उनके खिलौने हैं। किन्तु ईश्वरके ये खिलौने बच्चोंकी मिट्टी, मोम और आटेके बने हुए नहीं हैं। तब किसके बने हुए हैं—

आपुन खेल आपु करि देखे।
खेल संकोचे तब नानक देखे।

ईश्वर अपने आपको ही खिलौना बनाकर और स्वयं खिलाड़ी बनकर खेल रहा है, उसके सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं है। वह **सृजत्यवति हन्त्यजः**—गुणोंसे सृष्टि बनाता है, रक्षा करता है, नष्ट करता है और इन सबसे परे रहता है। इनके जन्मनेसे न जन्मता है, मरनेसे न मरता है, रहनेसे न रहता है, वह स्वयं अजन्मा है, अलेप है। किन्तु इन बातोंसे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि परमात्मा इस सृष्टिका कर्ता है। बोले—नहीं, कर्त्तापन तो जीवमें भी नहीं है, फिर ईश्वरमें कहाँसे होगा? अब जीवकी भ्रमरिका दृष्टिका दृष्टान्त देकर ईश्वरके कर्तव्यका निषेध करते हैं—

यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते।
चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाहं धिया स्मृतः॥४॥

यह भ्रमरिका दृष्टि क्या है? आपने देखा होगा, जब बच्चे खेलते हैं, तो हाथ फैलाकर बड़े जोरके साथ चारों तरफ घूमते हैं। घूमनेके साथ-साथ उनकी नजर भी घूमती है और उनको मालूम पड़ता है कि धरती घूम रही है। कभी-कभी तो वे लड़खड़ाकर गिर पड़ते हैं। सम्भवतः शहरके बच्चोंको ऐसा खेल खेलनेको नहीं मिलता होगा, लेकिन देहातके सब बच्चे जानते हैं कि उनके इस प्रिय खेलका नाम घुमरी-परेता है। तो इस 'घुमरी-परेता' नामक खेलमें बच्चोंको जो धरती, मकान, पेड़ अथवा अन्य चीजें मालूम पड़ती हैं, वही भ्रमरिका-दृष्टि है। इसी प्रकार यह जो देह है, इन्द्रियाँ हैं, इनमें चित्त बैठा हुआ है, वही चित्त कर्ता है और जो साक्षी आत्मा है, वह बिना किये ही इनके साथ अहं बुद्धि होनेके कारण कर्ता मालूम पड़ता है। तो, जब जीवात्माकी यह दशा है, तो परमात्मामें जो कर्त्तापन है, वह आरोपित है, वास्तविक नहीं है। वह उसमें मायाकी उपाधिसे कल्पित है।

इस तरह कृष्णके ईश्वरत्वका वर्णन करके अन्तमें उद्धवजीने नन्दबाबासे कहा—कि तुम जो कृष्णको बेटा कह रहे हो, इसको भी अनेकान्तिक समझो—

युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान् हरिः।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः॥ ४२॥

बाबा, तुम जो मानते हो कि कृष्ण हमारे ही हैं, उनपर केवल अपना ही हक है—यह कहाँतक ठीक है? जरा दूसरोंपर भी तो नजर डालो। यदि वे तुम्हारे बेटा हैं, तो दूसरोंके भी तो कुछ हैं। क्या तुम उनको अपना-अपना करके दूसरोंसे छीनोगे? तुम जो देवकी-वसुदेवपर यह दोषारोपण करते हो—कि उन्होंने हमारे बेटेको छीन लिया, वैसे ही तुम भी तो उनको अपना बेटा बनाकर दूसरोंसे छीनना चाहते हो। **युवयोरेव नैवायमात्मजो**—कृष्ण केवल तुम्हीं दोनोंके बेटे नहीं हैं, दूसरे भी जो उनको प्रबल भावसे बेटा मानते हैं, उनके भी बेटा हैं। बेटे केवल देह-सम्बन्धसे ही नहीं होते, भाव-सम्बन्धसे भी होते हैं। कृष्ण हमारा बेटा है, यह बात दूसरी है और हमारा बेटा कृष्ण है, यह बात दूसरी है। हमारा बेटा कृष्ण है, यह तो संसार है और कृष्ण हमारा बेटा है, यह भक्ति है, प्रीति है। खुशामदी लोग बोला करते हैं कि 'दिल्लीश्वरो या जगदीश्वरो वा'—जो दिल्लीका मालिक है, वह सम्पूर्ण जगत्का मालिक है। किन्तु उनको इसका पता नहीं रहता कि दिल्ली जगत्के किस कोनेमें है। अपने रागास्पदको ईश्वर बनाना, उनको धोखा देना है। दुनियाके लोग अपने प्रेमी और प्रेमिकाओंको फँसानेके लिए—तुम हमारे हृदयेश्वर हो, प्राणेश्वर हो, सर्वेश्वर हो—बोला करते हैं। किन्तु यही बातें यदि सच्चे हृदयसे भगवान्के प्रति कही जायँ और उनको अपना स्वामी, सखा, मित्र, पुत्र आदि माना जाये, तो उससे चित्तमें भावका निर्माण होता है और वह मनुष्यको संसारके बन्धनसे मुक्त करता है। वह मुक्त करनेवाला भाव है। तो नन्द बाबा, कृष्ण केवल तुम्हारे ही बेटे नहीं हैं, ये तो '**भगवान् हरिः**'—भगवान् हैं, हरि है। हरिका अर्थ है—अपने प्रेमियोंका दुःख हरण करने-वाला। यह बात शर्त लगाकर कही जा सकती है कि तुमको जितनी देरतक भगवान्की याद रहेगी, उतनी देर तक दुःखकी याद नहीं रहेगी और जितनी देरतक अपने दुःखकी याद रहेगी, उतनी देरतक भगवान्की याद नहीं रहेगी। इसलिए, सब दुःखोंसे छूटनेका उपाय है भगवान्का स्मरण-'**हरिः स्मृतिः सर्व विपद् विमोक्षणम्।**' दुनियादार लोग जो यह कहते हैं कि हम इतना अन्न-वस्त्र पैदा करेंगे, इतने मकान बनावेंगे, ऐसी दवाएँ निकालेंगे कि लोग मरेंगे नहीं, लोगोंकी उम्र बढ़ जायेगी और हम अपने देशवासियोंको सुखी करनेके लिए भौतिक सम्पत्ति, भौतिक समृद्धि बढ़ा रहे हैं—

इससे मनुष्यके मनका दु:ख जानेवाला नहीं है। क्योंकि दु:ख तो मनमें होता है। क्या कोई करोड़पति ऐसा है, जिसको कोई दु:ख न हो? अरे, जिसके पास जितना ही ज्यादा है, वह उतना ही ज्यादा दु:खी है। हमने देखा है कई करोड़-पतियोंको। रातमें नींद नहीं आती और उन्हें सोनेके लिए नींदकी गोली लेनी पड़ती है। संसारमें लोगोंका जो यह ख्याल है कि धनमें सुख है, वह गलत है। सुख धनमें नहीं, भीतर होता है। धन बाहर होता है, सुख दिलमें होता है। भोग बाहर होता है, सुख भीतर होता है। तो '**हरिः हरति**'—जो भक्तके दु:खको हर ले, उसका नाम हरि है। बोले—हरि दु:ख कैसे हरेंगे? पहले पाप हरेंगे, तब न दु:ख हरेंगे। चिन्ता मत करो, जब हरिकी, कृष्णकी याद आवेगी, तब पाप अपने-आप नहीं रहेगा। बोले—ठीक है, लेकिन मन रहेगा, तो पाप आ जायेगा। नहीं, वह हरि ऐसा है, जो मनको ही हर लेगा—

हरति दु:खं हरति पापं हरति मनः हरति भक्तचेतांसि इति हरिः।

तो 'भगवान् हरिः' ऐसे हैं, जो नाना रूपोंसे मनका हरण करते हैं। किसीका बेटा बनकर मन हरण करते हैं, किसीका मित्र बनकर मन हरण करते हैं, किसीका सखा बनकर मन हरण करते हैं, किसीका प्रियतम बनकर मन हरण करते हैं। उसने ब्रह्मा आदिका मन उनका स्वामी बनकर, पिता बनकर चुरा लिया, लक्ष्मीका मन उनका पति बनकर चुरा लिया, सनकादिकोंका मन उनकी आत्मा बनकर चुरा लिया। बस, इसका तो काम ही यह है कि कोई-न-कोई रिश्ता बनाकर चाहे जिस किसीका मन चुराते फिरना। इसीलिए इसका नाम हरि है। अजी नन्दबाबा, वह तुम्हारा बेटा बनने नहीं आया था। वह तो बेटा बनकर तुम्हारा तन-मन-धन, सर्वस्व खींच लेनेके लिए आया था। वह नागर है नागर, देहाती घुच नहीं है, कि किसीके वशमें आजाये, अथवा कोई उसको ठग ले। वह पहले बड़े प्रेमसे सबका बन जाता है, फिर सारा माल-मत्ता लेकर चम्पत हो जाता है।

सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः।

बाबा, वह सबका बेटा है, सबका आत्मा है, सबका प्रेमास्पद है, प्रियतम है, सबका माता-पिता है और सबका स्वामी है। वह हर जगह रहता है। ऐसी कोई जगह नहीं है, जहाँ वह भरपूर न हो। इस समय उसको मथुरा वाले देख रहे हैं, तुम नहीं देख रहे हो, लेकिन मैं तुम्हारे पास बैठकर उसको देख रहा हूँ। वह ऐसी अन्तर्धान विद्या जानता है कि आँखोंके सामने बना रहे और दिखाई न पड़े।

दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत् स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च।
विनाच्युताद् वस्तु तरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः॥ ४३॥

वह कहीं मोर बनकर नाचता है, कहीं कोयल बनकर कुहू-कुहू-कुहू करता है, कहीं पपीहा बनकर पीकहाँ, पीकहाँ बोलता है। वह कभी सुन्दर बनकर सामने आता है, कभी भूत बनकर आता है, कहीं स्वर्ग बनकर आता है, कहीं नरक बनकर आगमन करता है। इस संसारमें जो कुछ हुआ, जो कुछ हो रहा है और जो कुछ होगा—अर्थात् भूत-वर्तमान-भविष्यत् सबकुछ वही है। जो कुछ स्थाष्णु है, स्थिर है, जो कुछ बदलनेवाला है, जो महान् है, जो थोड़ा है, जो एक पोस्ताका दाना है, जो एक हिमालय पहाड़ है, वह सब वही है। जो लाखों बरसोंतक रहनेवाला है और जो आज ही मिट जानेवाला है, वह वही है। श्रीकृष्णके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण वस्तुओंका असली भाव है।

स एव सर्वं परमार्थभूतः। सर्वं खल्विदं ब्रह्म।

एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीताः। इस प्रकार उद्धवजी और नन्दबाबाके पारस्परिक वार्तालापमें सारी रात बीत गयी। उनको नींद कहाँसे आवे? नींद तो आलसी लोगोंको आती है। जिसको नींद आती है, समझना कि उसका किसीसे प्रेम नहीं है। बच्चेको गोदमें लेकर खूब प्यार करते हैं, दूध पिलाते हैं और कहते हैं कि यह तो हमारे दिलका टुकड़ा है। किन्तु जब नींद आती है, तब घर्र-घर्र करके सो जाते हैं, और बच्चा जागता रह जाता है। क्यों भाई, तुम्हारे प्यारका क्या हुआ? तुम बच्चेको छोड़कर सो क्यों गये? बोले—कि जागते रहेंगे, तो पागल हो जायेंगे? लेकिन जब तुम बच्चेके प्रेमी हो, तब पागल होनेसे डरते क्यों हो?

'आशिक होकर सोना क्या रे!'

लोग कहते हैं कि हम धनके बड़े प्रेमी हैं। लेकिन जब एक आदमी डंडा, चाकू या पिस्तौल दिखाता है, तो सब निकालकर दे देते हैं। फिर क्या खाक प्रेमी रह गये धनके। प्रेम करने योग्य तो केवल अपना आत्मा है, अथवा श्रीकृष्ण हैं या कृष्णसे जबतक मिलोगे नहीं तबतक संसारके डंडे तुम्हारे ऊपर पड़ते रहेंगे। प्रेममें नींद कहाँ, आलस्य कहाँ। प्रेममें तो दिन-रात ताजगी, दिन-रात नयापन है—

क्षणे क्षणे नवतामुपैति।

सौन्दर्यका वास्तविक स्वरूप यह है कि वह क्षण-क्षणमें नया होता जाता है, प्यारा लगता रहता है। ऐसा नहीं—कि वह सुबह कुछ लगे और शामको कुछ लगे। सबेरे बाल काले थे तो शामको सफेद हो गये। वह तो प्रति क्षण चमकता जाता है। यह प्रेमकी रीति है—

जनम अवधि हम रूप निहारेन नयन न तिरपित भयल।

विद्यापतिने कहा कि हमने आजीवन उसके रूपको देखा, परन्तु हमारी आँखें तृप्त नहीं हुईं। तृप्तिमें प्यास बुझती है, किन्तु यहाँ पीते रहनेपर भी प्यास बढ़ती गयी।

इस तरह बातपर बात बढ़ती जाये और वह खत्म ही न हो। नन्दबाबा अपने लालाकी बात सुनावें और कृष्णानुचर उद्धवजी अपने मित्रकी बात सुनावें। इतनेमें सबेरा हो गया और गोपियाँ उठ गयीं। गोपियोंकी आँखोमें भी नींद नहीं थी—**'गोप्यः समुत्थाय'**—का अर्थ है कि गोपियाँ नींदमें सोई नहीं थीं। वैसी ही लेटी हुई थीं। इसलिए उठ गयीं। **निरूप्य दीपान्**—उनको ख्याल आया कि श्यामसुन्दर शायद आज ही आ जायें। और आनेपर पहले हमारे ही घर आयेगा। फिर देखेगा कि घरमें माखन है कि नहीं। नहीं मिलेगा तो कहेगा, ये दरिद्र लोग हैं, उनके घरमें माखन नहीं। माखन ही क्यों, यदि उसने देखा कि हमारे घरमें स्वच्छता भी नहीं है, तो क्या कहेगा? वह तो हमको दस गाली देगा। इसलिए वे झटपट सबेरे उठ गयीं। गोपियाँ लेटती हैं कृष्णके लिए और उठती हैं कृष्णके लिए। उनके शरीरसे जितने काम होते हैं, सब कृष्णके लिए होते हैं। उठते ही गोपियोंने अपने घरकी सेवा-शुश्रूषा की और **'वास्तून् समभ्यर्च्य'**—प्रार्थना की कि हे वास्तु, तुम घरके देवता हो। आज ऐसा मंगल करो—कि हमारे घर नन्दनन्दन श्यामसुन्दर लौटकर आवें। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज लिखते हैं कि गोपियों ने प्रातःकाल उठकर सबसे पहले घरकी सफाई करके ठाकुर-सेवा की, आरती के लिए दीप जलाए, तदन्तर वास्तु देवताकी सेवा की और उसके बाद वे दही मथने लग गयीं। उस समय उनकी कैसी शोभा हुई, इसका वर्णन श्रीशुकदेवजी महाराजने किया है। आप जानते हैं, शुकदेवजी महाराज अवधूत हैं, किसी स्त्रीके सौन्दर्यके प्रति आकृष्ट नहीं होते। फिर भी वे गोपियोंकी सुन्दरताका वर्णन करते हैं। क्योंकि यदि गोपियोंकी सुन्दरता चित्तमें आ जाय तो श्रीकृष्ण भी चित्तवृत्तिमें आ जाते हैं—

तादीप दीप्तैर्मणिभिर्विरेजू रज्जूर्विकर्षद् भुजकङ्कणस्त्रजः।
चलन्नितम्बस्तन-हार-कुण्डलत्विषत्कपोलारुणकुङ्कुमाननाः॥ ४५॥
उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममङ्गलम्॥ ४६॥

गोपियोंके घरोंमें दधि मन्थनकी घरघराहट हो रही है। वे प्यारसे श्रीकृष्णकी लीलाका गान कर रही हैं और उनके अंगकी शोभा अद्भुत है।

छब्बीसवाँ प्रवचन

एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता नंदस्य कृष्णानुचरस्य राजन्।
गोप्यः समुत्थाय निरुप्य दीपान् वास्तून् समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन्॥ ४४॥
ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू रज्जूर्विकर्षद् भुजकङ्कणस्त्रजः।
चलन्नितम्बस्तन हारकुण्डलत्विषत्कपोलारुण - कुङ्कुमाननाः॥ ४५॥
उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममङ्गलम्॥ ४६॥

जैसा कि कल बताया, परमानन्द-मूर्ति नन्दबाबा और श्रीकृष्णके अनुचर उद्धवजीकी बातचीतमें रात कब बीत गयी, इसका पता ही नहीं चला। शास्त्रोंमें ऐसा वर्णन मिलता है कि यदि कोई भगवान्‌का नाम ले, तो उसकी रात ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी रात हो जाती है। ब्रह्माकी रातसे बड़ी विष्णुकी रात होती है और विष्णुकी रातसे बड़ी रुद्रकी रात होती है। मतलब यह कि भगवान्नामनिष्ठको कब महासृष्टि हुई और कब महाप्रलय हुआ—इसका पता नहीं चलता। नामके बलसे मनुष्य भगवान्‌के स्वरूपमें स्थित हो जाता है। नन्दबाबा और उद्धवजी उन्हीं भगवान्‌के लीला-चरित्रका परस्पर संकीर्तन प्रेममग्न होकर कर रहे हैं—**संकीर्तनं भगवतो गुण कर्मनाम्ना**। फिर इस संसारकी एक मामूली-सी रात जल्दी बीत गयी, तो इसमें क्या आश्चर्य है? यहाँ तो कैमुतिक न्याय से ही रातका बीतना सिद्ध है—**एवं निशा सा ब्रुवतो-र्व्यतीता**। '**सा निशा वास्य निशा**'—ऐसे बोलते हैं। एक होती है अज्ञानियोंकी रात और दूसरी होती है ज्ञानियोंकी रात। इनमें अज्ञानियोंकी रात बड़ी और ज्ञानियोंकी रात छोटी है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। गी. २.६९

अज्ञानियोंका जो दिन है अर्थात् नामरूपात्मक सृष्टि है, प्रपंच है, वह ज्ञानियोंकी रात है और ज्ञानियोंका जो दिन है अर्थात् परब्रह्म परमात्मा है, वह अज्ञानियोंकी रात है। तो रातकी दो स्थितियाँ हुईं—एक लौकिक और दूसरी पारमार्थिक; और जब उद्धवजी तथा नन्दबाबा बात करने लगे तब लौकिकी एवं पारमार्थिकी—दोनों निशाएँ व्यतीत हो गयीं। दोनों निशायें व्यतीत हो गयीं। इसका अर्थ हुआ—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्-मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

भा० ३.२५.३४

बोले—कि अज्ञानियोंकी रात है ब्रह्मात्मैक्यबोध और ज्ञानियोंकी रात है प्रपंच, लेकिन जब भगवत्लीलामें मग्न हो जाते हैं, तब इन दोनों ही रातोंका पता नहीं चलता। ब्रह्मात्मैक्यमें भेद-दर्शन नहीं है और प्रपंचमें ऐक्य-दर्शन नहीं है। किन्तु भगवत्लीलामें ऐक्य-दर्शन और भेद-दर्शन का समन्वय है। यहाँ संसार नहीं है, संसार नहीं होनेसे ज्ञानियोंकी रात नहीं है और सर्वथा कैवल्यात्मक ब्रह्म भी नहीं है। यहाँ तो चलता-फिरता सगुण-साकार ब्रह्म है। दोनोंसे विलक्षण अवस्था होती है भगवच्चर्चामें। यहाँ न तो ऐसी समाधि है, जिसमें प्रपंचका, द्वैतका, भाव ही न हो और न ऐसा प्रपंच ही है, जिसमें केवल द्वैत ही सत्य हो। भगवच्चर्चा अथवा सत्संग ऐसी कड़ी है जो दोनोंसे विलक्षण है। उसमें दोनों निशाएँ बीत जाती हैं। अब जरा निशा शब्दपर गौर करते हैं। इसके मूलमें 'निश' शब्द है। इसीसे संस्कृतमें 'निट्' शब्द बनता है और वह निट् ही अंग्रेजीमें नाईट हो जाता है। देखो, दोनोंका कितना मेल बैठता है। निशा शब्द भागुरी मतमें है। पाणिनी मत में निशा शब्द नहीं है, निट् शब्द है। तो यदि तुम भगवान्के गुणानुवादमें लीलागायनमें लग जाओगे, तुम्हारे सामने कोई भी रात नहीं रहेगी। तुम्हारी आँखोंके सामनेसे अंधेरा ही दूर हो जायेगा। भक्तका काम यही है कि वह अपनी रात भगवान्की चर्चामें व्यतीत करता है।

अब देखो, गोपियोंकी बात कैसे शुरू होती है। जैसा कि कल वर्णन आया, गोपियाँ सोई थीं, तब नन्दबाबा और उद्धवजी जाग रहे थे। यहाँ प्रश्न उठता है—गोपियाँ इतनी प्रेममयी और श्यामसुन्दरके विरहमें व्यथित होकर भी सोती हैं? उत्तर है—कि गोपी है—गोप्यः। ये श्रीकृष्णके प्रेमको गुप्त रखती हैं—**गोपनात् गोप्यः**। नन्दबाबा और उद्धवजी तो कृष्ण-प्रेमको प्रकट रखते हैं, इसलिए जागकर बातचीत करते हैं, सोते नहीं हैं। लेकिन गोपियाँ ऐसी हैं, जो अपने प्रेमको प्रकट नहीं कर सकतीं। इसलिए उनको रातमें सोनेका अभिनय करना पड़ता है। वे लोगोंको, सासको, ससुरको, पतिको, देवरको, माँको, बापको—सबको दिखानेके लिए सोती हैं। वे प्रेम भी करती हैं और प्रेमको छिपाती भी हैं। गोपियोंके सोनेमें, लेटनेमें पंचम लकार है। उनका सोना या लेटना वैदिक धर्म ही है, अवैदिक नहीं है।

गोपन गोपीका स्वभाव है। इसलिए वे अपने प्रेमको गुप्त रखती हैं। अब वे समुत्थाय अर्थात् उठकर खड़ी हो गयीं। उनका यह समुत्थान उस विरहके विपरीत है, जो उनको सताने वाला है। जब सोते रहनेसे कोई काम नहीं बनता, तब वे श्रीकृष्णके लिए उठकर खड़ी होती हैं। उनका सोना-जागना सबकुछ श्रीकृष्णके

लिए है। उठकर गोपियोंने **निरुप्य दीपान्**—दीपक जलाया। पहले उत्थान होता है, फिर प्रकाश आता है। जिसके जीवनमें उत्थान भी हो और प्रकाश भी हो, वह क्या करेगा? अर्चा करेगा। इसलिए गोपियोंने **वास्तून् समभ्यर्च्य**—वासुदेव भगवान्‌के निवासका, वास्तुका अर्चन किया। वासु और वास्तु एक ही शब्द है। इसमें कोई फर्क नहीं समझना। जो अर्थ 'वासु'का है, वही अर्थ 'वास्तु'का है—**वसि अस्मिन् इति**। तो गोपियोंने जो घरकी पूजा की, उसका उदाहरण देखना हो तो दक्षिण भारत चले जाओ। वहाँकी स्त्रियाँ प्रातःकाल उठकर घरके भीतर और बाहरकी सफाई करती हैं और फिर लीप-पोतकर चौका पूरती हैं, उसमें नाना प्रकारके मांगलिक चिह्न बनाती हैं और अक्षत-पुष्पसे पूजा करके घर-द्वारको दर्शनीय बना देती हैं। भाई! जो लोग चाहते हों कि उनके यहाँ भगवान् आवें, उन्हें अपना घर-द्वार स्वच्छ रखना चाहिए और जो लोग चाहते हों कि हमारे यहाँ दरिद्रता आवे, उन्हें अपना घर-द्वार अस्वच्छ रखना चाहिए। गोपियाँ दिन-रात चाहती रहती हैं कि उनके घरमें श्यामसुन्दर आवें। प्रतिदिन इसी आशासे उठती हैं, और इसी आशासे दीपक जलाती हैं। दीपक जलाते समय उनके मनमें यह भाव रहता है कि हम तो सो गयी थीं, लेटी हुई थीं, हमारी आँख बन्द थी, ध्यानमें थीं, कहीं वह चोर चुपकेसे, पाँव दबाकर घरमें घुस न गया हो। छोटा-सा था, तब दिनमें आता था। अब बड़ा हो गया है, इसलिए चाहे तो रातमें घरके भीतर घुस सकता है। इसलिए जरा दीया जलाकर उसको देख तो लें।

अच्छा, रातमें नहीं आया तो क्या हुआ। आयेगा। इस आशामें गोपियाँ **दधीन्यमन्थन्**—दही मथने लगीं। यह उनका स्वाभाविक धर्म है। इसके सम्बन्धमें लोगोंके अलग-अलग मत हैं। काशीके किसी पण्डितसे पूछो कि गोपियाँ प्रातःकाल उठकर दही क्यों मथती हैं, तो वह उत्तर देगा कि वे सब ग्वालिनियाँ हैं, उनके घरमें गौएँ हैं, दूध होता है, दही जमता है, इसलिए मथती हैं। किन्तु किसी प्रेमीसे पूछो तो वह बतायेगा कि वे दही क्यों मथती हैं। इसलिए मथती हैं—कि श्यामसुन्दर ललचा जायें। जब श्यामसुन्दर आयेंगे और देखेंगे कि दही मथा जा रहा है, तब मक्खनका लोंदा खानेके लिए उसके मुँहमें पानी भर आयेगा। यदि हम दही मथकर, मक्खन निकाल कर रखेंगी, तो वह कहीं-न-कहींसे घात लगाकर आवेगा और हमारे मक्खनकी चोरी करेगा।

तो जैसे दधिका सार मक्खन है, वैसे ही हृदयका स्नेह-सार प्रेम है। श्रीकृष्णके लिए जो दधि-मंथन हो रहा है, वह साधारण दधि-मन्थन नहीं है। जैसे

कोई विवेकके मन्थानसे उपनिषद्-सुधाब्धिका मन्थन करके उसमें-से नवनीत निकाले, वैसे ही गोपियाँ अपने श्यामसुन्दरके लिए दधि मन्थनके व्याजसे भावका नवनीत निकाल-निकालकर तैयार कर रही हैं। इसीलिए श्रीशुकदेवजी महाराज इनके अंग-अंगकी शोभाका वर्णन करते हुए कहते हैं—

ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू, रज्जूर्विकर्षद्भुजकङ्कणस्रजः।
चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डलत्विषत्कपोलारुणकुङ्कुमाननाः ॥ ४५ ॥
उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः।

किसी भी अवधूतके लिए, जो खासकर नग्न रहता हो, जिसने उपनयन-संस्कारतक न कराया हो, जो आजन्म ब्रह्मचारी हो, विरक्त हो, स्त्रियोंकी शोभा और सौन्दर्यका वर्णन करना उचित नहीं है, उसके स्वरूपके विपरीत है। लेकिन जादू तो वह, जो बड़े-से-बड़े अवधूतको भी आकर्षित कर ले। इसलिए श्रीशुकदेवजी महाराजने सोचा, कि गोपियोंके रूपमें ऐसे भक्तोंका दर्शन करें, ऐसे प्रेमियोंका दर्शन करें कि उनके हृदयमें बैठे हुए प्रियतमका, भगवान्‌का भी दर्शन हो जाये। यही प्रेमकी महिमा है। आप भगवान्‌को पकड़नेके लिए चलो, वे नहीं मिलते। वेदान्ती लोग तो ब्रह्मको न कर्मेन्द्रिय-ग्राह्य मानते हैं, न ज्ञानेन्द्रिय-ग्राह्य मानते हैं और न मनोग्राह्य मानते हैं—**यन्मनसानुमनते ये नो मनोमतः**। कर्मेन्द्रिय-ग्राह्य नहीं होनेका मतलब यह है—कि हम पाँवसे चलकर उसके पास नहीं पहुँच सकते, हाथसे उसको नहीं पकड़ सकते और जीभसे उसके बारेमें नहीं बोल सकते। ज्ञानेन्द्रिय—ग्राह्य नहीं होनेका अर्थ है—कि हम उसको आँखसे नहीं देख सकते, नाकसे नहीं सूँघ सकते, जीभसे उसका स्वाद नहीं ले सकते। मनोग्राह्य न होनेका तात्पर्य है—कि हम मनमें उसका ध्यान नहीं कर सकते। परन्तु ये सब बातें निर्गुण ब्रह्मके बारेमें हैं, सगुण ब्रह्मके बारेमें बिलकुल नहीं है। जो सगुण ब्रह्म है, ईश्वर है वह तो अखिल कल्याण-गुणगणोदधि है। जब वह देखता है कि हमारा यह भक्त पाँवसे चलकर हमारी ओर आ रहा है, तो कहता है कि अहो, मैं भी एक ओर से चलकर इसके पास पहुँचूँ। जब भक्त दोनों हाथ फैलाकर खड़ा होता है और कहता है कि प्रभो! हमारे हृदयसे लगो, तो भगवान् भी दोनों हाथ फैलाकर उसके हृदयसे लग जाते हैं। जब भक्त जिह्वाका प्रयोग करके भगवान्‌से बात करना चाहता है, तो भगवान् भी जिह्वाका व्यापार करके उससे बात करते हैं।

इसलिए जहाँ निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्तिमें कर्म और उपासनाको साक्षात् साधन नहीं माना गया है, वहाँ सगुण ब्रह्मकी प्राप्तिमें कर्म ही साक्षात् साधनके रूपमें

स्वीकार किया गया है। जब हम उसके लिए 'हरे राम, हरे राम, राम-राम हरे हरे,' 'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण-कृष्ण हरे हरे' अथवा और किसी भगवन्नामका संकीर्तन करने लगते हैं, तब वह उसे सुनता है या नहीं? उसको क्या यह नहीं मालूम पड़ता कि हमको हमारा भक्त पुकार रहा है? सगुण ईश्वरको यह बात भलीभाँति विदित होती है, कि हमारा भक्त या प्रेमी जो बोलने का कर्म कर रहा है, चलनेका कर्म कर रहा है, भाला घुमानेका कर्म कर रहा है—वह मेरे लिए कर रहा है और मेरी प्राप्तिके लिए कर रहा है। अतः तत्पदवाच्यार्थ—प्रधान साधनामें तत् पदका जो वाच्यार्थ है, वह अपनी कृपासे, अपनी शक्तिसे साधक भक्तके सामने प्रकट हो जाता है। सगुण-सिद्धान्तमें कर्म कृपाको क्रियाशील बनानेवाला है। इसलिए संकीर्तन आदि भगवदर्थ-कर्म भगवत्प्राप्तिके साक्षात् हेतु माने गये हैं।

मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ गी. १०.९
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयन्ति ते॥ गी. १०.१०
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।

गोपियोंका दधिमन्थन कर्म भी ईश्वरकी प्राप्तिके लिए है। इसलिए श्रीशुकदेवजी महाराज गोपीका शरीर कैसा है, गोपीका कर्म कैसा है, गोपीकी वाणी कैसी है—इन सब बातोंका वर्णन करते हैं, क्योंकि भक्तका दर्शन होनेपर भक्तके आस-पास मँडराते हुए भगवान्का भी दर्शन हो जाता है। आप कृष्णको अकेले देखना चाहो, जल्दी नहीं दिखेंगे, परन्तु किसी गोपीकी ओर देखो, तो उसके दायें-बायें कृष्ण झाँक रहे होंगे। कहीं यमुना तटपर, कहीं लता-वृक्षकी आड़में, कहीं पर्वतकी गुफामें; उनकी आँख अपनी गोपियोंकी ओर लगी रहती है। तुम चाहो, तो इस कक्षामें भी कृष्णको देख सकते हो; लेकिन भक्तिकी यह बात साधारण नहीं है।

ता दीप दीप्तैर्मणिभिर्विरेजू रज्जूर्विकर्षद्भुजकङ्कणमानना:॥

भक्तिमती गोपियोंके आभूषणोंमें मणियाँ जड़ी हुई हैं। उनको इस बातका ध्यान निरन्तर बना रहता है, कि यदि हम कृष्णके मथुरा जानेपर अपने मणिमय आभूषण उतार देंगी, तो गाँववाले कहेंगे—कि इन्होंने कृष्णके विरहमें अपने मणिमय आभूषण उतार दिये हैं। और इस प्रकार हमारा कृष्ण-प्रेम छिपा नहीं रहेगा। यदि हम गाँववालोंकी बात छोड़ दें, तब भी कहीं कृष्ण आ गये और उन्होंने

देखा कि हमारे शरीरमें मणि जड़ित आभूषण नहीं है, तो उनको बड़ा खेद होगा। अतः उनको खेद न होने पावे, इसलिए गोपियाँ मणिमय आभूषण धारण किये रहती हैं। गोपियोंकी यही विशेषता है कि वे वस्त्राभूषण धारण कर रही हों या और कुछ कर रही हों, उनका यही चिन्तन बना रहता है कि उनका जीवन कृष्णका है, शरीर कृष्णका है, मन कृष्णका है। वे अपने प्राणोंको इसीलिए धारण किए रहती हैं कि उनके प्राण कृष्णके हैं, शरीरको इसलिए सजाकर रखती हैं कि वह कृष्णका है। उनके तन-मन-धनमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जो कृष्णका न हो। उनका सर्वस्व कृष्ण है, कृष्णके लिए है।

जब गोपियोंने प्रातःकाल उठकर दीपक जलाया, तो उसकी रोशनी और मनकी रोशनी मिलकर जगमगा उठी। सारा घर जगमगाने लगा। अब देखो, गोपीका दर्शन उनके आभूषणोंमें जड़े हुए दीप्तिमान् मणियोंके माध्यमसे भी हो सकता था, किन्तु उनके जलाये दीपकोंकी प्रभासे वे तथा उनके घर और भी अधिक प्रकाशमान हो गये। गोपियाँ झिलमिल-झिलमिल झलकने लगीं।

अब गोपियोंके दधि-मन्थनकी बात लो। आजकल लोग किलो-दो-किलो दूधका दही जमाकर मक्खन निकालनेके लिए कभी हाथसे मथानी चला लेते हैं, तो कहते हैं कि बहुत श्रम होगया। किन्तु गोपियोंके दधि-मन्थनकी तो कोई सीमा ही नहीं थी। उसका अनुमान तो उस समयकी गायोंकी संख्या और उनके दूधकी मात्रासे ही लगाया जा सकता है। कहते हैं—अकेले नन्दबाबाके घरमें ऐसी व्यवस्था थी कि लाख गायोंका दूध दस हजार गायों को पिलाते थे। दस हजार गायोंका का दूध हजार गायोंको पिलाते थे। हजार गायोंका दूध सौ गायोंको पिलाते थे। सौ गायोंका दूध दस गायोंको पिलाते थे। उसके बाद जो पद्मगन्धा गौ थीं, उसका दूध औंटाकर श्यामसुन्दरको पिलाते। फिर उसी दूधकी दही जमाते और उस दहीसे जो मक्खन निकलता, वह यशोदा मैया अपने लालाको खिलातीं।

गोपियोंके दधि-मन्थनका वह दृश्य देखिये, जिसका वर्णन श्रीशुकदेवजी महाराज करते हैं। दहीके बड़े-बड़े मटके हैं। गोपियाँ भी खूब तन्दुरुस्त हैं, सीकिया पहलवान नहीं हैं। वह खड़ी होकर मथानीकी रस्सीको अपनी बलिष्ठ भुजाओंसे खींच रही हैं—**'रज्जूर्विकर्षद्भुजहारकङ्कणस्त्रजः'**—उनकी भुजाओंमें कंकण है, जो आपसमें टकराते हैं, तो आवाज होती है। उनके कानमें कुण्डल है, जो कपोलोंपर नाचते हैं। बालोंमें फूल है, जो झरते हैं—**चलन्नितम्बस्तन हार कुण्डलः**—उनके वक्षस्थल और नितम्ब हिलते हैं, हृदयका हार हिलता है। उनके

शरीरमें रक्तकेशर, अङ्गराग लगा हुआ है, जिससे उनकी कान्ति कुछ लालिमा लिए हुए दिखायी पड़ती है।

इस प्रकार श्रीशुकदेवजी महाराजने गोपियोंकी शोभाका वर्णन किया, उनके शरीरका वर्णन किया और शरीरसे होनेवाले कर्मका वर्णन किया। गोपियोंका शरीर भगवान्‌के लिए है और उससे होनेवाला कर्म भगवान्‌के लिए है। प्रेमका यह स्वभाव है कि वह जिससे जुड़ता है, उसके लिए शरीरको भी खींच ले जाता है और कर्मको भी खींच ले जाता है। पहले मनको पकड़ता है और बादमें बुद्धिको, इन्द्रियोंको तथा शरीरको पकड़ता है। ज्ञानका यह स्वभाव है कि वह बुद्धिको पहले पकड़ता है। इसी तरह धर्म शरीरको पहले पकड़ता है और मन तथा बुद्धिको बादमें पकड़ता है। ध्यान शरीरसे प्रारम्भ होता है, ज्ञान बुद्धिसे प्रारम्भ होता है और राग मनसे प्रारम्भ होता है।

अब श्रीशुकदेवजी महाराज गोपियोंकी वाणीका वर्णन करते हैं। इससे यह अर्थ निकला कि गोपियोंको रात्रिकालमें श्रीकृष्णके विरहका स्फुरण नहीं होता और नन्दबाबाको रात्रिकालमें श्रीकृष्णके विरहका स्फुरण होता है। रात्रिकालमें गोपियोंको ऐसा नहीं लगता कि श्रीकृष्णसे हमारा विरह है, उनकी स्फूर्तिमें, चित्तवृत्तिमें रात्रिभर श्रीकृष्ण रहते हैं। नन्दबाबाके पास तो कृष्ण रहते ही रातमें थे। दिनभर गाय चराते और शामको लौटकर रातमें नन्दबाबाके पास रहते थे। इसलिए जब कृष्ण रातमें नहीं मिलते, तो नन्दबाबाको उनकी याद आती है। श्रीकृष्ण रातभर नन्दबाबाके पास रहते हैं और दिनभर गोचारण करते हैं। गोचारणके समय गोपियोंको कभी मिलते, कभी नहीं मिलते। जब नहीं मिलते तब गोपियोंको विरहकी स्फुरणा होती क्योंकि वेणुगीत और युगलगीत गोचारणके समय के ही हैं। रात्रिमें जैसे पहले भगवान् गोपियोंके पास रहते थे, वैसे ही मथुरा जानेके बाद भी रहते हैं, इसलिए उनको उनकी स्फुरणा बनी रहती है। यही कारण है कि गोपियोंके रात्रिकालीन जीवनका जो वर्णन है, उसमें कहीं विरहका नाम नहीं है। विरहका वर्णन तब है, जब सूर्योदयके बाद उद्धवजी मिलते हैं।

गोपियाँ प्रातःकाल **उद्गायतीनामरविन्दलोचनं**—गान कर रही हैं। क्या गान कर रही हैं? उनके गानका विषय क्या है? देखो, कई लोग केवल स्वरके लिए गाते हैं। उनके मनमें अर्थका स्फुरण नहीं होता। वे ताल और स्वरपर झूमते रहते हैं। वैसे गान्धर्ववेदके अनुसार, संगीत-शास्त्रके अनुसार शुद्ध स्वरमें लीन हो जाना भी लय-समाधिकी साधना है। पर लय-समाधिकी साधना भक्तिकी साधना नहीं

है। भक्तिमें मन डूब गया तो डूब गया। भक्तिमें मनके सामने प्यारा होना चाहिए, मुरली मनोहर पीताम्बरधारी भगवान् होना चाहिए।

कई लोग धर्मके लिए भी गाते हैं, देवी-देवताओंके स्तोत्रोंका सस्वर पाठ करते हैं, भजन करते हैं। लेकिन गोपियाँ न स्वरके लिए गाती हैं, न धर्मके लिए गाती हैं। अगर वे स्वर या धर्मके लिए गातीं, तो उनके गायनमें अरविन्दलोचनंका प्रयोग बिलकुल नहीं होता। वे जब कृष्णका दूसरा नाम न देकर 'अरविन्दलोचन' नामका गायन करती हैं, तो इसका अर्थ है कि गोपियोंके सामने श्रीकृष्णकी बड़ी-बड़ी आँखें हैं। 'अरविन्दलोचन' नाम सर्वाङ्ग-सौन्दर्यका बोधक है। अंग-विशेषके सौन्दर्यका वर्णन सर्वाङ्ग-सौन्दर्यके वर्णनका उपलक्षण होता है। जैसे बोलते हैं—कि तुम्हारी भौहें बड़ी अच्छी हैं, तुम्हारे दाँत बहुत अच्छे हैं,तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि केवल भौहें-ही-भौंहें अच्छी हैं अथवा केवल दांत-ही-दांत अच्छे हैं, अपितु उसका यह मतलब होता है कि तुम सर्वांग-सुन्दर हो।

तो, 'अरविन्दलोचनं'का तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णकी आँखें जगमग-जगमग चमकती रहती हैं। अरविन्द शब्दका आशय यह है कि जो कभी अँधेरेमें न हो। रविन्द माने अंधकार, तमिस्र और अरविन्द माने जो रात्रिमें नहीं होवे, अंधकारमें न खिले। तो श्रीकृष्णकी आँखें अन्धकारमें नहीं खिलतीं। वे तो गोपियोंको देख-देखकर खिलती हैं। उनकी ओर सीधी देखती हैं, तिरछी देखती हैं, खुली देखती हैं, अधखुली देखती हैं। अरविन्दलोचनं माने खिले हुए कमल जैसी आँखोंवाले। उनकी आँखें क्या हैं, कमलके फूल हैं। फूल मुरझाये हुए शोभा नहीं देते, खिले हए शोभा देते हैं।

अरविन्दलोचन—एक तो खिले हुए हैं, दूसरे कोमल हैं, तीसरे कमलकी पंखुड़ियोंके समान बड़े-बड़े कर्ण-स्पर्शी हैं। एक चौथा गुण और है अरविन्दलोचनका। वह यह है इसमें असंगताका गुण भी है। वह कहीं चिपकता नहीं है, किन्तु वह गुण यहाँ अप्रासंगिक है, इसलिए उसको हम बताते नहीं हैं।

गोपियाँ अरविन्दलोचनं गा रही हैं और श्रीकृष्ण उनकी चित्तवृत्तिमें प्रकट हो रहे हैं। उनके मनमें है अरविन्दलोचनं, वे गा रही हैं। अरविन्दलोचन और काम कर रही हैं अपने प्रियतम अरविन्दलोचनके लिए। उनका सौन्दर्य है श्रीकृष्णके लिए और उनका शरीर समपर्ति है श्रीकृष्णके लिए।

अब उनकी ध्वनि क्या कहती है यह देखो—**व्रजांगनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः**—उनकी ध्वनि विष्णुपदका स्पर्श कर रही है, आकाशका स्पर्श कर रही है।

आकाशका स्पर्श तो सबकी ध्वनि करती है, किन्तु गोपियोंकी ध्वनि स्वर्गलोग तक पहुँच रही है; और जब स्वर्गलोकतक पहुँच रही है, तो मथुरातक जरूर पहुँचती होगी। अर्थात् जहाँ-जहाँ श्रीकृष्ण होते होंगे, वहाँ-वहाँ गोपियोंकी ध्वनि जाती है। यह मांगलिक ध्वनि है। मतलब यह कि श्रीकृष्ण जहाँ भी हों, वहाँ गोपियोंके उस गानका श्रवण करें—

दधश्च निर्मन्थन शब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममङ्गलम्॥

अब कहते हैं कि इधर जो दही मथा जा रहा है, उसके निर्मन्थनका शब्द भी उनके गायनमें मिल गया। एक तो किसी विशेष अर्थमें संगीतकी ध्वनि है और दूसरे दधिमन्थनकी ध्वनि है—अर्थात् मथानी नाच रही है, कुण्डल तान तोड़ रहे हैं, कंकण बाजा बजा रहे हैं। कितना आनन्द है, कितनी अच्छी मंगल-ध्वनि हो रही है। इससे गोपियोंके विरहका दुःख घटता है और गोपियोंके विरहका दुःख ही क्यों, '**निरस्यते येन दिशामङ्गलम्**'—पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे, दसों दिशाओंके अमङ्गलोंका निरास हो रहा है। अमङ्गल माने मंगलद्रोही। वह कौन है? जो पृथ्वीको दुःख देनेवाला है, वह मंगलद्रोही है। पृथ्वी चाहती है कि जगह-जगह मंगल हो।

महीमङ्गलभूयिष्ठ पुरग्रामप्रजाकरा।

जिस दिन श्रीकृष्णका जन्म हुआ, उस दिन पृथ्वीमें चाहे वह पुर अर्थात् मथुरापुरी हो, चाहे वह ग्राम अर्थात् नन्दग्राम आदि हो, और 'आकरा' अर्थात् रत्नाकरमें रहनेवाली द्वारिका आदि हो—सर्वत्र मंगल-ही-मंगलका साम्राज्य हो गया। श्रीकृष्ण ने तो जन्म लेकर मंगलका साम्राज्य स्थापित किया, और गोपियाँ अपने गायन तथा दधि-मंथनकी सम्मिलित ध्वनिसे पृथिवीमें तथा दशो-दिशाओंमें कोई मंगल-विरोधी बच गया हो—तो उसको दूर भगा रही है।

एक बात और है। क्योंकि गोपियोंका संगीत **दिवम् स्पृशद् ध्वनिः**—विष्णु-पदका स्पर्श करके आकाशमें व्याप्त हो रहा है, इसलिए यह केवल आधिभौतिक अमंगलको दूर करनेवाला नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक अमंगलको भी नष्ट करनेवाला है। यदि जीवनमें कोई अमंगल होगा, तो वह दूर हो जायेगा। अमंगल वह—जिससे हमारी गति में बाधा पड़े और मंगल वह—जिससे हमारी प्रगति हो, हम आगे बढ़ें। अस्तु, आप भी अपने जीवनमें अमंगल दूर करना चाहते हों, तो गोपीके श्रीमुखका संगीत सुनिये और उसके साथ जो दधि-मन्थनकी ध्वनि हो रही है, उसे श्रवण कीजिये।

*

सत्ताईसवाँ प्रवचन

उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्द - मिश्रितो निरस्यते येन दिशाममङ्गलम्॥ ४६॥

अरुणोदयके पूर्वकी ब्रह्मबेला है—ब्रजकी एक शोभा देखो। वहाँकी प्रत्येक अङ्गना अपने घरमें बिना किसी संकोचके अरविन्दलोचन, कमलनयन, श्यामसुन्दरका ध्यान कर रही है। यह कोई शास्त्रीय प्रेरणा नहीं है, माने कोई शास्त्र बना दिया गया हो, कोई कानूनका विधान हो—ऐसा नहीं है। उनके हृदयमें स्वतः ही श्यामसुन्दरसे प्रीति है और वही जैसे संगीतके सुरोंमें प्रकट हो रही है। जैसे जो हम खाते हैं—उसकी डकार आती है, वैसे गोपियाँ जिसके प्रेममें मगन रहती हैं, उसकी डकार आती है गाना। जिसके हृदयमें प्रीति होती है, उसकी वाणीमें सहज ही संगतका उदय हो जाता है; उसकी चालमें सहज स्वभावमें नृत्यका उदय हो जाता है। नाचना प्रेमकी चाल है, और गाना प्रेमकी आवाज है।

देखो, उद्गायतीनांमें उत् उपसर्ग है। उसका प्रयोग करके श्रीशुकदेवजी बताते हैं, कि गोपियाँ धीरे-धीरे, चोरीसे नहीं गा रही हैं। वे तो घृणा, शंका, लज्जा, जुगुप्सा, भय, कुल-शील, जाति आदि सब श्रीकृष्ण-प्रेममें होम करके तब गा रही हैं। ऐसा नहीं—कि मनमें गुनगुना रही हों, और कोई पूछे कि क्या गा रही हैं—तो कहें, कि हम सनातन धर्मके गीत गा रही हैं। उद्गायन्तीका अर्थ है—बिलकुल साफ-साफ गा रही हैं। जब आदमी किसी अच्छे कामको छिपाने लगता है, तब विघ्न आता है। सत्संगमें जायँ और छिपकर जायँ—तो जिस दिन पता लगेगा, उस दिन विघ्न पड़ेगा। अरे कोई चोरी करने जाते हैं? सत्संगमें खुले आम जाओ। यह तो बड़े गौरवकी बात है। कोई पूछे, तो सर उठाकर छाती फुलाकर कहो—कि सत्संगमें जा रहे हैं। हमारी भोजपुरी बोलीमें किसी कविने कहा है न —

हम अपने सैयां से नेहा लगइहैं,
हमार कोई का करिहैं?

किससे प्रेम करती हैं? देखो, वे गा रही हैं—अरविन्द लोचनं। और ससुरजीकी नींद टूटी, सासजी भी जगीं, पति, देवर, माँ-बाप भी जगे; बोले—गोपी क्या गा रही हो? कि अरविन्द-लोचन श्यामसुन्दरको स्मरण करके गा रही हैं। तो वे भी उनके साथ गाने लगे। क्यों? कि उनके चित्तमें भी कृष्णसे प्रेम है न! ऐसा कौन है ब्रजमें, जो श्यामसुन्दरपर लट्टू नहीं हो गया। बिहारीका एक दोहा है—

किती न गोकुल कुल वधू, केहि न काहि सिख दीन्ह।
कौने तजी न कुल गली, ह्वै मुरली सुर लीन्ह॥

दोहेकी छटा भी देखो! हिन्दी भाषा में अपने भाव कविने कितनी मधुरतासे प्रकट कर दिये हैं। गोकुलमें कुलीन वधुएँ कितनी नहीं थीं? माने सब कुलीन थीं। और किसने किसको शिक्षा नहीं दी—कि श्यामसुन्दरको मत देखना, उसके रास्तेमें मत आना, उससे मत मिलना, नहीं तो तुम्हारा सबकुछ छूट जायेगा। सबने सबको शिक्षा दी। और मुरलीके स्वरोंमें लीन होकर किसने अपना कुल-धर्म नहीं छोड़ दिया। माने सबने छोड़ दिया। तो सब खानदानी हैं, सबने सबको सिखाया, और सबने वंशी-ध्वनि सुनकर अपनी वंशकी परम्पराका परित्याग कर दिया। क्या आश्चर्य है।

बोले—कि गोपियाँ जब 'अरविन्द-लोचनं' कहकर गाती हैं—कि हमारे श्यामसुन्दरकी आँखें बड़ी-बड़ी, प्यार भरी, रसभरी, मधुमयी, लास्यमयी हैं, तो आकर सामने खड़े हो जाते हैं. फिर बोले कि लौकिक गान है यह तो, कोई वैदिक गान तो है नहीं। आपने साम-संगीत सुना होगा; हाऊ-हाऊ-हाऊ गाते हैं। तो जब वैदिक नहीं हुआ, लौकिक हुआ, तो उसमें-से धर्मकी उत्पत्ति नहीं होगी। धर्मकी उत्पत्ति नहीं होगी, तो लोक-परलोक-हितकारी कैसे होगा? तो बोले—कि देखो! धर्म करते हैं, तो फलमें स्वर्ग मिलता है। और यहाँ तो उच्चारण करनेमें ही गोपियोंकी आवाज ही स्वर्गमें पहुँच गयी है। जिनका साधन स्वर्गमें पहुँच गया, उनका फल स्वर्गमें होगा या उससे ऊपर होगा? उनका तो साधन ही स्वर्गीय आनन्दका अतिक्रमण कर गया। जिस समय गोपियाँ गान करती हैं, कमल-नयन, कृष्ण, मुकुन्द, गोविन्द, मदन-मोहन कहकर पुकारती हैं, उस समय उस वाणीसे निकली हुई वह प्रेमकी ध्वनि स्वर्गका अतिक्रमण कर जाती है। फिर उसका फल जो है—वह स्वर्गीय सुखसे भी परे होगा। इसमें क्या आश्चर्य है?

यह विस्तारसे व्याख्या करनेकी चीज है न! तो अब जो प्रसंगकी धारा है, उसमें आते हैं। अब देखो, गोपियोंके गायनके साथ दधि-मंथन हो रहा है, मक्खन निकाला जा रहा है, वह क्या है? जैसे समुद्र-मन्थनसे अमृत निकला है न, वैसे इस दधि-मन्थनसे भावका नवनीत निकलता है। और यह नवनीत चेतन है, जड़ नहीं। यह बताता है कि गोपीने कितने प्रेमसे कृष्णके लिए यह मक्खन निकाला है। यह मक्खन जब श्रीकृष्णके हाथमें पहुँचता है, तो बोलता है—यह वामा गोपीका बनाया हुआ है, कि यह दक्षिणा गोपी का बनाया हुआ है। दक्षिणा माने अनुकूल और वामा माने जो हर समय चिढ़ी रहे। जिस मक्खनमें मिठास ज्यादा हो—वह तो

दक्षिणा गोपीका बनाया हुआ है, और जिसमें सोंधापन ज्यादा हो—वह वामा गोपीका बनाया हुआ है। लोंदे भी टेढ़े सीधे होते हैं, लेकिन प्रेमीका हाथ जिसमें लग जाता है न, उसमें मिठास आवेगी निश्चित ही। और या सोंधापन होता है—नमकीन। उसमें प्रेमकी छौंक लग जाती है। प्रेमीके हाथमें जो चीज लगती है न, उसमें छौंक लग जाती है, वह सीधी-सादी नहीं होती है।

आप लोग तो घूमते-फिरते होंगे न! भारतवर्षमें जितने प्रान्त हैं, अपने तो सबकी रोटी खा चुके हैं। मद्रासी, सिन्धी, कन्नड़—सबका अपना-अपना स्वाद होता है। बनारसी स्वाद दूसरा होता है और वृन्दावनी स्वाद दूसरा होता है। गोपियोंका हाथ लग जानेसे मक्खनमें जो स्वाद आता है, उसकी विशेषता पहचानते हैं श्रीकृष्ण। बोले—कि शुकदेवजी! तुम तो विरक्त अवधूत हो, यह क्या गान कर रहे हो तुम? बोले—ऐसा गान कर रहे हैं कि निरस्यते येन दिशाममङ्गलम्—श्रीकृष्णकी गोपियाँ श्रीकृष्णसे प्रेम करके तो प्रेममयी बनी हैं। उन्होंने जो दधि-मन्थन किया, उसकी ध्वनि आज भी सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त है। आज भी जो उन गोपियोंको याद करेगा, उनकी ध्वनि सुनेगा कान लगाकर—उसके हृदयका अमंगल दूर हो जायेगा। सम्पूर्ण दिशायें उसके लिए मंगलमयी हो जायेंगी।

ये दिशायें होती हैं दस। उनके पति होते हैं दस और ये दसों पति असुरोंके जेलखानेमें होते हैं। जब श्रीकृष्ण अवतार होता है और गोपियाँ घर्र-घर्र-घर्र दधिमन्थन करती हैं और उसकी आवाज दिशाओंमें फैलती है—तब उन दिशाओंका जो अमंगल है, अपशकुन है, उनके पति जो असुरोंके जेलखानेमें बन्द हैं—उस सबका अंत हो जाता है। उनको पतियोंके छूटनेकी सूचना मिल जाती है। यह शकुन है। जहाँ गोपी हो, गाय हो, दूध हो और मक्खन हो, रोज घर्र-घर्र-घर्र दही मथनेकी आवाज से सारा गाँव गूँज जाये, तो समझना कि तुम्हारे लिए कोई अमंगल नहीं है; यह शुभ शकुन है।

अब शुकदेवजी महाराज आगे वर्णन करते हैं—

भगवत्युदिते सूर्ये नन्दद्वारि व्रजौकसः।
दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं कस्यायमिति चाब्रुवन्॥ ४७॥

व्रजमें भगवान् सूर्यका उदय हुआ। आज मानो साक्षात् भगवान् ही सूर्यके रूपमें आये हैं। इसपर विचार करो—सूर्योदय रोज होता है। सूर्य जो है—वह अंधकारसे ग्रस्त वस्तुको छुड़ाकर लोगोंकी आँखके सामने करता है; यह सूर्यका काम है। यह सूर्य शब्द जो है—सृष्ट्यर्थक है। जैसे प्रसव होनेपर पेटकी जो वस्तु

होती है, वह बाहर आकर प्रकट हो जाती है, वैसे ही जो नीले-पीले-हरे-लाल रंग अंधकारके गर्भमें-रात्रिके गर्भमें छिपे रहते हैं, आकृतियाँ और रूप सब अंधकारके पेटमें छिप जाते हैं, उनको सूर्य भगवान् अपने प्रकाशसे सृष्टिमें सबको दर्शन कराने लगते हैं। तो बोले—वैसे तो सूर्योदय रोज होता है, लेकिन आज जो सूर्य आये—वे साक्षात् भगवान् आये। क्यों? कि जो भगवान्से मिलाये, वह खुद ही भगवान् होता है। आज उद्धवजी देखेंगे गोपियोंको और भगवान्के नाम, भगवान्के गान और भगवान्के संगीतमें गोपियोंकी तन्मयता। आज उद्धवजी देखेंगे, कि गोपियाँ भगवन्मयी हो गयी हैं। गोपियोंके प्रेममें उद्धवजीको भगवान्का दर्शन होगा।

गोपियाँ कैसी हैं? आप आगे चलकर सुनेंगे—वे स्वयं कहती हैं, कि हमको तुम गृहस्थिन मत समझना। हम संसारसे उदासीन हैं, विरक्त हैं। हमने धर्मका संन्यास नहीं लिया है, ज्ञानका संन्यास नहीं लिया है। हम योगिनी नहीं हैं, ज्ञानिनी नहीं हैं; हम प्रेम-योगिनी हैं, प्रेम-संन्यासिनी हैं। हम मोक्ष-संन्यासिनी हैं। ऐसी गोपियोंका दर्शन करानेके कारण आजके सूर्य साक्षात् भगवान् हैं।

व्रजौकसः—तो व्रज ही जिनका घर है। गोपियाँ कहती हैं—कि श्रीकृष्ण हमारे घरमें रहते हैं। व्रज माने चलना-फिरना, जगत्, संसार। **व्रजतीति व्रजः। गच्छतीति जगत्, संसरणं संसारः।** इस सरकती हुई सृष्टिमें जितने भी प्राणी हैं, उन सबके जीवनका एकमात्र लक्ष्य—परम पुरुषार्थ श्रीकृष्णकी प्राप्ति है।

अब व्रजवासियोंने प्रातःकाल उठकर देखा—कि नन्दबाबाके दरवाजेपर **दृष्ट्वा रथं शातकौम्भम्**—एक रथ खड़ा है। और लोगोंके घरसे नन्दबाबाका घर कुछ विलक्षण था, कुछ ऊँचाईपर था, इसलिए वहाँ खड़ा रथ सबको दिखाई दे गया। कैसा था वह रथ? **शातकौम्भ** माने सुनहरा, स्वर्ण-जड़ित था। शातकुम्भ नामका एक पर्वत है। उसके शिखर ऐसे हैं कि दूरसे मालूम पड़ते हैं। जैसे, सौ घड़े रखे हुए हैं—शातकुम्भ। उससे जो सोना निकलता है, उसका नाम होता है शातकौम्भ। उसके समान रथ बड़ी सम्पत्तिका सूचक है। व्रजवासियोंने कहा—ऐसा रथ तो नन्दगाँवमें किसीके पास नहीं है। यहाँ तो बैलगाड़ी चलती है। यह सोनेसे बना हुआ रथ किसी राज्याधिकारीका, किसी राजपुरुषका है। यह है कौन? किसीने कहा—अक्रूरने यहाँका रास्ता देख लिया है—

अक्रूरः आगतः किं वा यः कंसस्यार्थसाधकः।
येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः॥ ४८॥

फिर वही अक्रूर आगया क्या? अक्रूरका बाना पहनकर क्रूर आया, माने मन

तो है क्रूरका, और बाहरसे है बड़ा अक्रूर। हमारे प्यारे को छीनकर ले गया। अब क्या फिर वही आया है। तो कहते हैं—अरे वह तो हमारे अर्थका, पुरुषार्थका नाशक है। **कंसस्यार्थ साधकः**—कंसका काम बनानेवाला है। तो कंसका क्यों काम बनाया इसने? कि **येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः**। हाय, हाय! इस क्रूरने हमारे साथ बड़ा अन्याय किया है, हमारे प्यारे कमल-लोचनको, कृष्णको मधुपुरी ले गया।

कहते हैं कि प्रेमियोंकी दृष्टि आँखपर ज्यादा जाती है। इसलिए गोपियाँ बारम्बार कमल-लोचनका ध्यान करती हैं, अरविन्द-लोचनकी चर्चा करती हैं। यह कृष्ण है ही ऐसा! प्यारा कृष्ण, हृदयाकर्षक कृष्ण! कृष्ण माने जो दिलको खींच ले—कर्षति, आकर्षति, कृषति। वैसे वैयाकरण लोग यह व्युत्पत्ति नहीं करते हैं कृष्ण शब्द की, तो कृषति—जो दिलके खेतको जोत दे, उसका नाम कृष्ण—कर्षतिका कृषति वा। वैयाकरण लोग तो कहते हैं कि नन्दबाबाके बेटेका नाम कृष्ण है; अव्युत्पन्न है। अव्युत्पत्ति शब्दमें ही कृष्ण शब्दका अर्थ छिपा हुआ है। जिसने यशोदा मय्याकी गोदमें बैठकर उसका दूध पिया, उसका नाम कृष्ण है। जिसने हमारे घरमें माखन-चोरी की, जिसने हमारे साथ छेड़छाड़ की, जिसने हमारे साथ रासलीला की, उसका नाम कृष्ण। वैयाकरणोंके अनुसार कृष्ण नाम है, इसकी व्यत्पत्ति बतानेकी ज़रूरत नहीं है। कैसा है वह? कि कमल-लोचन है। उसकी आँखें बड़ी प्यारी हैं; उसके हृदयकी चुगली करती रहती है—चुगलखोर हैं। किसकी चुगली करती हैं? कि उसके दिलमें जो प्रेम है, उस प्रेमको आँखें बाहर जाहिर कर देती हैं। उस प्यारे कमल-लोचनको वही ले गया है ना मधुपुरी! मधुपुरीका अर्थ कंसपुरी है। मधु भी दैत्य था और मधुपुरीका स्वामी था और कंस भी दैत्य था और मधुपुरीका स्वामी था। वह मधुवंशी भी था जो दशार्ह मधुभोज हैं, उनमें मधु भी है। इसीलिए मधुपुरी शब्दका अर्थ कंसपुरी है। तो एकबार अक्रूर आकर हमारे प्यारे श्यामसुन्दरको, प्राणेश्वरको, हृदयेश्वरको खींचकर दैत्योंकी नगरीमें ले गया। फिरसे वही आया है क्या? अब हमको लेकर क्या करेगा?

किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तुः प्रेतस्य निष्कृतिम्।
इति स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात् कृताह्निकः॥ ४९॥

अब वह हमको लेनेके लिए आया है। हमको वहाँ ले जाकर क्या करेगा? अपने मरे हुए स्वामीका श्राद्ध करेगा? इस कथनमें बड़ा व्यंग्य है। यह भी प्रकट होता है कि स्त्री थोड़े ही में ताना मारकर बोल देती हैं। देखो न! अभी गोपियोंको पता नहीं है कि अक्रूर आया है या कोई और आया है। कल्पना करती हैं, कि अक्रूर आया

है। और हमको लेनेके लिए आया है, यह भी कल्पना करती हैं। मन ही तो है न, वह तो जरूरतसे ज्यादा आगे बढ़ गया है। बोले—कि वहाँ लेजाकर क्या करेगा? बोलीं—**निष्कृतिम्**। क्या निष्कृति है भाई? कि अक्रूरने सोचा—कि कृष्ण भगवान् को हम ले आये यहाँ, तो गोपियोंको विरह हो गया। अब कृष्ण भगवान् तो वृन्दावन-नन्दगाँव लौटकर जा नहीं सकते; तो चलो, गोपियोंको ही ले आवें। केवल हम लोगोंको लेनेके लिए आया है। पर इतनी दया-माया इन मथुरा-वासियोंमें कहाँसे आयी? कृष्ण कहो, कृष्ण कहो। इस माथुरके दिलमें इतनी दया? नहीं; यह आया इसलिए होगा, कि कंसके कहे हम गये थे और कृष्णको ले आये थे—कि कंस मारेगा कृष्णको। लेकिन हमारे कृष्णके तो देवता सहायक हैं। उन्होंने उलटे कंसको मार दिया। पहला मनोरथ तो उसका पूरा नहीं हुआ। अब उसने सोचा होगा कि गोपियोंको ले चलें और कंस तो दैत्य था ही; इन्हें मारकर इनके मांससे उसका श्राद्ध करेगा। देखो गोपियोंके बोलनेकी शैलीको। इसका यह मतलब नहीं, कि उनके मांसका श्राद्ध होगा। इतना ही मतलब है—कि उनको मधुपुरी ले जानेके लिए आया है। इसको जहत्-लक्षण बोलते हैं। वेदान्ती लोग तो खाली 'तत्त्वमसि'में जहत्-लक्षणा या अजहत्-लक्षणा जानते हैं, लेकिन इसका प्रयोग हम लोगोंकी रोजकी बोलीमें होता है—इसको यह नहीं जानते होंगे। जैसे कहते हैं—यह बात सुनकर हमारे दिलमें आग लग गयी। तो इसका क्या अर्थ हुआ? कि न वहाँ आग है, न दियासलाई है, न लकड़ी है, न कोयला है—तुम्हारे दिलमें कुछ नहीं लगा। तो दिलमें आग लग गयी। क्यों बोलते हैं। मतलब है—आग लगनेसे जैसा दुःख होता है, वैसा दुःख हो गया। इसीको जहत्-लक्षणा बोलते हैं।

गोपियाँ सोचती हैं—यह हमको मार-मारकर अपने मालिक कंसका श्राद्ध करेगा। लेकिन है यह मूर्ख। क्योंकि जैसे पहले उसका मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ—कृष्णने ही कंसको मार दिया, वैसे ही जब हमसे श्राद्ध करनेके लिए वह हमें ले जायेगा मथुरा, तो अभी तो हमारे कृष्ण वही हैं न; उसको मजा चखा देंगे। उसका यह मनोरथ भी पूरा नहीं होगा। अथवा हमसे अलग करके इसने कृष्णको बहुत दुःख पहुँचाया है; अब हमको उनसे मिलाकर प्रायश्चित्त करना चाहता है।

इस प्रकार गोपियाँ आपसमें ऐसे बातचीत कर रही थीं कि इतनेमें **उद्धवोऽगात्**—उद्धवजी आगये। अच्छा, उद्धवजी काहेके लिए आये? क्या उनके कानोंतक गोपियोंकी यह बात पहुँच गयी और वे डर गये? बोले नहीं **कृताह्निकः**—उनका जो नित्य-कर्म था—आह्निक कर्म था—वह पूरा हो गया था।

अपना कर्म पूरा हो जानेके बाद वे स्वाभाविक रूपसे आये; उनकी बात सुनकर नहीं आये। उन्होंने ध्यान नहीं दिया कि गोपियाँ क्या बोल रही हैं। जो दुःखी होता है न, वह कुछ गड़बड़ बोलता ही है। अगर आदमी इस बातपर ध्यान देने लगे—कि इसने क्या कहा, इसने क्या कहा—तो कहनेवाले तो एक मिनटमें कहकर भाग जाते हैं, उन्हें तो याद भी नहीं रहता, कि हमने ऐसा कहा—और सुननेवाले उसको पकड़कर दिनभर रोते रहते हैं, चौबीसों घंटे दुःखी रहते हैं। तो जो भले लोग होते हैं, वे इस बातपर ध्यान नहीं देते हैं कि दूसरे लोग क्या कह रहे हैं, क्या सुन रहे हैं, क्या चर्चा कर रहे हैं। फिर उद्धवजी तो उत्सव-रूप हैं, उत्सव-मूर्ति हैं। गोपियाँ आपसमें क्या बातें कर रही हैं—इसका उन्होंने कोई ख्याल नहीं किया। अपने सब काम पूरे करके और आनन्दमें भरकर वे वहाँ आये।

यह गोपियोंका प्रेम बड़ा विलक्षण है। उनके प्रेममें प्रेमीपनेका अभिमान नहीं है, अपने सुखकी वासना नहीं है। उनके मनमें अपने आपके लिए बहुत-बहुत दुःख लेकर भी इष्टको सुख पहुँचानेकी इच्छा है। संसारमें जो श्रीकृष्णके वियोगी हैं—उनके लिए तो गोपियाँ आदर्श-रूप हैं। सभी गोपियाँ भी एक जैसी नहीं हैं; आगे भ्रमरगीतमें चलकर दस तरहकी गोपियोंके दस तरहके वचन मिलेंगे, जो उन गोपियोंका प्रतिनिधित्व करते हैं। एक सुन्दर बात यह है कि श्रीमद्भागवत्के और किसी प्रसंगपर श्रीरूप गोस्वामीकी टीका नहीं मिलती है, केवल भ्रमरगीतपर उनकी टीका मिलती है और उसमें ऐसा वर्गीकरण उन्होंने किया है कि देखकर आनन्द आता है। श्रीमद्भागवतपर वैसी टीकाएँ जीव गोस्वामीकी मिलती हैं, सनातन गोस्वामीकी मिलती हैं और श्रीवल्लभाचार्यजी की मिलती हैं।

अच्छा भाई! दो अध्याय है इस प्रसंगके! एक अध्याय यहाँ पूरा हो गया। अभीतक आपने बड़े प्रेमसे सत्संग सुना। सत्संग किसे कहते हैं? जो आपके हृदयको ऊपर उठावे, आपके चरित्रको उन्नत करे, आपके रागको भगवान्‌के साथ जोड़े और आपके ज्ञानका विषय परमात्माको बनावे। जो आपके जीवनको दुश्चरित्रतासे बचाकर सच्चरित्रतामें लगावे, उसका नाम होता है सत्संग। यह कोई राजनीति नहीं; संस्था बनाकर समाजसेवाका ढंग नहीं है। यह तो महात्माओंकी परिपाटी है और केवल हृदय शुद्ध करनेके लिए, हृदयमें-से राग-द्वेष निकालनेके लिए है। जहाँ जानेसे आपके हृदयमें राग-द्वेषका उदय होता हो, वहाँ नहीं जाना चाहिए। जहाँ जानेसे आपके चित्तसे राग-द्वेष मिटता है, वहाँ जाना चाहिए, क्योंकि बिना राग-द्वेष निकले न धर्ममें, न योगमें, न भक्तिमें, न ज्ञानमें—कहीं भी उन्नति नहीं होती है। ❋

अट्ठाईसवाँ प्रवचन

श्रीशुक उवाच

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम्।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम्॥ १॥
शुचिस्मिताः कोऽयमपीच्यदर्शनः कुतश्च न कस्याच्युतवेषभूषणः।
इति स्म सर्वाः परिवब्रुसत्सुकास्तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम्॥ २॥
तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने विज्ञाय संदेशहरं रमापतेः॥ ३॥
जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम्।
भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान् प्रियचिकीर्षया॥ ४॥

प्रस्तुत प्रसंग वहाँसे प्रारम्भ होता है—कि प्रातःकाल व्रजवासी जब अपने घरसे बाहर निकले, तो उन्होंने देखा कि नन्दबाबाके दरवाजेपर सोनेसे मढ़ा हुआ एक रथ खड़ा है। स्वर्ण-जटित रथ तो सबके घरोंमें नहीं हुआ करता। जो गाय चरानेवाले हैं, खेती करनेवाले हैं—उनके घरमें छकड़े होते हैं, स्वर्ण-जटित रथ नहीं होते। बोले—यह तो कोई राजपुरुष है, राज्याधिकारी मालूम पड़ता है। जब पता चला कि यह तो कोई मथुरासे आया हुआ है, तो चित्तमें थोड़ा असूया संचारी भावका उदय हुआ, दोष-दृष्टि हुई। प्रेमियोंके चित्तमें जो कुछ आता है—वह भगवत्सम्बन्धसे ही आता है। अगर ईर्ष्या करनेमें, असूया करनेमें, द्वेष करनेमें, स्पर्धा करनेमें अपना ही प्रियतम—अपना प्रभु भूल जाता हो, तो भक्त लोग अपने हृदयमें ऐसे भावोंको कोई स्थान नहीं देते हैं।

इतनेमें उद्धवजी महाराज पधारे—**उद्धवोऽगात् कृताह्निकः**। उनका दर्शन करके मनमें जो असूया संचारी भाव था, वह निवृत्त हो गया, क्योंकि उद्धवजी उत्सवात्मक हैं। ऐसा समझो कि बड़े-बड़े मन्दिरोंमें जैसे भगवान्‌की दो मूर्तियाँ होती हैं। एक मूर्ति स्थिर विराजमान होती है और प्रतिष्ठित होती है और दूसरी उत्सव-मूर्ति होती है, जो शोभायात्रा, जुलूस निकालनेके काम आती है। उद्धव और उत्सव-दोनों समानार्थक शब्द हैं। उत्+सवमें 'सव'का अर्थ है यज्ञ, और

'उत्' उत्कृष्ट होता है। जो यज्ञसे भी उत्कृष्ट हो, उसका नाम 'उत्सव', और जो हवनसे भी उत्कृष्ट हो, उसका नाम 'उद्धव'। तो उद्धवजी भगवान्‌की उत्सव-मूर्ति हैं। जैसे स्थिर मूर्ति तो मथुरामें विराजमान हो और उत्सव-मूर्ति व्रजमें आयी है। इसीलिए उद्धवजीका दर्शन करते ही गोपियोंके मनमें मथुरावासियोंके प्रति अक्रूरके सादृश्य अथवा साधर्म्यसे जो थोड़ा असूयाका भाव आगया था, वह तत्काल दूर हो गया। भक्त वह है--जिसके दर्शनसे चित्तमें पवित्रता आजाये। यह आप ध्यानमें रखो। जैसे किसी सिपाहीको देखते हैं, तो तुरन्त मनमें आता है कि यह सरकारी आदमी है, वैसे ही जब हम किसी भक्तको देखें, तो मनमें आवे—कि यह भगवदीय पुरुष, भागवत पुरुष है। असलमें भक्त है ही वह—जिसके दर्शनसे भगवान्‌का स्मरण होवे। यदि अक्रूरकी याद आती रहती गोपियोंको, तो काहेके उद्धव! उद्धवजीका तो दर्शन होते ही गोपियोंको अक्रूरकी याद भूल गयी।

अब उस प्रसंगमें दूसरी बात यह देखो—कि उस समय गोपियाँ अक्रूरको गाली दे रही थीं। उद्धवजीने उधर ध्यान नहीं दिया। बोले—कि उद्धवजीने ध्यान नहीं दिया, क्योंकि सत्पुरुषका यह स्वभाव नहीं है। दूसरे लोग आपसमें जो मौज हो—सो बोलें। उससे भलेमानुसको क्या मतलब! वह अपने हृदयमें बैठे हुए भगवान्‌का ध्यान करेगा या यह पता लगाता रहेगा—कि गाँवके लोग आपसमें क्या बात करते हैं? जिसको जो मौज हो—सो बात करे, और जिसको जो पसन्द हो—सो काम करे। तुम किसीके पट्टेदार हो, न ठेकेदार हो, न जज हो। फिर व्यर्थ ही उसके बारेमें चिन्ता करके अपने चित्तको क्यों खराब करते हो। कोई अपने निर्णयका भार तुम्हारे ऊपर छोड़ दे, तो उसके बारेमें सोचना। कौन-सा ईश्वरने तुम्हें भेजा है कि जाकर उनकी देखभाल तुम करना! फिर तुम क्यों अपने चित्तमें संसारको बसाते हो? तो इसलिए उद्धवजीने उधर ध्यान नहीं दिया।

अब एक तीसरी बात इसमें देखो—क्या बढ़िया बात आयी है! लोग समझते हैं कि जब आदमी भक्त हो जाता है, तो उसको सन्ध्या-वन्दन, देवपूजन आदि की कोई जरूरत नहीं रहती है। बोले—यह बात गलत है। **उद्धवोऽगात् कृताह्निकः**—नन्दबाबाके घरपर वे आह्निक सूत्रके अनुसार एक द्विजातिका जो प्रातःकालीन कर्तव्य है—उसको पूर्ण करके तब उद्धवजी गोपियोंके मध्यमें आये। अच्छा, इसमें भी ख्याल होता हो, कि गोपियोंकी बात सुनकर—कि हमारे

बारेमें कुछ कहने न लग जावें—तो चलो, सफाई दे आवें इनको; नहीं, ऐसा नहीं। अपने नित्यकर्म पूरे करके शान्तिसे उनके बीच आये।

अब श्रीशुकदेवजी महाराज आगेकी लीलाका अनुसन्धान करते हैं। इस संसारमें स्थूल दृष्टिवाले लोग समझते हैं कि प्रत्येक कार्य शरीरसे ही किया जाता है, क्योंकि वे जानते ही नहीं, कि मन क्या होता है, ध्यान कैसे किया जाता है और उसमें कितनी क्रियाशक्ति है। भगवान्‌की लीला शरीरसे अनुकरण करनेके लिए नहीं होती, ध्यानसे करनेके लिए होती है। संजयने अपनी ध्यान-दृष्टिसे ही भगवान् कृष्ण और अर्जुनके संवादोंका साक्षात्कार किया तथा अन्धे धृतराष्ट्रको सुनाया था। श्रीमद्भागवतके रचयिता व्यासजी समाधि लगाकर ही देखते हैं कि कैसे-कैसे श्रीकृष्ण क्या लीला करते हैं। भगवान्‌के भक्तोंकी जो आपसमें चर्चा है, मिलन है, वर्तन है—वह भगवान्‌की लीलाओंको प्रकट करनेवाला होता है। बल्कि भगवान् स्वयं सामने आजायें और कहें—कि हमारी चर्चा छोड़ो, तो भक्तको यह स्वीकार नहीं है। अगर भक्त न हो तो भगवान् क्या करेंगे? मुस्कुराया भी जाता है, तो किसीको देखकर न! अगर भक्त न हो, तो भगवान् कैसे मुस्कुरायेंगे? भगवान्‌की प्यारी-प्यारी, मधुर-मधुर चितवन है; किसके ऊपर जायेगी, अगर भक्त ही न हो? तो भगवान्‌का जो सौन्दर्य है, माधुर्य है—वह भक्तोंकी अपेक्षा करता है। भक्तोंपर ही वह खिलता है। भक्त भगवान्‌को अपने दिलमें लिए-लिए फिरते हैं।

यहाँ इस प्रसंगमें दो तरहके भक्त मिलते हैं। ऐश्वर्यके भक्त हैं उद्धव और माधुर्यकी भक्त हैं गोपियाँ। दोनों मस्ताने हैं, दोनों दीवाने हैं और दोनों ही प्रेममें मग्न हैं। इनके बीच जो बातचीत होगी, वह बड़े प्रेमकी होगी। उससे प्रेमके रहस्य खुलेंगे। प्रेमके रहस्य भगवान्‌को देखकर नहीं खुलते, भक्तोंसे ही खुलते हैं। भक्तोंमें जो प्रेमकी मस्ती होती है, दिव्योन्माद होता है, उससे संसारी जनोंका बड़ा भारी कल्याण होता है। उद्धवजी और गोपियोंमें जो प्रेमपूर्ण वार्तालाप हुआ है, उसे भ्रमरगीतकी संज्ञा दी गयी है। श्रीरूपगोस्वामीजीने दिव्योन्माद दशाको दस हिस्सोंमें बाँट दिया है। उनका गौड़ेश्वर सम्प्रदाय है। सुबोधिनीजीका पक्ष दूसरा है। श्रीधरस्वामीका जो पक्ष है, वह दोनोंसे विलक्षण है।

श्रीशुकदेवजी महाराज—यह भक्त-भक्तोंकी लीलाका अनुसन्धान कर रहे हैं। वे कहते हैं—देखो, व्रजधाम है, नन्दगाँव है। प्रातःकालका समय है और गोपियोंकी दृष्टि उद्धवजीपर पड़ी है। तं वीक्ष्य—गोपियोंने उद्धवजीका वीक्षण

किया। माने एक चुभती नजरसे गोपियोंने उनको देखा। वीक्षण होता है स्वामित्व पूर्वक ईक्षण। इसमें 'वि' उपसर्ग है, जिसका अर्थ है 'विशेष' और ईक्षण अर्थात् देखना। वीक्षण करनाका अर्थ है—जाँच-पड़ताल करना। जैसे गाँवमें इन्सपेक्टर आता है और जाँचकी नजरसे किसीको देखता है—कि यह कैसा आदमी है, वैसी ही गोपियोंकी जो पहली नजर उद्धवजीपर पड़ी, वह वीक्षणात्मक थी। वे भोली-भाली नहीं हैं, कि चाहे जिसपर विश्वास कर लें, चाहे जिसके पास चली जायें। उन्होंने पहले देख लिया कि यह आदमी मिलने लायक है कि नहीं। इसके पास जाना ठीक है कि नहीं। यह कैसा आदमी है—यह वीक्षणका भाव है। बिलकुल अज्ञात कुल-शील व्यक्तिसे एकाएक मेलजोल नहीं बढ़ाना चाहिए। वीक्षणका अर्थ है कि गोपियोंने उद्धवजीकी जाँच-पड़ताल करली। दूसरा इसका भाव और भी बढ़िया है, **तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं**—उन्होंने देख लिया कि यह कृष्णका अनुचर है। अगर कृष्णका सम्बन्धी न हो, तो गोपियाँ उससे बात नहीं करतीं। **यः कृष्णं अनुचरति**—अनुचरका अर्थ है—पीछे-पीछे चलना। कृष्ण जिसके आगे-आगे चलते हैं और जो उनके पीछे-पीछे चलता है, वही कृष्णका अनुचर है।

दूसरी बात इसमें यह है कि **अनुचरति खाद्यते**—जब कृष्ण खा लेते हैं, तब यह खाता है—माने उनका प्रसाद-भोगी है। भक्तके लिए यह बात आती है। उद्धवजीके सम्बन्धमें यह वर्णन आता है कि पाँच बरसकी उम्रमें भी बिना कृष्णको भोग लगाये उद्धवजी भोजन नहीं करते थे। इसमें बड़ा बचाव है—भक्तिकी दृष्टिसे भी और लौकिक दृष्टिसे भी। अगर कोई ऐसा नियम ले ले—कि हम भगवान्‌को भोग लगाये बिना भोजन नहीं करेंगे, तो वह अशुद्ध वस्तुके भोजनसे तो बच ही जायेगा और बारम्बार कितना भोग लगायेगा? कितना खायेगा? अमर्यादित भोजनसे भी बचाव हो जायेगा। अपनेको दुबला करनेके लिए कोई दवा भी नहीं खानी पड़ेगी, व्यायाम भी नहीं करना पड़ेगा, भोजन अपने आप ही कम हो जायेगा। स्लिम कल्चर (Slim Culture) जिसको आजकल बोलते हैं न! सब लोग दुबला-पतला होना चाहते हैं। अगर वे भगवान्‌को भोग लगानेका नियम करें, तो अपने आप ही थोड़ा खायेंगे, बाँटकर खायेंगे। तो उद्धवजी कृष्णानुचर हैं, उच्छिष्ट-भोजी दास हैं।

इससे भी बढ़िया एक और बात है। कान खड़े रखो, तब सुनावेंगे। गोपियोंने वीक्षण किया—माने जैसे श्रीकृष्ण किसीका ईक्षण करके उसको

दिव्य बना देते हैं, उसकी सृष्टि बना देते हैं, वैसे-वैसे ही गोपियोंने जब उद्धवजीको देखा, तो उनके हृदयमें यह संकल्प आया—कि इस व्यक्तिको भगवद्भक्तिसे भरपूर कर देना चाहिए। यह मथुरासे जैसा सूखा आया है, अब वैसा लौटने न पावे। **स एक्षते अहं बहुस्याम प्रजाय**—इस श्रुतिमें ईक्षण शब्दका जैसा अर्थ है, उसीके अनुरूप गोपियोंने यह संकल्प किया, कि अब उद्धवजीको कृष्णका सच्चा प्रेमी बनाकर भेजेंगे, क्योंकि हम लोगोंके वहाँ न रहनेसे कृष्णको खानेमें, पीनेमें, सोनेमें—सेवामें जो बाधा पड़ती है, वह दूर हो जायेगी। उद्धवजी प्रेमसे भरकर यहाँसे जायेंगे, तो हमारी तरह ही कृष्णकी सेवा करेंगे। इसलिए इनको भी अब गोपी-भावसे भरकर यहाँसे भेजना है। उद्धवका दर्शन होते ही गोपियोंके मनमें यह संकल्प आया। वीक्ष्य माने उद्धवकी नवीन सृष्टि करनेका संकल्प!

अब यह प्रश्न आया—कि गोपियोंको तो नये आदमीको देखकर कुछ संतोष करना चाहिए। बोले भाई, संतोष तो उनको होता होगा, जो व्रजके बाहर रहते हैं। व्रजमें तो अभी भी संतोष नहीं है। अभी भी हम बाबाजी लोग हैं न—जो ॐनमो नारायणाय कहते हैं—जब व्रजमें जायँ और स्त्रियाँ कूओंपर पानी भर रही हों, तो कहती हैं—ऐ बाबा, ऐ बाबा! वे तू बोलती है? क्या बात है? कि अरे, जरा घड़ा उठवा दे। एक बार श्रीउड़िया बाबा जी महाराज एक गाँवमें गये—वे स्वयं बड़े प्रेमसे बताते थे—कि तब बड़ा मजा आया। तब जरा अन्धेरा हो गया था। गाँवमें हल्ला हो गया—कि उड़िया बाबा आया है, उड़िया बाबा आया है। बड़े प्रसिद्ध थे न! अब गाँवकी स्त्रियाँ जो थीं न; वे घरमें-से दीपक लेकर आवें और बाबाके मुँहपर कर-करके देखें—कि कैसा हूँ'। कहें—अरे, यही है उड़िया बाबा!

व्रजकी स्त्रियोंके लिए डरकी तो कोई बात ही नहीं है। वे सींकिया पहलवान तो हैं नहीं; वे तो धींगरी होती हैं। किसीकी हिम्मत है कि कोई उनके सामने कुछ कह सके? इसलिए वे उद्धवजीके पास आगयीं, और पहचान गयीं—कि यह कृष्णका अनुचर है। अब देखो, उद्धवजी बिलकुल कृष्ण—सरीखे हैं। जैसे भगवान्‌में छह विशेषताएँ होती हैं, वैसे ही उद्धवजीमें भी हैं। रूपमें, वेशमें, अलंकारमें, चेष्टामें श्रीकृष्णकी समता है—

प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनं—यह उद्धवजीका रूप है।

पीताम्बर पुष्करमालिनं—यह उद्धवजीका वेश है।

लसन्मुखारविन्दं—यह उद्धवजीकी चेष्टा है।

मणिमृष्टकुण्डलं—ये उद्धवजीके आभूषण हैं।

उद्धवजीमें इस प्रकार छह बातोंका वर्णन इकट्ठे किया गया है—जैसा हम पहले देख आये हैं। तो उद्धवजीका दर्शन करें, तो श्रीकृष्णका दर्शन हो जायेगा। कृष्ण कैसे हैं? लम्बे-लम्बे हृष्ट-पुष्ट भुजदण्ड हैं उनके। गोपियोंको अनुभव है! जब किसी गोपीको पकड़कर वक्षस्थलसे लगा लेते हैं, तब उसको अनुभव होता है कि श्रीकृष्णके भुजदण्डमें कितना बल है। प्रलम्बबाहु हैं न! बाहोंका लम्बा होना महापुरुषका लक्षण है—आजानुबाहु—बोलते हैं। भगवान्‌की बाहें लम्बी हैं—इसका अर्थ आप जानते हैं? हम कभी इधर-उधर भटक जायँ, तो वे हमको बड़ी दूरसे पकड़कर भी अपने साथ सटा लेते हैं और उनकी क्रियाशक्ति सदैव सर्वत्र अपना काम करती है। अपने भक्तकी रक्षाके लिए हर जगह उनकी बाँह पहुँच जाती है।

नव कञ्जलोचनं—ये आँखें हृदयकी खिड़की हैं। आँखें झरोखा हैं। यह दिल जो है न—यह आँखमें-से झाँकता है। जानकार लोग देखते हैं आँख और पहचान लेते हैं दिलको! क्योंकि वह आँखमें लगा-लगा डोलता है। यह दिलका स्वभाव है। नवकञ्जलोचन माने नये-नये, ताजे-ताजे खिले हुए कमल जैसे नेत्र। 'क' माने जल; जलसे जिसकी उत्पत्ति होवे—उसका नाम है कमल, कञ्ज। पानीमें पैदा होता है और बड़ा सुन्दर, बड़ा रसीला होता है। आप जानते हैं न, पानी सूख जाय, तो कमल रह नहीं सकता। भगवान् या भक्तकी आँख कैसी? कि कभी सूखती नहीं। उनके नेत्रका रस हर समय बना रहता है। आँखें उनकी हर समय ठंडी, सर्द, रसीली रहती हैं, रस बरसाती रहती हैं।

कंज—का एक दूसरा अर्थ बड़ा विचित्र है। कं जनयति—ब्रह्माको जो पैदा करता है, उसका नाम कंज है। यह समझो, कि सृष्टि बनानेकी सामर्थ्य भगवान्‌के नेत्रोंमें है। आँख टेढ़ी करके देखें—तो प्रलय हो जाय और आँखमें रस भरके देखें—तो नयी सृष्टि बन जाय, नया घर बस जाय। नई लक्ष्मी आजाय, नया वैकुण्ठ बन जाय। तो भगवान्‌की आँखें कैसी हैं? कि नवीन कंजके समान कोमल, रसीली, बड़ी-बड़ी, सुन्दर—जिनको देखकर लोग भावमें भर जायँ। नवकंज हैं—माने इसमें बासीपना नहीं है, मुरझाना नहीं है, कुम्हलाना नहीं है।

अब गोपियोंने देखा, कि उद्धवजी भगवान्‌के यहाँसे आये हैं व्रजमें, तो

भगवदादेश लेकरके आये हैं। इसीलिए इनका वर्णन करते हैं—कि प्रलम्बबाहु और कमलके समान नेत्र हैं। अब वेश कैसा है? गोपियाँ पहचानती हैं कि पीताम्बर वही है, पुष्करमाला वही है। उद्धवजीको पहननेके लिए श्रीकृष्ण अपना उतरा हुआ देते हैं, माने जो वस्त्र श्रीकृष्ण एक बार धारण कर लेते हैं, वह उद्धवजीको दे देते हैं। तो श्रीकृष्ण वहाँ जाकर कोई काला कोट तो नहीं पहनने लगे? नहीं, वही पीताम्बर है, वही माला है। पीत=पीला। पहले ज्ञान देते थे तो लाल या पीला वस्त्र पहनते थे। अब तो देखते हैं=काली पतलून भी पहनते हैं; काली टोपी, काला कोट, काला जूता; और ब्राह्मण वेद-मन्त्र भी साथ-साथ पढ़ रहे हैं। एक बार कहीं बम्बई सेन्ट्रलके पास ले गये थे हमको ब्याहमें। हिन्दूका ब्याह था। मैसूरसे आये थे वे। चारों तरफ कुर्सियोंपर सब बैठे थे। वह जूता पहने हुए और पण्डित लोग ब्याह करा रहे थे। जब मैं गया, तो जूता निकाल दिया! कर्मकाण्डकी बड़ी दुर्दशा हो रही है। एक बार मद्रासमें क्या देखा—कि वहाँ पण्डितजी—जो यज्ञोपवीत करा रहे थे—रामचरित मानसकी चौपाई बोलते जा रहे थे। जब गायत्रीके उपदेशका समय आया, तो एक बार उठकर वे मेरे पास आये और बोले मेरे कानमें—कि मेरी इज्जत आपके हाथमें है; आपको भेद मालूम है। गायत्री उनको मालूम नहीं थी, गायत्रीकी जगह रामचरित मानसकी चौपाइयाँ बोलते थे।

उद्धवजीका शरीर यह बताता है कि कृष्णने मथुरा जाकर वेश-भूषा नहीं बदली है। वे पीताम्बर धारण क्यों करते हैं? कि प्रेमके रंगमें रंगे हुए हैं। पीताम्बर इसलिए धारण करते हैं—कि श्रीराधारानीके अंगका रंग स्वर्णके समान है; पीत-वर्ण! तो वे भरी सभामें उसके अंगके रंगसे अपनेको लपेटे रखते हैं। यह पीताम्बरका है? यह राधारानी हैं। पीताम्बरको अपने शरीरपर धारण करके श्रीकृष्ण यह अनुभव करते हैं, कि मैं राधारानीसे मिला हुआ हूँ। तो उद्धवजीने बताया, कि उसी स्थितिमें श्रीकृष्ण रहते हैं अब भी, जैसे पहले रहते थे। अब भी उनके प्रेममें कोई बाधा नहीं पड़ी है, कोई अन्तर नहीं आया है।

पुष्करमालिनं—उद्धवजीके गलेमें जो माला है कमलकी उसको उद्धवजी रोज पहनते थे, लेकिन जिस दिन कृष्णने उन्हें व्रजमें भेजा, उसदिन कहला दिया था उनको—कि यह पहनकर जाओ। यह क्या है? कि बहुत-सी गोपियोंने अपना हृदय-कमल भगवान्‌को अर्पित किया है। उसके प्रतीकके रूपमें यह रोज एक कमलकी माला पहनते हैं। कमल उनको बहुत पसन्द हैं। अभी

भी वे तुम्हारे दिलको लिए-लिए फिरते हैं। यह नहीं समझना कि वे तुमको भूल गये हैं।

लसन्मुखारविन्दं—उद्धवजीका मुख-कमल लास्य कर रहा है, नाच रहा है। माने उनके मुखारविन्दपर एक दिव्य शोभा छलक रही है। **लसन्मुखारविन्द**का अर्थ समझो—कि उनका मुख है कमलके समान और उसपर एक नृत्य हो रहा है, माने भावोंका उतार-चढ़ाव हो रहा है। उसीको लावण्य कहते हैं। यह सौन्दर्यका नमकीनपना है, चटपटापना है—कि क्षण-क्षणमें चेहरेपर एक भाव आवे—दूसरे उतरे; दूसरा आवे—तीसरा उतरे। जिसके मुखपर एक ही भाव रहता है, वह तो शुष्क हो गया, रस-संचार बन्द हो गया। रस-संचार बन्द होनेपर रस कहाँसे रहेगा? वह तो विरक्त हो गया! जैसे सूर्य होता है उदयके समय; मुखपर बारम्बार लाल-लाल भाव आते हैं, लालिमा दौड़ती रहती है मुखपर, वैसे ही उद्धवजीके मुखपर उत्फुल्लता है। व्रजवासियोंको देखकर उनके हृदयमें नवीन-नवीन भावोंका उदय हो रहा है और वे उनके मुखारविन्दपर नृत्य कर रहे हैं।

मणिमृष्टकुण्डलं—ये कानोंके आभूषण, कुण्डल है, उद्धवजी जो पहने हुए हैं, उनमें-से जगमग, झिलमिल चमक निकल रही है। मणिमृष्टका अर्थ है परिमार्जित; यह नहीं—कि उसमें मैल बैठी हो। आदमीके जेवर देखकर भी उसके व्यक्तित्वका पता चल जाता है। कई लोग चश्मा लगाते हैं न; बड़ा गन्दा होता है। कु माने कान, कुण्डको जो शोभायमान करे, अलंकृत करे, उसका नाम कुण्डल है। कर्ण-अल्प कुण्डको जो अलंकृत करे, उसका नाम कुण्डल है। ये जो कुण्डल हैं, उनमें मणियाँ लगी हुई हैं। इसका अर्थ हुआ—कि गोपियो, तुम्हें प्रेम-रत्नके सम्बन्धमें, तुम्हारे राग-रत्नके बारेमें मैंने बढ़िया-बढ़िया बातें सुनी हैं। कृष्णने ये कुण्डल इसीलिए मुझे दिये हैं—कि गोपियाँ हमसे बड़ा प्रेम करती हैं, हमारे प्रेममें पागल रहती हैं। वे इन कुण्डलोंको देखते ही हमारे प्रेमको समझ जायेंगी।

शुचिस्मिताः कोऽयमपीच्यदर्शनः कुतश्च कस्याच्युत-वेषभूषणः।
इति स्म सर्वाः परिवब्रुरुत्सुकास्तमुत्तमश्लोक - पदाम्बुजाश्रयम्॥

४७.२

शुचिस्मिता—यह एकवचन भी है, बहुवचन भी है। एकवचन है, तो उद्धवजीके लिए है और बहुवचन है तो गोपियोंके लिए है। अद्भुत बात है! किसीकी मुस्कानमें भी प्रसन्नता होती है और किसीकी मुस्कान देखते ही पता चल

जाता है कि ये बेवकूफ बनानेके लिए मुस्कुरा रहे हैं। अभी कुछ दिन पहले मैंने अखबारमें पढ़ा कि किसीकी पत्नी मुस्कुराती हुई उसके सामने गयी, तो पतिदेवने कहा—मुस्कुराओ मत। पत्नी बोली—क्यों? मुस्कुराऊँ क्यों नहीं? बोले कि तुम जब मुस्कुराकर बात करती हो, तो हमें सौ-पचास रुपयोंकी चपत पड़ जाती है। तो देखो, उस मुस्कुराहटमें हैं न सौ-पचास रुपये! आप ऐसे हँसो, ऐसे मुस्कुराओ—कि श्रीमान्‌से सौ-पचास रुपये वसूल हो जायँ। लोभ मनमें है, तब उसका मन खिलता है।

गोपियोंकी मुस्कुराहट कैसी है? शुचिस्मिता है; शुचि माने पवित्र है। वे श्रीकृष्णके वियोगमें बहुत दुःखी हैं। उनके हृदयमें पीड़ा है और मुस्कुरानेका अवसर नहीं है। लेकिन जब उन्होंने देखा कि उद्धवजी सामने हैं, अगर हमारी आँखोंसे आँसू गिरेंगे और हमारा चेहरा उदास हो जायेगा, तो इनको भी दुःख होगा। ये श्रीकृष्णके भेजे हुए अतिथि हमारे घर आये हैं। हमें इनको प्रसन्न करना चाहिए। हम हँसेंगी तो ये भी हँसेंगे, और हम रोने लगेंगी तो ये भी रोने लगेंगे। इनको दुःख नहीं हो, इसलिए इनके सामने हमें रोना नहीं चाहिए; हमारे चेहरेपर मुर्दनी नहीं छानी चाहिए। आपने देखा होगा—चार आदमी हँस रहे हों और एक मनहूस वहाँ पदार्पण कर ले, तो सब-के-सब अपनी हँसी बन्द करके मातमपुर्सी करने लगेंगे, दुःखी हो जायेंगे। और इन रोनेवालोंमें अगर एक प्रसन्नचित्त व्यक्ति पहुँच जाये, तो उसकी परछाईं पड़ते ही वे दसों व्यक्ति प्रसन्न हो जायेंगे। तो गोपियाँ इस दशामें भी यह स्मरण रखती हैं कि हम कृष्णकी कोई सेवा नहीं कर पातीं हैं, उनको सुख नहीं पहुँचा पाती हैं, तो उनके भेजे हुए सेवकको—जो हम लोगोंके बीच आया है—हम दुःख क्यों दें? यह कौन-सी सेवा होगी? इसलिए वे **शुचिस्मिता** हैं, मुस्कुरा रही हैं।

यह कौन-सा दर्शन है? **अपीच्य दर्शन**—उद्धवजीका दर्शन अपीच्य है, अनिन्द्य है। इस शब्दका प्रयोग भागवतमें ही मिलता है। इनको देखनेसे प्राणप्यारे श्यामसुन्दरकी अधिकाधिक याद आती है। देखो, सुन्दरता इसीका नाम है। चिकने और गोरे चाँदका नाम सुन्दरता नहीं है। जिसको देखकर मन तर हो जाये, वही सुन्दर है। अनिन्द्य सौन्दर्य वह है, जिसमें निन्दनीय भावका समावेश न हो। तो गोपियाँ कहती हैं—यह कौन हैं? **कुतश्च**—कहाँसे आये हैं? **कस्य**—किसके हैं? और **कुतश्च कस्याच्युत वेशभूषणः**—इन्होंने अच्युतका वेश और आभूषण कहाँसे प्राप्त किया? यहाँ यह अर्थ नहीं है कि **अच्युतस्य वेशभूषणम् यस्य**—

इनकी वेशभूषा कृष्णके समान है, **अच्युतस्यैव वेशभूषणं च यस्य**—जिसने श्रीकृष्णके शरीरसे उतरे हुए वस्त्रोंका वेश बनाया है और उन्हींके शरीरसे उतरे हुए आभूषण धारण किये हैं।

अब तो बड़ी उत्सुकता हुई गोपियोंके चित्तमें कि **इति स्म सर्वाः परिवब्रुरुत्सुका**—कृष्ण न मिलें, तो उनके वस्त्र ही निकटसे देखनेको मिल जायें, उनके आभूषण ही निकटसे देखनेको मिल जायें। लोग कहते हैं कि इसी रास्तेसे हमारे प्यारे जाया करते थे, इस गिलाससे हमारे प्यारे पानी पिया करते थे, यह हमारे प्यारेकी पीकदानी है—मतलब यह है कि प्रियसे सम्बद्ध जो वस्तु होती है, वह प्रेमियोंको बहुत प्रिय लगती है। अतः **परिवब्रुरुत्सुकाः**—उत्सुक होकर गोपियोंने उद्धवजीको चारों ओरसे घेर लिया।

अब उद्धवजी कैसे हैं—**उत्तम-श्लोक-पदाम्बुजाश्रयं-उत्तम श्लोक पदाम्बुजा एव आश्रयः यस्य**—उद्धवजीको और किसीका सहारा नहीं है, वे श्रीकृष्ण-चरणारविन्दके प्रति अनन्य हैं। वे उत्तमश्लोक हैं। उत्तम पुरुष जिनके यशका गान करें—**उत्तमै श्लोकयते इति**—उत्तम लोग गाकर जिनका श्लोक बनावें, वह है उत्तमश्लोक। **उपगतं तनुं वेद्यः ते उत्तमाः**—जिनमें अज्ञान बिलकुल नहीं है, उनका नाम है उत्तम। ऐसे उत्तम पुरुष जिनके यशका गान करते हैं या जिनका यश बहुत उत्तम है—वे हैं उत्तमश्लोक। **पदाम्बुजाश्रयम्** का एक बहुत बढ़िया अर्थ है। पहले यह अर्थ बताया—कि भगवान्‌के चरणारविन्द हैं आश्रय जिनके; इसमें बहुव्रीहि समास है। जैसे हम अपने पैरोंको लटकाकर बैठे हैं और उनको किसीकी गोदमें रख दें—तो वह हमारे चरणोंका आश्रय हो गया; आश्रय माने रखनेकी जगह। वैसे ही भगवान् कृष्ण जब कहीं बैठते थे—चौकीपर, कुर्सीपर, सिंहासनपर, तो पाँव अपने लटकाते थे न! तो उद्धवजी अपनी गोदमें उनको लेकर बैठा करते थे। अतः **उत्तमश्लोक पदाम्बुजाश्रयः उद्धवः**—उद्धवजी भगवान् कृष्णके पादपीठ हैं, इसी गोदमें पाँव रखकर वे बैठा करते हैं।

उन्तीसवाँ प्रवचन

आप अपने मनको उसी परिस्थितिमें—व्रजमें ले चलो! यदि श्रोता अपने मनको वक्ताके साथ न ले चले, तो वह कठोर दिलका माना जायेगा। वह अभिमानी हो गया, जो अपनी जगह नहीं छोड़ता है। अगर आप अपनी जगह नहीं छोड़ेंगे, मन-ही-मन उस देशमें नहीं चलोगे, तो उसका जो आनन्द है—वह आपको नहीं आयेगा। वेदान्तका ध्यान एकान्तमें होता है और भक्तिका ध्यान सत्संगमें होता है। यहाँ विषयका कोई व्यापार नहीं है, चित्तसे निर्विकल्प भी नहीं हैं। यहाँ विषय रूपसे तो संसार नहीं और उधर निर्विकल्पता नहीं। दोनोंके बीचमें जो भगवान्‌की लीला होती है, उसका आनन्द लेनेके लिए हम कथामें बैठते हैं। जो लोग पुण्यके लिए सुनते हैं, उनकी बात दूसरी है—कि चलो, कथामें चलकर बैठ जायेंगे, तो कोई चर्चा सुनकर समय कट जायेगा, थोड़ा पुण्य हो जावेगा, अच्छी बात सुन आवेंगे। वह सब तो ठीक है, पर उसका मजा तो तब आवेगा, जब आप अपने आपको उस भूमिकामें ले चलेंगे।

अब देखो, गोपियोंके सामने **उत्तमश्लोक-पदाम्बुजाश्रयः** श्रीउद्धवजी विराजमान हैं और गोपियोंने चारों ओरसे उनको घेर रखा है। उनका मण्डल देखो—**इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सकास्तमुत्तमश्लोकः पदाम्बुजाश्रय**—बीचमें हैं उद्धवजी और **परिवव्रु**—उनको चारों ओरसे घेरकर गोपियाँ खड़ी हैं। उद्धवजी दूरसे दिख नहीं रहे हैं। अगर तुम गोपियोंमें शामिल हो जाओगे, तब उद्धवजीके दर्शन पाओगे। अच्छा, यहाँ सबसे बढ़िया बात है, कि प्रत्येक गोपीके मनमें गुदगुदी हो रही है, सनसनी उठ रही है—कि इनसे श्यामसुन्दरकी बात कैसे करें। अगर तुम्हारे चित्तकी भी यह दशा हो जाय, तो देखो, अभी परमानन्दका उदय हो जायेगा। इसीको रागानुगा भक्ति बोलते हैं। गोपियोंके हृदयमें श्रीकृष्णके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त करनेके लिए जैसी उत्सुकता है और जैसे उनका दिल उछल रहा है—वह उत्सुकता अगर एक बार भी तुम्हारे ध्यानमें आजाय, तो परमानन्द मिल जाय। ध्यानकी विधि भी यही है कि यदि आपको श्रीकृष्णका ध्यान करना हो, तो उनके साथ-साथ गोपीका भी ध्यान करो। गोपियोंके चित्तमें श्रीकृष्णके साथ लिपट जानेके लिए जो उत्सुकता होती है न, वह ध्येय होती है।

यहाँ बीचमें बैठे हैं उद्धवजी और उनको चारों ओरसे घेरकर खड़ी हुई गोपियोंके मनमें श्रीकृष्णका नाम, श्रीकृष्णका वेश, श्रीकृष्णका चरित्र सुननेकी

उत्सुकता है। उद्धवजी क्या हैं, कैसे हैं—यह आपको कल सुनाया था। उत्तमश्लोक पदाम्बुजाश्रयम् श्रीकृष्णके चरणारविन्द उद्धवजीके आश्रय हैं, माने उनकी सेवामें यह संलग्न रहते हैं, उनके प्रति अनन्य हैं। भगवान्‌के चरणारविन्दके ये आश्रय हैं—माने उद्धवमें भगवान्‌के चरणारविन्द रहते हैं। जब उद्धवजी भगवान्‌की पादुका उठाकर अपने सिरपर रखते हैं न, तो भगवान् कहते हैं—उद्धव मेरा भक्त और उसके सिरपर मेरी पादुका खाली रहेगी? तो आकर उसमें बैठ जाते हैं। यह प्रसंग भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें आया है।

अच्छा, उद्धवजीके हृदयमें जो कमल है, वह भगवान्‌का चरणारविन्द है। जब उद्धवजी श्रीकृष्णके पास बैठते हैं, तो उनकी गोदमें श्रीकृष्ण अपने चरणारविन्द रख देते हैं। उद्धवजी पादपीठ हैं श्रीकृष्णके। अब गोपियाँ तो यह जान गयीं। यह तो ऐसा रस है, जिसको कोई छिपा नहीं सकता। जैसे जब क्रोध आता है न, तो आँखें लाल हो जाती हैं, भौंहें चढ़ जाती हैं। ऐसे ही काम आता है, तो शरीरमें उत्तेजना आजाती है। वैसे ही शरीरमें भगवत्-प्रेम आता है, तो उससे ऐसी सुगन्ध निकलती है, कि उसको कोई छिपा नहीं सकता। इसलिए गोपियाँ उद्धवजीको देखते ही पहचान गयीं, कि ये तो हमारे श्यामसुन्दरके अन्तरंग मित्र हैं। अतः गोपियोंने विनयसे अपना सिर झुका लिया। ऐसा नहीं—कि जाके अपना सिर पटक दिया। **प्रश्रयेणावनताः**—कायदेसे काम करना चाहिए न! गोपियोंके हृदयमें विनय, आदर है; और उनके सिर झुके हुए हैं। भक्तिमें झुकना—यह मुख्य साधन है। अभिमानसे अविनय आती है और भक्तिसे विनय आती है। असलमें भक्तिका प्रारम्भ विनयसे ही होता है। फिर विनयसे प्रणय होता है और प्रणयसे परिणय भी होता है। वृन्दावन हो—तो प्रणय समझो और द्वारिका हो-तो परिणय समझो। पर प्रणय और परिणय—दोनों विनयसे ही निकलते हैं। एक ही धातु है दोनोंमें। जिसके अन्दर न प्रणय है, न परिणय है और न विनय है—उसके अन्दर तो मैं नहीं हूँ और 'मैं' नहीं हूँ, तो 'मेरा' भी नहीं है।

गोपियोंने उद्धवजीका सत्कार किया। क्या सत्कार किया? खानेसे किया? पीनेसे किया? बोले—नारायण कहो! भले लोगोंके सत्कारके लिए वस्तुकी जरूरत नहीं होती। कोई कंगाल हो, तो उसका सत्कार यह है—कि उसको कुछ दे दे। भूखा हो तो भोजन करा दो, नंगा हो तो कपड़ा दे दो; किन्तु भले लोगोंका सत्कार वस्तुसे नहीं होता, क्रियासे नहीं होता। उनका सत्कार करनेके लिए बहुत व्याख्यान करनेकी जरूरत नहीं पड़ती। पर फिर गोपियोंने उद्धवजीका सत्कार कैसे किया? **सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः**। कि व्रीड़ासे किया। व्रीड़ा माने लज्जा।

कहते हैं कि कोई कुलाङ्गना हो, और उसमें लज्जा न हो—तो समझो कि उसका नाश हो जाता है। बचपनमें हमारे बाबा एक श्लोक सुनाया करते थे—कि वनिताको लज्जा हो—तो उसका नाश हो जाता है और कोई कुलांगना निर्लज्ज हो—तो उसका नाश हो जाता है। आँखोंमें थोड़ी तो शर्म चाहिए न! गोपियोंके साथ श्रीकृष्णका जो सम्बन्ध है, वह उद्धवको ज्ञात है। जिनको उस सम्बन्धका ज्ञान है, उनके सामने व्रीड़ा है, लज्जा है। उसके बाद गोपियोंके मुखपर प्रसन्नता है, हास्यकी लाली दौड़ गयी मुखारविन्द पर; और प्रसन्नता भरी आँखोंसे उन्होंने उद्धवजीकी ओर देखा—**सव्रीडहासेक्षण**। व्रीड़ा, हास और ईक्षण—ये तीनों एक ही हैं। थोड़ी लज्जा है, थोड़ी मुस्कान है—ऐसी चितवनसे गोपियोंने उद्धवजीकी ओर देखा। यही उनका सत्कार है। सूनृता माने मधुर भाषा; प्रिय भाषामें गोपियाँ बोलना प्रारम्भ करती हैं। शिष्टाचार यही है कि पहले प्रेमकी बात कर ली जाती है, उसके बाद दिलमें कोई बात भरी होती है—तो कही जाती है।

गोपियोंमें स्वाभाविक तो प्रियता ही है न; मान आगन्तुक है। हम कभी-कभी कहते हैं लोगोंको, कि देखो, तुम्हारे हृदयमें एक मन्दिर है। उसमें भगवान् हैं और उसके तुम पुजारी हो। उनके चरण पखारकर थोड़ा-सा चरणामृत अपने हृदयमें रख लिया करो। और जब कोई तुम्हारे पास आवे, तो एक बार मुस्कुराकर तुम उसको पंचामृतका प्रसाद दे दिया करो। पैसा नहीं देना, अन्न नहीं देना, कपड़ा नहीं देना, लेकिन प्रसन्नताका भगवत्-प्रसाद अवश्य देना। खाली हाथ किसीको लौटाना मत। खुशी बाँटो, मधुर भाषण—यही सत्कार है। कोई भी तुम्हारे घरमें आवे और खानेको न हो—तो मत दो, पीनेको पानी मत दो, बैठनेके लिए चटाई मत बिछाओ, लेकिन तुम्हारे मुँहमें जीभ तो है न! और जीभ है, तो क्या वह रूखी हो गयी है? रसीली नहीं है? भगवान्ने क्या बनाई है जीभ!

हमने एक महात्माके मुँहसे सुना था, कि कोई बहुत वृद्ध महापुरुष थे। मरने लगे, तो एकने जाकर पूछा—कि अपने जीवनका कोई एक अनुभव बताओ। बोले—कि अच्छा। देखो, मेरे मुँहमें दाँत हैं कि नहीं? बोले—नहीं हैं। अच्छा, जीभ है कि नहीं? बोले—जीभ तो हैं। तो बोले—कि जो कठोर होता है, वह टूट जाता है और जो नरम होता है, वह टिकाऊ होता है। ये दाँत कठोर थे, पहले टूट गये और जीभ कोमल है, तो हमारे मुँहमें बनी हुई है। कोमल दीर्घायु होता है, कठोर अल्पायु होता है। तो तुम अपनेको जिह्वा बनाकर, नर्म बनाकर रसीली बात बोलो। अपनी वाणीमें शहद घोल लो।

एक बार एक मीटिंगमें मैं गया था। एक भगत थे, वे गरम हो गये, कड़वा बोलने लगे। तो यमुनाचार्य हैं न—रामानन्दी सम्प्रदाय वाले, बड़े विद्वान् पण्डित हैं—उनसे बोले—स्वामीजी, तुम एक सलाह हमारी मान लो। एक शीशी शहदकी तुम हर समय अपने पास रखा करो। जब बोलना हो, तो दो बूँद जीभपर डाल लिया करो। हँसी होने लग गयी उनके ऐसा बोलनेसे और कड़वाहट भी खत्म हो गयी।

अब जब यह सब हो गया, उद्धवजी निश्चिन्त होकर बैठ गये, तो **रहस्य-पृच्छन्नुपविष्टमासने**। गोपियोंने राह चलते जैसा नहीं पूछ लिया—कि क्या खबर भेजी है। अगर आनन्दकी, प्रेमकी बात है, हृदयकी कोई बात आयी है—तो राह चलते कोई कैसे बता देगा? और अपने प्रियतमका संदेश है, तो उसे सुनकर कभी पाँव लड़खड़ा जायेंगे, कभी आँखमें आँसू आवेंगे—तो उसे चलते-फिरते कोई कैसे बता देगा? आसनपर बैठ गये उद्धवजी और गोपियाँ समझ गयीं कि ये **विज्ञाय संदेशहरं रमापतेः**—श्रीकृष्णका संदेश लेकर आये हैं, श्रीकृष्णके दूत हैं। **संदेशहरं**का अर्थ दूत। इसलिए गोपियोंने उनसे पूछा।

अब यहाँ श्रीशुकदेवजी महाराजने यह विचार किया, कि गोपियोंको आगे चलकर मानमें आकरके अटपटा बोलना है। यदि उनके मनमें असूयाकी उत्पत्ति नहीं होगी और वे कृष्णमें दोष नहीं देखेंगी, तो मान कैसे करेंगी? इसलिए उनके चित्तमें असूया उत्पन्न होनी चाहिए। यह विचार करके शुकदेवजीने स्वयं ऐसे शब्दका प्रयोग किया, जिसमें श्रीकृष्णके प्रति असूया-संचारी भाव विद्यमान था। वह शब्द क्या है? कि 'रमापति' शब्दका प्रयोग कर दिया—**विज्ञाय संदेशहरं रमापतेः**। जैसे कोई गरीब कहे-कि मिनिस्टर हो गये, अब उनको हमारी याद काहेको आयेगी? यह हुआ न दोष-दर्शन, माने बड़प्पनके मदमें वे हमारे सरीखे प्रेमियोंको भी भूल गये!

असूया शब्दका अर्थ होता है गुणमें भी दोष निकालना—**परगुणेषु दोषानुचरम्**। मैंने एक दिन कहा, कि बाबूजी बड़े धर्मात्मा हैं, दोनों समय सन्ध्या-वन्दन करते हैं। बोले, कि तुम क्या जानो, सब दिखावा है। भला भलेमानुससे पूछो, कि वह दोनों समय संध्या-वन्दन करनेवाले, और तुमने उसमें-से दिखावा ढूँढ़ लिया। और न करता, तो? बोले—देखो न, अपने धर्म-कर्मसे रहित है। दोनों हालतमें दोष बताता है। तो यहाँ गोपियोंने कहा—श्रीकृष्ण तो मथुरा जाकर रमापति हो गये हैं न! आप उन्हींका संदेश लेकर आये हो?

यहाँ श्रीसनातन गोस्वामीजी महाराज कहते हैं, कि ऐसा कहने वाली गोपीके मनमें दैन्य आगया। बोली—रमा-लक्ष्मी स्वयं जिनकी दासी बनकर उनकी सेवामें

लगी है, उनको हम सरीखी गाँवकी गँवार ग्वालिनोंकी क्यों याद आने लगी? हम उनके सामने क्या हैं? हम तो उनके चरणोंतक जाने लायक भी थोड़े ही हैं!

किसी अन्यने कहा—रमा माने राधा; सर्वलक्षणमयी, सर्व कान्तिमयी, सर्वसम्मोहिनी, सर्वलक्ष्मीमयी राधा रानी। देखो, लक्ष्मी केवल एक ही नहीं है, लक्ष्मी बहुत होती हैं। कैसे? सृष्टिमें जितने ब्रह्माण्ड होते हैं, उनमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश अलग-अलग होते हैं। जितने विष्णु हैं, उनकी एक-एक लक्ष्मी होती है। अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डोंमें अनन्त विष्णुओंकी अनन्त लक्ष्मियाँ हैं। उन सबको मिलाकर एक घनीभूत लक्ष्मी जो हैं न, उसका नाम राधा है। गोस्वामी तुलसीदासजीने सीताजीके सौन्दर्यका जहाँ वर्णन किया है न, वहाँ कहा है—ये सब लक्ष्मियाँ हैं, जो समुद्र-मन्थनके समय प्रकट होती हैं। भला सीताजीके सामने वे किस कामकी हैं!

जो छविसुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई॥
ऐहि विधि उपजै लच्छि जब सुन्दरता सुखमूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल॥

इसी प्रकार राधा रानीके सम्बन्धमें भागवतकार कहते हैं, कि श्रीकृष्णके चरणारविन्दकी धूलि प्राप्त करनेके लिए लक्ष्मीको तपस्या करनी पड़ती है। तो यह रमापति नहीं, राधापति हैं, सुखदायी हैं। उन्हींका संदेश लेकर यह अतिथि आये हैं। तो इनसे बात-चीत जरूर करनी चाहिए। अब देखो, गोपियाँ क्या करती हैं—

जानीमस्त्वां—उद्धवजी, हम तुमको जानती हैं; माने उद्धवजीका होंठ फरफराया, तो मालूम पड़ा—अभी कुछ बोलेंगे। तो गोपियोंने कहा कि कहीं यह न बताने लग जायँ, कि हम मथुरामें रहते हैं। मथुराका नाम कानमें पड़े—यह गोपियोंको पसंद नहीं है। फिर यदुवंशका वर्णन करेंगे, बोलेंगे—हम अमुकके बेटे हैं और अमुक जगह विद्या पढ़ी है—ऐसे कहीं अपना इतिहास न सुनाने लग जायें। तो गोपियोंने पहले ही संकेत कर दिया, कि हमें तुम्हारे इतिहासमें कोई दिलचस्पी नहीं है। हम जानती हैं कि जैसा वह काला है, वैसे ही तुम काले हो। उद्धवजीके शरीरका रंग भी श्रीकृष्णके रंगकी तरह काला है। अर्जुनका भी काला है और द्रौपदीका भी काला है।

गोपियाँ कहती हैं—कि तुम सब मथुरावासी एक ही तराजूके चट्टे-बट्टे हो। तुम श्रीकृष्णकी वेशभूषा धारण करके सुनहरे रथमें बैठकर कलसे यहाँ आये हो और नन्द-यशोदाको सता रहे हो—यह वर्णन करके कि कृष्ण ईश्वर हैं। हमारे घरके व्यक्तिको तुम ईश्वर बना-बनाकर हमसे दूर किये दे रहे हो। हम भली-भाँति जानती हैं—तुम कौन हो। तुम यदुपतिके पार्षद हो।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखने की है कि श्रीकृष्णको 'वृन्दावनेश्वर' तो बोलते हैं, 'व्रजेश्वर' नहीं बोलते हैं। कवि लोग—जो हिन्दीमें कविता करते हैं न आजकल—वे कृष्णके लिए 'व्रजेश्वर' शब्दका प्रयोग करते हैं। यह बात व्रजकी परम्परामें नहीं है। वहाँ 'व्रजेश्वर' का प्रयोग नन्दबाबाके लिए किया जाता है और 'व्रजेश्वरनन्दन', 'व्रजेश्वर-तनय' या 'व्रजेन्द्रतनय'—ये शब्द श्रीकृष्णके लिए चलते हैं, 'व्रजेश' नहीं। यह शब्द तो बूढ़ेके लिए होना चाहिए न—जो गो-धनका स्वामी हो।

'यदुपति' शब्द जो है यहाँ, वह एक ताना है—कि पहले गोपीपति थे, अब यदुपति हो गये हैं। पहले हम गोपियाँ उनसे प्रेम करती थीं और उनका नाम था गोपीपति, अब तुम सब यदुवंशी उनसे प्रेम करते हो, तो वे तुम्हारे पति—यदुवंशियोंके पति हैं। और तुम? तुम भाई हो, कि मित्र हो उनके? नहीं, पार्षद हो। जब उनकी सभा जुड़ती है, और वे उसमें लम्बी-चौड़ी हाँकते हैं, तब तुम भी लम्बी-चौड़ी हाँकते हो। तुम उनकी कार्यकारिणीके सदस्य हो। 'पार्षद'का अर्थ साधारण सदस्य नहीं, कार्यकारिणीका सदस्य है, मन्त्री है। और **समुपागतं**—सम्यक् उपागतं—भली-भाँति तैयारी करके यहाँ आये हो। कि पहले हमको तो कृष्णने अपना विछोह देकर सताया और अब तुम हमें सताने आये हो!

उद्धवजी बोले—बाबा, तुमको सताना होता, तो हम काहेको आते? गोपियो, हमारे लिए ऐसा मत कहो। गोपियोंने कहा—ठीक है, **भर्त्रेह प्रेषितः**—तुम्हारे स्वामीने तुमको यहाँ भेजा है। इसमें तुम्हारा क्या दोष है? तुम तो अपने भर्तारके कहनेसे आये हो। गोपियाँ यह नहीं कहतीं—कि हमारे पतिके भेजनेपर आये हो। उनका व्यंग्य यह है—कि तुमको तुम्हारे उस मालिकने भेजा है, जो तुम्हारा भरण-पोषण करता है। वह तुम्हें पहननेके लिए अपना मुकुट देता है, अपनी माला देता है, अपना पीताम्बर देता है और खानेके लिए अपनी थालीका जूठन देता है। सो मजबूर होकर तुम यहाँ आये हो। अच्छा भाई! जैसे भी भेजा, भेज तो दिया न! तुम्हारी याद न आती, तुमसे प्रेम न होता, तुम्हारे लिए व्याकुलता न होती—तो हमको भेजते क्यों? हमको भेजनेसे तो सिद्ध हो गया—कि श्रीकृष्ण तुमसे बहुत प्रेम करते हैं। तो बोलती हैं—**इह प्रेषितः पित्रोर्भवान् प्रियचिकीर्षया।**

गोपियाँ कहती हैं—उद्धवजी! तुम हमारे लिए नहीं भेजे गये हो। हमारी क्या याद होगी उनको! यह देखो—यहाँ फिर व्यंग्य किया है। बोलीं—उनके माता-पिताको सुख पहुँचानेके लिए तुम यहाँ भेजे गये हो। हमारे लिए नहीं आये हो। कितना दुःख प्रकट होता है गोपियोंके इस कथनमें!

अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे।
स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः॥५॥

नहीं, नहीं गोपियो! हमें तो खास करके तुम्हारे लिए ही भेजा है और एकान्तमें संदेश भी दिया है। उन्होंने अपने माँ—बापका तो जरा-सा नाम लिया—**पित्रोर्नौ प्रीतिमावह**—और तुम्हारे लिए—

गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्संदेशैर्विमोचय॥
ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थेत्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गता।

तुम्हारे लिए तो चार श्लोक बोले! माता-पिताके लिए तो चार शब्द भी नहीं बोले। बोलीं—नहीं उद्धवजी! यदि यहाँ उनके माँ—बाप न होते, तो तुम्हें भेजनेका कोई बहाना भी नहीं था। यह तो गो-व्रज है, माने यहाँ गौएँ रहती हैं, पशुओंके रहनेकी जगह है। हम तो बेचारी गाएँ हैं, हमारी तो जुबान ही नहीं है। यह कहनेका अर्थ क्या है? कि गाएँ बोल नहीं सकतीं; बहुत जरूरत होनेपर ही बोलती हैं। विद्यारण्य स्वामीने तो इसका दृष्टान्त ही दिया है। जैसे गाय है, भैंस है, बकरी है, घोड़ा है—ये सब जब प्यासे होते हैं, भूखे होते हैं—तब तो बोलकर बता देते हैं और नहीं तो चुपचाप रहते हैं। वैसे ही महात्माओंको जितना बोलना जरूरी हो, उतना ही बोलना चाहिए। अन्यथा उनको मौन रहना चाहिए।

तो गोपियाँ बोलीं—हम तो गाएँ हैं। हम सास-ससुरके सामने, माँ-बापके सामने, पति-देवर-ननद-जेठ-जेठानी—किसीके सामने अपने दिलकी बात बोल नहीं सकती हैं। हमारे हृदयमें बड़ी भारी पीड़ा, बड़ी भारी व्यथा छिपी हुई है, लेकिन श्रीकृष्णको तो हमारा स्मरण क्यों आवेगा! माँ-बापको छोड़कर हम तो व्रजमें कोई ऐसी चीज देखते ही नहीं हैं, जिसका स्मरण जाकर श्रीकृष्ण करते हों—**तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे**। हमने उनकी क्या सेवा की, क्या सुख पहुँचाया, क्या उनसे प्रेम किया—कि वे हमारी याद करेंगे?

अरी भागवान्! ऐसा क्यों कहती हो? वैसे तो श्रीकृष्ण माँ-बापको भी भूल जाते; माँ-बापको क्यों याद करते हैं? जब माँ-बापको याद करते हैं, तो तुमको याद करते हैं। बोलीं-नहीं उद्धवजी! सगे-सम्बन्धी-जो भाई-बन्धु हैं—उनकी स्मृति बड़ी प्रबल होती है। हम कौन उनके सगे-सम्बन्धी हैं? भाई-बन्धुओंका जो स्नेहानुबन्ध है, स्नेह-सम्बन्ध होता है—वह बड़े-बड़े मुनियोंके लिए भी दुस्त्याज्य होता है—

स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः।

ये गोपियाँ बड़ी पीड़ामें बोल रही हैं; इसलिए यहाँ तृतीया विभक्ति **मुनेरपि-मुनिनामपि** का प्रयोग है। यह बड़े बड़े ऋषि मुनि भी अपने माँ-बापका स्मरण करते हैं। उनके स्नेहका और उनके प्रति जो अपना प्रेम है—उसका स्मरण करते हैं। हमारा स्मरण कौन करता है! यदि तृतीया विभक्तिके स्थानपर षष्ठी विभक्ति लगाई जाए, तो उसका अर्थ भगवान्‌के पक्षमें लगता है—**यथा बन्धूनां स्नेहानुबन्धो, मुनेरपि स्नेहानुबन्धो, सुदुस्त्यजो भवति**। भाव यह है कि माँ-बाप, गुरु और महात्मा जो स्नेह करते हैं, उसको कोई छोड़ नहीं सकता। क्यों? कि उनके स्नेहमें स्वार्थ नहीं होता, वात्सल्य होता है। अब तृतीया और षष्ठी विभक्तियोंके भावार्थोंके साथ-साथ उस प्रसंगको देखो, जिसमें गोपियोंने श्रीकृष्णसे पूछा है—कि एक तो प्रेम करनेवालोंसे प्रेम करते हैं; दूसरे प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं और तीसरे ऐसे होते हैं, जो दोनोंसे प्रेम नहीं करते। उनमें-से कौन-सा पक्ष साधु है? तो उसपर श्रीकृष्णने बताया—कि जो प्रेम न करने वालोंसे भी प्रेम करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं।

अब गोपियोंने विधिवत् बोलना प्रारम्भ किया—

अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम्।
पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत् सुमनस्स्विवषट्पदैः॥ ६॥

गोपियाँ कहती हैं—उद्धवजी! हमारी याद काहेको आवे? हम न तो उनके भाई-बन्धु हैं, न माँ-बाप हैं, न गुरु हैं और न उनकी कोई सेवा हमसे बन पड़ी है। हम तो अन्य हैं न! हम पराये हैं। वे रमापति हैं, हम ग्वालिन हैं। वहाँ उनके माँ-बाप हैं, पुरजन-परिजन हैं, सगे सम्बन्धी हैं। उनकी यादमें वे डूबे हुए हैं। **पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्**—जैसे पुरुष स्त्रीसे प्रेम करता है—कैसे? पुरुषोंका जबतक स्त्रियोंसे प्रयोजन है, तभी तक उनसे प्रेम करते हैं, नहीं तो विरक्त हो जाते हैं। उनके लिए शास्त्रमें ही यह विधान है कि जब जवानी होवे, तो विवाह कर लो और वैराग्य हो, तो संन्यासी हो जाओ। जब शास्त्रने, ईश्वरने, धर्मने उनको अनुमति दे दी है, कि स्त्रीको छोड़कर चले जाओ—जब वैराग्य हो, तो—तो भला उनके प्रेमका क्या ठिकाना रहा?

अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्शविडम्बनं—हमारे सरीखे पराये लोगोंसे तो तभी तक मैत्री होती है, जबतक प्रयोजन होता है। मैत्री माने अपने दिलकी चिकनाईको दूसरेके ऊपर बरस देना। यह मैत्री कबतक रहती है? **यावदर्थविडम्बनं**—जबतक प्रयोजन रहता है, सो भी नकली, नाटक मात्र।

अब एक और दृष्टान्त देकर कहती हैं—उद्धवजी!

सुमनस्स्विव षट्पदैः। जैसे ये षट्पद हैं, माने भ्रमर हैं। इनके छह पाँव होते हैं। ऐसा बढ़िया शब्द आता है इनके लिए शास्त्रोंमें। इनके रस खींचनेके लिए जो पैर होते हैं न, वे रेखाकार होते हैं; हम लोग लिखते हैं 'र', वैसे ही होते हैं। वे उसीको फूलमें फँसा कर रस खींच लेते हैं। इसी कारण उनको द्विरेफ कहते हैं।

एक दूसरा अर्थ भी देखो। 'भ्रमर' शब्द है न, उसमें दो रेफ हैं—एक भ के नीचे और दूसरा अक्षरके अन्तमें; भ्र, और म के बाद। मतलब, जिसके नाममें दो रेफ हों, सो भ्रमर। और दूसरा नाम है षट्पद। दो पाँव जिसके होते हैं, वह जल्दी-जल्दी चलता है; चार पाँव जिनके होते हैं—घोड़े आदि पशुओंके—वे तेज भागते हैं। लेकिन महाराज, यहाँ तो षट्पद हैं—छह पाँव हैं। ये कहीं ठिकानेसे बैठ सकते हैं? किसी भी फूलपर नहीं टिकते हैं। बहुत सुन्दर फूल खिले हैं, लेकिन भँवरा थोड़ा यहाँ, थोड़ा वहाँ रस लेता फिरता है। अब सुमनको चाहे फूल कहो, चाहे सुन्दर मन कहो। जैसे अच्छा-से-अच्छा फूल भौंरेको नहीं टिका पाता, वैसे ही किसीका मन चाहे कितना बढ़िया होवे, खूब प्रेम देनेवाला हो, लेकिन ये जो भ्रमर टाईपके लोग होते हैं—वे उससे प्रेम नहीं करते हैं। भ्रमर काला है; श्रीकृष्णकी तो बहुत उपमा देते हैं उसके साथ, माने भ्रमर सदृश जो लोग होते हैं, उनके प्रति चाहे कोई कितना ही अपना मन लगादे, भ्रमर टिकेगा नहीं। बोले—श्रीकृष्ण भी कैसे हैं? कि हम तो हैं सुमन, और वे हैं षट्पद।

देखो, मनुष्य जबतक अकेला रहता है, तबतक वह द्विपद है; जब ब्याह कर लेता है तब चतुष्पाद और जब बच्चा हो जाता है, तब षट्पद हो जाता है, छह पाँव हो गये। यह मत समझना कि सब ब्याह करनेवालोंके लिए यह गाली है। गाली नहीं है। यदि पति-पत्नीमें मेल होवे—तो चतुर्बाहु और मेल न हो—तो चतुष्पाद। लक्ष्मी और नारायण चतुर्बाहु हैं; और जहाँ मेल-जोल न हो—वहाँ चतुष्पाद! अब आप लोग समझ लो—कि किस कोटिमें हो। तो यहाँ न चतुर्बाहुकी बात है, न चतुष्पादकी; यहाँ तो षट्पद की बात है।

सुमन शब्द देवताओंके लिए, विद्वान्के लिए और फूलोंके लिए चलता है। तो यह जो षट्पद है, यह रसीले सुमनमें भी टिकता नहीं है। गोपियाँ अनेक दृष्टान्त देकर श्रीकृष्णके प्रेममें जो त्रुटियाँ हैं—उनको बताती हैं। आठ दृष्टान्त देती हैं वे।

अब इस प्रंसगको फिर लेंगे।

*

तीसवाँ प्रवचन

गोपियों और उद्धवके सम्वादका प्रसंग चल रहा है। गोपियोंने यह स्थापना की, कि उद्धवजी! श्रीकृष्णने आपको अपने माँ-बापको समझाने-बुझानेके लिए भेजा होगा! वे हमें काहेको स्मरण करेंगे! इसपर मानो उद्धवजीने कहा, कि जब तुम्हारे सरीखे प्रेमियोंको श्रीकृष्ण भूल जायेंगे, तो माँ-बापकी याद कहाँसे रहेगी? बोलीं—कि नहीं, नहीं! यह जो शारीरिक सम्बन्ध है न मनुष्यका, यह बहुत घनिष्ठ होता है। माँ-बापको छोड़कर जो सम्बन्ध होता है—वह तो मतलबका ही सम्बन्ध होता है और दिखावेका सम्बन्ध होता है। बोले—गोपियो! तुमने मतलबका सम्बन्ध देखा है? बोलीं—देखा है। **पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्**—पुरुषोंका स्त्रियोंके साथ जैसा सम्बन्ध होता है। अपनी पत्नीके साथ भी इनकी प्रीति काममूलक होती है, औरोंकी तो बात ही क्या! जब देखते हैं, कि उनके कामकी सिद्धि अब होनेवाली नहीं है, तो वैराग्य धारण कर लेते हैं, संन्यासी हो जाते हैं। जवानीमें साथ रहें और बुढ़ापेमें अलग-अलग हो जायँ—यह स्वार्थका ही सम्बन्ध हुआ न!

फिर **सुमनस्स्विव षट्पदैः**—दूसरा दृष्टान्त दिया, कि फूलोंमें सुन्दरता रहती है, रस होता है, आनन्द रहता है—फिर भी भँवरा उनमें टिकता नहीं है। आदमी तो दो ही पाँवोंसे चलता है, और यह—जिसके छह पैर हों और पंख लगे हों—उड़ चले, तो इसमें क्या आश्चर्य है?

इसके बाद आठ दृष्टान्त उन्होंने दिये हैं। दृष्टान्तमें भाव तो बहुत हैं; लेकिन एक दिव्य भाव होता है, जो चित्तवृत्तिको भीतर ले जाता है। समाधि लगानी हो, तो यह भाव बहुत उपयोगी है।

निस्स्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः।
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम्॥ ७॥
खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम्।
दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम्॥ ८॥

पहला दृष्टान्त गणिकाका दिया। गणिका माने वह—जो एककी पत्नी न हो, गणकी पत्नी हो। गण तो आप जानते ही हैं न। आजकल अपना गणराज्य है! गणतन्त्र ही तो बोलते हैं न! जो गणकी भोग्या हो—उसे गणिका बोलते हैं। वह पुरुषसे प्रेम तो करती है, परन्तु कबतक? जबतक उसके पास धन रहता है।

निस्स्वं त्यजन्ति गणिका—धनसमाप्त होते ही गणिका पुरुषका त्याग कर देती हैं। जो लोकरीतिमें यह प्रेम है, वह मतलबी, अर्थमूलक होता है। तो इसमें पुरुष भी साधारण है, स्त्री भी साधारण है। अच्छा, गणिकाका ही दृष्टान्त पहले क्यों दिया? बोले—अगर गणिकाका—स्त्रीका दृष्टान्त पहले नहीं देतीं और पुरुषोंका ही दोष बताने लग जातीं, तो उद्धवजी कहेंगे—कि स्त्री होनेका अभिमान इनके चित्तमें ज्यादा है, इसलिए पुरुष-ही-पुरुष पर दोषारोपण कर रही हैं। तो उन्होंने कहा—हम स्त्रीसे ही शुरू करते हैं। गणिका बहुत मामूली, हल्के किस्मकी स्त्रीका नाम है, जो शक्ल-सूरतमें तो स्त्री है, लेकिन उसके अन्दर स्त्रीत्व नहीं है। और उसके पास जानेवाले पुरुष भी हल्के किस्मके हैं। बोले—यह दृष्टान्त कृष्णके लिए देना ठीक नहीं है, क्योंकि गणिकाकी जो प्रीति होती है—उसमें आदर नहीं, श्रद्धा नहीं, भक्ति नहीं होती है। उसमें तो केवल लोभ और कामका मिश्रण होता है। बोले—अच्छा, अब आदर, सद्भाववाला दृष्टान्त ले लो।

अकल्पं नृपतिं प्रजाः—जबतक राजा समर्थ होता है, तबतक प्रजा उसको प्रेम करती है, बड़ा आदर, बड़ी श्रद्धा देती है। अन्नदाता, भूपति कहकर, सिर झुकाके हाथ जोड़ती है, घुटने टेकती है—क्योंकि वे हमारे राजा ही नहीं, साक्षात् ईश्वर हैं—ऐसा कहती है। लेकिन जब कोई शत्रु चढ़ाई करता है राजाके ऊपर और राजा युद्धमें हार जाता है, प्रजाकी रक्षामें समर्थ नहीं रह जाता—तो वह प्रजा थोड़े दिन बाद दूसरे राजाको मान लेती है और उसीके प्रति अपना प्रेम, अपनी श्रद्धा, अपनी भक्ति प्रदर्शित करने लगती है। तो देखो, राजाका प्रजाके साथ न तो लोभका सम्बन्ध है, न कामका सम्बन्ध है; वह तो श्रद्धाका, आदरका, रक्षणका सम्बन्ध है। लेकिन वहाँ भी प्रजा राजासे अपनी रक्षा तो चाहती है। जब राजा रक्षामें समर्थ नहीं रह जाता है, तो उसका परित्याग कर देती है। इसलिए यहाँ भी प्रजा स्वार्थसे ही, मतलबसे ही राजासे प्रेम करती है और उसको छोड़ देती है। लेकिन श्रीकृष्णका और हमारा प्रेम काममूलक नहीं था, लोभमूलक नहीं था, लेकिन फिर भी श्रीकृष्णने हमको छोड़ दिया—आदर होते हुए भी, श्रद्धा होते हुए भी!

ये राजा और गणिकाके दृष्टान्त लौकिक दृष्टान्त हैं। अब वैदिक दृष्टान्त देखो।

अधीतविद्या आचार्यम्—यह वैदिक दृष्टान्त है। यह दृष्टान्त देनेका अभिप्राय क्या है? कि मानलो—राजाका यह दृष्टान्त तो लौकिक प्रयोजनके लिए है, और लौकिक प्रयोजनकी पूर्ति नहीं हुई तो उसको छोड़ दिया, परन्तु जिनको

वेद वचनोंके द्वारा गुरु अथवा आचार्य मानते हैं, वे तो जीवन भर माननेके योग्य हैं—यावत् जीवन....। शास्त्रमें बताया है कि भले ही तुमको ब्रह्मज्ञान हो जाये और सम्पूर्ण जगत् मिथ्या मालूम पड़े, लेकिन उपनिषद्, गुरु और ईश्वर—इन तीनका निषेध अपने जीवनमें मत करना। आचार्यकी, गुरुकी उपासनासे मनुष्यको कल्याणकी प्राप्ति होती है—यह भी शास्त्रमें लिखा है। तो जहाँ हम केवल लौकिक प्रयोजनसे ईश्वरका भजन करते हैं या किसीसे प्रेम करते हैं—वहाँ लौकिक प्रयोजन न होनेपर भजन या प्रेम भले ही छोड़ दें, तो छोड़ दें, लेकिन जहाँ वेदवाक्य है, श्रुतिवाक्य है—वहाँ तो नहीं छोड़ना चाहिए। जो विद्याका अध्ययन करनेके लिए आते हैं—रोज महाराज, दिनमें सत्रह बार प्रणाम करते हैं, वे जब विद्याका अध्ययन कर लेते हैं, तो गुरुजीको छोड़कर चले जाते हैं। विद्या-रूप प्रयोजनसे उन्होंने गुरुजीके सामने दण्डवत् की थी; जब विद्या प्राप्त हो गयी—तो चले गये।

कभी-कभी गुरु लोग भी अपनी पूरी विद्या नहीं देते हैं। बड़े मजेदार गुरु लोग होते हैं कभी-कभी। द्रोणाचार्य अस्त्र-शस्त्र सिखाते थे, तो सारे अस्त्र-शस्त्र नहीं सिखाये। मैंने एकसे सुना था कि एक पहलवान थे बहुत बड़े। उनके पास कोई शागिर्द आया—कि हमें उस्ताद बना दो। सरल हृदयसे उन्होंने उसे सारी विद्या सिखा दी। वे जिस राजाके आश्रयमें रहते थे, उन्हीं राजाके पास थोड़े दिनोंके बाद वह आदमी आया और उसने ललकार दिया—कि तुम्हारे यहाँ जितने पहलवान हैं—उनको बुलाओ। हम उनसे लड़ेंगे। जब गुरुजीको मालूम हुआ कि हमारा शिष्य राजाके सामने ललकार रहा है, तो वे बोले—अच्छा भाई, आया है तो मान लो। उसके साथ हम कुश्ती लड़ लेंगे। कुश्तीका समय हो गया। चेलाजी तो अखाड़ेमें आगये, पर गुरुजी नहीं आये। जब आदमी बुलाने गया, तो गुरुजी बोले—अभी मैं बहुत दिनोंसे कसरत-वसरत नहीं करता था, आज अपना पुराना दाँव फिर सुधार रहा हूँ। कटोरी दाँव इसका नाम है। जब चेलेने सुना कटोरी दाँवका नाम, तो वह सोचने लगा कि जो डेढ़ सौ-दो सौ दाँव गुरुजी-से सीखे थे, उसमें तो कटोरी दाँव नामका कोई दाँव ही नहीं था। तो उसने कहा—अरे, गुरुजीने हमें तो यह दाँव नहीं बताया था। वे यह दाँव लगावेंगे, तो मैं तो उससे बच नहीं सकता। सो वह धीरेसे अपना लँगोटा लेकर वहाँसे खिसक गया। जब गुरुजीको मालूम हुआ, तो बोले—अब तो कटोरी दाँव चल गया। बुलाओ उसे। तबतक चेलाजी बिलकुल डर गये थे।

जिन्हें वैदिक विधिके अनुसार विद्याध्ययन करानेवाले गुरुकी जीवन भर सेवा-पूजा करनी चाहिए, उनके प्रति आदर भाव, श्रद्धा रखनी चाहिए, उनको विद्या प्राप्त कर लेनेके बाद यह भी याद नहीं रहता कि उन्होंने किस-किससे विद्या प्राप्त की है। इसलिए वहाँ भी प्रयोजनके अनुसार ही सम्बन्ध हुआ।

अब दूसरा दृष्टान्त देती हैं—**ऋत्विजो दत्तदक्षिणम्**—ऋत्विज लोग यजमानके यहाँ यज्ञ कराते हैं। तो यज्ञमें दक्षिणा यजमानने दे दी। अब उन्हें यज्ञका फल मिले कि नहीं—उस बातका विचार किये बिना वे चलते बने अथवा इसका दूसरा अर्थ यह भी है—कि **अदत्त दक्षिणम्**—यजमान जब दक्षिणा नहीं देता है, तो ऋत्विज लोग चाहे कितना भी बड़ा यजमान हो—उसको छोड़ देते हैं। तात्पर्य यह है कि याज्ञिक और यजमानके मध्य दक्षिणाका सम्बन्ध होता है और उसकी पूर्ति हो जाने पर—या बाधा पड़नेपर वह सम्बन्ध समाप्त हो जाता है।

खगा वीतफलं वृक्षं—अगला दृष्टान्त देखो। पेड़में फल लगे हैं और चिड़ियाँ आ-आकर उसमें बस गयीं और जब फल नहीं रहे, तो सब छोड़कर उड़ गयीं। छाया भी पेड़की है, डालियाँ भी ठीक हैं, फिर उसमें फल लगनेवाले हैं, लेकिन 'ये मतलबी यार किसके, दम लगाके खिसके'। यह गाँवकी कहावत है—गंजेड़ी लोग किसके, दम लगाये खिसके'। गंजेड़ी लोग इकट्ठे होते हैं, आपसमें खूब दोस्ती होती है, लेकिन अपना मतलब पूरा हुआ—तो कौन किसका? चिड़ियोंकी यह आदत है कि वे भी केवल फलोंसे ही मतलब रखती हैं।

भुक्त्वा चातिथयो गृहं—घरोंमें अतिथि लोग आते हैं, खाते-पीते हैं—और चले जाते हैं। बादमें घरमें आग भी लग जाय तो लौटकर बुलाने नहीं आवेंगे।

दग्धं मृगास्तथारण्यं—जंगलमें हिरण हमेशा रहते हैं, लेकिन आग लगी और वे भगे।

जारा भुक्त्वा रतां स्त्रियाम्—जो जार पुरुष होते हैं, उनसे स्त्री कितनी भी प्रीति करती रह जाय, वे काम बननेके बाद उसे छोड़ देते हैं, चलते बनते हैं।

इस तरहसे गोपियाँ उद्धवजीके सामने बोल रही हैं। देखनेमें तो मालूम पड़ता है कि बात बिलकुल मामूली है, लेकिन गोपियोंके हृदयमें घनी पीड़ा है—जो इस प्रकार बोल रही हैं; जिनकी आँखोंमें कृष्ण बसे हैं, जिनके दिलमें कृष्ण बसे हैं। गोपी जब रास्तेमें चलते-चलते किसी ओर देखती है न, तो उसे मालूम पड़ता है—कि कृष्ण खड़े हैं। किसीकी आवाज सुनाई पड़ती है, तो यही मालूम पड़ता है—कि कृष्ण बोल रहे हैं। रास्तेमें चलती हैं, तो पीछे-पीछे पाँवकी धमक

सुनाई पड़ती है—कि कृष्ण आ रहे हैं मेरे पीछे। उनसे दही नहीं मथा जाता, उनसे घर नहीं लीपा जाता, उनसे रोटी नहीं बनायी जाती, यमुनाजी से जल भरकर नहीं लाया जाता। गोपी का सम्पूर्ण व्यापार कृष्णके लिए है। एक बार इस तन्मयताको देखो न! यह कोई साधारण तन्मयता है! परन्तु हुआ क्या? वही गोपियाँ श्रीकृष्णके बारेमें अंट-संट बोल रही हैं। श्रीकृष्णको ईश्वर कहनेवाले तो बहुत मिलेंगे, लेकिन ईश्वरको मतलबी यार कहनेवाला दुनियामें है कोई? यह अधिकार गोपियोंको ही है। और बड़ा ऊँचा अधिकार है; सम्राट्को भला-बुरा कहनेवाला कौन है? उसकी जो अत्यन्त प्रेयसी, मुँहलगी पत्नी है, वही उसे भला-बुरा कह सकती है, दूसरा कोई नहीं कह सकता।

तो बोलती जा रही हैं गोपियाँ इस तरह। परन्तु उनका हृदय कहाँ है? सुननेमें तो ऐसा लगता है कि गोपियाँ कृष्णको मतलबी यार कह रही हैं, परन्तु उसमें-से ध्वनि क्या निकलती है—तात्पर्य क्या है उनका? कि कृष्ण हमको छोड़कर चले गये? न हम कृष्णको छोड़ सकती हैं, न कृष्ण हमको छोड़ सकते हैं। कृष्णके मनमें जो आता है उद्धव! सो हम जानती हैं और हमारे मनमें जो आता है, उसको श्रीकृष्ण जानते हैं। संदेशके द्वारा उसका आदान-प्रदान नहीं हो सकता; वह तो एक लौकिक व्यापार है। हमारा प्रेम उस कक्षामें नहीं है, जहाँ दूसरेके द्वारा संदेश भिजवानेकी जरूरत पड़ती है।

इति गोप्योहि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः।
कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः॥ ९॥

इस प्रकार बात करते-करते गोपियोंकी वाणी, उनका मानस, उनका शरीर गोविन्दमें लीन हो गया। अब देखो—वाक् कृष्णमें लीन हो गया—माने पहले वाणीसे कृष्ण-कृष्ण-कृष्णका उच्चारण हुआ, तो वाणी कृष्णमें समा गयी। उसके बाद शरीर और शरीर के बाद मन स्थिर हो गया। गोपी कृष्णाकार हो गयी। यह तबकी बात है, जब कृष्णके दूत उद्धव व्रजमें आये। उन्हें देखते ही गोपियोंके द्वारा सम्पूर्ण लौकिक व्यवहारका परित्याग हो गया—**कृष्ण दूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्त लौकिकाः**। गोपियोंको याद नहीं रहती—कि सास-ससुर कहाँ हैं, माँ-बाप कहाँ हैं, पति, बेटा, घर, दूध, दही कहाँ हैं। उनका तो अपना शरीर ही बिखर गया। यह गोविन्दका सम्बन्ध ही ऐसा है, जिसमें लोक-व्यवहार बह जाता है। यह गोपी और कृष्णका प्रेम है। गोपी माने क्या है? जो 'जो' इन्द्रियोंके द्वारा रसका पान करे, श्रीकृष्ण-रसका पान करे। योगी लोग करते हैं? कि नहीं,

योगी लोग लीन होकर श्रीकृष्णका रस पान करते हैं, जहाँ न इन्द्रिय है, न मन। अच्छा, ज्ञानी लोग करते हैं कि नहीं? वे बुद्धिके द्वारा कृष्ण रसका पान करते हैं। तो भक्त लोग करते हैं कि नहीं? भक्त लोग भी मनसे श्रीकृष्ण रसका पान करते हैं। लेकिन ये गोपियाँ न ज्ञानियोंकी तरह बुद्धिसे, न योगियोंके समान लयसे और न उपासकोंके समान मनसे श्रीकृष्ण रसका पान करती हैं। वे तो खुली आँखोंसे श्रीकृष्ण-रसका पान करती हैं। इनके कान कृष्णकी वंशी-ध्वनि सुनते हैं; वह वंशी-ध्वनि सुनती हैं ये—जिसको सुनकर पत्थर भी पिघल जाते हैं। श्रीरूपगोस्वामीने इनके विरहका वर्णन किया है—कि जब गोपियाँ श्रीकृष्णके विरहमें व्याकुल होती हैं और उनकी आँखोंसे टपाटप आँसू गिरने लगते हैं, उस समय पत्थर भी पिघल जाता है, और वज्रका हृदय भी पिघल जाता है; हीरे फटने लगते हैं।

ऐसी दशामें भी गोपियाँ यदि अपने हृदयको बचाये हुए हैं, जीवित हैं—तो उसमें केवल एक ही प्रयोजन है और वह है मिलनेकी आशा। जहाँ तक मिलनेकी आशा बनी रहती है, वहाँतक प्रेमका स्वरूप दूसरा होता है और जहाँ मिलनेकी आशा टूट जाय—वहाँ कलेजा फट जाता है। लेकिन कलेजा न फटने पावे, इसके लिए कलेजा फटनेसे भी ज्यादा कष्ट उठाना पड़ता है। गोपियाँ सोचती हैं—कि कलेजा फटनेपर मैं तो दुःखसे बच जाऊँगी, लेकिन कृष्णको कितना दुःख होगा, जब उनको मालूम पड़ेगा—कि मेरे विरहमें गोपियोंका कलेजा फट गया है। उनको एक क्षण भी दुःख न होने पावे—इसके लिए हम घुल-घुलकर सारी जिन्दगी काट लेंगी, लेकिन अपने कलेजेको फटने नहीं देंगी।

गोपियोंको श्रीकृष्णके विरहमें हृदयमें बुखार आया है। संसारमें बुखार शरीरमें आता है और गोपियोंके हृदयमें बुखार आया है। वह कैसा है? कि सौ-सौ हैजेसे, विशूचिकासे भी बढ़कर कष्टदायी है। जैसे कोई सुईसे कपड़ेको सीये, वैसे दिलको बराबर दिन-रात जैसे कोई सुई चुभो रहा हो। कलेजेमें ऐसी पीड़ा होती है।

कभी अपनी ओर भी ध्यान देना भाई! तुम्हारे हृदयमें भी कृष्णके लिए वैसी छटपटी कभी होती है? बस, यही कृष्ण-प्राप्तिका उपाय है। यदि छटपटी नहीं होती, तो गोपियोंके चरित्रका थोड़ा चिन्तन करो; किसी गोपीको अपने हृदयमें बसा लो। जब गोपी तुम्हारे हृदयमें उतरेगी, तो भगवत्प्राप्तिके लिए तुम्हारे हृदयमें व्याकुलताका उदय होगा।

गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदत्यश्च गतह्रियः।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः॥ १०॥

अब तो घरके काम-धन्धे सब गोपियोंको भूल गये! **लौकिक**—लौकिक व्यवहार भूल जाना कठिन नहीं है; **गतह्रियः**—स्त्रीका सहज धर्म है लज्जा, परन्तु गोपियोंकी लज्जा भी छूट गयी। **रुदत्यश्च**—और वे रोने लगीं और अपने प्यारेके बाल्य एवं किशोरावस्थाकी लीलाओंको याद कर-करके उनका गान करने लगीं। गोपियोंकी ह्री छूट गयी और जिसकी ह्री छूट गयी, वह असत् हो गया। यह ह्री है न, यह महाशक्ति है। महाकालीका जो ह्री है, उसीको वैष्णवोंने 'हरि' कर लिया और मुसलमानोंने 'रहीम' कर लिया। यह है ह्रीः महाशक्ति, महान् आकर्षण। स्त्रीके जीवनमें जो ह्री है, लज्जा है—यह इसके लिए महान् आकर्षण है। उसको छोड़ दे तो अपने आकर्षणको, अपनी शक्तिको खो दे। स्त्रीके पास उसकी रहन-सहनकी, खान-पानकी लोक-लाज न रहे, धर्म-कर्मकी लज्जा न रहे—तो उसका विनाश हो गया। इसलिए स्त्रीको अपने जीवनमें ह्रीकी शक्तिको बनाये रखना चाहिए, लेकिन, गोपियोंके जीवनमें प्रेमकी ऐसी प्रबल धारा आयी कि उसमें गोपियोंकी ह्री बह गयी। वे तो स्पष्ट-स्पष्ट बोलने लग गयीं, कभी रोवें, कभी गावें, कभी रोनेमें भी गावें। और कृष्णकी एक-एक लीला उनके मानस-चक्षुओंके सामने प्रत्यक्ष हो रही है—किशोरावस्थाकी लीला, बाल्यावस्थाकी लीला!

श्रीकृष्णका कैशोर जो है—बड़ा मधुर है, बड़ा आनन्ददायी है। संसारमें जितने किशोर होते हैं, उनके जीवनमें ज्ञानाभिव्यक्ति होती है। वे ज्ञानकी अभिव्यक्तिके लिए विद्याध्ययन करते हैं और श्रीकृष्णके कैशोरमें आनन्दाभिव्यक्ति है; वे रास-लीला करते हैं। तो सारी सृष्टिके जीवनसे श्रीकृष्णकी जीवन-चर्या विलक्षण है।

एक दिन श्रीकृष्णने मय्यासे कहा कि मय्या, आज एक प्याला दूध दो। गोपियाँ वहीं पास खड़ी देख रही थीं; मय्याने कहा—पढ़ो पहले, तब मिलेगा। श्रीकृष्णने कहा—क्यों पढ़ें मय्या? पढ़नेसे क्या मिलेगा? बेटा, पढ़नेसे बुद्धि बढ़ती है, अन्तःकरण शुद्ध होता है। अरे मय्या, अन्तःकरण शुद्ध होनेसे क्या होता है? बेटा, ध्यान होता है, ज्ञान होता है, भगवद्भक्ति मिलती है। अरे मय्या, ज्ञान होनेसे क्या होता है? बेटा, ज्ञान होनेसे जीव ब्रह्म हो जाता है। कृष्णने कहा—मय्या, मैं ब्रह्म तो ऐसे ही हूँ; अब ज्ञानसे, अन्तःकरण शुद्ध होनेसे क्या होता है! ब्रह्म तो मैं बिना पढ़े-लिखे ही हूँ! पढ़ा-लिखा ब्रह्म बनकर क्या करूँगा!

एक दिन कोई गोपी आरही थी। कृष्णने आकर आँचल पकड़ लिया। गोपीने कहा—क्या है? बोले—हमारा दिल चुरा लिया है। गोपी बोली—अरे, छोड़, छोड़! अभी तू बच्चा है, तुझे पता नहीं—आँचल पकड़नेसे कलंक लगता है। कृष्णने आँचल छोड़ दिया और अलग खड़े हो गये। गोपीने अँगूठा दिखाया और मुस्कुराती हुई चली गयी।

गोपियाँ एक-एक लीला याद कर रही हैं। इसीबीच उद्धवजीने देखा—सब गोपियाँ तो हैं, पर इनमें श्रीराधारानी नहीं है; यह बात अग्निपुराणमें बहुत स्पष्ट कही हुई है। वृन्दावनमें प्रातःकाल उद्धव-गोपीका संवाद हुआ। उद्धवजी उनसे पूछते—कि भगवान्‌ने कहाँ कौन-सी लीला की, और गोपियाँ बतातीं और गोपियाँ पूछतीं—कि कृष्ण मथुरामें कैसे रहते हैं—तो उद्धवजी बताते। किन्तु राधिका उन गोपियोंके बीच नहीं आयीं। राधाजी श्रीकृष्णकी भावनामें लीन रहती हैं; उनको वियोगकी स्फूर्ति नहीं होती, निरतिशय संयोगकी स्फूर्ति होती रहती है। उनको किसीसे बोलने की, मिलनेकी कोई वासना नहीं है। असलमें प्रेम सच्चा वही है—जो वासना मिटा दे। जो प्रेम वासनाको मिटाता नहीं—बढ़ाता है, वह प्रेम सच्चा नहीं हो सकता।

सखियोंने कहा, अच्छा उद्धवजी! चलो तुम्हें राधारानीके दर्शन करावें। सम्पूर्ण वासनाओंसे उपराम होकरके, श्रीकृष्णके भावमें तल्लीन होकरके परम विज्ञानकी जो स्थिति हैं—उसमें श्रीराधारानी विराजमान हैं। इसीलिए कहते हैं, कि यह भ्रमरगीत जो है—यह उपनिषदोंका सार है। इसे वेदान्तका सार बताते हैं।

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्नया—मधुप माने शराबी और मधुप माने फूल-फूलपर घूमकर मधु पीनेवाले। ओ भँवरे! तू मधुप है, वह मधुपति है; तू मधुपायी है और वह मधुपति है। और **कितवबन्धो**—वह कपटी लोगोंका बन्धु है; जो शराबी होता है, वह कपटी लोगोंसे दोस्ती जोड़ लेता है।

राधारानीकी तो सम्पूर्ण चेतना श्रीकृष्णमें लीन हो गयी है। उसको तो ऐसे लगता है, जैसे लीलाकालमें मैं रूठ करके अलग बैठ गयी हूँ, और भँवरेके रूपमें कृष्णने कोई दूत भेजा है। वह मनानेके लिए आया है।

अब कलसे यह भ्रमरगीत प्रारम्भ करेंगे। आज इतना ही।

*

एकतीसवाँ प्रवचन

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम्।
प्रिय प्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत्॥ ११॥

सावधान! अपना अवधान इधर ले आओ। संसारका शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सुख, दुःख, सिद्धि और शक्ति—ये नौ पदार्थ संसारमें मनको खींचनेवाले हैं। इनमें मन घूमता रहता है। इधरसे मन हटाओ और भगवान्‌में मन सटाओ। यह जो प्रसंग है—यह अपने मनमें राधारानीको उतार लेनेके लिए है; माने तुम्हारी चित्तवृत्ति तो राधा बन जाय, और वह श्रीकृष्णके साथ विहार करे, रास करे। तुम्हारा हृदय वृन्दावन बन जाय, तुम्हारी वृत्ति राधारानी बन जाय उसीमें तुम्हारे प्यारेके रूपमें परमात्मा प्रकट हो जाय और फिर नित्य विहार चले। इस अलौकिक सुखकी प्राप्तिके लिए मनको एक बार संसारकी ओरसे हटा लेना जरूरी होता है।

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम्—अब **तत्रैव वृन्दावने काचित्**—जहाँ गोपियाँ और उद्धव आपसमें बातचीत कर रहे थे, वहीं आसपास एक दूसरी गोपी थी, जो सबसे विलक्षण थी। पहले रासलीलामें भी उसका वर्णन हुआ है—जिसको लेकर भगवान् अन्तर्ध्यान हो गये थे। अत्यन्त गुप्त रहस्य होनेके कारण उसका नाम नहीं लिया जा रहा, बहुत गुप्त रहस्य है। सोचो, भगवान् कृष्ण भी जिसका नाम न लें—इतना आदर, इतना प्यार उसको दें—कितना गुप्त होगा उसका नाम। उसीको बोलते हैं **काचित्**। काचित्‌का अर्थ है 'कोई'। माने जो सर्वसाधारण न हों। साधारण नहीं हो—इससे क्या अभिप्राय है? गीतगोविन्दमें एक स्थानपर आया है—**साधारण प्रणयहरौ**।

अन्य सब गोपियोंसे जैसा प्रेम श्रीकृष्ण करते हैं, वैसा ही प्रेम जब उन्होंने श्रीराधारानीसे किया, तो तुरन्त उनको मान हो गया। जब उनको मनाना हुआ, तो श्रीकृष्णने उन्हें हृदयसे लगा लिया और बाकी सब गोपियोंको छोड़ दिया। अब इस विशेषताका संकेत किसकी ओर है? राधारानीके लिए—इस काचित् शब्दको कहा। श्रीकृष्णके हृदयमें उनके लिए इतना ऊँचा स्थान है, कि उनको कभी दूसरेका स्मरण ही नहीं होता, दूसरेकी कभी स्फुरणा ही नहीं होती। वे एक दिन एकान्तमें बैठ गये और अपने मनमें राधा-राधा-राधा मन्त्र जपने लगे। **गोप्यो हि राधात्मा मन्त्रः**—यह राधाका मन्त्र जो है—वह गोपनीय है। इतनी तन्मयता हुई कृष्णको, कि—

राधा पुरः स्फुरति पश्चिमतश्च राधा, राधाधिसव्यमिह दक्षिणतश्च राधा।
राधा खलु क्षितितले, गगने च राधा, राधामयी मम बभूव कुतस्त्रिलोकी?

सामने राधा, पीछे राधा; बायें राधा, दाहिने राधा; ऊपर राधा, धरतीपर राधा और आकाशमें राधा! राधाके सिवाय और कुछ रहा नहीं। यही बात साहित्य-दर्पणमें एक उदाहरणके रूपमें उद्धृत की गयी है। इसका नाम राधाद्वैत है। श्रीकृष्णके लिए जो राधा-राधा-राधा है, वही 'काचित्' है। '**कं**' **सुखं सुखरूपं**। कृष्णका आद्यक्षर क्या है? 'क', 'क', माने सुख, 'क'माने सबके शिरोभागमें अवस्थित, ब्रह्मरन्ध्रमें विराजमान, साक्षात् परम ब्रह्म। 'क' माने वेदके शिरोभागमें, उपनिषद्में विराजमान। 'क' माने कान्तः—कस्य सुखस्य अन्तः अस्मिन् असौ कान्ता—जिसमें क की, सुखकी पराकाष्ठा है, निष्ठा है—उसका नाम कान्त है। और 'के सुखे कृष्णे एव आसमन्तात् विज्ञानं यस्या सा काचित्—श्रीकृष्णमें ही जिसका ज्ञान है, जिसको कृष्णके सिवाय दूसरेका ज्ञान ही नहीं है—कि यह वृक्ष है, यह पाषाण है, यह नदी है। नहीं, उसका विज्ञान है कृष्ण रूप—***जित देखौं तित स्याममयी है।*** यही राधिकाका विज्ञान है। इसीका नाम प्रेमाद्वैत है, रसाद्वैत है। और इसीका ध्यान राधारानी करती हैं—**ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम्।**

तो 'काचित्' माने विशेष, 'काचित्' माने सुख-रूप कृष्णका चयन करनेवाली, और 'काचित्' माने—जिसके विज्ञानमें सर्वत्र कृष्ण-ही-कृष्ण हैं। वह क्या कर रही हैं? श्रीकृष्ण संगका ध्यान कर रही हैं। तो सगुण-ज्ञानमें ध्यानकी भी जरूरत होती है? देखो, शास्त्रका सिद्धान्त है—निर्गुणका ज्ञान होवे, तो उसमें ध्यानकी जरूरत नहीं, क्योंकि वह तो अपना आपा है, स्वतः सिद्ध है; और सगुणका जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ प्रतिपक्षीका अंग होता है। शंकराचार्य भगवान्ने इसका बहुत बढ़िया निरूपण किया है। सगुणको जानते हों—तो जानकर ध्यान करो, समर्पण करो, अर्चा करो, पूजा करो। सगुणको छोड़कर तुम बिना ध्यानके बैठे हो? और निर्गुण? कि जो मैं, सो वह! उसमें कैसा ध्यान? तो देखो, यहाँ 'काचित्' है, इसलिए निर्विशेष चित्त नहीं है। राधा रानीका चित्त ज्ञानियोंके चित्तके समान निर्विषय नहीं है। कैसा चित्त है? कि **ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम्**—श्रीकृष्ण-संगमका ध्यान कर रही हैं। श्रीकृष्णका ध्यान करना दूसरी वस्तु है और श्रीकृष्ण समागमका ध्यान करना दूसरी चीज है। कृष्णका ध्यान तो कोई दास्य भावसे भी करे, कोई साख्य भावसे भी करे और कोई वात्सल्य भावसे भी करे। अपना माँ-बाप समझकर प्रणाम करते हैं, अपना स्वामी समझकर सेवा करते हैं, बच्चा

समझकर लाड़ लड़ाते हैं और मित्र समझकर कंधेपर हाथ रखते हैं। लेकिन श्रीराधारानीका ध्यान क्या है? प्रिय-संगम नहीं, कृष्ण-संगम है। यहाँ जो श्रीकृष्ण हैं, सच्चिदानन्द-घन परमात्मा हैं और उनके साथ राधारानीका समागम हो रहा है। श्रीकृष्ण भी अपने आपेपर तुले हुए हैं और राधारानी भी अपने आपेपर तुली हुई हैं।

न आदि न अंत विलास करै दोऊ,
लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।

दोनों में अनन्त विहार हो रहा है।

सदा एक रस एक अखण्डित अनन्त अनादि अनूप।
कोटि कलप बीतत नहिं जानत बिहरत जुगल सरूप॥
मिलेई रहत मानहुँ कबहुँ मिलै ना।

दोनों एक रस हैं। बल्कि रसवादी तो ऐसा कहते हैं कि एक रस में दो लहरें हैं, एक लहर श्रीकृष्ण है और दूसरी लहर श्रीराधा हैं। दोनों प्रेम रसकी तरंग हैं, विवर्त हैं। ऐसे दो आकार हैं, जो हमेशा मिले रहते हैं। श्रुतिमें भी इस सुखका वर्णन है। ब्रह्म-सुख कैसा होता है? जैसे पति पत्नीसे आलिंगित होवे और उसे बाह्याभ्यंतरका ज्ञान बिलकुल नहीं होवे। उसी प्रकार श्रीराधारानी प्रिय-समागमके ध्यानमें मग्न हैं।

दो तरहका ध्यान होता है—एक होता है निमित्तिक और दूसरा होता है नित्य। कृष्णके समान वृक्ष देखा और कृष्णकी याद आगयी। काली कोयलकी मीठी-मीठी आवाज सुनी और कृष्णकी याद आ गयी। कमल को देखा तो कमल-नयन वासुदेव; हरिणको देखा तो हरि-हरि-हरिका स्मरण हो आया। यह निमित्तिक ध्यान है। यह प्रेम की ऊँची दशाका सूचक नहीं है। अरे, हरिणको देखकर हरिकी याद आयी, और कमलको देखकर कमलनयनकी याद आयी—तो तुमको जगानेवाला निमित्त कोई बाहरसे आया। यह प्रेमकी पराकाष्ठा नहीं है। यह तो भाव है, भक्तिका भाव है। प्रेम तो अपने दिलमें रहता है और उसमें स्मृतिकी तरंगें उठती रहती हैं।

इसी बीचमें आया मधुकर-माने भँवरा। उड़ता हुआ भँवरा आया, तो उद्धवजीका ही आध्यात्मिक रूप भँवरा हो गया। उद्धवजी अपने भौतिक शरीरसे तो बैठे थे गोपियोंमें, और उनका जो आध्यात्मिक स्वरूप है—भीतरका जो भावमय स्वरूप है—वह भ्रमर हो गया। भँवरा तो संयोगसे आगया। लेकिन प्रेमी

लोगोंका स्वभाव ही है—**प्रकृति विकला: चेतने चेतनेषु।** उनको तो जड़ चेतनका पता ही नहीं लगता। उन्हें तो बोध ही नहीं होता, कि सामनेवाला उनकी बात समझेगा कि नहीं, सुनेगा कि नहीं। वे तो खम्भोंसे बात करते हैं, पेड़से बात करते हैं। प्रेमी लोगोंके घरमें कोई रेडियोमें गीत गा रहा हो, तो उससे भी बातचीत कर लेते हैं।

अब मधुकर आया, तो ऐसा लगा कि स्वयं श्रीकृष्णने ही उद्धवके सामने श्रीराधारानीका प्रेम कैसा है—यह प्रकट करनेके लिए मधुकरको भेजा था। नहीं, मधुकरके रूपमें स्वयं ही आगये, इस उद्देश्यसे—कि जब श्रीराधारानी प्रेम-परवश होकरके दिव्योन्मादकी दशामें हमको बुरा-भला कहेंगी, तो उनके मुँहसे निकला हुआ वह जो भला-बुरा है, वह हमको बहुत मीठा लगेगा।

अब देखो, यह भँवरेकी बात हुई। अब नामकी बात सुनाते हैं। उद्धवजी के लिए यह कटाक्ष है; मानो गोपियाँ कहती हैं—मधुकर हो, माने तुम हाथमें शहद लेकर आये हो। थोड़ा मुँहमें डाल लेते, थोड़ा कलेजेतक पहुँचा लेते, तो तुम्हारा दिल मीठा हो जाता। फिर तुम्हारे मुँहसे ऐसी कड़वी बात नहीं निकलती। केवल तुम्हारे हाथमें ही मधु है, भीतर तो कटु-ही-कटु है। कर माने हाथ होता है, तो इसके केवल हाथमें ही मधु है, दिलमें नहीं है—इसलिए मधुकर है। जरा आनन्द लो भाई! बोले—नहीं नहीं, यह विपरीत लक्षणा है। कैसे? किसीको कहते हैं न-आओ-आओ बुद्धिसागरजी! क्या मतलब होता है उसका? माने मूर्ख हो गया; विपरीत लक्षणा हो गयी न! तो 'मधुकर' कहनेका अर्थ है, तुम तो 'मधुहर' हो। भँवरा मधु बनाता है कि मधु खाता है? भँवरा मधुका निर्माण नहीं करता, वह तो मधु चाट जाता है। भँवरोंके छत्तोंमें-से शहद नहीं निकलती है, मधु बनाने वाली मधुमक्षिका है। वह मधु निकालती हैं और तुम मधु पी जाते हो। अमरसिंह कहते हैं, कि मधुका एक अर्थ है; 'मद्य' और दूसरा अर्थ है 'फूलोंका रस' साकीके हाथमें मधुका रस है, पर उसने कभी उस रसको पिया नहीं, तो इसका अर्थ है—अरे मधु पिलाने वाले साकी! तूने स्वयं कभी चखा नहीं है, तेरे हाथमें ही मधु है। इसलिए तो मधुकर है।

गोपियाँ कहती हैं—वास्तवमें तो तू मधुहर है। हम तो शिष्टाचार-वश तेरा नाम मधुकर रखती हैं। तुम कभी इस फूलपर, कभी उस फूलपर मँडराते हो। कोई सूख जाये, कि कोई घायल हो जाये इसकी तुम्हें परवाह नहीं है।

श्रीसनातन गोस्वामी कहते हैं कि सम्पूर्ण वेदान्तोंका जो तात्पर्य है—वह

भ्रमर-गीतमें प्रकट हुआ है। अत: 'मधुकर' शब्दपर थोड़ा और विचार करना पड़ेगा। वेदोंमें मधुका वर्णन आता है और अद्भुत वर्णन आता है। उसमें मधु माने 'ब्रह्मसुख' होता है, 'ब्रह्मानन्द' होता है। बृहदारण्यक उपनिषद्में **मधुब्राह्मण** एक प्रकरण ही है। उसमें जिस मधुमय परब्रह्म परमात्माका वर्णन है, उसीका उपदेश करनेके लिए उद्धव यहाँ आया है। इसी अभिप्रायसे उद्धवका नाम 'मधुकर' हुआ। वह सारी कृष्णमयी सृष्टिको ब्रह्ममयी बनाने आया है।

अब महाराज, लीला आगे चली। स्वयं कृष्ण ही भ्रमर बन कर आये हैं। वही तो काला रंग है; भँवरा भी काला और कृष्ण भी काला। कृष्ण शब्दका मुख्य अर्थ काला ही है। काले काले भँवरेने कृष्णकी तरह कमरमें फेंटा बाँधा हुआ है। जैसे उनका पीताम्बर है, वैसे ही भँवरेका भी पीताम्बर है। जैसे यह नये-नये फूलोंपर रस लेनेके लिए डोलते फिरते हैं। तो मधुकर बनकर कृष्ण ही आये, परन्तु गोपी तो उसे कहती है दूत—

प्रिय प्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत्।

काचित् गोपी-विशिष्ट गोपीको कृष्ण-समागमका ध्यान करते-करते ऐसा लगा कि कृष्ण किसी दूसरी गोपीकी ओर देख रहे हैं। देखा, तो उसको मान हो गया। मान होनेका कोई कारण हो, यह जरूरी नहीं होता। यह तो प्रेमका एक विलास है, जो भीतरसे आता है। जो लोग मान करते हैं, वे सच्चा कारण होनेपर मान करते हैं—ऐसी कल्पना कभी नहीं करना। **अहेरिव गति प्रेम्ना: स्वभाव कुटिला भवेत्**—प्रेम साँपकी तरह टेढ़ा चलता है। उसमें, स्वभावसे ही थोड़ा कौटिल्य रहता है। जब चार बातें सुनायी जाती हैं, तो चार मीठी बातें भी सुननेको मिलती हैं। मुँह फेरकर बैठ जानेपर मनानेवाला सामने आजाता है। पुराना प्रणय भी ताजा हो जाता है। प्रणयको ताजा बनानेके लिए कभी किसी कारणसे भी मान होता है और कभी बिना कारणके भी मान हो जाता है। **ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम्**का अर्थ है कि गोपी स्वप्नको भी झूठा नहीं समझती। वह यही समझती है कि रात्रिमें कृष्ण आये थे और हमसे मिलकर गये हैं। लोग समझते हैं कि गोपीके मनमें इस प्रकारके भाव आते हैं और गोपी समझती है कि यह भाव नहीं, असली है। लोगोंकी दृष्टिमें कृष्ण मथुरा चले गये हैं, लेकिन यह बात गलत है। वह तो हमारे रोम-रोममें बसे हुए हैं।

ऊधो तुम भये बौरे। पाती लेके आये दौरे।
जोग कहाँ राखें यहाँ रोम-रोम स्याम है।

गोपियोंको संजोग की ही स्फुरणा होती है। गोपी तो उस स्फुरणाको असली मानती है, तो उसको मिलनमें मिलनकी स्फुरणामें मान हो गया। श्यामसुन्दर कहीं अलग जाकर बैठ गये और गोपी जैसे कहीं अलग बैठी हुई हैं। इसी समय आया भँवरा और उस भँवरेको देखकर गोपीके मनमें आता है कि हमारे प्यारेने हमें मनानेके लिए दूत भेजा है। यह भावना वह भँवरेको देखकर बनाती है। भँवरा स्वभावसे ही गोपीके पाँवके पास आया। लाल-लाल, चिकने-चिकने, उभरे हुए नाखून देखकर भँवरेने समझा, कि यह भी एक फूल है, इसमें-से रस ले लें। भँवरेको भ्रान्ति हो गयी और प्रियाजीने समझा कि यह हमको मनानेके लिए हमारा पाँव छू रहा है—कि देवी, मैं तुम्हारे पाँव छूता हूँ; मान जाओ। तुम्हारे बिना श्रीकृष्ण बड़े दुःख़ी हो रहे हैं। गोपी समझती है कि श्रीकृष्णके हृदयमें तो मेरे प्रति बहुत प्रेम है। वे जरूर दुःखी होते होंगे लेकिन मेरे हृदयमें तो उनके प्रति किंचित् भी प्रेम नहीं है। मैं उनके पास जाकर क्या करूँगी? लौट जाओ भँवरा, तुम लौट जाओ।

भँवरा जो बार-बार राधारानीके नखपर गिरना चाहता है। प्यारेने यह दूत भेजा है—यह कल्पना करके श्रीराधारानी उसे फटकारना प्रारम्भ कर रही हैं। **गोप्युवाच**—गोपीको बोलना तो नहीं चाहिए, क्योंकि गोपीका धर्म गोपन है; जो प्रेमको गुप्त रखे। गोपी शब्दका अर्थ गोपांगना तो है ही, इससे यह अर्थ भी निकला कि वह भोली-भोली भी है। उसको छल-कपट नहीं मालूम। वह कोई शहराती नहीं, गाँवकी गोपी है। कोई नागरी होती, तो उसको उनके दाँव-पेंच मालूम होते; यह तो गाँवकी गँवारिन है, गोपी है। जब उसके हृदयमें क्षोभ होता है, तो हृदयको फटनेसे बचानेके लिए बोलकर हृदयकी जो पीड़ा है—उसको बाहर निकाल देती है। भवभूतिने कहा है, कि जब तालाब पूरी तरहसे भर जाये, तो उससे थोड़ा जल निकाल देनेसे उसकी सुरक्षा हो जाती है। इसी प्रकार अगर मनमें कोई बात आजाय, तो उसको जब जुबानसे निकाल देते हैं—हृदय सुरक्षित हो जाता है। तो गोपी बोली, पर गोपी और किसीसे थोड़े ही बोली—वह तो मधुकरसे बोली—

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुच - विलुलित - माला कुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक्॥ १२॥

अरे ओ मधुप! ओ कितवबन्धो! **अङ्घ्रि मा स्पृश**—हमारे पाँव मत छू। क्यों बाबा, हम कोई अछूत हैं? हाँ, अछूत है ही। कैसे अछूत हूँ? कि मधुप जो है!

शराब पीकर आया है। शराबी है तू; शराबीको पाँव छूने नहीं देना चाहिए। हम धर्मात्मा हैं, वेद-शास्त्रके अनुसार चलनेवाली हैं। तेरे सरीखे शराबी भँवरेको हम अपने पाँव नहीं छूने देना चाहतीं। अच्छा देवी, गलती हुई; माफ करो। बोली—कोई एक गलती थोड़े ही है! तुम्हारे अन्दर तो गलती-ही-गलती है। दूसरा दोष देखो—**कितव बन्धो**—तू कपटीका मित्र है। देखो! बेचारे भँवरेको तो जो कुछ कहा, सो कहा; अब उसके मित्र तक दृष्टि पहुँच गयी! और वहाँतक दृष्टि न पहुँचे—तो प्रेम ही क्या! कितवबन्धु है तू! उस कपटीका मित्र है। क्योंकि शराबी और कपटी—ये दोनों आपसमें दोस्ती रखते हैं। शराबी लोगोंकी वासना पूर्ण करनेके लिए उनके पास कपटी लोग रहते हैं। जुआ खेलनेवाले लोग और व्यभिचार—अभिचार करनेवाले लोग इकट्ठे रहते हैं। शराब पीना माने अपनी बुद्धि बिगाड़ना। जो अपनी बुद्धिकी रक्षा करनेमें ही समर्थ नहीं है, वह अपने चरित्रकी क्या रक्षा करेगा? और सद्गुणोंकी क्या रक्षा करेगा?

अब देखो, यहाँ गोपियोंकी दृष्टिमें उद्धवजी भी मधुप हैं और कपटीके मित्र हैं; भँवर भी मधुप है और कपटीका मित्र है। बोले—गोपियो, हमको जो कहलो चाहे; हम तो सचमुच बुरे हैं, लेकिन हमारे मित्रको तुम कपटी क्यों बताती हो? यह प्रेमियोंको मुँहसे अपने प्रियतमके लिए ऐसे शब्द निकलना उनकी बड़ी भारी स्तुति है। प्रेमपत्तन—प्रेमनगरके जो कानून हैं न, उनको पढ़ो। प्रेमपत्तनम् नामक एक ग्रन्थ है, जो रसिकोववंशकी रचना है। उसमें प्रेमनगरके कानून लिखे हुए हैं। उसमें कहा है कि इस तरहका बोलना जो है न, यही सबसे बड़ी सभ्यता है। यह कपट क्या है? जैसे किसी चीजको ढँकनेके लिए पट होता है न! पट माने कपड़ा—वैसे ही जो अपने सुखको ढकनेके लिए पट होवे, उसका नाम कपट है। कपट करनेवाले अपने सुखपर ही पर्दा डाल देते हैं। अब देखो, कृष्ण कपटी हैं—इस बातको पहले सिद्ध करना पड़ेगा। कृष्ण कपटी हैं; कैसे? जब गोपियोंने कृष्णसे पूछा—कि तुम हमको छोड़कर क्यों चले गये? हम तो तुमसे इतना प्रेम करती हैं और तुम हमको छोड़कर छिप गये! यह कहाँ तक उचित है? तो इसके उत्तरमें श्रीकृष्णने यही बताया—कि मेरी प्राणप्यारी गोपियो! मैं तुम्हारे ध्यानको, तुम्हारे तपको, तुम्हारे प्रेमको समझता हूँ—

एवं मदर्थोज्झित - लोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः।
मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥

१०.३२.२१

तुम लोगोंने मेरे लिए लोक छोड़ा, वेद छोड़ा और स्वजन-सम्बन्धी छोड़े। तुमने हमारे लिए वैदिक धर्म छोड़ा और आर्य-पथ छोड़ा। देहका शृंगार छोड़ा, भोजन छोड़ा, बच्चोंको दूध पिलाना—वात्सल्य छोड़ा; दया-धर्म, पतिकी सेवा—सब कुछ तुमने मेरे लिए छोड़ दिया और मेरे साथ आयीं। तो मैंने सोचा कि अब तुम्हारे अन्दर कोई भी त्रुटि नहीं रहनी चाहिए। इसलिए गोपियो, सच बतलाता हूँ—शपथ खाकर, सौगन्ध खाकर कि मेरे अन्दर कोई कपट नहीं था। जब मैं देखता था कि गोपी इस रास्तेसे आनेवाली है—और रास्तेमें कोई काँटा होता था—तो मैं चुपकेसे पहले ही उसको हटा देता था, कि प्रेममें अन्धी होकर गोपियाँ हमको ढूँढ़ती हुई आ रही हैं; कहीं उनके पाँवमें काँटा न गड़ जाय। इसलिए मैंने **परोक्षं भजता**—छिपकर अपने शरीरपर चादर डाल ली थी और जब तुम बेहोश होकर गिरने लगती थी, तब मैं तुमको सम्हाल लेता था। मैं कहीं गया नहीं था, तुम्हारे बीचमें ही था—**तासां मध्ये। मया परोक्षं भजता तिरोहितं**—मैंने परोक्ष रूपसे तुम्हारी सेवा करते हुए ही अपनेको छिपाया था। यह नहीं सोचना—कि इस समय कृष्ण छिप गया, तो उस समय कृष्णमें प्रेम नहीं था। मैं तो केवल यह देखनेके लिए छिपा था कि मेरी आँखोंके सामने न रहनेपर तुम लोग मुझसे कैसे-कैसे प्रेम करती हो। जब तुम यह गा रही थी, तब हम भी तुम्हारे साथ स्वर-में-स्वर मिला कर गा रहे थे—

'तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः।'
'त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।'

गोपियोंने कहा—अरे मधुकर! वह जो हमको छोड़कर चला गया, छिप गया—वह कपटी नहीं तो और क्या है? तुम्हारी ये सारी बातें कपटसे भरी हुई हैं। जब तुम गोपियोंके सामने आये, तब गलेमें पीताम्बर डालकर, और दोनों हाथ जोड़कर—जैसे कोई क्षमा माँगने आया हो, यह बोले थे—

न पारयेऽहं निरवद्य संयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृंखलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

१०.३२.२२

'गोपियो! ऐसा निष्कपट प्रेम तुमने हमसे किया है कि यदि मैं ब्रह्माकी आयु-पर्यन्त, कल्प-पर्यन्त तुम्हारा सेवक बन करके, दास बन करके तुम्हारे पाँव दबाऊँ, तुम्हें पंखा झलूँ, पानी पिलाऊँ, तुम्हारा शृंगार करूँ, तुम्हारी सेवा करूँ—तो

भी मैं तुमसे उऋण नहीं हो सकता।' जो हमसे ऐसी-ऐसी बातें बोलता था, वही हमको छोड़के चला गया—तो वह कपटी हुआ कि नहीं? और तुम उसके भेजनेपर चले आये, तो तुम उस कपटीके बन्धु हुए, कि नहीं? तो अरे मधुप और कितवबन्धु! तू हमारे पाँव मत छू। तू अस्पृश्य है, अछूता है।

सपत्न्याः कुचविलुलित मालाकुङ्कुम श्मश्रुभिर्नः।

गोपियाँ बात तो सब तरहकी कहती हैं। यहाँ जो 'सपत्नी' शब्द है, उसका अर्थ क्या है? देखो, सपत्नी असलमें कोई नहीं है। मथुरामें कौन-सी ऐसी स्त्री है, जिसके साथ श्रीकृष्णका सम्बन्ध हो? कुब्जा है, तो कुब्जाके घर तो अभी गये नहीं। जब उद्धवजी व्रजसे लौटके आयेंगे, तब कुब्जाके घर कृष्ण आयेंगे। वस्तुतः यह भी प्रेमका विलास है महाराज! कि जिसके मनमें जैसा भाव रहता है, प्रियतमके साथ जैसा सम्बन्ध रहता है, उसीके अनुसार वह दूसरोंके बारेमें भी कल्पनाएँ करने लगता है। यह अपने ही चित्तका दोष है। गोपियोंका यह भाव असूया-भाव है, ईर्ष्या-भाव है। कृष्णको कितव कहना, कपटी कहना असूया है, और सौतकी कल्पना करना ईर्ष्या है। और **बहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं**—यह अवगीर्णा है, अवमानना है। जायँ, मिलें-जुलें उन लोगोंसे! हमको उनकी कोई जरूरत नहीं। वह हमारे बिना रह सकते हैं, तो हम भी उनके बिना रह सकते हैं। यह जो डींग हाँकना है—यह भी प्रेमका विलास है। असलमें न तो चित्तमें अवगीर्णा है, न ईर्ष्या है और न असूया है। यह जो जल्प है—दिव्योन्मादमें दूतकी कल्पना है और गीतकी जल्पना है। इस कल्प और जल्पमें कुछ असलियत नहीं है।

यह सौत कौन है—इसका उत्तर वेदान्तमें है। यह अद्भुत प्रसंग है। वेदान्तकी व्याख्या आपको सुनाने लगें, तो कभी-कभी आपको प्रतीत होगा:—कि यह तो साक्षात् ब्रह्मविद्या है। गोपी जो है—वह श्रुति है। और श्रुतिमें भी ब्रह्मविद्या है। और यह अविद्याके जो कार्य हैं, मायाके विलास हैं—वे सब सौत हैं। मधुकर जीव है और कृष्ण परब्रह्म परमात्मा है। यहाँ गोपी-रूप श्रुतिका श्रीकृष्णरूप परब्रह्मके साथ समागत हो रहा है और गोपी-रूप श्रुतियाँ मधुकर-जीवको उपदेश कर रही हैं।

*

बत्तीसवाँ प्रवचन

आओ, प्रेमकी सृष्टिमें प्रवेश करें।

जहाँ प्रेम ही प्रेम की सृष्टि मिले,
चलो नाव को ले चलें खे के वहीं।

इस जीवनकी नौकाको वहाँ ले चलें, जहाँ प्रेम ही प्रेम की सृष्टि हो। यह जो व्रजभूमिकी गोपियाँ हैं, वृक्ष हैं, लताएँ हैं, हरिण, पक्षी, जमुनाजी, गिरिराज—एक-एक वस्तु ऐसी है, जो आपके मनको प्रेमसे तर कर दे। हम जो प्रसंग आपको सुनाने जा रहे हैं, वह प्रेमकी सृष्टिमें बहुत ऊँचा है। प्रेम वहाँ होता है, जहाँ सम्बन्ध अविच्छेद्य हो जाता है—माने जिस युगल सम्बन्धको कोई काट न सके, जो टूटनेका हेतु उपस्थित होनेपर भी न टूटे, सर्वथा ध्वंस-रहित है, वह प्रेम है। बोले—भाई, यह बन्धन काहेका है? कि भावका है। यह किसी रस्सीका, गाँठका बन्धन नहीं है; यह दिलका दिलसे बन्धन है। यहाँसे प्रेम प्रारम्भ होता है। इसके मूलमें होता है विश्रम्भ। विश्रम्भ कहते हैं परस्पर एक दूसरेके विश्वासको। उस विश्वासमें कोई दूसरा कितना भी अन्तर डालनेकी कोशिश करे, पर वह परस्परका विश्वास टूटे नहीं।

अब इस बातको जरा दुनियाँमें देखो। अगर कोई नित्य जीव नित्य परमेश्वरको छोड़कर किसी अनित्यके साथ प्रेम करेगा, तो जब वह अनित्य वस्तु नहीं रहेगी, तो प्रेमके विषयका ही नाश हो गया। इसलिए प्रेम नित्यका जो नित्यसे है, आत्माका आत्मासे प्रेम है—वही सच्चा प्रेम है। बाकी संसारमें जो प्रेमके बन्धन होते हैं; वे सब टुटपुँजिए होते हैं और टूटनेवाले होते हैं। उनके मूलमें कोई पक्की बुनियाद नहीं है; उनकी नींव बहुत कच्ची है।

अब देखो, आगे बढ़ते हैं, तो इस प्रेममें जो दूसरी बात आती है—वह है स्निग्धताकी। प्रेममें हृदय कोमल हो जाता है और कोमल हृदयकी पहचान यह है कि उसमें अपने प्रियतमकी आकृति बन जाती है। भावसे भी बन्धन होता है, लेकिन आप सोचो—इस संसारमें आपने कितने बन्धन माने हैं और कितने तोड़े हैं! मानते हैं और तोड़ देते हैं; फिर एक तोड़ देते हैं और दूसरा मान लेते हैं। ऐसे संसारमें चलता रहता है। जो बहुत अनुभवी लोग होते हैं, वे कहते हैं—ऐ, तुम

हमसे क्या बात करते हो! हमारे तुम्हारे सरीखे सैंकड़ोंसे प्रेम करके छोड़ दिया है। यह जो छोड़नेवाला प्रेम है न, यह असलमें प्रेम नहीं। आज मालूम पड़ता है, कि बहुत प्रेम है, परन्तु कल टूट जाता है। तो इस विश्वासकी दृढ़ता कब होती है? कि जब हमारा हृदय द्रवित होता है, पिघलता है। जैसे सोना, चाँदी या अन्य कोई धातु पिघला ली गयी, तो पहले जो उसमें सिल्ली की शक्ल थी, या पशु, पक्षीकी शक्ल थी—वह छूट गयी और वह द्रव बन गयी। द्रव होनेके बाद उसे जिस साँचेमें डाला, वैसी उसकी शक्ल बन गयी। अब जरा आँख बन्द करके देखो, कि तुम्हारे दिलमें कौन-सी शक्ल है। कोई शक्ल है, कि नहीं? बोले—हमें तो बाबा, अन्धेरा ही दिखता है। बोले—बस, बस! तुम अन्धकारमें ही भटक रहे हो। उसमें छिपा हुआ जो तुम्हारा प्रीतम है, उसको अभी तुमने देखा नहीं। तो दिलको पिघलाओ और पिघला करके तदाकार करलो। प्रीतमका आकार बनालो।

अच्छा, अब तीसरी बात प्रेममें जो आती है—वह है उसका बाँकपन। प्रेममें जो ताजगी होती है न, वह बाँकपनसे निकलती है। प्रेम पूर्ण होनेपर भी उसमें मानका बाँकपन रहता है और वह निर्भय होता है, उसमें भय बिलकुल नहीं होता है।

अब देखो प्रेमका क्रमबद्ध स्वरूप! पहले है प्रेम, प्रेमके बाद प्रणय, प्रणयके बाद स्नेहके बाद मान, मानके बाद राग-अनुराग, रागानुरागके बाद भाव, भावके बाद महाभाव और महाभावके बाद दिव्योन्माद। ऐसी ही प्रक्रिया वेदान्तमें होती है। जो प्रसंग हम आपको सुनाने जा रहे हैं, वह दिव्योन्माद—प्रेमकी अन्तिम परिणतिका प्रसंग है। यह संयोगमें भी आती है और वियोगमें भी आती है। आपने श्रीमद्भागवतमें द्वारिकाके प्रसंगमें पढ़ा होगा, जब श्रीकृष्ण और उनकी पटरानियाँ जल-विहार करती हैं और जल-विहार करते-करते पत्नियोंको दिव्योन्माद हो जाता है। उनको ऐसा लगने लगता है, कि सारी सृष्टि श्यामसुन्दरके दिव्योन्मादमें व्याकुल हो रही है। वे बोलने लगती हैं—अरे चक्रवाक, तू रातभर क्यों रोता रहता है? अरे चन्द्रमा, तेरी ज्योति क्यों क्षीण हो गयी है? अरे पहाड़, तू क्यों जड़ हो रहा है? अरे ओ मेघ, तू क्यों काला पड़ रहा है? ये सारी बातें वे प्रेमजनित उन्मादमें बोलती हैं। तो संयोग दशामें इस अवस्थाको मोहन दशाका परिणाम बोलते हैं और वियोगमें इस दशाको मादनदशाका परिणाम बोलते हैं। मोहन और मादन—ये दो नाम शास्त्रमें आते हैं।

अब यह प्रसंग दिव्योन्मादका प्रसंग है। इतनी भूमिका इसलिए बाँधनी

पड़ी, कि आप इसके महत्त्वको समझ लो। आजकल जब सत्संगमें प्रेमकी बात करते हैं, तो उसे जवान भी सुनते हैं, किशोर भी सुनते हैं, लड़के भी सुनते हैं। सुनते तो हैं भगवान्‌की बात और घरमें जाकर फिर वैसी बात बोलने लगते हैं, वैसा काम करने लगते हैं। यह तो दिव्योन्माद दशाका प्रेम, यह राधारानीका प्रेम है, जो प्रणय, स्नेह, मान, राग-अनुराग, भाव आदिके रूपमें प्रकट होकरके दिव्योन्माद दशामें जा पहुँचता है।

श्रीमद्‌भागवतपर एक भाष्य है, जिसका नाम वासना-भाष्य है। सुखाचार्यने उस भाष्यकी रचना की थी, जो शंकराचार्यसे तीसरी पीढ़ीमें पड़ते थे। वह भाष्य तो अब नहीं मिलता है, परन्तु उद्धरण दिया है। सनातन गोस्वामी, श्रीधरस्वामी, वल्लभाचार्यजी महाराज—सबने उसे उद्धृत किया है। माध्वाचार्यजीने भागवत-निर्णयमें लिखा है, कि सुखाचार्यजीने समूचे श्रीमद्‌भागवतपर टीका लिखी है और उन्होंने उसे देखा है। उस वासना भाष्यमें श्रीराधारानीका ही एक नाम है 'काचित्'—ऐसा कहा गया है। **कं प्रेम-सुखं आप्नोति संवर्द्धयति इति काचित्**—जो दिव्य सुखको लाकर संसारमें बाँध दे, उसका नाम है काचित्। **कं कृष्णं प्रेमसुखं आसमन्तं चिनोति**—जो सर्वत्र श्रीकृष्ण-सुखका चयन करे। श्रीराधारानीके ये गुण हैं।

राधारानीने देखा—कि एक भँवरा आया। बड़ा सुन्दर है वह भँवरा और श्रीमती राधारानीके चरण-कमलोंसे जो सुगन्ध निकल रही है, उनके जो लाल-लाल-नाखून हैं—उनकी ओर आया। श्रीराधारानीके जो चरणारविन्द हैं, वे ध्येय हैं; यह ध्येयमूर्ति है, माने ध्यान करनेके लिए है। उसमें सुगन्ध भी है, रस भी है, सौन्दर्य भी है; उसमें सौकुमार्य है और उसमें सौस्वर्य भी है। जब चलती हैं तब उनकी ध्वनि सुनाई पड़ती है, जब छूती हैं तब उनकी कोमलताका अनुभव होता है, जब देखें तब उनके सौन्दर्यका दर्शन होता है। अगर उसका स्वाद लिया जाय, तो मुँहमें उसका रस और नासिकामें उसकी सुगन्ध—इनकी वासना स्वयं श्रीकृष्णने की है। श्रीराधारानीके चरणारविन्दमें ये जो पाँच बातें रहती हैं—उनकी उपासना स्वयं श्रीकृष्णने की है। यह शृंगार रसकी बात है।

श्रीराधारानीके चरणारविन्दसे इतनी सुगन्ध निकल रही है कि भँवरा उसके पास आगया। उसको तो ऐसा लगा कि यह लाल-लाल कमलका फूल ही है। अब श्रीराधारानीने उसको देखा, तो कहा—हट, हट, दूर होजा। क्यों? उनको ऐसा लगा, कि हमारे प्रियतम कहीं अलग बैठे हैं और मैं उनसे रूठ कर अलग बैठी हूँ;

वैसे बिना मानके तो अलग बैठते नहीं। तो मालूम पड़ता है कि उन्होंने इस भँवरेको हमें मनानेके लिए भेजा है। इसलिए वे प्रजल्प करने लगीं। प्रजल्पमें क्या होता है? असूया, ईर्ष्या, मद, गर्व और अवगीर्णा—ये पाँच पदार्थ प्रजल्पमें होते हैं। प्रीतमका कोई दोष नहीं, न दूतका कोई दोष है; लेकिन दोनोंमें दोष निकाल देना—यह असूया है। झूठी सौतकी कल्पना करना ईर्ष्या है। अपनेमें बड़प्पनका आरोप करना, अभिमान करना, प्रीतमका तिरस्कार करना—यह मद, गर्व तथा अवगीर्णा है। ये पाँचों बातें प्रजल्पमें होती हैं। इसलिए यह जो पहला श्लोक है, वह प्रजल्प है। तो क्या बोलीं? कि अरे ओ मधुप! तू हमारे पाँव मत छू। अरे, तुम तो क्या—अगर तुम्हारे मालिक भी आजायँ, तो मैं अपना अँगूठा तक छूने नहीं दूँगी। क्या समझते हो तुम! दौड़े चले आ रहे हो हमारा अँगूठा छूनेके लिए! तो फटकार दिया श्रीराधारानीने। जब भँवरा गुनगुनाया, तो बोलीं—हाँ, मैं समझ गयी कि तुम क्या कहते हो। कि मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करना चाहता हूँ। नहीं नहीं! मैं जानती हूँ कि मथुरामें मेरी जो सौतें रहती हैं, उन्होंने तुमको सिखा-पढ़ाकर भेजा है कि उस गोपीके चरणारविन्दमें जो मकरन्दका रस है, उसे तू जाकर चूस ले; पीजा। उसमें रस नहीं रहेगा, पाँव टूट जायेंगे। तो फिर वह श्यामसुन्दरके पास कभी नहीं आयेगी। सो हमारा पाँव तोड़नेके लिए हमारी सौतोंने तुम्हें भेजा है। तुम निश्चिन्त हो जाओ; हम कभी मथुरा जानेवाले नहीं हैं। हम उन सौतोंके सुखमें कभी बाधा डालनेवाले नहीं हैं। इसलिए तुम हमारा पाँव काहेको तोड़ते हो? **भ्रमर मा स्पृशाङ्घ्रिं**—मत छूओ हमारे पाँव!

इसपर मानो भँवरेने कहा—नहीं देवीजी! माना कि हमने बहुत पाप किये हैं, इलिए आप हमें अपने चरण नहीं छूने देतीं। तभी तो काला हूँ न! हमारे शरीरके रंगमें जो कालिमा आगयी है—यह पुण्य न होनेके कारण है; पाप बहुत अधिक होनेके कारण है। यदि मैं आपके चरणारविन्दका स्पर्श कर लूँगा, तो मेरे पापकी कालिमा धुल जायेगी। मैं पवित्र हो जाऊँगा। आप कृपा करके मुझे एक बार अपने चरणोंका स्पर्श कर लेने दीजिए। बोलीं—कि नहीं मधुप! तू मधुपान अर्थात् मद्यपान करनेवाला है और कितवबन्धु है—कपटीका दोस्त है।

अब एक तीसरी बात देखो। राधारानी कहती हैं—कि तू आया है मुझे प्रणाम करके अपनेको पवित्र करनेके लिए और यहाँ तेरे स्पर्शसे मेरे चरण ही अपवित्र हो जायेंगे। तेरे जैसे शराबीके लिए, कपटीके मित्रके लिए हमारे चरण नहीं हैं। तेरे अन्दरसे अपवित्रता निकल करके हमारे चरणोंमें लग जायेगी। तेरे

जैसे शराबी और कितवबन्धुसे चरण-स्पर्श कराना धर्मशास्त्रके विरुद्ध है। तुम अछूत हो, अस्पृश्य हो।

भँवरेने मानो फिर कहा—देवी! हम श्यामसुन्दरके भेजे हुए आये हैं। पापी हैं तो क्या, आपके चरण छूकर हम पवित्र हो जायेंगे। अरे राम राम! किसका नाम ले लिया! श्यामसुन्दर तो कपटी है। यहाँ देखो! कृष्णको कपटी कहनेका अधिकार दासमें नहीं है। जो कृष्णको स्वामी मानते हैं, गुरु मानते हैं और मित्र मानते हैं—उनको उन्हें कपटी कहनेका अधिकार नहीं है। असलमें जो ईश्वरको पहचानता है, वह उसको कपटी कह सकता है, क्योंकि माया ही तो कपट है न! मायाका कपट हमेशा ईश्वरमें रहता है। क्यों? कि जीवोंको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिए ईश्वरको जिज्ञासिका माया अथवा अविद्यात्मिका मायाका प्रयोग करना पड़ता है; एक ओर दुःख और दूसरी ओर सुखके दो पहलू बनाने पड़ते हैं। तो एक बाधा और दूसरा साधा पक्ष अथवा यों समझो कि राधाके जो दो पक्ष हैं—यही तो कपट है, क्योंकि एक अद्वितीय वस्तुके दो पक्ष नहीं बनते हैं। फिर भी श्रीकृष्ण जीवोंका कल्याण करनेके लिए दो पक्ष बनाते हैं और उनको इधरसे उधर खींचते हैं। वे कितव तो हैं—जो कपटी हैं, मायापति हैं। यह नहीं कहतीं वे श्रीमती—कि मेरे सम्बन्धसे ही वे कपटी हैं।

अब कृष्ण-पक्षकी थोड़ी बात सुनो। राधारानी कृष्णको कपटी क्यों कहती हैं? कपटी इसलिए कहती हैं, कि कृष्णने कहा था—मैं तुम्हारे लोक, वेद और स्वजनोंके त्यागकी बातको अच्छी तरह जानता हूँ। यदि मैं ब्रह्माकी आयु भर तुम्हारी सेवा करूँ, तो भी तुमसे उऋण नहीं हो सकता। मैं तुम्हारे पास जरूर आऊँगा। तो राधारानी कहती हैं—वे सब कपटकी बातें थीं, नहीं तो हमको छोड़कर क्यों चला जाता? कपटी कहना तो ठीक है। पर अब देखो कि श्रीकृष्ण कपट क्यों करते हैं। हमारे गाँवमें एक कहावत है कि 'जिसके लिए चोरी करो, वही कहे चोरवा', माने जिसकी भलाई करनेके लिए चोरी की न, उसीने हल्ला किया—कि यह चोर हैं चोर है। श्रीराधारानीका कृष्णके साथ जो सम्बन्ध है, उसको छिपानेके लिए ही ये कपटी हैं। वे उन्हींके प्रेमके वश होकर, उन्हींके आनन्दमें डूब करके, उन्हींकी प्राप्तिके लिए करते हैं कपट और वे ही कहती हैं—कपटी। विद्याकी महिमा प्रकट करनेके लिए अविद्याका विस्तार होता है। दिनकी महिमा प्रकट करनेके लिए रात्रि बनाई जाती है। लोग काम-क्रोध आदिको छोड़कर शमदमादि साधन-सम्पन्न बनें और

ब्रह्म-विद्याको प्राप्त करें—इसलिए तो यह कपट बनाया गया है! माया बनायी गयी है!

एक जिज्ञासु महात्मा थे। शिष्यसे कहते थे—कि बेटा, तू बहुत दुःखी है। काम-क्रोध-लोभ आदिको छोड़ और शम-दम आदि साधनोंको धारण कर और ब्रह्मविद्या प्राप्त कर। अब वह शिष्य अपने गुरुसे लड़े; बोले—कि महाराज! जिसको तुम शम-दमादि साधन कहते हो, वह भी तो अविद्याका ही कार्य है! अन्तःकरणमें ही रहता है। और यह जो अज्ञानको मिटानेवाली ब्रह्मविद्या है—यह भी तो अन्तःकरणमें ही उदय होती है। और अन्तःकरण अविद्याका परिणाम है। आप क्या ब्रह्मविद्या और शम-दमादिका झगड़ा लगाये बैठे हैं? यह भी तो अविद्याका ही खेल है! लो भला! जिस शिष्यको अविद्यासे बचानेके लिए गुरुने शम-दमादि साधन और विद्याकी कल्पना की, अब वही शिष्य कहता है—हे महाराज! आप तो अविद्याकी ही बात हमेशा करते रहते हैं। क्या होती है जीवन्मुक्ति और क्या होती है अविद्या? क्या होता है शम-दमादि?

यह कृष्ण-पक्षकी बात है। कृष्ण कितव हैं; परन्तु किसके लिए? तुम्हारे लिए ही न!

अब मधुप और क़ितवको एक साथ कर दो। मधुपत्य कितवत्य बन्धुका हुआ मधुप कितव बन्धु, तत् सम्बोधने हे मधुप कितव बन्धो! मधुप कौन? कि कृष्ण! और कितव कौन? कि कृष्ण! मधुप कृष्ण कैसे? कि मधुवंशियोंके पति हैं। इसका दूसरा अर्थ देखो—कि जब भगवान् कृष्ण गोपियोंके मनमें प्रवेश करते हैं, तो मधु-माधव रूप वसन्त उपस्थित हो जाता है। सब लताएँ खिल जाती हैं। इसलिए भी वे मधुप हैं, मधुपति हैं। नाम-साम्य है।

वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं—श्रीकृष्ण मधुपति हैं और तू मधुप है। इसलिए भी, तेरे नामसे साम्य होनेसे वे तेरे मित्र हैं। और जो शराब पीता है, उसके आस-पास रहनेवाले लोग भी वैसे ही होते हैं। तो तू मधुप है, कितव है; और वह भी मधुप है, कितव है। उसके तुम बन्धु हो, इसलिए तुम हमारे चरणारविन्दका स्पर्श मत करो। बोले—हे देवि! मैं बहुत सच्चरित्र हूँ। देखो और लोग तो कोई फलाहारी होते हैं, कोई पत्राहारी होते हैं, कोई पुष्पाहारी होते हैं और मैं केवल रसाहारी हूँ। फलमें, पत्र-पुष्पमें मृत्तिकाका अंश अधिक रहता है, किन्तु रसमें नहीं रहता। मैं केवल रसाहारी हूँ; कितना बड़ा व्रती हूँ! तुम हमें शराबी मत कहो। मैं तो रसभोगी हूँ, रसभोगी। और देवि! मैं तुम्हारे पास श्रीकृष्णका भेजा आया हूँ;

सीधे आया हूँ और सदाचारी हूँ, पवित्रात्मा हूँ। अगर तुम मुझे अपने चरणारविन्दका स्पर्श नहीं करने देती हो, तो मत करने दो। मैं अपना रस पीनेवाला अंग नहीं लगाऊँगा तुम्हारे चरणारविन्दमें। यह दाड़ी—जो कभी अपवित्र स्थानमें लगी नहीं है—उससे मैं तुम्हारे चरणारविन्दका स्पर्श करके प्रणाम कर लूँगा! बस इतनी छुट्टी मुझे दीजिये।

श्रीराधा बोलीं—नहीं भ्रमर! तुम जो अपनेको सच्चरित्र कहते हो, रसभोगी कहते हो—वह तो तुम्हारी शक्ल देखनेसे ही मालूम पड़ता है। अरे भ्रमर! हम सब कालोंको पहचानती हैं। यह तुम्हारे होठोंके पास मूँछ, दाढ़ीमें यह पीला-पीला क्या लगा है? यह कुङ्कुम कहाँसे लग गया? यह पराग, केसर तुम्हारी मूँछोंमें कहाँसे लगा—बताओ तो? देखो, अपराधी सिद्ध हो गये न तुम!

कुच विलुलित माला कुङ्कुमश्मश्रुभिर्न—तुम्हारी दाढ़ी-मूँछमें यह जो कुङ्कुम लगा है, इसे हम पहचानती हैं। जो वनमाला श्रीकृष्ण पहनते हैं, यह उसका कुंकुम है। बोले—देवि! भले उस वनमालाका कुङ्कुम हो पर है तो कुङ्कुम ही न। बोलीं—नहीं नहीं! हमारी सौतने अपने वक्षस्थलसे जो उनकी वनमालाको रौंद डाला है, यह उसका कुङ्कुम है। अथवा हमारी सौतने श्रीकृष्णके वक्षस्थलपर जिस वनमालको रौंद डाला है, उस मालाका कुङ्कुम तुम्हारे श्मश्रुमें लगा हुआ है। हम पहचानती हैं इसको। अगर तुम शराबी न होते, तो ऐसी चीज दाढ़ी-मूँछमें लगाकर आते? अपवित्र हो तुम। सिद्ध हो गया, कि शराबी हो तुम।

अब यहाँ देखो न! यहाँ कोई चीज नहीं है। न तो मथुरामें कोई सौत है, न कृष्णके साथ उसका कोई सम्बन्ध है। न वह वनमालाका पराग है और न वह भँवरेके दाढ़ी-मूँछमें लगा हुआ है। यह इसलिए बताता हूँ कि किसी-किसीको ख्याल होगा न, कि यह क्या जल्पना है? जल्पना यह है कि भँवरा जगह-जगह फूलपर बैठता है। फूलके जो कुंकुम हैं—वे उसको शरीरपर लगे हुए हैं। यही है पीतिमा। जैसे भँवरा कृष्णका दूत नहीं है, वैसे ही भँवरेकी दाढ़ी-मूँछमें लगा हुआ कुंकुम वनमालाका नहीं है। उसी तरहसे कोई सौत भी नहीं है। यह तो गोपी अपने भावमें नित्य-निरन्तर श्रीकृष्णके पास रह रही है। प्रेम देखो गोपीका—कि एक भँवरा भी उसको श्रीकृष्णका दूत मालूम पड़ता है। वह श्रीकृष्णके प्रेममें इतनी तन्मय है—यही बात देखनेकी है। यह मत देखो कि सौत है, कि दाढ़ी-मूँछ है, कि विलुलित माला है, कि नहीं! यहाँ तो गोपीके हृदयमें कृष्ण भरे हैं, कृष्णका विहार भरा है। भ्रमरको देखकर भी वही-वही वस्तु निकलती है।

बोले—अच्छा देवि! अगर आप अपने चरणारविन्दका दर्शन नहीं करने देतीं, तो और भी कई गोपियाँ हैं; इनमें-से हम किसीका चरण-स्पर्श कर लें, तो आपके योग्य हो जायेंगे? बोलीं—न, न! हममें-से किसी गोपीका चरण स्पर्श नहीं करना। यह देखो भावकी पराकाष्ठा! यहाँ मान नहीं है; मानमें तो मनानेकी कल्पना होती है। विरह भी यहाँ नहीं है; यहाँ तो केवल रस ही रस है। दाहिने रस, बायें रस, सामने रस, पीछे रस भीतर रस! यहाँ तो रसकी दो लहरें आपसमें मिल रही हैं और उन दो लहरोंके सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं है। बायीं लहर कभी दायीं हो जाती है और कभी दायीं लहर बायीं हो जाती है। यहाँ रसाद्वैतके सिवाय और कुछ नहीं।

बोले—अच्छा देवि! अब लौट जाते हैं। स्वयं हमारे प्राण-प्यारे श्यामसुन्दर तुमको मनानेके लिए यहाँ आवेंगे। अब वे ही तुम्हें मनावेंगे। भँवरेको हटता हुआ देखकर, गुनगुनाता हुआ सुनकर व्याकुल होकर श्रीराधारानी बोलती हैं—कि उनको तकलीफ करनेकी जरूरत नहीं है। जैसे तुम मधुप हो, वैसे वे मधुपति हैं। तुम मधु पीनेवाले हो और वे मधुके मालिक हैं, यदुवंशके स्वामी हैं। उन मानिनियोंके प्रसादको वही ग्रहण करें, वहन करें। यही अवगीर्ण है, माने मानमें अवमान आगया। देखो, क्या व्यंग्य किया है! बाबा, मथुरा नगर है और वहाँ बहुत-सी नागरी स्त्रियाँ रहती हैं। यदुवंश तो नागरियोंका मुख्य स्थान है। उनमें जो श्रीकृष्णको देखतीं हैं, वही उनपर लट्टू हो जाती हैं—**कहो कौन भटू जो लटू नहिं कीन्हीं**। वहाँ सब उन्हें पानेके लिए व्याकुल हैं और उनसे प्रेम करती हैं। वे रूठती हैं और श्रीकृष्ण मनाते हैं। **तन्मानिनीनां मधुमानिनीनां**—वे जो मथुराकी मानिनियाँ हैं, उनको मना-मनाकर उनका कृपा-प्रसाद श्रीकृष्ण अपने सिरपर ढोया करें—**वहतु**। इसका क्या मतलब है? मतलब यह है, कि अगर एक मानिनी होती, तब तो उसको हाथ-पाँव जोड़कर मना लेते और फिर उसके साथ रहते, तो उसको कुछ सुख-शान्ति मिलती। यहाँ तो महाराज, हजारों मानिनियाँ हैं मथुरामें। आज एकको मनाया, पाँव छुए, प्रसन्न किया। तबतक खबर आयी, कि दूसरी रूठी हुई है—तो उसके पास गये मनाने। वह जबतक मानती है, तबतक तीसरी रूठेगी और तीसरी मानेगी—तो चौथी रूठेगी। इस तरहसे पचासों वर्ष तक श्रीकृष्ण मनाते-मनाते रह जायेंगे और मानिनियाँ मानेंगी नहीं। तो करना क्या चाहिए? व्यंग्य क्या है? कि इसलिए मथुरा छोड़कर उन्हें यहाँ आजाना चाहिए—

वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं।

बोले—अच्छा, मान तो जायेंगी न? कि मान तो जायेंगी, पर इसमें भय बहुत है। क्यों? कि **यदुसदसि**—यदुवंशकी सभा जुड़ेगी और वहाँ यह चर्चा चलेगी—कि मथुरामें व्रजसे एक ग्वाला आया है! जरा तगड़ा है, पहलवान है; कंसको मार दिया है। रंगका काला और शरीरका बड़ा बलवान, हृष्ट-पुष्ट ग्वाला यह जो मथुरामें आया है, इसने यदुवंशकी स्त्रियोंमें अपने प्रति आकर्षण उत्पन्न कर लिया है और उनमें इतना घुलमिल गया है, कि दिनभर, रातभर उन्हें मनानेमें ही लगा रहता है। इस प्रकार यदुवंशी लोग बहुत नाराज होंगे।

अब देखो! **यदुसदसि विडम्ब्यं**में बात कोई नहीं, लेकिन जो रसिक पण्डित लोग हैं न, वे 'यदु' शब्दका अर्थ 'यदुवंशी' नहीं करते। वे कहते हैं, यत्+उ है, और उ माने है भ्रमर; सम्बोधन है यह। **यत् सदसि, अस्माकं सदसि गोपीनां सदसि!** हम गोपियोंकी सभामें क्या उसकी विडम्बना होती है! जो सुनता है, वह यही कहता है कि श्याम-सुन्दरको, गोकुलाधीश्वरको यह क्या हो गया है, कि वे वहाँ उनके प्रसादको ही वहन करते रहते हैं। भ्रमरने कहा—नहीं देवि! उनकी कोई विडम्बना नहीं होती है। सब बड़ा आदर करते हैं। वे यदुवंश-शिरोमणि हैं। उनको कोई ग्वाला नहीं कहता; वहाँ तो सब उनको वसुदेव-नन्दन कहते हैं। अभी वे गुरु-गृहसे संस्कार करवाकर, विद्याध्ययन करके आये हैं। वे ब्रह्मचारी, सदाचारी, उत्तम पुरुष हैं। ऐसी बात तो आपके ही श्रीमुखसे सुननेको मिल रही है। श्रीमतीजी, आपके सिवाय ऐसी उल्टी-पल्टी बात कोई नहीं सोचता है। इसपर श्रीजी बोलीं—**यस्य दूतस्त्वमीदृक्**—अरे बाबा! जिसको दुनियामें कोई दूसरा दूत नहीं मिला, सो उसने तुम्हारे सरीखेको दूत बनाकर भेजा—जो शराबी है, जिसकी दाढ़ी मूँचमें यदुवंशकी स्त्रियोंकी मालाका कुंकुम लगा हुआ है और जो मतवाला होकर इधर-उधर गुनगुनाता फिरता है। तू अपने मित्रके सद्गुणोंको प्रकट कर रहा है न! क्योंकि श्रीकृष्णके आदर्शको, श्रीकृष्णके चरित्रको देखकरके तो तुमने अपना चरित्र बनाया होगा! वैसा ही तो तेरा रंग-रूप है—काला और वैसाही पीला-पीला तेरा पीताम्बर है—पंख है। तू एक-एक फूलका रस लेनेवाला; तूने अपना चरित्र कहाँसे गढ़ा है? जब तुम्हारे जैसा दूत—उनकी बदनामी फैलानेवाला, उनको मिला है, तो अब तो हो चुकी उनकी प्रतिष्ठा! उन्हें पूज चुके यदुवंशके लोग! इसलिए भँवरे, तुम लौट जाओ।

अब देखो! यहाँ भ्रमरके लिए जितने सम्बोधन हैं, वे सब उद्धवजीके लिए भी कहे जा रहे हैं। तो 'मधुप कितवबन्धु' सम्बोधन भी उद्धवजीके लिए है। तो

क्या उद्धव भी मधुपान करते थे? कि नहीं, मधुपान नहीं करते थे, किन्तु वे भी मधुवंशके थे—इसलिए मधुप थे। मधुप माने मधुवंशी होता है। या **मधुपाति**—जो मधुवंशियोंकी रक्षा करे—सो मधुप। और 'कितव-बन्धु' दोनों पक्षोंमें है ही है। एक दृष्टिकोण तो यह है, कि उद्धवजीको ही ये सारी बातें कहीं गयी हैं। दूसरा दृष्टिकोण यह है, कि इसका अर्थ श्रीराधारानीजीकी स्थितिके अनुसार समझना चाहिए। अग्निपुराणमें बताया गया है कि श्रीराधारानीके चित्तमें कोई बाह्य वासना नहीं है और वे **वेदान्त सर्वान्तविहारणैः**—वेदान्तका जो अन्तिम अंश हैं—उपनिषद्—उसकी विभावना करती हैं। उनके चित्तमें संचारी भावके रूपमें निर्वेद आता हैं। कभी-कभी जब वे यह देखती हैं, कि यह कृष्ण-प्रेम बहुत दुःख दे रहा है, तो वैराग्यका भी उदय होता है। वे अपने प्रेमको—मिलनकी इच्छाको दबानेके लिए 'शिवोऽहम्' भी बोलती हैं, क्योंकि 'शिवोऽहम्' बोलनेसे मनमें जो भाव उठता है, उससे श्रीकृष्णकी प्राप्तिका भाव थोड़ा दब जाता है—कि मैं ही सच्चिदानन्द परिपूर्ण ब्रह्म हूँ, तो दूसरेको चाहनेसे क्या? इस चाहको दबानेके लिए 'शिवोऽहम्' को भी बुला लेती हैं। एक दिन जब वे 'शिवोऽहम्'को बुलाकर बैठी थीं, तो उद्धवजी पहुँच गये, तो उन्होंने उद्धवजीको वेदान्तकी बात समझायी। अब उद्धवजीको विचार हुआ, कि मैंने बृहस्पतिजीसे जितना वेदान्त सुना है, उससे तो ये अधिक ही बता रही हैं। सो अब इनसे वेदान्तकी जिज्ञासा करके सीखना चाहिए। अब उधर उद्धवजीके मनमें वेदान्तकी जिज्ञासा हुई, किन्तु इनका तो महाराज, कोई स्थायी भाव तो है नहीं; वहाँ तो संचारी भाव है। उन्होंने थोड़ी देर तो 'सोऽहम्' करके प्रेमको दबाया, थोड़ी देर चित्त शान्त करके समाधि लगानेकी कोशिश की, लेकिन प्रेमकी बाढ़ फिर आगयी। अब जब फिर बाढ़ आयी, तो फिर वही बात करने लगीं।

इस प्रसंगमें चौथी बात यह है—कि प्रेम ब्रह्म विद्या है। इसलिए जीवोंके कल्याणके लिए श्रीराधारानी इन श्लोकोंमें ब्रह्मविद्याका ही उपदेश कर रही हैं। तो इसमें ब्रह्मविद्याका भी वर्णन है।

अब यह प्रसंग धीरे-धीरे आगे चलेगा।

तैंतीसवाँ प्रवचन

जरा ताजगी आनी चाहिए न! दिन भर लोग काम करते हैं, तो थक जाते हैं। सायंकाल आकर कथा-वार्तामें बैठते हैं, तब कुछ मुरझाये-मुरझाये लगते हैं। श्रोता मुरझाया हुआ होगा, तो वक्ता फिर सुस्त हो जाता है। ऐसा सोचो कि यह तो भगवान्‌का धाम है। संसारकी सब चिन्ता छूट गयी, सब वासना छूट गयी। यह तो सब तीर्थोंका तीर्थ है न, जहाँ भगवान्‌की चर्चा होती है—

तत्रैव गंगा च यमुना च वेणी गोदावरी सिन्धु सरस्वती च।
सर्वाणि तीर्थानि वसन्ति तत्र यत्रास्य औदार्य कथा प्रसंगः॥

सारे तीर्थ वहाँ आकर निवास करते हैं, जहाँ भगवान्‌की उदार कथाका प्रसंग चलता है। कहते हैं, कथा सुननेके लिए स्वयं भगवान् आये। हनुमानजीके लिए तो प्रसिद्ध ही है—

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकांजलिम्॥

स्वयं भगवान् सुननेके लिए आते हैं कि देखें, हमारे बारेमें ये लोग कैसी-कैसी अफवाहें फैलाते हैं, गप्पे हाँकते हैं। तो यह अनुभव करो कि यहीं हम लोंगोंमें किसी रूपमें कोई देवता, कोई बड़े-बड़े भक्त, स्वयं भगवान् ही बैठे हुए हैं—तो पाँव फैलाना नहीं, सोना नहीं, आँख बन्द नहीं करना। आँख बन्द करके ध्यान तो घरमें करना, यहाँ तो बिलकुल सावधान रहकर जागते रहो। जिस ग्रन्थमें भगवान्‌की लीला सुनायी जावे न, उसको साक्षात् ईश्वरका स्वरूप मानना चाहिए।

अब आओ, चलें वृन्दावन। वहाँ की लताका असली नाम है 'रता'। वहाँके वृक्ष-वृक्षमें कृष्ण हैं। वहाँ की धूल प्रेमकी धूल है, उसमें बड़े-बड़े भक्तराज लोटते हैं कि यह प्रभुके चरणोंकी धूल है। यहाँ तुलसीका वन है, मालतीकी माधवीकी लताएँ हैं। वहाँ भ्रमर गुञ्जार करते हैं, कोयल कुहू-कुहू बोलती है, मोर नाचते हैं और पपीहे 'पी कहाँ,' 'पी कहाँ' रटते हैं। वहाँका वातावरण ऐसे प्रेमका है कि अगर उसमें मन पहुँच जाये, तो राधाकृष्ण-युगल सरकारका ध्यान होने लगेगा।

अब कलके प्रसंगमें श्रीराधारानीने जो कुछ भ्रमरसे कहा, उसका आध्यात्मिक अर्थ देखो। जहाँ संस्कृतके पंडित श्रोताओंमें ज्यादा होते हैं, वहाँ भाषाका जो दाँव-पेंच है वह आनन्ददायक होता है और जहाँ श्रोता भाषाके दाँव-पेंचपर ज्यादा ध्यान देने वाले नहीं होते हैं, वहाँ उसका मजा कम होता है। अगर

अध्यात्म-विद्या सीखनी होवे, तो वह तो वेदान्त-शास्त्रमें बिलकुल स्पष्ट है। उसको कहींसे खींच करके निकालनेकी जरूरत नहीं पड़ती।

ब्रह्म विद्या-रूपिणी भगवती श्री बोल रही हैं कि हे मधुप! इस संसारमें जन्म-जन्मके कर्मोंके फल-रूपमें सुख-दुःख मिलते हैं और उनके भोगमें मनुष्य, पशु-पक्षी और कीट-पतंग आदि जीवनमें संलग्न रहते हैं। उन्हीं कर्मोंके फल-स्वरूप तुम भ्रमर बने हो, और मधुका पान करते फिरते हो। तुमने अपनी मित्रता इस कितवसे अर्थात् संसारसे, जिसमें कपट-ही-कपट भरा है—जोड़ रखी है। मैं तुम्हें यह उपदेश करती हूँ कि **सपत्नयाः अङ्घ्रिं मा स्पृश** हमारी जो सौतें हैं—अविद्या और अविद्याके कार्य—इनके पाँव मत छूओ, इनके साथ रौंदे मत जाओ। तो सपत्न्याः इधर आ गया—तुम्हारा शरीर वक्षःस्थल है; इसको माला पहना दी, चन्दनसे पोत दिया। इसमें बड़ी-बड़ी दाढ़ी-मूँछ आयी और इस शरीरको तुमने 'मैं' और 'मेरा' समझ लिया; मायाके चरणोंमें गिर पड़े और रौंदे गये। अब तो उठो। अब यह मायाका पदाघात मत सहो। **सपत्न्याः अङ्घ्रिं मा स्पृश कुचविलुलितमाला कुङ्कुम श्मश्रुभिः उपलक्षितत्वं वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादम्।**

भ्रमर-रूप जीवने कहा—ब्रह्मविद्याजी। महारानी! फिर हम क्या करें? बोलीं—तुम कोई साधारण मधुप नहीं हो, बल्कि कर्म-फलदाता ईश्वरके स्वरूप हो। जीव बोला—हमको तो ऐसा नहीं मालूम पड़ता। बोलीं—**तन्मानिनीनां अस्मादृशीनां प्रसादं वहतु भवान्**—जैसे मैं ब्रह्मविद्या हूँ, वैसे ही हमारी सरीखी जो मानवती माने प्रमाणरूपा-श्रुतियाँ हैं, उनका कृपा—प्रसाद तुम अपने सिरपर धारण करो। माने श्रुतियोंका अनुसन्धान करो, वेदान्तका अनुसन्धान करो और त्वं-तत् पदार्थका चिन्तन करो। जीव बोला इससे क्या होगा? बोलीं—यह होगा कि **यत् यस्मात् तु वितर्के त्वं तत् असि यदुसदसि यत् तु तत् असि**—क्योंकि निश्चित रूपसे, युक्ति-प्रमाणसे यह बात सिद्ध है कि तुम सत् तत्त्व हो। बोले—हम तो अपनेको मनुष्य समझते हैं, देहधारी समझते हैं। बोलीं—**दुरन्यान्** तुम्हारा यह रूप विडम्बनीय है। तुम स्वयं स्वामी होकर ऐसे दूत बनकरके, पशु बनकरके, मनुष्य बनकरके संसारमें दुःखी हो रहे हो। यह तुम्हारे स्वरूपके अनुरूप नहीं है।

अब आगे चलो। वेदान्त सुनना हो—तो जहाँ साफ-साफ रहता है वहाँ सुनना अच्छा है, किन्तु प्रेम और भक्तिके प्रसंगमें जो वेदान्त खींच-तान करके निकाला जाता है, उससे रस भंग हो जाता है।

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोक जल्पैः॥

१०-४७-१३

भ्रमर कुछ ठिठक गया। किशोरीजीको ऐसा मालूम पड़ा कि यह कुछ कह रहा है। भ्रमर बोलता तो है नहीं; गुनगुनाता है, पर जिसके मनमें जैसा भाव रहता है, वह वैसा गुनगुनाहटमें-से निकाल लेता है। जब प्रियतमाको मान होता है, तब ऐसा लगता है कि सामनेवाला प्रियतमकी बात कह रहा है और वे उसका उत्तर देती जा रही हैं। जब भ्रमर ठिठक गया और गुनगुनाया, तो किशोरीजीको ऐसा लगा कि वह कह रहा है—स्वामिनीजी, तुम्हारे प्राण-प्रिय श्यामसुन्दर जबसे मथुरा गये हैं, तुम्हारे ही ध्यानमें तबसे मग्न रहते हैं। उन्होंने वहाँ किसी भी स्त्रीकी ओर आँख उठाकर नहीं देखा। वहाँ तो दूसरी कोई स्त्री है ही नहीं, आपकी या गोपियोंकी कोई सौत है ही नहीं। कुब्जाके पास भी कृष्ण तब गये हैं, जब उद्धवजी लौटकर गये हैं। वह क्यों? कि उद्धवजीके मनमें शंका हुई कि श्रीकृष्ण कृतघ्न हैं क्या? गोपियोंने इतना प्रेम किया और यह निष्ठुर उनको छोड़कर चला आया! भगवान् उद्धवके मनकी बात समझ गये, तो बोले—चलो उद्धव! आज कुब्जाके घर हो आवें। उद्धवजीने सोचा, कि ये तो कुब्जाको ही नहीं छोड़ते हैं—जिसका कुल अच्छा नहीं, आचार पवित्र नहीं, ज्ञान, प्रेम भी नहीं—उसने जरा-सा प्रेम किया श्रीकृष्णसे और उसके प्रेमके भी जब ये कृतज्ञ हैं, तो गोपियोंके प्रेमके प्रति कृतघ्न कैसे हो सकते हैं?

अभी तो कुब्जासे भी भेंट नहीं हुई; केवल उसको भरी सड़कमें ठुड्डी उठाकर सीधा कर दिया था एक बार। श्रीकृष्णपर ऐसा आक्षेप करनेका तो कोई कारण नहीं है—कि वे वहाँ जने-जनेसे मिलते हैं और उनकी मालाके कुंकुम लेकर भौंरा आया है, जो बोलता है कि मैं कृष्णका दूत हूँ।

अच्छा! मेरे सिवाय उसको दूसरा कुछ सूझता नहीं है—जैसा हे भ्रमर! तुम कहते हो—तो फिर वह आता क्यों नहीं है?

इसलिए नहीं आता है कि तुम रूठी हुई हो। मान जाओ, तो आ जाये।

मान कैसे जाऊँ? उसने तो हमारे साथ बड़ा अन्याय किया है।

अब देखो, अन्याय बतानेकी जो शैली है न!

सुकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।

उद्धवजी! ऐसा ख्याल आता है कि केवल एक बार उसने अपनी अधर-सुधाका पान कराया था।

तब तो तुम्हें कृतज्ञ होना चाहिए कि उसने तुम्हें अमृत पिला दिया। एक बार भी किसीको अमृत पिला देना उसको जरा-मरणसे विनिर्मुक्त कर देना है।

तो बोलीं—नहीं नहीं! उसने हमारा उपकार करनेके लिए अधर-सुधा नहीं पिलायी।

तब काहेको पिलायी?

इसलिए पिलायी—कि यह गोपी हमारे विरहमें कहीं मर न जाये! जिन्दा रहे, इसलिए पिलायी।

अच्छा, जिन्दा तो रख लिया न आपको!

अरे, जिन्दा भी कोई उपकार की बुद्धिसे थोड़े ही रखा! यह सोचा—कि अगर यह कहीं हमारे विरहमें मर गयी, तो फिर मैं किसको तकलीफ दूँगा? तकलीफ देनेके लिए भी तो कोई चाहिए न!

अच्छा, देवीजी! अब उस सबको भूल जाओ।

कैसे भूल जायें? **मोहिनीं पाययित्वा**—उसने सुधा नहीं पिलायी, मोहिनी पिलायी। जैसे कोई किसीको जड़ी-बूटी सुँघाकर किसीपर जादू कर दे, ऐसे ही उसने अधरोंकी सुधा पिलाकर हमको बावली कर दिया। उसके साथ हमने जो प्रेम किया, वह हमारा पागलपन था।

अच्छा देवीजी! हम अभी जाते हैं श्रीकृष्णके पास और कहते हैं उनसे, कि तुम्हारी सुधा पीकर गोपी पागल हो गयी है। उसको और सुधा चाहिए। एक सोनेके बर्तनमें भरकर वहाँसे हम अधर-सुधा ले आते हैं। तुम डटकर पियो।

बोलीं—नहीं। वह अधर-सुधा है; अधर एवं सुधा। उसके होंठ सुधाके आधार नहीं हैं, बल्कि स्वयं अमृत हैं। यदि उनसे अलग हो जायेगी, तो वह सुधा नहीं रहेगी। इसलिए हम तो उस सुधाकी बात कर रही हैं, जो उसको अधरोंसे लगी हुई है। उसमें मोहिनी शक्ति है।

तो सकृदधर सुधां स्वां—एक ही बार अधर-सुधा मिलनेकी बात क्यों कही? सकृद् माने एक बार। एक बार मिलनेका अभिप्राय यह है कि जहाँ प्रेम होता है, वहाँ बहुत बारकी बात भी एक बारकी ही मालूम पड़ती है। जिससे बहुत

राग होता है, उसके पास जाओ और घण्टे, दो घण्टे बैठो और लौटने लगो, तो ऐसा लगेगा कि अभी तो पाँच मिनट भी नहीं हुआ है। बहुत समय भी थोड़ा लगता है।

तो यह गोपी है। अरे बार-बार तो तुम्हें श्रीकृष्णने अधर-सुधा पिलायी है। अब देखो, अधरको अधर क्यों कहते हैं? इसलिए कहते हैं कि प्रेमी लोग इसको धरकर रख नहीं सकते। जो पकड़कर अपने पास रखा न जाये—वह अधर। अगर गोपियोंकी चले, तो वे उसे प्रियतमके पास न रहने दें, अपने पास ही रखें। अधर-सुधा माने जो धरतीकी सुधा नहीं है। अथवा गोपियाँ भौंरेको ही कहती हैं, अधर नाम देती हैं कि 'हे अधर! सकृद् सुधां पाययित्वा' जिसे केवल एक बार सुधा मिली है। भौंरा भी ऐसा है, जो पकड़में नहीं आता है। बारम्बार उड़ जाता है। यदि पकड़में आजाये, तो गोपियाँ उसके पंख ही तोड़ दें।

अब देखो, इस बातको गोपी कई बार बोलती है। जितनी बार बोलती है, उतनी बार नया-नया भाव उसमें आता है। इसका अर्थ है कि गोपीके मनमें बारम्बार पीनेकी तृष्णा है, लालच है। यह प्रेमका अमृत है। जहाँ सद्गुरुकी कृपा होती है, साधनाके अनुष्ठान होते हैं, ईश्वरकी प्रसन्नता होती है, वहाँ यह लालसा उदय हो जाती है कि हम स्वयं भगवान्‌के अधरामृतका पान करें। उसके लिए इस मायाकी सृष्टिमें कोई भी वस्तु ध्येय नहीं रह जाती।

जौं मोहि राम लागते मीठे।
तौ नवरस षट्रस अनरस रस ह्वै जाते सब सीठे॥

अब गोपीको संसारमें कहीं रस नहीं है। अरी गोपी! अच्छा, अब जो हुआ—सो हुआ। अब तो छोड़ो इस बातको। बोलीं—कि छोड़ें कैसे? **मोहिनीं पाययित्वा**—वह तो मोह देने वाली है न! मोह माने—जिसमें आदमीका विचार खो जाये। देखो, मोह शब्दका वैसे तो अर्थ है—जिससे चित्त विपरीत हो जाये। **मोह वैचित्ती**-वैचित्ती माने चित्तकी विपरीतता। लेकिन **मा उहा यत्र**—ऊहापोह, जिसमें ऊहापोह करनेकी, सोचनेकी शक्ति न रह जाये—उसका नाम मोह। तो हमें उससे यह मोह प्राप्त हो गया है।

अब एकबार यहाँसे दृष्टि हटाकर भगवान्‌के उस रूपपर ले चलो, जहाँ मोह या मोहन मोहिनी बन गया है। मोहनसे बना मोहिनी और मोहसे बना मोहनी। मोहन बना मोहिनी और उसने देवताओंको सुधाका पान कराया। वह देवताओंको सुधा पिलाता गया, और दैत्योंकी तरफ जाते-जाते अंतर्ध्यान हो गया,

उड़ गया। जैसे नारायणने वहाँ छलिया रूप धारण किया, वैसे ही यहाँ श्रीकृष्णने छलिया रूप ग्रहण किया। बोले—तब तुमने पिया ही क्यों? बोलीं—**पाययित्वा** उसने बलात् पान कराया। अरे भ्रमर! **सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्** जैसे तुम मालतीको छोड़कर चले जाते हो, जैसे देवताओंको छोड़कर मोहिनी रूप धारण करनेवाला वह छलिया नारायण चला गया, वैसे ही श्रीकृष्ण भी हमको छोड़कर चला गया है।

अब देखो, यहाँ क्या कहते हैं! मालतीके फूलमें कोई दोष नहीं रहता है वह पुरानी नहीं पड़ती, मुरझाती नहीं। दोष तो भँवरेका है कि वह मालतीको छोड़ कर चला जाता है। तो भ्रमर! जैसा तुम्हारा स्वभाव है, वैसा ही कृष्णका स्वभाव है और वह हमको छोड़कर चला गया है।

अब भँवरा फिर गुनगुनाया और गोपीको यह ध्यान आया कि यह कुछ कह रहा है। क्या? कि **परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा** अरी किशोरीजी। यदि वे इतने कपटी हैं, तो पद्मा उनके चरण कमलकी परिचर्या क्यों करती है? यह एक तर्क है; पद्मा माने लक्ष्मी। जो भगवान्‌के पदमें रहे उसका नाम पद्मा। पदकी जो मा है, मा माने शोभा है—वह पद्मा। पद शब्द अकारान्त भी है और हलन्त भी है। लक्ष्मीजीको और कहीं रहना नहीं भाता है। वे नारायणके वक्षःस्थलपर रहती हैं। क्यों रहती हैं वहाँ? कि अगर भगवान्‌की छाती काबूमें रह आयी, तो उसका हृदय काबूमें रह जायेगा। दूसरी किसी स्त्रीको भगवान् अपने हृदयसे नहीं लगाने पायेंगे, हर समय पहरा रहेगा। भगवान्‌ने भी कहा—आओ, बैठ जाओ। क्यों बैठा लिया? कि ये संसारी जीव जब हमको देखनेके लिए आयेंगे, तो तुम छातीपर बैठी रहोगी—तो तुम्हें देख कर ही चले जायेंगे। हमको कोई देखेगा नहीं। अच्छा रहेगा; बच जायेंगे। अब जब लक्ष्मीजी वृन्दावन आयीं, तो देखा कि यहाँ कि तो एक-एक गोपी ऐसी, कि सैंकड़ों लक्ष्मियाँ उसपर निछावर कर दी जायँ। श्रीकृष्णकी छातीपर चढ़नेकी तो उनकी हिम्मत नहीं पड़ी। उन्होंने सोचा कि यहीं रहूँगी बराबर; श्रीकृष्णके चरणारविन्दकी धूलमें हमें निवास मिले। इसके लिए लक्ष्मीने तपस्या की; वृन्दावनकी गली साफ की, लताओंको सजाया, वृक्षोंको सँवारा और वहाँकी गौओंको सुन्दर बनाया।

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्य - जुष्टम्।

लक्ष्मीजी जब श्रीकृष्णके पास आयीं, तो श्रीकृष्ण बोले आओ आओ! तुम

मेरे वक्षस्थलपर बैठो। लक्ष्मीजी बोलीं—नहीं बाबा, यहाँ मैं तुम्हारे वक्षस्थलपर नहीं बैठूँगी। यहाँ गोपियोंसे तुम्हारा प्रेम अधिक है।

तब रहोगी कहाँ?

मुझे चरणोंमें रहने दो।

बोले नहीं-नहीं! बहुत-बहुत भक्त आते हैं लक्ष्मीजी! चरणोंमें प्रणाम करते हैं। भीड़-भाड़ बनी रहती है। सिरपर तुलसी हर समय चढ़ती रहती है। वहाँ तुमको संतोष नहीं होगा। बोली—मैं रहूँगी भीड़में; सबके साथ रह लूँगी—पर रहूँगी चरणोंमें।

तबसे लक्ष्मीजी भगवान्‌के पदमें निवास करती हैं। जहाँ भगवान्‌के चरण पड़ते हैं, वहाँ लक्ष्मी पहलेसे ही आकर अपना हृदय बिछा देती है। जो अकेले लक्ष्मीको चाहता है, वह रावण हो जाता है और जो भगवान्‌को चाहता है, उसके घरमें लक्ष्मी छिप जाती हैं।

अब प्रश्न यह हुआ—कि श्रीकृष्णके पाद-पद्मकी आराधना पद्मा क्यों करती हैं? क्योंकि वे तो लक्ष्मी हैं, उनमें ऐश्वर्य है, ज्ञान है, आनन्द है। वे बड़ी प्रभावशालिनी हैं। सम्पूर्ण विश्वका परित्याग करके उन्होंने कृष्णका वरण किया है। तो **परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा**। हमारे मित्र शराबी होते और हम कपटी होते, तो लक्ष्मी हमारे मित्रके चरणोंकी आराधना कैसे करतीं? भ्रमरके इस प्रश्नके सामने किशोरीजी एक क्षणके लिए मानो अवाक् पड़ गयी कि ठीक है लक्ष्मीजी तो श्रीकृष्णके चरणोंमें रहती हैं। इतना सौन्दर्य, इतनी कोमलता भगवान्‌के चरणोंके सिवाय और कहीं नहीं है। फिर बोली—कि हाँ भ्रमरजी' आगयी बात समझमें। आप हमको भुलवा नहीं सकते। बात यह है कि **ह्यपिबत हृतचेता उत्तमश्लोक-जल्पैः**। लक्ष्मीजी चक्करमें आगयीं, क्योंकि वह दिलका तो कपटी है, लेकिन मीठबोला बहुत है। उत्तम श्लोकके जल्पको उसने जो प्यारी-प्यारी मीठी-मीठी बतियाँ हाँकी होंगी, उनको सुनकर लक्ष्मीजी का चित्त उनके बसमें नहीं रहा होगा अथवा जो दूसरे उत्तम श्लोक लोग हैं—जैसे नारदादि, जो बड़े यशस्वी हैं, विश्वसनीय हैं—उन्होंने लक्ष्मीजीके सामने श्रीकृष्णके यशका वर्णन किया होगा। श्लोक माने यश। पहले खास लोग किसीकी प्रशंसा करनेके लिए श्लोक बोला करते थे। तो भ्रमर बोला—प्रियाजी! आपको यह कैसे मालूम? बोलीं—अरे! मालूम क्या! हमसे मीठी-मीठी बातें नहीं कीं क्यों? अरे! तुमसे क्या मीठी बात की है? कि **अस्य मान्य चकोरस्य चन्द्रलेखां विना गतिः**।

कृष्ण कहते थे—प्रियाजी! जैसे चकोर चाँदनीके बिना नहीं रह सकता, वैसे ही मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकता। राधारानी! चाहे तुम मुझसे कठोरताका बर्ताव करो और चाहे कोमलताका बर्ताव करो, मेरे प्राण तो तुम्हीं हो! ऐसी ही मीठी-मीठी बातें उन्होंने लक्ष्मीसे की होंगी। बस, इन्हीं बातोंमें लक्ष्मी फँस गयी होंगी और उधर नारद भी आते होंगे। वे कनभरिया हैं, लोगोंका कान भरते रहते हैं। वीणा बजाते हैं बहुत बढ़िया, नाम लेते हैं भगवान्‌का, और ऐसी-ऐसी तारीफ लोगोंके कानमें भरदें—कि जिसके कानमें मन्त्र फूँक दें, वह कृष्णका भक्त बन जाये! इन्हीं उत्तम श्लोक भागवत भक्तोंने लक्ष्मीको फँसाया होगा! वह बेचारी आखिर तो जड़की बेटी है न! लक्ष्मीके बापका नाम आप जानते हो न! समुद्र है—जो जड़ है। ये देवता लोग जानबूझकर जड़की पुत्रियोंसे विवाह करते हैं। ब्रह्माजीने कमलकी पुत्रीसे विवाह किया और विष्णु भगवान्‌ने समुद्रकी बेटीसे किया। ये जड़-पुत्रियाँ सीधी-सादी होती हैं और बहकावे में आजाती हैं।

गोपी कहती हैं, कि हमको देखो! हम तो किसी जड़की बेटी नहीं हैं; समुद्रकी, पहाड़की, कमलकी बेटी नहीं हैं। यह किसकी बेटी हैं? ये तो वृषभानुनन्दिनी हैं। वृष माने धर्म और भानु माने सूर्य। धर्मानुष्ठानमें जो सूर्यके सदृश है, उसका नाम है वृषभानु। शुद्ध बुद्धि, शुद्धान्तःकरण जो है, उसकी पुत्री आराधनात्मिका—ये राधारानी हैं। वह लक्ष्मी बावली है, क्योंकि वह उसके दलाल महात्मा लोग, मीठी-मीठी बातें करनेवाले गण लोगोंके बहकावेमें आकर फँस गयी। इसलिए चरणोंकी सेवा करने लगीं। लेकिन भ्रमर! तुम हमें कहीं वैसा ही न समझ लेना।

यहाँ देखो! एक बात ध्यानमें आनी ही चाहिए। क्या? कि यह बात होश-हवासमें रहनेवाला कोई ज्ञानी पुरुष नहीं बोल रहा है और न ऐसा कोई सेवक या चाटुकार बोल रहा है, जो अपने स्वामीको बापजी, बापजी करनेका अभ्यासी हो। यह बातचीत तो एक परम प्रेयसी अपने परम प्रेयाससे कर रही है। सचमुच इस तरहसे ईश्वरको बोलनेका अधिकार बिना प्रेमके नहीं आता है और प्रेम भी ऐसा-वैसा नहीं, दिव्य प्रेम—वह प्रेम जो स्वयं आत्माका स्वरूप है। जैसा कि कल सुनाया था, प्रेममें जब महाभाव दशा की उत्पत्ति होती है और उस महाभाव दशामें भी दिव्योन्माद होता है—तब इस तरहके विरहकी स्फूर्ति होती है। ऐसा वर्णन मिलता है कि **कैतवरहितं प्रेम न भवति मानुषे लोके**—इस मनुष्यलोकमें निष्कपट प्रेम नहीं होता। कपट क्या है प्रेममें? कपट है। काम ही कपट है, अपनी कामना अपने

भोगकी जो वासना है, वह कपट है। जैसे किसी देवताको चार फूल चढ़ाना कपट नहीं है, बल्कि यह तो धर्म-सार है, लेकिन जब चार फूल चढ़ाकर बदलेमें चार हजार रुपये देवतासे चाहते हैं, तो चार फूल चढ़ानेमें कपट हो जाता है। चार पैसेके फूलमें वे चार हजार देवें, उनको हिसाब-किताब करना न आवे, यह कपट हो गया।

जबतक चित्तमें भोगकी वासना रहती है, तबतक शुद्ध प्रेमका उदय नहीं होता है और शुद्ध प्रेमका उदय होगा, तो विरह नहीं होता। यदि विरह भी हो जाये, तो फिर अलग-अलग जीवन नहीं रहता। उच्च कोटिके प्रेममें यह बात सुनिश्चित है। ऐसा समझो कि शुद्ध प्रेम और काममें बहुत फर्क है। शुद्ध प्रेममें अपने प्रियतमको सुख पहुँचानेकी लालसा होती है। प्रेमी लोग अपनेको कष्ट दे करके भी प्रियतमको सुख पहुँचाते हैं, यहाँतक कि अपनेको करोड़ों दुःख मिलें, किन्तु अपने प्रियतमको उसका करोड़वाँ हिस्सा भी सुख मिले तो अपने प्रियतमके जरासे सुखके लिए भी अपनेको बड़े-से-बड़े कष्टमें डाल लेते हैं। इतना ही नहीं, उच्चकोटिके प्रेममें अपने प्रियतमको सुख पहुँचाते समय भी मनमें यह शंका बनी रहती है कि हमारे इस सुख पहुँचानेमें कहीं उनको दुःख न पहुँच जाये—

यत्ते सुजात चरणाम्बुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।

वेणुगीतके प्रसंगमें गोपियाँ कहती हैं—कि हमारा वक्षःस्थल कर्कश है और तुम्हारे चरणारविन्द कोमल हैं। हम जानती हैं कि हमारे वक्षःस्थलपर तुम्हारे चरणारविन्द रखे जायँ तो तुम्हें सुख मिलेगा। लेकिन हमें यह डर लगा रहता है कि इसमें भी तुम्हें दुःख न पहुँच जाये। उच्चकोटिके प्रेममें अपने प्रियतमके सम्बन्धमें इतनी सावधानी रहती है। यहाँ जो प्रसंग चल रहा है और जिसमें गोपी अपने प्रियतमपर दोषारोपण कर रही है, वह दिव्योन्मादकी दशा है। यह गोपीके अतिशय प्रेमका परिचायक है, उसका सूत्र है। देखो, भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होवे, तो कैसा? हमारा सम्बन्ध भगवान्‌के साथ बढ़ते-बढ़ते इतनी घनिष्ठताको प्राप्त हो जायँ, कि ईश्वर और जीवका भेद ही मिट जावे। ये बड़े हैं, हम छोटे हैं, ये ईश्वर हैं, हम जीव हैं—ऐसा भेद न होकर ऐसा साधारणीकरण, ऐसा समत्व इस प्रेमसे एक अज्ञात चेतनामें उत्पन्न हो जावे, कि गोपीके दिव्योन्मादकी दशा प्राप्त हो जाय। गोपी व्याकुल हो-होकर उन्हींकी चर्चा कर रही है। उद्धवजी इसको सुन रहे हैं और सोच रहे हैं कि मैं इनको कौन-सा वेदान्त समझाऊँ? कैसे इनकी व्याकुलता दूर करूँ? ❋

चौंतीसवाँ प्रवचन

प्रसंग चल रहा था कि हे मधुप! हे कितवबन्धु! अर्थात् हे जीव! कर्म-जन्य जो मधु है संसारमें सुख-दुःख है—उसका तुम पान कर रहे हो, भोग रहे हो। कर्म-फलके भोगमें तुम संलग्न हो। और कैसे हो? कि कितव बन्धु हो। तुम्हारे जो भाई-बन्धु हैं, वे सब-के-सब कपटी हैं। कोई तुमसे सच्चा प्रेम नहीं करता संसारमें, ऐसे ही इसमें फँसे हुए हो। तब आपकी क्या राय है? साक्षात् राधारानी आह्लादिनी इस ब्रह्म विद्याका उपदेश कर रही हैं—**सपत्न्याः अविद्याः अङ्घ्रिं मा स्पृश**—यह जो हमारी सौत अविद्या है, उसके चरणोंके नीचे मत दबो, उसके पाँव मत छूओ। **कुच-विलुलित-माला-कुङ्कुमश्मश्रुभिः** जिसमें वक्षस्थल है, जिसमें माला है, जिसमें कुंकुम-चन्दन आदि हैं, जिसमें दाढ़ी-मूँछ है—ऐसे शरीरसे उपलक्षित होकर तुम इस अविद्याके पाँवके नीचे कुचले जा रहे हो, **मा स्पृश**—मत छूओ। यह ठीक रास्ता नहीं है। तुम मधुप नहीं हो—**मधुपति हो-मधुपति भगवान्। तन्मानिनीनां नः प्रसादं वहतु भवान्**—तुम्हारे मधुपतित्वको, ईश्वरत्वको, तत्पदार्थाभिन्नत्वको प्रमाणित करनेवाली हम जो श्रुतियाँ हैं—ब्रह्मविद्या और ब्रह्मविद्याकी संगिनी, शमदमादिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ—उनके प्रसादका प्रसाद वहन करो। तुम स्वयं सत् तत्त्व हो, आनन्द मात्र हो। यह जो तुम्हारा स्वरूप है—यह केवल विडम्बना है। अपने सत् तत्त्वका संदेश, उसीकी प्रेरणा लेकर तुम इस रूपमें आये हो। अपने असली स्वरूपका स्मरण करो। यह इसलिए याद दिलाया, कि अगले श्लोककी संगति इसमें जुड़े—

सकृदधर - सुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोक - जल्पैः॥

१०.४७.१३

अधर माने जीव। यह उत्तरका विरोधी शब्द है; उत्तर माने ऊपर और अधर माने नीचे। होंठ ऊपर है और अधर नीचे है। अधरमें लटक रहा है—माने नीचे गिर रहा है। गोपियाँ कह रही हैं—कि तमिस्राका, अविद्याका चरण चूमनेके कारण तुम अधर हो गये हो, नीचे गिर गये हो। इसलिए जीव! अब तुम अपनी नीचताका परित्याग करो। अच्छा देवी, हम नीचताका परित्याग तो करें, किन्तु हम किसी नाम-रूपमें ईश्वरको ढूँढ़े, तो क्या वह नहीं मिलेगा? बोलीं—यह बात सच्ची है, कि संसारमें जो कुछ दीख रहा है, सत्ताकी स्फूर्ति हो रही है—वह भी परमेश्वरके द्वारा ही प्राप्त हुई है। परन्तु ईश्वर बारम्बार सत्ता-स्फूर्ति नहीं देता है। **सकृदधर सुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा**—एक बार उसने संकल्प किया कि सृष्टि बन जाये और अपनी सत् सुधासे, चित् सुधासे, आनन्द सुधासे विश्वको उज्जीवित कर दिया, उसको सत्ता स्फूर्ति दे दी। उसी सत्ता-स्फूर्तिके चक्करमें तुम पड़ गये, क्योंकि वह मोहिनी है। वह तो स्वयं सुधा-सागर है। उसने एक बार सुधाका एक बिन्दु फेंक दिया और संसारमें उसको अपने संकल्पसे पिलाया, फिर पाययित्वामेंसे आ निकला, फिर सुमनसमें-से सु अलग, और म अलग कर दिया। संबोधन बना—**हे असुम अस्मि इन्द्रियैः मा प्रमा यस्य तत् संबुधौ**। हे असुम! अब तुम देह बन गये, इन्द्रिय-ग्राह्य बन गये। इन्द्रियोंके द्वारा तुम्हारी प्रमा होने लगी अथवा **अस्मिः इन्द्रियैः उपलक्षिता मा प्रमा यस्य**—इन्द्रियोंसे उपलक्षित देहके द्वारा तुम्हारी प्रमा होने लगी, तुम देह-मात्र रह गये। तो हे असुम! हे इन्द्रियोंमें फँसे हुए जीव! उसने तो तुमको मोहिनी पिलाकर इस सृष्टिका तत्काल परित्याग कर दिया—**स त्वां मोहिनीं पाययित्वा सद्यस्तत्यजे**। अब इस संसारमें तुम उसको ढूँढ़ोगे। यदि तुम स्त्री, पुत्र, धन आदिमें दिखनेवाली मोहिनीमें उसको ढूँढ़ोगे, तो फँस जाओगे। क्यों? कि यह माया मोहिनी है।

बोले—लेकिन तुम भी तो नामरूपमें ही हो न? नहीं, 'सुमनस' में 'असुम' निकलनेपर जो 'न' बचा था—उसको ले आओ और देखो—**अस्मात् तु न त्यजेत्**—उसने उस नाम रूपात्मक प्रपंचका तो परित्याग कर दिया, परन्तु हम तो उसको प्रमाणित करनेवाली श्रुतियाँ हैं—उसकी प्रेमिका हैं, प्रेयसी हैं, उसको मिलानेवाली हैं—इसलिए हमको उसने नहीं छोड़ा।

अच्छा बताओ—ईश्वर कैसा है? बोले—**भवादृक्**—माने जैसे आप हो—**यथा भवान्**। जैसे आप हो, वैसे ही ईश्वर है।

अच्छा! तुमने यह कहा—कि उसने एक बार अपनी सुधाका संचार करके

प्रपंचको छोड़ दिया। परन्तु हम तो सुनते हैं कि लक्ष्मी, गौरी, सीता, राधा आदिके रूपमें माया उसके चरणोंकी सेवा करती रहती है—**परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा?** तो वह माया, पद्मा, लक्ष्मी आदिके आकारमें परिणत होकर उसके पादपद्मकी सेवा कैसे करती है?

—बोले, माना कि माया इन रूपोंमें उसकी सेवा करती है, लेकिन यह मत समझो—कि वह उसमें फँसा हुआ है। वह तो उदासीन है। किसीके प्रति आसक्त होकर उसमें फँस जाना एक बात है और स्वयं उदासीन रहकर सेवा करनेवाली मायाकी रचना करना दूसरी बात है।

—तब उदासीनकी सेवा क्यों करती हो?

—कि **ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः**—जो भगवान्‌के भक्त हैं अथवा भगवत्-सम्बन्धी जो जल्प हैं—उनके बड़े मीठे-मीठे नाम हैं; उनके रूप हैं, उनकी लीला है। जल्प है—माने अध्यारोपित निरूपण है। जल्पना कल्पना है। उत्तमश्लोक महापुरुषोंने जो अध्यारोप करके, उनमें सगुण गीत-परम्पराकी जो स्थापना की है—उसका श्रवणकर लक्ष्मीजी हृतचेता हो गयी हैं। श्रीकृष्ण-सम्बन्धी गुणानुवाद सुन-सुनकर, उनकी मीठी-मीठी बातें सुनकर, उनके सम्बन्धमें नारदादि वचन सुन-सुन करके जैसे हम हृतचेता हो गयी हैं, वैसे ही चतुर-शिरोमणि लक्ष्मीका ज्ञान भी जाता रहा। महात्मा लोगोंने उनके सगुण स्वरूपका ऐसा वर्णन किया—कि उनके निर्गुण होनेपर भी लक्ष्मी उनकी सेवामें संलग्न हो गयीं। परन्तु वे लक्ष्मीसे कोई सम्बन्ध रखते हैं, कि उसमें आसक्त हैं—ऐसी बात नहीं है। वे तो सर्वथा निर्गुण, निराकार, निर्विकार ही हैं। हम तो उनके स्वरूपको लखाती-मात्र हैं। वे प्रपंचका सर्जन करके भी, कर्म करके, सृष्टि करके भी इससे अलग रहते हैं; इसमें फँसे हुए नहीं हैं।

अब शुरू-शुरूमें यह बात सुनाकर जो दूसरी बात है—वह सुनाते हैं; क्योंकि **मधुरेण समापयेत्**—आखिरी बात मीठी होनी चाहिए।

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।

भगवान्‌का मोहिनी अवतार अमृत पिलानेके लिए हुआ है। उसने देवताओंको अमृत पिलाया और दैत्योंकी जल्पना की। तो जिस प्रकार मोहनकी मोहिनी देवताओंको अमृत पिलाते समय दन्तात्मक थी, उसी प्रकार हमारे जिस श्यामसुन्दरका सन्देश लेकर तुम आये हो—उसकी मोहिनी भी दन्तनात्मक ही है।

कैसे दन्तनात्मक है? कि सकृद्—एक बार ही पी। बहुत प्रेम होनेसे बहुत बार पीनेपर भी एक बार बोलते हैं। हमारे गाँवमें बोलते हैं—'गुनाह बेलज्जत'-अपराध तो किया, लेकिन कुछ मजा नहीं आया। उन्होंने एक बार अपनी अधर-सुधा तो पिला दी; हमारा मुँह जूठा हो गया, हम जातिसे भ्रष्ट हो गयीं, हमारा धर्म बिगड़ गया, हमारा लोक-सुख गया, परलोक गया! और पीनेको कितनी बार मिली है? केवल एक बार! हमको तो हर तरहसे भ्रष्ट कर दिया!

—लेकिन यही क्या कम है? एक बार भी कोई किसीको पानी पिला दे, तो वह जन्म भरके लिए उसका उपकार मानता है, उसके प्रति कृतज्ञ हो जाता है। और तुमको तो श्यामसुन्दरने पानी नहीं—सुधा पिलायी और तुम्हारे मनमें उसके प्रति कृतज्ञताका कोई भाव नहीं है! कैसी हो तुम लोग, गाँवकी गँवार!

—बोलीं—कि यदि बारम्बार पिलाता, तब तो उसका अभ्यास हो जाता! उसने तो एक बार पिलाकर आसक्ति उत्पन्न कर दी है, लोभका संचार कर दिया। और हम उसके मोहके फंदेमें फँस करके दिन-रातमें कितनी बार मूर्च्छित होती हैं! कितनी बार मरती हैं! कितनी बार गिरती हैं! भ्रमर!

सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्।

जैसे तुम पुष्पका परित्याग करते हो, वैसे कृष्णने हमारा परित्याग किया। यहाँ 'सुमनस' शब्दपर ध्यान दो; इसमें तीन बाते हैं—एक तो जिसका मन बहुत सुन्दर हो—उसे सुमन बोलते हैं। दूसरे देवताको बोलते हैं सुमनस। और तीसरे फूलको सुमनस बोलते हैं; मालतीको सुमना बोलते हैं। भ्रमर तो पुष्पके रसको पी जाता है और यह पिलाकर गया; बड़ा भारी फर्क हो गया। किसीको कर्जदार करके छोड़ जाना उचित नहीं है। यहाँ देखो, व्यंग्य कहाँ पहुँच गया। गोपी कहती है कि उसने केवल पिलाया-पिलाया, जब कि उसे पीकर जाना चाहिए न! पाययत्वा! बोले—गोपियो, तुमने उसको पकड़ क्यों नहीं लिया? बोलीं—सद्यस्तत्यजे—उसको जानेकी इतनी जल्दी थी—कि पकड़नेका मौका ही नहीं मिला। वह भाग गया यहाँसे। हम लोगोंका विचार तो ऐसा ही था—कि उसने एक पिलाया, तो हम उसको दस बार पिलायेंगे। लेकिन हमें वह तत्काल छोड़ गया!

अब 'सुमनस'के अर्थपर ध्यान दें। मोहिनीने जो अमृत पिलाकर देवताओंका परित्याग किया—उस पक्षमें सुमनसका अर्थ देवता है। भ्रमर-पक्षमें सुमनसका अर्थ फूल है—विशेष करके मालती पुष्प है और कृष्ण-पक्षमें सुमनस

माने भोली-भोली, सुन्दर मन वाली गोपियाँ हैं; अर्थात् मालतीको छोड़कर भ्रमरने अनुचित किया, देवताओंको छोड़ करके मोहिनीने अनुचित किया और हमको छोड़करके कृष्णने अनुचित किया। तो 'मोहिनी' और 'भवादृक्' शब्दोंके प्रयोगसे 'सुमनस'के तीन अर्थ हो गये—पुष्प, देवता और सुन्दर मन।

बोले—गोपियो! तुमको तो बस, गाली देना आता है। गाँवकी गँवार जो ठहरी! कृष्णकी विशेषता मालूम नहीं पड़ती। हमारा जो मित्र है न—श्रीकृष्ण—उसमें कितने सद्गुण हैं! स्वयं लक्ष्मी उसके चरणोंकी सेवा करती है; ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र आदिने बरसों पर्यन्त तपस्या की कि लक्ष्मीजी एकबार अपने नेत्रके कटाक्षसे हमारी ओर देखें और वही लक्ष्मी अपने निवास-स्थान कमल वनका परित्याग करके प्रेमसे चूर होकरके, अनुरागसे भरकरके, परिपूर्ण रूपसे उनके चरण-कमलोंके तलवे नहीं—उनमें जो धूल लगी है—भगवान्के चरणारविन्दमें जो मैल लगी है—उसको अपनी जीभसे चाटती हैं। ऐसे हैं श्रीकृष्ण! **श्रीर्यत्पदाम्बुज रजश्चकमे**—लक्ष्मीजीने भगवान्का वक्षस्थल छोड़ दिया, एकान्त छोड़ दिया और सौतको भी साथ ले लिया, पर चाहती क्या है? कि पाद-रज। ऐसे श्रीकृष्णके बारेमें तुम गाँवकी ग्वालिनें गालीमें बात करती हो? तुम्हारी बात सुनने लायक नहीं है।

अरे ओ भ्रमर! उसके सामने जाकर उनकी तारीफ करना—जो उनके बारेमें न जानते हों। अज्ञानी लोग जल्दी श्रद्धालु हो जाते हैं। हम तो श्रीकृष्णकी रग-रगसे परिचित हैं! वह कितना छलिया है! कितना कपटी है।

बोले—तब लक्ष्मी वाली बातका जवाब दो। उसके प्रति लक्ष्मीका अनुराग क्यों हैं?

जवाब सीधा है—**उत्तमश्लोक-जल्पैः**—वह बात बनानेमें तो निपुण है! फुसला लिया है लक्ष्मी को!

देखो, ऐसा वर्णन आता है, कि स्वयं जगदम्बा जगज्जननी भगवती जब श्रीकृष्णका दर्शन करने आती हैं कभी, तो पहले परिक्रमा करती हैं। कृष्णको देखकर थर-थर कौन काँप रहा है? कि शंकरजी! यह वाणी किसकी लड़खड़ा रही है? यह वेदोंका अशुद्ध उच्चारण कौन कर रहा है? ये ब्रह्माजी हैं, जिनकी वाणी कृष्णके ऐश्वर्यके सामने लड़खड़ा गयी है। तो ऐसे ऐश्वर्यशाली कृष्णके सम्बन्धमें गोपियोंका इस तरहकी बात बोलना—यह कितने उच्चकोटिके प्रेममें सम्भव है—जरा कल्पना करो। कौन ऐसा प्रेमी है, जो श्रीकृष्णके लिए ऐसा बोल

सकता है! यहाँ तो वे कहती हैं—कि बस-बस! उसकी चर्चा न करो। दूसरी कोई चर्चा करो। गोपियाँ आपसमें बोलती हैं—यदि हम लोगोंके बिना उसका समय बीत जाता है, तो हम भी उसके बिना अपना समय बिता लेंगी। उसकी चर्चा तो तुम छोड़ दो, क्योंकि उसकी चर्चा हमें पीड़ा पहुँचाती है।

यह प्रेमका एक स्वरूप बतलाया। प्रेमकी एक विलक्षण प्रक्रिया है यह। क्या? कि तारीफ सुनकर तकलीफ होती है। अपने प्यारेकी तारीफसे कष्ट होता है। आँखोंसे उसका रूप देखा, अपनी त्वचासे उसका स्पर्श किया, अपनी जिह्वासे उसका रस-पान किया, अपने वक्षस्थलसे वह लगा, अपने कानसे उसकी मीठी-मीठी बातें सुनीं; उसके बारेमें आज दूसरेसे तारीफ सुननी पड़ रही है! वे हमसे दूर और हम उनसे दूर—यह कितनी पीड़ाकी, कितने दुःखकी बात है! अच्छा भाई! ये बहुत अच्छे हैं—तो अच्छे रहें, अपने घरके रहें! वे नीके रहें, उन्हींके रहें!

निन्दा प्रमदं प्रयच्छति परिहासप्रियं विभ्रति—कभी-कभी निन्दा सुनकर भी आनन्द आता है। कैसे? कि वह निन्दा भी हँसीका कारण बन जाती है। गोपियाँ कहती हैं—यहाँ क्या गा रहा है उनके बारेमें? हम तो उनके इतने अन्तरंगमें घुस चुके हैं, उनके दिलकी इतनी बातें जान चुकी हैं, उनके बारेमें हमारी जानकारी इतनी गहरी है—कि यह बावरा भँवरा क्या जाने? यह आया है हमको समझाने! हमने जिसके साथ एकान्त विहार किया, उसके बारेमें हमको बतानेके लिए यह भँवरा हमारे पास आया है! देखो, प्रेम वह है—जो दोष सुनकर घटता नहीं और गुण सुनकर बढ़ता नहीं। प्रेममें दोष और गुणकी उपाधि नहीं है, क्योंकि प्रेम स्वारसिक है। यह भीतरसे निकलता है, बाहरके गुण-दोषमें-से भीतर घुसता नहीं है। प्रेमकी प्रक्रिया बड़ी विलक्षण है—

किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूनामधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम्।
विजय सखसखीनां गीयतां तत्प्रसंगः क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः॥

१०.४७.१४

तो गोपीने डाँटा—अरे ओ षडङ्घ्रे! अङ्घ्रि माने पाँव, अरे ओ छह पाँववाले! भाव यह है कि जिसके चार पाँव होते हैं, उसको चतुष्पाद—पशु—बोलते हैं। फिर जिसके छह पाँव हुए, वह तो डेवढ़ा पशु हो गया! वह तो बैल, ऊँट, गधा, सबसे डेवढ़ा आगे हो गया! तो तुम षट्पद हो, यहाँ क्यों गुनगुनाते हो? यहाँ क्यों गुणगान करते हो? भागो यहाँसे जल्दी। अपने मुँहसे एक शब्द भी नहीं निकालना यहाँ!

अब गोपियोंके डाँटनेका ढंग देखो—**किम् गायसि?** क्यों गाता है? अच्छा, गानेका तुम्हारा स्वभाव है, गाते हो—तो गाओ; पर हम चाहती हैं कि कृष्णकी याद न आवे। निकल जाय हमारे मनसे कृष्ण, तनमें-से कृष्ण, वचनमें-से कृष्ण! और तू भँवरा! उसकी ओरसे गा-गाकरके उसकी याद दिलाता है—जिसको मैंने निकाल दिया!

भ्रमर बोला—मैं जान-बूझकर आपको दुःख पहुँचाने नहीं आया हूँ। चाँदनीमें उड़ता हुआ यों ही आगया हूँ। गाना मेरा स्वभाव है, इसलिए गा रहा हूँ।

बोलीं—**बहु किम् गायसि?** तेरा स्वभाव है गाना और यहाँ आगया, उड़ते हुए, तो बहु किम्? बारम्बार क्यों गाता है? 'इह' माने—यहाँ गाना गलत है। तुम नासमझ, तुम्हारा उस्ताद भी नासमझ—जिसने तुमको सिखा-पढ़ाकर यहाँ भेजा है। **तत्रापि यदूनामधिपतिं गायति**—यह गानेकी क्रिया गलत है, गानेका स्थान गलत है और गानेकी मात्रा गलत है। और इसमें जो गानेका विषय है—यदूनामधिपति—वह भी गलत है। अरे बाबा! यहाँ यदुपतिका क्या काम है? यदुनाथ नाम हमको प्यारा नहीं है। वह तो गोपी-रमण हैं, राधा-रमण हैं, ब्रजेन्द्र-नन्दन हैं। तुम यदुपतिका गान क्यों करते हो? हमको यदुवंशियोंके राजा—महाराजाओंसे कोई काम नहीं है। असलमें हम गाना सुननेकी भी अधिकारिणी नहीं हैं। तो भाई! तुम्हारे मनमें यदि यह लालसा है—कि गाना सुनानेवालेको कुछ इनाम मिलता है—तो हम तुम्हें इनाम-इकराम देने, पुरस्कार देनेकी स्थितिमें नहीं हैं—

पति सुतान्वय भ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्यतेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि॥

हम पति छोड़कर आयी हैं, पुत्र छोड़कर आयी हैं। हमने घर-द्वार सब कुछ छोड़ दिया है—

यत्पत्यपत्य सुहृदामनुवृत्तिरङ्गस्त्रीणां स्वधर्म।

शुकदेवजीने दुहाई दी—कि गोपियोंके मनमें कोई काम नहीं है। वे यह नहीं मानतीं कि वे गृहस्थ हैं। इसीलिए वे कहती हैं—हे भ्रमर! यदि तुम यदुपतिका गान करोगे, यश सुनाओगे—तो कोई गृहस्थ हो, धनी सेठ हो, राजा-रईस हो, तो वह गानेवालेको पुरस्कार दे। हम तो तुमको कोई पुरस्कार भी नहीं दे सकतीं। हम तो **अगृहाणां**—रास्तेमें बैठी हैं। हमें तो न श्यामसुन्दर मिला और न घर मिला। न हम इधरकी रहीं, न उधरकी रहीं।

अच्छा भाई! तुम हमको इनाम मत देना। हम तुमको जो मधुर गान सुना रहे

हैं न, इसका तो आनन्द लो। तुम्हारे प्राण-प्यारे श्यामसुन्दरके सम्बन्धमें हम तुमको नई-नई खबर सुना रहे हैं, वह तो सुनो।

बोलीं—चुप रहो। अरे, यह तो वही पुराना राग है! तुम वर्णन करोगे—तो क्या करोगे? कि ऐसी चितवन है, ऐसी मुस्कान है; ऐसे बाल हैं, ऐसे कपोल हैं और ऐसे अधर हैं। नारायण कहो! हमारे लिए यह कोई नई चीज है? वह सब तो हम लोगोंने देख लिया है, अनुभव कर लिया है। वही पुरानी घिसी-पिटी बातें हैं, जो तुम हमें सुनाते हो। हटो यहाँसे।

अच्छा देवीजी! गाना हमारा स्वभाव है। तो गाँवें कहाँ? तो बोलीं—

विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसंगः।
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः॥

देखो! प्रेमियोंकी एक भाषा होती है, उसमें प्रत्येक 'न'का अर्थ 'हाँ' होता है। इसको काव्यमें अत्यन्त परिष्कृत वाच्य-ध्वनि बोलते हैं। 'राधा सुधानिधि' में आया है—कि वह दिन कब आवेगा, जब राधा-माधव कुञ्जमें विहार करते होंगे और हम कुञ्जके बाहर कान लगाकर सुनते होंगे, कि दोनों आपसमें क्या बात कर रहे हैं। जब श्रीराधा रानीके मुखसे 'नहीं' 'नहीं' निकलेगा, तो वह हम कान लगाकर सुनेंगे।

देखो, चित्तवृत्ति कहाँ पहुँच गयी! उस नहीं-नहींका अर्थ क्या है? उसका अर्थ है—हाँ, हाँ। नेति-नेति, ओम्-ओम् महाकाव्य हैं। ये दोनों वाक्य चलते हैं प्रेममें। ओम् स्वीकृति-सूचक है, हाँ-हाँके अर्थमें आता है और नेति-नेति नहीं के अर्थमें। यह जो कहते हैं न—किम् गायति—क्यों गाता है? तो इसका अर्थ होगा—गाता रह। और तत्र किम् गायसि—वहाँ क्यों गाता है? इसका अर्थ होगा कि वहीं गा। और बहुत क्यों गाता है? माने बहुत गा। यदूनामधिपति किम् गायसि—माने यदुओंके अधिपतिका ही गान कर। क्यों? कि वहाँ वे कैसे रहते हैं, इसका भी पता चल जाय। 'अगृहाणामग्रतो'का अर्थ है—अब हमें घरका कोई काम नहीं है। यह नहीं—कि हमें घरमें कोई रोटी बनानी है या बच्चे सँभालने हैं। हम तो केवल कृष्णके लिए हैं। 'नः पुराणम्'का अर्थ है—पुराण तो सारे बारम्बार श्रवण करने योग्य हैं। इसलिए बार-बार गाओ। तो 'किम्'की जो वाच्यध्वनि है, वह अत्यन्त सुरक्षित है। प्रीतिमें भीतर कुछ होता है और बाहर कुछ बोलते हैं। यह प्रीति अटपटी चालसे चलती है।

देखो, अगर राधा-कृष्णका प्रेम न होता और ग्रन्थोंमें उसका वर्णन न होता,

तो शुद्ध प्रेमका क्या स्वरूप होता है—इसको संसारमें कोई जान नहीं सकता; उसकी रूप-रेखाका आकलन ही किसीके चित्तमें न होता। प्रेमकी शिक्षा स्कूल, कालेज या पाठशालामें नहीं दी जाती।

विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः—विजय है सखा जिसका—उसको बोलते हैं विजयसखा। श्रीकृष्णका सखा कौन है? बोले—विजय है। माने वे जिस काममें हाथ डालते हैं, उसीमें उनकी विजय होती है। उन्होंने जिस प्रकार पूतनापर विजय प्राप्त करली—संसारमें वैसा उदाहरण दूसरा कोई है नहीं। अविद्या पूतना कंसकी धर्म-भगिनी और कंससे भी ज्यादा जबरदस्त। उसपर विजय प्राप्त की कृष्णने—होंठसे। शकटासुरपर विजय प्राप्त की पाँवसे और तृणावर्तका गला घोंट दिया केवल हाथोंसे। अरे, बतलाओ तो! इस बाँसुरीवालेके पास शस्त्र कहाँ है? धनुष है, कि बाण है, कि गदा है, कि त्रिशूल है? है कुछ? बाँसुरीवाला है न! दुश्मनके सिरपर चढ़कर और बाँसुरी बजाकर नाचता है। है कोई सृष्टिमें ऐसा उदाहरण? बताओ तो, है कोई ऐसा—जो सहस्र फणवाले कालिय नागपर सवार हो और उसके फण उठते हैं, गिरते हैं और वह उसके ऊपर ता-ता थेई-थेई नाच करके बाँसुरी बजा रहा है! अगर विजय-सखा न होता, तो होंठसे पूतना मरती? तो पाँवसे शकटासुरका उद्धार होता? तो हाथसे तृणावर्तका गला घोंटता?

यह विजयसखा है। विजय श्रीकृष्णका जीवन-संगी है, अर्थात् जहाँ-जहाँ श्रीकृष्ण हैं—वहाँ-वहाँ विजय है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

गी. १८.७८

इसीसे अर्जुनका नाम भी विजय है। शास्त्रमें अर्जुनके जो दस नाम हैं, उसमें एक नाम 'विजय' है।

तो बोले—अभी तो अर्जुन और कृष्णकी मित्रता प्रकट नहीं हुई है।

तो क्या हुआ? जिस समय गोपियाँ प्रेममें तन्मय होकर बोलती हैं, उस समय विरहरूप जो सूर्य है—वह एक ओर हृदयको ताप देता है, तो दूसरी ओर प्रकाशसे भर देता है। भविष्यमें अर्जुन कृष्णका सखा होगा—यह भी गोपियोंको पता है।

विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसंगःका तात्पर्य यह है कि विजय और

अर्जुनके सखा श्रीकृष्णकी जो सखी हैं—माने जो उनके साथ हैं—उनके बीचमें जाकर, उनके सामने उस प्रसंगका गान करो, हमारे सामने नहीं करो।

क्यों गोपियो, उनके सामने क्यों भेज रही हो?

बोलीं—कि **इष्टः कल्पयन्ती**—वे उनकी इष्ट हैं। आज-कल श्रीकृष्ण किसकी आराधना करते हैं—मालूम है? कृष्णकी इष्ट कौन हैं? देखो, राधारानीको मालूम है कि श्रीकृष्णकी इष्ट देवी मैं हूँ। श्रीकृष्ण असलमें मेरा ही गान करते हैं। अपना जो इष्टत्व है—उसका अध्यारोप मथुराकी स्त्रियोंमें कर रही हैं। अब इष्ट हैं, यह इष्ट ही बनाते फिरते हैं? एक इष्टमें तो उनकी निष्ठा है ही नहीं। है, एक इष्टमें उनकी निष्ठा है। श्रीराधारानी तो आनन्द-रूप हैं न! श्रीकृष्ण चेतन हैं; चेतनका इष्ट कौन होता है? अगर आनन्द होवे और चेतन न होवे—तो कोई आनन्द होगा? चेतनके बिना आनन्द जड़ है और आनन्दके बिना चेतन शून्य है। इसलिए चित् और आनन्दका निरन्तर संग है।

क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः—राधारानी श्रीकृष्णकी इष्ट हैं और उनके वक्षस्थलसे श्रीकृष्णका जो संयोग है, उसीसे उनका सारा रोग, सारी पीड़ा मिटी हुई है। वे सुखी हैं। उनसे जो तुम चाहोगे, वह तुम्हें मिलेगा। इसलिए भ्रमर! तुम हमारे सामने गान मत करो, उनके सामने जाकर गान करो।

गोपियोंके प्रेमकी यह चर्चा क्यों करते हैं? इसलिए करते हैं—कि प्रेमकी चर्चा सुननेसे कानके रास्ते प्रेम हृदयमें प्रवेश करता है। श्रीकृष्णके प्रति सच्चा प्रेम हमारे हृदयमें प्रवेश करे—इसके लिए प्रेमियोंका श्रवण-वर्णन किया जाता है और वह संसारके रागको मिटानेवाला होता है।

❋

पैंतीसवाँ प्रवचन

प्रेममें तन्मय होगा वह मन, जो भ्रमरकी गुंजारमें अपने प्यारेका संदेश प्राप्त करता है और उसको उत्तर देता है। सर्वोत्तम स्थिति है यह प्रेमकी, जिसमें श्रवणकी भी आवश्यकता नहीं रह जाती, संयोगकी भी आवश्यकता नहीं रह जाती। एक तो वह स्थिति है न, कि अपने प्रियतमका वर्णन-श्रवण करो और उसमें तन्मय हो जाओ। तब फिर गानेवालेकी जरूरत है न! किन्तु गोपी तो ऐसी अवस्थाको पहुँची हुई है—कि उसको किसी कथाकी, प्रवचनकी, संकीर्तनकी, श्रवणकी आवश्यकता नहीं है। वह तो अपने आपमें ही तन्मय है। भँवरेको सम्बोधित करके जो बात कही गयी, वह कल आपको बतायी थी—

किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूना-
मधिपति गृहाणामग्रतो नः पुराणम्॥ १४॥

अरे ओ षडङ्घ्रे! छह पाँववाले! दो पाँववाले आदमी भी देखते हैं—कि यहाँ गानेका मौका नहीं है—तो वहाँसे हट जाते हैं। चार पाँववाले छलांग मारकर निकल जाते हैं। और तुम्हारे छह पाँव हैं, दो आँखें हैं और फिर भी तुम हम लोगोंके सामने गान करते हो। भला रोनेवालेके सामने आकर गाना कहाँकी भलमनसाहत है! डाँट दिया **किम् गायसि?** भाग जा यहाँ से। **तत्रापि किं न गायसि?** यहाँ आकर गाता है, मथुरामें जाकर क्यों नहीं गाता? **तत्रापि बहु गायसि**—अरे! थोड़ा बहुत गा लिया, तो गा लिया, पर तुम तो बहुत गाते हो। फिर गाते भी हो—तो गानेका विषय क्या है?

एक तो तुम गानेके अधिकारी नहीं हो, क्योंकि षडङ्घ्रि हो; और दूसरे-गानेका यह स्थान नहीं है; तीसरे-तुम्हारे गानेकी मात्रा भी अधिक है और चौथे—जिसका गुणगान कर रहे हो, वह कौन है? **यदूनामधिपतिं**—यदुपतिका गान कर रहा है। गोपी-रमण, राधारमण, यशोदोत्सङ्ग-लालित नन्दनन्दन, श्यामसुन्दर, मुरली-मनोहर पीताम्बरधारीका गान क्यों नहीं करता? वे यदुवंशके अधिपति हैं—तो हुआ करें! हमारे कौन होते हैं वे? उनकी चर्चा हमारे सामने मत करो। फिर गाते भी किसके सामने हो! कुछ लेना है गानेके बदलेमें? हम तो **अगृहाणां** हैं, हमारा घर-द्वार उनके कारण छूट गया है। हम न घरकी रही हैं, न घाटकी। हमारे सगे-सम्बन्धी छूटे, अगृही हो गयीं, संन्यासिनी हो गयी हैं। अगृहाणाम्का अर्थ है—हम प्रेम-संन्यासिनी हो गयी हैं। कुछ मिलना नहीं है। प्रेमको लोग

मीठा-मीठा तो बहुत सुनते हैं—कि बहुत मधुर है, पर वह बलिदान लिए बिना पूरा नहीं होता। बलिका भी प्रेम तभी पूरा हुआ, जब वामनके सामने उन्होंने अपना सिर रख दिया। बिना त्यागके प्रेम बिलकुल जबानी जमाखर्च होता है। जो सर्वस्व त्यागनेके लिए उत्सुक हैं, वही प्रेमी हैं। गोपीमें कितना बड़ा त्याग है—

स्वजनमार्यपथं च हित्वा।

कई लोग कहते हैं—स्वजनका त्याग किया—प्रेममें वह तो करना ही था। और आर्य-पथका त्याग किया—तो आज तो वह जने-जने करते हैं। उसमें कौन-सी बड़ी बात है। निष्ठा है आर्य-पथमें, तब छोड़ना दूसरी बात है और जिनकी निष्ठा ही नहीं है—उनके छोड़नेकी कोई कीमत ही नहीं है। **दुस्त्यजमार्यपथं**—गोपियोंके लिए आर्यपथ दुस्त्यज है—माने आर्यपथमें उनकी बड़ी भारी निष्ठा है, फिर भी प्रेमके अधीन होकर उन्होंने उसको छोड़ दिया। अब क्या हैं वे? घरकी न घाटकी। कि हम एक मुट्ठी भर चना भी तो तुमको नहीं दे सकतीं। जब तुम गाओगे, तो कुछ-न-कुछ खिलाना-पिलाना भी पड़ेगा। अरे बाबा! गाना ही है—तो अग्रतः क्यों, पृष्ठतः गाओ; पीछे खड़े होकर गाओ, हमारे आगे खड़े होकर क्यों गाते हो? अरे, बार-बार तुम थोड़ी देरके लिए जाते हो और फिर लौट आते हो। यदि तुम्हें यदुवंश-शिरोमणि श्रीकृष्णका गान करना है—तो गा! उनके सामने जाकर गा।

विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसंगः—विजयके जो सखा हैं, विशेष जय जिनको प्राप्त होती है, जो शृंगार रसमें हमेशा ही विजय प्राप्त करते हैं अथवा जो अर्जुनके सखा हैं—उनकी इस समय जो सखी हैं—उनके बीचमें जाकर उनका गान करो। हम तो योंही दुःखी हैं; हमारा जी जलानेके लिए हमारे सामने उनकी चर्चा क्यों करते हो? वहाँ गाओगे—तो जो तुम चाहोगे, सो तुम्हें मिलेगा भी। कैसे?

क्षपित-कुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः—भगवान् श्रीकृष्णके संघर्षणसे उनके वक्षःस्थलकी पीड़ा मिट गयी है। उन्हें अपने प्रियतमका समागम प्राप्त है और वे निरोग हैं, सुखी हैं। इसका अर्थ है—कि हमारे हृदयमें पीड़ा है, हमारे वक्षःस्थलमें बड़ा भारी रोग है। जो बिना उनके आलिंगनके मिटने वाली नहीं है—ऐसी पीड़ा हमारे हृदयमें है। गोपियाँ जब उनके सुखका वर्णन करती हैं, तो अपनी पीड़ाका वर्णन अपने आप ही हो जाता है।

गोपियाँ कहती हैं—हम तो इस समय अपने हृदयकी व्यथासे, पीड़ासे तड़फड़ा रही हैं और उनकी पीड़ा मिटी हुई है; वे खुश हैं। उन्हें प्यारे श्यामसुन्दर

भी चाहते हैं। और हम उनके द्वारा परित्यक्त हैं। इसलिए जाओ, जाओ! उनके सामने गाओ। वही तुम्हें अच्छा खाना-पीना देती हैं। हमारे बीचमें आकर क्यों गाते हो?

सारांश श्लोकका यूँ समझो—गोपियाँ उद्धवसे भी बोलती हैं—**बहु षडङ्घ्रे**। उद्धवजी जो कृष्णकी उतारी हुई माला पहने हुए हैं, उस मालाके चारों ओर भँवरे मँडरा रहे हैं। तुम तो सुगन्धमें मस्त हो रहे हो; तो श्रीकृष्णकी उतारी हुई माला पहनकर **बहु षडङ्घ्रि** हो रहे हो। जब भ्रमरके लिए सम्बोधन है, तो **षडङ्घ्रे** सम्बोधन है और क्रिया-विशेषण है—**बहु किं गायसि** और जब उद्धवका सम्बोधन है, तो **बहु षडङ्घ्रे**—यह पद है—तुम्हारे चारों और भँवरे मँडरा रहे हैं। तुम्हारे शरीरपर वही पीताम्बर, वही मुकुट, वही वनमाला सुशोभित है उद्धवजी! देखो न, भँवरे तुम्हारे आगे-पीछे मँडरा रहे हैं। यहाँ आकर तुम क्यों यदुओंके अधिपतिका गान करते हो? **किमिह बहु गायसि?** अच्छा, हम लोगोंको समझाने-बुझानेकी जरूरत नहीं है, तुम चुप रहो। तुम्हारा उपदेश, संदेश सुननेकी हम अधिकारिणी नहीं हैं। तुम किसके सामने गानेके लिए आये हो?

यदूनामधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम्—वे मथुरा जाकर यदुवंशके स्वामी बन गये और यहाँ हमारा घर-द्वार सब नष्ट हो गया। जाओ, जाओ! यह अपना पोथी-पुराण अलग रखो। हम कोई कहानी सुननेके लिए यहाँ नहीं बैठी हैं।

विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसंगः—चले जाओ। तुम्हारा तो सब जगह प्रवेश है। अर्जुनके सखा श्रीकृष्णकी सखियाँ निर्लज्ज, बेहया हैं—उनके सामने **तत्प्रसंगे गीयताम्**—श्रीकृष्ण कैसे उनके साथ प्रसंग करते हैं, समागम करते हैं—उसका गान उन्हींको सुनाओ। वे अपनी करतूत सुनेंगी, तो उन्हें बहुत सुख होगा।

क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः। उनके वक्षस्थलकी पीड़ा इस समय मिटी हुई है। श्रीकृष्णने स्वयं अपने हाथसे, अपने वक्षस्थलके द्वारा उनकी पीड़ा मिटा दी है। उनसे तुम जो चाहोगे, तुम्हें वह मिलेगा। यहाँ तो न घर है, न द्वार है और न कोई सगा-सम्बन्धी है। हम तो बन-बनकी चिड़ियाँ हो गयी हैं। वृक्षके नीचे, रास्तेमें बैठ-बैठकर अपना समय काटती हैं।

अब देखो, षडङ्घ्रि माने होता है जीव। रसके प्रसंगमें तो वेदान्तका चिन्तन करनेमें भी दुविधा होती है। उधर मन चला गया, तो उधर ही चला जाता है। रस और वेदान्तके दो खाते हैं। असलमें अंतःकरणके दो हिस्से हैं; एकका खजाना है

तत्त्वकी दृष्टिसे, और दूसरेका खजाना है आकृतिकी दृष्टिसे। तत्त्वज्ञान जो है—वह वस्तुकी दृष्टिसे है और प्रेम अथवा भक्तिभाव श्यामसुन्दर मुरली-मनोहरकी दृष्टिसे है। आपको पहले एक बात याद दिला दें कि इस प्रसंगके पहले श्लोक—**मधुप कितवबन्धो** में यह बात कही गयी है कि ब्रह्मविद्या जो है, 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्य ये जीवका कल्याण करनेके लिए चरम परिणाममय वचन हैं, और ब्रह्मज्ञानमें प्रमाण केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' ही है। **मा स्पृशाङ्घ्रि सपत्नयाः**—लेकिन तुम तो अविद्याके साथ देहाभिमानी हो गये हो, इसलिए हमें मत छूओ। समझो कि तुम परमात्माके स्वरूप हो और तद्विषयक प्रमाणभूता हम श्रुतियाँ हैं। इसलिए अपना शोधन करके पहले हमारी निर्मलता प्राप्त करो।

अब सम्पूर्ण श्रुतियोंका तात्पर्य परमात्मामें कैसे है—यह बतलाते हुए श्रुतियाँ कहती हैं—

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा।
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान् भवादृक्॥

भगवान् ब्रह्मविद्याके पक्षपाती हैं। वे अविद्याको एक बार सत्ता-स्फूर्ति देकर उसका त्याग कर देते हैं। न वे किसीको रस पिलाते हैं और न किसीका त्याग करते हैं। वे तो उदासीन की तरह से बैठे हुए हैं।

अब आगेकी बात समझनेके लिए इसमें अपना दिमाग लगाना पड़ेगा।

किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वां यदूना-
मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम्।

इसमें जो 'षडङ्घ्रि' पद है, उसका अर्थ है जीवात्मा, क्योंकि जीवात्मा पाँचों इन्द्रियों और मन—इन छहोंको पकड़कर एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है। जीवके गमनागमनके साधन कौन हैं? ये छह। तो अङ्घ्रि अथवा पाँव ही जाने और आनेके साधन हैं। मन और इन्द्रियोंके रूपमें जीवके छह पाँव हैं। वही षट्पद है और इसी कारण उसका सम्बोधन है षडङ्घ्रे। इसका तात्पर्य है कि हे जीव! **इह त्वं यत् इमं गायसि**—जो ईश्वरसे न्यून है, जड़ है, प्रकृति है और यह सृष्टि बनाती है, उसका तुम गान क्यों करते हो? **किम् गायसि?** तुम्हें तो परमात्माका गान करना चाहिए और तुम केवल गाते ही नहीं हो, **बहु गायसि।** श्रुति-स्मृतिका प्रमाण दे-दे करके गान करते हो। इससे ऐसा लगता है कि तुम प्रकृतिके चेले हो, परमात्माके भक्त नहीं हो। इसलिए छोड़ो उसका गान।

तब क्या करें, देवीजी?

अरे, तुम तो वासुदेव-स्वरूप हो। तुम वस्तुतः परमात्माका स्वरूप हो। **अधिपतिं अयं गृहाणाम्**—यत् ऊनाम् इधर चला गया, ईनाम् अधिपति-जो प्रकृतिके अधिपति हैं, स्वामी हैं, संचालक हैं, प्रेरक हैं—उनको अपनी आत्माके प्रेरकके रूपमें जानो।

कैसे जानें?

साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म! हम श्रुतियाँ तो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्मके रूपमें उन्हें जानती हैं।

वे कौन हैं?

कि पुराणम्। प्रत्येक पुरमें विराजमान होकरके उसको प्रकाशित कर रहे हैं। वे पुराण हैं।

विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः। अच्छाजी, हम प्रकृतिका गान न करें, परमात्माका गान करें—तो कैसे परमात्माका गान करें?

विजय माने—अंतःकरणपर विजय प्राप्त करना। ऐसा जो साधक शुद्धान्तःकरण है, जिज्ञासु है, उसका सखा परमात्मा है। उसको प्रतिपादित करने वाली हम सब सखियाँ श्रुतियाँ हैं। हम कैसे परमात्मासे मिलती हैं। कहीं अभिधा वृत्तिसे कहीं लक्षणा वृत्तिसे परमात्माका ही प्रसंग निरूपित करती हैं और उसका निरूपण करके, गाकरके परमात्मामें ही लीन हो जाती हैं। श्रुतियोंका परम तात्पर्य परमात्मामें कैसा है—इसका गान करो।

अब श्रुतियोंका प्रसंग परमात्मामें कैसे है, वे कैसे मिलती हैं उससे; इसका गान करनेसे क्या होगा—यह देखो—

क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः—यदि तुम यह गान करोगे कि सारी श्रुतियाँ परमात्माका निरूपण कैसे करती हैं—तो उससे तुम्हारा अज्ञान-जनित प्रपंच मिटेगा। **क उच्चतम रुजति इति कुचरुजः अज्ञानम्। अज्ञानात् जायते कुचरो जायते इति कुचरुजः। क्षपितो कुचरुजः येन स क्षपित कुचरुजः**। यदि तुम श्रुतियोंका श्रवण करोगे, मनन करोगे, निदिध्यासन करोगे, उनकी आराधना करोगे—तो श्रुतियाँ तुम्हारे इष्टको प्रकीर्ण कर देंगी, माने तुम्हें परमात्मासे मिला देंगी, तुम्हें पूर्ण कर देंगी।

अब फिर अपने पूर्व प्रसंग पर चलें। यह तो बीचमें इसलिए सुना दिया कि कई लोगोंको अच्छा लगा—कि कहाँ एक ओर तो मालूम पड़ता है कि श्रृंगार रसका प्रसंग है, और दूसरी ओर इसमें-से वेदान्तका प्रसंग निकल आता

है। तो यह चमत्कार जैसा, आश्चर्य जैसा मालूम पड़ता है—कि शृंगार रसमेंसे ब्रह्मविद्याकी बात कैसे निकल आती है। अब भँवरेसे श्रीराधारानी बोल रही हैं। एक ओर वही वृन्दावन है, वही लताएँ, वही हरिण, वही हरियाली, वही पुष्प, वही गोपियाँ हैं और दूसरी ओर वही एक भँवरा है, जो गुनगुना रहा है और जिसको देखकर श्रीमती राधारानी व्याकुल हो रही हैं। भँवरेकी गुंजार सुनकर राधारानीको ऐसे मालूम पड़ा—कि यह मानो हमको मना रहा है। कह रहा है—अजी देवीजी! आप क्या कह रही हैं! यदि यदुवंशकी स्त्रियाँ श्रीकृष्णसे मिलतीं और श्रीकृष्णका उनसे संग होता और सचमुच यदि वे गोकुलपति न होकर यदुपति हो गये होते, तो तुम्हारा कहना ठीक होता। यह जो तुम्हारा उनके ऊपर आक्षेप है—यह बिलकुल असंगत है। यदुवंशकी स्त्रियाँ महलोंके भीतर रहनेवाली, असूर्यम्पश्या स्त्रियाँ हैं—जिन्हें सूर्य भी नहीं देख सके—ऐसे पर्देमें रहनेवाली हैं। तब मानो गोपियाँ बोलीं—भाई! तुम उन स्त्रियोंका बहुत पक्ष करने लगे हो। कुछ खिला-पिलाकर उन्होंने भेजा है क्या? मालूम पड़ता है कि उन लोगोंने तुम्हें फँसा लिया है। बोले—नहीं नहीं, देवीजी! वहाँ तो श्रीकृष्ण चाहें भी तो कोई स्त्री उनसे नहीं मिल सकती। वह कोई गाँव थोड़े है। वहाँकी स्त्रियाँ न गोबर पाथने जाती हैं, न पानी भरने जाती हैं और न खेतमें रोटी लेकर जाती हैं। वे तो सब अपने-अपने महलमें रहती हैं। मान जाइये, वहाँ ये सब बातें नहीं होती हैं। तुम श्रीकृष्णके ऊपर झूठा लाञ्छन लगा रही हो। वे तो तुम्हारे लिए व्याकुल हैं, तुमसे मिलना चाहते हैं। तुम्हारे प्रेममें व्याकुल होकर ही उन्होंने हमको भेजा है।

दिवि मुनि च रसायांकाः स्त्रियस्तद्दुरापाः। गोपी बोलती है—अभी तुम मथुराकी बात करते हो, भ्रमर! श्रीकृष्णमें ऐसा सौन्दर्य-माधुर्य है कि उनके लिए स्वर्गमें कोई ऐसी अप्सरा नहीं है, धरतीमें ऐसी कोई मालती नहीं है और न तो पातालमें ऐसी कोई नाग-कन्या है, ऐसी कोई स्त्री नहीं है सृष्टिमें जो श्रीकृष्णके लिए दुर्लभ हो।

देखो, गोपियोंके मनमें पहलेसे ही यह बात बैठी हुई थी। प्रणय-गीतमें भी यही प्रसंग है—

क स्व्यङ्गते कलपदायत मूर्च्छितेन सम्मोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्य सौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥

भा. १०.२९.४०

गोपी कहती है—प्यारे श्यामसुन्दर! ऐसी कौन-सी स्त्री है त्रिलोकीमें जो तुम्हारी मधुर-मधुर वंशी-ध्वनि सुनकर और त्रिभुवनसुन्दर तुम्हारे इस परम लावण्यमय रूपको देखकर तुम्हारे ऊपर मोहित न हो जाये! और मोहित होकरके अपने आर्यचरित्रसे विचलित न हो जाये!

यह बात गोपियोंके दिमागमें है कि न श्रीकृष्ण सरीखा कोई बाँसुरी बजानेवाला है, न उनके सरीखा कोई सुन्दर है, न उनके समान किसीके लटें हैं—रात यदि उनकी लटको देख ले, तो ठिठककर रह जाये। उनकी चितवन, उनकी भौहें, उनके कपोल, उनकी मुस्कानके समान कोई नहीं है। वे सौन्दर्यके निधान, माधुर्यके निधान हैं। उनके लिए दुर्लभ कौन है?

भ्रमर फिर गुनगुनाया, तो गोपियाँ बोलीं—कि ओहो! हम समझ गयीं कि तुम क्या गुनगुनाते हो। यही, कि ऐसे श्यामसुन्दरसे तुम रूठी हुई हो, जिसके ऊपर तीनों लोकोंकी स्त्रियाँ लट्टू हैं। उससे तुम्हारा रूठना उचित नहीं है। यही न कह रहे हो! लेकिन तीन लोककी स्त्रियाँ उनपर क्यों मोहित हो जाती हैं, जानते हो? **कपट रुचिर हास भ्रूविजृम्भस्य याः स्युः (१५)** उसने अपनी मुस्कान और भौंहोंके संचालनमें कपटसे रुचिरता भर रखी है; असलमें न उसकी मुसकानमें मजा है, न उसकी भौहोंके संचालनमें मजा है। हम पहले छली गयी हैं, इसलिए जानती हैं और तीन लोककी स्त्रियाँ छली नहीं गयी हैं, इसलिए नहीं जानती।

यह श्रीकृष्ण तो स्वाभाविक रुचिर हैं। श्रीकृष्णका जो मुखारविन्द है, उसमें कोई कपट नहीं है। वह मुस्कुराते हैं भक्त भाव से और भौंहोंका संचालन भी करते हैं सहज भाव से। जब बाँसुरी बजाते हैं, तो उनकी भौहें भी कभी उठती हैं, कभी गिरती हैं। कभी ऐसे ही इशारा भी कर देते हैं—**कदम्ब तरे आ जाइओ।** कभी प्रेम-भरी दृष्टिसे देखते हैं, तो मालूम पड़ता है कि कुछ याचना कर रहे हैं। कभी शृंगार रस बरसा देते हैं, तो कभी अपना दुःख प्रकट कर देते हैं, ऐसी कलापूर्ण उनकी आँखें हैं। लेकिन गोपियाँ तो प्रेमके उन्मादमें बहुत ऊँचे पहुँच गयी हैं और श्रीकृष्णकी स्वाभाविक मुस्कान तथा भौहोंके स्वाभाविक संचालनमें भी दोषारोपण कर रही हैं। वे कहती हैं—कि नहीं-नहीं! वे रुचिर नहीं हैं, वे तो लोगोंकी रुचिको अपनी ओर खींच लेते हैं। देखो, कभी भोजन खानेका मन न हो और बोलें—नहीं खायेंगे, लेकिन जब भोजन सामने आ जाये और उसकी गंध नाकमें घुस जाए, तो रुचि हो जाती है कि अच्छा, एक ग्रास मुँहमें डाल लें। जब

एक ग्रास खाते हैं तो ऐसा म्वाद आता है—कि अच्छा भाई! थोड़ा और खा लेते हैं। और जब मुँहमें पानी भर जाता है, तब भरपेट खा लेते हैं। तो यह क्या है? कि भोजन रुचिर है। इसी प्रकार श्रीकृष्णके मुखारविन्दकी मुसकान है और उनकी भौहें हैं। नहीं-नहीं, हमको नहीं चाहिए—उनके लिए तभी तक कहते हैं, जबतक उन्हें देखा नहीं है। जब कोई कहे न—कि हमको श्रीकृष्ण नहीं चाहिए, तो कौन चाहिए? कि हमको तो ब्रह्म चाहिए। तो समझना, कि इसने कभी कृष्णको देखा नहीं है। अगर यह उनको देख लेता, तो फिर इसकी आँखें ललचा जायेंगी। दिदृक्षता हो जाती। ऐसे श्यामसुन्दर के दर्शन हैं। ऐसी कोमल-कोमल रतनारी अमृतसे भरी हुई उनकी आँखें हैं।

तो गोपियाँ कहती हैं—नहीं भ्रमर! यह सब कपट है कपट। हम भोली-भाली गाँवकी गँवार गोपियोंको फँसानेके लिए उन्होंने आँखोंमें, और भौंहोंमें रुचिरता भर ली है। और उसमें हम फँस गयी थीं पहले, लेकिन अब हम निकल गयी हैं। पर हम जानती हैं, कि स्वर्गमें मर्त्यलोकमें और पातालमें ऐसी कोई स्त्री नहीं है, जो उनके कपटको पहचान सके।

भ्रमरने कहा—अरी गोपियों! तुमको तीनों लोकोंके स्त्रियोंकी बात कैसे मालूम है? तुम जा-जाकर देखकर आती हो स्वर्गमें? नहीं, नहीं। हमको मालूम है—

चरणरज उपास्ते यस्य मूर्तिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोक शब्दः॥ १५॥

देवी-देवताकी, नाग-दानवकी, देवकन्या या देवांगनाओंकी बात क्या करें; संसारमें सर्वोत्कृष्ट नारायण हैं और नारायणकी पत्नी लक्ष्मी—जो उनके वक्षस्थलपर रहती हैं—वह भी जबसे श्रीकृष्ण प्रकट हुए हैं—तबसे वैकुण्ठधामका मोह छोड़कर और नारायणका वक्षस्थल छोड़कर श्रीकृष्णके चरण-रजकी उपासना करती हैं और कहती हैं—बस बस! हमको श्रीकृष्णके चरणोंकी धूलि ही चाहिए; अब दूसरेकी चर्चामें क्या रखा है। लक्ष्मीजी धनी हैं। यह तो आपको मालूम ही होगा कि लक्ष्मीजी जिसके सिरपर हाथ रख दें, जिसकी ओर कृपा-कटाक्ष करके देख लैं—वह धनी हो जाता है। संसारमें मधुरिमा, कोमलता भी उन्होंने बाँटी है। वे सुन्दर भी बहुत हैं—यह भी आपको मालूम है। और चिन्तामणि और कल्पवृक्ष उनके भाई हैं। सुधा उनकी बहन हैं; अमृत निकला है न उसी समुद्रसे! और उन्होंने स्वयं सबका परित्याग करके नारायण

भगवान्‌का वरण किया है; नारायणके वक्षस्थलपर उनका निवास है। लक्ष्मीसे बढ़कर और कौन होगा? वे लक्ष्मी श्रीकृष्णके चरण-रजकी उपासना करती हैं। फिर वयं का?

श्रीकृष्णके चरणारविन्दका, उनके मुखारविन्दका जब गोपियोंको ध्यान आया, तो उनके मनमें दैन्यका संचार हो आया। बोलीं—हाय-हाय भ्रमर! हम कपटी तो कहती हैं उनको, लेकिन हमारा मन नहीं मानता है। लक्ष्मी कितनी सौभाग्यशालिनी है, जो उनके चरण-रजकी उपासना करती है; और हम उनसे दूर हैं! अजी, हम उनके लिए क्या चीज हैं? माने पहले तो हम उनके लिए सब कुछ थीं, लेकिन जब हमको छोड़कर दूर हो गये, तो हम क्या रहीं?

अच्छाजी, भ्रमर! तुम लौटकर मथुरामें उनके पास जाना, तो उनसे कह देना—कि श्रीकृष्णकी प्रशंसा तो बहुत है, लेकिन यदि वे लक्ष्मीका पक्ष लेकर हम लोगोंको छोड़ देंगे, तो उनके यशका नाश हो जावेगा और उनकी कीर्ति मिट जावेगी। फिर कौन उनको पूछेगा?

अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः—लोगोंने तो उनका 'उत्तमश्लोक' रखा हुआ है, कि भगवान् बड़े यशस्वी हैं। जब वे दीनोंका, हमारी सरीखी ग्वालिनोंका पक्ष करेंगे—तब तो उनका यश बना रहेगा और यदि वे हमारा पक्ष न करके लक्ष्मीका पक्ष करेंगे, तो लोग यही कहेंगे न कि गरीबोंको तो छोड़ दिया और ऐश्वर्यशाली धनियोंको अपना लिया। इसमें श्रीकृष्णकी बड़ी बदनामी है। यह बात तुम धीरेसे उनके कानमें जाकर कह देना।

एक और बात भी है—देखो! 'उत्तम श्लोक' जो शब्द है, वह कृपण पक्षमें है। कृपण माने अज्ञानी; उनके पक्षमें उत्तम श्लोक है—**अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोक शब्दः**। माने जो उत्तम-श्लोक, उत्तम-श्लोक कहते हैं श्रीकृष्णको और यह शब्द कह-कहकर उनकी तारीफ करते हैं, वे अज्ञानी लोग हैं। हम अज्ञानी नहीं हैं, इसलिए कभी उनको उत्तम-श्लोक नहीं कहती हैं। अब भ्रमर! तुम उनके सम्बन्धमें कुछ मत बोलो। हम उन्हें जानती हैं कि वे कैसे हैं। हमने भर पाया उनसे। अब वही मनावें यदुवंशकी स्त्रियोंको, हम आनन्दमें हैं। हमें नहीं जरूरत है उनकी!

छत्तीसवाँ प्रवचन

प्रेमी लोग जब अपने प्रियतमके बारेमें चर्चा करने लगते हैं, तो ऐश्वर्यका जो आवरण है—वह भंग हो जाता है। ऐश्वर्य माने बड़प्पन। जहाँ प्रेममें ऐश्वर्यकी दृष्टि बनी रहती है—ये बड़े हैं, ये बड़े हैं—वहाँ संकोच बना रहता है। जहाँ संकोच बना रहता है, वहाँ दिल खुलता नहीं और जहाँ दिल खुलता नहीं, वहाँ प्रेम मुस्कुराता नहीं। वेदान्ती लोग ऐसा बोलते हैं कि ब्रह्म वस्तुतः ईश्वर नहीं है, मायाकी उपाधिसे ईश्वर है। इसका यह अर्थ हुआ कि ब्रह्म न तो यह सृष्टि बनाता है, न इसका पालन-पोषण करता है, न इसका नियन्ता है, न ही संहार करता है। न तो ब्रह्ममें यह सृष्टि लीन होती है। यह सब तो मायाकी उपाधिसे ब्रह्ममें कल्पित है। ब्रह्ममें भी ऐश्वर्य नहीं है और यह जो ऐश्वर्य-रहित ब्रह्म है—उसको भक्त लोग मधुर ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म डरनेके लिए नहीं है, प्रेम करनेके लिए है। परमात्मासे डरो मत। उससे तो पापी लोग डरते हैं। प्रेमी लोग डरते नहीं हैं, वे तो प्रेम करते हैं। प्रेमकी जो ऊँची स्थिति है—उसमें मालिकाना हक किसीका नहीं होता, न मालिकका, न प्रियतमका। वे तो एक दूसरेको सुख पहुँचानेके लिए प्रयत्नशील होते हैं और वहाँ बड़प्पनका भाव नहीं रहता है। बड़प्पनका भाव तो एक ऐसी चीज है, जो या तो उठाकर सिंहासनपर बिठा देगी या प्रेमको कूएँमें डाल देगी। यह भाव प्रेमको दूर करनेवाला होता है, निकट लानेवाला नहीं होता।

अच्छा, शुरू-शुरूमें तो ऐसा होता है कि यदि मनुष्य आस्तिक है और भगवान्‌के मार्गमें चलने लगता है, तो वह भगवान्‌के गुण देख-देखकर प्रेम करता है—कि इनमें यह गुण है, यह गुण है। हमसे एक आदमीने कहा, कि आप उड़िया बाबाजीसे इतना प्रेम क्यों करते हैं? भाई, मैंने तो कभी हिसाब-किताब नहीं लगाया, लेकिन अब हिन्दू धर्मके अनुसार उनसे फँस गया हूँ। और हिन्दू धर्ममें तलाक तो होता नहीं। अपने कभी उनको तराजूपर नहीं तौलते हैं। उनसे एक हो गये न! जो चीज बेचने-खरीदनेकी होती है, सो तराजूपर तौली जाती है। जिसको

न बेचना है, न खरीदना है—उसको कसौटीपर क्यों घिसना? यह तो अपनी चीज है।

अब आओ, प्रेमके राज्यमें चलें। आप जानते हैं कि श्रीकृष्णसे सब प्रेम करते हैं; ऐसा कोई नहीं है, जो श्रीकृष्णसे प्रेम न करता हो। श्रीशुकदेवजी महाराजने वर्णन किया है कि कालिय नाग भी उनको देखता है, तो उसके दिलमें धुकधुकी उठती है, कि आहा! यह इतना प्यारा-प्यारा, श्याम-सुन्दर किशोर है, मैं इसके शरीरमें डसूँ कैसे? एक बार तो वह भी देखता ही रह गया।

तो गोपियाँ कहती हैं—कि देखोजी! मथुराकी बात तो जो है, सो है। हम तो कहती हैं, कि तीनों लोकोंमें ऐसी कोई स्त्री नहीं है, जो श्रीकृष्णके लिए दुर्लभ हो। स्त्रीके लिए श्रीकृष्ण दुर्लभ हैं, परन्तु श्रीकृष्णके लिए स्त्री दुर्लभ नहीं है। स्वयं श्रीराधारानी कहती हैं कि हमारा प्रेम हो गया है दुर्लभसे। प्रेम तो हो गया है दुर्लभसे और मनमें लज्जा बहुत है। उधर घरमें गुरुजन हर समय जहर उगलते रहते हैं। इससे दिमाग चकरा रहा है। शरीर पराधीन है। जन्म बड़े उत्तम वंशमें हुआ है। फिर भी प्यारे! जी रही हूँ। सचमुच मेरी मृत्यु भी दुर्लभ है। मरना भी मेरे लिए कठिन है।

श्रीकृष्ण तो सबके लिए दुर्लभ हैं, परन्तु श्रीकृष्णके लिए दुर्लभ कोई नहीं है। **दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः।** दिवि माने स्वर्गमें, भुवि माने धरतीपर और रसा माने पातालमें। इसका अर्थ हुआ कि सत्त्वगुणकी प्रधानतासे देवता, रजोगुणकी प्रधानतासे मनुष्य और तमोगुणकी प्रधानतासे पातालमें रहने वाली स्त्रियाँ। और **काः** का अर्थ है गुणातीत। इसको ऐसा भी समझो कि दिवि माने स्वप्नावस्थामें, भुवि माने जाग्रतावस्थामें और रसा माने सुषुप्तिदशामें, जिसमें सब लीन हो जाता है। इसी तरह च माने तुरीयावस्थामें। मतलब यह, कि ऐसी कोई भी दृष्टि नहीं है, जो श्रीकृष्णके लिए दुर्लभ हो। सबमें वे अधिष्ठान रूपसे, सत्ता-स्फूर्ति-दाता रूपसे अनुस्यूत हैं। उनके बिना कोई दृष्टि नहीं है। दृष्टियोंके लिए ब्रह्म दुर्लभ भले हों, ब्रह्मके लिए कोई दृष्टि दुर्लभ नहीं है। **दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः।**

त्रिलोकके दिविमें लक्ष्मी आदि, भुविमें गोपियाँ और रसामें नाग-पत्नियाँ समझो। इसी तरह तमोगुणमें भीलनियाँ, रजोगुणमें लक्ष्मी और सत्त्वगुणमें बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि जो गोपी बन कर आये हैं—श्रीकृष्णको देखकर मुग्ध हो गये हैं। उपनिषद्में वर्णन आता है कि जब रामचन्द्र भगवान् वनमें गये थे, तो उनको

देखकर हजारों वर्षोंसे तपस्या करने वाले, बड़े-बड़े जटाधारी साधु जो थे, उनके मनमें आया—कि यदि हम स्त्री होते, तो रामसे ब्याह करते। भगवान् रामको हँसी आगयी; बोले कि इस अवतारमें तो मैं केवल एक ब्याह करूँगा—यह मेरा नियम है। अगले अवतार—कृष्णावतारमें आना तुम लोग। तो वहाँ बड़े-बड़े ऋषि-मुनि व्रजकी स्त्रियाँ बन कर आये हुए हैं। श्रुतियाँ भी अवतार धारण करके आयी हुई हैं। ये ऋषि, श्रुतियाँ हैं—वे सात्त्विक हैं। चारण, सिद्ध जो हैं—गोपी हैं—ये हैं मनुष्य, और रसा—जो पातालकी हैं, वे भी कोई भीलनी होकर, कोई पुलिन्दनी होकरके आयी हैं। श्रीकृष्णके लिए कोई दुर्लभ नहीं है। इसलिए उन्हें हमारी क्या जरूरत है?

तो बोले—नहीं-नहीं! जैसी तुम खुद हो, वैसे ही दूसरोंको समझती हो। डाँट दिया! ऐसा भँवरेने कहा नहीं, गोपियोंके हृदयमें स्वयं यह बात आयी, कि यह भँवरा मुँहफट है, हर समय गुनगुनाता रहता है। यदि यह ऐसा बोल दे, तब क्या होगा? तो बोलीं—**कपट रुचिर हास भ्रुविजृम्भस्य याः स्युः**—वे कपटपूर्ण, किन्तु रुचिर हँसी हँसते हैं। और भौंहे मटका-मटका कर प्रेम-भरी चितवनसे जब देखते हैं, तो उनकी रुचिरताके सामने कोई टिक नहीं सकता।

देखो, माटीमें लगे हुए लोग 'स्त्री' शब्दका अर्थ माटी समझते हैं और जो लोग माटीसे ऊपर उठ जाते हैं, वे जानते हैं कि यह शरीर तो केवल बाहरका एक ढाँचा है। इसे संसारी लोग ही कीमती मानते हैं। स्त्री कौन है? चित्तकी जो वृत्ति है न; चाहे शरीर पुरुषका हो, चाहे स्त्रीका हो, उसमें जो वृत्ति है-वही स्त्री है। अगर एक बार हृदयमें आकरके, हृदयके सिंहासनपर खड़े होकरके वह कपटी सबकी रुचि खींचनेवाली मुसकान और भ्रू-भंगसे देखले, तो फिर वृत्ति संसारमें क्यों जाय?

भावकी सृष्टि दूसरी होती है और तत्त्व दूसरा होता है। भावकी बात जब करते हों, तब उसे तत्त्वसे नहीं मिलाते हैं। आत्मा और ब्रह्मकी एकता केवल तत्त्वमस्यादि महावाक्य-जन्य है। तत्त्वमस्यादि महावाक्यसे दोनोंके ऐक्यका बोध हो जाता है। अविद्याकी निवृत्ति हुई, तो एक-ही-एक है। वहाँ कुछ करना-धरना नहीं पड़ता। भाव जो है—वह तो अपने हृदयमें बनाना पड़ता है। देखो, मनुष्य सब हैं, परन्तु अपना पति एक है। यह बात है कि नहीं? मनुष्य भौतिक वस्तु है और पतित्व भौतिक नहीं है; वह हार्दिक है। इसी प्रकार ब्रह्म तत्त्व तो सब हैं, पर उसमें जो श्रीकृष्णका पतित्व है—वह भावजन्य है। सम्बन्ध

भावमें होता है और व्यक्ति जो है—वह धरतीपर होता है, रूपका बना हुआ होता है।

अब भगवान्‌के साथ तुम्हारा सम्बन्ध कैसा है? यह भक्तिकी बात बड़ी विलक्षण है। इसको केवल नेति-नेति करनेसे नहीं समझा जा सकता। यह जीवनका निर्माण है। मीराबाई वृन्दावनमें जीव गोस्वामीके पास गयी न, जीव गोस्वामीने कह दिया—हम स्त्रियोंसे नहीं मिलते। मीराबाईने कहा—कि भाई! वृन्दावनमें एक पुरुष है—श्रीकृष्ण। यह दूसरा जीव पुरुष बनकर कहाँसे आगया? जीव पुरुष नहीं हुआ करता। अस्थियोंका पुंज बटोर करके, एक झूठा अभिमान धारण करके जीव बैठा हुआ है। जीव गोस्वामी झट बाहर आगये। और मीराबाईसे मिले।

यह जो हम लोगोंकी सात्विक, राजस, तामस चित्तवृत्तियाँ हैं और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति चित्तवृत्तियाँ हैं—इनमें कौन-सी ऐसी वृत्ति है, जिसमें श्रीकृष्ण प्रवेश किये हुए नहीं हैं? बिना उनके किस वृत्तिको सत्ता-स्फूर्ति मिल रही है? कौन वृत्ति चमक रही है? कौन रंगीन हो रही है? बिना उनके किसका अस्तित्व है? उनके लिए दुर्लभ कोई नहीं है, परन्तु कोई वृत्ति चाहे—कि हम उनको पकड़ लें—तो वे दुर्लभ हैं।

अब देखो, दूसरे ढंगसे इसकी व्याख्या हम आपको सुनाते हैं। भजन करो, अपनी चित्तवृत्ति परमात्मामें लगाओ। बोले—तुम कहते हो कि वेदमें केवल परमात्माका वर्णन है, प्रकृतिका वर्णन नहीं है। परन्तु वेदमें तो कर्मकाण्डका भी वर्णन है। बोले—कर्मकाण्डका वर्णन है तो जरूर, परन्तु वर्णन चाहे कर्मका हो, चाहे उपासनाका हो और चाहे योगाभ्यासका हो, सबका लक्ष्य परमात्माकी प्राप्ति है। **दिवि भुवि च रसायाम्**—उपासनाका जो वर्णन है, वह दिवि है, इष्टदेव लोकमें ले जानेवाला है। कर्मकाण्डका वर्णन धरतीको सुधारनेवाला है और योगाभ्यास जो है वह रसामें विलीन करने वाला है। तो श्रुति चाहे कोई भी हो, वह ब्रह्मका वर्णन करती है। सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन ब्रह्म ही उसके निरूपणका विषय है। ऐसी एक भी श्रुति नहीं, जो परमब्रह्म परमात्माका निरूपण नहीं करती है। चाहे वह देखनेमें तमोगुणी वर्णन कर रही हो, चाहे रजोगुणी वर्णन कर रही हो और चाहे सत्वगुणी वर्णन कर रही हो, वह ले जाती है सबको वहीं—सकाम को भी, निष्कामको भी; अंतर्मुखको भी और बहिर्मुखको भी। सारी श्रुतियाँ जो हैं—वे परम तात्पर्य रूपमें परमात्माका ही प्रतिपादन करती हैं।

परन्तु परमात्माके बारेमें तो कहते हो कि वह शब्दसे अगोचर है; अविषय है शब्दका। न उसका कोई नाम है, न उसकी कोई जाति है, न कोई क्रिया है, न उसमें कोई गुण है और न उसमें कोई सम्बन्ध है। फिर उसका वर्णन कैसे करेगा कोई? बोले—कि वर्णन करवानेके लिए ही तो उसने कपट धारण कर रखा है!

कपट रुचिर हास भ्रू-विजृम्भस्य!

यह ब्रह्मका जो हास है, उसकी जो हँसी है—उसका नाम माया है। जो पाँच भौतिक जगत् है, यह क्या है? भ्रूविजृम्भ है। श्रीमद्भागवतमें वर्णन किया गया है, कि परमात्मा की भौहोंका संचालन ही यह सृष्टि है और उनकी हँसी ही माया है। तो बोले—कि भाई! उसमें न माया है, न सृष्टि है! फिर भी कपट है, कुहक है। पहले ही श्लोकमें कुहकका प्रयोग है—**धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकम्**। परब्रह्म परमात्माने माया और सृष्टि रूप जो अपना कपट-पूर्ण रूप प्रकट किया है, उसमें जीव फँस जाता है। इस उपाधिको धारण करके जब वह प्रकट हुआ, तब सारी श्रुतियाँ उसका वर्णन कर लेती हैं और उपाधि-वर्णन द्वारा उपहितमें लीन हो जाती हैं।

किसीने कहा कि देखो—यह आँख कितनी सुन्दर है, हाथ कैसे सुन्दर हैं, ये पाँव कितने सुन्दर हैं! और फिर सबको मिलाकर क्या हुआ? कि वह व्यक्ति कितना सुन्दर है? एकका वर्णन करके सम्पूर्णका वर्णन कर दिया। इसी प्रकार परमात्मामें यह धरती कैसे बनी? समुद्र कैसे बने? ये सूर्य-चन्द्र ग्रह कैसे बने? यह आकाश कैसे बना? ब्रह्मलोक, गोलोक, वैकुण्ठलोक कैसे बने? यह देखो न! तटस्थ लक्षणके द्वारा जन्माद्यस्यके द्वारा उसमें जो कल्पित उपाधि है, उसका वर्णन करके सारी श्रुतियाँ परमात्माका ही वर्णन करती हैं।

अच्छा, तो फिर माया उसमें है न! यह तुमने कहा। माने कर्ममें वेदका तात्पर्य नहीं, योगमें वेदका तात्पर्य नहीं, उपासनामें वेदका तात्पर्य नहीं। सोपाधिक परमात्माका वर्णन वाच्यार्थके रूपमें करके संकेत वृत्तिसे, लक्षणा-वृत्तिसे सम्पूर्ण श्रुतियाँ परमात्माको लखाती हैं।

चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का—तो तुमने वर्णन किया कि परमात्मामें माया है।

बोले—वह माया कहाँ है? परमात्माके एक पादमें सारी सृष्टि है और वही तो माया है। यह माया तो चरण-रजकी उपासना कर रही है।

अच्छा श्रुतियो! तुम क्या मायासे बड़ी हो? बोलीं—कि हम भी क्या हैं? परमात्माके स्वरूपमें हम भी कुछ नहीं हैं।

लेकिन तुम बोलती तो हो?

नहीं, हम कहती हैं कि बोलकर परमात्माका वर्णन ही नहीं किया जा सकता। वाणीसे उसका वर्णन होता ही नहीं। हम वाणीका निषेध करके परमात्माका वर्णन करती हैं।

अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः—माया गरीबोंपर दया नहीं करती और हम श्रुतियाँ संसारी गरीबोंपर दया करती हैं। **अपि च कृपणपक्षे**—संसारके जो लोग अज्ञानी हैं, माया-मोहमें फँसे हुए हैं, उन सबका पक्षपात करके हम सब लोग उत्तम श्लोकको शाब्दित करती हैं, माने केवल लोगोंका अज्ञान निवृत्त करनेके लिए कृपा-परवश होकर ही हम परमात्माका वर्णन करती हैं। वस्तुतः परमात्मा वर्णनका विषय नहीं है और हम श्रुतियोंका तात्पर्य कर्ममें नहीं, उपासनामें नहीं, योगमें नहीं, त्रिपादमें नहीं, केवल परमात्मामें है। शास्त्रमें दो तरहके मत हैं। एकके अनुसार तो परमात्मा चतुष्पाद है, परन्तु उसके एक पाँवमें सृष्टि है और तीन पाद शुद्ध हैं। दूसरा वर्णन है कि परमात्मा चतुष्पाद तो है, परन्तु उसके तीन पादमें संसार है और एक पाद शुद्ध है। पाद बस, कल्पित ही होते हैं। तब बोलते क्यों हो? बोले—बोलते हैं केवल संसारके दुःखी लोगोंको समझाकर इस अविद्याके दंशनसे मुक्त करनेके लिए।

दिवि भुवि च रसायां का स्त्रियस्तद् दुरापाः
कपट - रुचिर - हासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः॥

१०.४७.१५

अब फिर लौटते हैं भ्रमरके प्रसंगकी ओर! भँवरा बिचारा गुनगुनाता हुआ गिर पड़ा राधारानीके चरणों पर, नीचे आगया। देखो, तो राधारानीके भक्त होते हैं न, वे कृष्णका ध्यान करना पसन्द नहीं करते। ऐसे भक्त होते हैं राधारानीके जो कहते हैं—कि हम राधारानीके भक्त होंगे, तो श्रीकृष्ण अपने आप हमारे पास आवेंगे। राधाके भक्त कहते हैं—**अलं विषयवार्तया**—संसारकी चर्चा मत करो। विषयोंकी कथा छोड़ो, क्योंकि वह बहुत गन्दी है। विषय तो नरकमें भी मिलता है, पशु-पक्षीको भी मिलता है। अच्छा, आओ वेद पढ़ो। खुर्जामें एक

बार एक आर्यसमाजी सज्जन आये। तब वहाँ कहीं गीताकी, कहीं भागवतकी कथा हो रही थी। बोले—हम वेदकी कथा करेंगे। अब वेदमें तो ऐसे गम्भीर विषयका वर्णन है, इतना चिन्तन है कि उसको समझनेके लिए परिश्रम बहुत करना पड़ता है। वहाँ बाहरी केंचुल इतनी ज्यादा है कि भीतरका रस प्राप्त करना बड़ा कठिन होता है।

तो आओ, कैवल्य मोक्षके लिए घटाकाश-मठाकाशका विवेचन करें। बोले—जब हमारा मोक्ष होगा, तो वहाँ कितने लोग रहेंगे? बोले—वहाँ तो अकेले ही रहना पड़ता है। मोक्षमें तो कोई साथी नहीं रहता—न बेटा, न बेटी, न पति, न पत्नी, न माँ-बाप। अच्छा, कोई संगी-साथी, कोई प्रिया-प्रियतम? कि न, वहाँ कुछ नहीं रहता। तो जब हम अकेले होंगे, तब वहाँ किसके साथ हँसेंगे—बोलेंगे?

तो आओ, ईश्वरका भजन करो। शुकदेवजी भी ईश्वरका भजन करते हैं। कि शुकदेव आदि ईश्वरका भजन करते हैं—तो करें। मेरा मन तो श्रीराधारानीके चरणारविन्दके मकरन्दमें डूब जाये। जब श्रीकृष्ण उनके चरणोंमें भ्रमर बनकर आवेंगे, तब अपने-आप उनकी प्राप्ति हो जावेगी। तो उनका ध्यान करते हैं। 'राधा-सुधा-निधि'का प्रारम्भ ही ऐसे होता है, कि एक दिन श्यामसुन्दर वृन्दावनमें अकेले खड़े थे। एक हवाका झोंका आया। अरे, इसमें तो प्यारी जीके शरीरकी गंध मालूम पड़ती है। उनके आँचलसे हिलकर यह वायु आयी है। बस, वे मस्त हो गये; बोले—मैं उस दिशाको प्रणाम करता हूँ, जिसमें राधारानी रहती हैं।

भँवरा महाराज! उनके अंगकी सुगन्धसे अन्धा होकर उनके चरणोंपर गिर पड़ा। ऐसे मालूम हुआ, जैसे वह उनके पाँवके नीचे आगया; झटसे उसे झटका दिया।

विसृजशिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारैरनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दैत्यै र्मुकुन्दात्।
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका व्यसृजदकृतचेताः किं नु संधेयमस्मिन्॥

१०.४७.१६

राधारानी बोलीं—अरे ओ मधुकर! हट-हट! यह अपने सिरपर क्यों मेरा पैर उठा लिया? तुमने मेरे पाँवके नीचे अपना सिर क्यों रख दिया? छोड़ मेरा पाँव। जैसे तेरा साथी कपटी, वैसे तू कपटी। वह झूठमूठ पाँव छूता है, वैसे ही तू भी झूठमूठ पाँव छू रहा है।

राधाचरण विलोडित रुचिर शिखण्डम्।

भक्त लोग ध्यान करते हैं—श्रीराधारानी रूठी हुई हैं और श्यामसुन्दर अपने मुकुटकी नोंकको उनके चरणोंमें रखकर उनको मना रहे हैं। **देहि मे पदपल्लवमुदारम्**। गीतगोविन्दमें तो स्वयं भगवान्‌ने अपने कर-कमलोंमें राधाके चरण-कमलोंको लेनेकी बात कही है। यह संसारमें जो शृंगाररस है न, यह ब्रह्मानन्द-सहोदर कहलाता है।

भँवरे! तू क्यों गुनगुनाता है? मैं तुझे पहचानती हूँ; तेरे मित्रको भी पहचानती हूँ—**वेद्म्यहम्**। उनको दूसरी गोपियाँ पहचानती हैं या नहीं—यह नहीं मालूम। यहाँ कथनमें एकवचन कर दिया; एकवचनका अर्थ है कि मैं उन्हें खास तौरसे पहचानती हूँ, क्योंकि **चाटुकारैः अनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात्** तू मुकुन्दके पाससे आया है, और वह बड़ा ठग है। देखो, 'मुकुन्द' शब्दका अर्थ ही ठग कर दिया! **मुक्ति कुत्सितं ददाति**—वह मुक्ति देता है, जो प्रेमियोंको बिलकुल इष्ट नहीं है—इसलिए उसका नाम मुकुन्द। मु माने मुक्ति, कु माने कुत्सिता, निन्दिता और द माने ददाति। मुक्ति माने ऐसा समझो—कि दो मित्र हैं और दोनों परस्पर भुजपाशमें आबद्ध हैं। एकने दूसरेको हृदयसे लगा रखा है और दोनों आनन्दमें चूर हैं। अब एकने कहा—हटो-हटो। क्यों भाई? कि तुमको मुक्ति देनी है। कितनी देरसे तुम बद्ध थे, अब तुमको मुक्ति देते हैं। यह मुक्ति की, कि उसको मिलनके आनन्दसे वंचित कर दिया?

यह मुकुन्दका अर्थ हम पहचानती हैं। लोग तो आते हैं उससे प्रेम करनेके लिए, उसको हृदयसे लगानेके लिए, उसे भुजपाशमें बाँधनेके लिए और वह कहता है—जाओ, तुमको कैवल्य मुक्ति दी। भला यह कोई भलमनसाहत की बात है? मुकुन्दके यहाँसे **मुकुन्दात्** तुम आये हो, वह भी अनुनय मुद्रामें। तुम भी **अनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैः**। 'अनुनयविदुषस्ते' में पंचमी भी है और षष्ठी भी है, तो इसका अर्थ है कि अनुनय-विनय करनेमें बड़ा निपुण है। तू, उसीके पाससे आया है तू। तू भी चिरौरी विनती करनेमें बड़ा निपुण है। इसीलिए **चाटुकारैः दौत्यैः** चाटुकारिता करनेके लिए, और अपना दूत-कौशल दिखानेके लिए तू बारम्बार मेरा पाँव छू रहा है। हट-हट, छोड़ दे मुझे।

श्रीमतीजी! आप हमारे मित्रपर इतनी रुष्ट क्यों हो गयी हैं? वहाँसे भेजते समय श्यामसुन्दरने मुझको बताया नहीं, कि राधारानी रूठी हुई हैं, नहीं तो मैं आता ही नहीं। उन्हें कह देता कि तुम्हीं जाओ, मनाओ। आओ, संधि करा दूँ। हमको दूती-कर्म करनेवाला मानकर आप संधि कर लीजिये।

वैसे शास्त्रमें लिखा है कि पति-पत्नीमें जब झगड़ा हो, तो तीसरेको बीच-बिचोली कभी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे तो दो घंटे बाद मिल जायेंगे और बीच-बिचोली करनेवाला इधर-उधर दोनोंसे जायेगा। वे आपसमें कहेंगे—हमें यह कहा, इसने हमें यह कहा। पति-पत्नीकी मारपीटमें भी नहीं आना चाहिए, क्योंकि उनकी मार-पीट भी उनका प्रेम ताजा करनेकी एक युक्ति है। उसके बाद वे खूब प्रेम करते हैं। तो यह दूत-कर्म करना बुद्धिमानीका काम नहीं है।

तो भ्रमरने कहा—सुलह कर लो दोनों। घर गृहस्थीमें सुलह रहे, शांति रहे—तो बहुत आनन्द आता है।

बोलीं—अरे भ्रमर! तू संधि-दूत बन करके आया है? अरे—**स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका**—उसके लिए हमने संसारमें क्या नहीं छोड़ा? संतान छोड़ी, पति छोड़ा, दूसरे लोगोंको छोड़ दिया—**अपत्यपत्यन्यलोक**। हमने सबका विसर्जन कर दिया—हे पतिदेव! आप देवता हैं, ठीक है। हे पुत्रदेव! आप पालनीय हैं—ठीक है। हे अन्य लोगों! आप आदरणीय हैं-ठीक है। लेकिन हमने आपकी प्रार्थिव पूजा कर ली और अब आपका विसर्जन करते हैं। आप लोग पधारिये। उसके लिए सब कुछ छोड़ दिया। उसके सिवाय हमारा दूसरा कोई नहीं है। परन्तु उस अकृतज्ञने इसका तनिक भी विचार नहीं किया। अकृतचेता है वह। क्या कहें उसे! वह निगुरा है। कोई उसका गुरु होता, तो उसके पास जाकर उसकी शिकायत करतीं—कि तुम्हारा चेला ऐसा करता है। गुरु जरूर ध्यान देता, पर अब उसकी शिकायत करें भी, तो किससे? उस अकृतचेता-अकृतज्ञको मालूम नहीं, कि हम उससे कितना प्रेम करती हैं; उसके लिए सब कुछ छोड़ दिया है।

देखो, यह तो अहसान करना हुआ—कि हमने तुम्हारे लिए सब कुछ छोड़ा; तो तुम हमसे प्रेम करो। अरे भाई! अब छोड़ा, तो अब अपने छोड़नेका भार अपने प्यारेपर क्यों लादते हो? यह भी क्या कोई प्रेम हुआ—कि हमने तुम्हारे लिए यह किया, यह किया? माने दबाव डालकर प्रेम कराना! यह दबाव डालकर प्रेम नहीं किया जाता है। प्रेम खरीदनेकी युक्ति दूसरी है। प्रेमकी कीमत लोगोंको मालूम नहीं होती, तो ऊटपटांग ढंगसे प्रेम करना चाहते हैं—हमने तुम्हारे पाँव दबाए, तो तुम हमसे प्रेम करो, हमने तुम्हारी पूजा की, तो तुम हमसे प्रेम करो। अरे, तुमने हमारे लिए सब कुछ छोड़ दिया—तो उसमें हमारा क्या हाथ है? हमने कब कहा था छोड़नेको?

गोपियोंके प्रेमका ढंग क्या है? बहुत विचित्र है वह। उनको पता है कि हमारे बिना श्रीकृष्ण न तो पेट-भर खाते हैं, न नींद-भर सोते हैं, न उनका मन किसी दूसरी ओर देखनेका होता है और न उन्हें सुखी करनेकी युक्ति किसी दूसरेको मालूम है। इसलिए वे सोचती हैं—कोई ऐसी युक्ति होनी चाहिए, कि श्रीकृष्ण हमारे पास आजायँ और हमारे बिना जो दुःख उनको हो रहा है—उस दुःखसे हम उनको छुड़ा लें। ऐसा व्यंग्य करें, कि वे वहाँ तिलमिला उठें और एक बार यहाँ आजायँ। त्यागका दबाव डालकर उन्हें प्रेम बनानेका ख्याल गोपियोंको नहीं है। वे तो इतना चाहती हैं कि श्रीकृष्ण एक बार वहाँ बैठे-बैठे तिलमिला उठें कि अभी व्रजकी ओर निकलते हैं!

स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका,
व्यसृजदकृतचेताः किं नु सन्धेयमस्मिन्।

'स्वकृत इह' माने उसीके लिए; उसको सुख पहुँचानेके लिए ही हमने अपनी संतान, अपने पति और अपने दूसरे लोग—सब छोड़ दिये। फिर भी उस अकृतज्ञने, कृतघ्नने हमको छोड़ दिया। अब भ्रमर! तुम कहते हो, कि उससे सन्धि कर लें। न, अब हम उससे सन्धि करनेके लिए हाथ बढ़ानेवाले नहीं हैं।

देखो, ये राधा-कृष्ण तो हमेशा मिले हुए हैं। ये कभी अलग नहीं होते। इनमें कोई वियोग नहीं है, कोई मान नहीं है, कोई भ्रम नहीं है, कोई गलतफहमी नहीं है। एक-दूसरेके प्रति जो अविश्वासकी भावना है—वह न राधारानीमें है और न श्रीकृष्णमें है। लेकिन संसारके लोगोंको उनके प्रेमकी छाया कैसे प्राप्त हो, इसके लिए यह सब लीला प्रकट की जाती है। यह लीला पढ़नेसे-सुननेसे भगवान्‌के प्रति प्रेम होता है और प्रेमकी सृष्टि दूसरी ही होती है।

❋

सैंतीसवाँ प्रवचन

उद्धवजी और गोपियाँ देखती ही रह गयीं! श्रीराधारानी प्रेम-जनित उन्मादकी दशामें भौंरेको फटकार रही हैं—अरे ओ भँवरे! तूने अपने सिर पर मेरा पाँव क्यों उठा रखा है? छोड़ हमें।

देवि! हमारी बात तो सुनिये। मेरे स्वामी श्यामसुन्दरपर अकारण क्रोध मत करें। वे तो आपके प्रेममें डूबे रहते हैं।

वेद्म्यहं—जानती हूँ मैं। **चाटुकारैरनुनय विदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात्**—तू चाटुकारी कर रहा है और तू उस मुकुन्दके दूतभावको प्राप्त होकर आया है, वह अनुनय-विनय करनेमें निपुण है, तू उसीसे सीख कर आया है। हमने उसके लिए अपनी संतान छोड़ी, अपना पति छोड़ा, स्वर्ग-अपवर्ग छोड़ा-**विसृष्टापत्य पत्यन्यलोका**। और उस कृतघ्नने हम लोगोंको छोड़ दिया। फिर ऐसे व्यक्तिसे क्या संधि करना। **किं नु सन्धेयमस्मिन्?**

एक महात्माने कहा है—अरे ओ मेरे बाप ब्रह्मा! मेरी बात मानो, तो मनुष्य लोकमें दो बातें मत बनाना; एक तो ऐसा मालिक न बनाना, जो सेवककी समझदारीको, उसके विवेकको न समझता हो और दूसरे—जो दूसरेसे, अन्यसे प्रेम करता हो, उसके प्रति कभी प्रेम मत देना। लेकिन तुम तो इससे उलटा ही करते हो। जिसके लिए सब छोड़ा और मालूम भी है उसको—उससे अब चलकर सन्धि करें! न भाई! इस श्लोकका सीधा अर्थ यही है।

अब जरा इस श्लोकके टेढ़े अर्थका मजा लें। मधुप है जीव। आप जानते ही हैं, कई स्त्री-पुरुष भँवरा तबियतके होते हैं—यहाँ रस लिया, वहाँ रस लिया। फिर जैसा-जैसा कर्म है, उसका जैसा-जैसा फल मिलता है—उसी कर्मफलको भोगनेके लिए वे मधुप बने हुए हैं। वे कितव-बन्धु भी हैं; उनके बन्धु-बान्धव सब कपटी हैं, मतलबके यार हैं। जब तक कोई काम बनता दिखता है, तबतक बड़ा प्रेम दिखाते हैं। जब उनका स्वार्थ सिद्ध नहीं होता, तब वे गुरुको छोड़ दें, माँ-बापको छोड़ दें, पति-पत्नीको छोड़ दें। वे तो केवल प्रयोजन-वश ही मैत्री जोड़ते हैं।

यह जीव मधुप है और दुनियामें जो थोड़ी-थोड़ी मधु मिलती है, मिठास मिलती है—उसमें फँस गया है। श्रुति भगवती कहती है कि तू परमात्मासे मिले। यह प्रसंग पहलेसे चल रहा है, कि ब्रह्मविद्या जो है—श्रीराधारानी, वे जीवको

उपदेश कर रही हैं। तो परमात्मासे कैसे मिलें? कि बिना भक्तिके ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होती; इसलिए ईश्वरकी भक्ति करो, तभी ईश्वराकार चित्तवृत्ति होगी। तुम्हारी बुद्धि संसारी आकारको पकड़ेगी, तो संसारमें जावेगी और ईश्वरके आकारको पकड़ेगी, तो संसारके आकार छूट जावेंगे और ईश्वरकी प्राप्ति होगी। इसलिए प्रेम करो—तो परमेश्वरसे करो। तभी संसारसे छूट सकते हो।

अब मानो जीवने पूछा—हे देवी! हे महा विद्ये! हे ब्रह्मविद्ये! वह कौन-सा उपाय है, जिससे हमें परमात्मा मिले? तो बताती हैं—**विसृज शिरसि पादम्**—हमारी सौत अविद्या है, उसके पाँवको तू मत छू। ईश्वरके चरणारविन्दको अपने सिरपर धारण करो, तो तुम्हें परमात्माकी प्राप्ति होगी।

यह बात कैसे मालूम पड़े, देवि? तो महाविद्या, ब्रह्मविद्या बोलती हैं—वेद्म्यहम्-मैं इस बातको जानती हूँ। मैं इस बातका प्रमाण हूँ।

लेकिन देवी! भगवान्‌के चरणारविन्दकी प्राप्ति सरल तो नहीं है न, कि यहाँ-यहाँ पड़े हुए मिल जायँ। जाकर खड़े हो जायँ और सिरपर चरणारविन्द रख लें। ऐसे तो नहीं मिलता है वह।

बोलीं—हाँ, मिलनेका उपाय बताती हूँ। अरे, खूब तारीफ करो उसकी। स्तुति करो, प्रार्थना करो—कि हे भगवान्! तुम्हीं सर्वेश्वर हो, तुम्हीं हृदयेश्वर हो, तुम्हीं जगत्‌के कारण हो। **चाटुकारैः अभ्येत्य**—खूब चाटुकारी करो। उसकी शरणमें जाओ और उसके चरणारविन्दको अपने सिरपर धारण कर लो और अपनी बुद्धिको भगवच्चरणारविन्दके अनुसार चलाओ।

देखो, हमारा मन ही संसारमें रास करता है। मनका स्वभाव है रास करना; यह जीवका कोई अपराध नहीं है। मनका किसी तरफ जाना, यह तो उसके जानेके बाद ही जीवको मालूम पड़ता है। सपना आनेके बाद ही मालूम पड़ता है कि सपना आया। सपना देखने वालेका उसमें क्या अपराध है? कहीं मन चला गया, कहीं मजा आ गया, कहीं पाँव फिसल गया—तो यह कोई अपराध नहीं है। मनके जाने-न-जानेपर जीवका यदि नियन्त्रण होता, तब तो मन भेजनेमें जीव अपराधी होता। अच्छा, मनपर तो जीवका नियन्त्रण भले ही न हो, हाथपर तो है, आँखपर तो है; जीभपर तो है; पाँवपर तो है और बुद्धिपर भी है! चक्कीके जैसे दो पाट होते हैं, वैसे ही मनके ऊपर एक बुद्धिका पाट है और कर्मका पाट है। इन दोनोंके बीच डालकर मनको पीस लो—मानो बुद्धिसे मनमें आये हुए रागका समर्थन मत करो और कर्मसे रागके अनुसार क्रिया मत करो। शरीरसे रागानुसारिणी क्रिया मत करो और बुद्धिसे

रागका समर्थन न करो। तब मन जो कहीं चला गया है, या मनमें कोई आगया है—उससे बच जाओगे। यदि मनमें कोई चीज आगयी, उसीके अनुसार क्रिया करने लग गये और बुद्धिसे उसका समर्थन करने लग गये—तो समझ लो, मनोरामको दो-दो समर्थक मिल गये। अब तो गये संसारमें। यदि बुद्धि बची हुई है और जानती है कि यह काम मैं गलत कर रही हूँ—तब उसका बचना सम्भव है। यदि यह दृढ़ हठ हो, कि हम मनमें आये हुए विकारके अनुसार कर्म नहीं करेंगे, तब भी बचना सम्भव है। लेकिन यदि क्रियापर भी रोक नहीं और निश्चयसे भी रागका अनुमोदन करते हैं—तो तुम्हारा रास्ता बिगड़ गया!

मनको बुद्धि और कर्म—दोनोंके बीचमें रखकर दुरुस्त किया जाता है। भले गलती हो जाये; बुद्धिसे उसका समर्थन मत करो। गिरना अपराध नहीं है, गिरनेके बाद न उठना अपराध है। बुद्धि और कर्मसे अपराध होता है, मनके कहीं जाने मात्रसे अपराध नहीं होता। आँखसे कोई बढ़िया चीज देखी—और मजा आगया। मजा आगया, सो तो ठीक, लेकिन अब उसको हाथसे मत पकड़ो, पाँवसे उसके पास मत जाओ और बुद्धिको यह मत कहो—कि यह युक्ति करेंगे, तो वह चीज मिल जायेगी! कहो—कि भाई! मनमें कोई संस्कार था, कोई वासना थी; गलती थी। आगया। अब उसको जाने दो। यह उसकी रीति है, यह उसकी युक्ति है। यह अपने आप नहीं आती है; बुद्धि भी अपने पास न हो, तो दूसरेसे उधार लेनी पड़ती है।

बोले—अच्छा, हम जाकर भगवान्‌के चरणारविन्दको अपने सिरपर रख लें, उनकी शरण तो ग्रहण कर लें, लेकिन भगवान्‌ने तो कोई पट्टा नहीं लिखा—कि जो हमारी शरणमें आवेगा, हम उसको स्वीकार कर लेंगे? बोले—कि पट्टा लिखा है। भगवान्‌ने वचन दिया है; कि—

मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।
मां भजन्ति तु ये भक्त्या मयि च तेषु चाप्यहम्।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु - संसार - सागरात्।
मच्चिता मद्गतप्राणा।
मन्मना भव भद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

यह श्रीकृष्ण मुकुन्द है, मुक्ति देनेवाला है, मुक्तिका बोध करानेवाला मुकुन्द है, अथवा मुक्तिका उपदेश करनेवाला श्रीकृष्ण मुकुन्द है।

उनके जो वचन हैं, जो वाक्य हैं—वही मानो दूत हैं। उन्होंने यह बात

साफ-साफ कह दी है, कि अगर भगवान्‌की शरण ग्रहण करो, तो तुम्हारा कल्याण हो जावेगा। भगवान्‌ने तो पट्टा लिख दिया!

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांऽस्तथैव भजाम्यहम्।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

जैसे कोई रजिस्ट्री कर देता है, वैसे ही भगवान्‌ने रजिस्ट्री बना दी। असलमें भगवान् तुम्हारे अनुनयको जानते हैं—**अनुनयविदुषस्ते मुकुन्दात्**। जाओ भगवान्‌की शरणमें। उनके चरणारविन्दको हृदयमें रख लो। जब भगवान्‌के चरणारविन्दको हृदयमें धारण करते हैं, तब मन ठीक होता है और जब उन्हें सिरपर रखते हैं—तब बुद्धि ठीक होती है। देखना यही है कि तुमने भगवान्‌के चरणारविन्दको हृदयमें बिठाया कि मायाको।

जितने संत अबतक हुए हैं संसारमें, उनमें कोई ऐसा नहीं हुआ, जो धनमें राग करे, स्त्रीमें, पुत्रमें, देहमें राग करे। संत ईश्वरसे राग करता है और संसारसे मुक्त हो जाता है। यह संतका स्वभाव है।

स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका—'स्वकृत', माने अपने लिए, आत्म-साक्षात्कारके लिए जिन-जिन लोगोंने 'इह' माने इस संसारमें **विसृष्टापत्य-पत्यन्यलोका भवन्**—पतिका परित्याग किया, अपत्यका, लोक-परलोकका त्याग किया—**ते सर्वे अकृतचेता अकृत च इता**, हे अकृत, हे स्वभावशुद्ध अकृत्रिम जीव, हे निर्मल अकपट चितवाले जीव! सुन लो यह बात—उनको ईश्वरकी प्राप्ति हुई. **इता मुक्ति भावं प्राप्ताः किं नु भवान् अस्मिन् संधेयमस्मिन्**—क्या इस परमात्माके साथ प्रेम करनेके लिए जो वस्तु-तत्त्व था—स्नेह, उसको क्या तुमने उसके साथ जोड़ा? नहीं, संसारके जीव ईश्वरके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ते। वे कहते हैं—अनदेखे से कौन प्रेम करे? अनदेखे, अनमिले साजनसे प्रेम करना बड़ा कठिन है। मनुष्यकी आँख झट देखे हुएमें चली जाती है, उसका मन देखे हुएमें चला जाता है। अनदेखे-अनमिले साजनके नामपर अपने समूचे जीवनको बिता सकना—यह कितनी कठोर तपस्या है और भक्त वही करते हैं—क्योंकि उनकी इसी तपस्यासे खुश होकर भगवान् उनको मिलता है।

ईश्वरकी भक्ति करो। तुम्हारा हृदय शुद्ध होगा, संसारका आकार छोड़ देगा और तुम्हें परमात्माकी प्राप्ति होगी। अब आओ, इस श्लोकसे निपटें। ये प्रेमी लोग जो बातचीत करते हैं, वह मामूली थोड़े ही होती है! वे देते हैं गाली और कहना पड़ता है—कि प्रेम कर रहे हैं।

मृगयुरिव कपीन्द्रं बिव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत - विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद्
यस्तदलमसित - सख्यैर्दुस्त्यजातत्कथार्थः॥ १०.४७.१७

एक सज्जन थे। जो चार जनोंके बीच बैठे हुए थे। एक अनजाना आदमी आकर उनके ऊपर नाराज होने लगा। वे सज्जन घबराये कि इतने लोगोंके बीचमें यह बेइज्जती करेगा, तो उन्होंने धीरेसे अपने पास वालोंसे कहा—यह हमारा बहुत प्रेमी है, प्रेमसे गाली दे रहा है। अब वह और गाली देने लगा कि नहीं-नहीं, इससे हमारा प्रेम नहीं है, यह हमारा दुश्मन है। सज्जनने कहा—हमारा इसका रिश्ता ही ऐसा है कि आपसमें गाली-गलौज करें। वह चिढ़ा। अब वह जितना गाली देता जाये, वह सज्जन उतना-उतना रिश्ता बताते जायँ कि इनकी बातका कोई ख्याल न करें। हम तो रोज सुनते हैं। अब चार-पाँच लोग मिल-मिलकर हँसें और यह चिढ़-चिढ़कर गाली देता जाये।

बस, गाली सुनकर मनुष्य दुःख बनावे, तो दुःख बनता है और सुख बनावे, तो सुख बनता है। वह तो इस बातपर निर्भर करता है, कि उसके मनमें मसाला क्या है। मनमें कड़वाहट ज्यादा होगी, तो तत्काल कड़वा हो जावेगा, और मिठास ज्यादा होगी। तो कड़वी-से-कड़वी चीजको भी अपने हृदयसे मीठा बना सकता है। यही तो देखना है—कि हमारे हृदयकी मिठास खत्म तो नहीं हो गयी? कड़वाहट निकल आती है क्या? नहीं, हम मिठाससे दबावेंगे उसको। ये प्रेमी लोग गाली देके बड़ा सुख मानते हैं।

आओ, अब श्रीकृष्णको दो-चार गालियाँ दिलवावें। हमारे यहाँ भिरावटी नामका एक गाँव है। हरिबाबा वहाँ जाकर रहते हैं। एक बार वहाँ रासलीला हो रही थी; उसमें गोपियोंका प्रसंग था। श्रीकृष्ण भगवान् आये गोपियोंसे मिलनेके लिए तो गोपियोंने अपना दरवाजा बन्द कर लिया और दो गोपियाँ सामने खड़ी करवा दीं—कि 'सखि! नन्दलाल न आने पावें।' अब श्रीकृष्णने आकर पाँव छुए—कि 'गोपियो, किवाड़ी खुलवा दो, हमें श्रीराधारानीसे मिलवा दो और वे गोपियाँ उनको डाँट-फटकारकर भगा देवें। अब जो महात्मा रासलीला देख रहे थे वे खड़े हो गये, और बोले—अरे, सर्वोत्तम भगवान् मिलनेके लिये आये हैं और ये गोपी इतनी दुष्ट हैं, कि घुसने नहीं देती हैं। वे तो महाराज! उठ गये रासमें-से।

प्रेमकी बात जुदा होती है और ज्ञानकी बात जुदा होती है। ब्याहमें ससुराल

जाते हैं, तो क्या-क्या गालियाँ सुननी पड़ती थीं! अब तो भाई, नये ढंगका ब्याह होता है, तो उसमें गालियाँ सुननेको क्यों मिलेगी? उसमें गालीका काम हो जाता है, लेकिन गाली सुननेको नहीं मिलती है। और पहले तो बस, गाली सुननेको मिलती थी, गालीका काम नहीं होता था।

गोपीने कहा—अरे भौंरे! तू जिस कृष्णका संदेश लेकर आया है और जिससे संधि करनेको कह रहा है, वह जन्म-जन्मका क्रूर है। वह अपनी इसी जन्ममें नहीं, पहले जन्मोंमें भी क्रूर था। एक गोपीने कहा—उद्धवजी, इसमें कृष्णका दोष नहीं; यह उसके कालेपनका दोष है। जो काले होते हैं, वे ऐसे ही होते हैं। मैंने सब कारे आजमाये हैं। कौआ ऐसा होता है, कोयल ऐसी होती है और भँवरा भी ऐसा ही है। रामने भी जो कुछ गलत काम किया, वह अपने कालेपनके कारण ही किया। वामनने भी जो कुछ काम किया, उसका कारण उसका कालापन ही था। अब हमने तो निश्चय कर लिया है—कि कृष्णकी बात ही क्या, अब जो कोई भी काला होगा, उससे ही मैत्री नहीं जोड़ेंगी। हमने तो कालेका ही परित्याग कर दिया। देखो तो राम को! उसने **मृगयुरिव कपीन्द्रं बिव्यधे लुब्धधर्मा**—बानरराज बालिको मार दिया। कैसे? कि **मृगयुरिव**—जैसे पत्तोंमें, पेड़में छिपकर कोई शिकारी अपने शिकारपर बाण चलाता है। जैसे कोई लुब्धधर्मा शिकारी हो, वैसे कृष्णने अपने पूर्वजन्ममें राम-रूप धारण करके बालिको बिना उसके किसी दोषके मारा था और क्या बतावें इसकी क्रूरता!

स्त्रियमकृत-विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्—एक स्त्री शूर्पणखा बेचारी इसके पास कामनासे आयी, और उसके नाक-कान इसने कटवा दिये! वह तो सुन्दर, स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ठ पुरुष देखकर विवाहका प्रस्ताव लेकर आयी थी। और इसने विवाहका प्रस्ताव लेकर आनेवाली स्त्रीको विरूप कर दिया कि हम तो ब्याह करेंगे ही नहीं, दूसरे से भी ब्याह करनेके योग्य नहीं छोड़ेंगे! यह स्त्री-द्वेषी है जन्म-जन्मका।

और भी देखो। **बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयदध्वाङ्क्षवद्यः**—बलि कितना भक्त था। भक्तराज बलिने अपना सर्वस्व दे दिया, किन्तु इसने क्या किया? जैसे कौएको रोटी खिलाओ, तो वह खुद तो खा लेता है और उसके बाद हजार-पाँच सौ कौए और बुलाकर ले आता है। उसने बलिका सर्वस्व ले लिया और बिलकुल कौएकी तरह उसको बाँधकर घेर लिया और रसातलमें जानेको बाध्य किया।

तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः—इसलिए अरे उद्धव! ओ भ्रमर! अब हम कालोंसे मैत्री करनेसे बाज आये। हमको नहीं चाहिए इनकी मित्रता।

बोले—फिर देवीजी! आप उनकी चर्चा ही क्यों करती हैं?

बोलीं—यह बात दूसरी है। **दुस्त्यजस्तत्कथार्थः**। हम उसको तो छोड़ सकती हैं, लेकिन उसकी कथाका जो अर्थ है—उसको नहीं छोड़ सकतीं। उसकी कथा करके, चर्चा करके समय बिता लेंगी अथवा उसकी कथा तो ऐसी है—कि उसे बड़े-बड़े लोग भी नहीं छोड़ सकते।

अब देखो, इस श्लोकका अर्थ दूसरे ढंगसे करते हैं। ऐसा मान लो कि गोपियोंको पता ही नहीं है—कि ये कभी राम हुए, कि वामन हुए। वे जानती हैं कि यह तो कृष्ण ही हैं, क्योंकि कोई तो मानते हैं—कि गोपियोंको ऐश्वर्यका ज्ञान है और कोई नहीं मानते। तो **मृगयुरिव कपीन्द्र बिव्यधे लुब्धधर्मा**।

कपीन्द्र माने वृषभ। व्रजमें जो अरिष्टासुर आया था, कृष्णने उसीके सींग उखाड़कर उसीसे उसको पीटकर मार दिया। भला बैलको मारना कौन-सा धर्म था?

लुब्धधर्मा अथवा अलुब्धधर्मा। भला शिकारी किसीको मारता है, तो क्या उसका मांस खाता है? बोले—उसको तो मांस भी नहीं खाना। व्यर्थ ही उसको मारता है।

स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्—अरे ओ मधुकर! ओ उद्धव! क्या बतावें? तुम्हें तो मालूम ही है कि मथुरामें एक स्त्री आयी। वह थी विरूपा-न रूप था, न सौन्दर्य था। कूबड़ी थी, कूबड़ी। लेकिन उसको उन्होंने कामिनी बना दिया। क्यों बनाया? वह तो बाल-ब्रह्मचारी हैं। स्त्रीजित हैं वे तो, हम जानती हैं। वे स्वयं तो स्त्रीके वशमें हैं और उधर कूबड़ी नामकी एक 'कामयानाम्' स्त्री पैदा कर दी है।

और भी सुनो! **बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद्**। देखो न, व्रजवासियोंके द्वारा दी हुई इन्द्रके नामकी जो बलि थी, उसको गिरिराज गोवर्धनकी पूजाके नामपर छुड़ा लिया और उसको गोवर्धनके नामपर खुद चटकर लिया। इन्द्रके अंशकी बलिको खुद खागया, और लोककी वंचना कर दी। ये काले कपटी होते ही हैं। इनसे मित्रता नहीं जोड़नी चाहिए। फिर भी उनकी कथा तो नहीं छूटती।

अब देखो, तीसरे ढंगसे इसको बैठावें। गोपीके कथनका तात्पर्य है—कि ईश्वरकी शरण ग्रहण करो। उसका नाम शरणागत-वत्सल है, वह तुम्हारे लिए सब

कुछ करनेके लिए तैयार रहता है। तो बोले—यह कैसे मानें—कि ईश्वर शरणागत-वत्सल है? कि पहले बात कही न, **किं नु संधेयमस्मिन्**—तुम क्यों नहीं अपना सर्वस्व समर्पण करके ईश्वरकी शरण ग्रहण करते। ईश्वरकी शरण ग्रहण करनेसे क्या लाभ है? ईश्वर तुम्हारा पक्षपाती हो जायेगा। ईश्वर पक्षपाती होकर क्या करेगा?

क्रोधो निरर्थको यस्य प्रसादोऽपि निरर्थकः—जो खुश होकर कुछ दे न सके और नाराज होकर कुछ बिगाड़ न सके, उसकी शरण लेकर क्या करना है?

नहीं-नहीं। वह खुश होकर इतना देता है कि अपने भक्तका सारा दोष अपने सिरपर ले लेता है। वह उसके लिए बदनाम भी हो जाता है, गलत काम भी करता है, लेकिन अपने भक्तकी रक्षा करता है। एक बार जिसकी बाँह पकड़ लेता है, उसको छोड़ता नहीं है। उसके लिए अकृत्य करके भी—कुकृत्य करके भी पकड़ता है उसे। वह कैसे?

मृगयुरिव कपीन्द्रं बिव्यधे लुब्धधर्मा—देखो न, जब सुग्रीव शरणमें आया, तो हाथ पकड़ लिया उसका—कि सुग्रीव! तुम मेरे सखा हो। कहाँ तो न्यायकारी, परम दयालु, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, परब्रह्म परमात्मा और कहाँ वानर सुग्रीव! और उसकी रक्षाके लिए **मृगयुरिव कपीन्द्रं बिव्यधे**—एक शिकारी सरीखा बन करके बालिको मारा। **अलुब्धधर्मा**—शिकारीकी तरह बनना उसके लिए कोई दोष है? दोष नहीं।

अच्छा! और भी कोई ऐसा अवसर आया, जब अपने शरणागतकी रक्षाके लिए ईश्वर छोटे-से-छोटा काम भी करता है? बोले—हाँ, है। **स्त्रियमकृतं स्त्रीजितः कामयानाम्**—सीताके वशीभूत है; **स्त्रीजितः**—श्रीरामचन्द्रकी वह प्रेमिका है, पत्नी है। जब उनके सामने शूर्पणखा आयी, **कामयानाम्** होकर—कि हम तो रामचन्द्रसे ब्याह करेंगे, लक्ष्मणसे ब्याह करेंगे—तो रामचन्द्रने सीताके चेहरेकी ओर देखा। कैसा मलिन हो गया था उनका चेहरा; कैसी मलिन हो गयी थीं उनकी आँखें। उनकी यह दशा देखकर जानकीकी रक्षाके लिए, उनकी प्रसन्नताके लिए उनका पक्षपात करके, अपने प्रेमी भक्तको सुख पहुँचानेके लिए **कामयानां स्त्रियं विरूपं अकृत**—उस चाहनेवाली स्त्रीको विरूप कर दिया। क्यों किया? कि भक्तवत्सल होनेके कारण किया। उनकी शरण ग्रहण करोगे, तो वे तुम्हारी रक्षा करेंगे।

बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद्ध्वाङ्क्षवद्यः—श्रीराधारानी-रूप ब्रह्मविद्या कहती है—ईश्वरकी शरण ग्रहण करोगे, तो तुम्हारा कल्याण होगा। परमात्मा तुमको मिलेंगे।

मिलेंगे राम, मिलेंगे राम, अवश्य मिलेंगे भगवान्।

देखो, जब बलिका राज्य हुआ और अदिति-कश्यप इन्द्र भगवान्की शरणमें गये, तब वामन रूप होकर भगवान् निकले। **ध्वाङ्क्ष जातियता**—कौओंमें जैसे जातयिता होती है न; कुत्तेको रोटी दी, और दूसरा कुत्ता आवे तो उसे भौंकता है, लेकिन कौएको रोटी दो, तो पुकार-पुकारकर दूसरोंको बुला लेता है—कि आओ, तुम भी खाओ—उसी तरह वामन भगवान्ने भी इन्द्र, अदिति, कश्यप—अपने शरणागत भक्तोंकी रक्षाके लिए बलिको घेर लिया और स्वयं छोटे हो गये। काहे के लिए? कि इन्द्रको राज्य देनेके लिए। वामन यद्यपि बलिके यज्ञमें आये, उनकी दी हुई भेंट स्वीकार की, उसका खाया-पीया फिर भी बलिको बाँध दिया। स्वयं राज्य नहीं लिया, लेकिन इन्द्रको राज्य देनेके लिए भगवान् बिलकुल पक्षपाती बन गये।

संसारमें तो जिनका दिल काला है, वे सब काले हैं। आपने सुना ही होगा। सरदार साहब अमृतसरके गुरुद्वारेमें जो सफेद पोशाक पहनकर चले गये, तो ग्रन्थीने कहा—सरदारजी! आपने आज सफेद पोशाक कैसे पहनी? आपकी काली पोशाक कहाँ गयी? वे बोले—ग्रन्थीजी! पोशाकमें क्या रखा है? दिल काला होना चाहिए, कपड़ा काला हो या सफेद हो!

तदलमसितसख्यैः—संसारके सब लोग कैसे हैं? वे सब कपटी हैं, कितव हैं, काले दिलवाले हैं। बस, बहुत हो गया; अब उनसे मैत्री मत जोड़ो। ऐसा सम्बन्ध परमात्माके साथ जोड़ो, कि उसकी कथा सुन-सुनकर उससे जो अर्थ निकले, वह दुस्त्यज हो जाये। जैसे चार लम्पट इकट्ठे होते हैं और वे स्त्रियोंकी चर्चा करने लगते हैं, उनको नया-नया मजा, नया-नया रस मिलता है, इसी प्रकार भगवान्के चार दीवाने भक्त इकट्ठे हो जावें, तो ऐसी चर्चा भगवान्के बारेमें करते हैं कि उस आनन्दको छोड़नेमें कष्ट होता है। देखो न अपने हृदयको; तुम्हें मजा किसमें आता है? भगवच्चर्चामें आता है, कि विषय-चर्चामें आता है? अपने आपको तराजूपर तौलो। **तदलमसित सख्यैः**—इसलिए अलम्, अलम्। **असित सख्यैः अलम्।** ये जो दुनियाके काले लोग हैं—काले दिलवाले, स्वार्थी, ये जो मतलबी यार—इनके साथ मैत्री करनेकी जरूरत नहीं है।

❋

अड़तीसवाँ प्रवचन

यदनुचरितलीलाकर्णपीयूष विप्रुट्सकृददन विधूत द्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति॥
१०.४७.१८

वयमृतमिव जिह्मव्याहृतं श्रद्दधानाः कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः।
ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्श - तीव्रस्मररुज उपमन्त्रिन् भण्यतामन्यवार्ता॥
१०.४७.१९

भ्रमरको 'द्विरेफ' कहते हैं। उसमें दो 'र' हैं; एक तो 'भ' में मिला है और दूसरा 'म'के बाद आया है। यह तो हुई शब्दकी बात; उसके रूपमें भी दो 'रेफ' होते हैं। उसकी दो टाँगें देखनेमें दो 'र' की तरह होती हैं। सब वर्णोंमें ककार-सकार होता है, सिर्फ र से रेफ बनता है, हालांकि 'रकार'का प्रयोग भी शास्त्रोंमें मिलता है।

जिनके हृदयमें प्रेमका उदय हो जाता है, उनको चेतन-अचेतनका ख्याल नहीं रह जाता कि किससे बात कर रहे हैं; पेड़से, कि पौधेसे, कि पशुसे या कि पक्षी से। असलमें पागलकी पहचान यही है—कि जो दूसरेके मनका बिलकुल ख्याल न करे और जो उसके मनमें भरा है, उसको ही उगलता रहे। यह जो गोपी है—यह कृष्णके भावमें ऐसी मग्न है, ऐसी पागल है, कि उसको दूसरी वस्तुका ख्याल ही नहीं है। सुनाये जा रही है भँवरेको, भँवरेके रूपमें आये हुए कृष्णको। उसे लगता है कि भँवरेके रूपमें स्वयं साँवरे सलोने पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण ही आगये हैं, क्योंकि भँवरा काला-काला तो होता ही है, बाँसुरी की तरह गुनगनाता भी है, फूल-फूलका रस लेता है, और एक जगह स्थिर होकर बैठता भी नहीं है। उसके मुँहमें पराग भी लगा रहता है, जो शरीरमें पीताम्बरके समान है। यह 'भ्रमर' शब्द 'भ्रमण'से बनता है।

अब आओ, आपको सुनावें कि गोपियाँ क्या कहती हैं। वे बोलती हैं—कि श्रीकृष्णकी लीलाने लोगोंका और खास करके साधुओंका सत्यानाश कर दिया। यह बात सब तो नहीं बोल सकते हैं न! **यदनुचरितलीला—यस्य अनुचरित लीला—** जिन्होंने लीला की। कैसी लीला की? उनके जीवन-चरित्रका उल्लेख करके बताती हैं। उनकी एक-एक लीला अद्भुत है। असलमें भगवान्‌को अवतार लेनेकी क्या आवश्यकता है? वे अपने संकल्पसे सब कुछ ठीक कर सकते हैं। पर अवतार

लिया। अवतार लेनेके लिए कोई अच्छी जगह नहीं चुनी, जेलमें अवतार लिया। आप हृदयमें, जेलखानेके भीतर भगवान्‌का दर्शन करो। यह किसी-किसी भाग्यशालीको ही हो सकता है कि वह जेलखानेमें ही भगवान्‌का दर्शन करे।

अच्छा, फिर वहाँसे भागकर रातों-रात दूसरेके घरमें जाना कौन-सा बढ़िया काम है? भगोड़ेपनका काम है। जहर पिलानेवालीको माताकी गति देना अद्भुत है। जड़वादका विध्वंस कर देना, छकड़ेको उलट देना और उसके ऊपर दूध-दहीको गिरा देना! कृष्णने कहा—मेरे ऊपर जड़ता! लकड़ी छकड़ा! और उसके ऊपर दूध-दही-घी भगवान्‌के ऊपर भला रसान्तर कहाँसे आवेगा?

ऐसी-ऐसी लीलाएँ की भगवान्‌ने! गोपियोंके घर गये कि चोरी करें। यह है अनुचरित लीला। चोरकी लीला है, जारकी लीला है, असत्यवाद की लीला है युद्धसे पलायनकी लीला है। लेकिन महात्माओंको इसमें न जाने क्या रस आया! असलमें जो लोग अपने संस्कारसे आक्रान्त हैं—यह अच्छा है और यह बुरा है—उनको तो इस लीलामें होगी चिन्ता और जो लोग संस्कार-मात्रको बाधित कर चुके हैं, उनको इस लीलासे क्या चिन्ता है! लीलासे चिन्ता तो तब होगी, जब अपने संस्कारके अनुसार भगवान्‌को चलाना चाहें। लेकिन अपने संस्कारसे आबद्ध तो जीव होता है। भगवान् तो किसी संस्कारसे आबद्ध नहीं होते हैं। उनके कर्ममें कर्तापन नहीं है। भगवान्‌के कर्ममें न तो कर्तापन है, और न उसके फलका भोक्तापन है। संस्कार नहीं है और कर्ममें, कर्तृत्व-बुद्धि नहीं है। अब यदि तुम भगवान्‌के कर्मको अपनी कसौटीपर कसना चाहो कि तुम्हारी किताबोंमें जो लिखा है, उसीके अनुसार भगवान् भी चलें—तो यह भगवान्‌के साथ नहीं, अपनी बुद्धिके साथ अन्याय है।

यदनुचरित लीला कर्णपीयूष विप्रुट्

यदनुचरितं पुनः पुनः चरितम्—एक बार नहीं, अनेक बार वही करते हैं। जाते हैं, आते हैं। यह 'यत्' शब्द 'एति' धातु से बनता है—**एति इति यत्**-जाता-आता है, जाता-आता है। यह जाना-आना क्या है? कि वे दोनों हाथोंसे पकड़कर हमको अपने हृदयसे लगा लेते हैं। **ली आश्लेषने लीला**—लीला माने जो हमको पकड़कर अपने दोनों हाथोंसे, अपने हृदयसे लगा ले। लीला वही नहीं, जो द्वापरमें हुई थी। वह तो बिलकुल परोक्ष है। वह लीला भी नहीं, जो मण्डपमें हुई थी। वह तो परोक्ष भी नहीं, प्रत्यक्ष भी नहीं; वह तो हमारी मानस शक्लमें हो रही है—सर्वथा अपरोक्ष है। ठीक है—वह भी काम-क्रोधादिके समान आने-जाने

वाली है। अपरोक्ष भी आता जाता है—यह साक्षात् अपरोक्ष, स्वस्थ रूप! तो सुनो और उसमें डूब जाओ!

देखो री, वह नन्द का छोरा, बर्छी मारे जाता है।
बर्छी सी तिरछी चितवन से पैनी छुरी चलाता है॥

और—*उर में सुन्दर श्याम गड़े।*

एक बार ब्रह्म-विषयक अज्ञान दूर हो जाने दो। केवल एक क्षणके लिए, एक क्षणके लिए नहीं, तो एक क्षणके लक्षांश, सहस्रांशके लिए भी यदि एक बार ब्रह्मात्मैक्य बोध हो गया, तो ब्रह्मको दिलमें गड़ा कर रखनेकी जरूरत कहाँ है? वहाँ तो थोड़ी-सी शंका है—कि कहीं वह छूट न जाये! कहीं ब्रह्म छूट न जाये—इसी शंकाके मारे पकड़े रहते हैं कलेजे से! नहीं तो पकड़ रखनेकी क्या जरूरत है?

यह लीला क्या है? कि वह **कर्णपीयूष** है। कानोंके लिए अमृत है। स्वर्गादिमें जो अमृत है, वह तो केवल आँखके लिए होता है। यह चन्द्रमासे चाँदनी गिरती है न—यह आँखोंके लिए अमृत होती है। कोई जीभके लिए अमृत होता है, और यह जो भगवान्‌की लीला है, यह कानोंके लिए अमृत है। इसको न चखनेकी जरूरत है, न देखने की जरूरत है। **कर्णपीयूष विप्रुट्**—विप्रुट् माने एक फुहिया। बिन्दु नहीं, बिन्दुका शतांश, सीकर। और वह भी केवल एक बार!

सकृददनविधूत द्वन्द्व धर्मा विनष्टाः।

एक बार, केवल एक बार जिसने इस कर्णपीयूषकी बिन्दुका शतांश खा लिया, एक बार उसका स्वाद ले लिया—उसके द्वन्द्व-धर्म छूट गये। द्वन्द्व-धर्म माने यह स्त्री है, यह पुरुष है; यह पाप है, यह पुण्य है; यह राग है, यह द्वेष है। द्वन्द्व किसे कहते हैं? **द्वौ इति द्वन्द्वम्।** जो दो-दो एक साथ हों; पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःख, स्त्री-पुरुष—इसका नाम होता है द्वन्द्व। तो द्वन्द्वके जो धर्म हैं, उनका तिरस्कार हो गया। अरे भौंरे, यह क्या ब्रह्मज्ञानकी महिमा सुनाते हो? यहाँ तो—

यदनुचरित लीला कर्णपीयूष विप्रुट् सकृददन।

एक बार, केवल एक बार इसका स्वाद आया और द्वन्द्व-धर्म मिट गया। घर गृहस्थी खत्म! क्या हुआ? सत्यानाश हुआ। दुनियाकी दृष्टिमें आदमी कुछ नहीं रहा। बाबाजी हो गया। न खेती करे, न गृहस्थी करे, न ब्याह करे, न बच्चे पैदा करे, न धन पैदा करे, न नेतागिरी करे। अब तो उसके लिए कोई जगह ही नहीं रह गयी।

देखो, इसका एक उदाहरण बताते हैं। जो बाबाजी लोग हों, सब छाती ठोंककर देख लें। क्या वे सब भगवान्‌के दर्शन करके तब बाबाजी हुए? माने

पहले भगवान्‌का दर्शन हुआ, तब बाबाजी हुए? नहीं, सुन-सुनकर बाबाजी हुए। जितने लोगोंने अपने द्वन्द्व-धर्मका परित्याग किया, और जो संसार-दृष्टिसे विनष्ट हो गये—वे सब कथा-श्रवणसे ही हुए। महन्त होनेके लिए बाबाजी नहीं हुआ जाता, छत्र-चँवर लगानेके लिए बाबाजी नहीं हुआ जाता, बाबाजी तो खाकमें मिल जानेके लिए होता है।

सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना—वे स्वयं दीन हो गये। कुछ नहीं रहा उनके पास। और खुद ही दीन नहीं हुए-**गृह कुटुम्बं दीनमुत्सृज्य**—घर परिवारको भी दीन बना दिया। तत्काल, **सपदि, दीनं गृहकुटुम्बं उत्सृज्य, स्वयं दीना**-मैया रोती रह गयी, बाप समझाते रह गये, बना-बनाया घर ज्यों-का-त्यों धरा रह गया। ब्याही पत्नी बिलखती रह गयी, बेटा रोता रह गया।

बहव इव विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति—ये भिखारी बाबा बन गये। कैसे भिखारी हुए? क्या भगवान्‌को देख-देखकर हुए? नहीं देखकर तो नहीं हुए, सुनकर हुए। उसके सुननेमें इतना जहर था! इतना सत्यानाशी है उसका सुनना! अब कैसे रहते हैं वे? कि चिड़ियोंकी तरह रहते हैं। जैसे पक्षी वृक्षके आश्रयसे रहता है, वैसे वे पेड़के नीचे, पेड़के सहारे अपना जीवन व्यतीत करते हैं और पेड़का फल-फूल खाकर रहते हैं। **विहङ्गा** माने? **विहाय सा गच्छन्ति इत विहङ्गा।** एक विहंगम मार्ग है, एक पिपीलिका मार्ग है। बाबाजी लोग विहंगम मार्गपर चलते हैं। उड़नेके लिए उन्हें कोई रास्ता नहीं, धरतीपर पाँव नहीं पड़ते हैं, और भीख माँगकर खाते हैं। घर-गृहस्थी छोड़ देते हैं और अपने पास उनके कुछ है नहीं।

अकिञ्चनो अनन्यगति शरण्यो शरणं प्रपद्ये।

अब जबतक कुछ थोड़ा-सा अपने पास रखकर नहीं चलते हैं भगवान्‌के पास, जबतक अकिंचनता नहीं आती, तबतक अनन्यगतिता नहीं आवेगी। यह कहाँसे आवेगी? इसको बोलते हैं व्याजस्तुति। देखनेमें साफ मालूम पड़ रहा है कि **भगवदनुचरित लीला कर्णपीयूष विप्रुट्**—भगवदनुचरितकी निन्दा की जा रही है; बाबा जी लोगोंका सत्यानाश हो गया, उनके घर-द्वारका सत्यानाश हो गया, रहनेके लिए घर नहीं। इतना बड़ा त्याग, इतनी बड़ी भगवत्परता आयी कहाँसे? बोलते तो हैं निन्दाके स्वरमें, लेकिन है यह भगवच्चरितकी स्तुति। ऐसी स्तुति आप लोग स्वीकार करनेको तैयार हैं? वेदान्ती लोग पहले हलवा-पूरी खा लेते हैं और फिर चर्चा करते हैं—कि प्रपंच मिथ्या है। और यदि कोई गाली दे जाय न, तो आकाश-पाताल सब सत्य हो जाता है।

असलमें आत्मतत्त्व बड़ा दुःखगम्य है, दुर्बोध है। उसीका ज्ञान करानेके लिए भगवान् शरीरधारी होकर आते हैं। और चरित्र जो उनका है—वह महान् अमृतका समुद्र है। अब उस चरित्रमें जब डुबकी लगाने लगते हैं, तो क्रमशः परिवर्जन हो जाता है। कोई श्रम नहीं रहता, सारा श्रम डूब गया! हमको मोक्ष चाहिए? कि नहीं चाहिए। एक सेवक सेवा करता है। कहता है—वह दिन कब आयेगा, जब हम स्वामीजीकी सेवासे मुक्ति पा जावेंगे, हमको पेंशन मिल जावेगी और हम अपने घरमें खूब मौज से रहेंगे! तो वह सेवक क्या हुआ? जो लोग भगवद् भक्ति करके मुक्ति चाहते हैं, वे सेवा छोड़कर पेंशन ही चाहते हैं। प्रेममें मुक्ति नहीं चाहिए, प्रेममें बन्धन चाहिए। जन्म-जन्मके लिए, अनादि-अनन्त काल तकके लिए अपने प्रियतमके साथ बँध जावें। वह अपवर्ग, जिसमें **अपवर्जनम्** अपवर्गका निषेध हो जाता है—निषेधावधि ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं चाहिए। **अपगतो वर्गः**—जिसमें ऊपर-नीचेका भेद न हो। **नास्ति पवर्गो यस्य। अपवर्जनं अपवर्गः। अपगतो वर्गः अपवर्गः।** पाप-पुण्य, अघ-बन्ध, भोग-मोक्ष—ये सब जिसमें नहीं हैं उसका नाम है अपवर्ग। हमको कुछ नहीं चाहिए; हमको चाहिए संतोकी चरण-रेणु, जिनके पास भगवान्का चरित्र सुननेको मिलता है। यह बात आप पक्की गाँठमें बाँध लो—चाहे जितना विवेक करो और चाहे जितनी ऊँची-ऊँची बातें अंतःकरणावच्छिन्न, विषयावच्छिन्न चेतनाकी, एकताकी करो, भले ही घटाकाश-मठाकाश-महाकाशको एक कर लो लेकिन संसारमें जो आसक्ति है, उसको छुड़ानेकी सामर्थ्य अगर कहीं है, तो वह केवल भगवान्की भक्तिमें है। संसारकी आसक्ति भगवद्भक्तिके बिना छूट सकती नहीं। उसको विवेकसे छोड़नेका प्रयास करोगे, तो जब ज्यादा प्रलोभन सामने आवेगा, तो थोड़ी देरके लिए विवेकको उठाकर अलग रख देगा, और तुम प्रलोभनके वशमें हो जाओगे। पर यदि भगवान्के चरित्रमें आसक्ति हो जाये, तो संसारकी आसक्ति कुछ नहीं बिगाड़ सकती है, कुछ नहीं कर सकती है। और आलतू-फालतू बातें करते रहते हैं हम। जीवनमें कोई आनन्द, कोई मजा, कोई मस्ती हो—वह तो आती ही नहीं! केवल एक परमात्माकी आसक्ति ही असलमें संसारकी सम्पूर्ण आसक्तियोंसे मुक्त कराने वाली है।

❋

प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं
वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग।
नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं
सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते॥ १०.४७.२०
अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु॥ २१॥

वृन्दावन धाममें एक-एक वस्तु अद्भुत है। **वृन्दावनस्था तरवः सर्वे चाधोमुख स्मृतः।** कहते हैं—कि वृन्दावनके सब वृक्ष नीचेकी ओर देखते हैं। सब अधोमुख हैं। क्यों? कि उनके नीचे साक्षात् परब्रह्म, नराकृति, साँवरा सलोना व्रजराजकुमार खेलता है। तो ईश्वर ऊपर हो—तो ऊपर देखें, और नीचे हो—तो नीचे देखें। जहाँ ईश्वर ऊपर हो तो ऊपर देखें, और नीचे हो तो नीचे देखें। जहाँ ईश्वर दीखे, वहाँ देखना चाहिए। वृन्दावनमें पक्षियोंके रूपमें बड़े-बड़े ऋषि-मुनि हैं। वहाँकी गौओंके रूपमें उपनिषद् हैं, गोपियोंके रूपमें वे श्रुतियाँ हैं, जो साक्षात् ब्रह्मका ही प्रतिपादन करती हैं। पद्मपुराणमें ऐसा प्रसंग आता है, कि बहुत-सी श्रुतियाँ शरीर-धारिणी होकर तपस्या करती हैं—कि हमारा संग श्रीकृष्णके साथ होवे। एक बार अगस्त्य ऋषि भ्रमण करते हुए एक सरोवरके पाससे निकले, तो देखते हैं—एक तपस्विनी बैठी है—गौर वर्ण, अत्यन्त कृश, एक वस्त्र धारण किये हुए। सिरपर जटा है, बड़ी तेजस्विनी; उन्होंने जाकर पूछा—देवि, तुम कौन हो? वह बोली—मैं ब्रह्मविद्या हूँ। दूसरी ओर दूसरी तपस्विनी बैठी थी। पूछनेपर उसने कहा—मैं गायत्री हूँ। तो वही सब—कुंडविद्या, रंगविद्या-सखियाँ बनकर व्रजमें प्रकट होती हैं। गोपियोंकी स्थिति उन लोगोंकी अपेक्षा कुछ विलक्षण है, जो नेति-नेति करके दृश्य प्रपंचका निषेध करते हैं और आत्माके रूपमें परमात्माका अनुभव करते हैं। यह साधनकी दशा है, जिज्ञासाकी दशा है। जब दूसरा मानते हैं, तब ही उसका निषेध करते हैं न! जहाँ दूसरा है नहीं—वहा निषेध किसका? इसलिए कहते हैं—ब्रह्मविद्या जो है, अपरिच्छिन्न तत्त्वकी विद्या जो है—वह प्राप्त होनेसे दूसरेका निषेध हो जाता है, केवल अपना आपा रह जाता है।

उसके बाद विषयके रूपमें जो भासता है, वह भी अपना आपा ही है, वह भी ब्रह्म ही है। ब्रह्मके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। ऐसी स्थितिमें न केवल द्रष्टा ही ब्रह्म होता है, बल्कि दृश्य भी ब्रह्म ही होता है।

संसार और ब्रह्मका भेदक है अज्ञान और अज्ञान निवृत्त होनेके बाद जो दृश्य प्रपंच है, वह साक्षात् ब्रह्मविद्या जगत् है। यह जो राधा-कृष्णकी लीला है, यह अज्ञान-निवृत्तिके अनन्तरकी है। इसलिए यहाँ राधा-ब्रह्म है, कृष्ण भी ब्रह्म, लीला ब्रह्म, नाम ब्रह्म, रूप ब्रह्म—सब ब्रह्म ही है। यहाँ निष्क्रिय ब्रह्म नहीं है, क्रियाशील ब्रह्म है; शान्त ब्रह्म नहीं, स्फुरणशील ब्रह्म है; स्फुरणात्मक ब्रह्म अनुभूत हो रहा है।

अब समझो—एक प्रकारसे संसार छूट गया और ब्रह्ममयी सृष्टिमें वृन्दावन धाम है।

कदम कुंज ह्वै हौं कबहुँ या वृन्दावन माँहि।
ललित किशोरी लाड़िले विहरेंगे तेहि छाँह॥

चलो वृन्दावन धाममें। गोपी-उद्धव एक ओर हैं वहाँ, और एक गोपी दिव्योन्मादकी दशामें एक भँवरेको देखकर बोल रही है—यह भ्रमर है। इसकी दाढ़ी-मूँछमें पीला पराग, इसका शरीर साँवला, इसके मुखमें संगीत! देखो न; हम लोग भँवरेको देखेंगी, तो हमें कृष्णकी याद आवेगी न! हम भी तो आखिर मनुष्य हैं, हमारे भी तो आखिर समझ है!

भ्रमरको देखकर श्रीकृष्णमें इतना तन्मय हो जाना—यह कोई मामूली बात नहीं है। और फिर अपने आपको भूल जाना। संसारको भूल जाना—प्रेमकी कितनी ऊँची स्थिति है।

अच्छा फिर भ्रमरको बात क्या कही गयी? जितनी भी बात कही गयी, कृष्णके सम्बन्धमें कही गयी। प्रेमियोंकी दशा ऐसी होती है, कि वे अपने मनमें गढ़ लेते हैं—कि वे यह कहते होंगे, यह कहते होंगे! वे ऐसे रहते होंगे। कई प्रेमी दुःखी भी होते हैं, क्योंकि उनका मनोराज्य गलत दिशामें चला जाता है। कई प्रेमी सुखी होते हैं, क्योंकि उनका मनोराज्य सही दिशामें चलता है। जब श्रीराधारानी होश-हवासमें रहती हैं, तब वे सोचती हैं—कि हमारे प्यारे जबसे हमको छोड़कर मथुरा गये हैं, तबसे उन्होंने आँख उठा करके किसी स्त्रीकी ओर नहीं देखा। वे मन-ही-मन हमारा स्मरण करते रहते हैं। हमको छोड़कर किसी दूसरी जगह उनको सुख मिलता ही नहीं। और जब प्रेमके नशेमें होश खो बैठती हैं, तब ऐसे

सोचती हैं—कि वह रसिया, वह छलिया, वह मिठ बोला हमको छोड़ करके चला गया। वह तो वहाँ आनन्दमें बैठा है और हम यहाँ तकलीफ भोग रही हैं। नहीं जरूरत है हमें उसकी।

प्रेमकी एक उन्माद दशा होती है—कि दोष दिखता है और प्रेमकी एक अनुकूल दशा होती है, जिसमें गुण दिखता है। श्याम सुन्दरके साथ इन बातोंका कोई सम्बन्ध है? जहाँतक प्रेमके साथ सम्बन्ध है—वही श्रीकृष्णके साथ सम्बन्ध है, दूसरा नहीं। यहाँ श्रीकृष्णके बारेमें जितनी कल्पनाएँ की गयी हैं—कि वहाँ कई स्त्रियाँ हैं और श्रीकृष्णने कोई बड़ा भारी अन्याय किया है—ये सारी बातें उन्माद की दशामें कही गयी हैं। यह कोई बात श्रीकृष्णमें नहीं है।

अब देखो, मनोराज्यकी दशा बदलती है। भँवरा थोड़ी देर इधर-उधर घूमकर फिर उड़कर आया, तो क्या ख्याल हुआ? कि पहले हमारे प्यारे ने भँवरेको जब भेजा था, तो हमने डाँट-फटकारके और उसकी खूब निन्दा करके उसको लौटा दिया था। तब इसने जाकर उनसे कहा कि आप हमको जिस गोपीके पास भेजते हैं, वह आपको गाली देती है; कहती है—पूर्वजन्ममें भी आप क्रूर और कठोर थे। आप शूर्पणखाको मारने वाले थे, और कौएकी तरह बलिको बाँधने वाले थे। वह कहती है—कि मेरे सामने कालेका नाम मत लो। तो श्यामसुन्दर! वह तो तुमसे प्रेम नहीं करती है। तुम्हारे अन्दर झूठे दोष निकालती है, तुम्हारे नामके साथ निन्दा जोड़ती है। अब मैं उसके पास नहीं जाऊँगा। तो भँवरेकी बात सुनकर हमारे प्यारे हँसने लगे—कि अरे भँवरे! तू तो आखिर डेवढ़ा पशु है न! षट्पद! तू क्या जाने प्रेमकी बात। देख, एक तो मैंने उनके साथ इतना अन्याय किया कि उनको छोड़ दिया, तब भी वे दिन-रात मेरे ही चिन्तनमें लगी हुई हैं। सच पूछो, तो गोपी सरीख हमारा प्रेमी और कोई नहीं है। तो तू लौट कर जा, मित्र! अबकी हमारी गोपीको लेकर ही आना। श्यामसुन्दरने हमारी गालीका, हमारी निन्दाका, हमारे कठोर वचनोंका कुछ भी ख्याल नहीं किया। फिरसे उसे हमें बुलाने भेजा है। तो जरूर हमारे श्यामसुन्दर हमसे बहुत प्रेम करते होंगे। अब मनोराज्यकी दिशा बदल गयी, तो **प्रिय सख** कहा!

देखो, गोपीने पहले भँवरेको **कितवबन्धो** कहा था—तू कपटीका मित्र है। और अब? **प्रिय सख**—हमारे प्यारेका मित्र है। **प्रियस्य सखा त्वं उद्धव**—हे प्रिय सखा। प्रिय किसको कहते हैं? जिसको देख कर आँखोंकी तपन बुझ जाए। **प्रियाति**—जो तृप्त कर दे, उसका नाम प्रिय। जिसको छू कर त्वचाकी जलन बुझ

जाय। जिसकी वाणीसे कानमें अमृत घुल जाय, जिसके स्मरणसे हृदय आनन्दसे, प्रेमसे भर जाय, उसका नाम है प्रिय। तुम उसके सखा हो। शक्ल भी वैसी, वेष-भूषा भी वैसी। उद्धवजी भी तो वैसे ही आये हैं न! तो गोपी बोलीं—हमारे इतना फटकारनेपर भी, दुतकारनेपर भी, भगाने पर भी तुम फिर आगये। मालूम पड़ता है कि हमारे प्रेयाण जो श्यामसुन्दर हैं न, वे हमसे अभी भी प्रेम करते हैं।

अब शब्द बदल गया न! **प्रेयसा प्रेषितः किं**—हमारे प्रेयान्‌ने तुम्हें फिरसे भेजा है। 'प्रिय' शब्दमें 'अतिशय' अर्थमें फिरसे जब प्रत्यय होता है, तब प्रेयान् शब्द बनता है। **अतिशयेन प्रिय प्रेयान् तेन प्रेयसा**—हमारे अतिशय प्यारे! जिसके लिए हमारा रोम-रोम व्याकुल है, जिसके बारेमें हम यह सोचते रहते हैं—कि हमारे बिना उसको ताजा मक्खन कौन खिलावेगा, हमारे बिना उसके सुखका ध्यान कौन रखेगा; हम उससे छेड़-छाड़ करती हैं, तभी वह सुखी होता है, हमारे बिना जो कभी सुखी होता ही नहीं; जिसके लिए हम व्याकुल हैं—हाय-हाय! मथुराके लोगोंने बलात् उसको घेर लिया है। हमारा प्यारा, वह अतिशय भोला है। वहाँ जानेपर लोगोंने कह दिया—तुम ग्वाले नहीं हो, यदुवंशी हो—तो उसने सोचा कि हमारी जाति ऊँची हो गयी। हम उन्नत हो गये। बोले—यहाँ राजा हैं, तो क्या हुआ! तुम जैसे कहोगी, वैसे काम करेंगे। राजा तुम्हारे अधीन रहेंगे। मथुरावासियोंने उसकी जाति बढ़ा दी, राज्यका लालच दे दिया। बड़े-बड़े राजाओंकी कन्याओंसे विवाह करनेके लिए ललचा रहे हैं। हम जानते हैं—मथुराके लोग फँसाकर रखना चाहते हैं। फिर भी उसकी प्रसन्नता तो तभी होगी, जब वह हम लोगोंके बीचमें आवेगा। हमारे बिना कभी उसका हृदय प्रफुल्ल नहीं हो सकता। इसीलिए देखो! तुमको फिरसे भेजा है।

वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग।

मेरे प्यारे भ्रमर! आप क्या चाहते हैं? जो तुम्हारी इच्छा होवे, सो हम देनेको तैयार हैं, क्योंकि तुम हमारे प्यारेके भेजे हुए, उन्हींकी शक्ल-सूरत वाले हमारे बीचमें आये हो। प्यारेका भेजा हुआ व्यक्ति भी बहुत प्यारा होता है। तुम हमारे माननीय हो।

अब भ्रमर गुनगुनाया। तो बोलीं—हाँ, हम समझ गयीं। तुम कहते हो—कि देवी! हमें कुछ नहीं चाहिए। हम वह सेवक नहीं हैं, जो पुरस्कार लेकर सेवा करे। हम श्रीकृष्णके निष्काम भक्त हैं, और श्रीकृष्ण भी यह जानते हैं—कि कुछ ले-देकर काम करनेवाला यह भ्रमर नहीं है। यह कोई हमारा नौकर नहीं है, यह तो हमारा प्रेमी है।

अच्छा, तो तुम क्या चाहते हो?

'देवी! अगर तुम प्रसन्न हो और हमारा अनुरोध मानती हो—तो अभी चलो मथुरा। चलकर श्याम सुन्दरसे मिलो।' यही खबर लेकर तुम आये हो और यही कह रहे हो न! देखो भ्रमर! हम बात तो तुम्हें दे चुकीं। अगर जिद करोगे, तो चलना भी पड़ सकता है, लेकिन हमें उसके पास क्यों ले जाते हो?

नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वम्—उसके साथ तो कोई-न-कोई द्वन्द्व लगा रहता है। पार्श्व माने बगलमें; पार्श्वकी जो हड्डियाँ हैं न, उन्हें **पार्श्वास्थि** बोलते हैं। उसके पार्श्वमें द्वन्द्वका त्याग कभी नहीं होता। हर समय उसके बगलमें कोई-न-कोई श्रीमतीजी लगी रहती हैं।

अब देखो, फिर मान हो गया! तो बोले—नहीं देवी! यह बात बिलकुल झूठी है। कोई उसके साथ नहीं है। वह बिलकुल एकान्तमें, केवल तुमसे मिलेगा।

बोलीं—क्यों झूट बोलते हो? **सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते।** हे सौम्य! हे भ्रमर! तुम बहुत भोले हो। क्या तुम्हें मालूम नहीं कि उसके वक्षःस्थलपर उसकी पत्नी लक्ष्मी हमेशा बैठी रहती है? वह अकेला तो कभी रहता ही नहीं। अब हमको उसके पास क्यों ले चल रहे हो?

अब दूसरी बात देखो—

प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग।

स्वयं भगवती श्रुति ब्रह्मविद्या जीवसे कहती है—जीव और ईश्वर दो सखा हैं, एक पेड़पर दो पक्षी हैं। जाति एक है—**सुपर्णा। सयुजा**—दोनों आपसमें मिले रहते हैं, **सखाया**—और आपसमें मित्र है। यह बड़ी भली बात कही गयी है। यह संसार है वृक्ष। संसारको वृक्ष क्यों कहते हैं? एक होती है औषधि और एक होता है वृक्ष। जौ है, गेहूँ है, मटर है, चना है—इसको औषधि बोलते हैं। एक बार जब इसमें फल लग लेता है, तो उसके बाद यह सूख जाता है, इसको काटो, चाहे न काटो। और वृक्ष एक बार फल देनेके बाद नष्ट नहीं होता है, फिर-फिर फल देता है। **व्रश्टु छेदने वृष्यते इति**—जिसको काटना पड़े—उसका नाम वृक्ष होता है और जो बिना काटे ही सूख जाये, उसको औषधि-वनस्पति कहते हैं। यह जो संसार है, वह वनस्पति नहीं है, वृक्ष है। अगर तुम चाहो—कि यह अपने आप कभी-न-कभी मिट जायेगा, तो अपने आप कभी नहीं मिटता। जैसे वृक्षको प्रयत्न करके काटना पड़ता है, वैसे **असंग शस्त्रेण दृढेन छित्वा**—असंग रूपी दृढ़ शस्त्रसे इसको काटना पड़ता है। इसका नाम वृक्ष है—संसार है।

ऐसे समझो—कि यह परदेश है और पता लगा कि इसमें हमारी जातिका एक व्यक्ति और रहता है। अच्छा, कौन है भाई? बोले—जिस देशके हम हैं—उसी देशका है। उस देशमें भी जिस जातिके हम हैं, उसी जातिका है। तब तो जरूर उससे मिलना चाहिए न। बादमें मालूम हुआ—अरे, वह तो हमारा मित्र ही है। अजी वह तो वही है, जिसको छातीसे लगाकर सोया करते थे। परदेशमें ऐसा कोई मित्र मिल जावे—जो हमारे देशका हो, हमारी जातिका हो, हमसे प्रेम करनेवाला हो, हमारे हृदयसे लगकर सोनेवाला हमारा मित्र हो—तो वह कितनी खुशीकी बात है!

यह जो जीव है—यह ईश्वरका सखा है। अभिज्ञात ईश्वर है और पुरञ्जन जो जीव है—वह उसका सखा है। श्रीमद्भागवतमें उसका प्रसंग बताया हुआ है। इसलिए हे जीव! हे ईश्वरके प्यारे सखा! **पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं वरय**—तुम्हारे प्यारे सखा ईश्वरने तुमको पुनः संसारमें भेजा है, मनुष्य बनाया है। पहले तुम पशु रह चुके हो, पक्षी रह चुके हो, कीड़े-मकौड़े रह चुके हो।

वरय किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग—जिसके भेजे तुम आये हो, उसको वरण कर लो। उसीको प्यार करो। उस प्यारेके भेजे हुए मेरे प्यारे! तुम किसी दूसरेसे प्यार मत कर बैठना। अगर ईश्वरको छोड़करके किसी दूसरेसे प्यार करोगे, किसी दूसरेको वरमाला पहनाओगे, तो अन्तमें दुःख मिलेगा। **प्रियं त्वां रोत्स्यति**—श्रुति कहती है—कि अगर तुम ईश्वरको छोड़कर, तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ—दोनोंकी एकताको छोड़ करके किसी औरसे प्रेम करोगे, तो वह तुम्हारे लिए बन्धन सिद्ध होगा, तुम्हारे लिए रुलानेवाला सिद्ध होगा। इसलिए **त्वमेव प्रेयसां वरय**—उसीको अपने प्रेयानके रूपमें वरण करो।

किमनुरुन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्गः।

प्यारे जीव! क्या तुम्हारा कोई अनुरोध है? क्या ऐसी कोई चीज है, शक्ति है—जिसको तुम अपनी वासना पूरी करनेके लिए चाह रहे हो? नहीं, देखना जीव! ऐसी कोई चीज मत चाहना। तुम हमारे माननीय हो।

बोले—हे श्रीमती ब्रह्मविद्या देवी! हम तो यही चाहते हैं कि हमको आत्मा और परमात्माकी एकताका अनुभव हो जाये। हमको भी ब्रह्मज्ञान हो जाये।

बोले—भाई—**नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वं-दुस्त्यज द्वन्द्व पार्श्वं अस्मान् प्रति कथं नयति**। देखो, जो साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होता है, उसको तत्त्वज्ञान कराना हमारा काम है, लेकिन तुम्हारा मन तो अभी संसारके द्वन्द्वोंमें

भटक रहा है। ऐसे मनको लाकर तुम हमारे साथ क्यों जोड़ते हो? पहले अपने मनसे सुख-दुःख, राग-द्वेष, स्त्री-पुरुषके द्वन्द्वोंको बाहर निकालो और शुद्ध होकर हमारे पास आओ। हम तुमको ईश्वरसे मिला देते हैं, क्योंकि जबतक साधक सच्चे हृदयसे ईश्वरको वरण नहीं करता, तबतक उसको ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होती। मेरे प्यारे जीव! अभी तुम्हारे मनमें द्वन्द्वकी तृष्णा लगी हुई है। इसीलिए तुम्हारे लिए विलम्ब हो रहा है।

बोले—औरोंको भी तो ईश्वरकी प्राप्ति होती है?

हाँ! और जिसको ईश्वरकी प्राप्ति होती है, उसे हमेशाके लिए हो जाती है। और वह ईश्वरके हृदयका भूषण, उसकी आत्मा हो जाता है, परन्तु एक बार सबको छोड़कर ईश्वरका वरण करना पड़ता है। कैसे?

सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते।

दुर्वासा आदि तपस्वियोंको, मार्कण्डेय आदि दीर्घजीवियोंको, रुद्र आदि संहारकर्ताओंको और ब्रह्मा आदि सृष्टिकर्ताओंको छोड़कर—समूची सृष्टिका परित्याग करके लक्ष्मीने अपनी वरमाला जब नारायणको पहनाई, तब उसको नारायणकी प्राप्ति हुई। इसलिए जीव! तुम भी दूसरी ओरसे अपनी आँख हटा करके एकमात्र परमात्माको चुनो, परमात्माका वरण करो। और मनमें जो द्वन्द्व हैं—उनको निकाल दो, तो अभी परमात्माकी प्राप्ति होती है।

अब फिरसे पहले प्रसंगको ले लो। श्रीराधारानी भ्रमरकी गुनगुनाहट सुनकरके बोलती हैं—कि देखो! जो हमारे प्राणनाथ हृदयेश्वर हैं, उनको मथुराके किसी भी प्राणीके नामसे नहीं पुकारा जाता है; कुब्जारमण कोई नहीं कहता—सारी सृष्टि राधारमण कहती है। विरहकी बेहोशीमें मैंने उनको बड़ी कठोर-कठोर बातें कहीं। वहाँसे आया दूत और हमने उसे फटकारना शुरू कर दिया। उनका कुशल-मंगल पूछकर, उनका सुख-दुःख पूछ करके उनके लिए कोई सुखका संदेश भेजना चाहिए। हमें उनके लिए कुछ आश्वासन देना चाहिए, जिससे हमारे विरहमें उनको कुछ कष्ट न हो और हमने तो बिलकुल उलटा किया। यह सोचते ही ऐसा प्रेमका वेग आया, कि वे अत्यन्त आर्त्त हो गयीं। गम्भीरता आगयी, दीनता आगयी, उत्कण्ठा आगयी और आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। सारे शरीरमें रोमांच हो गया। प्रेममें मग्न होकर भ्रमरसे बोलीं—हे भ्रमर! हमारे आर्यपुत्र इस समय आनन्दसे मथुरामें ही रह रहे हैं न! इसका अभिप्राय यह है, कि बीचमें विद्याध्यनन करने उज्जयिनी चले गये थे। तो अब वे वहाँसे लौट आये और मथुरामें रह रहे हैं

न! 'आर्यपुत्र' यह शब्द जो है—अकाट्य सम्बन्धका द्योतक है। यह रूढ़ि शब्द है। रूढ़िका क्या अर्थ है? अपने ससुरको 'आर्य' कहा जाता है, और उसके बेटेको आर्यपुत्र कहा जाता है। माने खास अपने पतिके लिए इस शब्दका प्रयोग होता है। संस्कृत भाषामें जितने नाटक हैं, सब नाटकोंमें पत्नी पतिके लिए 'आर्यपुत्र' शब्दका प्रयोग करती है। यह कोई मामूली सम्बन्ध नहीं है।

अच्छा, अन्य सम्बन्धोंको देखें। माताकी चर्चा आती है, तो कहते हैं कि मित्रसे जो सुख मिलता है, वह माता दे सकती है। स्वामीका सुख भी माता दे सकती है, और माताका जो अपना सुख है—सो भी माता दे सकती है। लेकिन पत्नीसे जो सुख पतिको मिलता है, वह सुख माता पुत्रको नहीं दे सकती है। शान्त रसमें तो भोक्ता और भोग्यका भाव ही नहीं है; वहाँ तो एकता है। दास्य रसमें सेवाका सुख मिलता है, लेकिन सख्यका सुख नहीं मिलता, परन्तु सख्यमें सेवाका सुख भी मिलता है, सख्यका सुख भी मिलता है और शान्तका सुख भी मिलता है, वात्सल्यरसमें शान्तका सुख भी मिलता है, दास्यका सुख भी मिलता है, सख्यका सुख भी मिलता है और वात्सल्यका अपना जो सुख है—वह भी मिलता है, परन्तु शृंगार रसका सुख उसमें नहीं मिलता—यह वात्सल्य रसमें न्यूनता है। यह ऐसे हैं—जैसे पृथिवीमें शब्द-स्पर्श-रूप-रंग-गन्ध पाँचों हैं, पर जलमें गंध नहीं है, अन्य सब हैं। जलमें जो गन्ध है, वह पृथिवीकी है। अग्निमें रस और गन्ध दोनों नहीं हैं। वायुमें रूप-रस-गन्ध तीनों नहीं हैं और आकाशमें स्पर्श-रूप-रस-गन्ध चारों नहीं हैं। इसी प्रकार रसोंमें जो शृंगार रस है, वह परिपूर्ण है। उसमें माताका वात्सल्य भी है, सखाकी मैत्री भी है, स्वामीका दास्य भी है, शान्त भी है और पत्नीका जो अपना रस है—वह और सब रसोंसे जुदा है। इसीसे मानते हैं—**शृंगार एव परो रसः।**

सब रसिकोंने यह स्वीकार किया है कि शृंगार रस सम्पूर्ण श्रेष्ठोंमें शृङ्गस्थानीय है—माने सबसे ऊँचा शृंग है। तो आर्यपुत्र कहकर पति-पत्नीका जो अकाट्य सम्बन्ध है, उसमें जो सर्वोपरि रस है—गोपियाँ उस रसके आस्वाद्य-आस्वादक भावको सूचित करती हैं—कि श्रीकृष्णके साथ हमारा यह सम्बन्ध है। निश्चय ही हमारे आर्यपुत्र मधुपुरीमें इस समय—**अधुनाऽऽस्ते** आनन्दके साथ रह रहे हैं। लेकिन क्या वे हमें छोड़कर अलग रह सकेंगे? नहीं रह सकेंगे। वे हमसे इतना प्रेम करते हैं कि अपने-आप ही एक दिन खिंचे हुए हमारे पास आजायेंगे।

स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूँश्च गोपान्। और बताओ सौम्य! मधुकर! क्या

वे अपने पिताके गेहका स्मरण करते हैं? यह 'गेह' क्या है? बोले—जहाँ-जहाँ श्रीकृष्णको सुख हो, वहीं-वहीं ले जाकर नन्दबाबा अपनी बस्ती बना देते थे। तो कितने गाँव हो गये? कितने गाँवका यह गोकुल है? महावन है, यमुनाघाट है, भाँडीर वट है, नन्दगाँव है, बरसाने है, गिरिराज है, वृन्दावन है! तो इतने गाँव नन्दबाबाके कैसे हो गये? बोले—वे देखते थे कि इस ऋतुमें यह गाँव श्रीकृष्णके लिए अनुकूल पड़ेगा, तो जहाँ-जहाँ श्रीकृष्णको सुख मिलनेका स्थान होता, वहीं जाकरके बस जाते।

गोपी पूछती है—कि उनके पिताजीने उनके लिए वर्ष-वर्षके लिए, ऋतु-ऋतुके लिए अलग-अलग रहनेकी जगहें बनायी हैं—उनका स्मरण क्या श्रीकृष्णको आता है? भूल गये? नहीं भ्रमर, भूल नहीं सकते। यह मथुरावासियोंका अनुमान बिलकुल झूठा है। वे आवेंगे, जरूर आवेंगे। इतना प्रेम वहाँ कौन करेगा? **बन्धूँश्च**—और यहाँ जो भाई-बन्धु हैं—सुनन्द हैं, उपनन्द हैं, महानन्द हैं, और जो गोप हैं—श्रीदामा हैं, सुदामा हैं, सुबल हैं, स्तोक-कृष्ण हैं, मण्डलीभद्र हैं; उनके जो तरह-तरहके सखा हैं—उनको क्या वे भूल सकेंगे? नहीं भूल सकेंगे। मधुकर! तुम लोगोंका, मथुरावासियोंका यह भ्रम है, कि वे हम लोगोंको छोड़कर हमेशा वहीं रह जावेंगे।

अच्छा, एक बात बताओ—**क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते**। हम जानती हैं कि वे हर समय हमारी चर्चा नहीं करते होंगे। जब राजसभामें बैठते होंगे—तो राजाकी तरह, जब पंडितोंमें बैठते होंगे—तो पंडितोंकी तरह चर्चा करते होंगे। वह तो सचमुच कोई त्रिभुवनजयी होता है, जो बड़े-बड़े विद्वानोंमें विद्वान्, गायकोंमें गायक और कलाकारोंमें कलाकार हो। मौनियोंमें मौनी हो, भोगियोंमें भोगी हो। **स्त्रीषु स्त्री युवतीषु युवाः**। जो सर्व अवस्थामें एक-सा रहे—ऐसा कोई धन्य होता है। हमारी चर्चा करनेका उनको कोई अवकाश नहीं मिलता होगा।

यह नहीं पूछती हैं—कि हमारी याद करते हैं कि नहीं! क्या पूछती हैं? कि तुम उनके बड़े मित्र हो, सखा हो; जब कभी वे एकान्तमें बैठ जाते हैं—कहीं यमुनाजीके तटपर, कहीं किसी वृक्षके नीचे, कहीं किसी लता-कुंजमें—तो हमारी कथा करते हैं? माने पण्डित लोग जब कथा करने लगते हैं, तो घंटों प्रवचन करते रह जाते हैं। वैसे तुमको लेकर कहीं एकान्तमें बैठते हैं—तो घंटोंका हम दासियोंकी—**किङ्करीणां**—चर्चा करते हैं? बड़ी विनयके साथ! देखो न! पहलेका जो बोलनेका ढंग था—**क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते**—जिसमें थकान न हो—सो कथा। जो थाक नहीं—सो कथा। जिसमें आदमी थके नहीं, न श्रोता थके,

न वक्ता थके—उसका नाम है कथा और जो सुननेवाला और बोलनेवाला—दोनों बोर हो गये—तो काहेकी कथा?

तो चलो—हम किंकरी हैं। जो मालिकके सामने हाथ जोड़कर खड़ा हो जाय और बोले—**किं करोमि**? मैं कौन-सी सेवा करूँ? आज्ञा कीजिये—उसको बोलते हैं किंकरी। यह कर दूँ, यह कर दूँ, यह कर दूँ? किम् करी पूछनेमें जो 'किम्' शब्दका प्रयोग किया है ना, प्रश्न जो है—उसका अर्थ यह होता है—कि ऐसी कोई सेवा नहीं, जो मैं नहीं कर सकती। जो सेवामें 'न' न बोल सके उसका नाम किंकरी। तो बोलीं—कभी-कभी एकान्तमें बैठकर इन किंकरियोंकी चर्चा भी करते हैं?

उत्तरोत्तर आर्तिकी कल्पना देखो। अच्छा, उनका कुशल-मंगल तो पूछना चाहिए न! आनन्दसे हैं मथुरामें? हाँ जी, आनन्दसे हैं। हम तो यही चाहते हैं कि वे आनन्दसे रहें। अच्छा, तो कभी अपने पिताजीको, पिताजीके घर-द्वारको स्मरण करते हैं? हाँ जी, स्मरण करते हैं। अच्छा उद्धवजी! यह बताओ—कि कभी ग्वाल-बालोंका भी स्मरण करते हैं? हाँ, करते हैं। अच्छा उद्धवजी! भले स्मरण न करते हों, कभी हम लोगोंका भी नाम लेते हैं क्या? कभी हम लोगोंकी चर्चा करते हैं क्या? वे सुखसे रहते हैं, पिता-माता, घर-द्वारका स्मरण करते हैं। और हमारी कथा भी करते हैं? यह बात अब मुँहसे निकली!

भुजमगरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु—वह दिन कब आवेगा हमारे जीवनमें—जब वे अपना भुजदण्ड—जो हृष्ट-पुष्ट, बलिष्ठ है न, जिसमें अगरु लगता रहता है, जिसमें-से बड़ी दिव्य सुगन्ध निकलती रहती है—हमारे सिरपर रखेंगे? देखो, 'सिरपर' ही बोलीं, बड़ी सावधान हैं वे। कहना चाहिए था—हमारे कंधेपर रखेंगे कभी? कभी हमारे साथ गलबहियाँ डालकर पहले सरीखी रासलीला करेंगे क्या? इसका अर्थ है—हमको अपनी समझकर हमारे साथ व्यवहार करेंगे क्या? सिरपर हाथ रखनेका अर्थ है—अभयदान करना, आत्मीय मानना। हम जिस विरहके भयसे इस समय भयभीत हैं, उसको दूर करनेके लिए क्या कभी वे हमारे सिरपर हाथ रखेंगे? क्या कभी हमको यह कहेंगे—कि गोपी! तुम तो अपनी हो। तुम्हारे मनमें झूठ ही यह शंका आगयी है कि कृष्णने हमको छोड़ दिया। अरे सखी! यह जो विरह आया था, यह तो हमारे संयोग-सुखको और बढ़ानेके लिए आया था—ऐसा आकर कभी वे बोलेंगे? हाँजी, बोलेंगे। कब बोलेंगे? **कदानु**? वह समय बता दो—आज, कल, परसों? इतने दिन तो हो गये!

*

चालीसवाँ प्रवचन

जो तत्त्वके जानकार हैं, वे कहते हैं कि पहले प्रेम होता है, उसके बाद स्नेह होता है, फिर प्रणय होता है। उसके बाद मान, फिर राग-अनुराग, फिर भाव-महाभाव। फिर महाभावमें मोदन और मादन; और मोहनमें दिव्योन्माद माने प्रेमकी पराकाष्ठा, और दिव्योन्माद दशामें जो अनेक लक्षण प्रकट होते हैं, उनकी अनिर्वचनीय गति है। उसमें सब भ्रम-ही-भ्रम मालूम पड़ता है। हर जगह प्रिय-ही-प्रिय मालूम पड़ता है, प्रियका दूत-ही- दूत, सब वस्तु प्रियकी ही मालूम पड़ती है। उसमें बेहोशी भी होती है और प्रलाप भी होता है। जो प्रलाप होता है, उसको प्रेमशास्त्रमें 'चित्रजल्प'कहा गया है। चित्रजल्प माने चित्र-विचित्र बोली; चाहे कोई अपने प्रियका मित्र होवे कि नहीं होवे—यह कल्पना हो जाती है, कि यह हमारे प्रियतमका मित्र है और उनके भेजनेसे हमें बुलानेके लिए आया है। दस प्रकारका जल्प—माने बोली होती है—प्रजल्प, परिजल्प, विजल्प, उज्जल्प, संजल्प, अवजल्प, अभिजल्प, आजल्प, अतिजल्प और सुजल्प। इसका भी भेद है—कि किस अवस्थामें पहुँची हुई प्रेयसी है, और कौन-सी बात बोलती है। इनमें-से यह आखिरी सुजल्प है—**यत्राजलाप सगांभीर्यं सदैन्यं सचापल्यं सोत्कंठं**—माने बढ़िया बात जो मुँहसे निकलती है—जिससे मालूम पड़ता है कि यह प्रेयसी अपने प्रेयान्के सम्बन्धमें कुछ गम्भीरतासे बोल रही है; कुछ विनय है बातमें, थोड़ी सरलता है, थोड़ी दीनता है, श्यामसुन्दरसे मिलनेके लिए उत्कण्ठा है और थोड़ा चांचल्य भी है। इस तरहकी बात जो की जाती है—उसको सुजल्प कहते हैं। माने आप इस समय भलमनसाहतके साथ बोल रही हैं—इसका मतलब यह हुआ। नहीं तो क्या गाली है महाराज—**मृगयुरिव कपीन्द्र विव्यधे लुब्धधर्मा**। कैसी लड़ाई है यह। जवाब देनेवाला कोई नहीं।

भौंरा गुनगुना रहा है। गुंजार करना उसका स्वभाव है। स्वामिनी श्रीराधारानी, प्रियाजी, किशोरीजीके चरणोंके लाल-लाल नखको रंजन पुष्प समझकर वह उसपर गिरा जा रहा है, और वे पाँव झटक देती हैं—**मा स्पृशाङ्घ्रे**—

तो दूर हट जाता है, फिर आकर गिरता है। अब ध्यान आया—कि यह भँवरा तो कह रहा है, कि प्रियाजी। मैं आपको श्यामसुन्दरके पास ले चलूँगा। अच्छा! **अपि बत, बत इति हर्षे, अपि प्रश्ने,** 'अपि' शब्दका अर्थ है प्रश्न, और 'बत'का अर्थ है प्रसन्नता, हर्ष। बड़ी खुशीकी बात है। तुम हमें मधुपुरी ले चलना चाहते हो श्यामसुन्दरके पास? परन्तु यह तो बताओ—कि **आर्यपुत्रः अधुना मधुपुर्यां आस्ते?** आर्यपुत्र, हमारे प्राणप्यारे श्यामसुन्दर इस समय मधुपुरीमें हैं? अब इसमें अनेक व्यंग्य हैं। सीधी-सादी बात यह है—कि हमने सुना था कि वे अध्ययन करनेके लिए उज्जयिनीमें गये हैं। तो अब क्या वहाँसे लौट आये हैं? और इस समय मधुपुरीमें रह रहे हैं?

दूसरा अर्थ हुआ—कि आर्य माने नन्दबाबा, नन्दरायजी; उनके बड़े श्रेष्ठ पुरुष हैं। उनके पुत्र होनेसे वे भोले भाले हैं। मधुपुरी तो मधु नामक दैत्यकी बसायी हुई पुरी है; वहाँके लोग मधुपायी हैं; उनके बीचमें हमारे प्राणप्यारे श्यामसुन्दर फँस गये हैं। आर्य-पुत्र हैं, इसीलिए रह रहे हैं। नगरके रहनेवाले लोगोंने, वसुदेवने उनको जबरदस्ती फुसलाया—कि तुम हमारे बेटे हो, नन्दरायके नहीं हो। और उनको इस बातका बड़ा कष्ट है। हम तो यह सोचती थीं—कि जब उनको समय मिलेगा, तब वे भागकर हमारे पास आजावेंगे। तो क्या वे अभी मथुरामें ही हैं? वहाँसे निकले नहीं?

अधुना मधुपुर्यां आस्ते? आश्चर्यं।

अच्छा, अब तीसरा अर्थ—व्यंग्य देखो। व्यंग्य क्या है? कि जब गोकुलमें आये, तो नन्दबाबाको बाप बनाया, और विश्वास करा दिया, कि हम नन्दबाबाके ही बेटे हैं—सबको फाँस लिया। और फिर जब दूसरा बाप मिल गया—ऊँची जातिका, धनी; राजकाज जब सँभालनेको मिला—तो झट पहले बापको छोड़ दिया और दूसरा बाप बना लिया। तो हम लोगोंका ख्याल ऐसा है—कि जैसे एक बापको छोड़करके दूसरा बाप बना लिया, वैसे कोई तीसरा मिल गया—तो उसको भी वह बाप बना लेगा, और मथुरा छोड़कर चला जायेगा। तो **अपि बत मधुपुर्यां आर्यपुत्रो अधुनाऽऽस्ते।** श्रेष्ठ वसुदेवजीके लाड़ले पुत्र अभी तक मथुरामें ही हैं क्या? उनको दूसरे शहरमें ले जानेवाला दूसरा बाप क्या नहीं मिला?

ऐसे भाई! यह तो भगवत्सम्बन्धी विलोद है न! दोनों तरफ देखो; कितनी वेदना है? कितना ममत्व है, कितनी गाढ़ी प्रीति है हृदयमें! इसमें प्रश्न क्या है? कि

कुशल-मंगल नहीं पूछती हैं—कि अच्छे हैं, स्वस्थ हैं, निश्चिन्त हैं, प्रसन्न हैं—**आस्ते,** केवल वहाँ उपस्थिति मात्र, विद्यमानताके सम्बन्धमें प्रश्न है—कि वहाँ हैं न? इसका अर्थ यह हुआ, कि हम जानती हैं—कि हमारे बिना वे वहाँ सुखी नहीं होंगे, फिर भी वहाँ रह रहे हैं। पर वहाँ रहकर करते क्या हैं?

स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूँश्च गोपान्—रहते हैं वहाँ, और याद करते हैं यहाँकी। नन्दबाबाने उनके लिए जो अच्छे-अच्छे अलग-अलग महल बनाये हैं—**पितृगेहान्**—बहुवचन है न--प्यारे मधुकर! अवश्य उन घरोंका कृष्णको स्मरण होता होगा। यहाँ पितृ शब्दसे माताका भी अर्थ ले लेना, क्योंकि जब समास होता है न, तो दोनोंका अर्थ एक ही शब्दसे लेते हैं।

सौम्य बन्धूँश्च गोपान्—हे सौम्य। **बन्धून् स्मरति, गोपान् स्मरति। सौम्य बन्धू स्मरति।** बन्धुका विशेषण कर दो ना तो सौम्य बन्धु और सौम्यको अलग कर दो, तो सम्बोधन हे सौम्य! क्या हम किंकरियोंकी भी कभी—**क्वचिदपि**—चर्चा करते हैं? अच्छा, प्रेमसे न करते हों, तो कभी परिहास करनेके लिए भी, हँसी उड़ानेके लिए भी, उदाहरणके रूपमें भी हम किंकरियोंका स्मरण करते हैं? हाँ, सबकी करते हैं—गुनगुनाया भ्रमर। तो गोपियाँ बोलीं—हाँ, मथुरामें हैं—यह कह रहा है। भाई-बन्धुओंका स्मरण करते हैं—यह भी कह रहा है। हमारी चर्चा करते हैं—हाँ-हाँ-हाँ कर रहा है। यह भँवरा तो ऊँ ऊँ कर रहा है! अच्छा भ्रमर! यह बताओ—जब इतना प्रेम हमसे करते हैं, तो वह दिन कब आवेगा हमारे जीवनमें, **जब भुजमगरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु**—जिनकी बाजूमें अगरुके समान सुगन्ध है या अगरुकी सुगन्ध जिनकी बाजूमें है—वे श्यामसुन्दर आकर हमारे सिरपर अपना हाथ रख देंगे? और कहेंगे—गोपियो! तुम्हारे सिर पर मैं अपना हाथ रखकर सौगन्ध खाता हूँ—**शपथं**—कि तुम हमारी हो; और मैं तुमको छोड़कर मथुरा गया, तो मुझे बड़ा दुःख हुआ। अब मैंने देख लिया—मथुरा देख लिया, उज्जयिनी देख ली, और देख लिया कि दुष्टोंको दण्ड देनेमें क्या रखा है! राजनीतिमें क्या है, और समाज-सुधारमें क्या है! मैं तुम्हारे प्रेमको पहचानता हूँ। लौटकर आगया हूँ और अब तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। कब श्यामसुन्दर हमारे सिरपर हाथ रखकर ऐसी सौगन्ध खायेंगे, और हमारे कंधेपर हाथ रखकर फिर रासलीला करेंगे?

अब एक दूसरा पक्ष लेते हैं। यह अब दसवाँ श्लोक है—भ्रमरगीतका अन्तिम है न!

अपि वत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते।

आर्यपुत्रः अमृतस्य पुत्रः—हे अमृतस्वरूप परमात्माके पुत्र। **आर्यपुत्र भवान्**—हे मधुकर! हे जीव! आप आर्यपुत्र हैं, माने ईश्वरकी सन्तान हैं। ये सब-के-सब जीव अमृतके पुत्र हैं। इसका अर्थ क्या है? **आत्मा वै पुत्रनाम**—आत्माका ही नाम पुत्र है। **अङ्गादङ्गाभवसि हृदयादधिजायते। आत्मा वै पुत्र नामासि**—जब पण्डित लोग बच्चेका संस्कार कराते हैं, तब उसमें मन्त्र बोलते हैं—तुम अंग-अंगसे निकले हो, हृदयसे पैदा हुए हो। मैंने भारती कृष्णतीर्थजी शंकराचार्यजी महाराजसे सुना था, कि बाईबलमें कहीं ऐसी बात कही हुई है कि तुम और तुम्हारे पिता—दोनों एक हो, जुदा-जुदा नहीं हो। आत्माका ही दूसरा नाम पुत्र हो जाता है; पुत्र और पिता-दोनों एक होते हैं। और तुम आर्य अर्थात् ईश्वरके पुत्र हो, श्रेष्ठ वंशमें उत्पन्न हुए हो; परन्तु **इदानीं भवान् मधुपुर्याम् आस्ते**—इस समय आप इस मधुपुरीमें—जिसमें नाना कर्मोंके फल-भोग रूप मधुकी प्राप्ति होती है, जो मर्त्यलोकसे लेकरके ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने मधु हैं, उन सम्पूर्ण मधुओंके उपभोगका स्थान है—

नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन् न कारयन्। गी. ५.१३

तुम पुरंजन रूप जीव उस पुरंजन नगरीमें निवास कर रहे हो। यह लौकिक सुख, स्वर्ग-सुख, मोक्ष-सुख—सबको देनेवाला है; और आप तो इसमें तादात्म्याध्यासके द्वारा निवर्त हो गये हैं। जैसे कोई शराब पीकर मतवाला हो, इस प्रकार इस शरीरमें फँस गये हो। यह शरीर ही सबसे बड़ा बन्धन है। इसीसे रिश्ते पैदा होते हैं संसारमें और इसीसे ममता पैदा होती है। इसीसे भोग करनेमें संसारमें मिठासका ज्ञान होता है, मधुकी प्राप्ति होती है। आप ईश्वरके पुत्र होकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अंश होकर इस शरीरमें फँसे हुए हैं?

अच्छा जी! शरीरमें फँसे हुए होवें और ईश्वरकी याद करें, तो कुछ कहनेकी बात नहीं है। परन्तु आप याद किसकी करते हैं?

स्मरति स पितृगेहान्, स भवान्—यह हमारे बापका घर है। एक बापका घर होता है, और एक कानूनी बापका घर होता है। यह ससुराल जो है—कानूनी बापका घर है। कहते हैं न—यह हमारे कानूनी पिता Father-in-law हैं। श्रीमतीजी ससुराल जाकर मायकेकी याद कर रही हैं। आप स्मरण करते हैं कि आपके पिताने—ईश्वरने, आर्यने आपको कितने-कितने घर दिये हैं—अवस्थात्रय-जाग्रतावस्थारूप घर दिया है, स्वप्नावस्थारूप घर दिया है, सुषुप्ति

अवस्था रूप घर दिया है, जिसमें कहीं तुम दिक् होकर, कहीं तेजस् होकर और कहीं प्राज्ञ होकर रहते हो। ईश्वरके इस महान् दानका कभी स्मरण आता है? यह दूसरा व्यंग्य हुआ।

सौम्य बन्धूँश्च गोपान्—संसारके जो बन्धु-बान्धव हैं—वे एक तो सत्संगी बन्धु होते हैं, और एक संसारमें बाँधनेवाले बन्धु होते हैं। बन्धन भी वही, बन्धु भी वही, और आश्चर्य तो यह है कि बन्धु भी वही है। यह **बध्नाति** है। जो बाँधे-सो बन्धन, जो बाँधे-सो बन्धु, जो बाँधे-सो बधु। कोई स्नेहसे बाँधता है, कोई भुजपाशसे बाँधता है और कोई सामाजिक बन्धनोंसे बाँधता है। कोई मैं, मेरासे बाँधता है; पर बन्धन तो सब हैं। कभी ध्यानमें आया—कि ये सब बाँधनेवाले लोग हैं? और याद भी उन्हींकी आती है।

देखो, गोप भी दो तरहके हैं; गो माने इन्द्रियाँ—जो अपनी इन्द्रियोंकी गाय चरानेमें लगे हुए हैं; इन्द्रियोंकी गायको जंगलमें घुमा-घुमाकर चराते हैं—वे गोप हैं। क्या इनसे प्यार करते हो? और दूसरे गोप कौन हैं? जो अपनी इन्द्रियोंकी रक्षा करते हैं, उनको विषयोंकी घास चरनेसे बचाते हैं। वे संयमी हैं, सत्संगी बन्धु हैं। उनका स्मरण करते हो?

अच्छा, अब देखो! आर्यपुत्र होकर—ईश्वरके पुत्र होकर उसके दिये हुए सृष्टिके घरमें आकर देखो न; कैसी है स्वप्नावस्था, जाग्रतावस्था, सुषुप्तावस्था? उसका स्मरण आता है या ये जो मिट्टीके घर-घरौंदे हैं—इन्हींमें लगे रहोगे? 'अपि' प्रश्न है—हाय, हाय; कहाँ फँस गये!

बोले—नहीं जी! हम तो वेदार्थका विचार करते हैं? बड़े पंडित हैं, बड़े विद्वान् हैं? परन्तु पुष्पिता वाणीके विचारमें तो कहीं नहीं लग गये?

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ गी. २.४२
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्म - फल - प्रदा।
क्रियाविशेष - बहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ गी. २.४३
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिकता बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ गी. २.४४

समाधि कैसे लगेगी? कैसी चर्चा करते हो? वेदार्थका विचार करते हो? यह होम करेंगे, यह दान करेंगे, यह व्रत करेंगे, यह तपस्या करेंगे—तो स्वर्गमें जायेंगे—ऐसा सोचते हो? आप आर्यपुत्र होकर केवल मजदूरी चुकाने वाली

पद्धतिके हैं? इतने बड़े खानदानमें पैदा होकर तुम अपने लिए कहीं जीविका चाहते हो? वृत्ति चाहते हो? हम यज्ञमें 'इन्द्राय स्वाहा' कह करके घीकी आहुति देवताको पहुँचावेंगे, तो इन्द्र देवता हमारे खेतमें अन्न पहुँचावेंगे। आर्यपुत्र होकर लेन-देनके मामलेमें फँस गये हो? श्रुतियोंके विचारमें नहीं हो?

क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते—हम जो किंकरी हैं—सेवा करनेके लिए तैयार—कि हम तुरन्त सत्यमनन्तं ब्रह्म—तत्पदार्थका अनुसन्धान करवावें, तत्त्वमसि—दोनोंकी एकता करवावें—ऐसी जो हम ब्रह्मविद्या-रूप श्रुतियाँ हैं, उनका भी अनुसन्धान आप करते हैं? कि बस, स्वर्गमें जायेंगे और वहाँ नन्दनवनमें घूमेंगे; अप्सराएँ साथ होंगी और अमृत पीयेंगे—इन्हीं श्रुतियोंके अनुसन्धानमें लगे रहते हैं? परमात्मासे एक करानेवाली हम जो श्रुतियाँ हैं—उनका भी अनुसन्धान करते हैं?

अच्छाजी जीव! हे सौम्य! यह सौम्य सम्बोधन उपनिषदोंकी याद दिलाता है—**सोम्यो भवति**—आप सौम्य हैं। माने सोमके अनुग्रह-भाजन हैं। इसका अर्थ है, कि आपका मन पवित्र है। मनके अनुग्राहक देवताका नाम चन्द्रमा है। जब मन शुद्ध होवे, तो समझना—हम सौम्य हैं। हे आह्लाददाता चन्द्रमाके अनुग्रह-भाजन मनवाले जीव! यह तो बताओ—कि तुम अगरु सुगन्धसे उपलक्षित साधन-चतुष्टय, विवेक-वैराग्य-शम-दमादि षट् सम्पत्ति, तितिक्षा—इनसे युक्त अपने अन्तःकरणको कभी हमारे सिरपर रखोगे? माने साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होकरके, ब्रह्मविद्याका विचार करनेके लिए, ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए कभी हमारे पास आओगे?

इस तरह मधुकर-पक्षमें, उद्धव-पक्षमें और श्रुतिपक्षमें—तीनोंमें यह भ्रमरगीत लगता है।

अब यह बात सुनी उद्धवजीने।

श्रीशुक उवाच

अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शन - लालसाः।
सान्त्वयन् प्रियसंदेशैर्गोपीरिदमभाषत॥ २२॥

श्रीशुकदेवजी महाराज राजा परीक्षितसे कहते हैं, कि उद्धवजीने गोपियोंकी श्रीकृष्ण-दर्शनकी लालसाको देखा।

देखो, गोपीने कहा कि हमारे सिरपर कृष्ण अपनी भुजा कब रखेंगे? भुजा रखनेका स्थान तो स्कन्ध है, कोई सिर तो नहीं है न! तो कहना तो यह था कि

हमारे कंधेपर अपना हाथ कब रखेंगे, लेकिन कह गयीं कि हमारे सिरपर अपनी भुजा कब रखेंगे। अब इसको आप गम्भीरतासे समझो—कि श्रीकृष्णके बगलमें बाईं ओर श्रीराधारानी खड़ी हैं और उनका सिर श्रीकृष्णकी भुजाके नीचे आजाता है। जब भुजाके नीचे सिर आवेगा, हाथ तो और प्रिय स्थानपर पहुँच जावेगा! इसलिए यह नहीं कहा—कि हमारे कपोलपर अपना हाथ रखें, हमारे वक्षःस्थलपर अपना हाथ रखें; वे कहती हैं—कि अपनी भुजा हमारे सिरपर रखें।

अब उद्धवजीने देखा कि गोपीको न तो लोकका ध्यान है, न परलोकका; न धर्मका ध्यान है, न मोक्षका। न ही इसको यही ध्यान है कि यह भ्रमर कोई सन्देश-वाहक नहीं है। इतना प्रेम। उद्धव शब्दका अर्थ है **उत्स**—माने परमात्मा और **उदिति नाम ब्रह्म**। ब्राह्मण ग्रन्थमें आया है—**उदिति सत्य नाम**। उत् कहते हैं—सबसे ऊपर रहनेवाला जो सर्वोत्कृष्ट है, **उत् ऊर्ध्वं उत एव परमात्मैव धवो यस्य स उद्धवः, माधवः**। सबसे ऊपर रहनेवाले जो परमात्मा हैं—वे हैं पति जिसके। इसका अर्थ हुआ कि उद्धवजी पहले तो मित्र भावसे, सख्य भावसे श्रीकृष्णसे प्रेम करते थे, पर जब ये गोपियोंके चरणारविन्दमें पहुँचे, तो गोपियोंका जो मधुर प्रेम है न—उसका उन्हें ऐसा रस आया, कि वे सखा भावकी जगह सखी भावसे कृष्णकी उपासना करने लगे। 'धव' शब्दका प्रयोग किया है। धव माने पति होता है। माधव, लक्ष्मीधवा, विधवा बोलते हैं न! तो उद्धव कौन हैं? कि उत् जिनका धव है—श्रीकृष्णको पति मानकर भजन करनेवाले। गोपियोंका बड़ा भारी प्रभाव पड़ा, उद्धवका भाव ही बदल गया।

उद्धवो निशम्यैवं—देखा उन्होंने अपने आपको। क्या देखा? अरे, गोपी नहीं देखी; उन्होंने एक चीज देखी, एक भाव देखा। उन्होंने श्रीकृष्ण-दर्शनकी लालसा देखी। गोपीका हाथ कैसा है, पाँव कैसा है, मुँह कैसा है—यह नहीं देखा; उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण-दर्शनकी लालसा ही यहाँ मूर्तिमान होकर वृन्दावनमें क्रीड़ा कर रही है। यही गोपीका स्वरूप है। वृन्दावनके भक्तोंने बताया, कि—

प्यास ही को रूप मानो प्यारी जू को रूप है।

प्रियाजीका स्वरूप क्या है? कि प्यास। प्यास माने अतृप्ति-पीते रहनेपर भी और-और की चाह! इसीसे कहते हैं, कि ज्ञानमें इति है—जैसे सत्यनारायणकी कथा पूर्ण होती है, इति श्रीस्कन्दपुराणे! क्या इति है? कि अविद्या निवृत्त हो गयी।

अज्ञानके वैषम्यसे ज्ञानका भी परित्याग हो गया; वृत्ति-ज्ञान छूट गया। स्वरूप-ज्ञान तो सिद्ध है। और प्रेममें न इति है, न मिति है, इति-परिमिति नहीं है। न उसका माप है और न समाप्ति है। यह प्रेम है—

जनम अवधि हम रूप निहारेनु नयन न तिरपित भयेल।

यह प्यासका स्वरूप है। आँखें कभी तृप्त नहीं होतीं। जन्म भर देखते रहें और रोज नया, नया, नया! **क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।** रमणीय किसको कहते हैं? जो क्षण-क्षणमें नव-नव मालूम पड़े—नवनवायमान! प्रतिक्षण नया स्वाद आवे, नया रस आवे।

मोहि मोहि मोहनमयो री मन मेरो भयो।
हरिचन्द भेद न परत पहचान है।
कान्ह भयो प्रानमय, प्रान भयो कान्हमय,
हिये में न जानि परे कान्ह है कि प्रान है॥

और

दोउ परे पैयां, दोउ लेत हैं बलैयां,
इन्हें भूलि गइ गैयां, उन्हें गागर उठाइबो॥

यह गोपी तो श्रीकृष्ण-दर्शनकी लालसा ही मूर्तिमान होकरके धरतीपर चल रही है। इसलिए 'निशम्य' नहीं, 'निशाम्य', सुनकर नहीं, देखकर। देख लिया उद्धवजीने—क्या स्थिति है उसकी। अब उद्धवजी सान्त्वना देना चाहते हैं। बदल गया उद्धवजीका भाव। पहले आये तो थे आनन्द देनेके लिए; अब उन्होंने देखा—कि आनन्द देना तो हमारे बसकी बात नहीं है। इनको तो आनन्द केवल श्यामसुन्दर ही दे सकते हैं। तब? अच्छा आओ, थोड़ा समझाने-बुझानेका काम करें **सान्त्वयन् प्रियसंदेशैर्गोपीरिदमभाषत।** लेकिन हमारी बातकी भी यहाँ गति नहीं है। तब? कि **प्रिय संदेशैः। प्रियस्य श्रीकृष्णस्य संदेशैः।** प्यारे श्यामसुन्दरके जो संदेश हैं, उनके द्वारा सान्त्वना देते हैं, अपनी बातसे नहीं। इसको प्रियै संदेशैः कर दें—कि बड़े प्यारे-प्यारे संदेशोंसे—संदेश तो कोई प्यारे नहीं हैं, प्यारेके संदेश हैं वे। प्रिय सम्बन्धसे ही संदेशोंमें प्रियत्व है। जो संदेश प्यारे हैं—ये प्यारेके हैं इसलिए प्यारे हैं। बल्कि कई वैष्णव जनोंको तो यह भी अच्छा नहीं लगा—कि इसको प्यारेका संदेश मानें। उन्होंने कहा—कि शुकदेवजी बोलते हैं, कि हे प्रिय परीक्षित! **संदेशैः सान्त्वयन्। उद्धवः संदेशैः गोपीः सान्त्वयन्**—संदेशोंके द्वारा गोपियोंको सान्त्वना देते हुए!

अब देखो! गोपी और संदेश—दोनोंका मेल नहीं बैठता। क्यों? गोपी कौन है? जिसका सर्वांग परमानन्दमय है। **आनन्दमात्र करपादमुखोदरारविन्द गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि।** श्रीकृष्ण क्या हैं? उनके हाथ आनन्द, उनके पाँव आनन्द! वे पंचभूतके नहीं, प्रकृतिके नहीं, मायाके नहीं—परमानन्द उपादानमें श्रीकृष्णकी आकृति बनी हुई है। नित्य आकृति श्रीकृष्णकी परमानन्द उपादान है। उसको **गोभिः इन्द्रियैः पिबति इति गोपी**—उसको जो अपनी इन्द्रियोंसे पीये—उसका नाम गोपी। तो जिसको श्यामसुन्दरके परमानन्दघन स्वरसका साक्षात् पान प्राप्त है—उस गोपीको यदि कोई संदेशके द्वारा सान्त्वना देना चाहे, उसको तो संदेशोंके द्वारा सान्त्वना प्राप्त होनेवाली नहीं है। फिर भी **इदं अभाषत** उद्धवजीने यह बोलना प्रारम्भ किया।

उद्धव उवाच

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः॥ २३॥

उद्धवजी बोले—अहो! जब आदमीसे बोला नहीं जाता है, तब पहले उसके मुँहसे 'अहो' निकलता है। फिर दिमागमें जो भरा है—**यूयं**—तुम। फिर बादमें **भवत्यो**। **यूयं** और **भवत्यो** दोनों क्यों? बोले—उद्धवजी अश्रुतपूर्व प्रेमका दर्शन करके, अननुभूत प्रेमका दर्शन करके ऐसे चकित हो गये, कि क्या बोलना चाहिए—यह सूझता नहीं है। तो—**अहो यूयं, अहो यूयं, अहो यूयं**—इसका अर्थ है—तुम धन्य हो, धन्य हो, धन्य हो! तुम आश्चर्य हो। कैसे? कि **पूर्णार्थाभवत्यो लोकपूजिताः**—तुम्हारे सारे पुरुषार्थ सिद्ध हो गये, क्योंकि पंचम पुरुषार्थमें चार पुरुषार्थ समाविष्ट हो जाते हैं। कृष्ण ही अर्थ, कृष्ण ही धर्म, कृष्ण ही काम, कृष्ण ही मोक्ष—कृष्णका प्रेम ही सर्वस्व है। तुम्हारे जीवनका प्रयोजन पूर्ण हो गया; अब तुमको कुछ भी करनेको नहीं है। पूर्ण, स्वरूपसे, सब गुणोंसे सर्वोच्च जो अर्थ है—श्रीकृष्ण-प्रेम—वह तुमको प्राप्त हो गया। पूर्णार्थाका अर्थ है—पूर्ण अर्थ, श्रीकृष्णका प्रेम!

बोले—तत्त्वज्ञानसे मोक्ष मिल जावे, तो पूर्णार्थ होवे। ज्ञान तो हो गया, लेकिन मनमें अगर विक्षेप ही बना है, मनोराज्य ही होता रहता है, तो उस ज्ञानकी क्या शोभा है?

न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम्।
निरंजनमपि ज्ञानं अलं न शोभते।

निर्मल ब्रह्मज्ञान भी तबतक परिपूर्ण शोभाको प्राप्त नहीं होता, जबतक व्यक्तिगत जीवनमें हृदय प्रेमके सरोवरसे लबालब भर न जाये, उसमें प्रेमकी नदी न बहती हो।

लोकपूजितः—गोपियो! तुम मर्त्यलोकसे लेकरके ब्रह्मलोक पर्यन्त सबके द्वारा पूजित हो, क्योंकि—

वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः। बस, यही तो बात है। इति—जैसा मैंने देखा है—वैसा। जिनका मन भगवान्‌में अर्पित है—**भगवति अर्पितम्**। बोले—तो भाई! भगवान् तो बहुत होते हैं। लोगोंने अपने-अपने प्राइवेट भगवान् कर लिए हैं। कि—हम उस भगवान्‌की बात करते हैं—जो वासुदेव भगवान् हैं।

अब एक बात हुई, कि उद्धवजीके मनमें वासुदेव भगवान्‌के प्रति पक्षपात है, इसलिए 'वासुदेव' शब्द है। परन्तु नन्दबाबा भी वसुदेव हैं—**द्रोणो वसूनां प्रवरो**। वसुओंमें श्रेष्ठ हैं नन्द। 'द्रोण' उनका नाम है, और उनकी पत्नीका नाम 'धरा' है। तो यशोदाके रूपमें तो धरा है, और वसुदेव द्रोण नन्दबाबा हैं। इसलिए वसूनां प्रवरः वहाँ जो है—वही यहाँ वसुदेव है। वसुदेव माने शूरनन्दन भी है। शूरके जो पुत्र हैं—वे भी वसुदेव हैं, और पर्जन्यके जो पुत्र हैं—वे भी वसुदेव। नन्दबाबा पर्जन्यके पुत्र हैं, और वसुदेवजी शूरके पुत्र हैं। और दोनोंके पिता देवमीढ़ थे। तो पर्जन्य-नन्दन नन्द भी वसुदेव हैं, और शूर-नन्दन वसुदेव भी वसुदेव हैं। वासुदेव माने **वसुदेवस्य पुत्रः**—वह भगवान्—जो वसुदेव-नन्दनके रूमें हमारे बीच आया है। उसके प्रति तुमने अपना मन अर्पित किया। असलमें हाथमें कुश-अक्षत लेकरके मनका अर्पण नहीं होता है। यह जो गोपीके चित्तकी स्थिति है—**हियमें रह्यो नाहिन ठौर**—यह चित्तकी स्थिति ही भगवान्‌के प्रति मनका अर्पण है।

*

इकतालीसवाँ प्रवचन

श्रीराधारानी भ्रमरसे बात करती-करती भावमग्न हो गयीं। उनको तो ऐसा लगा—जैसे श्यामसुन्दर आगये! आँख बन्द हो गयी, भाव-समाधि लग गयी। यह भक्तोंकी भाव-समाधि है, जो बाह्य विस्मृति सहित तो है, पर अन्तरमें निस्संकल्पता नहीं है। यह तो लीलाकी किल्लोल, लीलाकी तरंग है, और उसमें है ब्रह्मात्मक भूमि, ब्रह्मात्मक नदी, ब्रह्मात्मक ब्रह्म, ब्रह्मात्मक पशु-पक्षी, ब्रह्मात्मक ग्वाल-बाल इसमें हैं, स्वयं सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा श्रुति और स्वयं सच्चिदानन्दघन गोपीजन। यह कोई निर्विकल्प, निस्संकल्प, निर्धर्मक ऐसी अवस्था नहीं है, बल्कि यह ब्रह्म-किल्लोल है। यह ब्रह्म-समुद्रकी तरंग है। उसमें माया, छाया, अविद्या, अन्तःकरण—ये सब उपाधि-व्याधि लगानेकी जरूरत नहीं है, बस-आनन्द-ही-आनन्द है।

राधारानी तो अपने आनन्दमें मग्न हो गयीं। थोड़ी देर तक सब गोपी स्तब्ध रह गयीं। उद्धवजीकी बोलती भी बन्द! जब सावधान हुए, तो और गोपियोंसे बोल रहे हैं, राधारानीसे नहीं बोल रहे—क्योंकि वे तो सुनती नहीं हैं, वे तो देखती नहीं हैं। उनको तो बाह्यका स्मरण ही नहीं है। तो उनको सुना-सुनाकर, किन्तु और गोपियोंसे बात कर रहे हैं—कि गोपियो! तुम धन्य हो! लोक-लोकेश्वर, स्वर्गके देवता, ब्रह्मलोकके ब्रह्मा तुम्हारी पूजा करते हैं। भाई, इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है कि तुमने अपना मन भगवान् वासुदेवके प्रति अर्पित कर दिया है। अब आप देखो, कि मनका अर्पण ऐसे ध्यान बनानेसे नहीं होता—कि हमने अपना मन अर्पण कर दिया। हमने बहुत प्रेमियोंके मुँहसे सुना है—कि हम क्या करें! अब हमारे पास क्या है। हमने तो अपना दिल ही दे दिया। यह कहनेका नाम दिल देना नहीं होता। अगर मनमें ऐसा सोचें तो वह सोचनेका नाम भी दिल देना नहीं होता। असलमें जो यह भूतमें आकार-विशेष है न, यह शरीर है। भूत-संस्थान-विषय, माने पंचभूतोंका ऐसा विन्यास—ढंग—जिससे यह शरीर बन गया। सूतका ऐसा विन्यास—ढंग, कि कपड़ा बन जाये। माने ऐसे ढंगसे सूतोंको

बिठाया—कि कपड़ा बन गया। इसी प्रकार भूतोंको ऐसे ढंगसे बैठाया—कि यह शरीर बन गया। यहाँ आँख निकल आयी, यहाँ कानके छेद फूट आये, यहाँ नाक बन गयी, यहाँ जीभ बन गयी, यहाँ दिल बन गया। यह क्या है? कि इसको पंच-भूतमें कल्पित संस्थान-विशेष कहते हैं। यह आकाश ही है; पोल है कि नहीं? नाकमें पोल, कानमें पोल, मुँहमें पोल, छातीके भीतर पोल—नहीं तो यह कहाँ आपके भीतर जाता? पोल-पट्टी है न उसके भीतर, तभी फँसता है। यह शरीर और इससे जो क्रिया होती है, इससे जो कर्म होता है, सो, और उसमें जो मन फुरफुराता है सो—ये तीनों असलमें तीन चीजें नहीं हैं। हमारे कलियुगी भक्त लोग क्या कहते हैं? कि वह जबानी जमाखर्च है; कह दिया—कि हमने तो दिल दे दिया। इसका नाम दिल देना नहीं होता, क्योंकि देखो—बिना शरीरके आपने कहीं मन देखा है? बिना मनका शरीर कहीं टिका रह सकता है और बिना कर्मके क्या शरीरकी सत्ताका कोई पता है? और बिना कर्मके क्या मनमें कोई संस्कार है? तो असलमें आत्मा तो एक जुदा चीज है, और मन, कर्म और शरीर—ये तीनों एकमें मिले हुए हैं। यह भक्तिका रहस्य है; यह भक्तिका दिल है।

जब ईश्वरको तुम अपना दिल दोगे, तो मनके साथ तुम्हारा कर्म भी ईश्वरको मिल जायेगा और तुम्हारा शरीर भी ईश्वरको मिल जायेगा। अब कोई कहे—कि हमने मन तो ईश्वरको दिया, लेकिन अपना शरीर और अपना कर्म दूसरेके लिए बचाकर रख लिया, तो? शरीरके जो कर्म हैं—वे बेटेके लिए हैं और शरीर स्वयं पत्नीके लिए है और मन हमने ईश्वरको दे दिया। पैसेकी तो चर्चा ही छोड़ दो, उसके लिए तो हम ही हैं। तो शरीरका कर्म क्या है? कि बेटेके लिए। और शरीर किसके लिए है? कि पत्नीके लिए। और हम किसके लिए? कि पैसेके लिए। और मन किसके लिए? बोले—ईश्वरके लिए। ऐसे कहीं मन जुड़ता है ईश्वरमें? ये संसारी लोग समझते हैं—कि जैसे हम दुनियामें सबको ठगते फिरते हैं, वैसे ही ईश्वरको भी ठग लेंगे; कहेंगे—कि हमने तो तुमको अपना दिल ही दे दिया! और भोला-भाला ईश्वर मान लेगा। तो यहाँ मिलेगा संसार, और वहाँ मिलेगा ईश्वर। तो दूहूँ हाथ मन मोदक मोरे। दोनों हाथोंमें हमारे आनन्दका लड्डू रहेगा।

ऐसे तो कपटी लोग हैं, उनका ईश्वरके दरबारमें कोई आदर नहीं है। देखो, बिना क्रिया-समर्पणके मन-समर्पण होता नहीं है और बिना शरीर-समर्पणके भी मन-समर्पण नहीं होता है। द्रव्य मेरा और मैं ईश्वरका—यह तो

धोखेकी बात है। और दूसरेको धोखा नहीं दे रहे, खुद धोखा खा रहे हैं। सगे-सम्बन्धी हमारे और हम ईश्वरके हम ईश्वरके और दिल हमारा—यह बात नहीं चलती है। मनके कुछ हिस्से हो गये हैं—कुछ यहाँ गिरा, कुछ वहाँ गिरा। कुछ बेटेमें गिरा है, कुछ पत्नीमें गिरा है, कुछ माँ-बापमें गिरा है, कुछ धनमें गिरा है, कुछ सम्बन्धीमें गिरा है! तो कहो भाई! मनको वहाँसे खींच-खींचकर निकालें, और ईश्वरको दें? नहीं-नहीं। जिनमें यह जाकर फँसा है, उन्हींको उठाकर भगवान्‌को दे दो। मनके अर्पणकी प्रक्रिया यह है—कि जहाँ-जहाँ यह मन फँसा हुआ है—वही-वही चीज उठाकर भगवान्‌को दे दी जाये। कर्म उनके लिए होंवे, धन उनके लिए होंवे—तो मन अपने आप ही ईश्वरके प्रति अर्पित हो गया। रोटी बनावेंगे दूसरेके लिए, पैसा कमावेंगे दूसरेके लिए, शरीर सँवारेंगे दूसरेके लिए, और बोलें—मन अर्पित है ईश्वरको! थोड़ा मन शरीरमें होकर बाहर चला गया, थोड़ा बेटेमें होकर चला गया। अब भगवान्‌में मन लगेगा कैसे? क्योंकि आप भौतिक पदार्थोंसे मनको जुदा करके कभी देख ही नहीं सकते हैं, इसलिए भौतिक पदार्थोंका भगवान्‌में अर्पण हुए बिना मनका सच्चा अर्पण होता नहीं। इसीसे सेवा करो। भगवान्‌की मूर्ति रखो घरमें, तो चन्दन रूप एक वस्तु भगवान्‌को अर्पण करो। तब उस चन्दनमें बैठकर तुम्हारा मन भगवान्‌में लगेगा। चन्दन जब खरीदोगे, तब वह पैसा जो जायेगा न, उसके रास्ते थोड़ा मन चन्दनमें जायेगा और फिर जब घरमें आयेंगे, तब थोड़ा मन उसमें जायेगा। और जब घिसोगे, थोड़ा मन उसमें जायेगा। और जब उसको भगवान्‌को लगाओगे, तो उसमें-से थोड़ा-सा मन जाकर भगवान्‌में चिपक जायेगा। और यह कहो—कि हमने तो अपना मन भगवान्‌में लगा दिया—तो यह जबानी जमा-खर्च हुआ। इसीलिए बोलते हैं—कि भगवान्‌की सेवा कैसे करना? श्रीबल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं—**वित्तजा सेवा, तनुजा सेवा और मानसी सेवा**—धनसे सेवा करो, तनसे सेवा करो और मनसे सेवा करो, क्योंकि इन तीनोंकी जो त्रिपुटी है न—वह एक साथ रहती है। इनमें-से एकको अर्पण करके दोको अलग निकालना चाहो, तो नहीं निकाल सकते। अगर तीनोंको नहीं लगा सकते, तो इन तीनोंको छोड़ दो—यह सिद्धान्त है इसका। घर या तो छोड़ दो या भगवान्‌का बना दो, क्योंकि घरमें मन रहता है। जब घर भगवान्‌का होगा, तब मन भगवान्‌का होगा और घर ही भगवान्‌को अर्पित कर दो—तो न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी! काम ही खतम हो जायेगा।

गोपियोंने अपना मन जो भगवान्‌के प्रति अर्पित किया है—तो शरीर भी अर्पित किया है, कर्म भी अर्पित किया है, वचन भी अर्पित किया है। तब उनका मन अर्पित हुआ है। केवल ख्याली पुलाव पकानेका नाम गोपी हो जाना नहीं है; **यासामित्यर्पितं मनः**—वह गोपी है।

अब गोपियाँ बोलीं—उद्धवजी! यह बात तो तुम कहते हो—कि **भवत्यो लोकपूजितः**—प्रशंसा करते हो हमारी; लेकिन उधर तो देखो—न हमारे दान है, न व्रत है, न तप है, न यज्ञ है, न स्वाध्याय है! कोई साधन हमारे पास नहीं है। हम तो हैं दीन-हीन गाँवकी गँवार ग्वालिन और हमको तुम कहते हो—कि तुम कृतार्थ हो गयी! यह हमारी प्रशंसा क्यों करते हो?

भक्तकी प्रकृति है कि उसको अपनी प्रशंसा अच्छी नहीं लगती। वेदान्तीकी प्रशंसा करो, तो आधी प्रशंसा वह मंजूर कर लेता है और आधी नामंजूर करता है। क्योंजी, यह आधी-आधी क्या है? कि भाई, ये जो हमारी प्रशंसा कर रहे हैं, तो आत्म-दृष्टिसे तो सब ठीक ही है, शरीर-दृष्टिसे ठीक नहीं है। अथवा कहो—अच्छा, ये अपनी दृष्टिसे ठीक कह रहे हैं, लेकिन हम तो नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हैं। हमारे अन्दर इनकी प्रशंसा नहीं जाती। लेकिन भक्त जो है—वह त्वंपदार्थको सुनता ही नहीं। वह कहता है कि प्रशंसा करनी हो—तो हमारे प्यारेकी करो। हमारे अन्दर जो विशेषता तुम्हें दिखती है, वह हमारी तो है नहीं। वह तो उसकी दी हुई है, उसकी है। यह तो उधार माल है। एक आदमी करोड़ रुपयेका हीरा पहनकर आया। लोगोंने कहा—अरे, तुम्हारे पास तो बहुत बढ़िया हीरा है। तुम इस हीरेके मालिक हो, करोड़पति हो। बोले—कि बाबा! यह हमारा नहीं है। यह तो हम किसीसे मँगनी माँगकर लाये हैं और पहनते हैं। इस हीरेका जो मालिक होगा, सो करोड़पति होगा। हम काहेके करोड़पति!

लेकिन यदि कोई तुम्हारी प्रशंसा करने लगे और तुमको अपने भक्तपनेका ख्याल हो, तो प्रशंसा करनेवालेसे लड़ाई मत करना—ऐं! तुम हमारी तारीफ मत करो। लड़ाई करोगे, तो वह और कहेगा—कि बड़े भारी भक्त हैं, भाई! अपनी प्रशंसा नहीं सुनना चाहते हैं, तो और तुम्हारी प्रशंसा हो जायेगी। तुम्हें तो दुःख मानना चाहिए अपने दिलमें—कि देखो! जहाँ आज हमें अपने कानसे अपने प्रभुकी प्रशंसा सुननी चाहिए, वहाँ हमको हमारी प्रशंसा सुननेको मिली। आजका दिन अच्छा नहीं है। तुम्हारे मनमें इस बातका कष्ट होना चाहिए, कि आज ऐसा

क्या अपराध हो गया हमसे, कि प्रभुने अपनी प्रशंसा हमारे कानमें डालनेकी जगह हमारी प्रशंसा हमारे कानमें डाली! भक्तका स्वभाव यह है!

गोपियोंको आज जब उद्धवजीके मुँहसे प्रशंसा सुननेको मिली, तब उन्होंने कहा—कि प्रशंसाके जितने भी कारण हो सकते हैं, वे हमारे अन्दर नहीं हैं। हमारे अन्दर धर्म नहीं है, जो प्रशंसनीय है। हम तो जार-बुद्धिसे उस कृष्णको भजती हैं, जो नन्दनन्दन, श्यामसुन्दर, मुरली-मनोहर, पीताम्बरधारी है। झिलमिल-झिलमिल जिनके अंगकी ज्योति है, साँवरा जिनका रंग है। ऐसा नमकीन चटपटा है—आप लोग सलोना शब्दका अर्थ जानते हैं न! सलोना माने नमकीन; नमकीन चीजको देखकर जैसे जीभपर पानी आजाता है, वैसे ही श्यामसुन्दरको देखकर दिलमें पानी आजाता है—कि कैसे इसको हृदयसे लगावें; आँखमें खुजली होने लगती है—कि कैसे इसको देखते रह जावें!

हमारी क्यों प्रशंसा करते हो? हमारे अन्दर न दान, न व्रत, न तप, न धर्म, हम तो केवल जार-बुद्धिसे—अपना पति समझकर नहीं, पराया समझकर कृष्णके फँदेमें फँस गयीं और हमारा मन उसमें आसक्त हो गया है। उद्धवजी! तुम्हारे सरीखा ज्ञानी हमारी प्रशंसा करे—यह उचित नहीं है।

उद्धवजी बोले—नहीं गोपियो! धर्मका जो फल है, वह तुमको मिल गया है। धर्म नहीं, धर्मका फल मिल गया। धर्मका फल क्या है? धर्मका फल है श्रीकृष्णसे प्रेम।

दान - व्रत तपो - होम - जप - स्वाध्याय - संयमैः।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥ २४॥

हि माने क्योंकि। क्योंकि गोपियो, संसारमें जितने धर्म होते हैं, उनका फल क्या है? फल वह होता है, जो 'मैं'के साथ जुड़ता है। इस चीजसे मैं सुखी हुआ, इस चीजसे मैं दुःखी हुआ; यह जो सुख-दुःख है—वही फल है। परमानन्द घन श्रीकृष्णाकार वृत्ति होकर जिधर देखो—दायें-बायें—कृष्ण-ही-कृष्ण; यह मैंके साथ जुड़ा हुआ कृष्ण-ही-कृष्ण—यह फल है।

ज्ञानमें और भक्तिमें जो शास्त्रीय भेद है न—वह क्या है? द्रव्य-माने वस्तुका जो साक्षात्कार होता है, उसको ज्ञान कहते हैं और गुणमें जो वृत्ति जाती है—उसको भक्ति कहते हैं। वस्तुके गुणमें जो वृत्ति जाती है, उसका नाम भक्ति होता है और वस्तुके स्वरूपमें जो वृत्ति जाती है—उसको ज्ञान कहते हैं। यही भक्ति और ज्ञानका फर्क है। भक्ति गुण—सम्बन्धिनी है और ज्ञान द्रव्य-सम्बन्धी है। देखो, जैसे

पृथिवी है—तो पृथिवी, मिट्टी क्या चीज है—इसको ठीक ठीक जानना ज्ञान है और पृथिवीकी जो गन्ध है, वह गन्ध गुलाबमें आयी, कि कमलमें आयी और उस गन्धका आघ्राण करके तृप्त हो जाना—इसका नाम भक्ति है। कहाँ तो मिट्टी माने तत्त्व और उसके बारेमें जानकारी और कहाँ पृथिवीका सार! मिट्टीका इत्र निकला और वह इत्र तुम्हारी नाकमें आया और उसको सूँघ करके तुम्हारा दिल तृप्त हो गया—इसका नाम होता है भक्ति। जहाँ गुण सम्बन्ध होता है, वहाँ भक्ति होती है और जहाँ केवल तत्त्वका साक्षात्कार होता है—वहाँ ज्ञान होता है।

अब देखो—यह भक्ति क्या है? दान व्रत है? दानके भी कई अर्थ होते हैं। यह दान जो है—यह धनका संप्रयोग है और उसके लिए भी काल होता है। जब क्षत्रिय राजा होता है, तब लोग ब्राह्मणको दान देनेमें अपना गौरव समझते हैं। वर्णाश्रम आगया न! अब जब क्षत्रिय राजा नहीं हुआ, राजामें ब्राह्मण मिल गये—तो वह मंगता भी हो गया और टैक्स वसूल करने वाला भी हो गया; दोनों हो गया। माने जुर्माना भी वही लेगा, मालगुजारी भी वही लेगा, टैक्स भी वही लेगा—और कहेगा—कि दान भी हम लेंगे, क्योंकि हम ब्राह्मण भी हैं। हम कोई अकेले क्षत्रिय थोड़े ही हैं, कि दान नहीं लेंगे! हम तो ब्राह्मण भी हैं।

जब पंचायती राज होता है, तो दानपर भी वे लोग कब्जा कर लेते हैं। तब लोग दान किसको देंगे? कि भाई, जिससे सरकार खुश हो। आजकल सरकार किससे खुश होती है? टैक्स लेनेके कारण, मालगुजारी वसूल करनेके कारण, चुंगी लेनेके कारण सरकारके कर्तव्य हैं कि वह गाँवमें स्कूल खोले, अस्पताल बनवावे, पानीका बन्दोबस्त करे; और वह चाहती है कि यह टैक्स तो हम इस काममें न लगावें और लोगोंमें जो दान देनेकी वृत्ति है—उसको इस काममें लगवा दें। अब इससे क्या होगा? कि जो अपने धर्मके काम हैं, वे छूट जावेंगे। अब कौन प्राचीन संस्कृत विद्याको पढ़े? कौन भगवन्नामका संकीर्तन करे? कौन सत्संग करावे? सारा द्रव्य, सारा धन तो सरकारके पास इकट्ठा हो गया न! और वह जब जो चाहे तब, उससे करवावे। तो सरकारका नाम हो गया सर्वकार। और यह सर्वकार धर्माधर्मका विवेक किये बिना लोगोंके द्रव्यको अपनी रुचिके अनुसार खर्च करे। जिस दवामें शराब भी पड़े, मांस भी पड़े—धर्मका सम्बन्ध उसके साथ कैसे जुड़ेगा? वह सर्वकारकी बात जुदा हो गयी और धर्मकी बात जुदा होती है।

दान कौन-सा? एक दान होता है, जो स्वर्गके लिए होता है। एक दान होता

है—यशके लिए लोकमें; दान करो तो विज्ञापन हो जाता है। एक सेठने एक बार घोषणा कर दी—कि हम पचास लाख रुपयेका दान करते हैं। अखबारोंमें बात छप गयी कि सेठजीने दान किया। अब जब गाँवमें चर्चा चली, तो लोगोंने कहा—उनके पास बहुत रुपया है; तब तो पचास लाखका दान कर रहे हैं। अब लोगोंने अपने-अपने रुपये ले जाकर उनके पास रखने शुरू कर दिये। अब जब खूब रुपये रख गये, तो पचास लाख तो दिये नहीं बिलकुल, लेकिन उसका व्यापार चमक गया। दानकी तो घोषणा की थी; दिया थोड़े ही था! तो यह दान काहेके लिए हुआ? कि व्यापार बढ़ानेके लिए हुआ, विज्ञापनके रूपमें हुआ—वह भी धोखा-धड़ीका!

अच्छा, एक दान होता है, जो यश कमानेके लिए नहीं, धर्मके लिए भी नहीं, अपने प्यारे प्रभुकी प्रसन्नताके लिए होता है। यह जो दानका यहाँ वर्णन है न—भक्तिके साधनके रूपमें यह दान कौन-सा है? आप देखो; वैष्णव सम्प्रदायका जो दान है—उसको यहाँ भक्ति बढ़ानेवाला दान कहा है। जो दान भगवान्‌की सेवामें जायेगा, जो दान भक्तोंकी सेवामें जायेगा—वह दान भक्तिको बढ़ानेवाला होगा। जो दान भगवान् और भगवान्‌के भक्तोंकी सेवामें नहीं जायेगा, वह भकित बढ़ानेवाला नहीं होगा।

दान करना दूसरी बात है और दानसे भक्ति प्राप्त करना दूसरी बात है। अब भक्तिका एक सिद्धान्त सुनाते हैं, क्योंकि भक्ति-शास्त्रके बारेमें लोगोंकी जानकारी बहुत कम है। लोग माला फेर लेते हैं—यह बात ठीक है; संकीर्तन कर लेते हैं—यह बात ठीक हैं; वह भक्ति है। और अच्छी भक्ति है; परन्तु उसके रहस्यका जो ज्ञान है—वह दूसरी चीज है। असलमें भक्ति अपने आप ही किसीके दिलमें प्रकट होती है, क्योंकि भक्ति चैतन्य है; भक्ति स्वयं-प्रकाश है। भक्तिमें परतन्त्रता बिलकुल नहीं है। तो बोले—अच्छा; फिर हमको भक्ति कैसे मिलेगी? कबतक प्रतीक्षा करें कि हमारे हृदयमें भक्ति आवे? एकने कहा—भगवान् भक्ति देंगे। भगवान् भक्ति अगर देते हैं—तो किसको दें, किसको न दें? यह सवाल पैदा होगा कि नहीं? यदि भगवान् अपने रिश्तेदार-नातेदारको भक्ति देते हैं और बाकी लोगोंको नहीं देते—तो वे भी तो भाई-भतीजावादके चक्करमें फँस गये न! वे भी अपने भाई-भतीजेको देते हैं और दुश्मनको नहीं देते। यह तो ऐसे हो गया, जैसे ईश्वरने भी कोई पार्टी बना रखी हो; उसमें भी कोई वैषम्य-नैर्गुण्यका दोष होवे। भगवान् किसीका पक्षपाती नहीं; भगवान् किसीके प्रति निर्दयता नहीं करता। इसलिए स्वेच्छासे भगवान् भी भक्तिका दान नहीं कर सकता।

भगवान्‌की कृपा भक्ति दे सकती है? तो कृपा किसके ऊपर होगी और किसके ऊपर नहीं होगी? तो यह बात भी गयी!

अच्छा, कहो—भगवान्‌के जो भक्त हैं—सो भक्ति देंगे। भगवान्‌के भक्त तो वे हैं, जिन्हें सब भगवान् ही दिखता है। क्या वे भगवान्‌को ही भगवान्‌की भक्ति देंगे? भक्त भी भगवान्‌की भक्ति नहीं दे सकता।

तब भक्ति कौन देगा? देखो, जिसको ऐसा मालूम पड़ता है—कि ईश्वरसे तो प्रेम करो और ईश्वरके भक्तका संग करो; उससे मैत्री करो, दुःखीपर दया करो और जो शत्रु हैं—उनकी उपेक्षा करो; संसारमें-से मन निकालो और भगवान्‌में लगाओ—ऐसी स्थितिमें जो मध्यम कोटिका भक्त रह रहा है; जब उसका संग करोगे, तब तुम्हें देख करके, तुम्हारे दुःखको देख करके—कि बिचारा संसारमें, स्त्रीमें, पुत्रमें, धनमें, पतिमें, पितामें फँसा हुआ है और दुःख भोग रहा है—उसके चित्तमें जब कभी दया आवेगी, तब वह तुम्हारे मनको संसारसे निकालकर भगवान्‌में रखेगा और कहेगा—हे प्रभु! इसको भक्ति दो। तब उसकी सिफारिश सुनकर, उसकी कृपामें भगवान् अपनी कृपा मिला देंगे। तब भक्ति आवेगी।

अच्छा, भक्त कौन है? कि जिसके हृदयमें भक्ति होवे। जब उसने इच्छा की—कि इसको भक्ति मिले, तो पहलेसे मौजूद जो एकके हृदयमें भक्ति थी, वह दूसरेके हृदयमें आगयी। असलमें भक्तिसे ही भक्ति आयी। दीयेसे ही दीया जलता है; एक दीयेसे हजार दीये जला लो। ऐसे एक हृदयमें यदि भक्ति आवे, तो उससे हजार हृदयोंमें भक्तिके दीये प्रज्वलित कर दे। भक्ति मिलती है भगवान्‌के भक्तोंके संगसे। तो भक्ति जो है—वह एकके हृदयसे दूसरेके हृदयमें स्वयं जाती है।

अब जिसके ऊपर भगवान्‌की भक्ति बरसे, वहाँ **दान-व्रत-तपो-होम-जप स्वाध्याय-संयमैः।**

अच्छा, दान कौन सा? जो भगवत्सेवाके लिए है। उस दानसे भक्ति मिलती है, भक्ति बढ़ती है। और जो आलतू-फालतू दान हैं—वे धर्मके दान हैं, स्वर्ग-प्राप्तिके दान हैं। यह है एक बात!

अब दूसरी बात देखो—व्रत। ऐसे तो रोजा-नमाज सब व्रत ही है। चान्द्रायण, प्राजापत्य आदि सब व्रत ही हैं, परन्तु वे व्रत धर्मके व्रत हैं। ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए जो व्रत अपने जीवनमें धारण किये जाते हैं, वे असली व्रत हैं।

दानसे बढ़कर व्रत हैं, क्योंकि दान बाहरकी चीजोंका होता है और व्रत अपने शरीरमें होता है। दान बहिरंग है और व्रत अन्तरंग है। क्योंकि व्रत शरीरके भीतर होता है—इसलिए निकट है और दान बहिरंग चीजोंका होता है, इसलिए वह दूर है। दानसे श्रेष्ठ है व्रत।

व्रत क्या हैं? प्रतिपदाको एक व्रत, द्वितीयाको दो व्रत, पूर्णिमाको पन्द्रह व्रत और फिर एक-एक कम करके अमावस्याको फिर व्रत—इसे जब चान्द्रायण बोलते हैं। जैसे जब दोनों नोकमें पतला होता है और बीचमें मोटा होता है, वैसे पूर्णिमा बीचमें पड़ी। और पूर्णिमासे प्रारम्भ करो, तो फिर प्रतिपदातक एक-एक कम व्रत करके अमावस्या तक आओ और फिर प्रतिपदासे बढ़ाते हुए पूर्णिमाको पन्द्रह करो—इसका नाम पिपीलिका चान्द्रायण है, चींटी जैसे दोनों सिरोंपर मोटी होती है और बीचमें पतली होती है, ऐसे बीचमें अमावस्या होनेसे यह पिपीलिका चान्द्रायण है। एक यति चान्द्रायण होता है, जिसमें आठ ग्रास रोज खाना होता है।

ये सब व्रत जो हैं, ये किस लिए हैं? शरीरसे अगर कोई पाप हो गया हो, तो उस पापको मिटा देते हैं। अगर धर्म, सेवा करके स्वर्ग प्राप्त करना हो, तो उसमें ये मददगार हैं। पर जो प्रभुके प्रेमी हैं, उनके लिए ये प्रेम बढ़ानेवाले नहीं हैं। ये प्रेमक्षपण अथवा पुण्यवर्द्धन द्वारा स्वर्गादिके प्रापक हैं। ये प्रायश्चित्त-रूप हैं अथवा धर्म-रूप हैं। और ईश्वर-प्राप्तिके लिए जो व्रत होता है, उसमें भूखे मरनेका व्रत नहीं होता, वह एकादशी आदि व्रत होता है। आज हरिवासर मनाओ, एकादशी मनाओ। आज पूर्णिमा मनाओ, जन्माष्टमी मनाओ, रामनवमी मनाओ। ये व्रत अपने इष्टदेवकी प्राप्तिके लिए, उनकी प्रसन्नताके लिए हैं। भक्ति-शास्त्रमें उन व्रतोंको व्रत मानते हैं और उनसे भक्ति बढ़ती है।

दान-व्रत-तपो-होम—श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए ऐसी व्याकुलता हुई, कि खानेमें रुचि नहीं हुई—इसका नाम हुआ तप। और यह कहो—कि नहीं, हम पंचाग्नि तापेंगे। पंचाग्नि तपना भक्तिका तप नहीं है। श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए व्याकुलता होने पर भोगोंका जो छूटना है, भोगोंका जो संकोच है, उसका नाम तप है।

होम—अष्टादशाक्षर मंत्रका अनुष्ठान किया, द्वादशाक्षर मंत्रका अनुष्ठान किया। और उसमें भगवान्‌के लिए जो होम है—उस होमको भगवत्प्राप्तिके लिए, भक्तिके लिए साधन मानते हैं।

जप—अपने इष्टदेवके मंत्रका, नामका जप करना चाहिए।

स्वाध्याय—जो है, वह गोपालतापिनी उपनिषद्का, कृष्ण-तापिनी उपनिषद्का, नृसिंह तापिनी उपनिषद्का, रामतापिनी उपनिषद्का स्वाध्याय करना चाहिए। चारों वेदोंके स्वाध्याय, कर्मकाण्डके स्वाध्यायसे तात्पर्य नहीं है।

संयमैः—बोले—मौन लेते हैं। मौन लिया—तो क्या जीभको लकड़ी बना लिया? इसका नाम मौन नहीं है, संयम नहीं है। भगवान्का खूब नाम लेना, भगवान्के नामके सिवाय दूसरेका नाम न लेना—यह जो दूसरे नामोंके लेनेमें संयम है; अपनी जीभको संयमित किया—इसका नाम संयम है।

श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते। और भी विविध प्रकारके साधन हैं। किसी भी सम्प्रदायमें, किसी भी पंथमें जो काम ईश्वरके उद्देश्यसे होता है—वह प्रेय नहीं है, श्रेय है। भक्तिकी विशेषता यह है कि सब काम अपने प्रियताके लिए न हों, उसकी प्रियताके लिए हों। भक्तिमें प्रियतम, प्राणधन, हृदयेश्वर प्रभुकी विशेषता है। वे अपने हृदयमें आकर प्रकट होते हैं, वे करते-कराते हैं। इसका नाम इष्ट-भक्ति होता है। और धर्ममें हम करते-कराते हैं यह कर्ताकी विशेषता होती है। यह धर्म है। तो जितने भी साधन-अनुष्ठान किये जाते हैं, उन सम्पूर्ण साधनोंके द्वारा साध्य क्या है? कि भगवान्की भक्ति, श्रीकृष्णमें भक्ति। **कृष्णे-मतिरस्तु, कृष्णे-मतिरस्तु।** तुम्हारी मति श्रीकृष्णमें लगे, तुम्हारी रति श्रीकृष्णके साथ हो। इसीको भक्ति बढ़ानेवाला काम कहते हैं।

श्रीउद्धवजी महाराज कह रहे हैं—कि दूसरे लोग बड़े दानी हों, व्रती हों, तपस्वी हों, यती हों, स्वाध्यायी हों, संयमी हों और विविध श्रेयके कर्ता हों; और संसारमें उनकी बड़ी प्रशंसा हो। परन्तु उनको मिलेगा क्या? अन्तमें भक्ति मिलेगी न! तो सो भक्ति तो तुम्हें पहले ही मिल चुकी है, गोपियो! इसलिए अगर कोई सृष्टिमें प्रशंसनीय है, तो वह केवल तुम हो। साध्य तो भक्ति ही है।

भक्तिके आचार्योंने यह प्रश्न उठाया कि यदि भक्ति साध्य होगी—माने दान, व्रत, तप तो जीवित होते हैं और उनसे पैदा होनेवाली भक्ति अन्तःकरणकी एक वृत्ति होगी। जैसे धर्मसे उत्पन्न हुआ स्वर्ग नाशवान होता है, ऐसे धर्मसे उत्पन्न हुई भक्ति भी नाशवान होगी, नित्य नहीं होगी इसलिए यह मानना—कि भक्ति धर्मका फल है—यह तो भक्तिको अनित्य बना देना है। श्रीरूपगोस्वामीजीने इसका समाधान किया है—**स्वतः सिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं**—भक्ति तो सबके हृदयमें स्वतः सिद्ध है। कोई धनके भक्त हैं, कोई माँ-बापके, कोई देशके, कोई अपने देहके भक्त हैं, कोई किसी देवी-देवताके

भक्त हैं। भक्ति तो सबके हृदयमें रहती है, लेकिन दुःख यह है—कि वे अपनी भक्ति ईश्वरके साथ न जोड़ करके दूसरेके साथ जोड़ते हैं। धर्मके फलस्वरूप भक्ति पैदा होती है—इसका अर्थ यह नहीं, कि भक्ति रहती नहीं, पैदा होती है; इसका अर्थ है कि भक्तिकी दिशा मुड़ जाती है। संसारकी जो भक्ति है—उसकी जगहपर भगवान्‌की भक्ति आजाती है। भक्ति तो पहलेसे है, रहेगी और करनी पड़ेगी। उसके बिना कोई व्यक्ति रह नहीं सकता। केवल स्वतः सिद्ध भावके प्राकट्यमें—अभिव्यक्तिमें जो प्रतिबन्ध था, उस प्रतिबन्धकी निवृत्ति जप-होम-स्वाध्यायके द्वारा हुई। तब निष्प्रतिबन्ध भक्ति भगवान्‌के साथ जुड़ गयी। कोई भी ऐसा सहृदय पुरुष नहीं होगा, जिसके हृदयमें किसी-न-किसीसे प्रीति न हो, भक्ति न हो, परन्तु वह भक्ति—जो दूसरेके प्रति गयी थी, अब धर्माचरण करनेसे भगवान्‌के प्रति होने लगी।

तुम्हारी तो स्वभावसे ही भगवान्‌के प्रति प्रीति है; इसलिए गोपियो! तुम्हारे सरीखा भाग्यशाली और कोई नहीं। इतना ही नहीं, गोपियोंके लिए उद्धवजीने वह प्रशंसाकी बात की है, जो सृष्टिमें ढूँढ़नेपर भी दूसरेके लिए मिलनी मुश्किल है। वे कहते हैं—तुम तो भक्तिकी आचार्या हो। वैधी भक्तिका प्रवर्तन किसीने किया—कि भगवान्‌की पूजा कैसे करें और किसीने पराभक्तिका प्रवर्तन किया, लेकिन प्रेमलक्षणा—जो रागात्मिका, रागानुगा भक्ति है संसारमें, भगवान्‌से राग करनेवाली भक्ति—उस भक्तिको तो तुमने प्रकट किया। उद्धवजीने यह नहीं कहा—कि बड़े-बड़े मुनियोंने उसे प्रकट किया; उन्होंने कहा कि वह भक्ति तो मुनियोंके लिए दुर्लभ है—

भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा।
भक्तिः प्रवर्तितदिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा॥ २५॥

भक्ति प्रवर्तिताः—तुम लोगोंने भक्तिका प्रवर्तन किया है—माने रागानुगा भक्ति संसारमें कहीं देखनेमें नहीं आती थी। तुमने प्रकट होकर संसारमें यह भक्ति चलायी है—कि भगवान्‌से वैसा प्रेम करना, जैसा पतिसे; भगवान्‌से वैसा प्रेम करना जैसा पुत्रसे; भगवान्‌से वैसा प्रेम करना, जैसा सखासे। यह भगवान्‌का जो साधारणीकरण है, अपने वर्तमान भावको ही भगवान्‌में लगाकर दिव्य बनाना है—यह भक्ति प्रकट करनेवाली—गोपियो! तुम हो। यह बात उद्धवजी कहते हैं।

बयालीसवाँ प्रवचन

श्रीउद्धवजीने गोपियोंसे कहा—कि तुम्हें परम पुरुषार्थकी प्राप्ति हो गयी। लोग कहते हैं कि पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। धर्म पुरुषार्थ जो है, यह शास्त्रोक्त कर्मका अनुष्ठान है, काम अनुकूल भोगकी प्राप्ति है, अर्थ पुरुषार्थ शुद्ध अर्थकी प्राप्ति है और मोक्ष जो है—वह त्याग है। पुरुषार्थ इसलिए कहते हैं कि सब लोग इनको चाहते हैं। फिर उनमें भी शास्त्रार्थ है—कि मुख्य पुरुषार्थ कौन है। जैमिनी कहते हैं कि धर्म ही मुख्य पुरुषार्थ है; वात्स्यायन आदि कहते हैं कि काम ही मुख्य पुरुषार्थ है, बृहस्पति आदि कहते हैं कि अर्थ ही मुख्य पुरुषार्थ है और व्यास आदिका मत है कि मोक्ष ही मुख्य पुरुषार्थ है। सबके मतमें मोक्ष ही पुरुषार्थ हो—ऐसा नहीं है, यहाँतक कि अगर मोक्ष नाममें ही आग्रह होवे, तो अपने-अपने ढंगसे मोक्ष भी लोगोंने बना लिया है। यह पैसेकी जो गाँठ बँधी है, उसको खोलकर बाँध देना—यह भी मोक्ष है और काम पुरुषार्थवादी मानते हैं कि भोग भी मोक्ष-ही-मोक्ष है। विचार करके देखें—तो असलमें धर्म पुरुषार्थ नहीं है; बतानेवालेका अभिप्राय है कि धर्मजन्य जो सुख है—वह सुख पुरुषार्थ है। हम धर्मसे होनेवाला सुख चाहते हैं। हम काम नहीं चाहते—कि हमारे पास भोगका भण्डार हो; बल्कि भोगसे होनेवाला सुख पुरुषार्थ है। अर्थ पुरुषार्थ नहीं है, उससे होनेवाला सुख पुरुषार्थ है। इसी प्रकार मोक्ष भी पुरुषार्थ नहीं है; मोक्षसे होनेवाला सुख पुरुषार्थ है।

मुख्य पुरुषार्थ चार नहीं हैं; मुख्य पुरुषार्थ केवल एक है—सुख। अब यह देखना, कि उस सुखको तुमने कहाँ माना। काम करनेसे सुख होता है? कि इकट्ठा करनेसे सुख होता है? भोगनेसे सुख होता है, कि छोड़नेसे सुख होता है? अपनी ओर देखो। इससे अपनी पहचान होगी; माने लोग अपनी पहचान नहीं करते हैं—कि हम कथा सुनने जाते हैं, कि मोक्ष चाहते हैं। यह बात बिलकुल नहीं है—कि आप कथा-वार्ता सुनने आते हो, तो मोक्ष चाहते हो। यह देखना—कि आप घरमें सुखके लिए क्या प्रयत्न कर रहे हो। सुखके लिए इकट्ठा कर रहे हो, कि सुखके लिए त्याग कर रहे हो। अपने को तो भाई! खुद ही जाँच सकता है, दूसरा कोई उसके बारेमें कैसे निर्णय दे दे!

हमारे काशीमें एक भारत धर्ममण्डल संस्था थी। उस समय उसकी चढ़ी जवानी थी; अब तो बुढ़ा गयी है। उसने बड़े-बड़े सुनहरे अक्षरोंमें प्रमाण पत्र छापकर रखे हुए होते थे। जब कोई सेठ लोग जाते, तो उनके लिए धर्मालंकार,

धर्मधुरीण, भक्तिरत्न, भक्तिराज—ये खिताब लिखकर उनको दिये जाते। जयदयालजीको 'भक्तराज'का खिताब दिया था। हनुमान प्रसादजीको 'भक्तभूषण'का खिताब दिया था, लच्छीरामजी, चिरंजीलाल गोयन्दका—इन सब लोगोंको खिताब वहाँसे मिले थे। हमारे शंकराचार्य भगवान् भी जाते थे, तो उनको 'धर्मधुरीण', 'धर्मालंकार'की उपाधि दी जाती थी। यह 'भक्तराज' की उपाधि मिल जानेसे कोई भक्तराज नहीं हो जाता। तुम अपने दिलमें देखो—कि तुम्हारा सुख कहाँ है। जिसका सुख दान आदिमें है, वह धर्मात्मा है; जिसका सुख अर्थ-संग्रहमें है, वह अर्थाभिमानी है। हमने यह-यह भोग किया है—इसका अभिमान होता है। हमने यह-यह त्याग किया है—यह अभिमान होता है। असलमें यह जो अभिमान-जन्य सुख है, यह चार प्रकारसे आता है। कई लोग तो मनोरथ बनाते हैं, योजना बनाते हैं—यह मिलेगा, यह करेंगे और अन्तमें मर जाते हैं; सुख नहीं होता है। यह मनोरथ-जन्य सुख होता है। कुछ लोग भोगते हैं, तब सुखी होते हैं। कुछ लोगोंको अभिमान ही होता है—कि हमारे पास यह है, यह है—इसीमें सुखी हो लेते हैं और कुछ लोग त्याग करके सुखी होते हैं।

अब देखो, तुम्हारा सुख कहाँ है। जिसका समाधिमें सुख है, वह योगी है। जिसका धर्ममें सुख है, वह धर्मात्मा है। जिसका अर्थमें सुख है, वह अर्थी है। जिसका भोगमें सुख है, वह कामी है। अब सुख ही पुरुषार्थ है—यह बात निश्चित हुई न! सुख तो उससे मिलता है, जिससे प्रेम होता है। धनसे प्रेम हो, तो धनसे सुख मिले और धनसे वैराग्य हो तो धनसे सुख न मिले। भोगमें प्रेम हो, तो भोगमें सुख मिले और भोगमें प्रेम न हो, तो भोगसे दुःख होवे। धर्ममें प्रेम हो, तो धर्म करनेमें सुख होवे, न हो तो दुःख होवे। कई लोग दान करके रोते हैं। कई लोग त्याग करके रोते हैं—हाय-हाय! छोड़ दिया; न घरके रहे, न घाटके रहे! त्याग करके भी रोते हैं। असलमें सुख कहाँ मिलता है? जहाँ प्रेम होता है। न गुरुमें सुख मिलता है, न मातामें, न पितामें, न ईश्वरमें और न धनमें! असलमें सुख गणपत्य जो है—वह प्रेममें है।

अब अपने विषयपर आजावें। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष भी पुरुषार्थ हैं, परन्तु सुख देनेवाला होनेके कारण प्रेम जो है, यह पंचम पुरुषार्थ—मुख्य पुरुषार्थ है। अब यह पुरुषार्थ कहीं माया-मोहके साथ जोड़ोगे, तो थोड़े दिन वहाँ मालूम पड़ेगा; फिर पलट जायेगा। यह प्रेम ईश्वरसे जोड़ोगे तो सुख स्थायी हो जायेगा।

ऐसे वर को के बरूँ जो जनमे औ मर जाए।
बर बरिये गोपाल जू म्हारो चुड़लो अमर हो जाए।

तो यह बताया—**अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोक-पूजिताः**। गोपियोंको 'पूर्णार्था' बतानेका अभिप्राय है—कि तुम्हारा श्रीकृष्णसे प्रेम हो गया और कृष्ण तुमको मानते हैं।

शालिग्रामकी बटियाको कृष्ण मानते हैं। बोले—एक दिन बन्दर उठा ले गया। काल है न; काल बन्दर है, वह संसारकी सब बटियोंको उठा लेता है। ऐसे प्रेम नहीं होता है। शालिग्रामकी जो शिला है, वह पत्थर नहीं है; वह तो प्रतीक है चतुर्भुज नारायणका। और चतुर्भुज नारायण द्विभुज कृष्णका प्रतीक है और द्विभुज कृष्ण परिपूर्ण परब्रह्म परमात्माका प्रतीक है। अन्ततोगत्वा अपनी चित्तवृत्तिको परमात्मामें लगाओ; तब सच्चा सुख, सच्ची शान्ति मिलेगी। प्रेम जोड़ना हो तो परमेश्वरसे जोड़ो। प्रेमको इधर-उधर—संसारमें भटकने मत दो।

गोपियो! तुम पूर्णार्था हो गयीं, क्योंकि **वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः**। भगवान् वासुदेवमें तुम लोगोंने अपने मनको अर्पित किया। मन अर्पण करनेका अर्थ है कि मनमें जितने संकल्प हों—सब अपने प्रियतमके लिए; और जितने विकल्प हों—सब अपने प्रियतमके लिए हों। मन भीतर-ही-भीतर उसीको खिलावे-पिलावे; उसीको दे-ले; उसीसे मिले-जुले। तो मनोराज्यकी दिशा बदल गयी।

उद्धवजीने सोचा—कि गोपियाँ कहेंगी कि हमने तो कुछ नहीं किया, जो तुम्हारी प्रशंसाके पात्र बनें। न हमने दान किया, न जप किया, न तप, न होम, न स्वाध्याय, न संयम। संयम माने योगाभ्यास। दुःखी पुरुषको सुख देना; रोगसे दुःखी होवे—तो दवा करके, भूखसे दुःखी हो तो अन्न देकर और नंगा होनेसे दुःखी हो तो कपड़ाका सुख देना—ये सब प्रेय हैं। एक बेवकूफको ज्ञान देकर समझदार बनाना—यह भी दान है। आनन्दके विपरीत जो भाव अपने चित्तमें आया—उसको मिटानेका प्रयास और चेतनके विपरीत जो भाव अपने चित्तमें आया है—उसको मिटानेका प्रयास और पूर्णताके विपरीत जो भाव है—नासमझी, उसको मिटानेका प्रयास और सत्के विपरीत जो भाव अपने अन्दर आया है—उसको मिटानेका प्रयास; ये सब विविध साधन हैं। अब इसमें देखो—मकान भी आगया, अस्पताल भी आगया, वाचनालय भी आगया, स्कूल, सत्संग भवन—सब आगये और दुःख मिटानेके जितने प्रयास हैं—वे सब आगये। दानका भी श्रेयका भी हिसाब होता है—कि किस हिसाबसे किया जाय। उनका ढंग होता है।

अब यह बताते हैं कि देखो—करो कुछ भी, लेकिन सबका प्रयोजन यह है कि भगवान्में—श्रीकृष्णके प्रति भक्ति होवे। वे गोदान करनेसे प्रसन्न होते हैं—तो

गोदान करेंगे; तुलादान, स्वर्णदान करनेसे प्रसन्न होवें—तो वह करेंगे। एक अभय दान होता है, जिससे बढ़ करके दूसरा कोई दान नहीं है। जब कोई आदमी मृत्युसे भयभीत हो, रोगसे भयभीत हो, भविष्यपर दृष्टि डालकर भयभीत होवे—तो उसके चित्तके भयको मिटा देना सबसे बड़ा दान है। पैसेवाले तो समझते हैं, कि हम चार पैसे किसीको देते हैं, तो यह सबसे बड़ा दान है। उन बेचारोंके पास और कुछ है ही नहीं। मैंने कहीं पढ़ा, कि एक पतिने अपनी पत्नीसे कहा—कि जब देखो, तब तुम पैसा ही माँगती रहती हो। कभी अक्ल क्यों नहीं माँगती हो? उसने कहा—जिसके पास जो चीज होती है, वही उससे माँगी जाती है। अक्ल तुम्हारे पास है ही नहीं।

ये पट्ठे देनेवाले हैं न; उनके पास अक्ल तो है नहीं। अभय स्वयं नहीं है, तो दूसरेको कहाँसे देंगे? असल प्रेम नहीं है, तो दूसरे को कहाँसे देंगे? चार पैसे किसीको देकर अपने बराबर किसीको समझते ही नहीं। पैसे देते हैं और बदलेमें अभिमान लेते हैं। असलमें इन सबका—दान-व्रत-तप-होम-जप-स्वाध्याय-संयम—इन सबका फल क्या है? दानका फल तो समझ लिया। व्रतका फल गिनती बढ़ाना नहीं है—कितने व्रत करते हैं? द्वादशी करते हैं, अमावस्या करते हैं। अरे तुम तो महीने भरमें दो एकादशी करते हो, बारह महीनेमें चौबीस एकादशी करते हो। मुसलमान तो इकट्ठा ही एक महीनेका रोजा कर लेता है। तप करते हो; तो तप करना माने शरीर सुखाना नहीं है; जप करना माने माला फेरना नहीं है; स्वाध्याय करना माने मंत्र बोल देना नहीं है और योगाभ्यास माने साँस या दम घोंटना नहीं है। इन सबका एक उद्देश्य होता है। सकाम लोग जो होते हैं, वे कुछ पुत्रके लिए करते हैं, कुछ पतिके लिए करते हैं, कुछ पत्नीके लिए करते हैं। एक सज्जन आते हैं अपने पास—अभी कुँवारे ही हैं—पण्डित लोग उनको कहते हैं कि तुम **पत्नीं मनोरमां देहि** का जप करो, तब तुम्हारा अच्छी लड़कीसे ब्याह हो जायेगा। गौरीकी पूजा होती है और लक्ष्य भी जुदा-जुदा होता है। भक्तिकी क्या विशेषता है? कि साधना चाहे अलग-अलग करो, लेकिन लक्ष्य सबका एक होता है—**अनेन क्रियतां प्रभु प्रीयताम्**—हमारे इस कर्मके द्वारा हमारे प्रियतम प्रभु प्रसन्न हों।

जहाँ सकाम धर्ममें साधना भी अलग-अलग है और लक्ष्य भी अलग-अलग है—वहाँ भक्तिमें साधना अनेक हैं, परन्तु लक्ष्य एक है। यह भक्तिकी विशेषता है। योगमें जो समाधि लगती है, तो वृत्ति भी एक होती है और वृत्तिका लक्ष्य भी एक होता है। ज्ञानमें न अनेक साधन। अनेक लक्ष्य, एक लक्ष्य, न एक

साधन; इसमें तो अपना आपा जो है—वही अखण्ड है। वहाँ सत्त्वमें सृष्टि नहीं है, गुणमूलक सृष्टि नहीं है।

हमारे जीवनमें भक्ति आवे। भक्तिका अर्थ है—विभाग हो जाय। भक्ति माने बँटवारा होता है—यह बात आप ध्यानमें रखना। किसी चीजको दो-टूक कर देना—इसका नाम भक्ति है।

हरि सों जोरि सबन सों तोर्‌यो।
मैं अपनो मन हरि सों जोर्‌यो॥

हरिसे जोड़ना और सबसे तोड़ना—यह विभाग हुआ भक्तिमें। अगर मन इधरसे हटाकर उधर नहीं लगाओगे, तो भक्ति नहीं होगी। **भञ्जनं भक्तिः, भजनं भक्तिः, भागो भक्तिः**—इसीका नाम भंजन होता है, इसीका नाम भजन होता है, इसीका नाम भाग होता है। गुणोंका विभाग कर देना—माने ये दुर्गुण हैं, ये हमारे प्रियतममें नहीं हैं और ये सद्‌गुण हैं—ये हमारे प्रियतममें हैं। दोनोंका जो विभाजन है—इसीका नाम भक्ति है।

तो दान करो, भाई! व्रत करो, तपस्या करो, होम करो, मंत्रका जप करो, स्वाध्याय करो, संयम, योगाभ्यास करो और भी श्रेयके साधन करो, परन्तु—

माँगत तुलसीदास कर जोरे।
बसहु राम सिय मानस मोरे॥
गाइए गणपति जगबन्दन।
संकर सुवन भवानी नन्दन॥

गणपतिकी वंदना करो और उनसे कहो—कि हमारे प्रभुकी भक्ति हमें दो। यह भक्तिकी विशेषता है—कि कोई भी साधन करो और उससे चाहो कृष्णकी भक्ति! तब हमारा मन सबसे जुदा होकर कृष्णके साथ जुड़ जाय।

उद्धव बोले—बस, तुम्हें फल ही मिल गया। तुम्हारा मन कृष्णके साथ जुड़ गया, तब दान, व्रत, तप, होम, जपकी जरूरत क्या रही? इसलिए गोपियो! तुम जो यह कहती हो, कि हमने न दान किया, न व्रत, न तप, न जप—तो हमको तुम पुर्णार्थ क्यों कहते हो—सो तो हम तुमको पुर्णार्थ यों कहते हैं गोपियो! कि सबका फल है कृष्णकी भक्ति। सो कृष्णकी भक्ति, कृष्णकी प्रीति तुम्हें मिल गयी। इसलिए अब तुम साधनावस्थामें नहीं रही हो। अब तुम स्वयं साध्य हो—

भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा।

बड़े आनन्दसे उद्धवजी बोलते हैं—कि गोपियो! तुम भक्तिकी आचार्या हो।

भक्तिकी गुरु कौन? कि गोपियाँ! भक्ति तुमको सीखना हो, तो किससे सीखो? कि गोपियोंसे सीखो। व्रजवासी लोगोंका एक सिद्धान्त—श्लोक है, कि—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनया।

भक्तिका सार बता देते हैं। हमारे इष्टदेव कौन हैं? व्रजेन्द्रनन्दन, श्यामसुन्दर—नाम सुन लो; व्रजेश नहीं और जगदीश भी नहीं—जगदीशको तो छोड़ ही दिया। व्रजेश नहीं, व्रजेश-तनय; नन्द-नन्दन, मुरलीमनोहर, पीताम्बर-धारी, मोर-मुकुटवाले, साँवरे सलोने व्रजराज कुमार हमारे इष्टदेव हैं, और रहते कहाँ हैं? द्वारिकामें, कि मथुरामें?

तद्धाम वृन्दावनम्—वे वृन्दावनमें रहते हैं वृन्दावनसे बाहर नहीं जाते। अच्छा भाई! तुम उनकी उपासना कैसे करते हो? किस ढंगसे उनकी पूजा करते हो? आप देखो; गुरुका नाम बताते हैं—**रम्या तासु उपासना व्रजवधूवर्गो या कल्पिता**—हम उनकी उपासना करते हैं, जिनकी उपासना व्रजकी वधुएँ करती हैं। व्रजकी माताओंने या ज्ञानियोंने जो उपासना की थी—सो नहीं; व्रजकी नववधुओंने कृष्णकी जो उपासना की थी, वह उपासना हम करते हैं; माने हमारी आराध्या गोपियाँ हैं—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनया तद्धाम वृन्दावनम्।
रम्या तासु उपासना व्रजवधू वर्गो या कल्पिता॥

भाई! ग्रन्थ कौन-सा तुमको मान्य है? बोले—कि निर्मल ग्रन्थ श्रीमद्भागवत। अच्छा, तुम्हारा पुरुषार्थ क्या है? कृष्णकी उपासना करके तुम चाहते क्या हो? बोले—प्रेम ही हमारे लिए परम पुरुषार्थ है। हम चाहते हैं श्रीकृष्णका प्रेम। जिसे मोक्ष चाहिए—वे मोक्ष लें, पेंशन लें। हमको पेंशन नहीं चाहिए; हमको चाहिए जन्म-जन्म व्रजेन्द्रनन्दनकी सेवा। **श्रीचैतन्य महाप्रभोरमतमिदं**—यह श्रीचैतन्य महाप्रभुका मत है और इसमें हमारा परम आदर है।

यह जो गोपी है—यह केवल उपासिका नहीं है; यह तो प्रेमकी आचार्या है। उद्धवजी कहते हैं—कि हे गोपियो! तुमने तो अनुत्तम भक्ति प्रवर्तित की है। देखो, जो शब्द हैं—वे ध्यान देने लायक हैं—**भवतीभिः उत्तमश्लोके भगवति अनुत्तमा भक्ति प्रवर्तिता सा भक्तिः मुनीनामपि दुर्लभा**। मुनियोंको भी जो दुर्लभ है—ऐसी भक्ति।

अब देखो! उद्धवजी कहते हैं—कि बड़ी खुशीकी बात है; हम तो अपना सौभाग्य मानते हैं, कि श्रीकृष्णने हमें व्रजमें भेजा और व्रजमें तुम गोपियोंका दर्शन हुआ। **उत्तमश्लोको यस्य**—श्लोक माने यश; उत्तम है यश जिसका अथवा उत्तम

नारदादि जिनकी महिमाका वर्णन करते हैं, उन भगवान्‌में तुम लोगोंने अनुत्तम भक्ति प्रवर्त्तित की। अनुत्तम माने जिससे बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है। यह अनुत्तम शब्द संस्कृत वाङ्मयमें अनूठा शब्द है। जिससे उत्तम और कोई न हो—उसका नाम अनुत्तम। न उत्तम अनुत्तम नहीं; जो उत्तम न हो—सो अनुत्तम नहीं। **नापि उत्तमः यस्मात्**—जिससे उत्तम दूसरा कोई नहीं—ऐसी वस्तु। तुम उसकी प्रवर्तिका, उसकी आचार्या हो। ऋषि मुनियोंको तो इस भक्तिका ज्ञान होगा? बोले—नहीं, उन मुनियोंको भी दुर्लभ है। तो असलमें बात क्या है? कि मननशील होने पर भी उनको दुर्लभ है। क्यों दुर्लभ है? कि मनन ही उनके प्रेममें प्रतिबन्ध है। जो अपनेको बहुत बुद्धिमान बनाकरके रखना चाहता है, वह प्रेमके पन्थमें आयोग्य होता है। चालाकी, बुद्धिमानी—किससे? अपने ही प्रेमियोंसे। बोले—एक-न-एक दिन ऐसे लोग धोखा देंगे, भाई! भक्त लोग जो हैं—वे चतुराई नहीं चाहते हैं—

चतुराई चेतना सभी चूल्हेमें डारो।

कलकत्तेके सी० आर० दास थे न। हम लोग बचपनमें कहते थे—क्या नाम रखा है—सियार दास। गाँवमें तो सियार बहुत हैं न! वह तो जब बड़े हुए, तो मालूम हुआ—नहीं, यह तो बहुत बढ़िया नाम है—चितरंजन दास। अब सी० आर० का मतलब चितरंजन होता है—यह कल्पना उस समय कहाँ होगी! बड़े भारी बैरिस्टर थे वे; जीवनमें नास्तिक रहे। उनकी बहन वृन्दावनमें आयीं थीं, तो माँ ने बताया कि यह सी० आर० की बहन हैं; बड़ी भक्त, बड़ा अनुष्ठान किया उन्होंने। चितरंजन दास जब मरने लगे, तब जो आखिरी बात उन्होंने कही थी, वह यही थी—

चतुराई चेतना सब सभी चूल्हेमें जावे।
बस मेरा मन एक ईश चरणाश्रय पावे॥
आग लगे आचार विचारों के उपचय में।
उस प्रभुका विश्वास सदा दृढ़ रहे हृदय में॥

देखो, त्याग-साम्य है न गोपियोंमें और मुनियोंमें। मुनियोंने भी बड़ा त्याग किया और गोपियोंने भी। त्यागमें गोपियोंकी बराबरी करनेवाले बड़े-बड़े महात्मा ही हो सकते हैं। लेकिन विचारकी बात देखो; जो बड़े-बड़े मुनि लोग हैं वे एकान्त जंगलमें बैठकर ईश्वरके बारेमें मनन करते हैं और गोपियों धान कूटती हैं कृष्णको चावल पकाकर खिलानेके लिए; घर लीपती हैं उनके थिरक-थिरक कर नाचनेके लिए। मक्खन निकालती हैं—कि श्यामसुन्दर हमारे घरमें आकर चोरी करें। पानी

भरने इसलिए जाती हैं—कि रास्तेमें आकर हमारा आँचल पकड़ ले। 'अरे चंचल, छोड़ आँचल। क्यों पकड़ता है? अभी बच्चा है। मालूम नहीं तुझे, कितना कलंक लगता है?' तो यह जो गोपियोंकी स्थिति है, यह जो उनके सम्पूर्ण कर्मका मुँह ईश्वरकी ओर मुड़ गया है—यह कोई मननकी दशा नहीं है। और त्यागमें वे किसी ऋषि-मुनिसे कम नहीं हैं।

देखो, पुरुषके लिए त्याग करना सरल है, स्त्रीके लिए बड़ा कठिन है; शास्त्र भी उसकी आज्ञा नहीं देता। उनको सुरक्षित रहना चाहिए। तो स्त्री होकर भी इतना त्याग करना। त्यागमें ऋषियोंकी बराबरी, अन्तरमें निरन्तर श्रीकृष्णका स्मरण-ध्यान होना, और सम्पूर्ण कर्मोंका उद्देश्य श्रीकृष्ण होना—इसका मतलब गोपी है।

एक महात्मा थे। हजारा लेकर निरन्तर नारायण-नारायणका जप करते रहते थे। नारदजीको लगा कि उन सरीखा भक्त दुनियामें और कोई नहीं होगा। तो नारदजी नारायणके पास गये। उन्होंने पूछा—कि नारदजी! कहाँसे आरहे हो? नारदजी बोले कि आपके सबसे बड़े भक्तसे मिलकर आरहा हूँ। कौन? कि जो हजारा रखता है, और नारायण-नारायण करता चलता रहता है। नारायण हँस दिये। कि हँसते क्यों हो, महाराज? अरे, वह हमारा सच्चा भक्त नहीं है। हमारा भक्त तो दूसरा ही है। कौन है महाराज? कि हम नहीं बतावेंगे; तू दुष्ट है। बोले—आप बतावो, तो हम जाकर दर्शन करेंगे। कि इस समय वह एक खेतमें हल चला रहा है। अब नारदजी चल पड़े, उसके पास। उससे पूछा—कि क्यों भाई! तुम भगवान्‌की भक्ति कैसे करते हो? तो बोले—कि महाराज। हमसे क्या भक्ति बनती है। हम तो बस, सबेरे उठते हैं, और अपने नित्यकर्मसे निवृत्त हो लेते हैं। उसके बाद जो हल उठाने जाते हैं, तो एक बार नारायणको प्रणाम करके हल उठाते हैं, और हल जोतते हैं। इसके सिवाय हम कुछ नहीं जानते। नारदजीको बड़ा आश्चर्य हुआ कि दिन भरमें एक बार तो नारायण कहता है—और है सबसे बड़ा भक्त। फिरसे नारायणके पास गये—महाराज! आपने किसको सबसे बड़ा भक्त बता दिया? बोले—कि देखो न! वह स्त्री छोड़कर, पुत्र छोड़कर, घर छोड़कर केवल भजनके नाम पर अपनी जीविका चला रहा है। स्त्री-पुत्रका पालन करते हुए, खेती करते हुए, गृहस्थ-धर्ममें रहकर आजतक प्रातःकाल हमारा नाम लेना कभी नहीं भूला। और ये महात्मा जंगलमें रहकर अगर नारायण-नारायण कर ही लेते हैं—तो क्या विशेषता है?

तो गोपियोंकी विशेषता यह है, कि उधर सास-ननद खुचर निकालनेमें लगी हैं, पति सजा देनेमें लगे हैं, और घरका सारा काम निबाहना पड़ता है। और

फिर भी उनके मनमें लगन लगी है कृष्णसे। उनकी बराबरी कौन मुनि कर सकता है? मुनीनामपि दुर्लभा। बड़े-बड़े मुनियोंको भी यह भगवत्सम्बन्धिनी जो भक्ति है—यह दुर्लभ है।

दिष्ट्या पुत्रान् पतीन् देहान् स्वजनान् भवनानि च।
हित्वा वृणीत यूयं यत् कृष्णाख्यं पुरुषं परम्॥ २६॥

कितने सौभाग्यकी बात है, कि तुम लोगोंने पति छोड़ा और पतिका प्रेम छोड़ा, पुत्र छोड़ा और पुत्रका स्नेह छोड़ा, देह छोड़ा और देहका प्रेम छोड़ा, स्वजन छोड़े, उनकी ममता छोड़ी, भवन छोड़ा। सबका परित्याग करके तुम लोगोंने वरण किसका किया? **कृष्णाख्यं पुरुषं परं**—जिसका नाम है कृष्ण और है पर पुरुष। पुरुष तो हैं सब जीव और परम पुरुष कौन है? कि जो परमात्मा है। तो बोले—तुमने जीवका वरण छोड़कर ईश्वरका वरण किया। इसमें विशेषता क्या है? कि त्याग तो स्वजन, पति, पुत्र, देह, भवनका है और वरण किसका? वरण किया जीवका? नहीं, भूल हो गयी। संसारका अगर त्याग करो, तो वरण करो परमात्माका। वह साक्षात् पर पुरुष है। भागवतमें कहा है—

वसुदेव - गृहे साक्षात् भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥

देवांगनाएँ गोपी बनें। देवांगनाएँ भोगी न रहें, वे भी गोपी बनें। क्यों गोपी बनें वे? यह तो पर पुरुष परमात्मा है न—यह कृष्ण बनके आया है। भगवान्‌की प्रतिज्ञा है; नारायण दुर्वासाजीको बोलते हैं—जो अपनी दारा छोड़करके, आगार घर छोड़ करके—**दारागार पुत्रा**...वित्त, गुरुजन, अपने जीवनकी भी लालसा छोड़कर, लोक और परलोक छोड़ करके मेरी शरणमें आये हैं; जिन्होंने मेरे लिए सब कुछ छोड़ा; तुम्हीं बताओ—उनको छोड़नेकी कल्पना भी मेरे मनमें कैसे आसकती है? **साधवो हृदयः मह्यम्**—साधुओंका हृदय हूँ मैं और मेरे हृदय हैं साधु। वे मेरे सिवाय और कुछ नहीं जानते। मैं भी उनके सिवाय और कुछ नहीं जानता—

हम भगतन के भगत हमारे।
सुन अरजुन परतिज्ञा मेरी यह व्रत टरत न टारे॥

तो तुम लोगोंने सब कुछ त्याग करके परम पुरुष परमात्मा भगवान्‌की शरण ग्रहणकी है। और देखो न, मेरे ऊपर तो बड़ी कृपा हुई कृष्णकी और तुम लोगोंकी—जो मैंने तुम्हारी यह भक्तिकी दशा अपनी आँखोंसे देखी।

*

तैंतालीसवाँ प्रवचन

सर्वात्म भावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे।
विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः॥ २७॥

भक्ति तो भगवान्‌की सब करते हैं, पर इतर वस्तुओंका निषेध कैसे करते हैं? कि जो आँखसे दिखे—सो नहीं। फिर उसकी तरफ आँख नहीं, फिर मन नहीं, फिर बुद्धि नहीं—और फिर समाधिकी स्थिति! मुनियोंकी प्रवृत्ति जो है—वह बाहरकी अपेक्षा भीतरकी ओर है। मुनि लोग भगवान्‌की भक्ति तो करते हैं, पर वह बाहरसे भीतर जानेवाली भक्ति करते हैं। आत्म रूपसे भगवान्‌की भक्ति करेंगे—तो शान्त रस हो गया। अन्तर्यामी स्वामीके रूपमें भगवान्‌की भक्ति करेंगे—तो दास्य रस हो गया। वे अलक्षण, अव्यपदेश, अतीत—ऐसे प्रभुके चिन्तनमें मगन हो जाते हैं। वे परमात्माके लिए 'अव्यवहार्य' शब्दका प्रयोग करते हैं। माण्डूक्य उपनिषद्‌में इस शब्दका प्रयोग है। भक्ति मुनियोंने भी की है, परन्तु वह व्यवहारसे अव्यवहार्यकी ओर ले जाती है। और भक्ति गोपियोंकी भी है, परन्तु वह तो भक्तिका संचार करनेवाली भक्ति है; जैसे चन्द्रमामें आह्लाद है—तो वह सबके भीतर आह्लादका संचार करता है, शीतलताका संचार करता है; सूर्यके अन्दर ताप है—तो वह सबके भीतर तापका संचार करता है। गोपियोंके हृदयमें जो भक्ति है, वह उनके हृदयमें-से छलकती है। मुनियोंकी भक्ति आत्मलीन कर देती है, आत्मनिष्ठ कर देती है। उसमें कोई सात्विक भाव नहीं प्रकट होता है।

पन्द्रह बीस बरस पहलेकी बात है। खुर्जाके आसपास एक त्रिवेणीदत्त नामके ब्रह्मचारी रहते थे। बड़े निष्ठावान ब्रह्मचारी थे, बड़े पंडित थे। एक दिन मैं रास पंचाध्यायीकी कथा कह रहा था, तो वे चुपचाप सुन रहे थे। जब मैं उठकर जंगलकी ओर जाने लगा, तब मेरे पास आये और बोले—कि हम जिस परमात्माका चिन्तन करते हैं, वह तो हमको शान्त कर देता है और तुम जिस परमात्माका वर्णन कर रहे हो—उसका चिन्तन करनेसे तो हमारी आँखोंमें आँसू आते हैं; रोमांच होता है; हरे कृष्ण-हरे कृष्ण चिल्लानेका मन होता है! यह तो भीतरसे बाहर लानेवाला ईश्वर है, छिपे हुएको पकड़कर बाहर लानेवाला ईश्वर है। वे कहते थे कि शान्त रस निर्विकार है और शृंगार रस विकारी है।

अब देखो आप! गोपीकी भक्तिमें विशिष्टता क्या है? कि उन्होंने परमात्माको धरतीपर नचाया। ईश्वरके प्रेममें विशेषता क्या है? कि जीवका,

ईश्वरका, व्यक्तियोंका—सबका नाचना बन्द हो गया। जब नाच-नाचकर ईश्वर मिलता है, तो समाधि लगाकर ईश्वरको कौन प्राप्त करना चाहे? गोपियोंने तो खुद भी नाचा, ईश्वरको भी नचाया और हँसते-खेलते माखन खिलाकर, चोर-चोर कहकर, ऊखलमें बाँधकर, मुकुट उतारकर और चन्द्रिका सिरमें लगाकर, गोरोचनका तिलक उतारकर उसकी जगह सिन्दूरकी बिन्दी लगाकर, कटि—काछनी हटाकर उसकी जगह साड़ी पहनाकर—छोराको छोरी बनाकर उन्होंने श्रीकृष्णका बिलकुल साधारणीकरण कर दिया! व्यवहारमें देखो—हमारे भाई हैं, मित्र हैं, पति हैं, पुत्र हैं—ऐसे भगवान्‌को बनाकर रख लेना। यह मुनियोंकी भक्तिमें नहीं है। यह गोपियोंकी भक्तिमें है, कि भगवान्‌को अपने काबूमें कर लेना। उनके पास ईश्वर वशीकरण-चूर्ण है। वह छिड़क दिया कृष्णके ऊपर जरा, सो भी हाथसे नहीं; आँखसे ही छिड़क देती हैं और कृष्ण उनके बसमें हो गये! **मुनीनामपि दुर्लभाः।**

अब कहो भाई! बाहर वाले कृष्ण अच्छे कि भीतर वाले कृष्ण अच्छे? गोस्वामीजीने कई दफा साफ ही कह दिया है कि अन्तर्यामी रामसे भी अच्छे बहिर्यामी राम हैं। जो आँखसे दिखते हैं, वे हमको अच्छे लगते हैं; जो आँख बन्द होनेपर दिखते हैं—सो कौन? चोर कौन? जो आँख खुलनेपर आवे—सो चोर, कि जो आँख बन्द होनेपर अन्धेरेमें आवे—सो चोर? साहुकार तो सबके सामने आता है भाई? सच्ची चीजको दस आदमीके सामने आना चाहिए। आँख बन्द करनेके बाद कलेजेके अन्धेरेमें क्यों आवे? अगर सच्ची चीज है—तो भरी सभामें दस आदमियोंके सामने आवे। फिर हाथ लगाके देख लो—सच्चा है, कि झूठा है। सच्ची वस्तु सबके लिए सच्ची होती है।

गोपियोंने सबके बीचमें भगवान्‌को नचाया। उद्धवजी कहते हैं—यह मेरा सौभाग्य है कि तुम लोगोंने कृष्णकी भक्ति की। तुमने श्रीकृष्णसे प्रेम किया। हम जानते हैं कि जो राधा, सो कृष्ण; जो कृष्ण, सो राधा। और दोनों गोलोकमें मिले हुए हैं। धरतीपर काहेको प्रकट हुए? कि उद्धवजीको उस प्रेमका कुछ पता चले। तो यह विरह क्यों दिखाया उन्होंने? वे तो हमेशा मिले हुए हैं न? पर विरह इसलिए दिखाया—कि उद्धवजी जान जायँ कि प्रेमी लोग विरहमें कैसे रहते हैं।

इसमें एक बात देखो! ब्रह्मचारी होना और भगवान्‌का भजन करना—यह सुगम है, लेकिन ब्याह कर लिया बच्चे पैदा हो गये और भगवान्‌का भजन करना—तत्रापि पुत्रान् हित्वा—उसमें भी अपने पैदा हुए बेटेको छोड़कर; और

किसीको नहीं—अपने पुत्रको छोड़कर भजन करना। हे भगवान्! बहुत मुश्किल है। एक सज्जनको हम जानते हैं; उनका बेटा उनको मारता है। ऐसा दुष्ट बेटा पैदा हो गया; लेकिन बाप उन्हीं बेटोंके लिए भीख माँगता है। तो पुत्रसे इतना स्नेह होता है। एक हमारे मित्र हैं; वे अपने बच्चेको **हृत्पिण्ड** कहते थे। हृत्पिण्ड—हमारे कलेजेका टुकड़ा है। सभ्य पुरुष हैं वे। आजकल सभ्य पुरुष उनको कहते हैं—जो विलायत वालोंसे ज्यादा मिलते-जुलते हैं; तो सभ्य पुरुष हैं वे।

अच्छा, दूसरी बात देखो गोपियोंकी। **पतीन् हित्वा**—एक पति अपनी पत्नीका त्याग करके चला जाय और संन्यासी हो जाय, भगवान्का भजन करे—यह आसान है; लेकिन सब गोपियोंने पतियोंको छोड़ दिया—पतीन् बहुवचन है। कोई पतिको छोड़ता है? कहीं शास्त्रमें विधान है इसका? स्त्रीके लिए निराश्रय हो जाना—यह बहुत मुश्किल है।

अब जरा ध्यान दो इस बातपर—कि गोपीने **देहान् हित्वा भवत्याः वृणीत**—उसने देहका परित्याग करके कृष्णका वरण किया। पुत्र छोड़ना आसान है, पति छोड़ना आसान है, लेकिन देह छोड़ना? बात जल्दी समझमें नहीं आवेगी—कि देह छोड़कर भगवान्को प्रेम किया। मथुराकी स्त्रियोंके प्रसंगमें भी यह बात है और रास-लीलाके प्रसंगमें भी यह बात है—कि मथुरामें जब एक यज्ञ-पत्नीको बन्द कर दिया गया; और अनेक गोपियोंको गोपोंने घरोंमें रोक लिया—नहीं जाने दिया—तो उसका नतीजा क्या निकला? कि जो गोपियाँ चलकर गयीं—वे पीछे पहुँची और जो रोक दी गयीं—वे पहले पहुँच गयीं।

इसमें यह बात निकलती है—कि गोपीका प्रेम स्थूल शरीरसे मिलन नहीं है, सूक्ष्य शरीरसे भी मिलन नहीं है और कारण शरीरसे भी मिलन नहीं है। प्रेमका स्वरूप है निरावरण करनेवाला। यह प्रेमकी प्रकृति है—कि देहके बीचमें जो पर्दा है, उस पर्देको हटा दे। पर्दा हटाना प्रेमका काम है। प्रेमी कहते हैं—हमने अपने गलेमें हार इसलिए नहीं पहना—कि हमारे और प्रियतमके बीचमें यह हार व्यवधान बनकर रहेगा। प्रेम फूलोंकी मालाका व्यवधान भी नहीं सहता, तो और आवरण कहाँसे सहेगा? इसीलिए यदि देह अपने प्रियतमसे दूर करने लगता है, तो देहके पर्देको भी फाड़ दिया जाता है। गोपियोंने स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीरके पर्देको फाड़कर आत्मा और परमात्माका मिलन जैसा होता है—वैसा प्रेम किया। **स्वजनान् भवनानि च**—अपने सगे सम्बन्धियोंको छोड़ा; अपने घर छोड़े।

'जाके प्रिय न राम वैदेही।'

'तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।'

'नाते सभी राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।'

'तजो रे मन! हरि विमुखन कौ संग।

जाके संग कुबुद्धि उपजत है परत भजन में भंग॥'

तो गोपियोंने सब छोड़ा! छोड़ते तो सब हैं, पर छोड़कर वरण किसको करते हैं?

हित्वा वृणीत यूयं यत् कृष्णाख्यं पुरुषं परम्।

मुनि लोग त्याग तो करते हैं, परन्तु वरण किसका करते हैं? केवल स्वयं शेष रह जाते हैं, उनके लिए वरणीय कोई नहीं रहता। और गोपियोंने त्याग तो मुनियोंके समान किया, किन्तु मुनि लोगोंने वरण नहीं किया और गोपियोंने वरण किया। किसका वरण किया? कि परम पुरुषका वरण किया—**कृष्णाख्यं पुरुषं परम्**। नाम ही कृष्ण है—**कृष्णं आख्या यस्य**। असलमें यह है कौन? यह परम पुरुष है, परमात्मा है; नाम है जिसका कृष्ण, कृष्णके रूपमें जिसकी अभिव्यक्ति हुई है। आख्या माने अभिव्यक्ति। कृ माने सत्ता, ण माने परमानन्द—आनन्द ही आनन्द है जो परमात्मा—उस परम पुरुषको गोपियोंने वरण किया।

सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे। उद्धवजी कहते हैं—गोपियो! आप लोगोंने सर्वात्मभावसे अधिकार कर लिया श्रीकृष्णके प्रति। कैसे किया? कि—

विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः।

एक तो जो अपने ऊपर कृपा हुई—उसका वर्णन है और एक जो गोपियोंकी स्थिति है—उसका वर्णन है। अब देखो, कहते क्या हैं? तुम्हारा श्रीकृष्णके प्रति सर्वात्मभाव हो गया। माने जहाँ देखती हैं—वहाँ कृष्ण ही कृष्ण भासता है। **सर्वात्मभाव**—यह शब्द वेदान्तियोंका भी है और भक्तोंका भी है। जरा-सा उसमें फरक डाल दें—**सर्वोऽपि आत्मभावा कृता**—पहले 'सर्व'को अलग करो, फिर 'आत्मभाव'को अलग करो। आत्मामें जितने भाव तुम्हारे हैं, माने तुम्हारे अन्तःकरणमें जितने भाव उठते हैं—**सर्वोऽपि आत्मभावा**। आत्मा माने हृदय, हृदयमें जितने भाव हैं—उनका नाम हुआ सर्वात्मभाव। और सारे सर्वात्मभाव कहाँ है? कि कृष्णमें। माने गोपी जब सोती है, तो ऐसे लगता है—जैसे कृष्णमें सो रही है, जब चलती है—तो कृष्णके साथ। जब बोलती है, तो लगता है—कृष्णसे बातें कर रही हैं। जब खाती हैं—तब कृष्णकी लिए; पानी भरती हैं कृष्णके लिए;

धान कूटती है, गोबर पाथती है—तो कृष्णके लिए। जितने संकल्प गोपीके हृदयमें उठते हैं—उन सबके सामने श्रीकृष्ण खड़े हैं। सारे आत्मभाव उन्होंने श्रीकृष्णके साथ जोड़ दिये हैं। अब जरा अपनी ओर भी देखना! बोले—सोते किसके लिए हो? कि अपने लिए। खाते किसके लिए हो? कि अपने लिए। अरे बाबा! उसके लिए करो न! उद्देश्य पवित्र होना चाहिए, तब साधन अपने आप पवित्र हो जावेगा और उद्देश्य पवित्र नहीं हो, तो पवित्र साधन भी अपवित्र हो जाता है।

संस्कृतमें एक नाटक है प्रबोध चन्द्रोदय। बड़ा उत्तम नाटक है; सात आठ सौ बरस पहलेका है। कहते हैं कि एक सज्जन रोज प्रातःकाल काशीमें गंगाजीमें स्नान करके, चन्दन लगाकर, हाथमें माला लेकर घण्टोंतक जप किया करते थे। काहेके लिए? कि कोई यजमान फँस जाय। अब तप करना बहुत बढ़िया है, गंगा-स्नान करना बहुत बढ़िया है, लेकिन उनका लक्ष्य यह था, कि कोई गाँठका पूरा, आँखका अन्धा हमारे चक्करमें आये। अच्छा काम होने पर भी बिगड़ गया; उसका उद्देश्य बिगड़ गया। अब एक आदमी है। वह सबेरे उठता है और झाड़ू लेकर सड़कपर लगा रहा है। क्यों? कि इस रास्ते भगवान् निकलेंगे। यह अच्छा, कि संध्या-वन्दन करना अच्छा? झाड़ू लगाना अच्छा है। संध्या-वन्दनके विपरीत नहीं कह रहे हैं; हम तो कहते हैं—संध्या-वन्दन भी कसे और भाव भी करो। भाव पवित्र होना चाहिए। तो गोपीके भावमें पवित्रता आगयी है।

अब इसका दूसरा अर्थ देखो। **सर्वात्मभावाः**। भाव कैसा है? सर्वात्मा है—इसका अर्थ क्या हुआ? एक हरिणी आयी गोपीके सामने—और गोपी श्रीकृष्णके प्रेममें डूब गयी। एक लताको गोपीने छू लिया—और वह श्रीकृष्ण—प्रेममयी हो गयी। एक वृक्षकी ओर गोपीने देखा—और उसमें श्रीकृष्ण—प्रेम भर गया। तो उस गोपीका भाव कैसा है? कि **सर्वं आप्नोति व्यप्नोति इति सर्वात्मा**। यह संक्रामक रोग है। एक सज्जन हमारे पास आये, तो उन्होंने बताया—कि हमको इन्फेक्शन हो गया है। उन्होंने दिखाया कि उनकी बाँह पर लाल-लाल दाने हो गये थे। कोई घण्टे आध-घण्टेके बाद हमको भी वैसा ही हो गया! तो यह क्या हुआ? कि इन्फेक्शन हो गया!

भक्तके पास जानेपर भक्तके शरीरसे जो तन्मात्राएँ निकलती हैं न—उसी प्रकारके भाव मनमें आजाते हैं। अगर क्रोधियोंके बीचमें बैठना पड़े, तो थोड़ी देरमें क्रोध आजायेगा; कामियोंके बीचमें बैठना पड़े, तो थोड़ी देरमें काम आजायेगा। प्रभावशाली भक्तोंके बीचमें बैठना पड़े, तो थोड़ी देरमें हृदयमें भक्तिका संचार होता है। तो गोपियोंका भाव कैसा है? कि सर्वात्मा है—माने

संचरणशील है। उद्धवजी कहते हैं—तुम्हारा जो भाव है, वह हमारे हृदयमें आरहा है। गोपियो! अगर थोड़ी देर ऐसा रहा—तो मैं भी श्रीकृष्णको अपना पति मानने लग जाऊँगा, मैं स्वयं गोपी हो जाऊँगा। तुम्हारा भाव एक हृदयमें संकीर्ण रहनेवाला नहीं है—सर्वात्मभाव है।

'जित देखों तित स्याममयी है।'
'हिय में रह्यो नाहिन ठौर।
नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और॥'
'ऊधो! मन न भये दस बीस।
एक हुतौ सो गयो स्यामसंग को आराधे ईस॥'

प्रेम बहुत बड़ा सत्य है। यह आजकल सड़कमें जो प्रेम है, पार्कमें जो प्रेम है—यह देहका देहसे प्रेम है। यह जो कपट-पूर्ण प्रेम है—इसमें न त्याग है, न समर्पण है, न चिन्तन है, न अनुकूलता है। देखो न, प्रेममें त्याग होता है दूसरोंका, समर्पण होता है अपने आपका। चिन्तन होता है मनसे और अनुशीलता होती है प्रीतमकी। यह प्रेम जो है न—यह जीवनकी दिशाको मोड़ देनेवाली चीज है। ज्ञान जीवनका निर्माण नहीं करता है, प्रेम जीवनका निर्माण करता है। प्रेम पीतलको सोना बना देता है; रसायनकी शक्ति है इसमें। और ज्ञान पीतलको पीतल दिखावे, सोनेको सोना दिखावे। ज्ञान माने बदलना नहीं होता, प्रेम माने तो बदलना होता है। जो पत्थरको गला दे, नचवा दे, हँसवा दे, खिला दे—उसका नाम प्रेम होता है। प्रेम कमजोरको बलवान बना दे, दूरको निकट बना दे, त्यागीको रागी बना दे—रागीको त्यागी बना दे। यह निराकारको साकार बना दे, निर्गुणको सगुण बना दे, कारणको कार्य बना दे। बापको बना दे, परिपूर्णको परिच्छिन्न बना दे—यह सामर्थ्य प्रेममें है। प्रेममें सारी सृष्टिको उलट देनेकी शक्ति होती है।

सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे।

अधोक्षज माने श्रीकृष्ण। **अधः अक्षजं वृत्तिज्ञानं यस्मात् स अधोक्षजः।** वृत्तिज्ञान जिनसे बहुत नीचे है—माने जिस दिव्यलोकमें परमात्माका अनुभव होता है, उसकी अपेक्षा यह संसारकी दशा अत्यन्त निम्नकोटिकी है। उस अधोक्षज प्रभुके प्रति तुम्हारे मनमें सर्वात्मभाव है। सर्वात्मभाव अधिकृत कर लिया—माने सम्पूर्ण प्रेम तुम्हें प्राप्त हो गया। प्रेमकी सारी दशाएँ तुम्हारे जीवनमें आगयीं।

तो बोले—सच्चे प्रेममें तो विरह नहीं। कि यह विरह नहीं, यह अनुग्रह है। श्लोकका अर्थ देखो! कैसा अद्भुत है—

विरहेण महाभागा महान् मेऽनुग्रहः कृतः।

हे महाभाग्यवती गोपियो! महाभागा कहनेका अभिप्राय है, कि तुम्हारा तो कृष्णसे नित्य योग है! स्त्री भाग्यवती तब होती है, जब उसके प्रियतम पतिका उसको संयोग हो। तो तुम तो भाग्यवती हो। तुम्हारा हृदयेश्वर, तुम्हारा प्राणेश्वर तुम्हारे साथ हैं। तुम्हें वियोग नहीं है, देवियो! हम पहचान गये तुमको।

अरे, देख रहे हो—हम रो रही हैं? हम विकल हो रही हैं। हम भौंरेके पीछे-पीछे भटक रही हैं। हमारी सखीकी यह बेहोशी देखो; और तुम कहते हो कि हमें विरह नहीं है!

नहीं-नहीं। यह जो तुमने विरह दशा प्रकाशित की है—यह तो मेरे ऊपर अनुग्रह है तुम्हारा; कि हमारे सामने अपना विरह प्रकट किया है! यह विरह क्या है? कि अनुग्रह है। किसके ऊपर? कि मेरे ऊपर। मैं हूँ कृष्णका विरही और तुम हो कृष्णकी संयोगिनी। तुम जानती हो कि संयोगमें क्या सुख है और विरहमें प्रेमी लोग कैसे रहते हैं। तुमने आज हमें शिक्षा दी है, कि उद्धवजी! **विरह अनुग्रहः कृतः विरहेण हेतुना मे मम उपरि अनुग्रहः कृतः महान् अनुग्रहः।** यह तुमने हमको बताया है, कि अगर तुम्हारे हृदयमें श्रीकृष्णसे प्रेम होता, तो तुम श्रीकृष्णको मथुरामें छोड़कर यहाँ नहीं आते न! जबतक सर्वस्वमें अपने प्रभुका दर्शन नहीं होवे, तबतक क्या प्रेम और क्या विरह!

देखो, दो ही अवस्था हो सकती हैं—या तो हम भगवान्‌से मिल करके रह रहे हों, या भगवान्‌से बिछुड़ करके रह रहे हों। तो असली क्या है? कि असली मस्ती है। तुमको अनुभव क्या होता है—यह मुख्य है। असली नकलीकी कोई बात नहीं है। हम सबलोग जानते हैं—जो असली है—सो असली है; जो नकली है—सो नकली है। हम लोगोंमें ऐसा कौन है, जो ईश्वरको नहीं मानता? ईश्वरको सब मानते हैं। अच्छा, ईश्वर अपार करुणा-सागर है? है। वह सुन्दर है? मधुर है? कोमलचित्त है? कि है। तब तुम उसके बिना कैसे रह रहे हो--यह तो बताओ? इतनी महत्त्वपूर्ण वस्तु छोड़ करके तुम सृष्टिमें जी रहे हो! उसके लिए तड़पते नहीं, रोते नहीं; उसके लिए व्याकुल नहीं होते, तुम्हारी आँखोंमें दो बूँद आँसू आता नहीं। उसके लिए तुम्हारा दिल नहीं करता; क्यों? बोले—देखोजी, तुम ईश्वरके अस्तित्वको तो मानते हो, लेकिन उसके भक्त नहीं हो।

न हम बिरहिन न तुम दास।

उद्धवजी! न तुम दास हो उनके और न हम विरहिणी हैं। तुम तो कहते

हो—पीताम्बर धारी, मुरली मनोहर, श्यामसुन्दर, अपने सलोने व्रजराज कुमारको छोड़कर हम चिदाकाशका ध्यान करें। तो तुम दास काहे के? और हम विरही काहेके?

देखो, आस्तिक होना एक अलग बात है। कोई मन्त्र पढ़ता होता है, तो हम हाथ जोड़ लेते हैं। संतोष हो जाता है हमें—कि हम ईश्वरको मानते हैं; आस्तिक हैं, श्रद्धालु हैं, प्रणाम करते हैं। तो यह पालागी बोलना दूसरी चीज है और ईश्वरका प्रेमी होना दूसरी चीज है। हम यह मानते हैं, कि यदि संयोगकी तुमको स्फुरणा होवे—कि मिले हुए हैं-तो ठीक है, पर यह स्फुरण होवे कि हम ईश्वरसे अलग हैं और ईश्वर हमसे अलग और उसके बाद भी तुम्हारा दिल फटता नहीं, पीड़ा नहीं होती, तड़प नहीं होती, रग-रग व्याकुल नहीं होता है—तो तुम क्या भक्त हो? क्या प्रेमी हो?

संसारके जीव कुछ नास्तिक होते हैं और कुछ आस्तिक होते हैं। नास्तिककी तो हम बात नहीं करते। जो आस्तिक हैं—उनमें-से जो भक्त हैं, जिनको भगवान्‌का विरह सताता है, वे विरही लोग कैसे रहते हैं—यह उद्धवजीको मालूम नहीं है। उद्धवजी कहते हैं—**विरहेण**; यह मेरे ऊपर; जीव पर महान् अनुग्रह करनेके लिए—कि संसारके जीव यह समझें, कि कृष्णके विरहमें कैसे रहा जाता है—तुमने विरहको अपने जीवनमें प्रकट किया है। यह दीक्षा है। कहते हैं—शिष्यके हृदयमें होवे श्रद्धा और गुरुके हृदयमें होवे अनुग्रह—जब अनुग्रह और श्रद्धा दोनोंका मिलन होता है, तब दीक्षा सम्पन्न होती है। और शिष्यमें तो श्रद्धा न हो और गुरुमें अनुग्रह न हो—तब दीक्षा कहाँसे होगी? एक दिनमें, एक क्षणमें गुरु अपने हृदयमें स्थित ध्यानको, भावको—जिसको शक्तिपात बोलते हैं न—शिष्यके हृदयमें संचारित कर दे।

देखो, गोपियोंको पहले तो बताया—कि तुम आचार्या हो भक्तिकी, माने तुम्हें हमको भक्ति देनी चाहिए। बोले—नहीं, किसी महात्मासे, किसी मुनिसे जाकर लो—तो उन्होंने कहा—**मुनीनामपि दुर्लभः**—मुनियोंको दुर्लभ है। तुमने जो आँखोंसे हमारी ओर देखा—इससे चाक्षुषी दीक्षा हो गयी, हमारे ऊपर अनुग्रह हो गया। आगया हमारे अन्दर विरह! तुम्हारी कृपासे आगयी हमारे अन्दर भक्ति। यह भक्ति महात्माओं, मुनियोंसे मिलनेवाली नहीं है; और निकृष्ट नहीं—सर्वोत्तम है। और विरह प्रकट करके मेरे ऊपर तुमने यह अनुग्रह—दीक्षा दी है, जिससे हमारे हृदयमें भी भगवान्‌की भक्ति आवे।

❋

चौवालीसवाँ प्रवचन

श्रूयतां प्रियसंदेशो भवतीनां सुखावहः।
यमादायागतो भद्रा अहं भर्तू रहस्करः॥ २८॥

श्रीभगवानुवाच

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्।
यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही।
तथाहं च मनः प्राण भूतेन्द्रियगुणाश्रयः॥ २९॥

उद्धवजीने गोपियोंसे कहा, कि तुमलोगोंने तो हमको प्रेमकी दीक्षा दी है। तुम आचार्य हो। परन्तु गोपियोंके मुखारविन्दपर कोई उल्लास नहीं आया। उनके हृदयमें जो विकलता थी—उसका ह्रास नहीं हुआ। वे तो सोचने लगीं—यह उद्धवजी क्या बोलते हैं? यह तो संसारी लोग जैसे किसीके यहाँ काम लेने जाते हैं—तो उसकी तारीफ करते हैं, अपना सम्बन्ध जताते हैं—कि हमारा—तुम्हारा यह सम्बन्ध है; गुण-कीर्तन करते हैं—कि तुम्हारे अन्दर ये गुण हैं; फिर कहते हैं कि हमारे लाभमें तुम्हारा लाभ है, हमारा-तुम्हारा स्वार्थ एक सरीखा है—यह बोलनेका तरीका भक्त लोगोंका तो नहीं है। भक्त लोग इस तरहसे बात नहीं करते। जब आदमी खुशामद करने लगे, तो समझना—यह कुछ अपना मतलब चाहता है।

अब उद्धवजीके ध्यानमें आया कि गोपियोंके ऊपर मेरी बातका रंच मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। तो वे बोले—ठीक है; मैं तो अपना और गोपियोंका सम्बन्ध बताने लग गया—कि मेरे ऊपर तुमने अनुग्रह किया, तुम भक्तिकी आचार्या हो। बात तो भगवान्‌की बतानी चाहिए न! जिससे उनका प्रेम है—उसकी चर्चा उनके सामने करो, तब ये ध्यान देकर सुनेंगी। अपनी बात उन्होंने बिलकुल हटा दी और बोले—**श्रूयतां प्रियसंदेशो**। आओ, तुम प्यारेका सन्देश सुनो!

अच्छा, जिसको उपदेश किया जाता है, वह उसके मुताबिक कभी करे, कभी न करे; पर अगर यह कहो—कि तुम्हारे मालिकने, तुम्हारे प्यारेने तुम्हारे

लिए यह संदेश भेजा है—कि तुम यह काम करना—तो अब वह करे कैसे? उपदेश आता है आज्ञाको लेकरके, और श्रद्धासे जीवको झुकाता है और सन्देश आता है प्यार लेकर और स्वभावसे ही हृदयको गला देता है। यह सन्देश किसी ऐसे-वैसेका नहीं है—अपने प्यारेका सन्देश है। **प्रियसन्देशः** का अभिप्राय प्रिय सन्देश नहीं है, प्रियका भेजा हुआ सन्देश है। इससे क्या होगा? कि **भवतीनां सुखावहः**—यह सन्देश तुम लोगोंके लिए सुखकी पिटारी लेकर आया है। **सुखं आवहति**—यह सुखका वाहन है, माने यह सन्देश अपने भीतर तुम्हारे लिए सुख भरकर ले आया है। इसको प्रेमसे सुनो, तो तुमको सुख मिलेगा।

देखो जी, जब तुम यह सन्देश सुनाने लगोगे, तो हमारे कृष्ण हमको मिल जायेंगे?

नहीं।

तब ऐसा सन्देश हमको नहीं चाहिए। हमको तो सन्देश देनेवाला चाहिए। तो उन्होंने कहा—**भद्रा**, अर्थात् कल्याणी गोपियो! तुम कल्याण-भाजन हो, अर्थात् तुम्हें भगवान् मिलेंगे। भद्र कौन है? जो भद्रपुरुष—माने श्रेष्ठ पुरुष है। जो भगवत् प्राप्तिकी योग्यतावाले हैं; जो इस साढ़े तीन हाथकी दूरीमें रहनेवाले शरीरसे अनादि, अखण्ड, परिपूर्ण परमात्माको प्राप्त करे और जो मन-दो मन वजनवाले शरीरसे अखण्ड-सत्तात्मक प्रभुको प्राप्त करे; जो इस दुःखी जीवनमें आनन्दको भर ले—उसका नाम भद्र है। लोग रोज पाठ करते हैं न—**भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा**—हम हमेशा अपने कानोंसे भद्र-चर्चा श्रवण करें। बोलीं—तुम ऐसी खबर लेकर आये हो—कि श्रीकृष्ण हमसे मिल जायँ? कि हाँ—**यमादायागतो भद्रा**—उस सन्देशको लेकर मैं आया हूँ। तुमको वह सन्देश कैसे हाथ लगा? तो कहते हैं—**अहं भर्तुः रहस्करः**—मैं अपने भर्ता-स्वामी श्रीकृष्णका रहस्कर हूँ—माने रहस्य-प्रकाशक हूँ। उनके मनमें जो गुप्त बातें छिपी हुई हैं—उनको प्रकट करने तुम्हारे पास आया हूँ। कि उद्धव! श्रीकृष्ण अपने हृदयकी बात तुमको कैसे बता सकते हैं? कोई मित्रताकी बात होती, बाप-बेटेकी बात होती, पति-पत्नीकी भी बात होती—तो तुमको बता सकते थे। यह तो प्रेयसी और प्रियतमकी बात है—यह तुमको कृष्ण बता नहीं सकते। उद्धवजीने कहा—कि गोपियो! उनका क्या अभिप्राय है—या तो वे जानें या तुम जानो।

श्रीभगवानुवाच—उवाच माने बोले—कहा। जो शब्द उन्होंने कहा—जिसका उच्चारण किया, वह शब्द मैं तुम्हारे सामने बोल देता हूँ। उसमें सन्देश क्या

है—यह देनेवाला जाने और तुम लेनेवाली जानो। हम तो केवल उसके वाहन हैं। 'उवाच'में जो लिट् लकार है न—उसका अभिप्राय यह है कि मेरे चलते समय श्रीकृष्णने जो कहा—वही मैं तुम्हें सुना रहा हूँ। ब्रजवासी तो ऐसे कहते हैं, कि उद्धवजी जब सन्देश लेकर आये, तो गोपियोंकी दशा उन्होंने देखी—कि कोई बेहोश हो रही है, किसीकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही है, कोई रूठकर दूसरी ओर देख रही है। अब श्रीमतीजी रूठी हुई हों और कोई सन्देशकी चिट्ठी उनके हाथमें दे दे—तो फाड़कर फेंक देंगी। ऐसे समयमें कोई चिट्ठी आदि नहीं देनी चाहिए।

एक महात्मा कहते थे, कि किसीको गुस्सा आया हो, तो उसको शीशा दिखाना—कि देखो, तुम्हारा चेहरा गुस्सेमें कैसा बन गया है। दूसरेने संशोधन किया—कि अगर स्त्रीको गुस्सा आया हुआ हो, तो शीशा मत दिखाना; नहीं तो वह तोड़ देगी। गुस्सेमें कोई अपना बिगड़ा हुआ चेहरा देखना पसन्द थोड़े ही करेगा! उसकी कुरूपता उसके सामने क्यों आवे? गुस्सेके समय उस व्यक्तिकी सुन्दरताका लोप हो जाता है; एक भीषण सौन्दर्य होता है उस समय।

अच्छा, अगर आँसू बहते हों और चिट्ठी दो—तो अक्षर नष्ट-भ्रष्ट हो जावें। कागज गल जावे। बेहोशी हो तो पढ़कर कुछ समझ ही नहीं आवेगा; तो आश्वासन कहाँसे मिलेगा? तो गोपियोंमें उद्धवजीने कोई चिट्ठी नहीं दिखायी। उद्धवजीने कहा—कि देखो, यह मोहर लगी है चिट्ठीपर। उनके सामने उसको तोड़ा और बोले—कि अच्छा, तुम सब लोग बैठो। तबतक मैं पढ़कर सुनाता हूँ।

चिट्ठीमें-से श्यामसुन्दर मिलेंगे गोपियोंको तो बिना श्यामसुन्दरके किसी बातसे सन्तोष ही नहीं है। बोलीं—कि अच्छा, देखो—इसमें शायद कोई गुप्त सन्देश होवे—जैसे हम लोगोंको पहले इशारा किया करते थे, कि तुम जमुनाजीके तटपर मिलना, तुम कदम्बके नीचे मिलना, तुम अमुक कुंजमें मिलना। ऐसे शायद कोई संकेतके शब्द हों और रात-बिरात श्यामसुन्दर आनेवाले हों। तो जरा गौरसे सुनो—कोई बात उसमें बताते हैं क्या? अब वे सन्देशके शब्द पढ़ते हैं—

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्।
यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही॥

हे गोप्यः भवतीनां वियोगः मम नास्ति मम च वियोगः भवतीनां नास्ति। यह

जो 'मे' है न इसमें, इसको दुहराना पड़ता है—**मे वियोगः मम वियोगः भवतीनां नास्ति भवतीनां च वियोगः मम नास्ति।**

अब देखो—ज्ञानकी बात करते हैं। जब ज्ञानकी बात शुरू हुई, तो एक गोपीने दूसरी गोपीकी ओर देखा—कि अरी सखी, इसमें तो ज्ञानकी बात है! तो दूसरी सखीने कहा—देखो सहेली! तुम इन बातोंमें मत आना। क्यों? देखो, रासलीलाके प्रारम्भमें श्रीकृष्णने हम लोगोंको कर्मयोगका—धर्मयोगका उपदेश किया। वह सुनकर हम रोने लगीं। और बादमें जब वे प्रसन्न हुए—तो एक दिन हमने एकान्तमें उनसे पूछा—क्यों श्यामसुन्दर! तुमने रातमें मिलनेका वायदा किया। बाँसुरी बजाकर बुलाया। जब हम तुम्हारे पास आयीं—तो तुम धर्मका उपदेश काहेको करने लग गये? तो श्यामसुन्दरने कहा—ग्वालिन, तुम बावरी हो, मूर्ख हो। हमने उस दिन धर्मका उपदेश नहीं किया था। हमने तो बड़े रसका उपदेश किया था। वह तुम्हारी समझमें नहीं आया, क्योंकि तुम्हारे दिमाग ही नहीं है। अक्ल खराब है; तुमने कहा—

रजन्येषा घोररूपा घोर - सत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥ १०.२९

'यह रात बड़ी भयंकर है। भयंकर प्राणी हैं इसमें। तुम लोग ब्रज लौट जाओ; इस समय स्त्रियोंको यहाँ नहीं रहना चाहिए।' तो श्रीकृष्ण हँसने लगे और बोले—कि 'मैंने तो कहा था'—**रजन्येषा अघोररूपा**—बड़ी सुन्दर रात है और **अघोर सत्त्वनिषेविता**—यहाँ गीदड़ और शेरका कोई डर नहीं है और **व्रजं न प्रतियात**—तुम लौटकर मत जाओ। **इह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः**—तुम्हारे जैसी सुन्दरियोंको तो रातमें यहीं रहना चाहिए। मैंने तो ऐसे कहा था।' उनके सामने हमको शरम आयी—कि हाँ श्यामसुन्दर! बात तो तुमने जरूर मीठी-मीठीकी थी, लेकिन उस समय हमारी समझमें नहीं आयी।

अब आज जो उन्होंने सन्देश भेजा—यह ज्ञानयोगका सन्देश है। तो देखना सखी! कहीं इसकी बातोंमें न आजाना; ज्ञानवाला अर्थ नहीं मानना। उसमें जो प्रेमवाला सन्देश भरा हुआ है, वही हमारे लिए है। जब श्यामसुन्दरसे मिलने पर उनकी बात हमारी समझमें नहीं आयी थी, तो अब ज्ञानका उपदेश जो वे बता रहे हैं—तो पहले ही कह देना—कि नहीं-नहीं! हमने समझ लिया था कि इसमें श्रीकृष्णने बड़े प्रेमका सन्देश भेजा है।

आओ, पहले शुरूसे ही देख लें, कि प्रेमकी कैसी चर्चा भरी हुई है। तो—

भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित्।

श्रीकृष्ण कहते हैं, कि यह जो कामदेवका सन्देश है—यह गोपियोंके अपार प्रेमका प्रतीक है। कैसे? कि उनके प्राणनाथ, हृदयेश्वर, जीवन-सर्वस्व ज्ञानका उपदेश करें और उनके द्वारा ज्ञानका उपदेश देनेपर भी गोपियोंका प्रेम और बढ़े—घटे नहीं—तो गोपियोंका प्रेम कितना ऊँचा, कितना प्रबल है! मुकाबला करनेके लिए कर्मयोगका उपदेश आया और गोपियोंसे पराजित हो गया। अब यह कामयोग सबसे प्रबल माना जाता है—और उसके वक्ता श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्णके द्वारा उपदिष्ट ज्ञानयोग भी गोपियोंके प्रेमको शिथिल करनेमें समर्थ नहीं हुआ—तो इससे गोपियोंके प्रेमकी प्रबलता ही सिद्ध होती है।

ध्यान दो—**यो मया सर्वात्मना सर्वोपादान भूतेन, सर्व कारेण, सर्वाधिष्ठानेन, स्वयं प्रकाशेन ब्रह्मा भवतीनां वियोगो मे**—गोपियो! तुम लोग क्या समझती हो—मैं सर्वात्म ब्रह्म हूँ? सर्वात्म ब्रह्मसे तुम लोगोंका वियोग कहाँ है? एक पलभर भी कोई ब्रह्मको छोड़कर रह सकती है? एक इंच भी कोई वस्तु ब्रह्मको छोड़कर रह सकती है? एक कण, एक तृण भी ब्रह्मको छोड़कर रह सकता है? ब्रह्म तो उसको बोलते हैं—जो परिच्छिन्न—सामान्य के अत्यन्ताभावका अधिकरण है, अर्थात् जिसके बिना कोई वस्तु है ही नहीं। मैं हूँ सर्वात्मा। तुम लोगोंके तनमें, मनमें, वचनमें, रोम-रोममें, रग-रगमें भरपूर! उसके वियोगकी कल्पना करके रोती हो? यह तुम लोगोंका अज्ञान है, अविद्या है।

यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही।

जैसे संसारमें चाहे कोई स्त्री हो या पुरुष, पशु हो चाहे पक्षी—उसके शरीरमें मिट्टी है कि नहीं? मिट्टीमें पानी है कि नहीं? पानीमें गरमी है कि नहीं? गरमीमें गति है कि नहीं? और गतिमें अवकाश है कि नहीं? तो जैसे संसारमें किसी भी किस्मका प्राणी हो, किसी भी प्रकारकी चीज हो—तो उपादानके रूपमें, साधनके रूपसे ब्रह्ममें व्याप्त है, उसी प्रकार संसारकी समूची सृष्टिमें परब्रह्म परमात्मा व्याप्त है। जब एक तृण भी उससे वियुक्त नहीं है, तो तुम गोपियो! होश-हवासमें रहनेवाली चैतन्य मनुष्य, प्राणी—मुझसे विलग कैसे हो सकती हो? यह एक अर्थ है।

सर्वान्तर्याम्या—यह स्तुति है। मैं सबके हृदयमें बैठकर सबका संचालन कर रहा हूँ। तो मुझसे किसीका वियोग कैसे सम्भव है? यह दूसरी बात है।

अब तीसरी बात देखो। **भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्।** तुम्हारे

हृदयमें मेरा ज्ञान है। तुम्हारी बुद्धिमें, तुम्हारे मनमें मेरा ध्यान है। तुम्हारे प्राण मेरे लिए ही चल रहे हैं और तुम मेरे लिए ही जीती हो। तुम्हारी सम्पूर्ण स्फूर्ति मेरे लिए ही हो रही है, तो हमारा और तुम्हारा वियोग कहाँ? जैसे मिट्टीमें घड़े बनते हैं या पानीमें तरंग हिलती है, तो तरंगका एक-एक कण, एक-एक जलरूप ही है। उसी प्रकार तुम्हारा मन—प्राण-इन्द्रिय-शरीर—सब मत्त्व रूप है। उसमें मेरा और तुम्हारा वियोग कहाँ? विरह कहाँ?

अब एक चौथी बात सुनो। मेरे लिए तो तुम्हारा वियोग नहीं है, तो तुम मेरा वियोग कैसे देख रही हो? अरी गोपियो! मैं तो तुममें हूँ! ऐसा लगता है कि यह वृन्दावन है और यह निकुंज है और यह गोपी हमारे सामने है। मैं मुस्कुराता हूँ—तो लगता है—तुम मुस्कुरा रही हो। मैं देखता हूँ, तो मालूम पड़ता है—कि तुम देख रही हो। हमको तो रात-दिन राधा दिखती है, गोपी दिखती है।

राधा पुरः स्फरति पश्चिमतश्च राधा, राधाधिसब्यमिह दक्षिणतश्च राधा।
राधा खलु क्षितितले, गगने च राधा, राधामयी मम बभूव कुतस्त्रिलोकी?

मैंने सुना है कि तुम लोग मेरे वियोगमें रोती हो। यह वियोग तो बिलकुल तुम्हारा बनाया हुआ है। **भवतीनां वियोगाः मम नास्ति।** कैसा बढ़िया भाव है। हमारा और तुम्हारा वियोग नहीं है; मुझ सर्वात्माके साथ तो बिलकुल नहीं है। इसको ऐसे बोलते हैं—कि देखो, शास्त्रमें यह बात कही गयी है—जब द्वारिका डूबने लगी, तो भगवान्‌का जो महल था, वह नहीं डूबा। और जब भगवान् मथुरा छोड़कर चले गये, तो? मथुरा तो है वहाँ—जहाँ भगवान् हैं। फिर वृन्दावनकी बात आयी, बोले—**गच्छन्त्य पादमेकं न।** भगवान् वृन्दावनको छोड़कर एक कदम भी नहीं चलते हैं। यह बात शास्त्रसे भी सिद्ध है और अनुभवसे भी। भगवान् वृन्दावन छोड़कर कहीं नहीं जाते हैं, न मथुरा, न द्वारिका। हृदयमें वृन्दावन है, मस्तकमें मथुरा है और मूर्धामें द्वारिका है। लीला-संवरणके लिए द्वारिका राजधानी है। प्रत्यक्‌में द्वारिकाका वरण होता है—माने पश्चिम दिशामें, पीछेकी ओर। जैसे आँख है न, तो आँखके सामने तो लीला फैलती है और आँखके पीछेकी ओर लीला सिमटती है। तो द्वारिका प्रत्यक् है। अन्तर्ज्ञान वहाँ प्रवाहित होता रहता है।

अब देखो भगवान्‌की लीलाके अनेक स्तर। जैसे व्रजलीला है; राधावल्लभ सम्प्रदायमें इसको बहुत आदरकी दृष्टिसे देखते हैं। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज और श्रीचैतन्य महाप्रभुजी—दोनों ब्रह्मलीलाका बहुत आदर करते हैं।

व्रजलीलामें श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजका गोकुल, गोवर्धन, मथुरा प्रधान हैं, चैतन्य महाप्रभुजीके वृन्दावनका राधाकुण्ड प्रधान हैं। ये लोग ऐसा मानते हैं—कि यह तो अवतार-लीला है, किसी समय पर व्रजकी धरतीपर प्रकट किया जाता है। और उसमें निकुञ्जलीला एक प्रमुख लीला है। नित्य-लीलामें परकीया और स्वकीया भावकी लीला; और स्वकीया भावमें केवल आठ सखियोंके भावकी लीला और उसमें भी यह निकुञ्ज-लीला होती है। फिर केवल युगलकी लीला और युगल-लीलामें भी किसीका प्रवेश नहीं, केवल राधा-कृष्ण, कृष्ण-राधा—ऐसे चलता है।

अब यहाँ कहते हैं—देवीजी! जिनके वियोगके कारण व्याकुल हो रही हो, उनकी किस लीलामें वियोग है? नित्य निकुञ्ज-लीलामें क्या वियोग है? नहीं। अच्छा, कुञ्ज लीलामें वियोग है? नहीं। स्वकीया लीलामें? परकीया लीलामें? नहीं है। अरे, यह तो व्रजलीला है, जो थोड़े समयके लिए प्रकट हुई है। यह तो क्वचित्—थोड़े समयका वियोग है। अनादि और अनन्त लीलामें जैसे सौ बरसका वियोग हो गया, तो उसकी कहीं कोई गिनती हैं? तुम नित्य लीलामें स्थित हो जाओ। जो नित्य लीलामें हमारा—तुम्हारा नित्य संयोग है, जिसमें कभी वियोग है ही नहीं—उस लीलामें तुम स्थित हो जाओ। सगुण सिद्धान्तमें ऐसे इस प्रसंगको ले जाते हैं। वहाँ तत्त्वज्ञानका उपदेश नहीं है, केवल प्रेमका उपदेश है। तो—

भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्।

वियोगकी भी एक विवशता होती है; कालका दिया हुआ वियोग, वस्तुका दिया हुआ वियोग और एक देशका दिया हुआ वियोग। हमारे और तुम्हारे बीच एक दीवार आगयी—यह क्या हुआ? कि यह वस्तुका दिया हुआ वियोग हो गया। हम दस योजन दूर हो गये—देशका दिया हुआ वियोग और दस साल तक प्राणप्रियासे नहीं मिल सकता—यह कालका दिया हुआ वियोग हो गया। भगवान्‌के साथ यह वियोग—यह कैसा है? यह देश-काल-वस्तुका दिया हुआ वियोग नहीं है, वह तो भगवान्‌का दिया हुआ वियोग है। अपने प्यारेका दिया हुआ वियोग खुशीसे ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि उसकी दी हुई प्रत्येक वस्तु प्यारी होती है। हमको मारकर भी वह खुश होता है और उसका कोई काम बनता है; हमारी हानि होवे सौ रुपयेकी और उसका लाभ होवे एक नये पैसेका; हमारी हानि हो एक करोड़की और उसका सुख होवे एक

छदामका—तो उसके एक छदाम बराबर सुखके लिए हमें अपने करोड़ों रुपयेकी परवाह नहीं करनी चाहिए। हम जन्म-जन्म दु:ख सहें, यदि उससे उसका कोई काम बनता होवे। तो प्रेमी लोग जहाँ अपने सुखके लिए प्रियतमको चाहते हैं—वहाँ वियोगमें कष्ट होता है। गोपियो! तुम तो अपने सुखके लिए श्रीकृष्णको चाहती नहीं हो और श्रीकृष्णके वहाँ रहनेसे श्रीकृष्णका काम बनता है। तब इसमें दु:खकी क्या बात रही?

अच्छा, अब इस बातको लो—कि गोपियाँ कहती तो उस ढंगसे हैं कि हम श्रीकृष्णके प्रेममें दु:खी हैं, परन्तु श्रीकृष्णके वियोगमें वे दु:खी नहीं हैं। वे सोचती हैं कि हमारे वियोगमें श्रीकृष्ण दु:खी होंगे। यह प्रेमका स्वभाव है। जब प्रेममें ऐसा लगे—कि हम जितना प्रेम करते हैं—वे हमसे उतना प्रेम नहीं करते—तब समझना कि प्रेमका '**इति पद्मपुराणे रेवा खण्डे**' में सातवाँ अध्याय आगया। और जब यह मालूम पड़े—कि ये तो हमसे बहुत प्रेम करते हैं, लेकिन हमारा ही दिल पत्थर है, कि उनसे प्रेम नहीं करते—तब समझना—कि अब प्रेमकी गंगा इसी पहाड़में-से, इसी कठोर पत्थरमें-से प्रवाहित होनेवाली है। प्रेममें जहाँ अभिमान आता है, वहाँ प्रेम कठोर हो जाता है। शुष्क हो जाता है और प्रेममें जहाँ प्रेमकी न्यूनताका दर्शन होने लगता है—वहाँ प्रेम बढ़ जाता है। प्रेमका शास्त्र भी विलक्षण है। हमारे महापुरुषोंने यह जो राधा-कृष्ण, गोपी-कृष्णके प्रेमका वर्णन कर दिया है न! यह इसलिए, कि संसारमें लोग जान सकें कि प्रेम कैसा होता है। नहीं तो केवल काम ही दुनियामें रहता, प्रेम नहीं रहता। अर्थ पुरुषार्थका वर्णन साफ-साफ है और धर्मका, मोक्षका भी साफ-साफ वर्णन है। लेकिन जब काम पुरुषार्थका वर्णन करनेका समय आया, तो सबकी लेखनी बन्द हो गयी। सब लोग सोचने लगे, कि काम पुरुषार्थका वर्णन हम पृथिवीमें कैसे करें। यह तो वैष्णव महापुरुषोंकी कृपा है—कि उन्होंने कामको प्रेम कर दिया; भगवान्‌के साथ जोड़ा। जब काम भगवान्‌के साथ जुड़ता है—तो काम नहीं रहता, प्रेम हो जाता है। जहाँ ऐन्द्रियक भोग ही सर्वस्व है—वहाँ प्रेम भी काम हो जाता है। और जहाँ अपने प्रियतमकी प्रीतिको देख करके प्रेमीका अहं जल जाता है—वहाँ प्रेम सम्पूर्ण प्रेम होता है।

असलमें प्रेम अहंको गलानेकी एक पद्धति है। यह ऐसा रसायन है, ऐसा रस है—जो अभिमानको बिलकुल गला देता है; जिसमें अपना आपा नहीं रहता है। श्रीकृष्णके साथ गोपियोंका प्रेम ऐसा नहीं है—कि कृष्णसे हमें सुखी होना

है; उनका प्रेम ऐसा है कि श्रीकृष्ण हमारे बिना सुखी नहीं होंगे। वे हमसे बहुत-बहुत प्रेम करते हैं। उनको कैसे नींद आती होगी? वे कैसे खाते होंगे? उनको कैसे आराम मिलता होगा? उनके सुखका ध्यान कौन करता होगा? हाय-हाय! हमारे बिना तो वे अपने मनकी बात किसीसे साफ-साफ कहते ही नहीं होंगे; बड़े संकोची हैं। उनके कष्टका ध्यान गोपियोंको आता है, अपने कष्टका—अपने सुखका ध्यान उन्हें नहीं आता है। इसलिए गोपियोंका प्रेम सम्पूर्ण प्रेम है।

यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही।

यह दृष्टान्त यहाँ सब प्रकारसे लागू होता है। पंचभूतोंमें सभी प्राणी हैं और ये छोटी-छोटी चीजें फुरफुराती हैं, लेकिन इनके भीतर भी—हम भले ही न पहचानें—पंचभूत भरे रहते हैं। पृथिवीमें जल है, जलमें अग्नि है। आजकल तो लोग जलको तत्त्व नहीं मानते हैं न! हमारे तो जिस विशेष इन्द्रियके द्वारा जो रसकी अनुभूति होती है, उस रसात्मक ज्ञानका किसी भी दूसरे यंत्रमें समावेश नहीं होता है। कानसे शब्दकी पहचान होती है—तो शब्दका आश्रय वाणी हो गया। त्वचासे स्पर्शका, तो स्पर्शका आश्रय हाथ हो गया। नेत्रसे रूपका, रूपका आश्रय पिण्ड हो गया। रसनासे रसका, तो रसका आश्रय जल हो गया और घ्राणसे गंधका, तो गंधका आश्रय पृथिवी हो गयी। इस प्रकार हमारी इन्द्रियोंके द्वारा वस्तुके गुणकी पहचान होती है। गुणवाली धातुएँ जैसे अपने कार्यमें अनुगत होती हैं, उसी प्रकार परमात्मा भी पहले तत्त्वरूपसे. फिर अन्तर्यामी रूपसे, फिर स्फुरणके रूपमें और उसके बाद जो नित्य-लीलावाले धाम हैं—उन धामोंमें सबके साथ मिला हुआ है। इससे यह अर्थ निकला—कि परमेश्वर ब्रह्मरूपसे भी सबके साथ मिला हुआ है। अन्तर्यामी रूपसे देखो—तब भी प्रति वस्तुसे मिला हुआ और वही प्रेमीके हृदयमें स्फुरित हो रहा है। नित्यधामकी वृत्तिसे देखो—तो भी मिला हुआ। ऐसी स्थितिमें श्रीकृष्ण कहते हैं—कि गोपियो! तुम हमसे अलग नहीं हो, हम तुमसे अलग नहीं हैं।

अब इसमें श्रीकृष्णका संदेश क्या है? दूसरी बात देखो; विरहमें जो अच्छाई है—उसको देखो। संयोगमें जो स्थिति है—वह इन्द्रियोंके सम्मुख है। जैसे अपने प्रियतमसे हम मिल रहे हैं—तो वह कहाँ है? कि हमारी त्वचाके सामने है—त्वचासे त्वचा मिल रही है। नेत्रके सामने है या साँस-से-साँस मिल रही है, आँख-से-आँख, हृदय-से-हृदय, हाथ-से-हाथ मिला हुआ है। परन्तु यह तो बहिरिन्द्रोंसे मिलन हुआ न! और जब विरह हुआ—तब? अन्तरिन्द्रोंसे

मिले। कैसे? कि जब बाहर नहीं दिखता प्रियतम, तो झट प्रेमी अन्तर्मुख हुआ। अब बाहर क्या देखे? अब आँख जब बन्द हुई—तो हृदय-से-हृदयका मिलन हुआ। तो आँखकी दूरी असलमें दूरी नहीं है; दूरी तो मनकी दूरी है। संयोगमें आँखकी दूरी नहीं रहती, लेकिन मनकी दूरी हो जाती है। अपने प्रियतमको हाथसे पकड़ लो और कमरेमें बन्द कर लो। उसको चारपाई पर सुला लो, तो तुम्हारे शरीरके पास सो सकता है, लेकिन निश्चिन्त होकर मनको भेज दो विलायत—तो प्रियतमका शरीर रहेगा कमरेमें और तुम्हारा मन रहेगा विलायतमें। लेकिन जिस समय वियोग होता है—उस समय प्रियतम रहे विलायत; शरीर उसका विलायतमें रहेगा, लेकिन मनमें वह भर जावेगा। भगवान्‌की भक्तिमें यह जो विरह है—वह भगवान्‌को हृदयमें भरनेवाला है। इसीलिए जब एक बार महाप्रभु चैतन्यसे किसीने कहा—कि चैतन्यदेव! तुम क्या चाहते हो—संयोग कि वियोग? ऐसा समझो, कि गौरांग महाप्रभुके सामने भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट हुए और उनसे पूछा—कि श्रीचेतन्यदेव! तुम क्या चाहते हो—संयोग कि वियोग? तो बोले—मैं संयोग नहीं चाहता, वियोग चाहता हूँ। क्यों भाई! वियोग क्यों चाहते हो? कि **सङ्गे स एक एव**—जिस समय हमारा संयोग होता है, उस समय हमारा प्रियतम अकेला हमारे साथ रहता है, **त्रिभुवनमति तन्मयं विरहे**—लेकिन जब विरह होता है, तो तीनों लोकमें प्रियतम-ही-प्रियतम हमको दिखाई पड़ता है।

जिस दशामें हमको तीनों लोकमें प्रियतम-ही-प्रियतम दिखता है—वह वियोग अच्छा लगता है। इसलिए वह विरह—जिसमें हमको त्रिभुवनमें, तीनोंकालमें परमेश्वरका दर्शन होवे, केवल बाहर नहीं, भीतर दर्शन होवे—वह वियोग हमारा वरणीय है।

पैंतालीसवाँ प्रवचन

शास्त्रके जो मर्मज्ञ हैं—वे ऐसा बताते हैं, कि एक भक्त तो वे होते हैं—जो शास्त्रकी आज्ञाको अपना कर्तव्य मानकर भगवान्‌की भक्ति करते हैं। गुरुने कहा, माता-पिताने कहा, शास्त्रमें लिखा हुआ पढ़ा—और बोले—भाई! भक्ति नहीं करेंगे, तो यह जीवन व्यर्थ जायेगा।

ऐसेहि जनम समूह सिराने।
प्राननाथ रघुनाथ से नेह तजि सेवत पुरुष बिराने॥

अपने प्राणनाथ, हृदयेश्वर प्रभुको छोड़कर दूसरे लोगोंकी सेवा करते-करते जन्म-जन्म बीत गये। तो—

अब लौं नसानी अब ना नसैहों।
रामकृपा भवनिसा सिरानी, जागत अब न डसैहों।

अबतक जो बिगड़नी थी—बिगड़ गयी? अब आगे नहीं बिगड़ने दूँगा। भगवान्‌की कृपासे संसारकी रात अब कट गयी; जग गया। अब फिर अपने जीवनका नाश नहीं करूँगा। माने भगवान्‌का भजन न करना अपने जीवनका सत्यानाश है। यह अपना जीवन जिसके आधार पर टिका हुआ है—उसीको छोड़ दिया; तो गिर पड़ोगे न! ईश्वरको नहीं मानोगे—तो सेठका सहारा लेना पड़ेगा, राजाका सहारा लेना पड़ेगा। ये तो सब टुकड़े-टुकड़े हैं। कुछ समय परिपूर्ण वस्तुका आश्रय लेना चाहिए, खण्डका नहीं।

दूसरी तरहकी भक्ति क्या होती है? कि कहीं भगवान्‌का नाम सुननेको मिल गया, लीला सुननेको मिल गयी—और भगवान्‌के प्रति अपने मनमें लोभका उदय होवे, लालसाका उदय होवे। लीलामें कभी सुन लिया—कि श्यामसुन्दर बड़े मधुर हैं। उनका वेश बड़ा सुन्दर है; परम सुकुमार हैं; बड़ी सुन्दर बाँसुरी बजाते हैं; बड़े रसीले हैं। उनके अंगमें-से सौरभ निकलती है। श्रवण किया और तत्काल मनमें लोभकी उत्पत्ति हो गयी—कि हम तो उन्हींके साथ विवाह करेंगे; अपना सम्बन्ध जोड़ेंगे। लोभकी उत्पत्ति पहले और बादमें गुरु-शास्त्रकी प्राप्ति।

फिर रास्ता पूछने जायेंगे कि वह कौन-सा उपाय है—कि श्यामसुन्दर मिलें। इसको बोलते हैं रागानुगा भक्ति। जिसमें लोभ पहले पैदा हो और रास्ता पीछे निकले—उसको रागानुगा भक्ति बोलते हैं और जिसमें रास्ता पहले मिल जाय और लोभ बादमें उत्पन्न होवे—उसको वैधी भक्ति बोलते हैं।

यह जो रागानुगा—रागपर चलनेवाली भक्ति है, यह मनुष्यके जीवनका निर्माण करनेवाली है; नहीं तो आदमी संसारमें कहीं-न-कहीं फँस जाता है। जन्म-जन्मसे अन्तःकरणमें राग रहता आया है, आसक्ति होती आयी है, मोह होता आया है। इसे भगवान्‌के साथ जोड़ोगे—तब तो बचोगे, नहीं तो कहीं गढ़ेमें गिरोगे जरूर। राग किये बिना हृदय नहीं रह सकता। जो लोग जोर-जबरदस्ती करते हैं, वे बादमें अपने शरीरसे ही राग करने लगते हैं या बादमें जो राग है, अगर वह अनदेखे, अनमिले साजनके साथ जोड़ दिया जाय—तो वह चरितार्थ हो जाता है। चरितार्थ हो जानेके बाद फिर वह मनुष्यको दुःख नहीं देता है। संसारमें चरितार्थ करोगे—तो बन्धन होगा और फँसना पड़ेगा। ईश्वरमें चरितार्थ करोगे—तो संसारमें फिर फँसना नहीं पड़ेगा। इसलिए प्रेम जोड़ना हो, तो भगवान्‌से जोड़ना चाहिए। इसके लिए देखना पड़ता है, कि किसके साथ हमारा दिल मिलता है। किसी भक्तका हृदय अपने हृदयमें उतारना; उसका अक्स लेना; अपने हृदयमें किसी भक्तका संस्कार लेना। जैसे यशोदा मैया श्रीकृष्णको गोदमें लेकर दूध पिलाती हैं। यशोदा मैयाकी प्रीति श्रीकृष्णके प्रति कैसी है? इसका अगर ध्यान करोगे, तो वैसी प्रीति तुम्हारे हृदयमें आजायेगी। यह चाहो कि ग्वाल-बालोंकी प्रीति आवे, तो ग्वाल-बालोंका ध्यान करोगे और वैसी प्रीति तुम्हारे हृदयमें आजावेगी। गोपियोंकी-सी प्रीति करो, तो गोपियोंका ध्यान करो और गोपियोंकी-सी प्रीति तुम्हारे ध्यानमें आजावेगी। इसीको रागानुगा भक्ति बोलते हैं।

अब हम इस बातको अपने ध्यानमें लावें—कि यह जो मैं सुना रहा हूँ, यह धर्मकी कथा नहीं है। यह मोक्षकी कथा भी नहीं है और अर्थ-काम तो इसे छू भी नहीं सकते। यह है प्रेमकी चर्चा। तो बहुत सावधान रहनेकी जरूरत है, क्योंकि आदमी प्रेमकी बात सुनते हैं, तो उसे संसारमें जोड़ देते हैं। भगवान्‌के प्रेमको संसारके साथ जोड़ देनेसे बात कितनी भी ऊँची हो—तो गन्दी हो जाती है। संसारमें न जोड़कर अपने हृदयको भगवान्‌से जोड़ो। यह तत्त्वकी बात नहीं है, यह हृदयके परिवर्तनका रसायन है; औषधि है। इससे दिल बदलता है।

एक गोपी ऐसी है—जो श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए व्याकुल हो रही है। उसके दिलमें छटपटी है—कब कृष्णसे मिलें? कब कृष्णसे मिलें? कभी उसकी आँखमें आँसू आते हैं—कभी सूख जाते हैं। कभी उसके रोएँ खड़े हो जाते हैं—कभी गिर जाते हैं। कभी वह तड़फड़ा करके झपटने लगती है और कभी शान्त होकर बैठ जाती है। ऐसी गोपीके सम्मुख श्रीकृष्णजीका प्रेमसंदेश उद्धवजी दे रहे हैं। श्रीकृष्ण प्रेमका रहस्य अपनी चिट्ठीमें जैसे बता रहे हों। वे कहते हैं—कि न तो मेरा वियोग तुमको है और न तुम्हारा वियोग मुझको है—क्योंकि हमारा और तुम्हारा वियोग होना सम्भव ही नहीं है। आँखसे वियोग हो—तो मनसे संयोग हो और मनमें अगर वियोग की स्फूर्ति होती है—तो तुरन्त संयोग आजाता है। इसलिए गोपियो! तुम वियोगकी कल्पना छोड़ दो। मेरे संयोगकी कल्पना करो। अरे राम-राम! गोपियोंको यह कहना—कि तुम वियोगमें भी संयोगकी भावना करो—यह तो जलानेवाली बात हुई। संदेश क्या हुआ! जो श्रीकृष्णको अपने हृदयसे लगाता है, जिसकी साँस-से-साँस मिली हुई है कृष्णके साथ, जिसकी आत्मा-से-आत्मा मिली है, जिसका हृदय एकमेक हो गया है, उससे अगर यह कहा जाय कि तुम ऐसी भावना करो, तो उससे तो हृदय और व्याकुल हो जाता है—कि यह भावना करनेका संदेह लेकर आये हैं। अरे—

हिय में रह्यो नाहिन ठौर!

अथवा

मन न भए दस बीस।

तो कैसे उनका ध्यान किया जाय!

इसमें तीन बातें कल आपको सुनायीं। पहली बात—इस सन्देशमें ज्ञानका उपदेश है। यह इसलिए—कि लोग जानें कि गोपियोंका इतना ऊँचा प्रेम है, कि स्वयं कृष्णने ज्ञानका, ब्रह्मज्ञानका संदेश भेजा, तब भी उनके प्रेममें कोई कमी नहीं आयी; और बढ़ गया प्रेम। अगर ब्रह्मज्ञानका संदेश सुनकर गोपियोंका प्रेम घट जाता, तो यह कहना पड़ता कि ब्रह्मज्ञान बड़ा है और प्रेम छोटा है। पर गोपियोंने तो यह सिद्ध कर दिया—कि हमारे प्रेमके सामने और तो और—श्रीकृष्ण द्वारा भेजा हुआ ब्रह्मज्ञान भी कोई कीमत नहीं रखता। श्रीकृष्णके संदेशमें यह बात है—कि जैसे इन सब शरीरोंमें पंचभूत व्याप्त हैं—वैसे मैं व्याप्त हूँ। तुम्हारे भीतर। तो हमको तुम्हारा वियोग नहीं है।

तथाहं च मनः प्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रयः।

मन, प्राण, भूत, इन्द्रिय—इन सबका आश्रय मैं हूँ। तो मन जो दिलमें फुरफुराता है—वह मुझ आश्रयमें ही है; और प्राण जो तुम्हारे चलते हैं—वे भी मुझ आत्मामें ही हैं। यह पंचभूतोंका बना शरीर भी मुझ आत्मामें ही है। ये तुम्हारी इन्द्रियाँ भी मुझसे ही बनी हैं और ये त्रिगुण भी मुझमें ही हैं—सबका कारण मैं हूँ। तो जैसे मन आदि कार्य और गुण कारणके आश्रयके रूपमें स्थित आत्मा इनमें अनुगत है, वैसे ही मैं तुम लोगोंमें अनुगत हूँ।

यह तो हुई ज्ञानकी बात। अब देखो दूसरी बात—कि गोपियोंका जो मन है, जो प्राण हैं, जो भूत हैं शरीरमें, जो इन्द्रियाँ हैं; उनके जो गुण हैं—सबके आश्रय कृष्ण हैं। इसका अभिप्राय क्या हुआ? कि गोपीके मनमें संकल्प-विकल्प उठते हैं—तो क्या संकल्प उठते हैं? कि यह बाँसुरीवाले, मोर मुकुटवाले, साँवरे-सलोने प्राण-प्यारे, व्रजराज दुलारे—यह देखो—यह रहे! यह देखो श्याम! उनका मन जहाँ जाता है, वहाँ उनको श्याम-ही- श्याम दिखता है। तो मनका आश्रय क्या हुआ? मनको ठौर कहाँ मिलता है—यह समझो। कोई एक गरीब आदमी है। वह दिन भर इधर-उधर भटकता है और रातको जाकर किसी धर्मशालेकर आश्रय लेता है। तो गोपियोंके मनका आश्रय क्या है? बोले—वह भटकता तो है, परन्तु जहाँ जाता है, वहाँ उसको सुन्दरश्याम ही दिखते हैं। इसके सिवाय और कोई चीज नहीं दिखती है।

अब अगली बात आयी प्राणकी। पहले गोपियोंने यह कहा है, कि हमने तो अपने प्राण तुम्हारे अन्दर रख दिये हैं। माने तुम्हीं हमारे जीवन हो, तुम्हीं हमारे अन्दर रख दिये हो। माने तुम्हीं हमारे जीवन हो, तुम्हीं हमारे सर्वस्व हो। शरीरके द्वारा जितनी भी क्रिया होती है—वह सब श्यामसुन्दरके लिए होती है। तो गोपियोंकी साँस जो चलती है, वह साँस निकल क्यों नहीं जाती? बोलीं—प्राण अटके हुए हैं—

आओ प्राणनाथ अब प्राण लागे सियरान।

हे प्राणनाथ! आओ-आओ। अब हमारे प्राण शिथिल पड़ने लगे। ये तुम्हारी प्राप्तिके लिए ही जीवित हैं। श्याम-सुन्दरके वियोगसे शरीरमें जो ज्वर चढ़ा है, उसके कारण साँस लम्बी चल रही है; परन्तु जो शरीरमें अटकी हुई है, वह इसलिए—कि गोपियोंके मनमें आशा लगी हुई है। तो श्यामसुन्दर कहते हैं, कि तुम्हारे प्राणोंका आश्रय भी मैं ही हूँ। तुम्हारे मनका, तुम्हारे शरीरका आश्रय भी मैं ही हूँ।

श्रीमद्भागवतमें एक प्रसंग आया है; ब्रह्माजीने कहा—इनको हम मुक्ति देंगे। बोले—राम-राम! कोई प्रेमी मुक्ति चाहता है? मुक्तिका मतलब होता छुटकारा। यों समझो—कि दो मित्र एक दूसरेके भुजपाशमें बँधे हुए हैं। तो क्या दोनोंके मनमें आता है—कि सामने वाला कब छोड़ दे? अगर वे प्रेमी हैं, तो दोनोंमें-से किसके मनमें यह बात आयेगी—कि जल्दीसे छोड़ दे हमको? क्या ऊब जायेगा वह? कि नहीं ऊबेगा। तो मुक्ति चाहना क्या है? वह तो उन लोगोंके लिए है—जो शत्रुके जेलखानेमें फँसे हुए हैं, तो वहाँसे छूटना चाहते हैं। जो अपने मित्रके भुजपाशमें, प्राणनाथके भुजपाशमें बँधा हुआ है, वह तो कहेगा—रात और लम्बी हो जाय। भागवतमें ही वर्णन है, कि द्वारिकाकी जो पटरानियाँ हैं, वे प्रातःकाल जब जगती हैं और देखती हैं कि हम कृष्णके भुजपाशमें बँधी हुई हैं, और उसी समय मुर्गा बोलता है—तो मुर्गेको गाली देने लगती हैं। साफा-साफ यह बात लिखी हुई है—कि मुर्गेको शाप देती हैं—कि तू क्यों बोलता है? आज चन्द्रमा अस्त ही न हो; आज सूर्योदय ही न हो। तो प्रेमी लोग अपने प्रियतमका सान्निध्य चाहते हैं। वे मुक्ति नहीं चाहते। दुःखमें फँसे लोग तो दुःखसे छुटकारा चाहते हैं, लेकिन सुखमें लोग सुखसे छुटकारा क्यों चाहेंगे?

तो कोई प्रेमी मुक्ति नहीं चाहता। और मुक्ति नहीं चाहता, तो उसको अभिव्यक्ति भी नहीं चाहिए। तो बोले—हम ढोंगी हैं, मूर्ख हैं। हमारा प्यारा जन्म-जन्म हमें मूर्ख बनाता रहे। हमको कभी उसका कपट न मालूम पड़े, कोई चतुराई न मालूम पड़े। उसके द्वारा बनाया हुआ मैं भोला-भाला, तो फिर ब्रह्म-ज्ञानियोंके द्वारा चतुर-चालाक बनाया मैं अच्छा नहीं हूँ, क्योंकि उसमें हमारा प्रियतम छूटता है। प्रियतमके हाथों मौत भी हो जावे, तो उससे बढ़कर सौभाग्य मरनेवालेका क्या होगा? कि अपने प्रियतमकी आँखोंके सामने—उसके कारण मृत्यु होवे। उसकी गोदमें मृत्यु होवे।

गिरे गर्दन दुलक कर पीत पट पर।
खुली रह जाएँ ये आँखें मुकुट पर॥

तो देखो! प्रेममें यह शक्ति है, यह सामर्थ्य है—कि वह मृत्युको अमृतसे भी मीठा बना देता है और अज्ञानको, बेवकूफीको ज्ञानसे भी ज्यादा मीठा कर देता है। वह दुःखको सुखसे भी बड़ा बना देता है; बन्धनको मुक्तिसे बड़ा बना देता है।

आपने सुना है न—एक बार खेल-खेलमें श्रीराधारानीको श्यामसुन्दरका नाखून लग गया। एक दो दिनमें पपड़ी आगयी। श्रीकृष्णको तो भूल गया। बात आयी-गयी हो गयी। छह महीने बाद उन्होंने देखा—तो वह घाव बिलकुल हरा था; बिलकुल ताजा था। उन्होंने पूछा—प्रिया जी! यह क्या है? तो उन्होंने कहा—कि यह तो तुम्हारा प्रसाद है। तुम्हारे नाखूनसे हमारा जिस्म छिल गया था; वही है। तो बोले—उसको तो छह महीने बीत गये। मैंने देखा था—वह तो सूख गया था, तब मैं पपड़ी हटा देती हूँ। क्यों? कि वह तो ऊपरसे आती है। और वह जो घाव है—वह तो तुम्हारे नाखूनका दिया हुआ है। उसको देखकर तुम्हारी मीठी-मीठी याद आती रहती है—कि यह हमारे प्यारेकी दी हुई चोट है।

तो प्रेमकी जो दृष्टि होती है, वह बिलकुल जुदा होती है। अब देखो; प्रेमीको क्या देंगे भगवान्? मुक्ति देंगे? तो प्रेमीको भगवान् मुक्ति तो नहीं देंगे। भगवान्ने कहा—ब्रह्माजी! तुम फिकर छोड़ो। तुम तो सृष्टिका काम अच्छे ढंगसे देखो। मैं अपने आपको ही दे दूँगा। ब्रह्माजीने कहा—महाराज! अगर अपने देनेसे आप उऋण हो जाते, तो मैं कहता—हाँ, बहुत बढ़िया! आपने तो जहर पिलानेवाली, मारनेकी नीयतसे आनेवाली पूतनाको भी अपना आपा दे दिया। तो अगर प्रेम करनेवालेको अपना आपा देंगे—तो उसमें क्या बात हुई?

बोले—अच्छा, पूतनाको तो अपना आपा दिया; उसको अपनेमें मिला लिया। अब सारे व्रजवासियोंको अपनेमें मिला लेंगे। ब्रह्माजी बोले—पूतनाका भी सारा खानदान आपसे मिल गया। तो भाई! यह तो कोई बात नहीं हुई। सारी सृष्टिमें ढूँढ़कर मैंने देख लिया श्रीकृष्ण! तुम व्रजवासियोंसे कभी उऋण नहीं हो सकते। क्योंकि व्रजवासियोंने अपना घर दिया तुम्हें रहनेके लिए; अपने प्यारे, सुहृद्य सब तुम्हें अर्पित कर दिये। अपना शरीर, अपना प्राण, अपना मन, अपनी बुद्धि, अपनी इन्द्रियाँ, अपना सर्वस्व—सब तुम्हें दे दिया। अब ऐसी क्या चीज तुम्हारे पास है, जो उनको देकरके उऋण हो जाओगे?

तो गोपियोंके प्राणोंके आश्रय कौन? कि भगवान्! और उनके शरीरके आश्रय? बोले—वही। गोपियोंको याद है, कि जब रास करते-करते गोपियाँ थक जाती हैं, तो श्रीकृष्णके कन्धोंपर हाथ रखकर और उन्हींके शरीर पर चढ़कर खड़ी हो जाती हैं। उनके शरीरके भी आश्रय वहीं हैं। और इन्द्रियोंके? आँख कहीं टिकती नहीं; आँख गोपियोंकी अगर कहीं टिकती है—तो श्रीकृष्णपर टिकती है।

और कान अगर कुछ सुनते हैं, तो वंशी-ध्वनि सुनते हैं, कृष्णका नाम सुनते हैं। इसमें गोपियोंको बहुत मजा आता होगा।

तो उद्धवजी जब कृष्णका नाम गोपियोंके सामने लेते हैं, तो गोपियोंकी लज्जाका मन्थन हो जाता है; धैर्य छिन जाता है; चित्तवृत्तिका लोप हो जाता है। बल्कि विरह-कालमें भी गोपियोंके मनमें कृष्ण, उनका प्राण कृष्णमें, उनके शरीरके आश्रय कृष्ण, उनकी इन्द्रियाँ कृष्णमें और **गुणाश्रयः**—गोपियोंमें जो गुण हैं—वे भी श्रीकृष्णमें ही हैं।

ब्रह्मज्ञान वाले अर्थमें गुणका अर्थ है सत्त्व, रज, तम। उनके आश्रय हैं परब्रह्म परमात्मा। और दस इन्द्रियाँ, पाँचभूत, प्राण और मन—इन सबका अधिष्ठान परब्रह्म परमात्मा है। और अधिष्ठानमें मध्यस्थ हैं प्राण; तो जैसे अधिष्ठानसे अध्यस्तका वियोग कभी नहीं हो सकता, वैसे परमात्मासे कभी गोपियोंका वियोग नहीं है। इसका अर्थ क्या हुआ—कि गोपियोंके अन्दर जो मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय-गुण हैं—सब कृष्णके लिए हैं। उनमें चार गुण हैं, समझो। तो गोपीको ऐसा बढ़िया गाना आता है, कि श्याम सुन्दरके मनमें यह इच्छा होती है कि यह हमें संगीत सुनावें। परन्तु अब भी आप लोग देखते हैं; कितना आग्रह करो, तब भी जिनको संगीत नहीं सुनाना, वे कहेंगे—आज तो गला खराब है। तो प्रियाजीको भी जब कभी श्यामसुन्दर कहते हैं, कि प्रियाजी! गाओ, तो नहीं सुनाती हैं। एक दिन श्यामसुन्दरने बाँसुरी उठायी और बजाने लगे। अब तो राधारानीसे उठायी वीणा, और गाना सुनाने लगीं।

तो यह गुण है। और इसका आश्रय कृष्ण है। यह श्रीकृष्णके लिए है, इसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। एक प्रसंग आता है, कि एक दिन श्रीराधारानी घरमें बैठी थीं। एक गोपी आयीं, उन्होंने पूछा कि गोपी, कहाँसे आयी? वह बोली—मैं श्यामसुन्दरका दर्शन करके आयी।

तो श्यामसुन्दर कहाँ हैं?

कि नृत्य सीख रहे है। तो प्रियाजीने कहा—कि मैं तो यहाँ बैठी हूँ। उनको तो नाचना आता ही नहीं है, मैं उनको नाचना सिखाती हूँ। मेरे बिना वे कैसे नाच रहे हैं? गोपीने कहा—प्रियजी! उनके ध्यानमें तुम ऐसी बैठ गयी हो, कि जब वे आँख खोल के देखते हैं, तो उनके चारों ओर तुम प्रकट हो जाती हो। उनको मालूम पड़ता है कि पेड़में, फूलमें, लतामें, पत्तेमें तुम नाच रही हो और तरह-तरहसे उनको नृत्य सिखाती हो। वे तो बनमें जगह-जगह तुमको

देखके तुमसे नृत्यु सीख रहे हैं। तुम्हारे स्फूर्ति रूपसे जो नृत्य सीख रहा है, उसको तो सिखानेके लिए प्रियाजी! तुमको तुरन्त चलना चाहिए। अब श्रीराधारानी तैयार हो गयीं—कि ठीक है। वे कहीं हमारे नाम पर—कि मैं राधारानीसे नृत्य सीख रहा हूँ—गलत नृत्य न सीख लें। चलो-चलो, हम चलके उनका नाचना ठीक करें।

तो गोपियोंके अन्दर जितने गुण हैं—उनका आश्रय, उनका प्रयोजन श्रीकृष्ण हैं। तो श्रीकृष्ण अपने पत्रमें यह कहलाकर भेजते हैं—कि गोपियो! तुम्हारा सौस्वर्य-माने स्वरकी अच्छाई, तुम्हारा मधुर गान और तुम्हारा सौकुमार्य—तुम्हारा कोमल शरीर, तुम्हारे विलक्षण सौन्दर्यकी हर समय मुझे याद आती रहती है। एक दिन श्रीराधारानी और श्रीकृष्ण—दोनों गये एकान्तमें, कि आओ, शीशा देखें। दर्पण लेके देखा, तो श्यामसुन्दरने पूछा—

मेरो मुख नीको कि तेरो राधा प्यारी?

स्वामिनी! किशोरी! मेरा मुख सुन्दर है—कि तुम्हारा? प्रियाजी बोलीं—कि श्यामसुन्दर! मेरा मुख तो पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान सुन्दर है और तुम्हारा मुख अमावस्याके अन्धकारके समान काला है। हमारे-तुम्हारे सौन्दर्यमें भला मेल कहाँ है? क्या मुकाबला करें—कि कौन सुन्दर है? लेकिन यह सुन्दरता किसके लिए? कि श्यामसुन्दरके लिए। यह सौकुमार्य, यह संगीत श्यामसुन्दारके लिए ही है न! भोक्ताके बिना भोग्य निष्फल है। जहाँ सम्पूर्ण सृष्टिके सौन्दर्य-माधुर्यका, सौस्वर्य-सौकुमार्यका आस्वादन करनेके लिए केवल भगवान् नहीं हैं—वहाँ तो सब व्यर्थ गया। इसलिए **गुणाश्रयः**—गोपियोंके जितने गुण हैं—उनके आश्रय भगवान् हैं। तो आश्रय हूँ गोपियोंके सम्पूर्ण गुणोंका—माने मैं हूँ शास्त्र! मैं हूँ आधार। मेरा हृदय है एक चबूतरा—आश्रय, और उसपर तुम्हारे मन-प्राण-शरीर-बुद्धि-इन्द्रियाँ और गुण तदाकार हैं स्थित। **रसौ वै सः**। ऐसा एक क्षण भी नहीं जाता गोपियो! जब हमारे हृदयमें तुम्हारी सुन्दरता, तुम्हारा संगीत-नृत्य, तुम्हारी अच्छाइयाँ, यहाँ तक कि तुम्हारी इन्द्रियाँ—माने तुम्हारी आँखें, त्वचा, कान, हाथ, पाँव—तुम्हारा सर्वस्व हमारे हृदयमें न दीख रहा हो।

अहं च मनः प्राण भूतेन्द्रियः गुणाश्रयः।

सन्देशका एक दूसरा अर्थ हुआ—कि हमारे हृदयमें तुम ही तुम हो। माने एक तो अधिष्ठान रूपसे, उपादान रूपसे मैं तुममें व्याप्त हूँ और दूसरे मेरे हृदयके ऊपर तुम्हारे गुण, तुम्हारी इन्द्रियाँ, तुम्हारी यह बुद्धिमानी—जिससे तुम हमको

छका देती हो, तुम्हारे वे सेवाके संकल्प—जो हमेशा हमारे चित्तमें होते हैं—वे सब रखे हुए हैं, और रात-दिन हमको दीखते हैं। तो यह प्रेमका सन्देश हुआ।

अच्छा, यह तो ध्यान की बात हुई न! अगर हमेशा कोई ध्यान-ही-ध्यानमें, ख्याल-ही-ख्यालमें मगन रहे और उसे ठोस वस्तुकी प्राप्ति नहीं होवे, तब यह प्रेमका जगत एक स्वप्नका जगत् हो गया न! तो क्या प्रेम केवल स्वप्नकी दुनियाँ है? गोपियोंको तो यह सुनकर और कष्ट होगा—कि हमारे प्राणप्यारे दिनरात अपने हृदयमें हमारी सुशीलता, हमारा प्रेम, हमारी सेवाकी याद करते रहते हैं और हमारे लिए व्याकुल रहते हैं।

फिर बोले—गोपियों! तुम्हारे मनमें, इन्द्रियमें, गुणमें हर समय मैं रहता हूँ। तो क्या तुम हर समय हमको नहीं देखती रहती हो? मैं तुमसे अलग कहाँ हूँ? नहीं, यह भी एक प्रकारका स्वप्न हुआ। फिर कहते हैं—गोपियों! लोगोंके देखनेमें भले मैं मथुरा आगया हूँ और तुम वृन्दावनमें हो, लेकिन सच्ची बात यह है—कि मेरा शरीर तुम्हारे शरीरसे ही मिला रहता है। यह तो हमारा एक नकली प्रकाश है, जो मथुरामें है। असली रूप तो हमारा वही है गोपियो! जो वृन्दावनको छोड़करके कहीं नहीं जाता—**वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।**

तत्र वृन्दावनं रम्यम्—यह वृन्दावन धाम परम रमणीय है। वृन्दादेवीकी देख-रेखमें यहाँ सारी लीला होती है। ब्रह्मा, रुद्र आदि आकरके वहाँ श्रीकृष्णकी सेवा करते हैं। वहाँ तो हर समय श्यामसुन्दर क्रीड़ा करते रहते हैं। वहाँके पशु-पक्षियोंको भी जब भगवान् नहीं छोड़ते हैं—तो गोपियोंको कैसे छोड़ेंगे? तो भगवान्ने बताया—कि वृन्दावनको एक पलके लिए भी छोड़कर मैं नहीं जाता हूँ। असली मेरा रूप तो वृन्दावनमें ही है। वृक्षके नीचे यहाँ श्यामसुन्दर हमेशा क्रीड़ा करते रहते हैं।

कहनेका अभिप्राय यह है—कि भगवान्के इस सन्देशमें यह बात कही गयी है, कि न केवल ब्रह्म अधिष्ठान रूपसे तुम्हारे अन्दर व्यापक है, बल्कि स्फुरणाकी दृष्टिसे तुम मुझमें फुर रही हो और मैं तुममें फुर रहा हूँ। और केवल फुरनाकी दृष्टिसे ही नहीं—हमारा जो असली रूप है, वह हर हालतमें तुम्हारे साथ ही है। हमारा और तुम्हारा वियोग नहीं है—नित्य संयोग है।

❋

छियालीसवाँ प्रवचन

महात्मा लोग कहते हैं—कि जब राधा-कृष्णके वियोगका प्रसंग सुनाना हो, तो पहले उनके संयोगका वर्णन करना चाहिए। फिर बीचमें वियोगका वर्णन करके अन्तमें प्रतिदिन संयोगका वर्णन करना चाहिए। जैसी-जैसी कथा की जाती है, वैसी-वैसी लीला ठाकुरजी करते हैं, क्योंकि वह तो शब्दके अनुसार रूप धारण करते हैं और लीला करते हैं रहते हैं। ऐसी स्थितिमें जब कथा-वार्ता समाप्त करनी हो, तो फिर उनको संयोग कराकर खिलाकर, हँसाकर तब सुला देना चाहिए—कि अब शयन करो। महाराज! जो लोग योगका अभ्यास करते हैं, उनके लिए भी ऐसे ही है। योगके अभ्यासमें भी यह आवश्यक है कि शरीर जो अपना है—यह पंचभूतमें है। इसमें मिट्टी समा गयी पानीमें, पानी आगमें, आग वायुमें और वायु आकाशमें, आकाश मनमें, मन आत्मामें और आत्मा परमात्मामें। समाधि लग गयी। जब उठना हो तब तो चाहे जैसे भी उठें, कि यह तो हमने ख्याली पुलाव पकाया था—नहीं, जब उठना हो, तो परमात्मामें-से आत्मा, आत्मामें-से मन, मनमें-से आकाश, आकाशमें-से वायु, वायुमें-से अग्नि, अग्निमें-से जल, जलसे पृथिवी, फिर पंचभूतमें यह शरीरकी आकृति बनी। अब इस कल्पित आकृतिको स्वीकार करके हम व्यवहारमें प्रवृत्त हो रहे हैं। रोज इस तरहसे सृष्टि और लयका चिन्तन करना चाहिए; तब मनमें शान्ति आती है। जो लय करे और सृष्टि न करे—तो उसके मनका दुःख मिटता नहीं है। ऐसे नहीं—कि ध्यान किया और फिर झट ध्यानकी अवस्थामें-से उठ गये; धीरे-धीरे अपनेको उतारना चाहिए।

अब चलें वृन्दावनमें। यह ध्यानकी लीला है। श्रीकृष्णकी लीलाका जब-जब प्रसंग आवे, तब-तब ऐसा समझना चाहिए—कि यह इसलिए नहीं है कि हम घरमें जाकर ऐसी लीला करें—बल्कि इसलिए है, कि हम अपने मनमें ऐसी-ऐसी लीलाका ध्यान करें, तब इस भौतिक सृष्टिको छोड़कर मन अन्तर्मुख हो जाता है।

अब उद्धवजी गोपियोंको श्रीकृष्णका सन्देश सुना रहे हैं। श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि हमारा-तुम्हारा वियोग असलमें नहीं है। यह तत्त्व-दृष्टिसे वियोग नहीं है, भाव-दृष्टिसे वियोग नहीं है और हमारी जो नित्य-लीला है—उस दृष्टिसे भी वियोग नहीं है। यह वियोग तो केवल व्रज-लीलामें दिखाऊ है। हम लोग असलमें

तो मिले-मिलाये हैं। बाहर कभी-कभी अलग रह लेते हैं। कभी-कभी बड़े प्रेमी लोग भी ऐसा व्यवहार करते हैं। हमने एक कारखानेमें ऐसे देखा था। बड़ा प्रतिष्ठित कारखाना है। उसमें दो मालिक हैं; एक तो नाराज होकर मजदूरको डाँटता है, निकाल देता है, जुर्माना कर देता है और जब वह दूसरेके पास जाता है, तो वह बड़े प्रेमसे उसको फिर रख लेता है, जुर्माना माफ कर देता है। आप कहोगे—कि ऐसे तो दोनोंमें लड़ाई हो जायेगी। नहीं, वे दोनों परस्पर प्रेमसे मिले रहते हैं। आपसमें सलाह कर लेते हैं कि तुम इसको जुर्माना करना, हम माफ करेंगे। ये ठाकुरजी लोग जो हैं—ये आपसमें लड़ाई कभी नहीं करते। न राधारानी श्रीकृष्णसे कभी रूठती हैं और न श्रीकृष्ण राधारानीको कभी छोड़कर कहीं जाते हैं। वे भीतर-भीतरसे मिले रहते हैं और ऊपर-ऊपर लोगोंको ऐसे दिखाते हैं कि बड़ी लड़ाई हो रही है। इससे उनके प्रेमको किसीकी नजर नहीं लगती है। हमने ऐसे सेवक देखे हैं, कि घरमें मालिक सो रहा है और कोई मिलने आया, तो सेवकने कह दिया—मालिक तो घरमें हैं नहीं; सबेरेसे बाहर चले गये हैं। मालिक सुनकर बिलकुल नाराज नहीं होता—कि यह तो हमारा सेवक है। हमारे लिए झूठ बोल गया न! कि इनको तकलीफ न हो, लोग आकर परेशान न करें। ये नास्तिक भी ईश्वरके सेवक हैं—देखो, जब राधा-कृष्ण युगल सरकार नित्य निकुञ्जमें मिले होते हैं और लोग 'राधाकृष्ण'-'राधाकृष्ण' पुकारते हैं, तो नास्तिक कहता है—ऐ, क्या शोर करते हो! कहाँ हैं राधाकृष्ण? वह तो नास्तिकतासे बोलता है—कि राधाकृष्ण नहीं हैं और राधाकृष्ण कहते हैं—वाह-वाह-वाह! इसने तो हमको जगानेवालेसे नित्य-निकुंजमें लीला करनेमें बाधा नहीं पड़ने दी! बड़ा अच्छा सेवक है!

भरोसो रीझन ही लखि हारी।

भगवान् कैसे, किसके ऊपर रीझते हैं! रिझवार हैं न वे! इसको साधारण संसारी लोग नहीं समझ पाते।

नित्य-निकुंजमें तो वे मिले हुए हैं और बाहर प्रकट करदी विरहकी लीला। अब उसमें चिट्ठी भी लिखनी पड़ती है, सन्देश भी भेजना पड़ता है। इसी बहाने अपने तत्त्वज्ञानकी बात भी प्रेमियोंके बीचमें कहनेका मौका मिलता है। आप देखो—गृहस्थ लोग मूर्ति सामने रखकर भगवान्‌की पूजा करते हैं। सामने तो रहती है पत्थरकी मूर्ति। शिवलिङ्ग है, कारीगरकी गढ़ी हुई मूर्ति है और बोलते हैं—**नमामीशमीशान निर्वाण रूपम्।** अरे भाई! यह सामने जो पत्थरकी मूर्ति रखी है,

वह निर्वाणरूपम् है? नहीं, उस मूर्तिके बहानेसे भगवान्‌के निर्वाणरूपम्‌का चिन्तन होता है; निर्वाणरूप क्या है—यह बात मालूम पड़ती है।

विरहके आवेशको रोकनेके लिए ज्ञानकी भी जरूरत पड़ती है। विरहमें ईश्वरका चिन्तन भी होता है। विरहमें ईश्वरके स्वरूपकी स्फुरणा भी होती है। विरहमें चिट्ठियोंका आदान-प्रदान भी होता है। हमारे वृन्दावनमें एक साँईं थे; आप लोगोंने शायद उनकी जीवनी पढ़ी हो कि न हो; लोग पढ़ते भी हैं तो भूल जाते हैं! तो उनको यह भाव हो गया—कि श्रीरामचन्द्रजीने सीताजीका परित्याग कर दिया! अब रामचन्द्रजी रहते हैं आयोध्यामें और श्रीसीताजी रहती हैं बिठूरमें, वाल्मीकि आश्रममें। और मैं उनका पक्षी हूँ और रामचन्द्रजो कहते हैं—वह सन्देश मैं जानकीजीको जाकर सुनाता हूँ और जानकीजी जो कहती हैं—वह सन्देश मैं रामजीको सुनाता हूँ; यह सन्देशका आदान-प्रदान करता हूँ। पक्षी क्यों? कि फिर हमारे सामने उनको कोई संकोच नहीं होता। आदमी-से-आदमी संकोच करता है और पक्षीसे कोई संकोच नहीं करता। तो अपनेको पक्षी-भावसे रखने लग गये। अगर अपना प्रियतम प्रसन्न होवे, तो उसके लिए पक्षी बननेमें भी क्या आपत्ति है?

यह जो प्रेमका भाव है, यह मुक्तिके भावसे विलक्षण होता है। इसमें तो जो विरहके कारण दुःख होता है, उसको बतानेके लिए ज्ञानका उपदेश होता है। यह है एक बात। दूसरी बात है—कि विरह है सूर्य! वह ताप भी देता है और प्रकाश भी देता है। मिले रहो, तो लड़ाई करो और बिछुड़ जाओ, तो गुणगान करो। प्रेमियोंकी ऐसी आदत होती है। ऐश्वर्यके प्रकाशका यही समय है, जब गोपियोंके विरह-दुःखको कुछ कम करनेके लिए बाहर-बाहरके अर्थमें श्रीकृष्ण तत्त्वज्ञानका उपदेश करते हैं और भीतर प्रेमका।

मैंने आपको सुनाया—कि इसमें तीन पक्ष हैं; एक तो गोपियोंके प्रेमकी महिमा दिखाना—कि तत्त्वज्ञानसे भी यह घटा नहीं। दूसरा—कृष्ण यह बतला रहे हैं, कि गोपियो! तुम हमारे हृदयकी महारानी हो, देवी हो। रात-दिन हमको तुम्हारी ही स्फुरणा होती रहती है। तीसरी बात यह है कि नित्य-प्रकाशमें हम लोग मिले हुए हैं। अब पहले ब्रह्मज्ञानवाला अर्थ सुनाकर पीछे स्फुरणावाला और नित्य-प्रकाश अर्थ सुनाऊँगा।

आत्मन्येवात्मनाऽऽत्मानं सृजे हन्म्यनुपालये।
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रिय - गुणात्मना॥ ३०॥

भगवान् सन्देश देते हैं—हे गोपियो! न मैं तुमसे अलग हूँ और न तुम मुझसे अलग हो। तुम्हारे बिना मेरा कोई स्वरूप नहीं। गोपी न हो, तो गोपीनाथ कैसा? शरीर न हो, तो जीव कैसा? और अगर मैं ही नहीं, तो तुम कहाँसे होओगी? हमारी जोड़ी नित्य है।

भगवान् कैसे मिले हुए हैं—यह गोपियोंके बहाने हम लोगोंको बता रहे हैं—अरी गोपियो! तुमको मालूम है न—कि यह सारी सृष्टि मैंने ही बनायी है। कभी-कभी यशोदा मैयाके सामने यह बात कहता था—तो डाँट पड़ती थी। बोले—कहाँ बनायी तुमने यह सृष्टि, महाराज! उसका अधिकरण क्या है? बोले—**अधिकरणं रहितं आत्मन्येव**—अपनी आत्मामें ही मैंने यह सृष्टि बनायी है। इसके लिए कोई दूसरा आधार, दूसरा अधिकरण, दूसरा आश्रय नहीं है।

अच्छा महाराज! किस चीजसे बनायी? किस उपकरणसे, किस औजारसे बनायी? किसने बनायी, किस रूपमें बनायी? कहते हैं—**आत्मन्येव अधिकरणान्तरेण विना, आत्मन्येव उपादानान्तरणं विना**। दूसरे उपादानके बिना, दूसरे औजारके बिना और दूसरे अधिकरणके बिना केवल आत्मामें ही एक सृष्टि है। जैसे घड़ा बनाना हो—तो कहाँ बना? कि धरती पर बना। काहेसे बना? कि मिट्टीसे। कैसे बना? कि चाकसे, डण्डेसे; हाथसे कुम्हारने बनाया। तो घड़ा बनानेके लिए मिट्टीकी जरूरत है, औजारकी जरूरत है और बनानेके लिए जगहकी जरूरत है। चाकसे बनाया, धरतीपर बनाया। यह सृष्टि ईश्वरने बनायी। कहाँ, किस चीजसे, किस औजारसे बनायी? तो भगवान् कहते हैं—माटी मैं, कुम्हार मैं, चाक मैं, सूत मैं, डण्डा मैं, धरती मैं—माने मेरे सिवाय घड़ा कोई चीज नहीं। अरे गोपियो? तुम वियोग-वियोग चिल्लाती हो। सृष्टिकी किसी चीजका मुझसे वियोग नहीं है। मैं तो सबमें भरपूर हूँ। **आत्मन्येवात्मनाऽऽत्मानं सृजे हन्म्यनुपालये**—मैं ही अपने आपमें, अपने आपसे अपनेको बनाता हूँ और मारता हूँ, अपने आपको पालित करता हूँ। माने मेरे सिवाय और कुछ नहीं है। तो वियोग किसका?

बोले—महाराज! फिर यह व्यर्थमें सृष्टि बनाते-बिगाड़ते हो? बोले—**भूतेन्द्रिय गुणात्मना**। शरीरमें द्रव्य, इन्द्रिय और गुणके रूपमें तीन हिस्से हैं। हड्डी, मांस, चाम—यह द्रव्य है, इसमें इन्द्रियाँ हैं और सत्त्व-रज-तम रूप गुण हैं। इन तीनोंके रूपमें मैं ही सृष्टिको बनाता हूँ।

बोले—फिर तो विकारी हुए न आप। बोले—नहीं, **आत्ममायानुभावेन**—

हमारी मायाका यह प्रभाव है—कि बनता—बिगड़ता कुछ नहीं है और सबकुछ बनता-बिगड़ता दिखायी पड़ता है। यह है हमारी माया।

अब इसका अर्थ यह हुआ न—कि भगवान्‌का वियोग नहीं है। यह परब्रह्म परमात्मा है। हमें केवल भगवान्‌के वियोगकी भ्रान्ति हो गयी है, क्योंकि जो ब्रह्म है, भगवान् है—वह हमारे भीतर-बाहर, दाहिने-बायें, ऊपर-नीचे—हमारे रूपमें सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है। वियोग किससे? जब आकाशसे—जो एक मामुली भूत है—कभी वियोग नहीं होता, तो चिदाकाशसे वियोग कैसे होगा? इसलिए वियोग झूठा है, कल्पित है। भगवान् कहीं गया नहीं; इसी देशमें, इसी कालमें है। और यहीं जो रूप हैं—इन्हींमें है; पहचानने भरकी देरी है। गोपियो! रासलीलामें तुमको लगा था न, कि श्रीकृष्ण हमको छोड़कर चले गये! लेकिन मैं तो तुम्हारी ही ओढ़नी अपने सिरपर ओढ़कर, अपनेको छिपाकर तुम्हारे पीछे-पीछे घूम रहा था।

आत्मन्येवात्मनाऽऽत्मानं सृजे—श्रीकृष्ण इसमें अपनी स्थिति बताते हैं—गोपियो! मैं दिनभर केवल एक काम करता रहता हूँ। क्या? **आत्मन्येव**—अपने हृदयमें **आत्मनैव**—अपने आपसे ही **आत्मानं**—अपने आपको ही—कभी गोपी बनाता हूँ, कभी गोप बनाता हूँ, कभी वृन्दावन बनाता हूँ—**सृजे हन्म्यनुपालये**—कभी तुम्हारी रासलीलाकी सृष्टि करके मैं अपने हृदयमें स्वयं—बिना किसीकी नजरके—नाचता हूँ खुद। फिर एक लीला बिगाड़ देता हूँ—**हन्मि**। क्यों? दूसरी लीला बनानेके लिए। गोपियो! तुम कोई परायी थोड़े ही हो। जो मैं हूँ, सो ही तम हो और हमारे हृदयमें ही हो। पहले तो मैं ब्रह्माके रूपमें सृष्टि बनाया करता था, विष्णुके रूपमें पालन किया करता था और रुद्रके रूपमें संहार करता था। तुम्हारे प्रेमके वशमें होकर मैंने अब संसारकी सृष्टि बनाना, पालन करना और संहार करना—सब छोड़ दिया और दिन-रात अपने मनमें अपना ही उपादान, अपनी आत्माका मसाला, अपनी आत्माका औजार और अपनी आत्माकी गोपी बनाकर तुम्हारे साथ हँसता हूँ, खेलता हूँ, खाता-पीता हूँ। बस, दिन भरकी यही हमारी रहनी है।

बोले—महाराज! फिर यह मनसे खेल कबतक चलेगा? बोले—नहीं गोपियो! हम केवल मनका खेल नहीं खेलते हैं, **भूतेन्द्रिय गुणात्मना**—हम तुम्हारे शरीरके पंचभूत बनाकर-भूत माने शरीर; इन्द्रियाँ बनाकर और जो तुम्हारे अन्दर गुण हैं—जो सौन्दर्य है, सौशील्य है, माधुर्य है—सो बनाकर और फिर अपना

शरीर, अपनी इन्द्रियाँ, अपने गुण बनाकर फिर हम लोग लीला करते हैं। और **आत्ममायानुभावेन**—हमारी जो आत्म-माया है अथवा तुम्हारे प्रति माया-ममता-मोह है—उसकी शक्ति है। हम तो तुम्हारे ऊपर मोह गये हैं। जब तुम्हारे दुःखका स्मरण आता है, तो मैं द्रवित हो जाता हूँ। अपनी उसी दया-मायाके प्रभावसे बस जब देखो, दिन-रात तुम्हारे ही साथ हँस रहा हूँ, बोल रहा हूँ।

बोले—महाराज! प्रेमकी अधिकताके कारण आपको ऐसी स्फुरणा होगी। बोले--नहीं गोपियो! हमको ही नहीं फुरता, तुमको भी फुरता है। गोपियो! तुम्हें क्या अनुभव होता है? तुम्हारे हृदयमें **आत्मन्येव**—तुम्हारी ही मनोवृत्तिसे तुम्हींको कैसे-कैसे रूपमें मैं सजाता हूँ! कभी लहँगा पहनाकर नचाता हूँ, कभी साड़ी पहनाकर। कभी तुमको रुठाता हूँ, कभी मनाता हूँ। तुम्हारे हृदयमें मैं जो सृष्टि कर रहा हूँ—उसका अनुभव तुमको नहीं होता? जब हजारों गोपियोंके मनमें वही लीला फुर रही है और मेरे मनमें भी वही लीला फुर रही है—तो यह कल्पना थोड़े ही हुई! यह तो बिलकुल सच्ची हुई। हम तो तुम्हारे साथ दिन-रात हँसते-खेलते रहते हैं। यह प्रेमकी लीला है? बोले—नहीं, यह भी माया ही है।

अरी गोपियो! तुम लोग स्वयं व्रजके बाहरकी लीला देखती हो, जरा अन्तरकी लीला तो देखो! उसको क्यों भूल गये? जो अन्तरंग लीला है, नित्य निकुंज, नित्य वृन्दावन धाम है—वह वृन्दावन हमारी आत्मा है। उसमें नित्य निकुंज धाममें, नित्य वृन्दावन धाममें अपनी नित्य-गोपियोंके साथ नित्य क्रीड़ा करता रहता हूँ। और तुम लोग उसमें हमेशा ही संलग्न रहती हो। वह कल्पना थोड़े ही है, स्फुरणा थोड़े ही है। वह कल्पनाकी बात नहीं—**भूतेन्द्रिय गुणात्मना**। हमारी आह्लादिनी शक्ति जो है—उसका ही यह अनुभाव है। आत्म-मायाका अर्थ दूसरेकी माया नहीं—अपनी माया है, अपनी आह्लादिनी शक्ति है; श्रीराधारानी है। ठोस रूपमें हमारी लीला नित्य चलती रहती है। तुम बाहरकी लीलापर ही ध्यान मत दो, जो नित्य-प्रकाशमें लीला हो रही है—उसपर भी दृष्टि डालो।

आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो—भगवान् कहते हैं—कि यह मत समझना कि जहाँ लीला होती है—वहाँ कुछ अशुद्धि आजाती है। अशुद्धि केवल द्वैत है। द्वैतभान अशुद्धि नहीं है, द्वैत भ्रम अशुद्धि है। यह सम्पूर्ण उपनिषद्का, वेद-वेदान्तका सिद्धान्त है—कि अपने अन्तरमें अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके भासनेमें कोई अशुद्धि नहीं आती। लेकिन यदि इनको सच मान लिया जाय, तो अद्वैतमें द्वैतका जो भ्रम

है—वह अशुद्धि आती है। बल्कि अद्वैत और कल्पित अशुद्धि आती है; वस्तुतः वह भी नहीं है।

वेदान्तके सिद्धान्तके अनुसार भान और भ्रम—दो चीजें होती हैं। भान माने मालूम पड़ना और भ्रम माने भूल करना। अब आप इसका दृष्टान्त देखो। आकाशमें यह जो नीलिमा दिखाई पड़ती है, इसका भान होता है। आपके बचपनमें एक-न-एक दिन जरूर रहा होगा, जब आप समझते होंगे, कि यह कोई रंगीन चीज सिरपर—जैसे कड़ाही है; ऐसे कराहाकार नीलिमासे धरती बनी है। हमको याद है, बचपनमें मालूम पड़ता था कि अगर हम कोई लम्बी-से-लम्बी बाँसकी चीज उठायेंगे, तो जाकर इस नीलिमामें धँस जावेगी। एक बार बचपनमें ऐसा भी मालूम पड़ता था कि हम अगर चलते जायेंगे, तो कहीं-न-कहीं धरतीपर गिरा हुआ नीलिमाका कराह मिलेगा। लेकिन जब बड़े हुए, तब मालूम हुआ—कि हम जितने ऊपर जायेंगे, यह नीलिमा उतनी ही ऊपर भागती जायेगी; असलमें कोई चीज नहीं है यह। यह तो हमारी आँख नहीं पहुँचती है, इसलिए नीलापन मालूम पड़ता है। अगर धरतीपर चलते जायें, तो कहीं नीलापन नहीं मिलेगा—जिससे हमारे कपड़े रँग जायें। तो उस समय भान था नीलिमाका और भ्रम था इसके सच्ची होनेका। जब बड़े हुए, पढ़े-लिखे, समझ गये—तब क्या बात समझमें आयी, कि यह जो नीलिमा है—इसका सच्चा होना तो भ्रम था और मालूम पड़ना भान था। यह जैसे भ्रम-कालमें भासता था, वैसा ही ज्ञान कालमें भी भासता है। यह जो संसारका प्रपंच भासता है, यहाँ जब भान और भ्रम दोनों रहता है—तब हम इसमें फँसे रहते हैं। एक तो यह दुनिया मालूम पड़े और दूसरे इसे ईश्वरसे जुदा करके सच्ची समझें—तब तो हम इसमें फँसे हुए हैं और मालूम तो पड़ती रहे, लेकिन ईश्वरसे जुदा करके इसको सच्ची न समझें—तो कहीं मोह नहीं होगा, ममता नहीं होगी, दुःख नहीं होगा।

यह आत्मा कैसी है? बोले—सर्वरूपमें भासते हुए भी—

आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः।
सुषुप्ति - स्वप्न - जाग्रद्भिर्माया वृत्तिभिरीयते॥ ३१॥

यह आत्मा जो है—यह शुद्ध है। और गुणान्वय—ऐसा कोई गुण नहीं है, जिसमें यह बँध जाता हो। देखो, प्रेम आया, यह गुण है; रजोगुणी है, कि तमोगुणी यह तो आप देख लें, लेकिन गुण जरूर है। दया करना भी एक गुण है, सत्त्वगुणी है, कि रजोगुणी है, कि तमोगुणी है—यह तो आप देख लो। लेकिन किसीकी

आत्मा न तो हमेशा दया करती हुई रह सकती है, न हमेशा प्रेम करती हुई रह सकती है। थोड़ी देरके लिये प्रेम आवेगा, फिर भाग जायेगा। कोई गुस्सा करे, तो उसको कहो—देखो भाई! तुमने गुस्सा किया; सो तो ठीक लेकिन अब कम-से-कम चौबीस घंटे तो इसे रखना। रख सकता है कोई? कोई रोने लग जाये, बोले—बहुत बढ़िया रोते हो। पर अब आँसू सूखेंगे, तो दण्ड ही मिलेगा तुमको। रो सकता है कोई जिन्दगी भर? यह रोना भी एक गुण है, हँसना भी गुण है, दया करना एक गुण है। यह सब गुण आते-जाते रहते हैं। और अपना आपा? उसको कहो कि छोड़ दें—तो छोड़ सकते हो? अपनी आत्मा जो है—वह सच्ची चीज है।

अच्छा, कहो—कि हमेशा जागते रहो? बनेगा? हमेशा सोते रहो, बनेगा? हमेशा सपनेमें रहो, तो बनेगा? ये जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति ये सब गुण हैं। ये गौण चीजें हैं, मुख्य नहीं; आने-जानेवाली हैं।

यह मुहब्बत, यह दुश्मनी—कहो न प्रेमी जनोंसे, दिनभर सटे रहो। वह तो आधा घंटा-घंटाभर चिपके रहते हैं एक दूसरेसे—तो बड़ा प्रेम है। अगर चौबीस घंटे चिपके रहें, तो मारपीट हो जाये अलग होनेके लिए। यह झूठा प्रेम है। लोग समझते हैं कि हाय-हाय! इसके बिना हम नहीं रह सकते। खानेमें कोई चीज आपको अच्छी लगती है? स्वाद आता है? अच्छा, जरा खीर-ही-खीर खाते जाओ, चटनी-चटनी खाते जाओ। तो इसीका नाम गुण है—कि थोड़ी देर स्वाद आता है और फिर चला जाता है। और फिर लाल मिर्च खाते हो कभी-कभी या नींबू खाते हो कभी-कभी, तो नींबू खट्टा है और लाल मिर्च तीखा है! सबका स्वाद अलग-अलग होता है और तुम एक हो। ये जो दुनियाकी चीजें हैं—ये तो आने-जाने वाले स्वादकी तरह हैं। दुनियामें खाना भी होता है और तत्त्वज्ञान भी होता है। यह नहीं, कि इसमें एक ही काम करके रह जाये, एक ही तरहसे रह जाये। यह तो जब आदमी भ्रममें पड़ जाते हैं न, जरा अक्ल घास चरने चली जाती है, तब मालूम पड़ता है—कि यह आत्मा किसी गुणके साथ जुड़ गया है। **अगुणान्वयः**—आत्मा किसी भी गुणके साथ नहीं जुड़ता है। हमेशा यह अङ्गी रहता है, अङ्ग कभी किसीका नहीं होता। क्यों? **व्यतिरिक्तः**—उनसे यह जुदा है। क्यों जुदा है? बोले—**ज्ञानमयः**—चेतन है, ज्ञानस्वरूप है, इसलिए **शुद्धः**—यह जो आत्मदेव है, यह शुद्ध है।

सुषुप्ति स्वप्नजाग्रद्भिर्मायावृत्तिभिरीयते। यह सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्—ये

मायाकी वृत्तियाँ हैं, जो आत्माके सामने आती हैं, अपना खेल दिखाती हैं और चली जाती हैं। जैसे जादूका खेल कोई खेले और जादूकी चीजें सामने आवें और चली जायें—माया माने जादू, इन्द्रजाल बोलते हैं न! जहाँ कम पढ़े-लिखे लोग रहते हैं, वहाँ इन्द्रजाली लोग बहुत आते हैं। ये भूत-प्रेत आते हैं न; ये अन्धेरेमें क्यों आते हैं? माने जो लोग अन्धकारमें पड़े हुए हैं—उन्हींको वे सताते हैं। जो प्रकाशमें हैं, उनको सतानेकी सामर्थ्य उनमें नहीं है।

यह जो संसार है, ये नातेदार-रिश्तेदार, सगे-सम्बन्धी—ये किसको सताते हैं? ये अज्ञानके अन्धेरेमें आकर सता जाते हैं। ये ज्ञानके प्रकाशमें किसीको सता नहीं सकते। माने संसारमें जो भी दुःख देता है, वह बेवकूफको देता है; समझदारको कोई दुःख नहीं देता है। ये लोग किसको ठगते हैं? बेवकूफको ठगते हैं, समझदारको कोई ठग नहीं सकते। इन जादू दिखानेवाले लोगोंके हाथमें बड़ा चमत्कार होता है; कभी इनको सच्चा नहीं समझना। ये भूत-प्रेत, नातेदार-रिश्तेदार, ये सब अज्ञानान्धकारमें पड़े हुए लोगोंको दुःखी-सुखी बनाते रहते हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय—ये सब आत्मदेवकी स्फुरणा हैं।

अपना आत्मा जो है—वह किसी गुणके साथ एक नहीं होता, वह सबसे अलग है—क्योंकि वह ज्ञान-स्वरूप है और इसीलिए वह शुद्ध है। और ये सब जादूके खेल कभी किसीको अशुद्ध नहीं करते हैं! गाँवमें हमने बहुत जादूके खेल देखे हैं। बच्चे इसको देखकर खुश होते हैं। दुर्बुद्धि लोग संसारके खेलको देखकर हर्षित होते हैं और तत्त्वज्ञानी पुरुष उसकी पोल-पट्टी जानते हैं।

एक ऐसा आदमी था, ऐसा दनादन रुपया निकाले महाराज! एक साधू थे, उनके बारेमें यह ख्याल था कि वे नोटोंके बण्डल-के-बण्डल निकालकर दे देते हैं। हम लोगोंका बहुत सम्बन्ध था परस्पर। उन्होंने बड़े-बड़े काम किये, लाखों रुपये निकालकर दिये। एक दिन उनसे एक बुद्धिमान पुरुषने पूछा—महाराज! आप ये नोट कहाँसे देते हैं? क्योंकि भगत लोग सब कहते थे—कि ये बना देते हैं। वे तो बड़े ही निपुण पुरुष थे; बोले—देखो भाई! हम कहाँसे देते हैं—यह हम बतावेंगे नहीं। खुद पता लगा लो कि कहाँसे देते हैं। इससे लोगोंकी और श्रद्धा बढ़े। अब उस बुद्धिमान पुरुषने पूछा—महाराज! आप जो नोट देते हैं, उसपर सरकारके नम्बर होते हैं कि नहीं? कि नम्बर तो रहते हैं। तो बोले—भाई! अगर उस नम्बरके नोट खजानेमें-से चोरी चले गये, तो वहाँका हिसाब बिगड़ गया और उसी नम्बरके नोट अगर दूसरे बन गये—तो वे जाली हो गये, असली नहीं रहे। जो

लोग जादूका खेल बनाते हैं, उसमें ठगी ज्यादा होती है। संसारमें जो नफरत है, दुश्मनी, राग, मुहब्बत है, मोह है; जो सम्बन्ध हैं—ये सब कैसे हैं? कि ये सब के-सब जादूके खेल हैं। इनमें जो फँसा—सो दुःखी हुआ।

भगवान्‌का बही-खाता बहुत बड़ा है। एक दिन एक आदमी चोरी करके आया और बहुत खुश! भगवान्‌ने उसको चोरी करनेका फल दिया—कि खुश हो जाओ? नहीं-नहीं। अच्छा, एक दिन वह गया होम करने; तो हाथ ही जल गया। तो क्या भगवान्‌ने धर्म करनेसे मना किया—कि धर्म मत करो? नहीं; जिस दिन चोरी की, उस दिन तो होम करनेका फल दिया था और जिस दिन होम करने गया—उस दिन चोरी करनेका फल दिया था। अनादि कालसे अबतक ईश्वरके हिसाब-किताब, बही-खातेमें लिखा रहता है। वह कब किस कर्मका फल देता है—यह मनुष्यको मालूम नहीं पड़ता। होम करते हाथ जलता है चोरीके फलसे और चोरी करके खुशी होती है होमके फलसे। पैसा जिस दिन जाय, उसदिन दुःखी मत होना, क्योंकि जिस दिन पैसा आया था, उस दिन दुःख आया था। उस दिन तो तुमने जाँच की नहीं—कि पैसेके रूपमें हमारे घरमें दुःख घुस रहा है। जब गया, तब रोने लगे। पहचानो भाई, यह मायाका खेल। जिस दिन संसारमें तुम्हारा किसीसे मोह हुआ, उस दिन तुम्हारे भीतर दुःखने प्रवेश किया। जिस दिन मोहका पदार्थ छूटा, उस दिन दुःखने प्रवेश नहीं किया। जिस दिन बच्चेने छिपकर सिगरेट पीना शुरू किया, उस दिन तुम्हारे घरमें दुःख आया; जिस दिन बापने चाँटा मारकर सिगरेट पीना छुड़ा दिया, उस दिन दुःख नहीं आया।

ईश्वरकी सृष्टिमें क्या खेल हो रहा है! ईश्वरने पहचान बना दी है। जो चीज कभी नहीं बदलती, हमेशा एक सरीखी रहती है—वहाँ ईश्वरको पहचानो और जो चीज बदलती रहती है, नाशवान है, मृत्युसे ग्रस्त है—वह अदलने-बदलनेवाली है। वहाँ फँसो मत। अगर वहाँ फँसोगे, तो दुःख पाओगे।

येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत मृषा स्वप्नदुत्थितः।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यते॥ ३२॥

इतना बढ़िया उपदेश है। जब आदमी सपना देखकर उठता है न, तो सपनेकी चीजका ध्यान करने लगता है—क्या बढ़िया सपना देखा! लोगोंको सपनेका भी अभिमान होता है। एक हँसीकी बात है—एक दिन दो आदमियोंने मिलकर बहुत बढ़िया खीर बनायी—कि आओ, दोनों खायें। एकके मनमें आया

लालच; उसने कहा कि अब कोई ऐसी युक्ति करें, कि दूसरेको खानेको न मिले; हम ही सब खा जायँ। तो कहा—आओ, एक खेल रचें। आओ, सो जायँ और जिसको बढ़िया सपना आये, वह समूची खीर खा जाय। दोनों सो गये। जब सोकर उठे, तो बोले—भाई! अब सुनावें अपने-अपने सपने। एकने सुनाया—कि जब मैं सोया, तो ईश्वरके दूत आये हमारे पास विमान लेकर और बोले कि तुम दिव्य वस्त्र आभूषण धारण करो। चलो, हम तुमको वैकुण्ठ ले चलते हैं। मैं वैकुण्ठमें गया। वहाँ ठाकुरजीने हमें अपनी गोदमें बैठाया और लक्ष्मणजीने थाली में भोजन लाकर हमारे सामने रखा। मैंने खूब आनन्दसे खाया। ऐसा बढ़िया सपना आया है, कि क्या बतावें! दूसरेने कहा—कि बाबा! हम तो अभीतक काँप रहे हैं। क्यों? कि हमको तो एक बहुत बुरा सपना आया। ज्यों ही हम सोये, त्यों ही एक दैत्य हाथमें लुकाठी लिये हुए आया और हमें मारने लगा। मैंने हाथ जोड़कर कहा—कि बाबा! हमको मारो मत। दैत्यने कहा—एक शर्तपर हम तुमको नहीं मारेंगे। उठो यहाँसे और जहाँ खीर रखी है—वहाँ चलो। और सब खीर अगर तुम खा जाओ, तब तो हम तुमको छोड़ देंगे और नहीं खाओगे—तो मारेंगे। मैं तो उसके डरके मारे मजबूर होकर सारी खीर खा गया। सपना तो तुमको बढ़िया आया, लेकिन खीर मैं खा गया।

ये जो संसारके दृश्य हैं, ये बिलकुल स्वप्न हैं। हर एक सुखके लिए सपनेका भी ख्याल करते हैं। नाते-रिश्ते बनाते हैं, उनका ध्यान करते हैं और उनमें फँस जाते हैं। ये जितने इन्द्रियार्थ हैं—**येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः**—स्वप्नके विषयके समान इन्द्रियोंके जो विषय हैं—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—इनका ध्यान करने लगे। ध्यान करते-करते उन भोगोंको भोगनेके लिए औजार आगये अन्तःकरणमें। सपनेसे उठकर विषयोंका ध्यान करे—ऐसे अपने आत्मामें न होते हुए भी जो स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि पदार्थ हैं—उनका ध्यान हुआ। और उन झूठे पदार्थोंका ध्यान करनेसे उनके भोगके लिए झूठी इन्द्रियाँ आगयीं। अब मनुष्य उनमें भटक रहा है। जब मनका निरोध हो जाता है, मन काबूमें हो जाता है—तब मनुष्यको संसारमें दुःख नहीं होता।

सैंतालीसवाँ प्रवचन

दुनियामें ऐसा देखा जाता है कि लोग काम देखते हैं, काम करनेका जो गुर है, उसको नहीं पहचानते। किसीकी भलाई करनी हो, तो आदमी बड़े मजेसे कर देता है; काम बनाना हो, तो बना देता है, लेकिन अपना जो ज्ञान है—किस गुरके अनुसार, किस फार्मूलेके अनुसार काम करता है—उसको बहुत गुप्त रखता है। जब कोई बहुत प्रेमी होता है—तब उसको यह बात बतायी जाती है कि हम किस हिसाबसे यह काम करते हैं। कोई बुद्धिमान आदमी हो, तो दो बार, दस बार, बीस बार उसके कामको देखकर पहचान ले, कि इनके काम करनेका गुर, फार्मूला क्या है; एक गणित होता है न! सावधान आदमी हो तो समझ जाये और गुरुजी कृपा कर दें, तो बता दें।

अब देखो! सब जानते हैं कि गोपी जितना प्रेम कृष्णसे करती है, उतना और कोई नहीं करता। **प्रमाणं पत्राः गोप्याः**—सबसे अधिक प्रेम करनेवाली गोपी! अपने शरीरको कृष्णका समझकर सजाती है, सँवारती है। जेवर पहनती है, तो इसलिए नहीं, कि मेरी शोभा बढ़ जायेगी, बल्कि इसलिए कि लोग देखेंगे कि कृष्णकी गोपी बिना जेवरके है। मैली साड़ी पहने देखेंगे, तो कृष्णकी गोपीको मैली साड़ी पहने देखेंगे। इसमें तो कृष्णकी बदनामी है—कि कृष्णकी गोपीने अपने शरीरमें तेल नहीं लगाया, बाल नहीं सँवारे, कपड़े नहीं सँवारे। गोपीके कर्मका जो तत्त्व है—वह कृष्णकी प्रसन्नता है, अपनी खुशी नहीं।

अब देखो! तुम किसके लिए अपने जीवनमें काम करते हो? भगवान्‌के लिए करते हो, कि कुटुम्बियोंके लिए करते हो, कि अपने लिए करते हो? गोपीका प्रत्येक काम कृष्णके लिए है—**तत् सुखे सुखित्वं**—अपनी प्रसन्नता नहीं, उनकी प्रसन्नतामें प्रसन्नता। बल्कि अपनेको दुःखी करके भी उनकी प्रसन्नतामें प्रसन्नता। यह प्रेमका दृष्टिकोण है।

अब श्रीकृष्ण जब संदेश भेजते हैं, तो जो श्रीकृष्णका अन्तरंग दृष्टिकोण है—वह गोपियोंके लिए भेजते हैं। श्रीकृष्णने बताया कि गोपियो! तुम केवल हमारे बाहरी रूपपर दृष्टि मत रखो। हमारा जो शुद्ध स्वरूप है—उसको समझो। एक महात्माने कहा, कि मैं वह नहीं हूँ—जो तुम मुझे देखते हो। जो मैं तुमको अपने बारेमें बताता हूँ—कि मैं कौन हूँ, वह मेरा स्वरूप है। अगर तुम अपनी कल्पनाको मेरा स्वरूप समझोगे, तो कुछ नहीं समझोगे। श्रीकृष्ण अपना स्वरूप बताते हैं अपनी अन्तरंग प्रेमी गोपियोंको—

आत्मज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः।
सुषुप्ति - स्वप्न - जाग्रद्भिर्माया वृत्तिभिरीयते॥

अरी गोपियो! मैं नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हूँ। तो गोपियाँ बोलीं—देखो, इतने कालतक हम तो यही समझती रहीं कि वर्षाकालीन मेघके समान तुम श्याम हो, तुम्हारे सिरपर मोर-मुकुट है, पीताम्बरधारी हो, परम सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्यके आकार हो। बड़ा आश्चर्यकारी तुम्हारा रूप है। अब तुम हमारे पास खबर भेज रहे हो—कि मैं सम्पूर्ण सृष्टिका उपादान हूँ और सबमें व्यापक और अन्तर्यामी रूपसे वर्तमान हूँ और हमारे साथ तुम्हारा वियोग नहीं है। तो बाबा! ऐसा रूप तो कहीं देखनेमें आता नहीं है। हमें तो यही मालूम पड़ता है कि हम देहवाली हैं, ग्वालिन हैं और श्रीकृष्णकी दासी हैं; प्रेयसी हैं। हमको तो किसी नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माका पता नहीं चलता है। कहाँ ब्रह्मकी ज्योति!

ज्ञान कासों कहौ ऊधो।
हमरे तो सुन्दर श्याम प्रेम को मारग सूधो॥

भगवान् कहते हैं—कि नहीं-नहीं, हमारी आत्मा और तुम्हारी आत्मा भी देहसे जुदा है। प्रेमका विषय काम नहीं; प्रेमका विषय तो अन्तरात्मा है। तो गोपी! तुम हमारी अन्तरात्मा हो और हम तुम्हारी अन्तरात्मा हैं। केवल हड्डी-मांस-चाम-विष्ठा-मूत्र—इनको लेकर जो प्रेम जोड़ा जाता है, वह प्रेम तो बहुत हलके किस्मका होता है। इस दृष्टिको हटाकर आत्मदृष्टि करो। देखो, हम-तुम मिले हुए हैं, एक हैं; हम-तुममें वियोग कहाँ हैं?

अब देखो, यह पहली बात हुई। **आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो**—आत्मा कैसा है? बोले—आत्मा शुद्ध है। यह किसीके मोहमें, मुहब्बतमें, मायामें, ममतामें फँसकर अशुद्ध होनेवाला नहीं है; तुम्हारी आत्मा भी, हमारी आत्मा भी। क्यों? बोले—अगुणान्वयः—यह सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणके साथ कभी मिलता नहीं। ऐसा क्यों? कि **व्यतिरिक्ता**—सबसे जुदा है। ऐसा क्यों? कि **ज्ञानमयः**—चेतन स्वरूप है। सुषुप्ति, स्वप्न, जाग्रत्—ये मायाकी वृत्तियाँ आती-जाती रहती हैं और यह साक्षी, स्वयं-प्रकाश, एकरस विद्यमान रहता है। इसलिए गोपियो! तुम मोह-ममता, राग-अनुरागके चक्करमें न पड़कर अपनेको भी शुद्ध आत्माके रूपमें जानो और हमको भी शुद्ध आत्माके रूपमें जानो।

बोले—यह जो संसार दीख रहा है—वह क्या है? सब ब्रह्म-ही-ब्रह्म है, तो यह प्रपंच कहाँसे आया? बोले—**येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः**—जैसे

स्वप्नसे उठकर; उत्थित:=जगा हुआ पुरुष अपने स्वप्नका स्मरण करता है, इसी प्रकार ये मनीराम झूठझूठ ही जब जगते हैं, तो इन्द्रियोंके विषयोंका ध्यान करते हैं। जैसे स्वप्नके विषयोंका चिन्तन करना मिथ्या है, ऐसे संसारके विषयोंका चिन्तन करना भी मिथ्या है।

अच्छा देखो, दोनोंमें फर्क क्या है? बोले—सपनेसे उठकर जब सपनेकी याद करते हैं, तो देखते हैं कि सपनेमें जो कुछ देखा था—वह मिथ्या है। वहाँ मित्र मिला और जाग्रत्में पूछो—मित्र! मिले थे? बोले—नहीं मिले। झूठा हो गया न! जिसे तुम सपनेमें मिलकर आये, वह जाग्रत्में कहता है कि नहीं-नहीं, हम तुमसे नहीं मिले। सपनेमें कलकत्ते होकर आये, विलायत होकर आये; एक बरस रहकर आये; अब कलकत्तेमें, विलायतमें पता लगाओ—कि तुम गये थे? और अभी कल ही तुम यहाँ सोये थे, तो एक बरस वहाँ रहकर कैसे आये? सपनेका जो काल याद आता है, सो भी गलत, जो देश याद आता है, सो भी गलत, जो वस्तु याद आती है, जो मित्र याद आता है—सब गलत। जो क्रीड़ा करते हैं—बड़ा भारी मकान बनाया, सो भी गलत। तो झूठा ही ध्यान करते हैं, झूठा ही चिन्तन करते हैं। इसी प्रकार जब मन सोकर उठता है—जब ध्यानमें-से मन उठता है, समाधिमें-से मन उठता है, एकाग्रतामें-से मन उठता है; समझो—गर्भमें-से निकलकर बच्चा जब बाहर आता है, तब जब वह जगता है—तो इतनी यह दुनिया दिखायी पड़ने लगती है—यह क्या है? बल्कि कई लोग तो कहते हैं, कि स्वप्न तो संस्कारसे हुआ न; पर जाग्रत् किससे हो रहा है? यदि जाग्रत्में यह मालूम पड़ता है कि यह हमारी मैया है कलवाली, यह हमारे बाप हैं कलवाले, यह श्रीमती जी हैं, ये श्रीमानजी हैं—तो कल वाली मैया, बाप, श्रीमान, श्रीमती आज कैसे पहचानमें आयेंगे? संस्कारसे ही तो आयेंगे न! यह जाग्रत्की सृष्टि भी संस्कारोंसे ही चल रही है। बल्कि यह तो सपनेवाली सृष्टिसे भी हलकी है। क्यों? कि सपनेकी तो जाग्रत्में याद भी रहती है, जाग्रत्की तो सपनेमें याद भी नहीं रहती है। यह तो एक अभ्यास बन गया है। क्यों नहीं जाग्रत्की याद सपनेमें आती? सपना सूक्ष्म होता है, जाग्रत् स्थूलमें होता है, इसलिए सूक्ष्म दशामें जाग्रत्की स्मृति नहीं होती है। जाग्रत्-दशा स्वप्न-दशामें लीन हो जाती है, और जाग्रत्-स्वप्न दोनों सुषुप्तिमें लीन हो जाते हैं। जाग्रत्में तो सुषुप्ति और स्वप्नके स्मरण भी होते हैं, परन्तु स्वप्न और सुषुप्तिमें तो जाग्रतके स्मरण भी नहीं होते। स्वप्न और सुषुप्तिमें जिसका स्मरण ही न हो, वह जाग्रत् तो मरणात्मक अवस्था है असलमें।

स्वामी रामतीर्थ कहते थे कि ये दुनियाके लोग बावरे हैं। क्यों? बोले—

सबकी रोज तीन अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति; पर ये जाग्रत्के आधारपर ममता-मोह बनाते हैं, सम्पत्ति बनाते हैं, रिश्ते बनाते हैं और सपनेके, सुषुप्तिके आधारपर कभी विचार ही नहीं करते हैं। क्या वह हमारे जीवनकी कोई अवस्था नहीं है? भाई! जैसे इसके आधारपर विचार करते हो, वैसे उसके आधारपर विचार करो।

बढ़िया संगीत सुनना और गाली सुनना—एक कठोर स्पर्श और दूसरा कोमल स्पर्श, यह बढ़िया रूप और वह घटिया रूप, ये सब क्या हैं? कि यह मन इन्द्रियोंके विषयोंका ध्यान करता है और विषयोंका ध्यान करते-करते क्या हुआ? **इन्द्रियाणि प्रत्यपद्यत**—इन्द्रियोंके साथ मन तादात्म्यापन्न हो गया। इसलिए भाई, अगर संसारके दुःखसे छूटना चाहते हो, तो एक बात मान लो; **विनिद्रः तन्निरुन्ध्यात्**—सावधान हो जाओ; अब सपनेमें मत फँसो। साधु—सावधान! विनिद्र होकर माने निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, प्रमाद छोड़कर इस मनको अपने काबूमें करलो और उससे विषयोंका चिन्तन मत करो। विषयोंका चिन्तन नहीं करोगे, तो इन्द्रियोंके साथ तादात्म्य नहीं होगा और इन्द्रियोंके साथ तादात्म्य नहीं होगा, तो देहयोग माने देहकी प्राप्ति नहीं होगी। इसलिए संसारसे छूटनेका उपाय यह है कि मनसे विषयोंका चिन्तन छोड़ा जाये, नहीं तो महाराज! जिस-जिसकी याद करोगे—वहीं वहीं जाओगे।

अच्छा, अब पहले श्लोकमें क्या बताया—थोड़ा ध्यान करलो। श्यामसुन्दर, तुम हमसे दूर मथुरामें रह रहे हो। हमारी याद तुमको आती होगी, तो हमारे विरहमें तुमको कष्ट होता होगा! हम तो जैसे-तैसे अपना समय काट लेती हैं—क्योंकि हमारे माँ-बाप हैं, सास-ससुर हैं, पति है, पुत्र है, घरके बहुतसे काम हैं। यमुनाजी में चार-दस जनी बैठ जाती हैं और तुम्हारी चर्चा करती हैं। हमारा समय तो आनन्दसे कट जाता है, लेकिन मथुरामें तुम अपना समय कैसे काटते होओगे? किसीसे अपने मनकी बात कह भी नहीं सकते। बड़ा दुःख होता होगा तुमको। जब कोई खानेको लेकर आता होगा, तब यशोदा मैयाकी याद आती होगी। प्रातःकाल माखन-मिश्रीकी याद आती होगी, दोपहरको जमुनाजीके तटपर छेड़-छाड़की याद आती होगी। हमारा समय तो बहुत सारे कामोंमें बीत जाता है; तुम्हारा समय कैसे बीतता है? हमें बड़ा दुःख है इसका। तो भगवान्ने कहा—

आत्मन्येवात्मनाऽऽत्मानं सृजे हन्म्यनुपालये।

गोपियो! मैं अपने हृदयमें अपने आपको ही राधा बनाता हूँ, कभी ललिता बनाता हूँ, विशाखा बनाता हूँ, चन्द्रावली बनाता हूँ। मैं अपने हृदयमें—**आत्मना एव**

आत्मनि एव, आत्मानं एवं सृजे—अपने आपको ही वृन्दावन बनाता हूँ, उसमें नित्य निकुञ्ज बनाता हूँ, जमुनाजीकी धारा, गिरिराजजीकी गुफा, गौएँ, गोपियाँ—सब बनाता हूँ। और फिर गोपियो तुम्हारे साथ नाचता हूँ, गाता हूँ, हँसता हूँ, खेलता हूँ। तो गोपियोंने कहा—कि एक तरहकी लीला करोगे, तो उसमें ऊब जाओगे। यह फुरना, यह कल्पना कबतक काम देगी? तो बोले—नहीं—**सृजे हन्म्यनुपालये**—एक बदलकर दूसरा, फिर तीसरा, फिर चौथा—गोपियो! दिन-रात मैं अपने हृदयमें नया वृन्दावन, नयी गोपी, नया निकुंज, नयी लीला; नया रस, नया राग बनाता हूँ और यह मत समझना कि यह कल्पनाका होता है—

आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना।

हमारी अचिन्त्य शक्ति ऐसी है, कि उसके द्वारा मैं ठोस वृन्दावन बना लेता हूँ। कि अच्छा श्रीकृष्ण! अपने लिए तो तुमने यह सृष्टि कर ली; अब हमें क्या कहते हो? क्योंकि हमतो तुमको श्यामसुन्दर, मुरली मनोहर, पीताम्बरधारी रूपमें ही जानती हैं। हमारे अगर कोई ईश्वर है, ब्रह्म है—तो तुम हो। तुम्हारे सिवाय अगर कोई दूसरा ब्रह्म है, दूसरा ईश्वर है, दूसरा अंतर्यामी है—तो हम बेचारी ग्वालिन उसको जानती नहीं हैं।

जो लोग ध्यानसे परे किसी ध्यानातीत परम वस्तुका चिन्तन करते हैं, उनके हृदयकी गुहामें शुद्ध चिन्मात्र आत्माका प्रकाश होवे, उदय होवे। लेकिन बाबा! हमारी आत्मा तो दूसरी है, जो निसर्ग मधुर है, स्वभावसे ही मधुर है। अरे बाबा, व्यक्तिमें व्यक्ति रूपसे आत्मा चाहिए। अव्यक्तमें अव्यक्त रूपसे आत्मा है। आत्मा और ब्रह्म एक है, परन्तु जो हमारी हृदयाभिव्यक्ति है, स्वभावसे ही जो मधुर-मधुर है—**प्रकृतिमधुरा,** जिसके मुखारविन्दपर मुस्कान खेलती रहती है, जो मेघके समान साँवला है, जो कनक-परिधि पीताम्बर पहनता है और जिसकी आँखें हैं कमल सरीखी यह नन्द-नन्दन, यह श्यामसुन्दर, यह ब्रजवल्लभ हमारा प्राणप्यारा है; हमारा आत्मा यह है। गोपियोंने अपने आत्माको प्रत्यक्में स्थापित नहीं किया, बाहर स्थापित किया।

श्रीकृष्ण कहते हैं—ठीक है गोपियो! यह बाहर-भीतरका जिसको भेद है, वह तो अविवेकी है, अनुभवी नहीं है। अरे, जो भीतर है, सो बाहर है। जो अपनी आत्मा है, सो सामने है। ये जिज्ञासु लोग जो हैं—ये बाहर और भीतरका भेद ब्रह्ममें करते हैं क्या? नहीं, बाहर-भीतरका भेद दृश्यमें ही बताते हैं। यह स्थूल और सूक्ष्मका भेद क्या ब्रह्ममें बताते हैं? न-न। वह तो स्थूल-सूक्ष्मका भेद जड़में

ही बताते हैं। तुम्हारे तो न देश है, न काल है, न वस्तु है। जिसको तुमने ब्रह्मरूपमें जाना है गोपियो! यह हमारी आत्मा--मैं ही हूँ। ठीक! तुमने हमको समझ-बूझकर प्रेम किया है—

आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः।

यह जिसको तुमने आत्मा माना है, वह कैसा है? कि ज्ञानमय है। वह जड़ नहीं है, मूर्ख नहीं है; बड़ा ज्ञानी है—**ज्ञानमयः**। चौदहों विद्या उसको आती हैं, चौसठों कला उसने गुरुजीसे सीखी है। चारों वेद, छहों शास्त्र, अट्ठारहों पुराण उसकी जुबानपर हैं। सृष्टिकी ऐसी कोई चीज नहीं—जिसको वह न जानता हो। तुमने विद्वान्से प्रेम किया है, किसी मूर्खसे प्रेम नहीं किया है। इसलिए तुम अपने प्रेमको बढ़ाओ। **शुद्धः**—मैंने सुना है, तुम लोग कभी-कभी कुब्जाका नाम लेकर, मथुराकी स्त्रियोंका नाम लेकर हमें कपटी-कपटी बोल देती हो, हमपर दोषारोपण करती हो—यह गलत है। तुम्हारा प्रेमास्पद शुद्ध है; अपना विश्वास बनाये रखो। और **व्यतिरिक्त**—यह जो तुम्हारा प्यारा है, तुम्हारा प्राणनाथ है—वह दुनियाके लोगों सरीखा नहीं है, व्यतिरिक्त है—माने उनसे न्यारा है, सर्वोत्तम है, पुरुषोत्तम है। उसको तुम दुनियाके अन्य स्त्री-पुरुषोंके समान नहीं समझना। और सारे गुण—**गुणान्वयः**—अगुणान्वय नहीं, सारे गुण उसीकी सेवामें लगे रहते हैं। माने तुमने जिसको अपना आत्मा माना है—आत्मा माने प्रेमास्पद, जिसको तुमने प्रेम किया है—वह सर्वज्ञ है, और वह निष्कपट है और वह पुरुषोत्तम है, सबसे उत्तम है और सारे गुण उसकी सेवामें लगे रहते हैं।

असलमें जो गुणका भिखारी है, गुण उसको नहीं मिलते हैं। जो गुणोंकी परवाह नहीं करता—गुण उसको मिलते हैं। जो गुणोंकी परवाह करेगा, वह बनावटी ईश्वर हो जायेगा।

एक महात्मा अपनेको ईश्वर मानते हैं। देखो, ब्रह्मज्ञान होना दूसरी चीज है और अपनेको ईश्वर मानना दूसरी चीज है। दोनों अलग-अलग हैं। दोनोंको एकमें नहीं मिलाना। ब्रह्म तो हम भी, तुम भी, कीट भी, पतंग भी, पशु भी, पक्षी भी हैं। आत्मा ब्रह्म है और जो लोग अपनेको ब्रह्म बताते हैं, वे अपनेको सबसे अलग रखकर ब्रह्म नहीं बताते। पर जो लोग अपनेको ईश्वर बताते हैं न, वे अपनेको अलग रखकर सबसे ज्यादा ब्रह्म बताते हैं। उनका ख्याल है कि ईश्वरकी आज्ञा तो सबको माननी चाहिए। अगर कोई उनकी आज्ञा नहीं मानेगा, तो वे ईश्वर नहीं रहेंगे। अब उनके मनमें यह ख्याल हुआ, कि ईश्वर आज्ञा तो

अप्रतिहत होती है और मैं सबको कहता हूँ—कि मैं ईश्वर हूँ। अगर कहीं किसीने आज्ञा माननेसे इनकार कर दिया, तो हमारे ईश्वरपनमें अन्तर पड़ जायेगा। हमको भी यह बात मालूम थी और कोई बात कहते, तो मान लेते। एक बार उनको कोई काम था। उन्होंने हमको आदमी भेजकर अकेलेमें पुछवाया, कि अगर यह बात वे हमसे कहें, तो हम मान लेंगे? हमने कह दिया—कि मान लेंगे। तब जब यह बात एकान्तमें तय हो गई, तब भरी सभामें उन्होंने हमसे कहा—कि हमारा यह काम कर दो; और मैंने भरी सभामें कह दिया कि मैं नहीं करूँगा। महाराज! उस समय उनका चेहरा देखते बनता था। एकदम गोरेसे काला हो गया।

ईश्वरमें गुण तो हैं, परन्तु उसे गुणोंकी अपेक्षा नहीं है; वह निरपेक्ष है। गुणोंको हजार बार उसकी जरूरत हो, तो आकर उसकी सेवा करें। ये ईश्वर लोग कैसे होते हैं? जब राष्ट्रपति भवनमें राजेन्द्र बाबू थे न, तो एक बार एक सज्जन आये। लोकसभाके कोई सदस्य थे; बोले कि हम राष्ट्रपतिजीके पाससे यह जानकारी प्राप्त करनेके लिए आये हैं कि अगर वे आपको आमंत्रित करेंगे कथा सुनानेके लिए—तो आप उनका आमंत्रण मानेंगे कि नहीं मानेंगे? आप स्वीकार कर लो, तब तो आमन्त्रण आवेगा और अगर आप स्वीकार न करें, तो राष्ट्रपति भवनसे आमन्त्रण नहीं आवेगा।

देखो, संसारमें जो बड़प्पन है न, उसका ध्यान रखना पड़ता है। ईश्वरमें जो बड़प्पन है—वह महाराज! ऊखलमें बँधनेपर भी ईश्वर है। उसको मैया चाँटा लगाती है—तब भी ईश्वर है। उसकी आँखमें रोना आता है—तब भी ईश्वर है। यह जो सहज ईश्वरत्व है—वह किसी क्रियासे, किसी अवस्थासे, किसी परिस्थितिसे बिगड़ता नहीं है और बनावटी जो ईश्वर है—वह बिगड़ जाता है। तो **गुणान्वयः**—श्रीकृष्ण कहते हैं—सारे गुण आकर मेरी सेवा करते हैं। मुझे किसी भी गुणकी परवाह नहीं है। इसलिए गोपी! तुमने मुझसे जो प्रेम किया—तो मैं तुम्हारे प्रेमको समझता हूँ। यह मत समझना कि श्रीकृष्ण कृतज्ञ नहीं, कृतघ्न है। उस आदमीको प्रेम नहीं करना चाहिए, जो जानता ही न हो कि प्रेम क्या होता है। प्रेम उससे करना चाहिए, जो प्रेमीके प्रेमको समझता हो—कि यह हमें कितना सुख पहुँचाना चाहता है; उसके मनमें हमारे प्रति क्या भाव है। तो **ज्ञानमयः** कहकर श्रीकृष्णने बताया कि मैं तुम्हारा प्रेमास्पद हूँ, तो तुम्हारी गलती नहीं है और **शुद्धः**—माने मैं कपटी नहीं हूँ। और **व्यतिरिक्तः** माने दुनियामें जैसे लोग होते हैं—वैसा नहीं हूँ; पुरुषोत्तम हूँ; सबसे न्यारा हूँ। और—

सुषुप्ति स्वप्न जाग्रद्भिर्माया वृत्तिभिरीयते।

यह परम प्रेमास्पद आत्मदेव जो हैं—वे जाग्रत्में मिटते नहीं। एक दर्जी है; वह अपनी पत्नीसे प्रेम करता है। अब उसको दिन भर मशीन चलानी पड़ती है; तो मशीन चलानेकी क्रियामें उसके हृदयमें प्रेम रहता है—कि नहीं रहता है? रहता है। भले वह पत्नीको भूल जाय और एक-एक सूतको, मशीनके एक-एक पुर्जेको सँभाले, लेकिन काम करनेमें भी पत्नीके प्रति उसका प्रेम बना हुआ है। जब कर्मका विक्षेप होता है, तो जैसे आत्मदेवकी हानि नहीं, वैसे प्रेमकी हानि नहीं।

अच्छा, बोले—भाई! सपना देखा, तो सपनेमें सारी दुनिया बदल गयी। तो उसमें क्या परम प्रेमास्पद आत्मा बदल गया? वैसे तो प्रेमियोंको सपना भी अपने प्रियतमका ही आता है। आँख बन्द हुई और अपना प्रियतम-ही-प्रियतम है। सपना आया—तो अपने प्रियतमका ही सपना आया। लेकिन कभी पूर्व संस्कारसे दूसरे आजायें सपना बदल जानेसे क्या प्रेम बदल जाता है? प्रेम भी नहीं बदलता, आत्मा भी नहीं बदलती।

अच्छा, सुषुप्तिमें? अरे बाबा! पहले दिन जिससे प्रेम होता है, सोनेके समय जिससे प्रेम होता है—जागनेपर उसीसे प्रेम रहता है, कि दूसरेसे हो गया? उसीसे रहता है न! तो जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्ति तो मायाकी वृत्तियाँ हैं। ये अस्थायी, कपटसे भरी हुई हैं। ये बदलती रहती हैं, लेकिन प्रेम बिलकुल एक रहता है, प्रेमास्पद आत्मा बिलकुल एक रहता है।

गोपियो! तुम तो सोती हो मेरे लिए। थोड़ा सो लो, क्योंकि सबेरे उठना है न! सबेरे उठकर क्या करना है? कि श्यामसुन्दरके लिए मक्खन तैयार करना है। अगर सोवेंगे नहीं, तो शरीरमें आलस्य रहेगा; प्रेमसे मक्खन तैयार नहीं होगा। गोपियो! तुम सपना देखती हो, तो मेरा ही देखती हो। तुम जागती हो, तो चारों ओर मुझे-ही-मुझे देखती हो। गोपियो! मैं तुम्हारा परम प्रेमास्पद सर्वज्ञ, कृतज्ञ, निष्कपट, पुरुषोत्तम, सबसे न्यारा और सम्पूर्ण गुणोंका आगार हूँ। तुमने तो हमको हृदयमें ऐसा बसाया है, कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें भी मैं तुम्हारे पास रहता हूँ। और ऐसे तुम मेरे पास रहती हो।

बोलीं—श्यामसुन्दर! यह सब बात तो सच्ची है, लेकिन यह हमारा मन संसारको देखता है। अब हमको यह सहन नहीं होता कि तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई हमारी आँखमें आवे। प्रेमी लोग चाहते हैं कि हमारी आँखमें दिखे—तो प्रीतम दिखे। हम मरें, तो भी हमारे शरीरकी मिट्टी उसके पाँवकी धूल बने; हमारे शरीरकी ज्योति उसके आइनेमें जाकर समा जाय; हमारी साँस उसके पंखेकी हवा

बन जाय; हमारी आवाज उसके कानको मुधर आवाज बनकर सुनायी पड़े और हमारे शरीरका जो अवकाश है—वह उसके हृदयमें समा जाय। हम और वह एक हो जावें। प्रेमी मरकर भी अपने प्रियतमसे एक होना चाहते हैं; और हमें तो यह सारी दुनिया दिखती है!

असलमें जिसको अद्वैत वेदान्त समझमें नहीं आता, उसके लिए प्रेमका रहस्य समझना भी बड़ा कठिन है, क्योंकि यह सच्चिदानन्दमें आनन्द नामकी जो वस्तु है न, उसीका नाम प्रेम है। वेदान्ती लोग चेतन-चेतन कहकर उसका विवेक करते हैं, आनन्द-आनन्द कहकर उसका विवेक नहीं करते। चीज तो एक ही है; जो चेतन है—सो ही आनन्द है, जो आनन्द है—सो ही चेतन है। ऐसा नहीं है—कि आनन्द दृश्य हो और चेतन द्रष्टा हो। अगर ऐसा हो—तो ब्रह्म सच्चिदानन्द ही न हो! वह तो जो द्रष्टा है—सो ही आनन्द है। जो द्रष्टा है—सो ही आनन्द है। जो द्रष्टा है—सो ही सत् है! इसलिए प्रेम तो अपना स्वरूप है। यह प्रेम जीवनका लक्ष्य है। यह गलत जगहपर हो गया, परिच्छिन्नमें हो गया, छोटी-छोटी चीजोंमें हो गया—यह उसमें दोष है। परमात्माके साथ प्रेम होना दोष नहीं है। परमात्मा प्रेमस्वरूप है और अपना आत्मा भी प्रेमस्वरूप है।

बोले—यह सृष्टि दिखायी पड़ती है—यह क्यों? हमको तो अपने प्यारे प्रभुके सिवाय दूसरी कोई चीज देखनेको न मिले! यह कहाँसे शक्ति आयी?

येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः।

देखो गोपियो! हूँ मैं ही—चाहे मेरी याद आये, चाहे नहीं आये। यह मन जो है—यह झूठे विषयोंकी कल्पना कर लेता है। तो **तन्निरुन्ध्यात्**—इसके लिए थोड़ी कोशिश करलो। इस मनको हमारे अन्दर लगा दो। असलमें श्रीकृष्णका जो अंग-अंग है न—बस, अनुरागके रंग-से-रँगा हुआ है। और, उनकी आँख सुनती भी हैं, कान देखता भी है, पाँव चखता भी है और हाथ सूँघता भी है। ऐसा कैसे है? कि जब जड़-चेतनवाला—दो तत्त्वोंवाला शरीर होता है न, तब उसमें कुछ कर्मेन्दियाँ होती हैं और कुछ ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं; अलगाव होता है। यहाँ श्रीकृष्णका जो शरीर है—वह दो तत्त्वोंवाला है ही नहीं। उसमें एक जड़ है और एक चेतन—ऐसा नहीं है। यह बात संसारी लोग नहीं समझते हैं। श्रीकृष्णका जो श्रीविग्रह है, उनका जो अंग है—उसमें रंग है प्रेमका और उसमें जो मसाला है—वह सत्का है। वे स्वयं चित् स्वरूप हैं। बड़ा ही आनन्द है वहाँ।

आनन्दमात्र करपाद मुखोदरादि गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि।

गोविन्द भगवान् जो हैं, उनके हाथ-पाँव-पेट—सब सच्चिदानन्द-घन हैं। और **यतेन्द्रियाणि निखिलेन्द्रिय वृत्तिमन्ति**—एक-एक इन्द्रियमें सभी इन्द्रिय हैं। वहाँ मायाका, जड़ताका कोई पर्दा ही नहीं है। सब इन्द्रियोंके विषयोंके रूपमें जो जड़ताका चिन्तन होता है, वह वहाँपर है ही नहीं। असलमें श्रीकृष्ण जड़ नहीं हैं; उनमें जड़ताका जो आरोप है—वही जड़ता है, वही अज्ञानका पर्दा है।

तो गोपियो! **तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत**—तुम अपने मनको मेरे अन्दर ऐसे ढंगसे लगाओ—कि मैं-ही-मैं रहूँ।

एतदन्तः समाम्नायो योगः सांख्यं मनीषिणाम्।
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः॥ ३३॥

अब वे फिर पहली बातपर आये। **मनीषिणाम्**—जितने मनीषी हैं; मनीषी सबको नहीं बोलते हैं। 'मनीषी' शब्द बिगड़कर 'मनुष्य' बन गया, यह तो ठीक है—लेकिन 'मनीषी'में जो भाव था—वह 'मनुष्य'में नहीं आया। मनकी जो प्रेरक शक्ति है—उसका नाम मनीषा है; जो मनको अपने अनुसार चलावे। प्रज्ञाका नाम मनीषा है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां। गीता. २.६७

वही तो शक्ति है शरीरमें; एक प्रज्ञा और एक प्राण। प्राणकी उपाधिसे ज्ञान होता है। प्रज्ञाकी उपाधिसे ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और प्राणकी उपाधिसे कर्मेन्द्रियाँ हैं। हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियाँ जो काम करती हैं—यह प्राणकी उपाधि होनेसे, और ज्ञानेन्द्रियाँ प्रज्ञाकी उपाधि होनेसे काम करती हैं। वही तो शक्ति है। तो मनीषा माने मनको काबू करनेवाली, मनका संचालन करनेवाली ज्ञानशक्ति। उस मनीषासे जो सम्पन्न हैं—उन विद्वानोंको मनीषी कहते हैं। मनीषियोंका इस सम्बन्धमें क्या मत है—कि यदि तुमने जान लिया कि आत्मा ज्ञानमय शुद्ध है, व्यतिरिक्त है, अगुणान्वय है और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका साक्षी है और यह जो प्रपंच है—यह मनका खेल है; मन हो तो सारी दुनिया है और मन न हो, तो कुछ नहीं है; प्रपंच मानस-कल्पना मात्र है और आत्मा परब्रह्म, परमात्मा है—तो **एतदन्तः समाम्नायो**—वेदकी कोई जरूरत नहीं रही, क्योंकि वेदका समाम्नायका परम तात्पर्य यही है कि आत्मा और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान होवे।

योगः—वह है न, महिम्न स्तोत्रमें श्लोक—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपति - मतं वैष्णवमिति।
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च॥

सम्पूर्ण वेद, योग, सांख्य-सम्पूर्ण शास्त्रोंका सार यह है कि श्रीकृष्णसे प्रेम करो। सम्पूर्ण दर्शनोंका सार यही है कि आत्मा-परमात्माकी एकताका ज्ञान हो। प्रेम ही एकता है। एक बात देखो, कि प्रेम और पर्दा नहीं चल सकता। प्रेममें आवरण नहीं रह सकता। जैसे ज्ञान आवरणका भंजक है, उसी प्रकार प्रेम भी आवरणका भंजक है। व्यवहारमें जितने आवरण हैं, जितने कपट हैं, कुपट हैं, पट हैं—सबको काट देता है यह प्रेम। द्वैतका आवरण भंग करना, जैसे ज्ञानका काम है, वैसे ही प्रेमका भी काम है। इसीलिए प्रेमी लोग जो हैं न, वे अद्वैतको रसाद्वैत बोलते हैं। कोई सिद्धाद्वैत बोलते हैं, कोई राधाकृष्णाद्वैत, कोई सीतारामाद्वैत बोलते हैं। सम्पूर्ण वेद—वेद माने समाधि, चित्तकी एकाग्रता हो गयी न; और सांख्य माने आत्म-अनात्म विवेक, सबका परम तात्पर्य है—कि मनुष्य प्रपंचमें अपने मनको भटकाना छोड़कर प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्व, परम प्रेमास्पद जो अपना प्यारा है—उसमें स्थित हो जाय।

समाधिका तात्पर्य भी यही है, विवेकका तात्पर्य भी यही है और ज्ञानका तात्पर्य भी यही है। **त्यागस्तपो दमः सत्यम्**—त्याग भी इसीलिए है। तपस्या—अपने धर्मका पालन भी इसीके लिए है। इन्द्रियोंका दमन इसीके लिए है। सत्य भी इसीके लिए है। इन सब साधनोंकी गति कहाँतक है? बोले—**समुद्रान्ता इवापगाः**—कोई भी नदी बहेगी, तो उसकी अंतिम गति क्या? बोले—समुद्र। इसी प्रकार कोई भी साधन होगा, तो उसकी अन्तिम गति क्या? कि अपरिच्छिन्न अद्वैत तत्त्वका बोध; श्रीकृष्णसे प्रेम। यही उसकी अन्तिम गति है।

बोले—यह सब तो ठीक है, पर हमको तो चाहिए कि तुम हमारी आँखके सामने आओ। इसके सिवाय हम और कुछ नहीं जानते।

बोले—यह जो हम तुम्हारी आँखके सामने नहीं आते हैं, इसका कारण गोपियो! हमारा तुमसे प्रेम है। हमको शरम आती है, कि इतनी प्रेमी गोपियोंसे मैं दूर चला आया। नहीं-नहीं, इसमें तुम्हारी भलाईकी भावना है। क्या?

यत् त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम्।
मनसः संनिकर्षार्थं मदनुध्यान - काम्यया॥ ३४॥

असलमें प्रेमी और प्रियतम अलग-अलग नहीं होते। राधा-कृष्ण जुदा-जुदा कभी नहीं होते। बिना राधाके कृष्ण नहीं, बिना कृष्णकी राधा नहीं। बिना वृत्तिके तदाकारता नहीं, बिना तदाकारिताके वृत्ति नहीं। विषय और वृत्तिका जैसे पार्थक्य नहीं हो सकता न, या तो दोनों छोड़ो या दोनों मिलाओ, वैसे ही ये राधाकृष्ण दोनों मिले हैं। ये अपनेसे लोगोंको मिलानेके लिए मिलनेका नाटक करते हैं। ※

अड़तालीसवाँ प्रवचन

कृष्णने उद्धवजीके द्वारा गोपियोंको जो सन्देश भेजा—उसमें छह श्लोकोंमें अपने स्वरूपका वर्णन किया है और बाकीमें पुरुषार्थका। अब बताते हैं कि अपने आत्मामें—अर्थात् दूसरे अधिकरणमें नहीं; अपने आत्मासे—अर्थात् दूसरे करणसे नहीं और आत्माको ही—अर्थात् दूसरा उपादान नहीं; माने दूसरा आधार नहीं, दूसरा करण नहीं, दूसरा अधिकरण नहीं और दूसरा उपादान नहीं—मैं स्वयं-प्रकाश परमात्मा ही सारी सृष्टिका अभिन्न, विवर्ति अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हूँ। मेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं। गोपियो! वियोग कैसा! और मैं अपने आपमें ही दिन-रात ऐसा ताना-बाना बुनता रहता हूँ—कि उसमें वृन्दावन, निकुंज, गोपियाँ—माने दिन-रात तुम्हारे साथ ही रहता हूँ। इसमें विरह कहाँ?

बोलीं—जब आत्मा ज्ञानमय है, शुद्ध है, व्यतिरिक्त है—तो हमको यह सारी सृष्टि दिखती है, यह क्या है?

भगवान्‌ने बताया—कि यह मनोविलास है। अगर तुम अपने मनको काबूमें करलो, तो केवल आँखसे नहीं, सारी इन्द्रियोंसे मेरा अनुभव होगा। यह अद्‌भुत बात है। केवल बुद्धिसे ईश्वरका अनुभव होना, केवल मनसे ईश्वरका अनुभव होना, केवल आँखसे ईश्वरका अनुभव होना-ऐसा नहीं है। चलते हैं तो ईश्वरमें, हँसते हैं तो ईश्वरमें, बोलते हैं तो ईश्वरमें, सोते हैं तो ईश्वरमें—सारी अवस्था ही ईश्वरमें है। यह बात तब होती है—कि जब मनमें ईश्वर प्रकट हो जाता है।

गोपी चाहती है—हमारी आँखमें ईश्वर हो और भगवान् चाहते हैं कि गोपीके मनमें ईश्वर रहे। संदेशका जो निचोड़ है न, उसे समझो। आँखके सामने भगवान् रहें, तो कभी मनके सामने न भी रहें, लेकिन मनमें रहें, तो—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः।

जहाँ-जहाँ मन जायेगा, वहाँ-वहाँ ईश्वरका दर्शन होगा। इसलिए मनपर थोड़ी नजर रखनी चाहिए; मनको काबूमें रखना चाहिए। और **विनिद्रः**—उसमें आलस्य, निद्रा, प्रमाद नहीं होना चाहिए, विनिद्र होकर—माने लय दशाको प्राप्त

हुए बिना, सावधान रहकर अपने मनको ईश्वरमें लगाओ। तब देखोगे—कि अर्थके रूपमें भी ईश्वर मिलता है, धर्मके रूपमें भी, कामके रूपमें भी और मोक्षके रूपमें भी ईश्वर मिलता है। अपने परम प्रेमास्पदके रूपमें भी ईश्वर मिलता है।

और अगर मनमें ईश्वर न बसा, तो?

आए मोरे सजना, फिर गए अंगना
मैं बौरी रही सोय री।

हमारा प्यारा साजन हमारे आँगनमें आया, लेकिन मैं ऐसी पगली निकली—कि तान दुपट्टा सो गयी। उसी समय चूक गये, जिस समय देखना था। तो अपनी वृत्तिको थोड़ा प्रयत्न करके, कोशिश करके भगवान्‌में लगाना चाहिए। एक सज्जन आज पूछ रहे थे—निरन्तर समाधि कैसे होती है? होता है, किसी-किसीको शौक होता है। एक सज्जन आये, तो बोले—सपनेमें भगवान्‌के नामका जप होवे—हमको ऐसा उपाय बताओ। मैंने कहा—जाग्रत्‌में तो तुम पूरा करते हो न? वे कहते थे—नहीं, इसके लिए तो समय नहीं मिलता है। हमको तो निरन्तर समाधि चाहिए। तो निरन्तर समाधि भी लगती है। जब निरन्तर ब्रह्म हो जाओ, तो निरन्तर समाधि भी लगेगी। जब परमात्माके सिवाय देश-काल-वस्तु नहीं है, केवल परमात्मा-ही-परमात्मा है—तो निरन्तर समाधि है। और परमात्माके सिवाय कोई दूसरी चीज है, तो मन उसमें जायेगा थोड़ा और थोड़ा परमात्मामें जायेगा। तो अनुभवकी पूर्णता कब होती है? जब केवल आँखसे ही नहीं, त्वचासे भी, नासिकासे भी, जिह्वासे भी, श्रोत्रसे भी ईश्वरका अनुभव हो। यह कैसे होगा? यह मत समझो कि ये प्राकृत इन्द्रियाँ ईश्वरको अनुभव करेंगी।

भक्तोंका एक सिद्धान्त आपको सुनाता हूँ। भक्तोंने यह निरूपण किया है, अद्वैत वेदान्तकी यह बात नहीं है। उन्होंने—भक्तोंने यह प्रश्न उठाया कि हमारी आँख प्रकृतिके कार्यभूत जो पंच महाभूत हैं—उनके सात्त्विक अंशसे बनी हुई है। यह प्राकृत आँख अप्राकृत ईश्वरका दर्शन कैसे कर सकेगी? क्या इसमें यह सामर्थ्य है कि यह ईश्वरको देख सके? आप जानते हैं कि निर्गुण ब्रह्मवादका सिद्धान्त दूसरा है। वह तो सबेरे प्रेमपुरीजी सुनाते हैं। यहाँ सगुण ब्रह्मवादका सिद्धान्त आपको सुनाता हूँ; क्योंकि जिसे वाच्यार्थका ज्ञान नहीं होगा, उसको लक्ष्यार्थका ज्ञान भी नहीं होगा। वे कहते हैं कि यह बात बिलकुल पक्की है कि

मनुष्यकी आँख प्राकृत है और यह ईश्वरके अप्राकृत विग्रहका दर्शन करनेमें समर्थ नहीं है। तब क्या होता है? बोले—जब साकार ईश्वर—जो मुरली मनोहर, पीताम्बर-धारी, श्यामसुन्दर, नन्द-नन्दन, राधा-प्राण-वल्लभ हैं—इस तरहसे ईश्वरका दर्शन करनेके लिए हमारी आँख छटपटाती है, व्याकुल होती है—**विविक्षित दृशा**—कान छटपटाते हैं उसके वचन सुननेको—

दर्शन को अखियाँ तपैं री वचन सुनन को कान।
मिलिबे मिलिबे को हिया तपै री मेरे तन के जीवन प्राण॥

जब उसके लिए हृदयमें व्याकुलता आती है; कानमें, आँखमें, नाकमें, सर्वांगमें व्याकुलता होती है—तो वह अन्तर्यामी सगुण ईश्वर देखता है कि वह प्रेमी, वह भक्त मेरे लिए छटपटा रहा है। तब दयाके कारण उसका हृदय द्रवित हो जाता है और वह अन्तर्यामी—जैसे रघुवंशमें, यदुवंशमें अवतार लेता है, स्वच्छन्दतासे—ऐसे भक्तजनोंके हृदयमें अवतार ग्रहण करता है। तब? आँखमें उसका आवेश होता है, कानमें उसका आवेश होता है, नाकमें, जिह्वामें उसका आवेश होता है। उसी अन्तर्यामी ईश्वरके द्वारा आविष्ट जो नेत्र हैं माने हमारे नेत्रसे तादात्म्यापन्न होकर ईश्वर-ही-ईश्वरको देखता है। हमारे श्रोत्रसे तादात्म्यापन्न होकर ईश्वर-ही-ईश्वरको सुनता है; हमारी त्वचासे तादात्म्यापन्न होकर ईश्वर-ही-ईश्वरको छूता है, माने जब वह हमारे अन्दर अवतीर्ण हो जाता है, तो प्रकृति जो है—वह धीरे-धीरे तिरोहित हो जाती है और ईश्वरत्वकी अभिव्यक्ति हमारे शरीरमें हो जाती है। जब ईश्वरत्वकी अभिव्यक्ति हमारे अन्तःकरणमें होती है, इन्द्रियोंमें होती है—तब उन अन्तःकरणोंमें, इन्द्रियोंमें, बाहर भी ईश्वरके दर्शनका सामर्थ्य आता है।

तत्त्वज्ञानके मार्गमें—ब्रह्मज्ञानके मार्गमें, जहाँ इन्द्रियोंका और वृत्तियोंका बाध करना पड़ता है; निषेधके द्वारा, नेति-नेतिके द्वारा, अपवाद करके अपने स्वरूपका ज्ञान प्राप्तकर, जहाँ मन इन्द्रियोंका बाध हो जाता है, वहाँ सगुण ब्रह्मवादमें जब पुकारते हैं कि आओ—

आओ नन्दलाल, तड़प रहे नैना।
आओ, आओ, आओ॥

वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, दयालु प्रभु आकर हमारी प्राकृत इन्द्रियोंको हटाकर, यहाँ दिव्य इन्द्रियाँ बन करके स्वयं बैठ जाता है और हमें ईश्वरके दर्शन होने लगते हैं।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्। गी. ११.८

एतदन्तः समाम्नायो योगः सांख्यं मनीषिणाम्। अब यहाँ 'एकदन्त'में तीन अर्थ लो। एक तो ब्रह्म और आत्मा की एकताका साक्षात्कार। इसीमें सम्पूर्ण समाम्नाय—माने वेदोंका अन्तर है। माने सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य ब्रह्म और आत्माकी एकतामें है।

अब दूसरा अर्थ लो। सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य इसी मनोनिरोधमें है; वेदोंका तात्पर्य सर्व इन्द्रियोंके द्वारा ईश्वरकी अनुभूतिमें है। भक्त कहता है—कि हम सब इन्द्रियोंके द्वारा ब्रह्मकी अनुभूति करेंगे; हम ईश्वरको सूँघ लेंगे। तत्त्वज्ञानियोंका एक विधिमुखसे जो प्रत्याहार है न—वह भी ऐसा ही है; जो-जो आँखसे देखो—उसे आत्मा समझो, जो-जो कानोंसे सुनो—उसे आत्मा समझो, जो-जो त्वचासे छुओ—उसे आत्मा समझो, जो-जो नाकसे सूँघो—उसे आत्मा समझो।

यद् यद् पश्यति चक्षुर्भ्यां तद् तदात्मेति भावयत्।
यद् यद् शृण्वतो श्रोत्राभ्यां तदात्मेति भावयत्॥

देखो, नेति-नेति वाला अर्थ दूसरा है; वह निषेध है। और यह क्या है? 'ओं इति', 'ओं इति' **एतदन्त समाम्नायः**—सम्पूर्ण इन्द्रियोंके द्वारा, मैंके द्वारा, बुद्धि हमारे व्यावहारिक जीवनमें ईश्वरका अनुभव हो।

एक—मनोनिरोध होकर हम ईश्वरमें स्थित हो जायें। दो—और ब्रह्मात्मैक्य दर्शन होकर अविद्याकी निवृत्ति हो जाय। तीन—**एतदन्तः समाम्नायः**—सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्य इसीमें है कि मनुष्य योगसे कैसे छिप-छिपकर ईश्वरकी ओर चले। वह किसी चीजमें न फँसे, किसी आदमीमें न फँसे। जिसने श्याम-सुन्दरके चरणारविन्द-मकरंदकी जो सुगन्ध है—उसको कभी सूँघा नहीं, वह चलते-फिरते मुर्देसे प्रेम करता है। जिसने श्रीकृष्णके अंगकी गन्ध, श्रीकृष्णके चरणारविन्दका रस, उनका रूपामृत, उनका स्पर्शामृत, उनका शब्दामृत पान नहीं किया, वही संसारमें चलते-फिरते मुर्देसे प्रेम कर रहे हैं।

सम्पूर्ण वेद-शास्त्रका तात्पर्य यह है, कि हम परमात्माकी ओर अग्रसर होवें, परमात्माको प्राप्त करें।

योगः सांख्यं मनीषिणाम्—योग भी उसीके लिए है। असलमें संयोग-वियोग जो हैं न, ये योगके ही दो भेद हैं। 'सं' उपसर्ग जुड़ गया तो 'संयोग' हो गया और 'वि' उपसर्ग जुड़ गया तो 'वियोग' हो गया। हैं तो दोनों योग ही। संयोगमें काहेका योग होता है? बोले—मिल गये। वियोगमें क्या योग हुआ? बोले—

दिमागमें सवार हो गये। बाहरसे रूपको दिमागमें भर लेते हैं। वियोगका यही न मतलब होता है! बोले—दूर रहो हमसे। तो तुम्हारे दिमागमें कौन है? बोले—कृष्ण। बाहरसे हटाते हैं, तो भीतर घुस आता है। यह हटानेकी पद्धति नहीं है, यह तो और फँसानेकी पद्धति।

एतदन्तः समाम्नायो योगः—योगमें—समझो सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि यम; तपस्या, शौच, स्वाध्याय आदि नियम; आसन; प्राणायाम; प्रत्याहार; धारणकर योग लगाया, तो विषय सब निवृत्त हो गये; संकल्प-विकल्प सब शून्य हो गये। अब उसमें शान्ति आयी। अन्तःकरण शुद्ध हुआ और ईश्वर-प्राप्तिकी योग्यता आगयी। समाम्नाय जो है, वह है प्रमाण, वृत्तिसे परमात्माका साक्षात्कार करना और योग जो है, वह है शान्त वृत्तिमें परमात्माका अनुभव करना और सांख्य जो है—वह विवेक है; आत्मानात्म-विवेक करके राग-द्वेषसे रहित होकर शुद्धान्तःकरण होना और परमात्माको जानना।

समाम्नाय साक्षात् साधन है, अन्तरंग साधन है और योग, सांख्य, विवेक, वैराग्यादि रूप हैं, बहिरंग साधन हैं। बुद्धिमान पुरुष—माने जो संसार छोड़कर परमात्माकी ओर चलना चाहता है, उसको ये परमात्माके पास अन्तमें पहुँचाते हैं। मनोनिरोध होता है। सर्वत्र ईश्वरका दर्शन होता है। आत्मा और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान होता है उसको—जो इन साधनोंका आश्रय लेता है।

त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः।

त्याग जो है—यह संन्यासीका धर्म है। साधुका धर्म है त्याग। जो कुछ पानेके लिए छोड़ते हैं, सो भी त्याग ही होता है। देखो, संसारको छोड़ा और अपने भीतर बैठा हुआ जो परमात्मा है, उसको पाना। और उधर परमात्माको छोड़ दिया और इधर संसारको छोड़ दिया; हाथ क्या लगा? मेरी तो एको नाहिं सरी! एक बात भी नहीं बनी! माया मिली न राम! जैसे गोपियाँ हैं; वे कहती हैं न—हमने अपना घर-द्वार छोड़ा पति-पुत्र छोड़े, सगे- सम्बन्धी छोड़े, धन, भोग, शरीरका शृंगार, शरीरका अभिमानतक सब छोड़ दिया। छोड़ा तो सब कुछ; मिला भी कि ठनठन पाल? तो श्रीकृष्ण मिले। त्यागमें कोई उद्देश्य होता है न! श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए सारा त्याग है। त्यागके लिए त्याग नहीं होता, पूर्णताकी प्राप्तिके लिए, पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिए त्याग होता है। यह भगवत्प्रेम जो है—यह सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। तपस्या किसके लिए? ईश्वर-प्राप्तिके लिए। इन्द्रियोंका दमन किसके लिए? ईश्वर-प्राप्तिके लिए। सत्य किसके लिए? कि ईश्वरकी

प्राप्तिके लिए। त्याग संन्यासीका धर्म है, तपस्या वानप्रस्थका धर्म, दम ब्रह्मचारीका धर्म और सत्य गृहस्थके लिए मुख्य धर्म है। अथवा इसको उलटकर कहें, तो **सत्यं च समदर्शनम्**—सत्य माने समदर्शन। जो संन्यासीका धर्म है, दम ब्रह्मचारीका धर्म है, तप वानप्रस्थका धर्म है और त्याग गृहस्थका धर्म है। गृहस्थके लिए धर्म जो है—वह त्याग है; ये छोड़ें तो इनका कल्याण हो। जरा मुट्ठी खोलें, तो इनका कल्याण हो, नहीं तो लेकर बैठे रहेंगे। हाथसे तो ये रुपया पकड़े हुए हैं, इससे ईश्वरको कैसे पकड़ेंगे? तो लोभीके लिए त्यागका उपदेश होता है। उपनिषद्में द-द-दवाला जो प्रसंग है, उसमें लोभीके लिए त्यागका, दानका उपदेश है, क्रोधीके लिए दयाका और कामीके लिए दमनका उपदेश है। देवताको कामी, दैत्यको क्रोधी और मनुष्यको लोभी मानकर वहाँ द-द-द का उच्चारण किया हुआ है।

तो **समुद्रान्ता इवापगाः**—ये सारे साधन कहाँ जाते हैं? कोई यह प्रश्न करे, कि एक ईश्वरको तो पाना है और उसमें ये साधन तुमने बहुत सारे बता दिये—तो ये सब ईश्वरके पास पहुँचते हैं? कि हाँ, पहुँचते हैं। जैसे नदियोंके रास्ते अलग-अलग होते हैं, और सब समुद्रमें पहुँचती हैं न! नदीका अन्त धरतीमें नहीं, समुद्रमें है। यह नहीं समझना—कि कोई नदी मारवाड़में आयी, राजस्थानमें आयी और वहाँ बालूमें समा गयी। वहाँसे भी वह नीचे जायेगी, पानीमें मिलेगी और उसके साथ मिलकर फिर समुद्रमें मिलेगी। सारी नदियोंका अन्त समुद्रमें होता है—'**यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।**' नाम-रूप सब छोड़कर नदी समुद्रमें मिलती है। इसी प्रकार साधन जितने हैं, वे सब जाकर मनोनिरोधमें मिलते हैं, सर्वत्र ईश्वर-दर्शनमें मिलते हैं, आत्मा ब्रह्मकी एकतामें मिलते हैं। यहाँतक स्वरूपका निरूपण हुआ। यह सब तत्त्वज्ञानका उपदेश था।

अब एक दूसरी बात प्रारम्भ करते हैं। विश्वनाथ चक्रवर्तीने तो इस प्रसंगमें ऐसी बातें कही हैं न, कि गोपियोंने उद्धवको वह फटकार बतलाई—ज्ञानका संदेश लेकर आये हो हमारे बीचमें? हमको तो वही हमारा प्राण-प्यारा, हमारी आँखोंका तारा, वही हृदयका दुलारा, वहीं नन्दनन्दन-श्यामसुन्दर चाहिए। हमको ज्ञानका उपदेश नहीं चाहिए। वे समझदार हैं, तुम समझदार हो कि हम समझदार हैं—बताओ तो भला! अरे, जो प्रसन्न होता है, जिसका हृदय निर्मल होता है, पवित्र होता है—उसको ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया जाता है। ऐसे कहीं ब्रह्मज्ञानका उपदेश होता

है कि हम तो वियोगमें मर रही हैं, हमारी आँखोंमें आँसू है और हमारे दिलमें आग जल रही है; हम तो श्रीकृष्णके विरहके मारे मरी जा रही हैं और लाकर ब्रह्मज्ञानका बोझ तुमने हमारे सिरपर और पटक दिया। क्यों उद्धव! श्रीकृष्णको दया-माया नहीं रही, तुमको दया-माया नहीं रही? यह प्रेम है, जो व्यक्तिगत जीवनका निर्माण करता है, ब्रह्म नहीं बनाता है। और जो ब्रह्म बनते हैं, वे बिगड़ भी जाते हैं। ब्रह्म बननेकी चीज नहीं है; वह तो है। वह तो अपना स्वरूप है। हृदयमें जो राग-द्वेष है, वह ईश्वरसे प्रेम करनेपर मिटता है, जैसे तुम्हारी भूख भोजन करनेसे मिटती है। स्थूल शरीरके निर्माणके लिए भगवत्प्रेमकी आवश्यकता है। खाली लम्बी-चौड़ी बात सुन लेनेसे कोई अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है—सो बात नहीं है। ये रागद्वेषादि-रूप जो प्रतिबन्ध संसारमें हैं—उन प्रतिबन्धोंकी निवृत्ति होना जरूरी है। प्रतिबन्धोंकी निवृत्ति, हो तो गर्भमें भी ज्ञान हो जाता है, यह बात आपने उपनषिद्में सुनी है। वामदेवको गर्भमें ही तत्त्वज्ञान हुआ। गुरु तो कोई नहीं था वहाँ। कोई महावाक्यका उपदेश कर रहा था? वहाँ कोई उपनिषद्का पाठ हो रहा था? कोई स्वाध्याय था? कोई प्रवचन था? कोई नहीं था। ये सब—स्वाध्याय, प्रवचन वामदेव पहले जन्ममें कर चुके थे; लेकिन पहले जन्ममें ज्ञान क्यों नहीं हुआ? कुछ प्रतिबन्ध थे, जिनकी निवृत्ति नहीं हुई थी। वे कौनसे प्रतिबन्ध हैं, जिनके कारण बहुत श्रवण करनेपर भी उपलब्धि नहीं हुई? बोले—हृदयमें जो राग-द्वेष हैं न—वही प्रतिबन्ध हैं। यह राग-द्वेषका प्रतिबन्ध कैसे मिटता है? कि एक बार तुम्हारे हृदयमें जो कठोरता है न, वह मिटे। तुम्हारे हृदयमें मुरली-मनोहर, पीताम्बारधारी, श्यामसुनदरके प्रति प्रीति आवे। हड्डी-मांससे प्रेम करके सत्संगमें, परमार्थके क्षेत्रमें कोई भी उन्नति नहीं कर सकता। अनमिला साजन, अनदेखा साजन—श्यामसुन्दरसे प्रेम हो, भगवान्से प्रेम हो। तुम्हारी चित्तवृत्ति जब उधर चलेगी, तो उधर का राग-द्वेष—जो प्रतिबन्ध है न—वह छूट जायेगा।

उद्धवजी! आपको ब्रह्मज्ञान हो गया? श्रीकृष्णने चार दिन उज्जैनमें जाकर शास्त्र पढ़ लिये। मालूम होता है कि जितना भाव उन्होंने अपने गुरुजीसे सुना है, सीखा है—वह तुमको सिखा-पढ़ाकर यहाँ भेज दिया है। नहीं-नहीं! वहाँ जाकर उन्होंने चिकित्सा-शास्त्र पढ़ा है? आयुर्वेद पढ़ा होगा उद्धवने। उसमें पढ़ा होगा कि किसीको प्रेमका रोग लगता है, तो उसकी दवा कैसे करनी चाहिए। यह ज्ञान ही प्रेमरोगकी दवा है? यह ब्रह्मज्ञान प्रेमरोगकी दवा नहीं है। न तो कृष्णको अधिकारी-अनधिकारीका विचार है, न तुमको उनके अभिप्रायका विचार है और

न तुमको हमारी स्थितिका विचार है। हम सीधी बात कहे देती हैं ऊधो जी! कि अपने ब्रह्मज्ञानको तुम अपनी पोटलीमें बाँधकर सीधे मथुरा चले जाओ। हमको कोई ब्रह्मज्ञानका संदेश नहीं चाहिए।

उद्धवने कहा—गोपियो! घबराओ मत। उन्होंने प्रेमका संदेश भी दिया है। तो प्रेमका संदेश क्या है?

यत् त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम्।
मनसः संनिकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया॥ ३४॥

उन्होंने कहा—हे गोपियो! मैं जानता हूँ कि मैं तुम्हारा सबसे प्यारा हूँ—**अहं भवतीनां प्रिया, भवतीनां दृशाम् स प्रिया**—हम तुम्हारे प्यारे हैं और तुम्हारी आँखोंके प्यारे हैं। इसका मतलब यह है कि तुम कभी रूठ भी जाओ, तो तुम्हारी आँखोंके प्यारे हैं। इसका मतलब यह है कि तुम कभी रूठ भी जाओ, तो तुम्हारी आँखें हमसे कभी न रूठेंगी। नाराज होनेपर भी तुम्हारी आँखें तो मुझमें ही लगेंगी। कहते हैं—कि गोपियोंकी आँखें जो हैं न—

लाज लगाम न मानहिं नैना मो बस नाहिं।
ये मुँहजोर तुरंग लौं उन तक ही चलि जाहिं॥
देखत बने न देखते बिनु देखे अकुलाहिं।
इन दुखिया अँखियान सों सुख पुर जोगि नाहिं॥
लगा लगी मोहन करें नाहक हम फँस जाहिं॥

गोपियोंकी आँखका प्यारा कौन? वह साँवरा सलोना, वह कन्हैया! अच्छा, तुम्हें मालूम है—हम तुमसे इतना प्रेम करते हैं, तो तुम हमें छोड़ करके दूर क्यों चले गये? बोले—कि यह भी ठीक है, कि **दूरे वर्ते**—हम तुमसे दूर रह रहे हैं।

भाई! यह जानकर कि यह हमारा प्रेमी है। कोई उसको छोड़कर दूर नहीं जाता है। मनमें तलाश होती है, कि कोई तो हमसे प्रेम करनेवाला मिले। लोग प्रेमीके फंदेमें फँस जाते हैं।

गोपियो! मुझे मालूम है कि तुम्हारा निरतिशय प्रेम मुझमें है। कितनी बार हाथ जोड़कर, पीताम्बर हाथमें लेकर—**पीताम्बरधरः**—तुम्हारे सामने अपने हृदयका भाव प्रकट कर चुका हूँ—कि गोपियो! तुमने मेरे साथ जो प्रेम किया है, मेरे लिए जो त्याग किया है, उससे मैं कभी उऋण नहीं हो सकता। मैं अजर-अमर होकर भी यदि तुम्हारी सेवा करूँ, तो भी मैं तुमसे उऋण नहीं हो सकता।

तब महाराज! जब तुम इतने कृतज्ञ हो, इतने प्रेम-परवश हो और अपने

प्रेमियोंका इतना भाव जाननेवाले हो, तो हमें छोड़कर दूर क्यों चले गये?

अब देखो, अगला जो श्लोक है—**दृशाम् दूरे वर्ते**—तुम्हारी आँखोंसे दूर रह रहा है। क्यों महाराज?

मनसः संनिकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया।

इस अर्द्धालीमें दो भाव हैं। एक तो है—आँखोंसे मैं दूर हूँ, मनके पास रहनेके लिए। गोपी! मेरे मनमें यह बात आयी—कि गोपियाँ हमसे प्रेम तो करती हैं, लेकिन यह आँखोंके बाहर-बाहर रखकर हमको देखा करती हैं। ***देख री देख अनिमेष या वेषको***—यह देखो, यह देखो, यह वेष! ***देख री देख या मुकुटकी लटकन को***—तो आँखोंमें इनके बहुत प्रेम है; यह हमको मालूम हो गया। तो मैंने सोचा कि जबतक आँखके बाहर रहूँगा, तबतक तो ये पलक-पाँवड़े बिछाती रहेंगी और अपनी आँखोंमें ताकती रहेंगी—

पिबति चक्षुर्भ्याम् लहन्ति इव जिह्वया।

आँखसे देखती हैं—तो मालूम पड़ता है कि पी जायेंगी। मन उनका होता है—कि जीभसे चाट लें, बाहुपाशसे आबद्ध करके उनको पीड़ित करें, दबावें। यह बाहर-बाहर तो चाहती हैं; पर उनके दिलमें कितना प्रेम है—इसका कैसे पता लगे? तो वहाँ घुसना चाहिए। आँखसे घुसें? कि आँखसे नहीं घुसने देती हैं। उनके हृदयका प्रेम आँखमें-से आकर ऐसा दबाव डालता है कि भीतर जाने ही नहीं देता। तब? अच्छा, आओ, जीभ हो जाओ। तो **मनसः संनिकर्षार्थम्**—आँखसे दूर जरूर गया, लेकिन मनके पास हो गया। यह महिमा है।

अच्छा, दोमें-से एक चुनना पड़े, तो तुम क्या चुनोगे? आँखके पास रहना अच्छा है कि मन के पास रहना अच्छा है? तो बोले कि मनके पास रहना अच्छा है। अच्छा, दूर होवें—तो कैसे मनके पास होवें? यह प्रेमका चबूतरा है। प्रेमशास्त्रकी कोठरी दूसरी है। बिना प्रेमके किसीका व्यक्तिगत जीवन रसीला हो नहीं सकता। सूख जायेगा जीवन, रेगिस्तान बन जावेगा—अगर प्रेम न हो तो। चाहे ज्ञानी हो, जीवन्मुक्त हो, महापुरुष हो; नारायणके भी हृदयमें प्रेम न हो, तो नारायण सूख नहीं जावेगा? यह प्रेम ही आनन्द है, प्रेम ही रस है, प्रेम ही जीवन है। प्रेमके बिना यह आँख, यह नाक, यह कान, यह जीभ, यह हृदय बेकार है।

बोले—भाई! दूर रहनेसे हृदयमें कैसे आ जाओगे? **मदनुध्यान काम्यया**—जब मैं दूर रहूँगा, तो तुम्हें मेरा ध्यान ज्यादा रहेगा। और जब अनुध्यान ज्यादा होगा,

तो मैं मनमें घुस जाऊँगा। पास रहनेसे ध्यान नहीं होता—क्रिया होती है। दूर रहनेसे क्रिया नहीं होती—ध्यान होता है। तो गोपियो! तुमने पास रहकर तो बहुत हँस-गा लिया, नाच लिया, खेल लिया, अब जरा दूर रहनेसे हमारे ध्यानमें भी तुम विचक्षण गति प्राप्त कर लो और मैं तुम्हारे दिलमें रहने लग जाऊँ, तुम्हारे मनमें रहने लग जाऊँ।

जानती हो, हमारे कहीं घर नहीं। माँ-बाप नहीं; पहले बाप ही गड़बड़ा गया। जब बापमें दो का नाम आगया, तो कौन असली बाप है—वसुदेव कि नन्द? माँ गड़बड़ा गयी—देवकी कि यशोदा? घर कौन-सा? गोकुल कि मथुरा, कि नन्दगाँव कि वृन्दावन? बोले—यह सब क्यों गड़बड़ाया महाराज? बोले कि हमारा मन था कि हम न माँ के पास रहें, न बापके पास रहें और न गाँव—गाँवमें रहें। हम तो किसीके दिलमें रहेंगे। दिलमें कैसे रहोगे? तो भाई! दिलमें ऐसे रहेंगे—कि जरा छिप जायें न; तब लोग ध्यान करने लगते हैं। ध्यान करने लगते हैं—तो मनमें भीतर हमारे लिए स्थान मिल जाता है।

अब देखो, इसका दूसरा भाव।

यत् त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम्।
मनसः संनिकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया॥

गोपियो! मैं तुमसे दूर रह रहा हूँ। क्यों दूर रह रहे हो महाराज? कि यहाँ कंसको मारनेके लिए आया था न! अरे, वह तो मर गया। बोले—कुछ पढ़ना-लिखना था। तुम्हारे बीचमें रहता, तो अक्षर-ज्ञान कैसे होता? तुम्हारे लिए तो काले अक्षर भैंस बराबर हैं। देखो, यहाँ आया—तो पढ़ लिया। अच्छा—पढ़-लिख लिया, अब तो आजाओ। बोले—यदुवंशियोंको बसाने लग गया। अच्छा, वह भी सही। बस गये यदुवंशी। अब क्यों नहीं आते? श्रीकृष्णकी बोलती बन्द! अब कोई युक्ति नहीं। अब यह कहें—कि देखो, डर लगता है, कि कहीं यहीं गोपियोंमें रहने लग जाऊँ और जरासन्ध आक्रमण कर दे तो? मथुरामें तो कोट बना हुआ है सब तरफ, चहारदीवारी बनी हुई है। यहाँ तो मैं सुरक्षित हूँ। सेना है, राजा है। वृन्दावनमें कौन बचावेगा?

तो बोलीं—कि बस डरसे नहीं आते? प्रेमी लोग डरनेवाले की बड़ी हँसी उड़ाते हैं। बस-बस, इतनेमें ही डर गये।

बोले—नहीं गोपियो! हम जान-बूझकर नहीं आ रहे हैं तुम्हारे बीच।

अच्छा, जान-बूझकर नहीं आरहे हो? इतने हमारे प्यारे, तुम्हारा हमसे इतना

प्रेम। हमने तुम्हारे लिए इतना त्याग किया, इतनी तपस्या की, दुःख उठाया; और तुम जान-बूझकर हमसे दूर रह रहे हो?

हाँ गोपियो! हमने तुम्हारा प्रेम देखा। इतना प्रेम तुम्हारे अन्दर है कि अपना तन-मन-धन, सर्वस्व हमारे लिए लगाया। सो तो लगाया, लेकिन हमने देखा कि हमारा ध्यान करते-करते जो गोपी मर गयी—सो भी हमारे पास पहुँच गई। हमने देखा कि घर-द्वारका सारा काम करते हुए भी गोपी हमारा ध्यान कर रही है। हमने देखा, कि छोड़ देनेके बाद भी मैं अन्तर्ध्यान हो गया—गोपी हमारे प्रेममें व्याकुल हो रही है। **मन्मनस्का, मदालापा, मद्चेष्टा, मदात्मिका।**

गोपियो! जब मैंने देखा कि तुम्हारे हृदयमें मेरे प्रति इतना प्रेम है और नित्य-निरन्तर तुम मेरा ध्यान करती हो—तो मुझे बड़ी शर्म आयी। मैंने कहा—कि गोपियोंके हृदयमें तो मैं ऐसा बैठा हुआ हूँ, कि इन्होंने तो ध्यान कर-करके अपने हृदयमें हमको बैठा लिया है; लेकिन मेरा ध्यान इतना पक्का नहीं है। तब मैंने सोचा—अब थोड़ा तुमसे दूर रहेंगे, तो आँख बन्द करके तुम्हारा ध्यान करेंगे।

मन मनसः संनिकर्षार्थं मत् कर्तृत्व अनुध्यान-काम्यया मत् कर्तृत्वात्वद् विषयक अनुध्यान काम्यया। बोले—गोपी! मैं जो मथुरामें रह रहा हूँ, तो आजकल अपना ध्यान पका रहा हूँ।

क्या ध्यान पकाते हो—महाराज?

तुम जैसा ध्यान करती हो, वैसा ध्यान मुझे नहीं आता है। देखो—तुम तो हो हजारों और सब मेरा ध्यान करती हो, मैं अकेला तुम्हारा ध्यान करता हूँ। तुम तो एकका ध्यान करती हो। तुम्हारा तो ध्यान पक्का; और मैं हजारोंका ध्यान करता हूँ—तो मेरा ध्यान कच्चा। ध्यान तो तब होता है जब एकका होता है। हजारका ध्यान तो होता नहीं। तो गोपियो! यह बात पक्की है कि जैसे तुमने मुझ एकके प्रति आत्मसमर्पण किया, वैसा मैंने तुम एकके प्रति आत्म-समर्पण नहीं किया। मेरे समर्पणमें भी कमी, ध्यानमें भी कमी। तुम्हारे जैसी प्रेमवती, त्यागवती, ध्यानवती, धन्य-धन्य गोपियोंके बीचमें मैं अधूरा प्रेमी! राम-राम! तुम्हारे सामने आनेमें शर्म आती है। इसलिए **मनसः संनिकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया**—अब मैं अपना ध्यान पक्का कर रहा हूँ। अब मैं मथुरामें रहकर ऐसा ध्यान करूँगा कि सारा वृन्दावन मेरे हृदयमें आजाये। वृन्दावनमें—जमुनाजी, नित्य-निकुंज, गोपियाँ और उसी गोपीसे मानो श्रीकृष्ण कह रहे हैं—कि बस गोपी! मैं तो ध्यान करूँ और तुम मेरे हृदयमें,

मेरे स्वरूपमें बैठी रहो। बस, यह स्थिति आजाये—कि जैसे तुम्हारे मनमें मेरे सिवाय कोई नहीं है, वैसे मेरे मनमें भी तुम्हारे सिवाय कोई नहीं रहे। इसीलिए मैं तुमसे दूर बैठा हूँ।

ध्यान अलग-अलग ढंगसे होते हैं। सांख्य दर्शन वाले मानते हैं कि बन्द आँखसे नहीं, खुली आँखसे संसार तो दिखता रहे—स्त्री भी दिखे, पुरुष भी दिखे, सुन्दर भी दिखे, कुरूप भी दिखे, मरनेवाला भी दिखे, जिलानेवाला भी दिखे—लेकिन राग-द्वेष किसीसे न हो। ऐसा ध्यान बहुत बड़ा है। अगर चित्तकी ऐसी स्थिति हो जाये, तो सांख्य दर्शनमें उसको ध्यान मानते हैं। रागसे द्वेष उपलक्षित है; राग और द्वेष—दोनों अपने चित्तमें न आने पावें और सबको देखते रहो।

योगी लोग कहते हैं—केवल राग-द्वेष न होना और विक्षेप रहना—यह क्या ध्यान है? हजार विषय यदि दीखते हों, तो उनमें-से एकमें चित्तका स्थिर होना—इसका नाम ध्यान है। एकमें—लक्ष्यमें जब चित्त एकाग्र होवे; जो प्रत्यय शान्त होवे, वही प्रत्यय उदय होवे—जैसे घटाकार वृत्ति शांत हुई, तो फिर वृत्ति उदय होवे, तो घटाकार वृत्ति ही उदय होवे, कृष्णाकार वृत्ति शान्त हुई, तो कृष्णाकार वृत्ति ही उदय होवे—ऐसे एक ही लक्ष्यके प्रति वृत्ति उदय होवे और उसमें एकतावता हो जावे—वह ध्यान हो गया।

वेदान्तियोंने कहा, कि **ध्यानं निर्विषयं मनः** —मनमें कोई विषय नहीं होवे; निर्विषय, निर्वृत्तिक, निराश्रय चित्त हो। फिर बोले, कि यह भी तो समाधानंके अन्तर्गत मालूम पड़ता है। अच्छा, तो अनात्माकार वृत्तिका तिरस्कार होकर आत्माकार वृत्तिका प्रवाह होना ध्यान है।

भक्तोंने कहा—हमारा ध्यान न केवल राग-द्वेष मिटानेमें होता है और न केवल किसी एकमें चित्त लग जानेसे होता है। न केवल निस्संकल्पतासे होता है और न केवल कल्पित आत्माकार वृत्तिसे होता है, क्योंकि वृत्तिमें जो आत्माकारिता है—वह कल्पित है। वृत्ति अपने आश्रयको कभी विषय नहीं बना सकती, इसीसे वेदान्तमें बड़ा शास्त्रार्थ है कि निदिध्यासनसे ध्यान होता है; मनोवृत्ति चाहिए कि नहीं चाहिए। तो फिर भक्तोंका ध्यान क्या है? बोले—भक्तके मनमें पहले आना चाहिए धाम; यह भक्तका ध्यान है। धाम क्या है? कि यह जमुनाजी बह रही हैं, ये गिरिराज खड़े हैं और यह बालुकामयी पुलिन है। ये हरी-भरी लताओंके भुजपाशमें आबद्ध वृक्ष हैं। ये हरिण हैं, ये गौएँ हैं; यह

धाम आना चाहिए मनमें पहले। फिर रूप आना चाहिए : मुरली-मनोहर, पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर त्रिभङ्ग ललित भावसे खड़े होकर मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए, बाँसुरी बजाते हुए, पीताम्बर फहराते हुए, भौहें मटकाते हुए, चिबुक हिलाते हुए—ऐसे भगवान् जो हैं, उनका रूप आना चाहिए। रूपके बाद आनी चाहिए लीला, और लीलाके बाद आनी चाहिए अपनी सेवा—कि हम उनको जल पिला रहे हैं, हम उनको खिला रहे हैं। धाम, रूप, लीला, सेवा और फिर उनका आना चाहिए गुण-सौशील्य और उच्चारण होना चाहिए उनका नाम। नाम ले रहे हों, उनके गुण मनमें आरहे हों, उनकी लीला दिख रही हो, उनकी सेवा कर रहे हों; तब साकारका ध्यान होता है। यह ऐसा दृश्य है—जो संसारको छुड़ा दे। नहीं तो किसका ध्यान करोगे? अरे, एक आदमी गाली देकर चला जाय। वह तो चुपकेसे एक गाली देकर चला गया और तुम घंटे-भर उसका ध्यान करोगे। एक आदमीने मीठी-मीठी बात कर ली—तो घंटे-भर उसका ध्यान आवेगा। और कहो कि ईश्वरका ध्यान करो—तो? कि महाराज! ध्यानका जो मार्ग है न, यह बड़ा कठिन है!

श्रीकृष्ण रह रहे हैं मथुरामें; किस लिए? कि गोपियो! तुम्हारा ध्यान करनेके लिए; कि हमारे मनमें तुम्हारा ध्यान पक्का हो जाय।

अरे बाबा! हमें ध्यान नहीं चाहिए; तुम्हारा ही ध्यान हमारे अन्दर लगे।

अभी कुछ बाकी है क्या? अभी हमारा ध्यान तुम्हारे अन्दर नहीं लगा? तो—

यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते।
स्त्रीणां च न तथा चेतः संनिकृष्टेऽक्षिगोचरे॥ ३५॥
मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत्।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ॥ ३६॥
या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन् व्रज आस्थिताः।
अलब्धरासाः कल्याण्योमाऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया॥ ३७॥

उनचासवाँ प्रवचन

मनुष्यका जीवन केवल कर्मसे पूर्ण नहीं होता। कर्म तो पशु भी करते हैं और पशुओंसे कराया भी जाता है। उनका पशुत्व यही है कि वे स्वयं समझा कर कर्म नहीं करते हैं। उनको कर्म करना पड़ता है। अगर मनुष्य भी समझदारीसे कर्ममें प्रवृत्त न हो और उसको बेगार ही ढोनी पड़े—माने कर्म करना ही पड़े और और मजबूर, विवश होकर कर्म करना पड़े, तो मनुष्य की मनुष्यता क्या रही? अच्छा, कोई बहुत बड़ा बुद्धिमान हो, परन्तु कर्म न कर सके? जैसे दूर तक देख तो सकता हो, परन्तु चल न सकता हो—तो उसके जीवनमें कमी है कि नहीं? चलना कर्म है और देखना ज्ञान है; तो देख तो दूरतक सके, लेकिन चल न सके और चल तो सके बहुत, परन्तु दीखे नहीं पाँवके नीचे भी तो दोनों अधूरे हुए न ! सूझे बहुत और चल न सके और चले बहुत और सूझे नहीं!

अच्छा, बोले—चले भी और सूझे भी; लेकिन उसके जीवनमें मजा न हो, आनन्द न हो, तो? मनुष्यमें पूर्णता तब आती है, जब उसमें सद्भाव—माने कर्मकी शक्ति पूरी हो, और चिद्भाव—अर्थात् बुद्धिकी शक्ति पूरी हो और आनन्द भाव—माने दिलमें मजा बना रहे। लोग जीते तो हैं, पर जीनेकी कला सबको नहीं आती है। जीनेकी कला देखनी हो, तो एक दृष्टि श्रीकृष्णपर डालो। ज्ञानी देखना हो तो देख लो, कर्म देखना हो तो देख लो और उनके जीवनमें आनन्द देखना हो तो देख लो। केवल बातचीत करनेमें सच्चिदानन्द-होना और अपने जीवनमें सच्चिदानन्द होना—दोनों अलग-अलग हैं। आखिर सच्चिदानन्दका कोई व्यावहारिक रूप होना चाहिए न, कि केवल बौद्धिक होना ही काफी है? श्रीकृष्णके जीवनकी पूर्णता ही यही है कि उसमें ज्ञानके साथ आनन्द है, आनन्दके साथ कर्म है, कर्मके साथ ज्ञान है। सारथिका कर्तव्य पूरा करते हुए भी गीता उनको फुर रही है और गोपियोंके प्रेमका अनुभव करते हुए भी—

आत्मन्येवात्मनाऽऽत्मानं सृजे हन्म्यनुपालये।

देखो न, प्रेमका सन्देश और आत्मन्येवा.....क्या आनन्द है! आनन्दके साथ ज्ञान है, ज्ञानके साथ कर्म है और कर्मके साथ ज्ञानानन्द है। बहुत समझदार भी मनुष्य होवे और जीवनमें सत्कर्म और प्रेम न होवे, तो वह समझदारी भी सूखी। बहुत मजा हो, लेकिन नासमझ हो और कर्म भी न हो—तो वह मजा पशुका। बहुत कर्म हो, लेकिन ज्ञान और मजा न हो, तो वह कर्म भी पशुका।

इसलिए अपने जीवनकी जो रहनी-सहनी है, वह अपने घरको स्वर्ग बनानेके लिए है।

एक सज्जन हैं हमारे! कमाई तो बहुत करते हैं, लेकिन रोज चख-चख, चख-चख होती है घरमें। अब वह कमाई करनेके बाद उनके बेटोंके काम आवेगी। जिन्दगीको तो निस्सार बना दिया न! तुम्हारे काम करनेकी शक्ति हो, कमाईकी ताकत हो—तो जीवनमें थोड़ा सुख भी होना चाहिए न! अपने सुखको बेचकर, नष्ट करके तुम्हारी कमाई किस काम आवेगी?

अब जैसे वेदान्तका विचार करते हैं, तो ब्रह्मतत्त्वका, अद्वितीय सच्चिदानन्द-घन ब्रह्मका विचार करते हैं। वह हमारे विचारकी, ज्ञानकी बात है और यह भक्ति हमारे भावकी बात है। ब्रह्मविचार जो है—वह तो सम्पूर्ण परिच्छिन्नताओंको काटनेवाला है और यह भक्तिभाव जो है—यह जीवनका निर्माण करनेवाला है, व्यक्तिगत जीवनको सजाने-सँवारनेवाला है। जैसे ब्रह्मज्ञानी होनेपर भी चामको चिकना करनेके लिए तेल ही चाहिए। यह कहो—कि ब्रह्मज्ञानसे चामको भी चमका लेंगे—तो होगा क्या? हमारे अवधूत लोग क्या करते हैं—तेल नहीं लगाते हैं और चेहरा चमकानेका ख्याल भी रहता है। जब उनको भोजन परसा जाता है न, तो भोजनमें दूध हो, दही हो या मक्खन हो या दाल चावलमें घी हो—तो भोजनके बाद जो हाथमें लग जाता है न, उसको हाथ धोते समय मुँहपर, छातीपर थोप लेते हैं। यह मैं आपसे कल्पना करके नहीं कह रहा हूँ। हमारे चेले अवधूत हैं, आचार्य हैं! एक आचार्यको मैंने देखा; वे सबेरे जब बैठते न, तो कैंची-शीशा लेकर अपने ललाटके ऊपर सामने जो बाल हैं, उनको काट देते। क्योंकि ललाट उससे ऊँचा लगता था। चन्दन वे खूब थोपते; उन काटे हुए बालोंको चन्दनमें छिपा देते थे। देखनेवालोंको मालूम पड़ता—कि इनका सिर बहुत ऊँचा है। हम उनके ज्ञानपर आक्षेप नहीं करते, पर सिरको ऊँचा करेगा, तो उसपर लगा चन्दन करेगा न!

कितना भी ब्रह्मज्ञानी हो—भोजनको तो रोटी चाहिए न! पहननेके लिए तो कपड़ा चाहिए न! जैसे ब्रह्मज्ञानी होनेपर जीवनकी और आवश्यकताएँ मिट नहीं जाती; बनी रहती हैं, ऐसे ही ब्रह्मज्ञान होनेपर हृदयके लिए सद्भावकी वृत्ति नही रहे—यह जीवनकी बात है। यह जो भक्ति है—यह हृद्रोगकी औषधि है। इससे तुम्हारे दिलका रोग मिटेगा। जीवनमें तो भोजनकी जरूरत होती है, ठाकुरजीकी जरूरत होती है, गुरुजीकी जरूरत होती है।

अब देखो, हम गोपियोंके प्रेमकी चर्चा करते हैं न! इसलिए कि गोपियोंके प्रेमकी बात सुनकर हमारे हृदयमें प्रेमकी कल्पना होवे। आजकल मरुस्थलमें पानीकी खोज हो रही है—कि मरुस्थलको—रेगिस्तानको कैसे हरा-भरा बनाया जाय। हम तुम्हारे हृदयका जो रेगिस्तान है, उसको हरा-भरा बनानेके लिए प्रेमकी-भक्तिकी कथा सुनाते हैं। अब देखिये—गोपीके प्रेममें क्या हरियाली है। आपको दोनों पक्षकी बात सुनाता हूँ। एक सनातन गोस्वामीका पक्ष सुनो। श्रीचैतन्य महाप्रभुके शिष्योंमें महात्माकी दृष्टिसे सर्वश्रेष्ठ सनातन गोस्वामी थे। वे विरक्त भी थे, अनुभवी भी थे और उनका शास्त्रीय ज्ञान भी बहुत उच्च कोटिका था।

सनातन गोस्वामीका कहना है, कि-

दिष्ट्याहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोऽघकृत्॥ ३९॥

गोपी यह बोल रही है कि—हम सुखी हैं कि नहीं हैं—इसकी फिकर वे क्यों करते हैं? हमें खुद इस बातकी कोई फिकर नहीं है कि हमें सुख मिलता है कि नहीं, हमें शान्ति मिलती है कि नहीं। हमने प्रेम किया था, तो इस शर्तपर तो नहीं किया था—कि जब सुख मिलेगा, शान्ति मिलेगी—तब प्रेम करेंगे। उन्होंने हमें शान्ति नहीं दी, जलन दी और हमको सुख नहीं दिया, दुःख दिया। उसका कोई शिकवा-शिकायत हम श्रीकृष्णसे नहीं करते हैं। हमने तो प्रेम इसलिए किया है—कि हमारे प्यारे श्रीकृष्णको सुख पहुँचे। और यदि उनको मथुरामें सुख पहुँच रहा है, तो हमें इसके कारण कोई ईर्ष्या नहीं; कोई स्पर्धा, कोई दुःख नहीं; कोई शिकायत नहीं। हम क्या श्रीकृष्णको कहकर भेजें, कि बड़े सौभाग्यकी बात है कि कृष्णने कंसको मार डाला? श्री सनातन गोस्वामी कहते हैं कि श्रीकृष्णके सुखमें ही गोपियोंका सुख है।

यदूनां अहितः कंसो हतः अघकृत्—बड़े सौभाग्यकी बात है, कि यदुवंशियोंका जो दुश्मन था, अहित था कंस—सो मारा गया। और वह अकेला नहीं मारा गया, सानुगः—उसके अनुयायी भी मारे गये। और यह कहें—कि मामाको मारकर उन्होंने बुरा किया, तो यह कलंक भी हम नहीं लगाते हैं; अघकृत्—वह पापी था, यदुवंशियोंको दुःख पहुँचानेवाला था। उसको कृष्णने मारा, बहुत उचित किया। 'अघकृत्' कहनेसे कृष्णने जो मारणक्रिया की, उसका औचित्य बताती हैं। हम धर्मसे, न्यायसे, कानूनसे कहती हैं—कि श्रीकृष्णने उस पापी और दुःख पहुँचानेवाले कंसको उसके अनुयायियोंके समेत मार डाला, यह बहुत बढ़िया हुआ। हमारा सौभाग्य है कि कृष्ण विजयी हुए। हम तो खुशीके मारे

फूली नहीं समातीं—कि हमारा प्रियतम विजयी हुआ। अगर श्रीकृष्ण कंसको न मार पाते और पराजित होकर वृन्दावन लौटकर आते, तो क्या गोपियोंको खुशी होती? नहीं; जीत गये—बड़ी खुशी, बड़ी खुशी!

देखो, प्रेमकी एक रीति बताते हैं—

दिष्ट्याऽऽप्तैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना॥ ३९॥

बड़े सौभाग्यकी बात है—कंस मारा गया। सो तो मारा गया; **लब्ध सर्वार्थाः आप्तैः**—जिनको सर्व अर्थकी प्राप्ति हुई—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—सब जिनको मिला, ऐसे अपने गुरुजनोंके साथ, अपने चाचा-ताऊके साथ, अपने रिश्तेदार-नातेदारके साथ श्रीकृष्ण वहाँ कुशली हैं—

तुम नीके रहो उन ही के रहो।

हमारे श्रीकृष्ण कुशलसे रहें। हम अपने लिए कुछ नहीं चाहती हैं, उनका कुशली होना चाहती हैं। वे अगर अच्छी तरह वहीं रहना चाहते हों—तो वहीं रहें। **यदूनां अहितो कंसो हतः**—यदुओंका जो अहित करनेवाला था, सो तो मारा गया। परन्तु हमारे दुश्मन तो यदुवंशी हैं। उन्होंने हमारे कृष्णको छीन लिया है। यदुवंशियोंको तो सब कुछ मिला, लेकिन हमारे सर्वस्वका तो नाश हो गया। उनको मिला सब कुछ और हमारा गया सब कुछ।

किं अधुना कृष्ण कुशल्यास्ते—उद्धवजी! ईमानदारीसे बताना; क्या तुम समझते हो—कि श्रीकृष्ण हम लोगोंको छोड़कर, यदुवंशियोंकी भलाई करके, कंसारि बनकर, यदुपति होकरके, यदुवंश-शिरोमणि होकर मथुरामें अब कुशली रह रहे हैं? वे हमारी गोदसे खिसक गये। हम उनका हाथ पकड़कर नहीं रोक सकीं और यदुवंशियोंने उनका हाथ पकड़कर उनको रख लिया।

देखो, यद्यपि तत्त्वज्ञानका उपदेश, ब्रह्मज्ञानका उपदेश श्रीकृष्णने कर दिया; गुरु हो गये, आदरणीय हो गये, श्रद्धेय हो गये, लेकिन गोपियोंके मनमें जो पुराना संस्कार है न, कि ये हमारे प्रियतम हैं, हमारे सखा हैं—उस दृष्टिसे उनका व्यंग्य अभी ज्यों-का-त्यों है। वे दन्तवक्त्रीसे बोलती हैं—कि अच्छा भाई! वहाँ सुखी हैं? हमारे पास दुःखी थे, वहाँ जाकर सुखी हो गये। वहाँके भाई-बन्धुओंको सर्वस्व दे दिया और हमारा सर्वस्व छिन गया। और वहाँ उन लोगोंके दुश्मन मारे गये और हमारे दुश्मनोंने हमारे प्यारेको हमसे छीन लिया श्लोक वही है, दूसरा नहीं।

दिष्ट्याहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोऽघकृत्।
दिष्ट्याऽऽप्तैर्लब्ध सर्वार्थैः कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना॥ ३९॥

कच्चिद् गदाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम्।
प्रीतिं नः स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः॥ ४०॥

सौम्य-उद्धव! तुम सीधे हो—

ऊधो हो सूधे-सूधे।

बहुत सिधाई बर्तनेसे भी कहीं-कहीं दोष हो जाता है। तुम्हारा कोई दोष नहीं है। हम जानती हैं कि तुम सौम्य हो। हमारे बीचमें उनका सन्देश लेकर आये हो। अच्छा, वहाँ जाकर एक बड़ा भाई उनको और मिल गया—गदाग्रज—गदा अग्रजो यस्य। देवकीके जो बेटे थे न, उनको तो कंसने मार दिया था; यह वसुदेवजीकी देवरक्षिता नामकी एक पत्नी थी—उसका बेटा था गद। वह श्रीकृष्णसे उमरमें बड़ा था। जब श्रीकृष्ण आये मथुरामें और उनका वैभव प्रकट हुआ, तो उसने कहा—मेरी माँ देवरक्षिता नहीं—देवकी है! अब देवकी माँ होनेसे वह कृष्णसे बड़ा हो गया। चाहे जब वह श्रीकृष्णसे कहता, कि हम तो तुम्हारे बड़े भाई हैं। रिश्ता जोड़नेमें लोग बड़े निपुण होते हैं न! बड़े आदमियोंके साथ सम्बन्ध जोड़ना हो, तब तो कहना ही क्या! राजेन्द्र बाबू जब राष्ट्रपति हुए थे न, तो भारतवर्षका कोई कायस्थ ऐसा नहीं था—जिसके वे नाना, ताऊ—कुछ न कुछ लगते न हों। सबने सम्बन्ध जोड़ लिये। मैं एक बार जबलपुरमें था, वहाँ एक बंगाली संन्यासी आये। अब बात चलते-चलते मैंने उन्हें बताया, कि एक स्वामी योगानन्दजी महाराज थे बंगाली, उनसे मैंने श्रीकृष्ण मन्त्रकी दीक्षा ली थी और अनुष्ठान किया था। वे बोले कि वे तो हमारे गुरु-भाई थे। मैं तुम्हारा चाचा-गुरु हुआ। अब महाराज, मैं ऐसा भतीजा चेला बना वहाँ; जहाँ सभामें बैठें तो, लोगोंमें बैठें तो—वे यह बताये बिना न रहें कि ये हमारे भतीजा-चेला हैं। अब साधुओंमें कोई भाई-भतीजा थोड़े ही होता है! भाई-भतीजा बनना था, तो घरका भाई-भतीजा क्यों छोड़ा? ये झूठे गुरुभाई होते हैं साधुओंके!

अब दूसरे पक्षसे इसका भाव देखो—

कच्चिद् गदाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम्।
प्रीतिं नः स्निग्ध - सव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः॥

अब तो गद बड़ा भाई बन गया है। हे सौम्य! यहाँ तो कोई बड़ा भाई नहीं था। अकेले थे न कृष्ण! और बुढ़ापेमें यशोदानन्दसे पैदा हुए थे। तो वहाँ तो छोटे भाई हैं, स्वतन्त्र हैं। वहाँ एक बड़ा भाई और मिल गया—गदाग्रजः। बड़े प्रसन्न होंगे

वहाँ—कि देखो न, ये हमारे बड़े भैया हैं। प्रणाम करते होंगे, आदर करते होंगे। गोपियाँ कहती हैं कि उद्धवजी! हमने यहाँ उनकी पूजा की थी। चन्दन, अक्षत बाहर होता है और उससे भाव भीतर बनता है। अगर भाव भीतर बना, तब तो बाहरका चन्दन; अक्षत सफल हुआ और भीतर भावकी उत्पत्ति नहीं हुई, तो बाहरका चन्दन-अक्षत दिखावटी रह गया। पूजा माने बाहर पूजा, और भीतर भावका निर्माण।

हमने ऐसे पुजारी देखे थे; रातके नौ-दस बजते न, तो उड़िया बाबाजी महाराजके पास पाँव दबाने आते। वे एक हाथसे तो उनका पाँव दबाते और जिस तख्ते पर बाबा सोते थे न, उसके नीचे अगर भक्त लोग कोई चीज चढ़ा गये हों, तो दूसरे हाथसे उसे धीरेसे खींचकर अपनी जेबमें कर लेते और चले जाते। बाबा कहते थे—ए, पूजा लेकर आया है! मजाक बहुत करते थे बाबा। उनको हमने सब काम करते देखा है; झूला झूलते देखा है, हँसी-मजाक करते देखा है। दोनों हाथसे ऐसे पेट खुजलाते बन्दरकी नकल करते देखा है। बन्दर खाता कैसे है—यह दिखाते थे। सुखराम उनका सेवक था—अभी जिन्दा है—वह कैसे चलता है कमरपर हाथ रखकर—वे चलकर दिखाते थे। खूब हँसी होती थी। यह नहीं समझना—कि हर वक्त सिर सीधा किये गम्भीर बैठे ही रहते थे। कभी हँसते थे, कभी खेलते थे। सब बात करते थे।

बोले—पूजा क्या? दो पैसेकी माला; आरती दूसरेकी—लाओ-भाई, जरा हमको भी दो। दूसरेसे चन्दन लिया; लगा दिया और दो पैसेकी माला लेकर पहना दी और आरती जब दूसरा करने लगा, तो उसको लेकर घुमा दिया। बोले—क्यों भाई! दो पैसेकी पूजा लाये हो; और हमारी दो रुपयेकी पूड़ी खा चुके हो अबतक!

तो प्रेमी भी बड़े विलक्षण होते हैं। ऐसे नहीं समझना कि पूजा किसी बाहरी भावका नाम है; पूजा हृदयमें होनी चाहिए। पूजा एक अन्तरंग भाव है; उसका कपड़ेसे सम्बन्ध नहीं है, रुपयेसे सम्बन्ध नहीं है, फूल-चन्दनसे सम्बन्ध नहीं है। वे सब तो इसलिए हैं, कि बाहरकी जो चीज है—वह हमारे हृदयमें एक भाव उत्पन्न करे। हृदयमें अगर कुछ रचना नहीं हुई, नई सृष्टि नहीं बनी—तो पूजा नहीं होती।

गोपियाँ कहती हैं, कि हम यहाँ श्रीकृष्णकी पूजा किया करती थीं। कैसे पूजा करती थीं भाई? तुम्हारा चन्दन-अक्षत क्या था? तो बताती हैं—स्निग्ध

सव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः—स्निग्ध सव्रीडहास और उदार चितवन। हमारी मुसकानमें थोड़ी लज्जा और स्नेह माने प्रेम है। स्नेह-स्निग्ध है; तो चिकनाई आगयी थी दूध मक्खन—सब इसमें आगया। स्नेह ही असलमें घी, दूध, मक्खन है। और महाराज! यह व्रीडा है न—इसमें वस्त्र आगया, आच्छादन आगया। जो लज्जा है न, वह भावसे भक्ति है, और मुसकान जो है—वह तो आह्लाद, आनन्दका दान है। चितवनकी पुष्पवर्षा है। चितवनके फूल, मुसकानका सुख, लज्जाका वस्त्र और स्नेहका दूध-दही-घी; हृदयसे हम लोगोंने श्रीकृष्णकी पूजा की।

उदारेक्षणार्चितः—उदार दृष्टिका मतलब है आँख दबाकर। संकुचित आँखसे नहीं, संकीर्ण आँखसे नहीं; उदार आँखसे हमने भगवान्‌की, श्रीकृष्णकी पूजा की। नेत्रोंमें उदारता है। उदारता क्या है? अपना सर्वस्व आँखोंमें रखकर हमने उनके चरणोंमें चढ़ा दिया। देखो, शरीर है अंगी, और नेत्र हैं अंग। जैसे शरीर तो पूरा है न; उसमें हाथ एक अंग है, पाँव एक अंग है, आँख एक अंग है। ये सब अंग हैं, और शरीर अंगी है। और जीव क्या है? कि अंगी है। तो अब नेत्र उदार हैं। कैसे उदार है? बोले—इन्होंने अपने मालिक जीवका ही दान कर दिया। आँखों-ही-आँखोंमें ऐसी उदारता बरती।

उदारता होती है तब, जब आदमी अपनी शक्तिसे बाहर चीज देता है न! अहमदाबादमें बहुत बढ़िया बढ़िया उदार हैं। मैं एक बार ढाई महीने अहमदाबादमें रहा। कोई सेठ आया। उसने अपनी अंटीमें-से पाँच सौ रुपयेके नोट निकाले। उनको गिना, गिननेके बाद उसने एक-एक रुपयेके दो नोट निकाले और उसने उँगलीसे ऐसे दबाया कि वे दोनों साफ-साफ दिखें। दोनोंको कोई एक न समझ ले; और फिर बड़े प्रेमसे चढ़ाया। पहलेसे गिनकर वह नहीं ले आया—कि दो रुपये पहलेसे गिनकर निकाल लेता। सबको दिखाया—कि हमारे पास पाँच सौ रुपये हैं और उसमें-से हम बड़ी उदारतासे दो दे रहे हैं। कोई यह न समझे कि इनके पास दो ही रुपये हैं। अपने धनीपनको भी दिखाना है न! यह तो हँसीकी बात हुई न! समझना इससे क्या है—कि चितवनमें उदारता है। चितवन जो है—वह तो मालिकके हितके अनुसार चलनेवाली है। मालिक कहे कि उसे ऐसे देख, तो ऐसे देखे। लेकिन चितवन इतनी उदार है कि वह अपने मालिकको ही उठा-उठाकर दे देती है। आँख बताती है साफ-साफ—कि देखो, मैं अपने मालिकको तुम्हारे चरणोंमें अर्पित कर रही हूँ।

बड़ी अद्भुत पूजा गोपियोंने की। उन्होंने चन्दनसे पूजा नहीं की। चन्दन तो कभी-कभी श्रीकृष्णके शरीरमें जो लगा होता था न, उसको भी गोपियाँ उड़ा ले जाती थीं। ऐसा वर्णन आया है कि श्रीकृष्णके चरणके चन्दन अगर कहीं तृणपर लगे हुए मिल जाते थे, तो वे भीलिनें उठा-उठाकर अपने हृदयसे और मुँहसे लगाती थीं। तो चन्दन दूसरी चीज है। गोपियाँ तो अपने प्रेम, अपनी लज्जा, अपनी मुसकान और अपनी उदार चितवन—जो अपनी आत्माको ही श्रीकृष्णके चरणोंमें अर्पित करे, उसके द्वारा। वे कहती हैं—हमने पूजा की। हमने तो उनकी पूजा की, परन्तु उन्होंने हमसे प्रीति नहीं की। अब बताओ उद्धवजी! यह भी कृष्णकी महिमा है क्या? आत्मासे, परमात्मासे सब प्रीति करते हैं, लेकिन आत्मा-परमात्मा क्या नहीं सबको छोड़कर एक की प्रीतिमें बँध जाता है? हमने तो उनसे इतनी प्रीतिक ी, परन्तु वे क्या हमसे प्रीति करते हैं? अच्छा, हमने पूजा की; तो पूजा तो वे ग्रहण करते ही थे, हमसे प्रीति नहीं की उन्होंने। अब वहाँ मथुरामें रहते हैं, तो **करोति पुरयोषिताम् प्रीतिं नः करोत्यन्याम् प्रीतिं पुरुयोषिताम् करोति**—हमारे द्वारा पूजित होनेपर हमसे जो प्रेम करना चाहिए था, वह प्रेम क्या श्रीकृष्ण अब मथुरा की नागरी नारियोंपर करते हैं? और हम-सी गँवारग्वालिन छोड़कर वे चले गये! लेकिन यह बताओ कि वे प्रसन्न तो हैं न; प्रीति तो करते हैं न! हमसे प्रीति नहीं की तो क्या हुआ; उनके हृदयमें प्रीति हो, तृप्ति हो; वे आनन्दमें हों। उनको कोई प्रेम करनेवाला मिले। हमारे लिए यह बड़े सौभाग्यकी बात है—कि वे मथुरामें सुखी तो हैं।

उद्धवजीने कहा—कि गोपी। तुम फिर कृष्णके साथ अन्याय कर रही हो। उन्होंने तुम्हारी पूजा ग्रहण की, और सर्वदा के लिए की। वे मथुरामें रहकर भी तुम्हारे सिवाय दूसरेकी याद नहीं करते; दूसरेकी ओर देखते नहीं। दूसरेसे कोई उनका सम्बन्ध नहीं, प्रीति तो बहुत बड़ी वस्तु है।

बोलीं—उद्धवजी! यह नहीं हो सकता।

कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च वरयोषिताम्।
नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभाजितः॥ ४१॥

हम जानती हैं कि श्रीकृष्ण बड़े स्नेहभाजन हैं। वे तो हम प्रेमी गोपियोंमें रहे हैं, और भोलेपनसे युक्त हैं। अब पहुँच गये वहाँ की नागरियोंमें। वे प्रीति विशेषको जानते हैं, चतुराई नहीं देखते। और **प्रियश्च वरयोषिताम्**—श्रेष्ठ नागरियाँ उनसे प्रेम करती हैं। **नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभाजितः**—मीठी-मीठी बात करनेवाली

मथुराकी नारियाँ, उनके विभ्रमै माने नाज-नखरे—वे जब उनका अनुभाजन करेंगी, उनका पूजन करेंगी, उनका सेवन करेंगी, तो वे भला कैसे नहीं बँधेंगे? तब उद्धवजी! वे ऐसे बँधेंगे, कि हमारी तरफ आवेंगे नहीं। अच्छा, कोई बात नहीं, अगर वही! उनको कोई बन्धन पसन्द है, तो वहीं बँधकर रहें। वहीं वे प्रसन्न होवें। हम जीवन भर घुल-घुलकर मरेंगी, और उनके सुखमें कोई बाधा नहीं डालेंगी।

अपि स्मरति नः साधो गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित्।
गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वैरकथान्तरे॥ ४२॥

उद्धव! तुम तो साधु हो। प्रेमकी बातोंसे अलग ही रहे हो। चतुराई अलग चीज है, साधुता अलग चीज है। **नः गोविन्दः**—गोपीकी महत्ता देखिए न; कृष्ण हमारे हैं, वे और किसीके नहीं हैं। और गोविन्द हैं। देखो न, वे यदुवंशी नहीं हैं, गोविन्द हैं। यहीं उनके गिरिराज उठानेपर कामधेनुने और इन्द्रने उन्हें गोविन्दकी पदवी दी है। अच्छा, एक बात बताओ; कभी स्त्रियोंकी गोष्ठी जुड़ती है और उसमें स्वैरकथा—माने खुले दिलसे बात की जाती है न!

संत लोग खुले दिलसे बात करते हैं; कब? एक पुराना श्लोक है—**परिसेवितव्याः सन्ताः**—संतोंकी सेवा करना, **यद्यपि कथयन्ति नो बहुतोपदेशम्**—बहुत उपदेश न करें, तब भी उनकी सेवा करनी चाहिए। बोले—क्यों भाई, उपदेश नहीं करते, तो क्यों अपना समय खराब करें? उनके पास क्यों जाकर बैठें? **या तेषां स्वैरकथाः ता च भवन्ति शास्त्राणि**—जो वे स्वच्छन्द रूपसे, खुले दिलसे प्रसंग-प्रसंगमें बोलते हैं, उनकी स्वच्छन्द बातें ही शास्त्र बन जाती हैं। जब खुले दिलसे, स्त्रियोंके बीचमें श्यामसुन्दर चर्चा करते हैं; गोष्ठी जुड़ती है उनकी—तो कभी प्रसंग आनेपर हम लोगोंका स्मरण करते हैं? अजी क्यों करते होंगे? **ग्राम्याः**—हम तो ग्रामीण हैं न! और वे नगरकी नागरी!

अच्छा, शेष कल।

पचासवाँ प्रवचन

न जाने मनुष्यके स्वभावमें ऐसी क्या चीज है, कि वह अपनी योग्यतासे अधिक वस्तु पकड़नेकी कोशिश करता है। हम देहातमें जानते हैं—लड़कीकी शादी बरसोंतक नहीं होती। क्यों नहीं होती? कि लड़कीका बाप खुद तो गरीब है और लड़कीको धनीके घरमें पहुँचाना चाहता है; लड़की कुरूप है और वह सुन्दर लड़केसे शादी करना चाहता है। तो बरसों तक बात नहीं बैठती है, और अंतमें ब्याहका समय ही बीत जाता है। इसका मतलब यह है कि जब कोई वस्तु हमको चाहिए, तो थोड़ा अपने मन, अपने अधिकारका भी परीक्षण करना आवश्यक रहता है। लोग सुनते हैं कि मोक्ष बहुत बढ़िया चीज है। तो बोले—कि भाई! अब यह तो हमको मिलना चाहिए। यह बात भूल जाती है कि देखें तो; मोक्षको पानेके लिए चित्तमें जैसा वैराग्य होना आवश्यक है, वह हमारे चित्तमें है कि नहीं है। इसीसे न संसारका सुख मिलता है और न ही मोक्षका सुख मिलता है। जबतक मुमुक्षा प्रबल नहीं होगी, तब तक मोक्ष नहीं मिल सकता। जबतक जिज्ञासा प्रबल नहीं होगी, तबतक ज्ञान नहीं हो सकता। जबतक संसारमें सुखकी भ्रान्ति बनी हुई है, वैराग्य नहीं है—तबतक सच्ची मुमुक्षा और जिज्ञासा नहीं हो सकती। कभी कभी आत्म-निरीक्षण भी करना चाहिए। तुम्हें संसारकी वस्तुएँ चाहिए कि नहीं चाहिए? तुम्हारे मनमें संसारके प्रति राग, आसक्ति है कि नहीं है? तुम्हें संसार तो प्राप्त है ही, इसमें मोक्ष नामकी चीज और बढ़ाना चाहते हो। चलो, यह बात हम मान भी लें; तो वह तुम्हारे घरमें अँट जायेगी क्या?

देखो भाई! ईश्वरसे राग करोगे, तो संसारका राग कटेगा। जैसे हीरा हीरेसे कटता है, वैसे ही राग रागसे कटता है। तुम अपनेको ब्रह्म जानो, मानो; बहुत बढ़िया बात है। इसकी हम प्रशंसा करते हैं। और कौड़ी-कौड़ीके लिये रोना, संसारकी बात-बातमें दुःखी होना, दिनभरमें सत्रह बार सिर पीटना और अपनेको मुक्त भी मानना; बहुत अच्छी बात है! हम कुछ व्यंग्य नहीं करते हैं, परन्तु जीवनमें मुक्तिका अनुभव यही है कि कोई चीज दुःख न दे सके। अगर दुःखसे आपकी मुक्ति नहीं हुई, तो किसीसे मुक्ति नहीं हुई। पापसे, पुण्यसे, रागसे, द्वेषसे—किसीसे तो मुक्ति नहीं हुई न!

इसी दुःखको मिटानेके लिए हमारे अंतःकरणमें एक जीता-जागता, हँसता हुआ, मूर्तिमान आनन्द चाहिए। दुःख-स्वरूप जो ब्रह्म है—वह यह नहीं है; वह

तो आनन्द-स्वरूप है। और जीवन्मुक्तिका जो सुख है न, वह तो छलकता हुआ सुख है। आपको ज्ञान होगा। दु:खको स्वीकृति मत दो; मंजूरी मत दो उसे—कि वह तुम्हारे अन्त:करणमें आवे। अपने अंत:करणमें सुखको स्वीकार करो।

सुख कौन है? वही नन्द-नन्दन, श्यामसुन्दर, परमानन्द घन! एक आकृति बना लो आनन्दकी और उसका मजा लो महाराज! जहाँ जाओ, वहाँ आनन्द, जहाँ सोओ—वहाँ आनन्द, जहाँ बैठो—वहाँ आनन्द। आनन्दका समुद्र उमड़ रहा है, आनन्दकी नदियाँ बह रही हैं, आनन्दकी बौछारें पड़ रही हैं, आनन्दके सिवाय सृष्टिमें और कुछ नहीं है। परमात्माके आनन्द रूपके साथ यही जो राग है, इसमें ज्ञान-अज्ञानकी कोई शर्त नहीं है। यह तो अंत:करणकी वृत्तिमें परमानन्दका फुरफुराना है—चाहे मानकर हो, चाहे जानकर हो; जानकर होगा, तो मुक्ति भी रहेगी, आनन्द भी रहेगा; और मानकर रहेगा तो मुक्ति भले ही न हो, लेकिन आनन्द जरूर रहेगा। एक जानकारी होती है, एक मानकारी जो विवेकी हैं, उनको जानकारी होती है और जो श्रद्धालु होते हैं, उनको मानकारी होती है। जानकारीमें मुक्ति और आनन्द है और मानकारीमें आनन्द-ही-आनन्द है।

यह जो भक्ति है यह अपने शरीरको बाहर-भीतरसे रोम-रोमको, रग-रगको, कण-कणको अनुरागके रंगमें रँग देनेवाली चीज है। स्थूल शरीरके लिए भोजन जितना आवश्यक है, सूक्ष्म शरीरके लिए भजन उतना ही आवश्यक है। भजनके बिना जीवन्मुक्तिका सुख भी फीका पड़ जाता है; मिठास कम हो जाती है। पुराणोंमें ऐसा वर्णन आया है कि बड़े-बड़े ज्ञानियोंके अन्त:करणमें भी प्रारब्धसे दोष आजाता है। लेकिन यदि वे अपने अन्त:करणको भगवान्‌के ज्ञानसे, भगवदाकार वृत्तिसे परिपूरित रखें, सराबोर रखें, तो उनके अन्त:करणमें दोष नहीं आता है।

भरि सराय रहीम लखि आप पथिक फिरि जाय।

अब देखो न, उद्धवजीके द्वारा श्रीकृष्णने ब्रह्मज्ञानका पोथा भेजा गोपियोंके पास। पर गोपियाँ तो रास-लीलाका स्मरण कर रही हैं और उद्धवजीसे पूछ रही हैं कि ब्रह्मज्ञान देनेके बाद भी उनको वह रास याद आती है कि नहीं? माने उनका ब्रह्मज्ञान सुननेके बाद भी हमारा मन रासमें जाता है। अगर उनका मन अभी भी रासमें जाता है, तब तो फिर हम और वे एक ही जगहपर हैं।

ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभिर्वृन्दावने कुमुदकुंदशशांकरम्ये।
रेमे क्वणच्चरणनूपुर - रासगोष्ठ्यामस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित्॥ ४३॥

उद्धव—उत् माने प्रउत् ब्रह्म, उत् कृष्णः धवः यस्य उद्धवः—जिसका पति

कृष्ण है, वह है उद्धव। तुम पुरुष होकर भी उनको अपना पति बनाके बैठे हो, 'उद्धव' बनके बैठे हो और हम उनकी पत्नी होकर भी अपने पतिसे वंचित हैं। और फिर उसपर जलेपरर नमक छिड़कना; बताना—कि ध्यान करो, ज्ञान करो। एक तो हम कृष्णकी वियोगिनी, दूसरे हमारे लिए यह ब्रह्मज्ञान! अच्छा, उसने जो कहकर भेजा—वह हमने सुना। वह हमारी शराफत है; पर थोड़ा उसकी कुशल-मंगल तो बताओ। तुम तो आये—और बस ब्रह्मज्ञान—ब्रह्मज्ञान बघारने लग गये। यह बताओ—कि श्रीकृष्णको वे रातें कभी याद आती हैं? **ता किं निशा स्मरति?** यह तो स्पष्ट हो गया—कि मथुरामें श्रीकृष्णको ब्रह्मज्ञान पूरा है। वह मथुरामें भूला नहीं है। और हम जरूरत भी समझती हैं—कि मथुररामें ब्रह्मज्ञानकी जरूरत है। क्यों? कि हमारे बिना जब कभी उनको दुःख होता होगा, तो ब्रह्मज्ञानसे ही तो धैर्य धारण करते होंगे न। जब कभी हमारे वियोगमें दुःख होता होगा, तो ब्रह्मज्ञानकी याद करके उस दुःखको काट देते होंगे। क्योंकि ब्रह्मज्ञानमें दुःखको काटनेकी अपूर्व शक्ति है, सो कृष्ण भी कभी निर्विण्ण होते होंगे तो ब्रह्मज्ञानसे अपने आपको बिना दुःखका कर लेते होंगे। लेकिन क्या सचमुच ब्रह्मज्ञान उनको बिना दुःखका बनानेमें समर्थ है?

ताः किं निशा स्मरति--अब जरा रात्रियोंकी ओर चले चलें। ऐसा हुआ कि व्रजकी जो कुमारी थीं, उन्होंने जब श्रीकृष्णका सौन्दर्य देखा, उनकी वंशी-ध्वनि सुनी, उनकी मुस्कान, चितवन, बोलन, चलन जब उनके दिलको छेद गयी और उनके शील-सौन्दर्यको देखकर जब वे मुग्ध हो गयीं, तब उन्होंने कात्यायनी देवीकी उपासना की। यह कात्यायनी देवी राधारानीका ही एक ऐश्वर्यरूप है। राधा रानी श्रीकृष्णकी आह्लादिनी शक्ति हैं, वही आनन्द देती हैं। तो बिना उनकी स्वीकृतिके श्रीकृष्ण किसीके साथ बोल नहीं सकते, हँस नहीं सकते। राधारानी स्वाधीन नायिका हैं—माने अपने नायक श्रीकृष्णको अपने अधीन रखती हैं। तो व्रजकी कुमारियाँ चाहती तो हैं, कि कृष्णके साथ हमारा सम्बन्ध हो, परन्तु राधारानीकी स्वीकृतिके बिना वह नहीं हो सकता। तब कात्यायनी देवीके रूपमें राधा रानी की एक प्रतिकृति बना करके उन्होंने पूजा की और कहा—**नन्दगोपसुतं देवी पतिं मे कुरु ते नमः**। अब श्रीकृष्णने आकर उनका आवरण-भंग किया। तो जैसे आवरण-भंगके बिना मुक्ति नहीं हो सकती वैसे ही ब्रह्मानन्दका अनुभव नहीं हो सकता, ऐसे ही यह परमानन्द-प्रेमानन्दका अनुभव, श्रीकृष्णकी प्राप्ति, चीर-हरणके बिना नहीं हो सकती। वेदान्तकी भाषामें चीर माने आवरण, पर्दा, कपड़ा, उसका भंग माने हट जाना। उस समय श्रीकृष्णने कहा—

मयेमा रंस्यथ क्षपाः—'गोपियो! तुम हमारे साथ इन रात्रियोंमें विहार करना।' यह प्रकृतिका जो राज्य है—यह अन्धकारमय है; रात्रि है। प्रकृति आत्म-प्रकाश-निरपेक्ष प्रकाशित नहीं हो सकती, माने 'मैं'के बिना प्रकृतिका पता नहीं चल सकता। इसलिए आत्म-ज्ञान-सापेक्ष ज्ञानवाली होनेके कारण प्रकृतिको बोलते हैं रात्रि। और इसमें जो जीव हैं, वे तारेके समान हैं; और इसमें जो श्रीकृष्ण हैं, वे चन्द्रमाके समान हैं। बिना चन्द्रमाके रात अन्धेरी। तो भक्त लोग प्रार्थना करते हैं भगवान्‌से—'हे व्रजनवयुवराज! इस अनादि और प्रवाह रूपसे अनित्य प्रकृतिमें हृदयके झूलेपर बैठाकर मैं सदा तुम्हें झुलाता रहूँ।'

एक महात्मा थे। वे जब भजन करने बैठते थे, तो दाहिने-बायें झूमते थे। एकने कहा—ऐ! भजन करते समय झूमते नहीं हैं महात्मा! झूमनेवाला तो बैल भी बुरा समझा जाता है। तो कहा—अच्छा भाई! नहीं झूमेंगे। बैठ गये। जब भजन करनेमे बैठे, तो एक दिन तो बेचारे बैठे बड़े कष्टसे; फिर दूसरे दिन बोले—कि बिना झूमे नहीं रहा जाता है। क्यों? कि हम तो यह समझते हैं कि हमारा हृदय झूला है। उसमें राधा-कृष्ण युगल सरकार बैठे हैं और मैं झुला रहा हूँ। तो झूला हिलता है और हमारे युगल सरकार झूलते हैं। अब तुमने तो झुलाना ही बन्द कर दिया। तो हमारा भजन कैसे होगा? देखो न! भक्तोंका भाव होता है तरह-तरहका। इसको समझे बिना मनुष्य भक्तिका रहस्य नहीं समझ सकता।

श्रीकृष्ण चन्द्रमा हैं, जीव तारे हैं और यह प्रकृति अन्धकारमयी रात्रि है। इसमें श्रीकृष्ण चन्द्रके बिना अन्धेरा है। अब अपने जीवनकी ओर अन्तर्मुख होकर विचार करो। यह जीवन ही एक रात्रि है। इसमें भी जबतक श्रीकृष्णचन्द्रका उदय नहीं होगा, तबतक अन्धेरा ही रहेगा, और ठंडक, शीतलता अपने जीवनमें नहीं आवेगी। श्रीकृष्णने कहा—ये आगे आनेवाली जो रात्रियाँ हैं—इनमें तुम हमारे साथ विहार करना। अब गोपियोंने कहा—धन्य हुई हम! देखो, रातका प्रयोग कृष्णने बहुवचनमें—**क्षपाः** किया—इन रात्रियोंमें रमना। किन रात्रियोंमें? कि भविष्यमें कल्प भरमें जितनी रात्रियाँ आनेवाली थीं—उन सबमें। आकाशकी नीली बनारसी साड़ी—वह जरीके कामवाली साड़ी पहने हुए जिसपर सितारे चमक रहे हैं—**मयेमा रंस्यथ क्षपाः**—ऐसी एक नहीं, सहस्र, सहस्र रात्रियाँ आकर श्रीकृष्णके सम्मुख इकट्ठी हुईं—कि तुमने गोपियोंसे जो विहार करनेकी प्रतिज्ञा की है—उसमें, हमारी रातमें विहार करो।

तो जब रासलीलाका प्रसंग आया, तब—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥ १०.२९.१

ता रात्रीः—**ताः किं निशाः स्मरति?** यह **ताः निशाः** जो है न, यह **इमा क्षपाः** जिसको भगवान्‌ने कहा था—उसीके लिए है। **भगवानपि ता रात्रीः** और **ताः किं निशाः स्मरति, नितरां सम् सुखं यासु ता निशाः**—जिसमें नितरां सुखकी प्राप्ति होवे, उसका नाम निशा। जिन रात्रियोंमें बड़ा सुख दिया था, बड़ा सुख लिया था, उनका श्रीकृष्णको स्मरण होता है क्या? कोई ऐसा भी होगा, जो इतना परमानन्द मूर्तिमान होकर क्रीड़ा करे और उसको भूल जाय? कृष्ण उस आनन्दको भूल गये? इनको अगर भूल गये, तो कान्तके प्रति—अपने प्रियके प्रति बड़ा आक्षेप हुआ। और यदि भूले नहीं—तो आये बिना रहेंगे नहीं। इसलिए उन्होंने पूछा—वे रात्रियाँ स्मरण हैं क्या? कि कौन-सी रात्रियाँ? कि जो कल्प भरकी इकट्ठी हो गयी हैं—**यासु तदा प्रियाभिर्वृन्दावने**—

वह श्रेष्ठ समय था। और स्थान? वृन्दावन श्रेष्ठ स्थान था। वृन्दावनका एक बार स्मरण कर लो। वृन्दावन वह भूमि है, जिसको छोड़कर श्रीकृष्ण एक पग भी कभी इधर-उधर नहीं जाते हैं—**वृन्दावनं परित्यज पादमेकं न गच्छति**। वृन्दावन माने तुलसीका वन; तुलसीके बहुत सारे नाम हैं, एक नाम वृन्दा है। यह जलंधर जो असुर था—उसकी पत्नीका नाम था। वह इतनी सती थी, इतनी सती थी, कि उनके सतीत्वके कारण स्वयं भगवान् शंकर जलंधरको मार नहीं सकते थे। अब वहाँ देखो—विष्णु राधावेशमें आगये; कि यह तो हमारी पत्नी होनी चाहिए। तो उसके रागके वश होकर तुलसीके रूपमें वृन्दावनको शालिग्रामने स्वीकार किया। यह देखो, वृन्दावन रागभूमि हो गयी। क्यों रागभूमि है? उसकी पवित्रता, उसकी उज्ज्वलता, उसकी प्रेममयता देख करके और तो क्या, स्वयं नारायण भी मुग्ध हो गये। और जैसे भक्त लोग **सर्वधर्मान् परित्यज्य** भगवान्‌की आराधना करते हैं, वैसे ही भगवान्‌ने भी स्वधर्म परित्यागकर भी वृन्दाके साथ सम्बन्ध जोड़ा।

अब देखो, वृन्दाके द्वारा अधिष्ठित जो भूमि है—वृन्दावन जिसको बोलते हैं—वह रागभूमि हो गयी। गोपियोंने कृष्णके लिए वहाँ धर्म छोड़ा, इसलिए वृन्दावन माने रागकी भूमि। अधर्मकी तो चर्चा क्या अधर्म तो सब छोड़ते हैं। यह बात भी ध्यान रखने लायक है कि कई लोग धर्म छोड़ते हैं। जैसे हमारे सेठ लोग हैं; वे सन्ध्या-वन्दन नहीं करते हैं। धर्म तो छूटा न! बोले—उसके बदले क्या करते हैं? कि ताश खेलते हैं, जुआ खेलते हैं। संध्या-वन्दन छोड़ा और

जुआ खेला। संध्या-वन्दन छोड़नेका यह तो कोई अर्थ नहीं हुआ! एक योगी है वह समाधिमें स्थित हो गया; तो उसका संध्या-वन्दन छूट गया। समाधिमें स्थित होकर संध्या-वन्दन छूटना दूसरी बात है और जुआ खेलनेसे संध्या-वन्दन छूटना दूसरी चीज हुई। भगवान्‌के प्रेममें मग्न होकर धर्मका छूटना दूसरी चीज है और अधर्ममें रत होकर धर्मका छूटना दूसरी चीज है। ये जो गोपी हैं, व्रजवासी हैं—उनका जो धर्मोल्लंघन है—वह धर्म छोड़कर अधर्मानुष्ठान नहीं है; धर्मसे ऊपर उठकर श्रीकृष्णके प्रति अनुराग है। जो धर्मको छोड़कर अधर्म करने लगा वह भ्रष्ट हो गया, और जिसने धर्म छोड़कर अधर्म किया और धर्मसे भी ऊपर उठकर श्रीकृष्णसे अनुराग किया—वह तर गया। यह बात ध्यानमें रखने लायक रहती है।

यह जो वृन्दावन है—यह अनुरागकी भूमि है; और तुलसीवन है। वृन्दावन माने वृन्दावत् छोटे-छोटे वृक्षोंका वन, जिसमें हिंसक पशु न रहें। वृन्दा सखीके द्वारा सेवित वन, वृन्दा राधारानीके द्वारा अधिष्ठित वन-वृन्दावन।

विपिनराज सीमाके बाहर हरि हू को न निहार।
यद्यपि मिलें कोटि चिन्तामणि तौ न हाथ पसार।
रे मन वृन्दाविपिन निहार।

यह विपिन राज है वृन्दावन। **वृन्दावने गोपी वृन्दं अवति रक्षति इति वृन्दावनं। साधुवृन्दं अवति रक्षति इति तस्मिन् वृन्दावने।** अब थोड़ी शोभा उसकी बताते हैं।

कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये—पानीमें कुमुद, धरतीमें कुन्द और आसमानमें शशाङ्क; जलमें, थलमें, नभमें—तीन प्रकारकी शोभाका वर्णन किया है। सरोवर कैसे? जैसे महात्माका मन। अब देखो न! यह एक आश्चर्यकी बात है। उपमा ऐसे दी जाती है—जैसे कोई पूछे—कि महात्माका मन कैसा होता है? तो यूँ कहा जायेगा—जैसे निर्मल जलवाला सरोवर; क्योंकि निर्मल जलवाला सरोवर हम लोग देखते हैं और महात्माका मन नहीं देखते हैं। तो यह समझानेके लिए—कि मन कितना शुद्ध है। सरोवरके निर्मल जलसे उपमा दी जायेगी। यह हमारे महात्मा—श्रीमद्‌भागवतके वक्ता कैसे हैं? वे बोलते हैं—वृन्दावनके सरोवर कैसे हैं—जैसे महात्माओंका मन—**महत् मनः**। उलटा हो गया न! मालूम पड़ता है, जैसे यह बोलनेवाला जानता है कि एक-एक महात्माका मन निर्मल होता है, इसने महात्माओंके मन तो खूब देखे हुए हैं! और वृन्दावनके सरोवर जो हैं—वे दुर्लभ हैं, वे सबको देखनेको नहीं मिलते हैं और

महात्माओंका मन तो चाहे जहाँ भी देख लो; चाहे घरमें, चाहे नगरमें, चाहे रणमें और चाहे वनमें! महात्मा वह है, जिसका मन कभी गन्दा नहीं होता। निर्मल-निर्मल होता है, किसीका अनिष्ट नहीं चाहता है।

ये वृन्दावनके सरोवर महाराज! इनमें रात्रिके समय कुमुद खिलते हैं। ये कुमुद जो हैं—वे चन्द्रप्रकाशी होते हैं, चन्द्रमाकी रोशनीमें खिलते हैं और दिनमें संकुचित हो जाते हैं। कुमुदमें कोमलता ज्यादा है। वे नेत्रके समान हैं; और कुन्द जो हैं—वे दाँतोंके समान हैं। कुन्दकलीके समान दाँत होते हैं न! वे मुसकानके उपलक्षण हैं। कुमुद जो हैं—वे चितवनके उपलक्षण हैं और शशांक समूचे मुखारविन्दका—मुख-चन्द्र!

अच्छा, शशधर और शशिधर—दोनोंमें फर्क होता है न! शशधर माने चन्द्रमा और शशिधर माने शंकर। तो चन्द्रमाकी किरणें बरस रही हैं, इसलिए आकाशमें स्वच्छता, निर्मलता है। धरतीपर कुन्द खिले हुए हैं, सरोवरोंमें कुमुद विकसित हो रहे हैं और **ईडितमनोज्ञकथः**—देवियाँ और देवता आकाशमें विमानोंमें स्थित होकर श्रीकृष्णकी कीर्तिका गान कर रहे हैं। और **अस्माभि क्वणच्चरणनूपुररवैं रेमे**—हम उनकी प्यारी गोपियाँ हैं, जिनको देखकर श्रीकृष्ण तृप्त हो जाते थे। गोपीको यह अभिमान नहीं—कि हम सुन्दरी हैं; गोपीको यह अभिमान है, कि चाहे हम काली हों, चाहे गोरी—हमको देखकर श्रीकृष्ण तृप्त हो जाते हैं। हमारे ये केश, हमारा यह मुख, ये वस्त्र, यह बोलन, यह चलन—श्रीकृष्णके लिए संकर्षक है। गोपियोंको यह सम्पूर्ण विश्वास है कि कृष्ण कहीं भी रहें—वैकुण्ठमें रहें, कि मथुरामें, कि द्वारिकामें—लेकिन हमारे बिना वे सुखी नहीं हो सकते। हम उनकी प्रिया हैं, जिनके बारेमें कृष्णने कभी कहा था—**कठोरा भद मृद्वी वा**—चाहे तुम निष्ठुर बनो, चाहे कोमल बनो—**प्राणास्त्वां राधिके**—मेरे प्राण तो तुम्हीं हो। जैसे चकोर चन्द्रलेखाके बिना जीवित रह ही नहीं सकता, वैसी ही गति—**चकोरस्य चंद्रलेखां विना गतिः**—हमारी तुम्हारे बिना है। राधारानीके तोतेको श्रीकृष्णने कहा था—कि अब मेरी रुचि वन-गमनमें नहीं रही; अब मेरी रुचि गोचारणमें नहीं रही। ग्वालोंके साथ क्रीड़ा करनेमें, खाने-पीनेमें रुचि नहीं रही। जबसे मैंने इस तोतेके मुँहसे यह वार्तालाप सुना है, यह प्यारी-प्यारी, मीठी-मीठी डाँट सुनी है, तबसे हमको कुछ सूझता ही नहीं है। तो वे श्रीकृष्ण—जिनकी प्रिया हम हैं, जिनकी देवी-देवता स्तुति करते रह जाते थे—क्या कभी उस रात्रिका स्मरण करते हैं? जिसमें **क्वणच्चरण-नूपुर रास गोष्ठ्याम्**।

कहते हैं, जब रास-लीला होने लगी—भागवतमें ही वर्णन है—तो बहुत विचित्र वातावरण निर्मित हो गया—

वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम्।
सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले॥ १०.३३.६

रासमण्डलमें अनेक प्रकारकी ध्वनि होती थी। हाथके कंगन बोलते थे, पाँवके पायजेबमें—नूपुरमें घुँघरू रुनझुन रुनझुन बजते थे। और कमरमें जो किंकिणी थी—घुँघरू वाली करधनी—वह बोलती थी। एक गोपी एक कृष्ण, एक गोपी एक कृष्ण—**अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो**। ले चलो न एक बार अपने मनको वहाँ!

अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो
माधवं माधवं चान्तरे आङ्गणा।
इत्थमाकल्पिते मण्डले मध्यगा
संजुगौर वेणुना देवकीनन्दनः॥

एक गोपांगना एक कृष्ण, एक गोपांगना एक कृष्ण; और बीचमें राधाकृष्ण। बलयाकार कंगनकी तरह मण्डल बना—एक वृत्ति और एक सामान्य चेतन, एक वृत्ति और एक सामान्य चेतन; जैसे कोई निदिध्यासनके समयमें बैठ जाय। और ब्रह्माकार वृत्ति उदय हो और शान्त हो, उदय हो और शान्त हो; श्रीकृष्णाकार वृत्ति और वृत्ति और ब्रह्मविद्या और आत्मदेव! वंशी बज रही है और बीचमें राधाकृष्ण; साक्षात् सच्चिदानन्द-घन परब्रह्म! और मण्डलाकार वृत्तिके रूपमें एक वृत्ति, एक सामान्य चेतन! निदिध्यासनमें आनन्दसे यह रसमयी रासलीला सम्पन्न हो रही है।

क्वणच्चरणनूपुर रास गोष्ठ्याम्—चरणोंमें नूपुर बज रहा है। कभी एक घुँघरू बजता है, कभी दो, कभी दस और कभी सैकड़ों एक साथ टंकार कर बैठते हैं। कमरमें किंकणीका कभी एक अंश बजता है, कभी दो अंश बजते हैं, जब उस नृत्य-विशेषमें कमरका चालन होता है। तो कृष्णने हमारे साथ नृत्य किया था। कृष्ण कहते थे—देखो सखि! ये कुमुद कैसे खिलते हैं, ये कुन्द कैसे खिले हैं, यह चन्द्रमा कैसी चाँदनी बरसा रहा है। यह वासन्ती वायु कैसी शीतल, मन्द, सुगन्धित चल रही है। यह जलका सरोवर कैसा निर्मल है, जिसमें चन्द्रमा प्रतिबिम्बित हो रहा है। यह वृन्दावन और गोपियाँ कैसी हैं!

गोपियाँ गान करती हैं—यह हमारा मुरली-मनोहर, यह हमारा प्राण-प्यारा, यह हमारा श्यामसुन्दर कृष्ण-कृष्ण-कृष्ण! और श्रीकृष्ण वृन्दावनका गान करते हैं।

उद्धवजी! क्या श्रीकृष्ण कभी उस रासका स्मरण करते हैं? भाव यह है कि वहाँ नागरी रानियाँ बड़ी चतुराईसे बातें करती होंगी। उनके विभ्रममें, उनके नखरोंमें, उनके हाव-भाव, कटाक्षमें बड़ा आकर्षण होगा; लेकिन वह वृन्दावनका आनन्द मथुरामें कहाँ होगा।

अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ता स्वकृतया शुचा।
पंजीवयन् नु नो गात्रैर्यथेन्द्रो वनमम्बुदै॥ ४४॥

उद्धवजी! बाबा! तुम लोगोंने हमारे प्यारेको यदुवंशी बना लिया? कह दिया होगा—कि गोप जाति तो छोटी है; उसमें क्यों रहते हो? आओ-आओ, तुम तो यदुवंशी हो! जातिका लोभ देकर तुमने उसे मिला लिया होगा। तुम राज्यकी स्थापना करनेवाले हो, धर्म-राज्यकी स्थापना करनेवाले हो तुम—ऐसी प्रशंसा करके तुम लोगोंने फँसा लिया होगा। हमारे ऊपर कहीं कोई आक्रमण न कर दे—ऐसा अपना भय बताकर उसके हृदयमें दया उत्पन्न करली, और उसको फँसा लिया। माना बाबा! माना। वे यदुवंशी ही रहें। हम उनको गोप-वंशी क्यों बनावें? ऊँची जातिको हम नीची जातिमें क्यों ले आवें? अब उनको राज्य-स्थापकसे एक साधारण गाँवकी प्रजा हम क्यों बनावें? उनको हम तुमसे विमुख क्यों करें? उनके यशमें हम कलंक लगानेवाली नहीं हैं। लेकिन फिर भी उद्धवजी! यह तो देखो—**तप्ता स्वकृतया शुचा**—उनके कारण जो हमारे हृदयमें शोक हो रहा है, उससे हम संतप्त हो रही हैं। हमें अपने सुखके लिए कोई सोच नहीं है, उनके सुखके लिए हमें बहुत संताप है। जैसे तापसे वन भस्म हो रहा हो और इन्द्र गागर लेकर आजाय उस बनको सींचनेके लिए, वैसे हमारा एक-एक रोम, हमारा रग-रग, हमारे प्राण, हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन श्रीकृष्णके लिए संतप्त हो रहे हैं। क्या वे अपना सुखद स्पर्श देकर हमें संजीवित करनेके लिए कभी यहाँ पधारेंगे? कभी यहाँ आवेंगे?

देखो, गोपियोंकी यह जो दशा है, यह श्रीकृष्णके विरहमें भक्तकी क्या दशा होती है—इसका निदर्शन है। माने भक्तोंके जीवनमें किस प्रकारकी लालसा, किस प्रकारकी व्याकुलता, किस प्रकारकी दिव्य अभिलाषा होनी चाहिए। और ऐसे गोपी-कृष्ण, कृष्ण-दृष्टिकी बात तो जुदा है, हमारे जीवनमें भक्ति कैसे आवे—इसके लिए गोपियोंके प्रेम, गोपियोंके भक्ति-भावका स्मरण-कीर्तन करना चाहिए।

❋

इक्यावनवाँ प्रवचन

सिद्धान्तकी बात सुनाते हैं। सम्पूर्ण पुरुषार्थका जो बीज है—उस परमेश्वरकी आराधना यदि की जाये, तो मनुष्य चारों पुरुषार्थ प्राप्त करता है। धन चाहिए—धन लो, भोग चाहिए—भोग लो, धर्म चाहिए—धर्म लो, मोक्ष चाहिए—मोक्ष लो।

वित्तम पन्थाः यत्र सम्पूज्यते हरिः।

जिस मार्गमें भगवान्‌की पूजा होती है, वह निष्कंटक मार्ग है। **कुपंथ तद् विजानियात् गोविन्द रहितावनम्।** जिस मार्ग में भगवान्‌की पूजा नहीं होती, वह मार्ग मार्ग नहीं है—कुमार्ग है।

यह बात क्यों सुनाई? कि मनुष्यको कभी-कभी एक प्रकारकी सुस्ती हो जाती है, माने एक तरहका संतोष हो जाता है—कि मैं ऐसे क्रियासे मुक्त हूँ, हम ब्रह्म हैं। पैसे-पैसेके लिए तो व्याकुल हों, भोगके लिए रात को नींद नहीं आती है, दुनिया भरके काम धन्धोंमें रचे-पचे और भीतरसे नहीं, ईमानदारीसे नहीं, मुँहसे बोलते हैं कि हमको कोई बन्धन नहीं है। यह जो नैर्बन्धता है, यह एक प्रकारकी तृप्ति है और यह तृप्ति साधकको आगे नहीं बढ़ने देती है। साधनाके मार्गमें इसको दोष बताते हैं। किसीने कहा—बस, अब हम काफी आगे बढ़ गये हैं। हमारी मुक्ति तो हो ही जायेगी, वेदान्त पढ़नेकी क्या जरूरत है? बोले—कि शंकराचार्य हमारे गुरु हैं, तो अब क्या बाकी रहा? अब तो हम मुक्त हो ही जायेंगे। हमने पंचदशी पढ़ ली, तो अब हमारी मुक्तिमें क्या संदेह रहा? तो ऐसा जो संतोष है, यह साधक के चित्तमें नहीं आना चाहिए। थोड़ी समाधि लग गयी, थोड़ा त्याग आगया, साधनाके क्षेत्रमें यह कोई बड़ी बात नहीं है।

आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। यदि आपको अर्थ नहीं चाहिए, भोग नहीं चाहिए, धर्म नहीं चाहिए, धर्मका फल—स्वर्गादि भी नहीं चाहिए; ब्रह्मलोक नहीं चाहिए, व्यक्तिगत समाधि, शान्ति नहीं चाहिए, केवल मोक्ष चाहिए; सोचना कि आप सचमुच मुमुक्षु हो, तो समझ लो कि तत्त्वज्ञानके सिवाय मोक्षका कोई दूसरा साधन नहीं है। तत्त्वज्ञानसे ही मोक्ष होता है। पर बन्धन भी चाहते हो और मुमुक्षु भी बनते हो, तो धर्मार्थ काम मोक्ष-चारों पुरुषार्थोंके जो दाता हैं, बीज हैं, कारण हैं परम पुरुषार्थ हैं—उन प्रभुकी आराधना करनी चाहिए। और जब-आराधना करनी चाहिए—यह बात पक्की हो जाती है, तब? एक सेवक ऐसा होता है, जो

मालिकका हुक्म मानकर सेवा करता है। और एक सेवक ऐसा होता है, जो प्रेमसे मालिककी सेवा करता है। जो आज्ञाकारी हुक्म मानकर सेवा करता है, वह भी सेवक है, भक्त है। लेकिन जिसके चित्तमें प्रेम है न, उसकी सेवा दूसरे किस्मकी होती है। मालूम पड़ जाता है कि मनुष्यको प्रेरणा कहाँसे प्राप्त हो रही है; क्योंकि जिससे प्रेम होता है, उसका ध्यान होता है। जब ध्यान होता है, तब उसके चित्तमें स्फुरता है, कि कब उसकी क्या सेवा करनी है। उसकी क्या तृप्ति है, क्या वृत्ति है, उसकी क्या रहनी है—यह प्रेमसे सेवा करनेवालेके मनमें आता है। साधारण संसारमें किसीसे प्रेम हो जाता है, तो मनुष्य चौबीसों घण्टे उसके बारेमें सोचता रहता है। और ईश्वरसे प्रेम हो जाये, तो अपनी याद काहेको आये।

यह जो भगवान्‌के प्रति गोपियोंका प्रेम है न, यह कोई शास्त्रकी आज्ञा होनेके कारण नहीं है। यह वैदिक रीति नहीं है। यह कोई उनका क्रियायोग नहीं है, कि यह करेंगे तो यह धर्म, यह पुण्य होगा। गोपियोंकी जो प्रीति है न, वह तो तुष्टि है, सर्वात्म भावसे समर्पण है, रागात्मिका प्रीति है। उस रागात्मिका प्रीतिको अपने जीवनमें उतारनेके लिए शरीरको नहीं, हृदयको गोपी बनाना पड़ता है।

गोपियाँ अपने नेत्ररूपी कमलोंके द्वारा कृष्णके सर्वांगकी पूजा कर रही हैं। प्रेमकी दृष्टिसे देखना भी पूजा है। प्यासी आँखसे देखना पूजा नहीं है, तृप्तिदायिनी आँखसे देखना पूजा है। अपनी प्यास बुझानेके लिए देखना; यह तो आत्म-पूजा हो गयी न! श्यामसुन्दरको सुख पहुँचानेके लिए उनकी ओर देखना, तृप्तिदायी नेत्र, ये भक्तोंके नेत्र हैं। तो गोपियों सरीखा प्रेम अपने हृदयमें आवे इसके लिए अपनेको गोपी बनाना।

स्मरो वृन्दावने रम्ये गोप गोपिनां
गोविन्दं पुण्डरीकाक्षं गोपकन्या सहस्त्र
आत्मना हृदयाम्भोजे प्रेम्ण
पीडिता कामबाणेन चिरमात्मेन॥

गोपियाँ श्रीकृष्णके आलिंगनके लिए उत्सुक हैं। उनके हृदयमें मिलनकी तीव्र आकांक्षा व्याकुल कर रही है। उनके वस्त्र, उनकी नीवी, उनके बन्धन, उनके आवरण अपने आप गिरते जा रहे हैं। वे रोकती हैं कि मत गिरो, मत गिरो। देखो तो; चित्तकी वह कौन-सी स्थिति होगी, जिसमें सारे बन्धन अपने आप छूटकर गिरते जा रहे हैं, सारे पर्दे अपने आप गिरते जा रहे हैं; और गोपियाँ रोकती हैं—अरे ओ नीवी, बनी रह! ओ मेरे बन्धन, बने रह और वे कहते हैं—नहीं, हम

तुम्हारे और कृष्णके बीचमें नहीं रहेंगे। रोकती हैं वे, वे सरकते हैं। जिसकी आँख-आँखसे, साँस-साँससे, रस-रससे और हृदय-हृदयसे श्यामसुन्दरके साथ मिल चुका है—उन गोपियोंको एक बार हृदयमें बैठाकर देखो, कि कृष्णके वियोगमें उनकी क्या दशा होती है।

आप जानते हैं, जहाँ ज्यादा प्रेम होता है, वहाँ प्रेम भी आँख मिचौनी खेलता है। कभी ऐश्वर्यका भाव आता है, कभी माधुर्यका भाव आता है और कभी दोनोंका एक साथ मिलन हो जाता है। भावोदय, भावसन्धि, भावशाबल्य, भावशान्तिः अनेक अवस्थाएँ होती हैं। एक गोपीने कृष्णको ताना मारा। एकने कहा कि अरे सखि! उद्धवजीसे क्या बात करें! आपसमें बात करें। जैसे सूखते हुए वनको जिलानेके लिए बादल आकर बरसते हैं, ऐसे वे मेघ-श्याम, वह रसवर्षी मेघ श्यामसुन्दर हमारे तपते हुए रोम-रोमको, रग-रगको तृप्त करनेको कभी आवेगा? और अपने अंग-अंगका स्पर्श देकर हमको अनुरागके रंगमें डुबो देगा? वह समय हमारे जीवनमें कभी आवेगा? तो दूसरी सखी बोली कि अब कृष्ण यहाँ क्यों आने लगा?

कस्मात् कृष्ण इहायाति प्राप्त राज्यो हताहितः।
नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्वसुहृद्वृतः॥ ४५॥

काला है न! **काले की परतीति न कीजे**। अब वह नहीं आवेगा। क्यों सखी! क्यों नहीं आवेगा? कि कृष्ण जो है न! जहाँ जाता है, वहीं लोगोंकी आँखको, मनको खींच लेता है अपनी ओर। जहाँ गया, वहीं उसके प्रेमी मौजूद; वहीं उसके प्रेमी पैदा हो गये! क्या मथुरामें प्रेमियोंकी कोई कमी है, कि यहाँ आयेगा? **कस्मात् कृष्ण इहायाति**। गोपी कृष्णको सच्चिदानन्द घन ब्रह्म मानकर नहीं बोल रही। यह तो उसका प्यारा ब्रजराजकुमार है। अब वह कृष्ण हमारे बीच क्यों आने लगा? बोले, कि आखिर आया तो था न! बोले—आया तो था, परन्तु तब, जब कोई सहारा नहीं था। राजा था कंस और माँ-बाप थे जेलखानेमें। पीनेके लिए दूध नहीं मिल सकता था, खानेके लिए रोटी नहीं मिल सकती थी। कंगला था। अब तो **प्राप्तराज्यः**—राज्य मिल गया। अब तो बड़े-बड़े राजा उसकी मुट्ठीमें हैं। अब वसुदेव हो गये बाप, तो कुन्ती हो गयी बुआ। अब तो सारे भारतका जो चक्रवर्ती सम्राट है—वह भी कृष्णके अधीन रहेगा। और फिर वह सारे विश्वपर विजय प्राप्त करेगा। अब यहाँ क्यों आवेगा? यहाँ कहाँ राज्य-सिंहासन रखा है? यहाँ तो वन-वन भटककर गाय चराना और दाल-रोटी खा लेना। टेंटीका अचार रखकर

मोटी-मोटी बेझरकी रोटी खाई! टेंटी व्रजका मेवा है। तो अब मथुरा छोड़कर काहेको आने लगा!

दूसरी सखी बोली—वहाँ बड़े उपद्रव हैं। बोले—**हताहितः**—सबसे ज्यादा उपद्रव करनेवाला कंस था, सो मर गया। अरे बाबा! पहली बात तो यह कि कृष्ण यहाँसे जाता ही नहीं, तो हम लोगोंको बड़ा सुख था। गया, तो वहाँ उसे राज्य नहीं मिलता। राज्य भी मिलता, तो कंस न मरता। वह कोई-न-कोई उपाय करता और उसे व्रजमें आना पड़ता भागकर! वह भी न हुआ।

अरे! सब मिले, पर हमारे सरीखी गोपियाँ—ऐसी मधुर, शृंगार रससे प्रेम करनेवाली गोपियाँ कहाँ मिलेंगी?

दूसरी बोली—भूलमें हो सखि! **नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य।** अब क्या, वह ग्वालेकी लड़कीसे शादी करेगा? अब तो बड़े-बड़े राजाओंको ससुर बनावेगा। राजकुमारियोंको विवाहेगा, राजकुमारोंको साला बनावेगा।

बोली—अरे! अभी तो ब्याह नहीं किया है। काहेको झूठा कलंक लगाती हो?

कि **प्रीतः**—राजकुमारियोंसे मिल-मिलकर उसने सोचा है कि जब सम्बन्ध बन गया, तो रास्ता खुल गया न! लक्षण दिख रहे हैं! मनुष्य कहाँ जायेगा—यह उसके लक्षणोंसे जाहिर हो जाता है। मनुष्यकी अन्तिम गति जैसी होनेवाली है, वैसा जुगाड़ बन जाता है। जिसको चोर होना होता है, वह चोरोंमें ज्यादा बैठता है। देखो, काशीमें कई लोग महात्माओंके पास जाकर बैठते हैं और कई बनारसके गुण्डोंके पास। आदमी जिससे प्रेम करता है, जिससे मिलता है, जिसका पक्षपात करता है, उसका असर पड़े बिना थोड़े ही रहता है। जुआरी लोग अपने पास आनेवालेको जुआरी बनाते हैं, शराबी लोग शराबी बनाते हैं, व्यभिचारी लोग व्यभिचारी बनाते हैं, महात्मा लोग महात्मा बनाते हैं। किसका सङ्ग कैसा है, किसपर कैसा रंग चढ़ता है—यह तो साथसे ही मालूम पड़ता है न!

जब राजकुमारियोंसे मिलते हैं कृष्ण, उस समय वे मुस्कुराते रहते हैं। बड़े ही खुश! क्यों? कि उनका आकर्षण बना रहे। आदमीको देखकर पता लगता है, कि वह किससे खुश होकर बात करता है, किसके साथ बात करता है, तो तृप्त हो जाता है, किसके साथ मुस्कुराकर बात करता है। कब इसकी आवाजमें मिठास आती है—लक्षण सब दीख जाते हैं! तो **नरेन्द्रकन्या**—उन्हींसे खुश होता है न!

बोले—बाबा! ब्याह भी कर लेगा, तब भी हम व्रजवासियोंको नहीं भूलेगा। हमारे जितना प्रेम और कौन करेगा?

बोले—**सर्वसुहृद् वृतः**—नयी माँ मिल गयी, नया बाप मिल गया, बाबा! लोग नया बाप नहीं बनाते हैं, परन्तु ठाकुरजीने पुराना बाप छोड़कर नया बाप बना लिया। बुआ मिली, ममेरे-फुफेरे भाई मिले, ताऊ मिले—**सर्वसुहृद् वृतः**। अब उनके बीचमें घिरा हुआ वह हमारे बीचमें काहेको आवेगा! अथवा **सर्वसुहृद् वृतः**का अर्थ है—अब जो सुहृद हैं—वे आने थोड़े ही देंगे। वह आने लगेगा, तो मना कर देंगे।

अब देखो, दूसरी सखी ताना मारकर बोली। यह अधिकार सबको नहीं होता है। जिनका बहुत प्रेम होता है, वे बोल सकते हैं ऐसे। एक दिन तीन आदमी आये हमारे पास कोई दवा लेकर, बोले—कि हमारी दवा खाओ, तो रोग मिट जायेगा। हमको हिचकिचाहट होती थी कि हम तो ठीक हैं। तो काहेको इनकी दवा खायें? उनमें-से एक नया-नया आया था; वकील था और अपने पक्षमें बात करने आया था। बोला—आपको मरनेका इतना डर लगता है? अब वह पहले-पहल तो आया था और अपनी दवाका प्रयोग करना चाहता था—कि इनके ऊपर अपनी दवाका प्रयोग करें। फिर ये लिखकर दें, कि इनकी दवाने बहुत लाभ किया। वे प्रयोग तो करना चाहते थे अपनी दवाका, लेकिन व्यंग्य करते थे हमारे ऊपर—कि आप जो हिचकिचाते हैं न दवा खानेमें, वह इसलिए—कि कहीं इसमें कोई खराब चीज हो, तो वह हमारे शरीरको नुकसान कर डाले। अब एक दिनके परिचयमें भाई! यह व्यंग्य सुनाते हो। पहले ही दिन, बिना जान-पहचानके, आकर यह व्यंग्य कसकर कोई दवाई खिलाना चाहे—तो नहीं खिला सकता। बरसोंका सम्बन्ध हो, बहुत प्रेम हो—तो वह सब तरहसे बोल सकता है। भगवान्‌से भी इस तरहसे बोलनेका हक सबको नहीं होता।

एक बुद्धिमान ग्वालिन थी; वह बोली—अरी! ऐसे मत कह। क्या हमारे कृष्ण ऐश्वर्यके भूखे हैं—कि वह राज्य मिलनेसे वहाँ रह जायेंगे? क्या उनको दुश्मनोंका डर था, डरके मारे यहाँ आयें? क्या वे कामी हैं—कि राजकुमारियोंके विभ्रममें फँस जायेंगे? क्या वे मोही हैं, कि सगे-सम्बन्धी उनको फँसा लेंगे? राम-राम! हमारे प्यारे कृष्णके बारेमें तू ऐसी फालतू बात बकती है।

किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः।
श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः॥ ४६॥

अरी सखी! श्रीकृष्णको तू जानती नहीं—कि वे कैसे हैं? **श्रीपते**—जो श्रीपति हैं; उनको क्या राज्यकी इच्छा हो सकती है? जो महात्मा हैं, उदार हैं—वे क्या शत्रुसे डरकर भाग सकते हैं? जो कृतात्मा हैं, उनको हमरी या राजकन्याओंकी जरूरत होगी? जो आप्त-काम हैं, जिनकी सारी कामनाएँ अपने आप पूरी हैं—वे क्या राजकुमारियोंके प्रेममें फँस सकते हैं? अरे बाबा! कृष्ण महात्मा हैं। उनको न हमारी जरूरत है, न किसी राजकुमारीकी। देखो, इसका ढंग दूसरा हो गया। पहली जहाँ दूसरे ढंगका व्यंग्य कर रही थी, वहाँ दूसरी दूसरे ढंगसे बोल रही है।

किमस्माभिर्वनौका—अरी सखी! हम क्या हैं? वनौका हैं। वनमें जिसका घर हो—सो वनौका। वनौकस माने घर होता है; माने हमारे तो रहनेकी ऐसी जगह भी नहीं है, जहाँ छप्परकी भी छत हो। श्रीकृष्णके लिए गोपियोंने सब छोड़ दिया। वे वन-वासिनी बन गयीं और बनमें भी उनको शान्ति नहीं मिलती थी। घर तो काटनेको दौड़ता था और वन? उसमें तो वे बेहोश हो जाती थीं; उनको नशा हो जाता था। गोपियोंके लिए बिना कृष्णके न घर सुहाता था, न वन सुहाता था।

वे कहती हैं—कि अरे! वे तो महात्मा हैं भाई! बड़े उदारचित्त हैं। उसका ब्रह्मचर्य, उसकी असंगता, सबके साथ समताका भाव तो देखो! एक बार कृष्णका ध्यान तो करो। कितना उदारचित्त है, कितना जितेन्द्रिय है। सम्पूर्ण जगत् उसका आदर करता है। वे स्वयं श्रीपति हैं। लक्ष्मी श्रीकृष्णके किसी भी अंगको छोड़कर क्षण भरके लिए भी हटती नहीं। और कामना? कामना तो उनके पास पहुँचेगी कैसे? वे संसारी लोग होते हैं, जो स्वयं जैसे होते हैं, दूसरोंके बारेमें दूसरी कल्पना कर ही नहीं सकते। वे कहते हैं—जैसे हम किसीसे-किसी-न-किसी मतलबसे मिलते हैं, वैसे महात्मा भी किसी-न-किसी मतलबसे किसीसे मिलते हैं। आपको याद होगा—मैंने सुनाया है कई बार कि एक मैदानमें कुछ मांसके टुकड़े पड़े हुए थे और चील-कौए उनको खा रहे थे। इतनेमें उन्होंने देखा कि उत्तर दिशासे हंसोंकी पंक्ति उड़ती चली आरही है। उन्होंने कहा—देखो भाई! यह मांसका हमारा टुकड़ा हंस हमसे छीन लेंगे और खा जायेंगे। तब? अपने-अपने मांसके टुकड़े मुँहमें दबाओ और यहाँसे भागो। जब वे टुकड़े मुँहमें दबाकर भागने लगे, तो हंसोंने कहा——कि हे चीलो। हे कौओ! हम मानसरोवरके वासी हैं। हम कमलका रस पीते हैं, मोती चुगते हैं; हम मांस-भक्षी नहीं हैं। तुम आनन्दसे अपना भक्ष्य-भोज प्राप्त करो।

भाई! संसारी लोग जो हैं, उनको संसार ही सबसे कीमती दीखता है। वे ब्रह्मकी बात, परमात्माकी बात, वैराग्य—योगकी बात नहीं समझ सकते। एक विरक्त माता थीं—बड़ी सुन्दरी। उनके पास कोई कामी पुरुष आया, बोला—आप बहुत सुन्दर हैं। उन्होंने पूछा—क्या सुन्दर लगा तुमको? कि बाल आपके बड़े सुन्दर हैं। माताने कैंचीसे काटकर दे दिये—लेलो। दाँत बहुत सुन्दर हैं; कि लो! तोड़कर देती हूँ। तो बोले—चाम तुम्हारे बहुत अच्छे। भर्तृहरिके श्लोक सुनावें, तो ग्लानि हो जावेगी सुनकर कि शरीरमें क्या-क्या भरा पड़ा है—जिसे लोग समझते हैं, कि बड़ा कीमती है। हमारे सरीखा और कौन? सब हमारे ऊपर लट्टू!

तो श्रीकृष्ण श्रीपति हैं, आप्तकाम हैं, कृतात्मा हैं। भागवतमें महाराज! ऐसा डाँटा है—

तमयं मन्यते लोको ह्यसङ्गमपि सङ्गिनम्।
आत्मौपम्येन मनुजं व्यापृण्वानां यतोऽबुधः॥

भा. १.११.३७

ये मूर्ख लोग कृष्णको क्या समझते हैं? यह असंग है, यह देखनेमें प्राकृत है। वस्तुतः यह अप्राकृत, वेद्य, चिन्मय, निर्गुण पुरुष है। सोलह हजार राजकुमारियाँ अपने हाव-भाव, कटाक्ष, शृंगार, नखरे—सब करके हार गयीं, लेकिन श्रीकृष्णको कभी उत्तेजना नहीं हुई। कभी कामने उनका स्पर्श नहीं किया। भागवतमें वर्णन आया है—कि जब कामदेवने देखा श्रीकृष्णका सौन्दर्य, तब वह ऐसा सम्मोहित हुआ, कि उसने अपना धनुष-बाण उठाकर फेंक दिया। क्यों? बोले—अब हमारी क्या जरूरत? भागवतमें बताया है—जिनके सौन्दर्यको देखकर कामदेवने धनुष-बाण छोड़ दिया—वे प्रमदोत्तमाएँ, उत्तम प्रमदाएँ श्रीकृष्णके चित्तमें क्षोभ उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हुईं। कहाँ प्राकृत-अप्राकृत, मधुर-मधुर कल्पनात्मक, अप्राणी देवियाँ और कहाँ सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन—जिसके एक इन्द्रियमें सारी इन्द्रियाँ समायी हुईं, जिसका शरीर जड़का नहीं आनन्द-घन! उस श्रीकृष्णको भोगके लिए क्या संसारकी वस्तु अथवा स्त्रियाँ चाहिए? क्या उसके लिए कोई प्रयोजनीय है? क्या उसके लिए संसारकी किसी वस्तुकी जरूरत है?

बोले—भाई! उसको जरूरत नहीं है, तो तुम्हीं क्यों नहीं छोड़ देते? जब जानते हो कि उसको जरूरत नहीं है, तो तुम बेजरूरत हो जाओ। बोले—यह जो तुम हमको सिखा रहे हो, यह भी हमको मालूम है।

परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया॥ ४७॥

ऐ पिङ्गला! यद्यपि **स्वैरिण्यप्याह अनधिकारी; अपि** शब्दका अर्थ है—कि पिंगलाको यहाँ अधिकार नहीं था कि वह किसीको उपदेश करे। वह स्वयं स्वच्छन्दचारिणी थी—**स्वैरिणी पिङ्गला अपि आह;** परन्तु उसने भी अपने अनुभवके बलपर यह बात कह दी। विदेहनगरमें रहती थी पिंगला। एक दिन उसने देखा उत्तात्रेयजी को—कि भाई, बड़ा ही सुन्दर पुरुष है। सामने ही पिंगलाका घर था। एक हवाका झोंका आया और दत्तात्रेयजी के शरीरको छूकर पिंगलाकी देहरीमें घुस गया। दत्तात्रेयजीके शरीरकी हवा पिंगलाको लगी; विचारा—कि क्या देख रही है? किसकी प्रतीक्षा कर रही हो? और कोई आवे, और कोई आवे। **परं सौख्यं हि नैराश्यं**—निराश हो जाना—यह परम सुख है। और उसके बाद वह तान दुपट्टा सो गयी, उसे नींद आगयी। अब कोई आवे, चाहे न आवे। आशा शब्दका अर्थ संस्कृतमें दिशा भी होता है—दाहिने-बायें, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे। क्या है? कि आशा है। स्वर्गकी आशा है, पातालकी आशा है। आशा न हो, तो क्यों भटके आदमी? इसीको आशा बोलते हैं, और जहाँ जाओगे—वहाँ यह तुम्हारे दिलको दुःख पहुँचावेगी। आशा पिशाची लोगोंको रौंद रही है। उसका तो पेट कभी नहीं भरता। गुजरातीमें एक पुस्तक छपी थी न—बहुत बढ़िया; 'चन्द्रकान्त वेदान्त' हिन्दीमें उसका बहुत बढ़िया अनुवाद हुआ था पहले। उसमें आशा पिशाचीपर भोजन कराकर पेट नहीं भरनेकी कथा है—कि भोजनसे आशा पिशाचीका पेट नहीं भरता। तो यह आशा जो है न, बड़ा दुःख देती है। गोपियाँ कहती हैं—हम जानती हैं। हमको क्या उपदेश करते हो, पण्डितजी! लेकिन **नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया**—परन्तु वह हमारा कृष्ण, हमारा कन्हैया, साँवरा-सलोना; उससे मिलनेकी जो आशा है—कि एक-न-एक दिन वह हमको मिलेगा; बस, इसीसे साँस चल रही है। इसीसे शरीर टिका हुआ है; इसीसे अन्तःकरण उड़ नहीं जाता शरीरसे। यह आशा जुड़ी हुई है—कि एक-न-एक दिन यह मिलेगा। फिर यह है, कि उसको कोई छोड़ नहीं सकता।

दूसरी गोपीने कहा—केवल आस ही नहीं लगी है, है तीनों लोकमें किसीमें ऐसी ता ़त, जो कृष्णको छोड़ सके? अरे बाबा, आँखने जबतक देखा नहीं है, तबतक इधर-उधर भटकती हैं। जिसने देख लिया, वह उसे छोड़ नहीं सकता।

❋

बावनवाँ प्रवचन

क उत्सहेत संत्यक्तुमुत्तमश्लोक - संविदम्।
अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित्॥ ४८॥

गोपियोंने कहा, कि उद्धवजी! हमारे ज्ञानमें कोई त्रुटि नहीं है। हम जानती हैं, कि आशासे निराशा अच्छी है। सांख्य दर्शनका सूत्र है—जो किसीकी आशा न करे, वह सुखी रहता है; जैसे पिंगला सबकी आशा छोड़कर सुखी हो गयी। दुनियामें लोग आशाके धागेमें बँधे हुए ही भटक रहे हैं। और निराश जो हैं वे? अपने घरमें मौजसे बैठे हैं। परन्तु कृष्णके बारेमें कुछ उलटा हो गया—

तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया।

निराश सुखी होता है—यह पिंगलाकी बात हमें ज्ञात है, फिर भी कृष्णकी आशा नहीं छूटती है। ऐसा लगता है कि कृष्ण अपना वादा पूरा करेंगे; वे मिलेंगे।

मनमें आया—कि उद्धव कहेंगे कि श्रीकृष्णको ही भूल जाओ। तब उनकी आशा छूट जायेगी। उद्धवजी ऐसा कहते नहीं हैं, परन्तु प्रेमका यह स्वभाव ही है, कि उसमें स्वयं विपक्षकी भी उद्भावना हो जाती है। प्रेमी लोग स्वयं अनिष्टकी आशंका कर लेते हैं। तो उद्धवजी कहेंगे कि कृष्णको ही भुला दो तो आशा नहीं रहेगी। और आशा नहीं रहेगी, तो स्मरण भी चला जायेगा। **स्मरो वावाकाशाद् भूयान्**—छान्दोग्योपनिषद्में है।

तो गोपियाँ कहती हैं—ऐसा कोई नहीं है सृष्टिमें, जो कृष्णसे निराश हो जाय। वह तो कल्पतरु है, चिन्तामणि है—

क उत्सहेत संत्यक्तुमुत्तमश्लोक संविदम्।

कः उत्तमश्लोक संविदम् संत्युक्तुम् उत्सहेत, न कोऽपि इत्यर्थः—एक बार श्रीकृष्णसे रिश्ता जोड़कर, उनकी आत्मीयताका ज्ञान प्राप्त करके—कि ये हमारे हैं और हम उनके हैं; उनके सौन्दर्य, माधुर्य, प्रियता, उनके स्नेहका ज्ञान प्राप्त करके फिर उन्हें छोड़नेका उत्साह करे—ऐसा सृष्टिमें कौन है? **न कोऽपि**—माने चुनौती है। आओ, एक बार उनके साथ आँख मिला लो, आओ—एक बार उनके हृदयसे लग लो, आओ—एक बार उनके साथ सम्बन्ध जोड़ लो। फिर छोड़नेकी कोशिश तो करो; नहीं कर सकते।

अब देखो **कोऽपि**की ध्वनि बताते हैं। **कोऽपि पुमान् संत्यक्तुम् उत्सहेत?** कोई ऐसा पुरुष है, जो छोड़नेका उत्साह करेगा? **का पुनः स्त्री?** जब पुरुष ही एक

बार कृष्णके साथ सम्बन्ध जोड़कर उनको छोड़नेका उत्साह नहीं कर सकता—छोड़ नहीं सकता, ऐसा नहीं कहते हैं माने उसके मनमें यह कल्पना ही नहीं हो सकती कि अब मैं कभी इसको छोड़ सकूँगा, तो **कोऽपि पुमान् संत्यक्तुम् उत्सहेत**—यदि **पुमान् एव संत्यक्तुम् न उत्सहेत क पुनः स्त्री, न उत्सहेत इत्यर्थः**—ब्रह्मा भी अपने चित्तमें नहीं सोचा सकते, कि हम एक बार अपने बने हुए कृष्णके सम्बन्धको छोड़ दें या कृष्णके सम्बन्धमें हमारी जो जानकारी है—उसको छोड़ दें। यह **उत्तमश्लोक** सम्बोधन है न! तो **संविद्**—शब्दके दो अर्थ ले लिए—सम्बन्ध और ज्ञान। सुबोधिनीजीने संवित् शब्दके दो ही अर्थ किये हुए हैं—सम्बन्ध और ज्ञान।

अब देखो! **संत्यक्तुम् उत्तमश्लोक संविदम्**—तो उत्तमश्लोक हैं भगवान्। **उत्तमश्लोको यस्य**—कि जिसकी महिमा वेद-शास्त्र-पुराणमें उपश्लोकित की गयी है, जिसका यश उत्तम है—उसका नाम है उत्तमश्लोक—**उत्तमै श्लोक्यते इति**। जिनका अज्ञान निवृत्त हो गया है—वे ब्रह्मज्ञानी पुरुष जिनकी स्तुति करते हैं, उन श्रीकृष्णकी संवित्—माने प्रतिज्ञापत्र, दस्तावेज, पट्टा—जो उन्होंने लिख दिया है। संवित् माने परस्पर जो प्रतिज्ञा होती है न, वह। श्रीकृष्णकी क्या प्रतिज्ञा है? कि

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

जो जिस भावसे मेरा भजन करते हैं, उसी भावसे मैं उनका भजन करता हूँ। दुर्वासाके सामने भी उन्होंने प्रतिज्ञा की है। अब यह शंका भी उठ सकती है न, कि कृष्ण अपनी प्रतिज्ञा करके मुकर जाते हैं, मना कर देते हैं, कुरुक्षेत्रके रणांगणमें प्रतिज्ञा की—कि मैं शस्त्र नहीं उठाऊँगा, परन्तु जब अर्जुनपर विपत्ति आयी, तो अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर अर्जुनकी रक्षा करनेके लिए, और अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर अपने भक्तराज भीष्मकी प्रतिज्ञा सम्पूर्ण करनेके लिए भक्तवत्सल प्रभुने **स्वनिगममतं विहाय मत्यप्रतिज्ञां हरितमश्नुते**—ऐसे भक्त-वत्सल हैं प्रभु! तो यह ऐसा है—कि भगवान् कोई प्रतिज्ञा करें और बीचमें कोई भक्त आड़े आजाये, तो तोड़ सकते हैं। बोले—कि अच्छा, मेरी प्रतिज्ञा तो टूट सकती है, मेरे भक्तकी प्रतिज्ञा तो नहीं टूटती। नहीं, भक्तकी प्रतिज्ञाकी तो आप रक्षा करते हैं। तो अर्जुनसे बोले—

कौन्तेह प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।

मे मम भक्तः न प्रणश्यति इति हे कौन्तेय, त्वं प्रतिजानीहि—तुम प्रतिज्ञा करो—कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता। मेरी बात जब काट दें, विश्वास न करें—तो तेरी बातपर तो विश्वास करेंगे न!

व्रजवासी लोग कभी-कभी झूठ बोल देते हैं। इसीसे अर्जुनने खूब ठोक-पीटकर कृष्णसे प्रतिज्ञा करायी—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

अर्जुनने कहा—**कश्चिद्**। बिना विवशता हुए क्यों सत्यं बोलेंगे? बोले—बाबा! तुम्हारे सत्यका भी कोई ठीक नहीं है। तो बोले—**ते प्रतिजानि**—तुम्हारी सौगन्ध खाता हूँ। बोले—कि न, झूठी सौगन्ध खाते हो! ग्वाले हो न! बोले—**प्रियोसि मे**—बाबा! तू मेरा प्यारा है। दुश्मनके साथ कभी झूठ-मूठ करलें, तो करलें, तेरे साथ नहीं करेंगे। दुर्वासासे भगवान्ने प्रतिज्ञा की; क्या?

साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

भा. ९.४.६८

उन्होंने प्रतिज्ञा की—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

भा. ९.४.६३

देखो, प्रतिज्ञा कैसे की—

नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना।

अपने भक्तके बिना मैं खुश नहीं। अगर भक्त मेरे लिए मरते हैं, तो मैं भक्तोंके लिए मरनेको तैयार हूँ। मैं उस दिनकी कल्पना ही नहीं करता—कि मैं अपने भक्तके बिना रहूँगा। भक्तके बिना भगवान् कैसे?

शंकराचार्य भगवान्ने एक जगह ऐसा बढ़िया लिखा है—प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं। यह गीतामें श्लोक है न! बोले—ऐसा क्यों नहीं मानते, कि पहले प्रकृति भी नहीं थी, पुरुष भी नहीं था? बोले—यदि जीव और प्रकृति नहीं होंगे, तो ईश्वर किसका ईश्वर होगा? किसका मालिक होगा? तब तो ईश्वरकी ईश्वरता ही नष्ट हो जायेगी। गीतामें तेरहवें अध्यायमें जो कहा है, वह देखने लायक है—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि (आदि)

यह प्रकृति भी अनादि है और जीव भी अनादि है। जब जीव और प्रकृति नहीं रहेंगे, तो ईश्वर अपना हुक्म किसपर चलावेगा? जब प्रजा ही नहीं, तो राजा कैसा?

एक सज्जनने एक बार आकर हमको बताया कि हम हेडमास्टर हैं स्कूलमें। दादाने पूछ लिया कि कितने मास्टर आपके स्कूलमें पढ़ाते हैं? वे बोले—कि सो तो मैं अकेला ही हूँ। वृन्दावनमें एक पण्डित आये। एक बार दक्षिणा देनेके लिए पाठशालाओंसे आमन्त्रित किये गये थे, तो वे पण्डित भी आये; बोले—मैं अध्यापक हूँ पाठशालामें। उनसे पूछा कि आपकी पाठशालामें कितने विद्यार्थी पढ़ते हैं? तो बोले—विद्यार्थी तो कोई नहीं।

वज्रनाभको जब कहा गया न, कि तुम मथुराके राजा होओ, तो उसने राजा होनेसे मना कर दिया था। परीक्षितने उसका अभिषेक करना चाहा, तो वे बोले—हम मथुराके राजा नहीं होंगे; जहाँ प्रजा नहीं, वहाँ राजा कैसा?

भगवान् कहते हैं—**नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना**—अगर मेरा कोई भक्त नहीं दुनियामें, तो मैं भगवान् किसका बनूँगा? माने भगवान् भक्तके साथ रहते हैं—यह उनकी प्रतिज्ञा है। यह तो सामान्य भक्तोंके साथ प्रतिज्ञा है। अब गोपियोंके साथ भी भगवान्की प्रतिज्ञा है। क्या प्रतिज्ञा है? कि कृष्ण हाथ जोड़कर खड़े हो गये। **पीताम्बरधरः**—गौड़ीय भक्त कहते हैं—केवल 'पीताम्बर' बोलना चाहिए था। शुकदेवजीको—**पीतम् अम्बर यस्य, पीताम्बरः। पीताम्बरधरः** क्यों बोले? पीताम्बर कन्धेपर डालकर, दोनों हाथोंसे अञ्जलि बाँधकर गोपीके सामने उपस्थित हुए और बोले—गोपियो! मैं तुम्हारा ऋणी हूँ। पीताम्बर हाथसे पकड़कर—पीताम्बरधर। जैसे कोई कर्जदार आदमी कर्ज देनेवालेके पास जाय, गलेमें अंगोछा डालकर, कहे—कि हमारा कर्ज माफ कर दो।

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।

गोपियो! तुमने हमसे प्रेम किया है। कैसा प्रेम? कि निरवद्य, निष्कपट प्रेम तुमने किया है। तुमने अपनेको मेरे साथ मिला दिया। घरसे, कुटुम्बसे, पति-पुत्रसे, लोक-परलोकसे, धर्म-मोक्षसे; किसीसे नहीं मिलाया, निष्कपट भावसे अपनेको मुझसे मिला दिया।

प्रेम वह होता है, जिसमें बदला चुका देनेकी भावना नहीं आवे कभी। अगर यह कहें—कि भाई, सात लड्डू भेजे हैं, तो हम उनके घर आठ लड्डू भेज दें, तो लड्डूका बदला लड्डूसे चुक जाता है। प्रेमका बदला लड्डूसे नहीं चुकता है। न पाँव दबानेसे चुकता है प्रेमका बदला; न सर्वस्व देनेसे, न शरीर देनेसे, न दिलमें पास होनेसे प्रेमका बदला चुकता है। प्रेमकी कीमत किसी चीजसे, किसी क्रियासे नहीं चुकती है। तब? भगवान्ने कहा—मैं तुम्हारा कर्जदार हूँ। ब्रह्माकी आयु भर भी

यदि तुम्हारी सेवा करता रहूँ, तो तुमसे उऋण नहीं। देखो न! कैसी बात वह कहता है—**चन्द्रलेखां विना गतिः**—जैसे चकोर चन्द्रलेखाके बिना नहीं रह सकता, वैसे राधिके! मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकता। ऐसी बात करनेवाला जो कृष्ण है, उसने **रहसि संविदम्**—कैसी बढ़िया संविदा करके बातचीत करके, आलापकर हमारे साथ सम्बन्ध जोड़ा है। यहाँ गोपियाँ दृष्टान्त देती हैं। किसका? कि श्रीका—

अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित्।

नहीं चाहते श्रीकृष्ण लक्ष्मीको! यह गोपियोंको मालूम है—कि श्रीकृष्णको श्री नहीं चाहिए, गोपी चाहिए। यह बात गोपियोंने बारम्बार कही। कृष्णकी प्राप्तिके लिए लक्ष्मी व्याकुल होती हैं, और गोपियोंकी प्राप्तिके लिए कृष्ण व्याकुल होते हैं। याद कर हे हैं मथुरामें बैठकर—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः॥

श्रीकृष्ण मथुरामें बैठकर जब गोपियोंके बारेमें सोच रहे हैं, तो उनके मनमें गोपियोंके प्रति कितनी प्रीति है!

गोपियोंको कृष्ण चाहते हैं और लक्ष्मी कृष्णको चाहती है। श्रीकृष्णके चरणारविन्दकी रज पानेके लिए लक्ष्मीने तपस्या की। उन्होंने कहा कि हमको चरणोंमें स्थान दो। भगवान्‌ने कहा—वहाँ सौत है—तुलसी, पहलेसे; हमारे साथ विवाहित है—अविवाहित थोड़े ही है। भीड़ है वहाँ—**भृत्यजुष्टम्**—हर समय चरणोंमें सेवक लोग रहते हैं। एकान्त कभी नहीं मिलेगा वहाँ। मंजूर है? लक्ष्मीने कहा—हाँ, मंजूर महाराज! हमको तो चाहिए आपके चरणोंकी रज। लक्ष्मीने वरण किया न, सब कुछ छोड़-छाड़कर! **यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्तः।**

अब देखो, **अनिच्छतोऽपि**—भगवान् तो विरक्त हैं। अमृत निकला न; समुद्र-मन्थन हुआ। लक्ष्मीजी प्रकट हुईं समुद्र-मन्थनके समय। समुद्र माने मुद्रावाला; जिसके पास मुद्रा-धन ज्यादा हो; रत्नाकर। धनी बापकी बेटी हैं लक्ष्मी। बुद्धिमान भी हैं; चुनाव करते समय सबको पछाड़ दिया। ब्रह्मा बूढ़े हैं, रुद्र संहारक हैं, दुर्वासाको क्रोध आता है—इत्यादि। चुनाव करती हैं—तो बुद्धिमान भी बहुत हैं। सुन्दर भी हैं; सैंकड़ों जने उनके पीछे घूमते हैं। बड़े बापकी बेटी हैं, बड़ी बुद्धिमती हैं और बड़ी सुन्दरी है। ऐसे स्त्रीको अगर पति न चाहे, तो वह भी नहीं चाहती है—कि जाओ, तुम हमको नहीं चाहते हो, तो हम भी तुमको नहीं चाहते। दुनियामें ऐसा होता है। श्रीवल्लभाचार्यजीने लिखा—**प्रौढापि**—अत्यन्त प्रौढ़ हैं; और

विष्णु भगवान्‌को छोड़कर चली जायँ, तो समुद्र अपना स्थान दे सकता है। रत्नाकरमें रहेंगी और ब्रह्मादि चाहते रहेंगे। उनके सौन्दर्यका लोप नहीं होगा। लेकिन महाराज, ऐसा प्रेम है कृष्णके साथ, कि कृष्ण तो कहते हैं—हटो-हटो! **अनिच्छतोऽपि**, परन्तु श्रीजी—**अङ्गान्न च्यवते क्वचित्**—श्रीकृष्णके अंगको छोड़कर एक क्षणके लिए भी नहीं हटतीं। च्युत नहीं होतीं, चूकती नहीं है। च्यवतेका अर्थ है—चूकती नहीं है, हर समय पकड़े रहती हैं। क्यों? कि यह श्रीकृष्णके अंगकी महिमा है।

यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित्। सबकी आश्रयभूता, स्वयं सौन्दर्य, माधुर्य और मृदुमा आदिकी अधिष्ठात्री देवी, स्वयं भगवतीश्री, न चाहनेवाले निष्काम भगवान्‌के अंगका आश्रय लेकर रहती हैं। और **स्वभावो च चलापि**—स्वभावसे तो चल हैं न, तथापि कृष्णके अंगको नहीं छोड़तीं। जब लक्ष्मी नहीं छोड़ती हैं, तो और दूसरा कौन है, जो श्रीकृष्णके चरणारविन्दको छोड़ सके? उनके सम्बन्धको छोड़ सके, उनके ज्ञानको छोड़ सके, उनसे प्रेमकर उनको छोड़ सके। तुम कहते हो—कि भूल जाओ। कैसे भूलें? एक बार जो कृष्णके फंदेमें फँस गया, वह उसे छोड़ नहीं सकता। श्रीमद्‌भागवतमें इसका प्रसंग है—

स्मरन् मुकुन्दान् धृतजीवनं पुनः

आँख बन्द कर लो और देखो मुरली मनोहर, पीताम्बरधारी, व्रजराजकुमारको। उनके चरणारविन्दको लगाया हृदयसे और दोनों हाथोंसे पकड़कर दबाया। बोले—ऐसा मजा आया, ऐसा रस आया, कि छोड़नेकी इच्छा ही नहीं होती। स्मरण है, यह ध्यानकी मूर्ति है। क्या ध्यान हुआ? कि श्रीकृष्णके चरणारविन्दका स्मरण हुआ, फिर छोड़नेकी इच्छा मिट गयी। क्यों? कि **रसग्रहो यतः**; वह रसका चस्का लगा महाराज, कि बारम्बार उनके चरणारविन्दको हृदयसे लगाते रहो। सम्पूर्ण सौन्दर्य जिनके विशाल उभरे हुए वक्षस्थलपर निवास करता है और जिनका मुखारविन्द तो आँखोंका प्याला है। जैसे लोग प्यालेसे मधुपान करते हैं, वैसे आँखें श्यामसुन्दरके मुखारविन्द रूप प्यालेसे मधुपान करती रहती हैं। देखो तो देखते ही रह जाओ!

पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया।

जैसे आँखोंसे पीना चाहते हों, जीभसे चाटना चाहते हों, हाथोंसे पकड़कर उनको हृदयसे लगा लेना चाहते हों। भगवद्‌रस कोई साधारण रस है? एक बार जिसके हृदयमें इसने प्रवेश किया, जिसके नेत्रमें प्रवेश किया, जिसके मनसे

सम्बन्ध जुड़ा, जिसकी बुद्धिने इसके सौन्दर्य, माधुर्यको जाना, वह इसको छोड़ नहीं सकता। **क उत्सहेत संत्यक्तुम्,** छोड़नेकी कल्पना ही नहीं होगी मनमें; संकल्प ही नहीं होगा, छोड़नेका तो प्रसंग ही अलग है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि हम अब कृष्णको नहीं छोड़ सकते हैं। उद्धवजी कहेंगे—कि गोपियो! थोड़ा घूम-फिर आओ बाहर। हर समय घरमें बैठी रहती हो, तो बैठे-बैठे तुम्हारा मन कृष्णमें लगा रहता है। थोड़ा जमुना-किनारे घूम आओ, गिरिराजपर हो आओ, गायोंकी देखभाल करो, अपने भाइयोंकी सँभाल करो।

बोलती हैं गोपियाँ—एक-एक चीज ऐसी है, जिसपर श्रीकृष्णने अपनी मुहर लगा दी है। हमारे वृन्दावनमें कोई चीज ऐसी नहीं है, जिससे श्रीकृष्णका सम्बन्ध न हो।

पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्द गोपसुतं बत।

बार-बार याद आती है—

सरिच्छैल बनोद्देशा गावो रेणुरवा इमे।
संकर्षण सहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो॥ ४९॥
पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्द गोपसुतं बत।
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः॥ ५०॥

गोपियोंने कहा—उद्धव! तुम हमारे प्यारे प्रभुके, प्राणनाथके भेजे हुए हो। तुम हमारे प्राणोंके स्वामी हो। तुम चाहो तो हमारे प्राणोंको बचा भी सकते हो। हम देखती हैं, जमुनाजी बह रही हैं—सरित्। हम घरसे निकलें और नदीके तटपर जायँ, तो नदीको देखकर क्या हम कृष्णको भूल जायेंगी? आप ऐसा समझते हैं? **आचरिताः**—इस नदीका भोग कृष्णने किया है; आचरिताः माने भुक्ता। **सरिच्छैलवनोद्देशा संकर्षण सहायेन कृष्णेन आचरिताः, सेविता, उपभुक्ता।** इस नदीका भोग किया है कृष्णने। और सबसे ज्येष्ठ तो यही है हम लोगोंमें। जब वसुदेवजी कृष्णको लेकर गोकुल गये न, तो सबसे पहले जमुनाजीने अपना ऐश्वर्य दिखाया। जब श्रीकृष्णने अपने चरणसे छू दिया, आलम्बन मिल गया न, भगवान्के चरणोंकी शरण जमुनाजीको मिल गयी, तो शान्त हो गयीं वे। अब उसके बाद, देखो, गोविन्द जमुनाजीके तटपर आकर क्रीड़ा करते हैं। उन्होंने जमुनाजीमें-से बाबाको बचाया, वरुणके रूपमें जाकर; वत्सल रस है यह। सख्य रसकी दृष्टिसे देखो, तो जुमनाजीके तटपर कालिय नागके विषसे सब ग्वाले मर

चुके थे; उनको कृष्णने बचाया। शृंगार रसकी दृष्टिसे देखो चीर-हरण जमुना तटपर हुआ। रासलीला जो है न, जलक्रीड़ा—जमुनाजीमें हुई। अरे जमुनाजी तो कृष्णका ध्यान करते-करते काली हो गयी। जब श्रीराधा कृष्ण—दोनों जमुनाजीमें विहार करते न, तो जब राधारानी डुबकी लगातीं, तो उनका उज्ज्वल वर्ण चमचम चमकता पानीमें और झट कृष्ण जाकर पकड़ लेते। और जब कृष्ण डुबकी लगाते, तो जैसा कृष्णके शरीरका रंग, वैसा ही जमुनाजीके जलका रंग—तो वे उनको छिपा लेतीं, कि जल्दी पकड़े न जायँ। ज्यादा देर तक हमारे अन्दर डूबे रहें, राधारानी पकड़ें ही नहीं—ऐसे।

वह सरिता—**नद्याः प्रसन्नसलिला**—जिस दिन श्रीकृष्णका जन्म हुआ, अपने सलिलको निर्मल करके उन्होंने श्रीकृष्णके प्रति अर्पित किया।

शैल—श्री गिरिराज गोवर्धन हैं न, ये तो हरिदास हैं—

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो यद् रामकृष्णचरण स्पर्श प्रमोदः। मानं तनोति।

गिरिराज—जिसे सात दिन उठाकर अपने बायें हाथपर रखा—उस गिरिराजके पास, श्रीकृष्णको भुलानेके लिए चलें? जरा गिरिराजकी तलहटीमें हो आवें? हम गिरिराजको देखेंगी और श्रीकृष्णको भुला देंगी? ऐसा कभी सम्भव है?

वनोद्देशा—वनका एक-एक स्थान! इस कदम्बपर बैठकर बाँसुरी बजायी; इसके नीचे बैठकर विश्राम किया; यहाँ प्रथम मिलन हुआ; यहाँ अनुराग हुआ; यहाँ लीला हुई। और **गावो**—गौओंको तो चराते थे श्रीकृष्ण। उनको हम देखें और श्रीकृष्ण भूल जायँ? ऐसा हो सकता है? जो वंशी-ध्वनि सुनकर मुँहमें घासका ग्रास लिए ही रह जाती थीं—न उगलती, न निगलती; आँखोंमें आँसू और हृदयमें गोविन्द! वह दृश्य याद है हमें!

ब्रह्मानन्द और विषयानन्द—दोनों जिसके आगे फीके हैं, ऐसा आनन्द कृष्णका है। सामने देखते नहीं हो—यह हमारा भाई बेहोश पड़ा है। यह सुबह है, यह श्रीदामा है, यह स्तोककृष्ण है, यह मङ्गलीक भद्र है। ये दीख रहे हैं गोवर्धनकी तलहटीमें। और वे हरिण देखो—अपने आँसुओंके जल गिरा-गिराकर उनको होशमें लानेकी कोशिश कर रहे हैं। यह वंशीकी ध्वनि कानोंमें भरी रहे, ये हमारे ग्वाल-बाल बेहोश पड़े रहें, फिर गौएँ डकारती रहें, यह जमुना बहती रहें और ये गिरिराज खड़े रहें और यह वृन्दावन, ब्रजभूमि रहे तथा हम श्रीकृष्णको भूल जायँ!

संकर्षण सहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो।

यहाँ संकर्षण—बलरामजीके साथ कृष्ण रहे हैं। संकर्षण भी आकर्षक! एक तो स्वयं श्रीकृष्ण सबके सुखके आकर्षण, दूसरे उनकी मदद करने वाले संकर्षण भी हैं।

पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत।

हम नहीं जानते ब्रह्माको, नहीं जानते ईश्वरको। हम तो अपने नन्दबाबाके बेटेको जानते हैं। हम ऐश्वर्य-प्रिया नहीं हैं; पद देखकर प्रेम करनेवाली नहीं हैं। होगा कोई ब्रह्माका पद, कोई विष्णुका पद, शिवका पद! होगा कोई ब्रह्म।

चाकर नहीं हैं काहू ब्रह्म के बबा की हम,
सूधो कहि देती ऊधो कान्ह की कमेरी हैं।

हम किसी ब्रह्मके बाबाकी चाकर नहीं हैं। हम अपने कन्हैयाकी चेरी हैं, कमेरी हैं, कमकर हैं। हम उसकी सेवा करनेवाली हैं—**नन्दगोपसुतं बत।** हमारा प्रेम वसुदेवनन्दनसे नहीं है।

न नाम प्यारा यदुनाथ है हमें।
अनन्यता से हम हैं ब्रजेश की॥

वियोगिनी हैं हम, पागल हैं कृष्णके लिए। हम नहीं छोड़ सकतीं उसे—

श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः।

हमें तो ऐसा लगता है, कि जहाँ आँख पड़ती है—वहीं यह श्यामसुन्दर इधरसे गया, इधरसे गया है। हमको तो ऐसे लगता है कि चारों ओर उसके चरणचिह्न ही चरणचिह्न हैं। और श्री इसमें डेरा डालकर पड़ी हैं। कृष्णके ये जो नन्हें-नन्हें चरण चिह्न हैं, उनके कारण ऊधो, हम क्षण भर भी श्रीकृष्णको भूल नहीं सकतीं। उनका विस्मरण हम नहीं कर सकतीं।

यह विस्मरण-वियोगकी जो लीला है—यह प्राणियोंके लिए इतनी कल्याणकारिणी है—कि हमारे मनमें कभी वियोग उतर आवे श्रीकृष्णका, तो बस! समझो—अब श्रीकृष्णके रास्तेपर चल पड़े, भगवान्‌के मार्गमें चल पड़े। जिनको वियोगका दुःख नहीं होता, उनको संयोगमें स्वाद भी नहीं आता। जो धूपमें चलता है न, उसको जलकी शीतलताका पता चलता है। वैसे तो राधा-कृष्ण युगल सरकार नित्य मिले हुए हैं, श्रीनित्य वृन्दावन धाममें निवास करते हैं, परन्तु यह जो वियोगकी लीलाका वर्णन है, वह प्राणियोंके कल्याणके लिए है—कि रागानुगा भक्तिकर उनके सरीखा प्रेम अपने हृदयमें उतारकर भगवान्‌की ओर अग्रसर होवें।

❋

तिरपनवाँ प्रवचन

देखो, जब सगुण साकारका ध्यान करना पड़ता है न, तो मन थोड़ा जमता नहीं। साकारमें मनको रख सकना कठिन काम है। क्यों? कि इष्टदेव तो बदलते रहते हैं। आज साकारका ध्यान नहीं हुआ, तो कल निराकारका ध्यान करेंगे। जिससे साकारका ही ध्यान नहीं हुआ, उससे निराकारका ध्यान क्या होगा? साकारका ध्यान निराकारके ध्यानसे सरल है। क्यों? कि आप अपने इष्टदेवके स्वरूपको देखते हैं न! एक नीला-नीला, सुशील बालक सामने आजये, पीला कपड़ा पहने हुए; गोरोचनका तिलक लगाये हुए; घुँघराले बाल और मन्द-मन्द मुस्कान-युक्त। बोले—यही हमारा सौभाग्य है, इसीसे हमारा सुहाग है। यही हमारी समाधि है, यही हमारा ब्रह्म है। यह बड़ा सुगम है।

साकारका ध्यान कठिन क्यों? कि लोगोंका प्रेम होता है दूसरेसे और ध्यान करते हैं भगवान्‌का। जिससे प्रेम होगा, उसमें ध्यान होगा। बेटेका ध्यान करो, तुरन्त हो जायेगा। पतिका ध्यान करो, चाहे पत्नीका करो; होता है न! जब भगवान्‌से तुम्हारा प्रेम ही नहीं, संसारमें प्रेम बनाकर बैठे हो, तो भगवान्‌का ध्यान कैसे होगा? प्रेम है रुपयेसे और ध्यान करते हैं लक्ष्मीका—कि हे देवी! हमको रुपया दो। तो लक्ष्मीका ध्यान लगेगा? कैसे लगेगा? कि लक्ष्मी रुपया देगी। खनाखन, दोनों हाथोंसे गिरती जा रही है रुपया और हम उसका ध्यान कर रहे हैं। जिससे तुमको प्रेम होगा न, उस चीजको देनेवालेमें ध्यान लगेगा या जिससे तुम्हारा प्रेम है—उसका ध्यान होगा। ईश्वरका ध्यान बिलकुल नहीं हो सकता।

अब आप समझिये, आपकी गति-मति, आपकी प्रीति-रति कहाँ है? जिससे प्रेम होगा, उसका ध्यान होगा। या जो अपने प्रियतमको दिला देगा—पैसा या ब्याह जो करा देंगे, उनकी बार-बार याद आयेगी कि हाँ, इनको कैसे फँसावें कि हमारा ब्याह हो। ध्यानकी रीति यही है। बिना प्रेमके ध्यान नहीं हो सकता।

तब हमारे हृदयमें भगवान्‌से प्रेम आना जरूरी है, नहीं तो भगवान्‌का ध्यान नहीं होगा। साधकको ढोंग नहीं करना चाहिए। अगर वह झूठ ही कहने लगेगा—कि हम तो तीन घंटे ध्यान करते हैं, तो तीन मिनट तो ध्यान होता नहीं, तीन घंटेका नाम लेते हैं। ईमानदारीसे भगवान्‌का भजन करना चाहिए।

गोपियोंका प्रेम है श्रीकृष्णसे। यह तो सौभाग्यकी बात है कि कृष्ण अनावृत ब्रह्म हैं। जैसे एक आदमी अनजानमें गंगाजी पहुँच गया। उसने समझा, कोई नदिया—बह रही है; और उसने स्नान भी किया और अंजलि उठाकर जलपान भी कर लिया। वह तो अनजानमें गंगाजी पहुँच गया न! तो अनजानमें अगर कोई श्रीकृष्णके पास पहुँच जाये, और उनसे प्रेम करने लग जाये। वे तो कृष्ण ही हैं न! अनजानमें भी कोई अमृत पी ले—तो अमर हो जायेगा। अनजानमें भी कोई कृष्णसे प्रेम करले, तो उसको ब्रह्मकी प्राप्ति हो जायेगी। कृष्ण अनावृत ब्रह्म है और जीव जो है—वह आवृत ब्रह्म है। माने शास्त्र और महात्माओंने जिसको ब्रह्म बताया है, उसको ब्रह्म कहकर उन्होंने पर्दा हटा दिया। गौरसे देखो; यह खिड़की है न? इसमें-से आकाश कैसे दिखता है? कि चौखुटा। भीतमें-से क्यों नहीं दिखता है? भीतमें भी आकाश रहता है जैसा खिड़की में रहता है। भीतमें और खिड़की में कोई फर्क नहीं है। परन्तु भीतमें होनेपर भी आँखमें आवरण डालनेवाला एक मिट्टीका पर्दा पड़ गया है और खिड़की में-से पर्दा हटा दिया गया है। आकाश दोनों जगह है, पर खिड़कीमें-से आकाशका दर्शन होता है और दीवारमें-से नहीं होता। रस्सीके साँपको अगर गौरसे देखो—तो साँप मिट जायेगा, रस्सी रह जायेगी।

अच्छा, आओ प्रेमकी बात करें। गोपियाँ कृष्णसे प्रेम करती हैं, उनके अनुरागके रंगमें डूबी हुई हैं। सबको तो उपदेश किया जाता है—कि तुम कृष्णका स्मरण करो और गोपियोंको क्या उपदेश किया जा रहा है? कि तुम जरा कृष्णको भूल जाओ। गोपियाँ बोलती हैं—क्योंजी? तुम हमें कृष्णको भूलनेके लिए क्यों कहते हो? बोले—तुम उनकी याद कर-करके दुःखी रहती हो, इसलिए तुम्हारा दुःख मिटानेके लिए कहते हैं—कि भूल जाओ। दुःखकी दवा ही यह है, कि दुःखदायीकी याद ही न करो। संसारमें ज्यादातर दुःख मानसिक ही होते हैं; आप गौर करके देख लेना। पत्नीसे दुःख है, बेटेसे दुःख है, धन जानेसे दुःख है, प्रियके बिछुड़नेसे दुःख है, गाली देनेसे, मुकद्दमा चलनेसे—ये सब दुःख कहाँ रहते हैं? ये सब दुःख मानसिक हैं, मनमें रहते हैं।

यदि मन ही दूसरेके स्मरण-चिन्तनमें लग जाये और इन बातोंका स्मरण-चिन्तन भुला दे, तो दु:ख मिट जायेगा। दु:खकी दवा यही है—कि दु:खकी याद मत करो। तुम्हें यह समझमें आगया?

कि हाँ, समझ तो हमारी बड़ी भारी है। देखो, यह मनुष्यकी कमजोरी है—कि वह दूसरेके धनको और अपनी बुद्धिको किसीसे कम नहीं समझता। बोलो—ये तो बड़े बुद्धिमान हैं, बड़े भारी दार्शनिक हैं—ये तो तुमसे ज्यादा बुद्धिमान हैं, तो उत्तर मिलता है-इनको तो मैंने ही ढूँढ़ निकाला है; इनको जानता ही कौन था!

भाई! तुम्हारी बुद्धिमानी कहाँ है? बुद्धिमानीका लक्षण यह है, कि बचकाना काम मत करो। रोओ मत, दु:खी मत होओ। रोना बच्चोंका काम है। इतनी समझदार होकर तुम रोती हो?

बोलीं-क्या करें! हम भी तो चाहती हैं कि श्रीकृष्णको भूल जायें, लेकिन यहाँ उसकी याद दिलानेवाली इतनी चीजें हैं, कि उसे भूल जाना मुश्किल है। देखो, वृन्दावनकी महिमा ही यह है कि वह कृष्णकी याद दिलाता है। चैतन्य महाप्रभु वहाँ आये न, तो एक पण्डा उनके साथ हो गया। वे बोले—पण्डाजी, यह कौन-सा स्थान है? कि यह तो वह स्थान है—जहाँ कदम्ब पर झूला डालकर राधा-कृष्ण झूलते थे। एक दिन राधारानीका मोतियोंका हार टूट गया; मोती बिखर गये।

राधारानी रूठ गयीं—कि मैं तबतक नहीं झूलूँगी, जबतक हमें एक-एक दाना ढूँढ़कर नहीं दोगे। यहाँ कृष्णने मोती बीने हैं। तो एक मोती घट गया; उसे ढूँढ़नेके लिए बाँसुरीसे खोदा धरतीको, तो झील बन गयी। इसका नाम है मोतीझील। पूछा—मोती मिला कि नहीं मिला? कि नहीं मिला। तब? तब कृष्णने कहा—हम ऐसा पेड़ लगाते हैं, जिसमें मोती फलें। तो मोतियोंका पेड़ हो गया। उसमें मोती सरीखे फूल होते हैं। अब भला मोती झीलसे निकलें और कृष्णकी याद न आवे—ऐसा कैसे हो? चैतन्य महाप्रभुकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिरने लगे। वे किसी पुरातत्त्व-विद्वान्के पास पूछने नहीं गये—कि सचमुच यह वही जगह है—कि नहीं। यह मोतीझील वही है, कि नहीं। यह वही पेड़ है, कि नहीं। ऐतिहासिकोंका काम है अनुसन्धान करना और भक्तने जहाँ भगवत्-सम्बन्ध सुना-वहीं उसका हृदय द्रवित हो गया। भक्तों की दुनिया दूसरी होती है और पण्डितोंकी, विद्वानोंकी दूसरी।

वहाँ कृष्णने माटी खायी है, वहाँ चीर-हरण किया है, वहाँ रास-लीला की है। यह रमणरेती, यह रासचबूतरा, यह निधिबन, यह सेवाकुंज—भला बताओ, कैसे भूलें कृष्णको?

अब? बोलीं—उद्धवजी तुम कहते हो—कृष्णको भूलो। हम पानी पियें कि न पियें—बताओ। पानी लेनेके लिए जमुनाजी जाना पड़ता है। जमुनाजीको देखें, तो कृष्णको कैसे भूल जायें?

अच्छा, जायें तो आँख बन्द करके जावें, कि खुली रखकर जावें? कि खुली रखकर जाओ; बिना आँख खोले कैसे जाओगी? तो उद्धवजी! वे ऊँचे उठे हुए गिरिराजजी दिखायी पड़ेंगे कि नहीं? तो कृष्णको कैसे भूलें?

अच्छा, यह वन है। कदम्बका वृक्ष भी दिखायी पड़ेगा कि नहीं? लता दिखायी पड़ेगी कि नहीं? और ये देखो उनके चरणारविन्दके चिह्न; इसने तो हमारा मन छीन लिया! **कथं तं विस्मरामहे। विस्मर्तुं नैव शक्नुमः, श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः।**

श्रीनिकेत—उसके चरणचिह्न! भक्त लोगोंके लिए चरण-चिह्न बड़े महत्त्वके होते हैं।

देहभृतान् यानर्थान् त्यक्त्वा बंधनं विमुंच्य
सन्देशाब्ज हरेरविन्द - दर्शन - स्पर्शादिभिः।

इस शरीर धारणका इतना ही महत्त्व है—कि भगवान्‌के चरणारविन्दके चिह्न दिख जायें। मैंने देखा संकीर्तनमें—*हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—और पटापट भक्तजन धरतीपर गिरें प्रणाम करनेके लिए, लेकिन चश्मा बचा लें, कि कहीं धरतीपर न गिरे। कहीं हमें चोट न आजाये! ऐसे नहीं, दम्भसे, भयसे नहीं; प्रेमसे भगवान्‌के चरणारविन्द पर लोट-पोट हो जाओ, उनके चरणोंकी धूलमें नहा लो। व्रजकी यही महिमा है। रज न हो, तो व्रज क्या? व्रजमें रज-ही-रज है। मुसलमानी ढंगका शब्द है 'बरज'—जहाँ रज ही- रज होवे। यह तो ब्रह्मरज है। वृन्दावनमें एक ही चीज देखो कृष्णकी, वे लोट-पोट होते थे, चलते-फिरते थे इसी रजमें। कैसे भूलें कृष्णको?

उद्धवजीने कहा—सावधान गोपियो! मन तो सबका कुछ-न-कुछ करता ही है, जरा बुद्धि लगानी चाहिए। मन तो वासनाके अनुसार चला जाता है। अज्ञात जो संस्कार है चित्तके भीतर, उसके अनुसार मन चला जाता है। बढ़िया फूल देखा, तो तोड़नेका मन हो आया; बढ़िया फल देखा—तो खानेका मन हो गया।

क्यों हुआ? कि फूलमें सौन्दर्यकी कल्पना है, फलमें स्वादकी कल्पना है। एक बार ऐसा विलक्षण देखा मैंने, मैं नीमका दातून करता हूँ, बबूलकी मुझे पसन्द ही नहीं। एक रास्तेमें हम लोग चल रहे थे। हमारे साथके जो लोग थे, उनके सामने जो नीमका पेड़ आवे, उसीको देखें और बोलें—उसमें वह दातून अच्छी है, उसमें वह दातून अच्छी है। मैंने कहा—क्या करते हो भाई! दातून करनेको चाहिए एक और प्रत्येक पेड़को लालचकी नजरसे देखते हो। उसको तोड़ना चाहते हो। ऐसे मन खराब हो जाता है। जब मनमें कोई इच्छा होती है—तो आदमीका दिमाग खराब हो जाता है। उसको सब जगह वही-वही-वही दिखने लगता है।

एक बात आपको सुनाते हैं। मनमें संकल्पका उठ जाना—यह मनुष्यका कोई अपराध नहीं है। जब उस संकल्पके अनुसार देह-इन्द्रियसे काम करोगे, तब-संकल्प अगर बुरा हुआ तो—वह अपराध हो जायेगा। बुद्धिसे उसका समर्थन करोगे—हाँ, हाँ! यह बहुत अच्छा आया, हम उसको पूरा करेंगे—तब अपराध हो जायेगा। क्यों? कि बुद्धिको लगाना न लगाना, देह-इन्द्रियोंसे काम करना-न-करना आदमीके हाथमें है, पर मनमें कोई संकल्पका आना-न-आना—यह आदमीके हाथमें नहीं है। वह तो संस्कारके अनुसार उग आता है। अब साधकका यह काम है कि वह अपनी देह और इन्द्रियोंको रोके और बुद्धिसे उसका समर्थन न करे। यह हानिकारक है।

अच्छा गोपियो! तुम्हारा मन अगर विवश हो गया है, तो हम तुमको एक युक्ति बताते हैं। आँखपर डाल लो कपड़ा और अपना काम करती रहो। बोलीं—कपड़ा डालते हैं, तब भी तो उसकी लीलाएँ याद आती हैं। बोले—अच्छा, जरा बुद्धि सावधान करो। विधि और प्रज्ञासे मनको रोको। प्रज्ञा उसको कहते हैं—जो मनको रोकनेमें समर्थ हो। जिससे मन बह गया वह कैसी प्रज्ञा! तो बुद्धिसे मनको रोको—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।

प्रज्ञाका हरण कैसे होता है? जब इन्द्रियोंके पीछे मन चलता है, तब मन प्रज्ञाका हरण करके ले जाता है। तुम अपनी प्रज्ञाको बचाओ गोपियो! अब मत जाने दो मनको उधर। प्रज्ञासे मनको रोको और मनको रोक करके इन्द्रियोंका संयम करो।

गोपियाँ बोलीं—उद्धवजी! बात तो तुम ठीक कहते हो, परन्तु हमारे पास बुद्धि होती, तब न! वह तो काला चोर हर ले गया।

माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तं विस्मरामहे।

हे उद्धव! वह नन्दका छोरा, वह साँवरा सलोना, वह वृन्दावन-चन्द हमारी बुद्धि ही हरकर ले गया।

अरी गोपियो! तुम उसको बुद्धिका चोर क्यों कहती हो? कैसे वह बुद्धिका हरण करता है?

देखो! बुद्धि तो तीन है और तीनोंको ले गया—

गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः।
माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तं विस्मरामहे॥ ५१॥

गतिका विशेषण है 'ललित', हासका विशेषण है 'उदार', चितवनका विशेषण है 'लीला' और वाणीका विशेषण है 'माध्वी'। उसकी ललित गति है। ऐसे ललित ढंगका पाद-विन्यास है, पाँवको ऐसे ढंगसे धरतीपर रखकर चलता है, मानों चल नहीं रहा है—नाच रहा है। जरा श्रीकृष्णके चलते हुए पाँवका, उसकी ललित गतिका ध्यान करो। श्रीकृष्णकी ललित गतिका बहुत वर्णन भागवतमें है। भीष्म भी यही कहते हैं—

ललितगति विलास वल्गुहास प्रणयनिरीक्षण कल्पितोरुमानाः॥ १.९.४०

जिसकी ललित-ललित चाल देखकर गोपियोंने अपनी देहको भुला दिया। गति शरीरमें होती है न! तो कृष्णकी चालका ध्यान करनेसे गोपियोंको अपना शरीर भूल गया, उनकी अपनी गति छूट गयीं।

उदारहास—उदार माने उन्मुक्त हास। हँसो भी, और झेंपो भी, यह अपराधी मनोवृत्तिका लक्षण है। अरे,हँसी आगयी, तो आगयी! यह तो जो तपस्वी लोग होते हैं, गम्भीर लोग होते हैं—उनको मुँह बनाकर बैठना पड़ता है—कि हँसनेसे लोग हमको हलका न समझ लें। अरे, लोगोंको यह बताकर, कि हम बड़े भारी किस्मके हैं। तुम्हें उनसे क्या श्रेय लूटना है? खुश रहो। हमेशा खुशी बाँटो। श्रीकृष्णके मुखारविन्द पर हर समय हँसीका जादू चढ़ा रहता है। यही तो जादूगरी है कृष्णकी। उदार माने उन्मुक्त! बिना झेंपका; निस्संकोच हास्य—जिसमें थोड़ी आवाज भी हो, कपोलपर थोड़ी लाली भी हो, कभी-कभी थोड़ी नाक भी सिकुड़ जाये, दाँत दिखने लग जायें—ऐसी हँसी। वह तो बन्दरोंके साथ सीखी थी उन्होंने। भागवतमें वर्णन है—उधर सामने आकर बन्दर खड़ा हो गया, तो वे मुँह टेढ़ा बनाकर बन्दरके साथ हँसते थे, बहुत स्वाभाविक; मुस्कान नहीं, हँसी। स्मित दूसरी चीज है; मन्दस्मित, स्मित, हसित, विहसित, प्रहसित, अतिहसित,

अट्टहास—हँसीके बहुत सारे भेद हैं। यह हँसी है कृष्णकी। अब बोलो, हँसी देखें कृष्णकी और मन उधर न जाये?

मन जानेका अर्थ क्या है? हमको एक महात्माने बताया था कि जब कभी तुमको संसारमें कोई दुःख हो, धनका दुःख, जनका दुःख, अपमानका दुःख—तो आँख बन्द करके बैठ जाओ और जरा ख्याल करो कि सामने खड़े होकर कृष्ण अंगूठा दिखा रहे हैं—कि इतनी ही ताकत है तुम्हारे अन्तःकरणमें? बस, जरा-सी बातपर रोने लग गये? लि-लि लि करके अंगूठा दिखा रहे हैं। देखो, हँसी आजायेगी! अगर हमारी बात याद आजायेगी तो रोते-रोते हँस पड़ोगे। हमको हमारे बचपनका महात्माका बताया हुआ नुस्खा याद है अभी तक। जब रोना आवे, दुःख आवे मनमें, तो देखो, सामने कृष्ण अंगूठा दिखा रहा है और जैसे बन्दर मुँह बनाता है—वैसे मुँह बनाकर खड़ा है—क्यों, इसी बातपर बनते थे भक्त, प्रेमी, साधक? एक यहाँ भक्त बैठे हैं। कहते थे—कि अपने हाथसे मन ही मन ठाकुरजीको खिलाने लग गया, तो महाराज! हमारी उँगुली जो उनके मुँहमें गयी—तो दाँतसे काट लिया। अब जब याद आती है न, इस बातकी, तो हँसी आजाती है।

लीलावलोकनैः—कृष्णकी आँखें जो हैं न, वे नाटक करती हैं। जैसे रंगमंचपर नर्तकी नाचती है, वैसे कृष्णकी आँखें नाचती हैं। यह नृत्य भी तो बड़ा विचित्र है न! रास; रासको बोलते हैं हलीषम् नृत्य। यह इसका नाट्यशास्त्रका शास्त्रीय नाम है। इसमें मण्डल बनाकर पचास नटी खड़ी हो गयीं और नट होता है एक। और नट इतनी फुर्तीसे नृत्य करता है, कि पचास नटियोंको यह मालूम पड़ता है कि हमारे ही साथ नाच रहा है। अब अपने हृदयमें देखो। हजार वृत्तियाँ तुम्हारे मनमें उठती हैं और कृष्ण इतनी फुर्तीसे नाच रहा है, कि प्रत्येक वृत्तिको छू रहा है। किसीको दाहिने हाथसे छुआ, किसीको बायें हाथसे छुआ, किसीको आँखसे देखा, किसीको आँखसे देखकर मुस्कुरा दिया, किसीको धक्का लगाया; और इतनी फुर्तीसे—कि जैसे वृत्ति घूम रही है। अब कृष्णके नेत्र कैसे चलते हैं? ऐसे—**लीलावलोकनैः**—माने उनकी आँख मण्डलाकार—दाहिनेसे लेकर बायें तक और सामनेसे लेकर पीछे तक—सबके साथ नृत्य करती हुई देख रही है। मन कहाँ रहेगा? अगर तुम्हारा मन तुम्हारे पास है—तो रखो भाई! हम तो कहते हैं कि जो सुननेवाले हैं, उनका मन भी वह खींच लेता है। जो लोग देखते हैं, जो लोग ध्यान करते हैं, जो उनके साथ मिले हुए हैं—उनके मनकी क्या गति होगी?

अब तीसरी बात देखो। ललित गतिसे चलना भूल गया और उदार हास और लीलावलोकनसे, लीलापूर्ण चितवनसे मन गया। रही वाणी—कि अच्छा, पुकारो किसीको; तो बोले—**माध्व्या गिराहृतधियः**—बोलनेकी ताकत कहाँ रही? उसकी आवाज इतनी मीठी है, इतने मधुर मिश्रित वचन उसके हैं—**माध्व्या गिरा**—कि अपनी वाणी हमारे पास कहाँ रही?

गोपीगीत तो आपको याद होगा—

मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुध - मनोज्ञया पुष्करेक्षण।
विधिकरीरिमा वीरमुह्यतीरधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः॥

१०.२९.८

गोपी कहती है—कृष्ण! हम तुम्हारी आज्ञाकारिणी हैं। **विधिकारी**। बोले—भाई! शास्त्रकी आज्ञा मानो, गुरुकी आज्ञा मानो, सम्प्रदायकी आज्ञा मानो, हमारी आज्ञा क्यों मानती हो? बोलीं—**मधुरया गिरा**—तुम्हारी वाणी मधु क्षरण करती है। तुम्हारी आवाज ऐसी है, कि उसमें-से कानके रास्ते कलेजेमें शहद पहुँच जाती है, मधु क्षरण करनेवाली वाणी है। बोले—केवल सुननेमें मीठी-मीठी है? ठग लोग भी मीठा बोलते हैं। बोलीं—**वल्गुवाक्यया**—वाक्य रचना, काव्यके अलंकारके जितने गुण हैं—उनसे युक्त है। तो बोले—कविताके प्रेमी भी हलके ही किस्मके होते हैं। कविता एक मनका रसायन, एक कल्पना है बोलीं—**बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण**—ऐसी वाणी है, जिसे सुनकरके बड़े-बड़े बुध लोगोंका मन भी काबूमें न रहे। ऐसी माधुरी वाणी है।

तो मन भी गया, शरीर गया, वचन भी गया। और **धिया** बुद्धि भी हमारे पास नहीं। तो अब हम उसको कैसे भूलें?

अब तो गोपियोंको उद्धवजी भी भूल गये। अगले श्लोकमें यह प्रसंग है। भूल गयीं वे, कि उद्धवजी यहाँ बैठे हैं और हमारी उनसे बातचीत हो रही है। उनको ऐसा दीखने लग गया—कि कृष्ण-कृष्णके सिवाय और कुछ नहीं है। यह प्रेमकी रीति है कि अपने प्रियतमके सिवाय और कुछ दिखायी पड़ता नहीं। संसारमें तो प्रेमका नाम ही लिया जाता है न! असली प्रेम तो भगवान्‌से ही होता है। असली प्रेमका प्रेमास्पद कौन है? सच्चिदानन्दघन श्यामसुन्दर! प्रेम करो, तो नन्द-नन्दनसे।

गोपियाँ अन्तर्मुख हो गयीं। उनको भूल गया कि सामने उद्धव हैं। बोलीं—हे कृष्ण!

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात्॥ ५२॥

हे नाथ, हे रमानाथ! दोनों तरहका पाठ है। श्री सम्प्रदायके, रामानुज सम्प्रदायके जो वैष्णव हैं, वे हे नाथ हे रमानाथ पाठ मानते हैं, और वल्लभ सम्प्रदायके वैष्णव 'हे कृष्ण हे रमानाथ'—ऐसा पाठ मानते हैं। श्रीधर स्वामीने इस श्लोककी कोई व्याख्या ही नहीं की, क्योंकि वे तो केवल वहाँ व्याख्या करते हैं, जहाँ संस्कृत थोड़ी कठिन होती है, समझमें नहीं आती है।

'हे नाथ हे रमानाथ'—यह श्लोक पहले बहुत बोला हुआ है। भागवतमें कई श्लोक ऐसे हैं, जो बहुत बार बोले हुए हैं। जैसे—

हा नाथ रमणश्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥

हे प्यारे! कहाँ हो? आओ आओ।

तो हे कृष्ण! हे नाथ! तुमने हमारी इन्द्रियोंको, हमारे मनको, हमारी बुद्धिको—सबको खींच लिया है। जिसके मनको, जिसकी बुद्धिको भगवान् खींच लेते हैं, उसको संसारकी वस्तु खींच नहीं सकती। हे नाथ! हे रमानाथ! हे लक्ष्मीपते! हे व्रजनाथ! हे आर्तिनाशन! हे गोविन्द! यह गोकुल डूब रहा है, इसको तुम दुःखके समुद्रसे निकालो।

श्रीसम्प्रदायके लोग कहते हैं कि भगवान्‌को रमानाथ कहनेका अभिप्राय है—कि रमा माने भगवान्‌की करुणा, रमा माने लक्ष्मी। भगवान्‌के हृदयमें रहनेवाली जो सर्वजीवोंके प्रति सहज करुणा है, उसीको लक्ष्मी कहते हैं। इसका परित्याग वे कभी नहीं करते, हमेशा अपनी छाती पर, अपने हृदय पर रखते हैं। इसका अर्थ है कि भगवान् करुणाको हमेशा आगे करके चलते हैं। बहुत जप, बहुत तप, बहुत ध्यन करनेवालेकी कीमत नहीं है। बहुत अहंकारीकी कीमत नहीं है—कि हमने बड़ा साधन-भजन किया। करुणा गिरती है जीव मात्र पर; यह करुणाका स्वभाव है।

श्रीकृष्णके विरहका स्मरण करके गोपियोंके हृदयमें दैन्य संचारी भावका उदय हुआ। हे नाथ! हे रमानाथ! 'हे' बारम्बार है ना! यह अत्यन्त दुःखका सूचक है। नाथ! तुम्हीं हमारे एकमात्र स्वामी हो। हमारी देहके स्वामी तुम, हमारी इन्द्रियोंके स्वामी तुम, मनके स्वामी तुम हो। जो कुछ हम पहले कभी थे, अब हैं, आगे होंगे—तुम्हारे हैं। सनातन गोस्वामीने ऐसे कर दिया—हे रमण! हे कान्त! यह

रम् धातु 'कान्त'के अर्थमें है, क्रीड़ाके अर्थमें है। हे रमण। हे अनाथ। अनाथ माने स्वतन्त्र होता है, तुम्हारा कोई मालिक तो है नहीं, जो तुमको रोकता हो—कि हे कृष्ण, गोपियोंका उद्धार मत करो। हे रमानाथ! हे भक्तवत्सल! हे प्रेमपरवश! हे लक्ष्मीको अपने वक्षःस्थलपर रखने वाले! हे चित्ताकर्षक! हे हृदयको आनन्द देनेवाले! आप सम्पूर्ण ब्रजके स्वामी हैं। नाथ होनेसे ही तुम्हारा कर्तव्य है कि अपने अधीन जनोंकी रक्षा करो। व्रजनाथ होनेसे और भी तुम्हारा कर्तव्य है, कि इनकी रक्षा करो। और व्रजका सम्बन्ध अगर भूल गये हो, तो आर्तिका सम्बन्ध तो याद है ना! तुम आर्तत्राण-परायण हो; जो तुम्हारी शरणमें आर्त होकरके, दुःखी होकरके आता है, उसकी आर्तिको तो मिटाते हो ना।

मग्नमुद्धर—डूबते हुए को बचाओ! तुम्हारी तो आदत है डूबते हुएको बचानेकी। मन्दराचल डूब रहा था, तो कछुआ तक बन करके तुमने उसका उद्धार किया था। अगर तुम यह कहो—कि गोपियो! तुम्हारे हृदयमें प्रेम नहीं है, तुम सहृदय नहीं हो, हमारे प्रेमकी कमीकी वजहसे हमारी रक्षा अगर नहीं करते हो, तो मंदराचलके हृदयमें कौन-सा प्रेम था, कि उसको डूबनेसे बचाया? वह तो पाषाण-हृदय था न! उसके लिए तुम कछुआ बनकर उसके नीचे आगये, पीठपर उठाकर उसका उद्धार किया। गजेन्द्र डूब रहा था, ग्राह उसको खींचे लिये जा रहा था। हमको विरहका ग्राह घसीटे लिये जा रहा है। **मग्नमुद्धर गोकुलं**— यह गोकुल मग्न हो रहा है, डूब रहा है गजेन्द्रकी तरह। आप क्यों नहीं हरिका अवतार ले करके आते?

आर्तिनाशन—क्योंकि गजेन्द्रकी आर्तिका नाश तुमने ही किया था। और यह गोकुल इन्द्रकी वर्षाके कारण जब डूब रहा था पानीमें, तो तुमने अपने हाथ पर पहाड़ उठाकर गोकुलको बचाया। और आज यह पानीमें नहीं, दुःखके समुद्रमें डूब रहा है। **वृजिनार्णवात्**—पानीकी बाढ़में-से बचाना। इसमें अधिकारी-अनधिकारीका विचार नहीं होता है। अगर आपके सामने कोई पानीमें डूबता हुआ दिखायी दे जाये, और आपको तैरना आता है, और बचानेकी आपमें शक्ति है—तो उस समय यदि आप न बचावें, तो आप दोषी हो गये। यह नहीं सोचना तब, कि चोर डूब रहा है। चोर डूब रहा हो, चाहे व्यभिचारी, जुआरी, संसारका सबसे बड़ा दुष्ट डूब रहा हो; लेकिन वह अपने कर्मसे डूब रहा है—वह बात दूसरी है, आपका कर्तव्य है, कि डूबते हुएको बचावें।

तो माना, कि हम अनधिकारी हैं, हमारे हृदयमें प्रेम नहीं। हमारे मान भी

होता है, हम आपको उल्टा-सुल्टा बोल भी देती है; यह सब ठीक है, पर हम तुम्हारे विरहमें डूब रही हैं। अपनी ओर देखो, गोविन्द! तुमने इन्द्रकी वर्षासे गोकुलकी रक्षा की थी। अब गोकुल दुःखके समुद्रमें डूबा जा रहा है। आओ, आओ, इस गोकुलको बचाओ।

गोपियाँ अपने शरीरको भूल गयीं, उद्धवजीको भूल गयीं, वृन्दावनको भूल गयीं! सबका मुँह मथुराकी ओर हो गया; उद्धवजीकी ओर पीठ हो गयी। अरे हे नाथ! हमारी आवाज यहींसे सुन लो। हे नाथ! रमानाथ! व्रजनाथ! आर्तिनाशन! मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुल वृजिनार्णवात्!

श्रीशुक उवाच

ततस्ताः कृष्णसंदेशैर्व्यपेत विरहज्वराः।
उद्धवं पूजयां चक्रुर्ज्ञात्वाऽऽत्मानमधोक्षजम्॥ ५३॥

चमत्कार हो गया। जब गोपियाँ इस प्रकार पीड़ाके समुद्रमें डूबने उतराने लगीं, तब श्रीकृष्णके संदेशोंने अपना एक अद्भुत अर्थ प्रकाशित किया। संदेश तो बाहरी थे, पर उनके अन्दर भरे हुए थे श्रीकृष्ण। मिलन हो गया कृष्णका। विरहका बुखार तुरन्त उतर गया। उद्धवका उन्होंने सम्मान किया। **अधोक्षजं ज्ञात्वा, पुनश्च आत्मानमधोक्षजम् ज्ञात्वा, श्रीकृष्णं धोक्षजम् ज्ञात्वा, तन्तु स्वात्मानं ज्ञात्वा,** बड़ा अद्भुत प्रयोग है यहाँ—**ज्ञात्वाऽऽत्मानमधोक्षजम् आत्मानमधोक्षजम् ज्ञात्वा**—अपने आपको श्रीकृष्ण रूप जानकर उन्होंने उद्धवजीका सत्कार किया। बोले—भले मथुरावालोंको विरह होवे, गोकुलवालोंको विरह नहीं है। मथुराके लोग कृष्णको न पहचानें, तो कृष्णके रहते हुए भी मथुरावालोंको कृष्णका विरह है। और भले गोकुलमें कृष्ण न रहें, पर अगर गोकुलवाले कृष्णको पहचान लें, तो उनको विरह नहीं है। क्यों? कृष्ण कौन हैं? **कृष्णं अधोक्षजम् ज्ञात्वा**—कृष्णको उन्होंने समझा—कि इन्द्रियातीत हैं। **अधत्ता अक्षजं ज्ञानं यस्मात्**—यह इन्द्रियोंके ज्ञानसे अतीत है। और **तन्तु आत्मानम् ज्ञात्वा**—और वह उनमें हैं।

चौवनवाँ प्रवचन

भगवान्‌के ऐसे कृपापात्र कोई-कोई होते हैं, जिनको भगवान्‌का विरह दुःख देता है। दुःखी संसारमें बहुत होते हैं, कोई धनके लिए दुःखी है, कोई तनके लिए, कोई कुटुम्बके लिए दुःखी है, कोई इज्जतके लिए, ऊँची कुर्सीके लिए दुःखी है। लेकिन जिसकी आँखमें भगवान्‌की प्राप्तिके लिए आँसू आवें, जिसके हृदयमें भगवत्प्राप्तिके लिए व्याकुलता हो, तड़प हो, जिसके रोयें बार-बार भगवत्प्राप्तिके लिए खड़े हो—ऐसा व्यक्ति संसारमें दुर्लभ है। अपनेको 'शिवोऽहं' मानके बैठ जाना आसान है; अभी चाहो—तो बैठ जाओ। कौन मना करेगा? जरा-सी छाती सीधीकी, पीठकी रीढ़ सीधीकी, तनके बैठे और बोले—सोऽहम्। अब तुम ईश्वर हो गये। अब तुमसे कोई क्या कहे? लेकिन ईश्वरकी प्राप्तिके लिए रोना आवे, व्याकुलता होवे, तड़प होवे और फिर ईश्वर मिले—तब देखो—कि ईश्वरके मिलने पर क्या मजा आता है! प्यास लगने पर पानी मिलनेका जो मजा है, वह अनप्यासेको पानी मिलने पर थोड़े ही आता है!

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन

हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे सम्पूर्ण दुःखोंका नाश करनेवाले! यह हमारा गोकुल, यह इन्द्रियोंका समूह, यह हमारा मन, हमारी बुद्धि—दुःखके समुद्रमें डूब रहे हैं। दौड़ो! दौड़ो! जैसे द्रौपदीको बचाया, जैसे गजेन्द्रको बचाया, वैसे प्रभु! हमें इस विपत्ति-जालसे बचाओ। गोपियाँ भूल गयीं उद्धवको, भूल गयीं वृन्दावनको। भूल गयीं अपनेको, और कृष्ण-कृष्णकी रट लगाने लगीं। एक बार पुकारो तो ईश्वरको सच्चे हृदयसे! ईश्वरके लिए जीवकी प्रत्येक पुकार जो उठती है, वह ईश्वरके रजिस्टरमें लिख दी जाती है—कि कितनी बार उसने पुकारा, और कितनी गहराईसे पुकारा! जीभसे पुकारा, कि गलेसे पुकारा, कि दिलसे पुकारा। अपने बेटेकी याद, पतिकी याद, पत्नीकी याद जितने प्रेमसे की है, उतने प्रेमसे कभी ईश्वरकी याद की है, कि नहीं की है।

उद्धवजी चुप; गोपियाँ कृष्णके ध्यानमें मग्न! उद्धवजीने फिर ध्यान दिया—

ततस्ताः कृष्णसंदेशैर्व्यपेत विरहज्वराः।

जब थोड़ा समय बीत गया, दुःख थोड़ा शिथिल हुआ, तब उद्धवजीने कृष्णके संदेश सुनाये। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं, कि एक बार पहले उद्धवजीने संदेश सुना दिया था—**भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना क्वचित्**। जब यह संदेश गोपियोंने सुना, तो कृष्णमें जो दोष ही दिखते थे ना, उनकी शान्ति हो गयी! अन्तःकरण निर्मल हो गया। ऐसे मालूम पड़ा—कि जैसे हम कृष्णसे प्रेम करती हैं, वैसे कृष्ण भी हमसे प्रेम करते हैं। हृदयमें अनुरागका उदय हुआ। और जब अनुरागका उदय हुआ, तब उद्धवजीने फिरसे वही संदेश सुनाया। तो पहली बार जो सुना था—उससे तो दोष दूर हुआ, और दूसरी बार जब सुना, तब तो उन्हें श्रीकृष्णका साक्षात् अपरोक्ष अनुभव हो गया। इसलिए **कृष्णसंदेशैः**का अर्थ है—कि उद्धवजीने यही संदेश दुबारा सुनाया।

गौड़ेश्वर सम्प्रदाय मानता है, कि उद्धवजी दो तरहका संदेश लेकर आये थे। एक संदेश तो उन्होंने पहले सुना दिया। उसमें बताया था—कि मैं सब जगह हूँ और तुम लोगोंसे मिला हुआ हूँ। हम भी ब्रह्म हैं, तुम भी ब्रह्म हो। सब एक हैं; विरह है ही नहीं। तो यह सुनकर गोपियोंका विरह-दुःख मिटा नहीं, और बढ़ गया। और इतना बढ़ा कि वे भूल गयीं कि उद्धवजी आये हैं, कि कृष्णने संदेशा भेजा है; यहाँ तक कि हम विरहणी हैं—यह भी भूल गया।

पहले उद्धवजीसे कृष्णने यही कहा था कि तुम ब्रह्मज्ञान सुनाकरके उनका दुःख शान्त करना। और यदि उनका दुःख उससे शान्त न हो, तब? यह दूसरा नुस्खा निकालना। वसुदेवने कृष्णका बड़ा-बड़ा ऐश्वर्य देखा है; चतुर्भुजरूपमें, नारायण रूपमें उन्हें पहले ही दिन दर्शन दिया; और द्वारिकामें जानेपर तो बड़े-बड़े ऐश्वर्य देखे। मरे हुए उनके छह बच्चे ला दिये, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उनकी स्तुति करें, बड़े-बड़े देवता इनको आकर प्रणाम करें। लेकिन वसुदेवजीने फिर भी पूछा—कि महाराज, हमारी मुक्ति कैसे होगी? माने कृष्णके बेटा होनेसे तो मुक्ति होनेवाली है ही नहीं। एक यज्ञ किया, इसमें भी नारदजीने जब उपदेश किया, तब वसुदेवजीकी मुक्ति हुई। अर्जुनने क्या-क्या ऐश्वर्य नहीं देखा! लेकिन बादमें कृष्णके लिए वह कितना रोया!

तो ये जो प्रेमी लोग होते हैं, वे ऐश्वर्य-ज्ञानसे संतुष्ट नहीं होते हैं। हम तो प्रसंगके अनुसार सुनाते जाते हैं ना; आलोचना तो अभी नहीं सुनाते। एक बार दृष्टि डालो, कि जब नन्दबाबाने वरुण लोकमें श्रीकृष्णका ऐश्वर्य देखा—कि वरुण देवता षोडषोपचार कृष्णकी पूजा करके, उनके सामने साक्षात् दण्डवत करके

अपना सर्वस्व उनके चरणोंमें चढ़ा रहे हैं; बड़ी-बड़ी भेंट दे रहे हैं—तो नन्दबाबाने व्रजमें लौटकर सबको सुनाया, कि हमारा बेटा तो ऐसा है, कि बड़े-बड़े देवता साष्टांग दण्डवत करते हैं। तो एक ग्वालिनने कहा—तुमने वरुणको देखा, तो क्या देखा! हमने तो देखा कि गोवर्धन धारणके बाद इन्द्र आकर साष्टांग दण्डवत कर रहे थे। दूसरेने कहा—इन्द्रको देखा तो क्या देखा! हमने तो देखा—वह चार मुँहवाला देवता ब्रह्मा है ना, वह आकर अपने चारों माथे बारी-बारीसे रगड़ रहा था। तो सब ग्वाल-बालोंके मनमें आया--कि हम कृष्णको ईश्वरके रूपमें देखें। कृष्णने कहा—अच्छी बात है। तो ब्रह्महृदमें डुबकी लगवा दी सबको। अब भला बताओ, व्रजके बेचारे ग्वाल-बाल भोले-भाले, नन्द बाबा, उपनन्द, सनन्द, महानन्द, यह यशोदा मैया; इनको ब्रह्म-रूपी सरोवरमें डुबकी क्यों लगवायी? इसलिए लगवायी—कि वे यह समझ जायें, कि ब्रह्ममें डुबकी लगानेसे ज्यादा सुन्दर यह श्यामसुन्दरका रूप है। श्रीकृष्णने ब्रह्म-सरोवरमें उनको डुबोया, और फिर उनका उद्धार किया। इसका मतलब क्या हुआ? कि जैसे कोई किसी तालमें, तलैयामें डूब रहा हो, तो उसको कोई कृपालु पकड़के बाहर निकाल ले, डूबने न दे।

अब देखो, ब्रह्मानन्दमें डुबकी लगाकर भी व्रजवासी श्रीकृष्ण-रसानन्दके इच्छुक हैं। तो गोपियोंके लिए ब्रह्मज्ञानका संदेश क्यों भेजा? इसलिए कि उद्धवजी समझते हैं—कि हम बड़े ब्रह्मज्ञानी हैं, और ब्रह्म बड़ी चीज है। तो जब यह ब्रह्मज्ञान गोपियोंको देंगे, तो उनका प्रेमयोग सब घट-घटा जायेगा। परन्तु गोपियोंका जो प्रेम है, वह किसी हाड़-मांसके पुतलेसे तो नहीं है न! औरतकी प्रीति हो, मर्दकी प्रीति हो, दुनियादारकी प्रीति हो; तो जब संसारके दोषका, दुःखका वर्णन सुनें—तो उसमें राग न रहे; वैराग्य हो जाये। लेकिन गोपियोंका प्रेम तो संसारमें नहीं है न! वह तो स्वयं अनासक्त सच्चिदानन्दघन ब्रह्मसे है। इसलिए ब्रह्मज्ञानका उपदेश भी गोपियोंके प्रेमको शिथिल नहीं कर सकता। तब? उद्धवजीने कहा—कि गोपियों। श्रीकृष्णने हमसे कहा था, कि ब्रह्मज्ञानके उपदेशसे भी गोपियोंका दुःख न मिटे, तो यह दवाई करना। मैं तो समझता था गोपियों! कि तुम्हारा दुःख ब्रह्मज्ञानके उपदेशसे मिट जायेगा, पर अब उन कृष्णका जो असली, गुप्त संदेश है—वह तुम्हें सुनाता हूँ। गोपियोंने कहा—कृष्णका जो गुप्त संदेश है, वह तुमको वह नहीं बता सकते। तो उद्धवने कहा—ठीक कहती हो तुम। कृष्णने हमें कहा है, कि गोपियोंसे कहना—देखो, जब

गाँवके सब ग्वाल-बाल और गौएँ दावानलमें घिरकर जलने लगी थीं, तो मैंने उनसे कहा, कि आँख बन्द करो, तो तुम्हारी रक्षा हो जायेगी। तो उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर लीं, और यह जो दृष्टि-सृष्टि है ना; यह संसारका दु:ख मिट गया; और उनकी रक्षा हो गयी। तो गोपियाँ भी विरह-दावानलमें दग्ध हो रही हैं। उनसे कहना—कि गोपियो, जरा आँख बन्द करके बैठो। तो उद्धवजी, हमारे और गोपीके बीचमें जैसा प्रेम है, उसमें तीसरे आदमीका संदेश लेकरके जाना उचित नहीं है। तो जब गोपियाँ आँख बन्द करके बैठेंगी, तो उनके कानमें धीरेसे अपनी बात कह देंगे। तो अब तुम चुपचाप बैठ जाओ, गोपियों! तुम्हारे लिए कृष्णका यह गुप्त संदेश है।

गोपियोंने कहा—बाबा, आँख बन्द करके नहीं, हमको तो आँखके सामने श्यामसुन्दर चाहिए। आँख बन्द करनेपर जो श्याम सुन्दर मिलता है, सो नहीं चाहिए। यह जो हमारा हाथ है, इससे हम उसका हाथ पकड़ें, हमारी आँख उसकी आँखोंसे मिले, हमारा वक्ष:स्थल उसके वक्ष:स्थलपरसे मिले। हमको तो इसी शरीरसे कृष्णकी प्राप्ति चाहिए। हम तो उसके बगैर मर जायेंगी।

उद्धवजीने कहा—देखो गोपियो! श्रीकृष्णने कहा है, कि गोपियोंसे कह देना, कि हमारे विरहमें जैसे वे रो-रोकर पागल हो रही हैं, घुल-घुलके मरने जा रही हैं—तो यदि वे हमारे विरहमें मर गयीं और यह खबर—उनके मरनेकी खबर हमारे पास पहुँची, तो मैं भी मर जाऊँगा। जैसे उनका प्राण मैं हूँ, वैसे मेरी प्राण गोपियाँ हैं। मैं हजार-हजार सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि वृन्दावनमें कोई भी गोपी मरी—तो मैं भी मर जाऊँगा। मेरे मरने पर दाऊ भैया मरेंगे, फिर देवकी मैया, फिर वसुदेव, फिर यशोदा और फिर नन्द, फिर सारे मथुरा और वृन्दावनके लोग, और हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थमें कोई प्राणी नहीं बचेगा। लाखों प्राणियोंके वधका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा।

गोपियोंने कहा—ऐसे कहा है? कि हाँ, ऐसे कहा है। कि फिर क्या कहा? तो फिर कहा, कि थोड़ी देर गोपियाँ आँख बन्द करके बैठ जायें, तो मैं अपने दिलकी बात उनके कानमें आकर कहूँगा। गोपियोंने कहा—लो भाई! बैठ जाती हैं।

अब जब गोपियाँ बैठीं, तो श्रीकृष्णने योगमाया रची! यह जो देश, काल, वस्तु है ना—यह सब भगवान्‌की योगमायाका खेल है। इसीसे कृष्ण ऋणी रहते हैं, क्योंकि जीव तो रक्षक समझ करके अपना सच्चा दिल और सच्चा प्रेम

कृष्णको देते हैं, और कृष्ण प्रेमके बदलेमें अपनी योगमायासे लीला करते हैं। वे कहते हैं—कि देखो जी! तुमने तो हमको सच्चा प्रेम दिया और हमने योगमायाकी रचना रची। तो अभी हम तुमसे उऋण नहीं हुए; हम तुम्हारे कर्जदार ही हैं। तो गोपियोंने आँख बन्द की, और श्रीकृष्णने ऐसी रचना रची, योगमाया की, कि गोपियोंका दिल बदल गया। अब उनको ऐसा मालूम पड़ा, कि आज तो शरद् पूर्णिमा है। सायंकालका समय है, और श्यामसुन्दर बाँसुरी बजा रहे हैं, उसमें-से राधे-राधे, ललिते-ललिते, विशाखे—की ध्वनि निकल रही है। यह हम घरसे निकलीं और रासलीलामें गयीं। वहाँ यह नृत्य हुआ, यह संगीत हुआ, यह बाजे बजे। यह हम श्रीकृष्णके साथ झूलेमें झूल रहे हैं; यह जमुनाजीमें जल-विहार कर रहे हैं, यह निकुंज-विहार कर रहे हैं। एक क्षणमें श्रीकृष्णने कल्प भरकी लीला प्रकट कर दी। और गोपियोंको तो ऐसा लगा—कि अरे! वह विरह जो था—वह तो सपना था। हम तो सचमुच श्रीकृष्णकी लीलामें ही हैं। यह कृष्णकी लीला ऐसी प्रकट हुई, कि गोपियोंके चेहरे पर तत्काल आनन्द छा गया।

मैंने अपनी आँखके सामने एक व्यक्तिको देखा है; कोई बीस बरस पहलेकी बात है—एक बार मैं और साथी कनखल गये हुए थे। उन दिनों हमारे साथीके मनमें भगवत्प्राप्तिकी बड़ी व्याकुलता थी। वे बोले—अब तो हम सब कुछ छोड़छाड़के जायेंगे। हमने कहा—अच्छा भाई, तुम चलते हो तो हम भी चलते हैं। भगवान्‌के लिए तो हमें उतनी व्याकुलता नहीं थी, लेकिन सब कुछ छोड़नेमें हमको कष्ट नहीं था। तो हम लोगोंने अपना सब सामान छोड़ा; एक-एक धोती पहनके धर्मशालेमें-से निकले, और नीलधारा पार की। उन दिनों नीलधारा पर पुल नहीं था। उसमें कमर बराबर पानी था, जैसे-तैसे एक दूसरेका हाथ पकड़के पार हो गये। फिर वह मनसा देवी वाला जो जंगल है—उसमें गये, और जाकर भजन करने लगे—गोविन्द माधव मुकुन्द कृष्ण—आँखसे आँसू भी बहे, शरीरमें रोमांच भी हुआ। थोड़ी देरके बाद भगवान्‌का नाम लेते-लेते वे बेहोश हो गये। मैंने उनके सिरको उठाकर अपनी गोदमें ले लिया, और धीरे-धीरे भगवान्‌का नाम बोलता रहा। हमको याद आती है उस दिनकी बात! फिर मालूम पड़ा कि उनको पानीकी जरूरत है। बर्तन आदि तो कोई अपने पास था नहीं; पानी भी कोई बहुत पास नहीं था। तो उनको ऐसे ही छोड़कर मैं गंगाजी गया और जो धोती पहने हुए था—वह गंगाजीमें डुबोकर गीली धोती ले

आया, और उनके मुँह पर पानी डाला। बहुत देर तक उनका सिर गोदमें लेकर बैठ रहा। तीन-चार घंटे लग गये इस काममें। छह घंटे बाद फिर वे प्रकृतिस्थ हुए थे। तो मेरी गोदमें एक बार उनका मुँह ऐसा हुआ—काला काला, कि जैसे मर गये। और फिर भगवान्‌का नाम लेते-लेते उनके मुँह पर ऐसा प्रकाश आया, जैसे बिलकुल चाँदनी छिटक गयी हो, ऐसा! बिलकुल स्वर्णिम आभा उनके मुख पर छा गयी। मैं बोल रहा था—गोविन्द माधव मुकुन्द कृष्ण—ऐसे, जरा गा-गाकर। थोड़ी देरके बाद वे भी गुनगुनाने लग गये। तो ये दोनों हालत मैंने उनकी अपनी आँखोंसे देखी—भगवान्‌के विरहमें कैसे उनका शरीर मुर्दा सरीखा हो गया, और भगवत्प्राप्तिका भाव होने पर कैसे उनके मुखपर चाँदनीकी छटा छिटक गयी।

तो आपको यह बताता हूँ, कि जिनके हृदयमें भगवत्प्राप्तिके लिए विरहकी आग जलती है, पहले वे जलते हैं जरूर, लेकिन पीछे जैसे कोयला चमक जाता है—ऐसे उनका जीवन चमक जाता है। तो भगवत्-प्राप्तिके लिए हमारे जीवनमें कभी व्याकुलता आवे, तो सचमुच ही भगवान्‌का दर्शन हो जायेगा।

तो फिर गोपियोंका चेहरा ऐसा खिलता उद्धवजीने देखा—कि अभी थोड़ी देर पहले तक तो ये ग्वालिनें कृष्णके लिए व्याकुल हो रही थीं, और इसी बीच इनके चेहरे पर यह चाँदनी कहाँसे छिटक गयी! तो—

ततस्ताः कृष्णसंदेशैर्व्यपेतविरहज्वराः।

व्यपेत विरहज्वराः—उनके विरहका ज्वर भाग गया; शीतलता आगयी। उन्होंने कहा, कि सचमुच हमारा प्राणप्यारा श्यामसुन्दर तो मिला हुआ है! अभी तो उसके साथ विहार करके हम बाहर निकली हैं। बोलीं, ठीक है, ठीक है। **ज्ञात्वाऽऽत्मानमधोक्षजम्**—जैसे हम उसके विरहमें व्याकुल हैं, वैसे वह भी हमारे विरहमें व्याकुल है। श्रीधरस्वामी कहते हैं, कि विरहका ज्वर दूर हुआ और गुरुकी प्राप्ति हो गयी। अपने आपको उन्होंने श्रीकृष्णसे नित्य मिले हुए रूपमें जान लिया। **अधोक्षजम्-श्रीकृष्णं अधोक्षजं ज्ञात्वा तच्चात्मानं ज्ञात्वा**—ये जो श्रीकृष्ण हैं, ये कोई ऐरे-गैरे ग्वाले नहीं हैं। वे तो साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं। **अधोक्षजं, अधस्तात् अक्षजं ज्ञानं यस्मात्**—जिनसे इन्द्रियजन्य ज्ञान बहुत नीचे है। यह बाहरी दुनिया जो दिखायी पड़ती है, ये सारे ठाट-बाट—ये देखने भरके लिए हैं। वस्तुतः कृष्ण ही ब्रह्म हैं, और वे हमारी आत्मा हैं।

वैष्णव सिद्धान्तमें भी ऐसा मानते हैं, वल्लभाचार्य और मध्वाचार्य दोनों भी

यही मानते हैं—कि जब जीवको सच्चा ज्ञान होता है परमात्माका, तब यही ज्ञान होता है—कि जो कुछ इदमर्थ, अहमर्थ भास रहा है, जो कुछ 'यह'के रूपमें मालूम पड़ रहा है—सो, जो कुछ 'मैं'के रूपमें मालूम पड़ रहा है—सो; ये दोनों भगवान् ही हैं। भगवान्के सिवाय दूसरा कोई नहीं।

अब तो उद्धवजीका उन्होंने बड़ा सत्कार किया।

उवास कतिचिन्मासान् गोपीनं विनुदञ्छुचः।
कृष्णलीला कथां गायन् रमयामास गोकुलम्॥ ५४॥

अब वर्णन करते हैं—कि जब गोपियोंको ठीक-ठीक अनुभव हो गया श्रीकृष्णसे मिलनका, तो जीवन्मुक्त दशाको वे प्राप्त हो गयीं। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने लिखा है कि आजसे पहले विरहका जैसा दुःख गोपियोंको था, वैसा दुःख फिर गोपियोंको कभी नहीं हुआ। तो बोले—फिर? अब तो फिर श्रीकृष्णकी याद आयी। तो बोले—अब याद आयी, सो कैसे? पूर्वाभ्याससे आयी। वर्तमानमें दुःख उनको नहीं है। पहले जैसा उनका मन रहता था, जिसकी याद करती रहती थीं—वैसा फिर हो गया। एक बार सब मिल करके जीवन्मुक्त दशाको प्राप्त हो गयीं।

भागवतमें बताया है, कि जीवन्मुक्त भी कई प्रकारके होते हैं—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

६.१४.५

ज्ञान तो बहुतोंको हो जाता है और जीवन्मुक्त भी बहुतसे हो जाते हैं, परन्तु जीवन्मुक्त होनेके बद कोई घास ही खोदते हैं, कोई हल जोतते हैं, कोई गोली चलाते हैं और कोई तराजू तौलते हैं। कोई वेद-पाठ करते हैं, कोई समाध लगाते हैं। जीवन्मुक्त होनेके बाद चाहे जैसे रहो; परन्तु करोड़-करोड़ जीवन्मुक्तोंमें कोई-कोई ऐसे होते हैं जिनको जीवन्मुक्तिके बाद भी भक्ति बनी रहती है। गोस्वामीजी महाराजने कहा—

जीवन्मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान॥
ताते जे हरि भगति सयाने।
मुक्ति निरादरि भगति लुभाने॥

एक तो वह अपने घरकी हो गयी! मुक्ति तो अपनी आत्मा है, अब उसके लिए क्या फिकर करना। तो बोले—अब गोपियाँ क्या करती हैं? कि—

कृष्णलीला कथां गायन् रमयामास गोकुलम्।

अब गोपियोंको फिर पुरानी यादें आयीं। फिर-फिर कृष्ण-कृष्णकी याद आयी। उनके इस आगन्तुक शोकरूप दोषको दूर करनेके लिए उद्धवजीने श्रीकृष्ण लीलाका गान प्रारम्भ कर दिया। अब **रमयामास गोकुलम्**—जो सुने, वही आनन्दमें मग्न हो जाये।

भावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेऽवात्सीत् स उद्धवः।
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन् कृष्णस्य वार्तया॥ ५५॥

अब तो कई महीनों तक उद्धवजी वहाँ रह गये। बस, कृष्णलीलाका गान कर रहे हैं, क्योंकि जो जीवन्मुक्त महापुरुष होते हैं, उनकी भी जबान तो रहती ही है। उनका दिल भी रहता है, दिमाग भी रहता है, हाथ-पाँव भी रहते हैं—चाहे वे उन्हें किसी काममें भी लगा दें। बोले—वे तो घटाकाश मठाकाश ही बोलें न! तो भाई, अगर ऐसी आदत पड़ गयी हो, तो घटाकाश मठाकाश ही बोलें! कौन रोकता है? लेकिन अब घटाकाश-मठाकाशका विचार करके उनको 'तत्त्वमसि' महावाक्यार्थका चिन्तन नहीं करना हैं—कि उससे अविद्या दूर होगी। अविद्या तो दूर हो गयी। तो 'तत्त्वमसि' महावाक्य भी बाधित हो गया, वच्यार्थ-लक्ष्यार्थ भी बाधित हो गये। ये लक्ष्यार्थ तो कल्पित हैं। केवल अज्ञानकी निवृत्तिके लिए नाम, जाति, गुण, क्रिया, वाच्यत्व-लक्ष्यत्व हैं। जो जिज्ञासु हो, जिसे वाच्यार्थ-बोध हो, जिसने दोनोंमें एक लक्ष्यको देखना हो, उसको अभी आत्माके रूपमें जानना हो—वह वाच्यार्थ—लक्ष्यार्थका विवेक करे। और जीवन्मुक्त महापुरुष? वह तो अपने मजेका संगीत गाता है, अपनी मौजकी, अपने मजेकी बात करता है। तो अब तो जितने दिन उद्धवजी व्रजमें रहे, उतनी देर ऐसी कृष्ण-चर्चा चली, कि महीने-के-महीने क्षणके बराबर बीतते थे। कब दिन बीता, कब रात आगयी—पता ही नहीं चलता। व्रजवासी एक-एक जगह उनको ले जाते—

सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्षन् कुसुमितान् द्रुमान्।
कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम्॥ ५६॥

कभी नदीके तटपर जाते; वहाँ श्रीकृष्ण स्नान करते थे, वहाँ ग्वालोंके साथ जलक्रीड़ा करते थे, यहाँ गोपियोंके साथ जलक्रीड़ा करते थे, यहाँ कालिय नागका दमन किया है, यहाँ गिरिराजकी गुफामें बैठकर भोजन किया है। यहाँ गिरिराजको उठा लिया था और यहाँ पूजा ग्रहण की थी। वे गुफाएँ और वे पर्वत, वे तराइयाँ

और वे फूलोंसे लदे हुए वृक्ष—सब दिखाये। अब तो श्रीउद्धवजी महाराज व्रजवासियोंके साथ **हरिदासो व्रजौकसाम्**। जगह-जगह कृष्णका स्मरण करना, कृष्णकी कथा करना, इतना आनन्द लूटते थे। महापुरुष कहते हैं, कि यदि तुम दुःख मिटाना चाहते हो, तो यह मत कहो—कि ऐसे हो जाये तो हमारा दुःख मिटेगा। तो क्या करें? कि बस, मनसे कृष्णका स्मरण करो, बोलो कृष्ण कृष्ण! और कृष्णमें तुम्हारा मन गया—तो दुःख मिटा। किसीकी कृपासे दुःख नहीं मिटता है, कोई घटना होनेसे दुःख नहीं मिटता है, तुम्हारा मन कृष्णमें लग जावे—तो दुःख मिटता है। अभी मन लगा लो भगवान्‌से, तो सारा दुःख मिट जावेगा।

दृष्ट्वैवमादि - गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम्।
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ॥ ५७॥

महाभाग उद्धवने गोपियोंका प्रेम देखा; कृष्णमें कैसा अखण्ड, अटूट है स्नेह गोपियोंका। वे कृष्णका कितना सुख चाहती हैं। कृष्णके प्रति मान देखा, कितना विश्वास है, कितना विश्राम है। विश्वासके बिना प्रेम नहीं होता। गोपियोंके हृदयमें कितनी द्रवता है, तदाकारता है। उनका राग देखा, अनुराग देखा, भाव देखा, दिव्योन्माद देखा। श्रीकृष्णकी तन्मयतामें गोपियोंको क्या क्या प्रेम, क्या-क्या आवेश हो रहा है—सब देखा। **परम प्रीतः**—उद्धवजी आनन्दमें भर गये; बोले—हम तो भई, गोपियोंको नमस्कार करेंगे। उनके पाँव छूयेंगे।

अरे, तुम यदुवंशी, श्रीकृष्णके सखा, बड़े भारी विद्वान हो। वृहस्पतिने तुमको पढ़ाया है, ब्रह्मज्ञानी हो। इतने सज-धजके, बन-ठनके व्रजमें आये; और अब गोपियोंके चरणोंमें लोटोगे? उद्धवजी! लोग क्या कहेंगे?

तो बोले—अच्छा, पहले वातावरण बनाते हैं। **ता नमस्यन्निदं जगौ**—फिर गोपियोंकी महिमाका उन्होंने गान किया। यह उद्धव-गीत है; भ्रमरगीत तो गोपी-गीत है ना!

एता परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः।
वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य॥ ५८॥

अब उद्धवजी कहते हैं—नमस्कार करने योग्य दुनियामें कोई है, तो बस, गोपियाँ हैं। क्यों? कि इनका जीवन सफल है। नमस्कारका अर्थ होता है झुकना, और जिसके सामने हम झुकते हैं, वह हमारे ऊपर उतरता है।

तुम्हारे चरणों में अगर हम सिर झुकाते हैं,
तो हमारा सिर सबसे ऊँचा हो जाता है।

भगवान्‌के सामने सिर झुकाना, और संसारमें सबसे ऊँचा हो जाना।

तो गोपियोंके सामने सिर झुकाना, किसलिए? कि जो गोपियोंका गुण है, उनका धर्म है, उनका स्वभाव है, उनकी प्रीति है, रीति है—वह हमारे जीवनमें उतरे। **भुवि**—इस धरती पर केवल ये अपने जीवनको सफल बनानेवाली हैं। शरीर धारण किया, तो केवल गोपियोंने किया। और सबका शरीर धारण करना निरर्थक है। क्यों? कि निखिलात्मा गोविन्दमें उनका इतना ऊँचा प्रेम है।

प्रेमकी महिमा विषयकी महिमासे है। श्रीधरस्वामीने बड़ी सुन्दर बात समझायी है। प्रेमकी महिमा किससे है? प्रेम किससे? मरनेवालेसे, कि अमरसे? अधूरेसे, कि पूरेसे? इन्द्रियोंके भोग्यसे, कि परमात्मासे? तो बोले—गोपियोंके प्रेमकी क्या महिमा है? **विषय महिम्ना**—गोपियोंके प्रेमका जो विषय है, उसकी ऐसी महिमा है—कि उनके प्रेममें बड़प्पन आगया। बड़ेसे प्रेम कर लो, तो? और छोटेसे प्रेम करो तो? मच्छर क्या मच्छरसे प्रेम नहीं करता? कुत्ता क्या कुतियासे प्रेम नहीं करता? संसारमें कितने लोग लैला-मजनूँ बने फिरते हैं; उनके प्रेमकी कोई कीमत है? प्रेमकी कीमत तब होती है, जब वह परमेश्वरके साथ जुड़ता है। गोपियोंका प्रेम परमेश्वरके साथ जुड़ा, इसलिए उस प्रेमकी महिमा है। ऐसे प्रेमको **भवभियो वाञ्छन्ति, मुनयो वाञ्छन्ति, वयं च वाञ्छयामः**। जो संसारमें मुमुक्षु हैं, वे चाहते हैं कि कृष्णसे प्रेम मिले, तो हम मुक्त हो जायें। जो बड़े-बड़े मुनि मुक्त हैं, वे चाहते हैं कि कृष्णसे प्रेम हो जाये—तो हमें जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख मिल जाये। और **वयम्**—हमलोग जो उनके भक्त हैं, उनके प्रेमी हैं—वे भी चाहते हैं, कि गोपियोंका जैसा प्रेम है, ऐसा प्रेम हमें मिल जाये—तो हमारा जीवन सफल हो जाये।

किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य।

❋

पचपनवाँ प्रवचन

उद्धवजी बड़े ज्ञानी हैं। भगवान्‌के निकटवर्ती हैं, यहाँ तक कि वेषभूषा भी भगवान् सी है। जब ये गाँवकी ग्वालिनोंके सामने झुक गये, नमस्कार करने लगे—तो यह अपेक्षा हुई कि इनके हृदयमें ऐसा कौन-सा भाव था, कि वे अपनी श्रेष्ठता, अपनी महत्ता छोड़ करके उनके सामने झुक गये—इस बातको जानें। पुराने लोग तो जातिकी ऊँचाईको बहुत ऊँचा मानते थे। उससे आगे बढ़ें तो आचारकी ऊँचाई, और उससे भी आगे बढ़े तो ज्ञानकी ऊँचाईको ऊँचाई मानते हैं। रज-वीर्यकी शुद्धिसे जाति बनती है, कर्मकी शुद्धिसे आचार बनता है और अविद्या-निवृत्ति पर्यन्त बुद्धिकी शुद्धिसे, आवरण-भंगसे ज्ञान बनता है। तो ये गोपियाँ बेचारी न जातिमें ऊँची, न आचारमें ऊँची, न ज्ञानमें ऊँची। और इनके सामने उद्धवजी लोट-पोट हो रहे हैं! यह किसकी महिमा है? उद्धवजी न जातिके सामने लोटते हैं, न आचार, न ज्ञानके सामने लोटते हैं। ये किसके सामने लोटते हैं? बोले—प्रेमके सामने। उद्धवजीका यहाँ जो नतमस्तक होना है, वह गोपियोंके प्रेमके सामने सिर झुकाना है।

तो गोपियोंके प्रति उद्धवजीके हृदयमें जो ऊँचा -से-ऊँचा भाव है, उसे यहाँ प्रगट कर रहे हैं। क्यों प्रगट कर रहे हैं? कि दूसरे लोग भी अपने हृदयमें गोपियोंके समान भाव धारण करें। यह एक श्रेष्ठ भाव है।

एता परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वः। उद्धवजी कहते हैं, कि इस धरती पर यदि सच्चा शरीरधारी कोई है, और किसीने अपने जीवनको सफल किया है—तो इन गोप-वधुओंने। शरीर तो सब धारण करते हैं। हमलोग शरीरधारी नहीं हैं? क्यों नहीं। आपको संस्कृतके एक शब्दका ध्यान दिलाता हूँ। संस्कृतमें एक शब्द है—'पाशी'। पाश माने फंदा। संस्कृतमें बड़ेको पाशी बोलते हैं। बड़ेके साथ एक ऐसा फंदा है—कि वे जिसको चाहें, उसको उसमें फँसा लें। जैसे शंकरजी त्रिशूली हैं, इन्द्र वज्री हैं, विष्णु चक्री हैं। वैसे ही बड़े लोग पाशी हैं। कोई एक अपराधी था। उसको पुलिस पकड़े लिए जा रही थी; तो उसकी कमरमें फंदा लगा हुआ था, पाश बँधा हुआ था। किसी संस्कृतके पण्डितने कहा—यह पाशी जा रहा है, क्योंकि यह पाश-फंदा तो उसकी कमरमें भी है। बोले—हाँ, पाश तो उसके पास है, लेकिन पाशमें वह पराधीन है। पाशका उसने स्वातन्त्र्येन प्रयोग नहीं किया है, पुलिसके अधीन होकर पाश उसके कमरमें लगवाना पड़ा है। और बड़ेके हाथमें पाश रहता है, तो वह कोई पाशसे बँधा हुआ नहीं है, वह तो स्वतन्त्रतासे पाशका

प्रयोग करता है। वैसे ही, जैसे इन्द्र वज्रका, विष्णु चक्रका, शंकर त्रिशूलका और वरुण पाशका प्रयोग करता है।

अब देखो, शरीरी कौन है? जो शरीरमें बँधा हुआ है, वह शरीरी नहीं, जो स्वतन्त्रतासे अपने शरीरका ईश्वरके लिए उपयोग कर सके—उसका नाम शरीरी है। अब बताओ, तुम्हारा शरीर सफल है कि नहीं? अगर तुमने जान बूझकर प्रेमसे ईश्वरकी सेवामें अपने शरीरको लगाया, तब तो तुम वरुणके समान पाशी हो, इन्द्रके समान वज्री हो, और नहीं तो जिसकी कमरमें पुलिसने पाश बाँधा है—वैसे पाशित हो। एक पाशी जाति भी होती है, जो ताड़के पेड़ पर चढ़कर ताड़ी उतारती है। पुराने जमानेमें हम लोग गाँवमें उनको अछूत मानते थे। फिर बादमें उनकी हरिजन संज्ञा हो गयी ना! मैंने यहाँ बम्बईमें एकके घरमें वहाँ काम करनेवालेसे पूछा—तुम कौन जाति हो, भाई? उसने बताया, कि मैं पाशी हूँ। मैंने सोचा कि इधरके लोग तो जानते ही नहीं होंगे, कि पाशी क्या होता है!

अब देखो शरीरकी बात। शरीर सफल किसका है? पैसा कमाया जिसने? तो पंचभूतका बना शरीर और उस पंचभूतका बना नोट। लाख-लाख नोट कमाये, सोना कमाया, चाँदी कमायी, तो शरीर सफल हो गया? पंचभूतसे पंचभूतकी कमाई की, जो पंचभूतके काममें आवे! पंचभूत-से-पंचभूतका भोग किया, बोले—शरीर सफल हो गया! यह धन कमानेसे, भोग करनेसे शरीर सफल नहीं होता है। तो भाई, जिनके पास चार पैसे हो जाते हैं ना, उनका दिमाग जरा दूसरे ढंगका हो जाता है। ईश्वर-कृपासे उनकी बनावट ही कुछ ऐसी हो जाती है, कि वे अपने सरीखा बुद्धिमान किसी दूसरेको समझते ही नहीं है।

अच्छा, बहुत कर्म किया—तो शरीर सफल हो गया? नहीं, कर्म करनेसे मजदूरी तुमको मिलेगी। तुम एक अच्छे किस्मके मजदूर हो, क्योंकि तुमने अच्छे काम किये हैं। तो बोले—भाई, हमने तो ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया, और मोक्ष प्राप्त किया। तो अब तो शरीरधारी हो गये? नहीं, तुम असली हो गये, शरीरातीत हो गये, ब्रह्म हो गये। जहाँ तक साधनका सम्बन्ध है, तुम्हारा शरीर सफल हो गया। लेकिन ब्रह्मज्ञानीका शरीर भी जब तक रहता है, तबतक वह कैसे प्रयोजनीय होवे?

एक महात्मा थे, गंगा किनारे छप्परकी कुटियामें रहते थे, नंगे। पर जब शौच जाते थे, तो खुरपा लेकर जाते थे, और गड्ढा खोदके शौचको भर देते थे। और जो लोग नालेमें, खोहमें शौच हो आते थे, उनका तो जब वर्षाका पानी आता, तो बह जता। और महात्माका तो खाद हो जाता। तो परोपकारार्थ उनका शरीर हो

गया। उनका शौच भी परोपकारके लिए। जमीनके ऊपर होनेसे दुर्गन्ध फैलती हवामें, गाड़ दिया, तो दुर्गन्ध नहीं फैली। और मिट्टी-में-मिट्टी मिल गयी, खाद हो गयी। तो ब्रह्मज्ञानीका शरीर ब्रह्मज्ञानके अनन्तर किसी उद्देश्यकी प्राप्तिके लिए नहीं रह जाता।

अब भक्तका शरीर देखो। ब्रह्मज्ञानके सारे साधन ब्रह्मज्ञान होने पर्यन्त हैं। और भक्तके सारे साधन, सारे उपकरण, समूचा शरीर, समूचा मन मृत्यु-पर्यन्त है। वेदान्त-दर्शनमें एक अधिकरण ही है, कि उपासकका शरीर जबतक रहेगा, तबतक सेवा करेगा। क्या लौकिक शरीर, क्या ज्ञानीका शरीर, क्या भक्तका शरीर-सबके साथ ऐसा ही है। अरे बाबा, कोई प्राणायाम-प्रत्याहार करते हैं, कोई माला फेरनेके लिए शरीर धारण करते हैं, और गोपियोंने साक्षात् नन्दनन्दन, श्यामसुन्दर, मुरली-मनोहर, पीताम्बरधारी, साक्षात् ब्रह्मके लिए अपने शरीरका उपयोग किया। तो असलमें शरीर सफल किसका हुआ? जिसका शरीर ईश्वरके काम आया। **एता परं तनुभृतः**। और सब शरीरमें बद्ध होकर, शरीरके पिंजरेमें फँसे हुए आये—पैदा हुए और मरनेके समय एक पिंजरेमें-से निकलके दूसरे पिंजरेमें घुसे। उनका शरीर तो पिंजरा है, पिंजरेमें बँधे होते हैं। और गोपियोंने अपने शरीरको, अपने जीवनको, अपने यौवनको, अपने हृदयको, अपने सर्वस्वको श्रीकृष्णके काममें लगाया, इसलिए **एता परं तनुभृताः**। बस, शरीर हो तो ऐसा हो।

अच्छा देखो, तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य बुद्धिसे ज्ञान होता है, तो बुद्धि सफल। और मनसे योगाभ्यास होता है—तो मन सफल, और इन्द्रिय-संयमसे तपस्या होती है—तब इन्द्रियाँ सफल। लेकिन बाबा, इस शरीरसे अगर ईश्वर मिल जाये ना, तो क्या पूछना! धन्य-धन्य हो गया शरीर। इस शरीरसे अगर ईश्वर पकड़में आजाये! सूरदासने कहा—

बाँह छुड़ाए जात हो निबल जान के मोय।
हृदय ते जब जाओगे मरद बदौंगो तोय॥

अविश्वास नहीं करना! इसी मनुष्य शरीरमें, इन्हीं आँखोंसे भगवान्‌का दर्शन होता है। इसी हाथसे भगवान् पकड़े जाते हैं; इन्हीं प्राणोंसे उनकी वाणी सुनी जाती है। यह मनुष्य शरीर कोई साधारण शरीर नहीं है।

अब कहते हैं—**तत्रापि भुवि**—नारदादि जो हैं—वे ब्रह्मलोकमें रहकरके अपने शरीरको सफल करें, गोपियोंने तो धरती पर रहकर अपना शरीर सफल किया।

अब देखो, **गोपवध्वो**; गोपियाँ जो हैं—कि अब घरका काम-धंधा छोड़ करके निवृत्त हो गयी हैं? अब तीर्थवास कर रही हैं, कि भगवान्‌का भजन कर रही हैं? ना ना! वे कोई वृद्धा नहीं थीं। अच्छा, तब कुमारी होंगी? उन्होंने ब्याह तो नहीं किया होगा? यह बड़ी अद्भुत बात है; **गोपवध्वाः**—उनके पति ये गोप, और वे उनकी वधू थीं। ऐसी परिस्थितिमें रहकरके, गोपोंकी वधू होते हुए, उनका संग घरमें निबाहते हुए कृष्ण-वधू हो जाना—यह गोपियोंके जीवनकी विशेषता है। साधारण लोगोंके जीवनमें यह बात नहीं आसकती। अपने स्वजन-सम्बन्धीको तो गोपीने छोड़ा ही, आर्य-पथका भी परित्याग किया; रासलीलामें यह प्रसंग आता है। कृष्णने गोपियोंसे कहा—कि गोपियो! अपने-अपने घर लौट जाओ और अपने पतियोंकी सेवा करो। तो गोपियोंने कहा—धर्मशास्त्रीजी, आप एक न्याय कर दीजिये हमारा। क्या? कि एक था पुरुष। उसको जाना था परदेस। तो अपनी पत्नीको उसने अपना एक फोटो दे दिया—कि जब तक मैं नहीं जाऊँ, तबतक तुम इसके सहारे रहना। अब वह पत्नी फोटोको चन्दन लगाये, माला पहनाये, सेवा-पूजा करे। घण्टों उसमें लगाये। एक-एक माला बनानेमें दो-दो तीन-तीन घंटे लग जाते; समय कट गया। वर्ष दो वर्षके बाद वह पुरुष लौटकर आया। किवाड़ी बन्द, और वह श्रीमतीजी—उसकी पत्नी थीं, वह अपने पतिके चित्रके सामने बैठ करके उसकी सेवा-पूजा कर रही, उनको भोग लगा रही! उसने पुकारा—कि किवाड़ी खोलो। तो अब उस पत्नीका क्या कर्तव्य है? चित्रपटकी पूजा करे, उसे भोग लगावे, उसका पाँव दबावे, कि जो अपना असली पति दरवाजे पर आकरके किवाड़ खटखटा रहा है, उसकी किवाड़ खोले, और घरमें ले आवे? न्याय करो। श्रीकृष्णने कहा—इसमें क्या न्याय है? अरे भाई! वह तो पतिकी तस्वीर है न! जबतक पति घरमें नहीं है, तबतक तस्वीरकी पूजा, और जब पति आगया—तो तस्वीर छोड़कर असली पतिकी पूजा। उसको ले आवे घरमें, खिलावे-पिलावे।

बोली—कि देखो कृष्ण! संसारमें जितने जीव हैं, उनके असली पति श्रीकृष्ण हैं, श्यामसुन्दर हैं, भगवान् हैं, पारब्रह्म परमात्मा हैं। और संसारमें यह जो पुरुष नाम-धारी जन्तु है—यह उसकी तस्वीर है, बाहरी ढाँचा है। यह स्त्रीको मन लगानेके लिए, उसको संयम करनेके लिए, उसकी मनोवासनाको कामसे रोकनेके लिए तस्वीर दी हुई है। कब तक? कि जबतक भगवान् न मिलें। भगवत्प्राप्तिके लिए पति होता है। यह जितना धर्मानुष्ठान है, यज्ञ है—किसके

लिए? ईश्वरके लिए। जबतक ईश्वर न मिले, ईश्वरका प्रेम न मिले, तबतक संसारके धर्मका पालन करना। धर्म-पालनका उद्देश्य धर्म नहीं है; धर्मपालनका उद्देश्य ईश्वरकी प्राप्ति है। धर्म अपनेमें फल नहीं है, धर्म अपने परम प्रेमास्पद परमात्माकी प्राप्ति कराके सफल है। जैसे पुरुष संन्यास ग्रहण करे; तो कब संन्यास ग्रहण करे—ब्रह्मचर्यसे, कि गृहस्थाश्रमसे, कि वानप्रस्थसे? सच्चा वैराग्य होना चाहिए; बस, यही शर्त है। बोले—भाई संसारके सम्बन्धियोंसे कबतक निभाएँ? कि जबतक भगवान्‌से सच्चा प्रेम न हो जाये, यही शर्त है। अगर भगवान्‌से सच्चा प्रेम हो गया, तो संसारको छोड़करके भगवान्‌से प्रेम कर सकते हैं। संसारके सब सम्बन्ध नकली हैं और भगवान्‌का सम्बन्ध असली है। इस परिच्छिन्न जीवके बीचमें भी नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त परमात्माके रूपमें वही बैठा हुआ है। जबतक अपरिच्छिन्न ब्रह्मसे अपनेको एक न जानो, तबतक जीवके संसारमें हजारों कर्त्तव्य हैं। और जब उसके साथ मिल गये, लग गये गले उसके, उसकी साँससे साँस जब मिल गयी, उससे हमारे प्राण जब एक हो गये, मन एक हो गये, तब तो बाबा! और क्या चाहिए! यह प्रेम तो पर्दा फाड़नेके लिए है, आवरण भंग करनेके लिए है। हमारे और उसके बीचमें जो कपड़े-लत्ते आगये हैं—उनको हटा देनेके लिए प्रेम होता है। संसारका सम्बन्ध असली सम्बन्ध नहीं है। आदमी मरते क्यों हैं? संसारकी चीजें बिछुड़ती क्यों हैं? आप कभी विचार करके देखना, तो मालूम पड़ेगा। अगर कोई लड़की-लड़का खिलौनेके साथ इतना रच-पच जाये कि अपनी माँको भूल जाये, अपने बापको भूल जाये, अपने पतिको भूल जाये, नाटकमें ही लग जाये—तो क्या खिलौना उसके हाथसे छीन करके उसको अपनी गोदमें नहीं उठा लेना चाहिए? तो ईश्वर जब देखता है कि हमारे ये जीव संसारमें रच-पच गये, तो थोड़ी हेर-फेर कर देता है। यह हेर-फेर इसलिए है कि जब संसारमें दुःखका अनुभव होगा, तो मनुष्य ईश्वरकी ओर चलेगा, ईश्वरसे प्रेम करेगा।

बोले—भाई! यह गोप-वधुएँ शब्दकी इतनी महिमा क्यों है? इनकी इतनी महिमा इसलिए है, कि—**गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः**—गोपियोंके भाव रूढ़ हो गये हैं। हमारे गाँवमें 'रूढ़' शब्दका प्रयोग करते हैं। ककड़ी जब फलती है, जब परिपक्व होकर फटने लगती है—तो कहते हैं, कि अब रूढ़ हो गयी, माने अपनी पूर्ण अवस्थाको पहुँच गयी। अब इसका उपयोग कर लेना चाहिए, अन्यथा यह गल-सड़ जायेगी, खराब हो जायेगी।

तो ये गोपियाँ कैसी हैं? कि ये प्रेमकी पूर्णावस्था हैं। रूढ़ माने अभिरूढ़ हो गया है भाव जिनका। श्रीकृष्णके साथ अखण्ड सम्बन्ध जुड़ा; अब कभी नहीं टूटेगा ईश्वर-कृपासे। इसको प्रेम बोलते हैं। जन्म-जन्मके लिए विश्वास हुआ। अब न हम छोड़ेंगे, न यह छोड़ेगा। हृदय द्रवित होकरके तदाकार हुआ। ये हमारे हैं—ऐसी ममताकी दृढ़ता हुई। हृदय उनके रंगमें रंग गया और उनका हृदय हमारे रंगमें रंगा हुआ है—यह साक्षात् अनुभव होने लगा। और दिन भर भावकी दशा, महाभावकी दशा बनी रहे—

मिले रहत मानों कबहुँ मिले ना।
भगवत रसिक रसिक की बातें रसिक बिना कोऊ समझ सके ना।
मिले रहत मानों कबहुँ मिले ना।

अब गोपी और कृष्ण, कृष्ण और गोपी दिन-रात मिले रहते हैं। भाव उनका रूढ़, परिपक्व हो गया है। असलमें सच्चिदानन्द जो वस्तु है, वह पृथक्-पृथक् नहीं होती, इसलिए समाधिमें सद्भावसे ऐक्य प्राप्त होता है, प्रेममें आनन्द भावसे ऐक्य प्राप्त होता है और प्रकृति पुरुष विशेषमें चिद्भावसे ऐक्य प्राप्त होता है। लेकिन यदि आवरण भंग हो गया हो, तो सद्भाव भी ब्रह्म है, चिद्भाव भी ब्रह्म है और आनन्दभाव भी ब्रह्म है। सब अवस्थाएँ ही एक सरीखी हो जाती हैं। और यदि तत्त्वमस्यादि महावाक्य-जन्यवृत्तिसे आवरण-भंग न हुआ हो, तो सद्भाव मालूम पड़ेगा—कि समाधि है, चिद्भाव मालूम पड़ेगा—कि द्रष्टा पुरुषमें अवस्थान है और आनन्दभाव मालूम पड़ेगा—कि भोक्ता भोग्यका पृथक् ईश्वरमें अवस्थान है। इसीलिए बताया—कि गोपियोंका भाव परिपक्व है।

प्रेमकी बड़ी विचित्र-विचित्र दशा होती है। प्रेम कभी क्षीण नहीं होता। प्रेमके हृदयमें कठोरता नहीं आती। प्रेममें बाँकापन रहने पर भी मृदुता रहती है। प्रेममें निर्भयता होती है। प्रेम बुरी-से-बुरी अवस्थामें भी साथ नहीं छोड़ता है। और प्रेममें नये-नये रसकी उत्पत्ति होती है, नया-नया सुख, नया-नया स्वाद, नया-नया भाव क्षण-क्षण पर आता है। तो यह गोपियोंका प्रेम किसके प्रति है? **गोविन्द एव निखिलात्मनि**—निखिलात्मा गोविन्दमें; सर्वात्मा गोविन्दमें। एक बोलते हैं सर्वान्तर्यामी और एक बोलते हैं गोविन्द; ये दो शब्द हैं। गोविन्द शब्दका सीधा अर्थ है—जो गाय चराये। तो आप गाय चराते हैं या नहीं? गोरक्षक हैं कि नहीं? चरवाहे हैं? **गोविन्द एव निखिलात्मनि**। देखो, इन्द्रने कहा था, कि हम व्रजका नाश कर दें, और श्रीकृष्णने व्रजको बचाया। तब कामधेनुने, इन्द्रने और

व्रजवासियोंने श्रीकृष्णका नाम गोविन्द रखा; यही गोविन्द है। **गा विन्दन्ति परम तात्पर्यरूपेण सर्वा अपि गाः श्रुतिः विन्दन्ति।** सम्पूर्ण श्रुतियोंको प्राप्त होते हैं भगवान्। कैसे प्राप्त होते हैं? उनके परम तात्पर्यके रूपमें। गोविन्द माने सम्पूर्ण श्रुतियोंका परम तत्पर्य, जो अपूर्व, अकार्य, अकारण, अद्वेश्य, अकाल है, जो प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म है। वह गोविन्द है और वह सबकी आत्मा है। यह मुरली-मनोहर, पीताम्बरधारी, श्यामसुन्दर, नन्द-नन्दन, वृन्दावन विहारी, साँवरा सलोना, व्रजराजकुमार—जो गायोंके पीछे-पीछे ग्वाल बालोंके संग ठुमुक-ठुमुक करके नृत्यकी गतिसे, तालसे पाद-विन्यास करते हुए, मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए, प्रेमभरी चितवनसे देखते हुए, पीताम्बर फहराते हुए—वह जो जमुना पुलिन पर चल रहा है—उसका नाम है गोविन्द। उसके प्रति गोपियोंका प्रेम है।

बोले—भाई, इस प्रेमकी प्राप्तिसे ही असलमें मनुष्यका शरीर सफल होता है। इसलिए गोपियोंका जीवन सफल है, क्योंकि उन्होंने कृष्णसे प्रेम किया।

यह प्रेमकी इतनी महिमा क्यों गाते हो, उद्धवजी?

वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च।
किं ब्रह्म जन्मभिरनन्तकथारसस्य॥ ५८॥

यद् यस्मात् सर्वेपि सम रूढभावं वाञ्छन्ति—क्योंकि संसारमें ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो ऐसे रूढ़ प्रेमको, परिपक्व प्रेमको, रसायनको, इस प्रेमके रसालको न चाहता हो। यह ऐसा रसाल है—जिसमें गुठली नहीं, छिलका नहीं और बस, पटापट निगलते चले जाओ। मजा ही मजा है। रस-ही-रस है ऐसा प्रेम। कौन चाहता है इसे? **यस्मात् यद् रूढभावं भवभियः वाञ्छन्ति, मुनयो वाञ्छन्ति, वयं च वाञ्छामः।** यह श्रुति है एक; मंत्र है उपनिषद्का **यं सर्वे मनन्ति मुमुक्षयो ब्रह्मवादिनो च।** उस श्रुतिका यहाँ अर्थ दे दिया—जिसको सब चाहते हैं। **भवभियः**—जो जन्म-मरणके भयसे डरते हैं, वे मुमुक्षु लोग चाहते हैं—कि गोपियों सरीखा हमारा प्रेम हो जाये; कि भई, पति मिले—तो कृष्ण!

ऐसे बर को के बरूँ जो जनमे और मर जाए।

जो-जो मरनेवाले हैं, वे सब दुःख देनेवाले हैं। वह अनमिला, अनदेखा होनेपर भी अपने हृदयमें विराजमान, अपना प्यारा-प्यारा साजन है। यह संकीर्ण वासनाओंको मिटानेवला है। उससे प्रेम करो, जन्म-मृत्युसे छूट जाओगे।

मुनयो—माने, मुक्त लोग भी इसका भजन करते हैं, और **वयं च भक्ताः**—हम भक्त लोग भी इसीका भजन करते हैं।

बोले—बाबा, यह कृष्णके प्रेममें क्या रखा है? ठीक है; जिसके हृदयमें यह प्रेम जागता है ना, वही इसे जानता है।

पीड़ा भव नव कालकूट कटुता—इत्यादि

जब प्रेममें विरहकी पीड़ा हृदयमें जगती है, तो हालाहल विष फीका पड़ जाता है। और जब प्रेममें संयोगकी मिठास जगती है तो अमृतकी मिठास फीकी पड़ जाती है। प्रीतिकी रीति अत्यन्त निराली है, ऐसी टेढ़ी-मेढ़ी चलती है—कभी वक्र, कभी मधुर। और प्रीतिवाले प्यारेकी चर्चा की जाये ना; उसकी कोई कहानी सुनाने लगे, तो, **अनन्त कथारसस्य**—उस अनन्त, प्राणप्यारे श्यामसुन्दर, मुरली-मनोहरकी कोई कथा, कोई कहानी सुनाने लगे, तो मन करता है, अनन्तकाल तक सुनते ही चले जायें। मुक्त जीवन हो गया! सारे पदार्थ पा गया।

रस विशेष जाना तिन नाहीं।
रामचरित जे सुनत अघाहीं।

बस, बस! वही बात है न, जो पहले सुनी थी। वही तो आज सुन रहे हैं न! हमने तो समझा था कि सुन लिया है, बाँच लिया है उद्धव-गोपी संवाद। इसमें क्या रखा है जी!

एकने कहा—आओजी, तुलसीदासजीने रामचरितमानस लिखा है, जरा उसको पढ़ें। अरे, उसमें क्या रखा है?

एक छत्री एक बाहत्रा।
एक राम एक रावत्रा॥
उनने उनकी नार चुराई।
उनने उनते करी लड़ाई॥
तनिक बात की बातत्रा।
तुलसी लिख गए पोथत्रा॥

ऐसा रस है इसमें, कि एक-एक पदमें स्वाद है। स्वादु स्वादु पदे पदे। तो क्या बोलते हैं—

अनन्त कथा रसस्य ब्रह्मजन्मभि न किमपि।

किसीने कहा—भाई, देखो! हम ब्राह्मण हो गये। शुक्लवंशमें हमारा जन्म हुआ। फिर बोले—उसके बाद पावित्र्य हुए—माने यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। और उसके बाद फिर यज्ञ-याग किया; याज्ञिक हो गये। शुल्क, पावित्र्य और याज्ञिक—तीनों प्रकारके हम ब्रह्मण हो गये। अब हमारे लिए इन पुराणकी

कथाओंमें क्या रखा है? बोले—अभी उनको मजा नहीं आया। अभिमान जो सट गया! यह जो मजा है ना कथाका –

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

भा. १.२.८

श्रीमद्भागवतमें बताया—कि एक मनुष्य अच्छे वंशमें पैदा हुआ। उसने अपने धर्मोंका अनुष्ठान किया। 'धूम्र धूम्रात्मनां', आगके सामने बैठे। शरीरमें लगी आँच, नाकमें घुसा धुआँ, कलेजा तो काला हो गया, धुआँ सूँघते-सूँघते। काशीमें एक बड़ा भारी विद्वान था। उसने लिखा है—कि हमारे पिताजीकी छाती पर जो बाल थे काले-काले, तो वे रोज अग्निहोत्र करते थे न, उस अग्निहोत्रका धुआँ बालोंके रूपमें निकला था। तो **धूम्रात्मनां**—जो भीतर काला भरा हुआ था, वह धुएँके कारण बाहर निकला, न, ऐसे नहीं—बोले :

नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्।

यदि तुम्हारे हृदयमें भगवत्कथासे प्रीतिका उदय नहीं हुआ, **विष्वक्सेन कथासु यः**—भगवान्‌की कथा प्यारी नहीं लगी, तो सब धर्मानुष्ठान परिश्रम है। यह भागवतका संदेश है।

उसकी वाणी कैसी है? बोले—जैसे अपने घरमें कुलटा पत्नीको पालना खतरेका काम है, उसी प्रकार भगवद्-गुणानुवादसे वर्जित कुलटा धूलको मुखमें रखना—यह खतरेका काम है। पता नहीं कहाँ सरावेगी! तो **किं ब्रह्मजन्मभि**—ब्राह्मणके जो धर्मानुष्ठान करानेवाले पावित्र्य, याज्ञिक, शुल्क-तीन जन्म हैं, वे व्यर्थ हैं, यदि भगवत्कथामें रस नहीं आया।

दूसरे कहा—इसका अर्थ यह है कि अगर ब्रह्मा ही हो जायें कभी, और भगवान् ऐसा ठेका दे दें—कि जब-जब नई सृष्टि होगी, तब-तब हर कल्पमें तुमको ब्रह्मा बनावेंगे, **ब्रह्मजन्मभिः** बहुवचन है ना; तो एकने ब्रह्म शब्दका अर्थ किया ब्राह्मण, दूसरेने किया ब्रह्मा। तो यदि भगवान्‌की कथा सुननेको मिल गयी, और उसमें रस आगया, तो? बोले—भगवान्‌की कथामें जो रस है, जो मजा है—उसके सामने ब्रह्मा होनेमें क्या रखा है? गौड़ेश्वर सम्प्रदायके लोग कहते हैं कि **ब्रह्मजन्मभिः**का अर्थ है ब्रह्माकारवृत्ति, ब्रह्मजन्य है—चित्तमें ब्रह्माकारवृत्तिका उदय। अपने ब्रह्मत्वका जन्म ही ब्रह्मजन्य है। अगर भगवान्‌की कथामें रस आगया—तो हे संध्यावन्दन! तुम्हारा कल्याण हो; **सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवते!** हम

तुमको नमस्कार करते हैं। देवता! पितरो! तत्त्वावधानमें हम समर्थ नहीं हैं, माफ करो। हम तो अब बैठ गये और चल गयी चर्चा! कभी देखना बैठकर अपने घरमें कैसी बात पर बार्त निकलती है—जब माखन-चोर की चर्चा चलती है। तो इसीलिए भगवान्‌ने कहा—भाई! ये जो हमारे प्यारे जीव लोग हैं, ये जरा साँपकी चर्चा हो—तो ज्यादा बोलते हैं, चोरकी चर्चा हो तो ज्याद बोलते हैं, जारकी चर्चा हो तो बहुत बोलते हैं। बोले—हम भी यह सब बन जाते हैं। वह कालिय नागकी लीला कर दें, माखन-चोरी कर लें, चीर-हरण कर लें, रास कर लें। कैसे तो बाबा, तुम्हारे कानमें हमारी लीला पड़े।

अच्छा, इसको उलट दिया—**अनन्त कथारसस्य का अनन्तकथा अरसस्य** कर दिया, जिसको अनन्त कथामें रस नहीं है, उस बेवकूफको ब्रह्माका जन्म मिला तो क्या! ब्राह्मणका जन्म मिला तो क्या! और निरन्तर समाधिमें बैठा तो क्या! जो असली रसीली चीज थी—वह तो उसने छोड़ ही दी।

किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य। सनातन गोस्वामीने इसका ऐसा अर्थ किया है। वे श्रीचैतन्य महाप्रभुके पूरे भक्त थे। मतलब यह—कि जब भगवत्कथामें रस आगया, तब ब्राह्मण होनेमें क्या रखा है, और ब्रह्मा होनेमें क्या रखा है, और ब्रह्माकारवृत्तिमें क्या रखा है! आना तो रस ही चाहिए न!

तो इसीलिए बोले—भाई! यह गोपियोंका दर्शन, गोपियोंका श्रवण, यह गोपियोंके हृदयमें भगवान्‌का प्रेम—यह सबसे बड़ी वस्तु है। अपने हृदयमें दुःख नहीं पालना, अपने हृदयमें रस लाना। भगवान्‌को भोग रसका लगाया जाता है, कड़वाहटका नहीं। संसारमें चाहे कोई भी परिस्थिति हो, अपने हृदयको भगवत् रसकी चाशनीमें सराबोर कर देना, तर कर देना, उसको रसीला बना देना। अब वह हृदय ही भगवान्‌को भोग लगाने लायक हो जाता है। अपना हृदय भगवान्‌को भोग लगाओ। प्रेम सबसे बड़ी वस्तु है। इसमें क्या हम, क्या मुनि, क्या मुमुक्षु और क्या ये गाँवकी ग्वालिन, इन्होंने कृष्णसे प्रेम किया, और अपना जीवन सार्थक कर लिया।

छप्पनवाँ प्रवचन

प्रेमकी महिमा है! अगर अपने हृदयमें प्रेम आजाये—भगवत्प्रेम, तो विष भी अमृत बन जाये, मौत भी नारायण बन जाये। उद्धवजी व्रजवासियोंका प्रेम देखकर भौंचके रह गये।

उद्धवजीको स्वर्गमें रहनेका अवसर प्राप्त हुआ था। यहाँ व्रजमें आनेसे पहले उद्धवका सम्बन्ध देवताओंके साथ प्रत्यक्ष था। शंकराचार्य भगवान्‌ने अपने ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें लिखा है कि आजकलके लोग यदि स्वर्गमें नहीं आ जा सकते, तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पुराने जमानेमें भी लोग नहीं आजा सकते थे। लोगोंकी शक्तिका ह्रास हो रहा है, बुद्धिका ह्रास हो रहा है। शंकराचार्य भगवान्‌के समयमें स्वर्गके साथ सीधा सम्बन्ध छूट गया था, परन्तु यदुवंशियोंके समयमें स्वर्गके साथ सीधा सम्बन्ध था। अर्जुनका वर्णन आता है ना, वे गये थे स्वर्गमें। तो यह तो वही समय था। उद्धवजी स्वर्गमें आते-जाते थे; यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं। तो वे थे वृहस्पतिके शिष्य, बोले—कि जो योग्यता इन लोगोंमें है, वह योग्यता तो वृहस्पतिजीमें भी नहीं थी। और उनके पास पढ़ने लिखने जो देवता लोग आते थे, उनमें भी वह योग्यता नहीं थी।

तो शरीर धारण करनेका जो फल है, वह गोपियोंको मिला, देवताओंको नहीं, एतः परं तनुभृतो। बोले—उद्धवजी, आपका क्या दृष्टिकोण है—कि जीवनकी सफलता किस बात पर निर्भर करती है? एक आदमी बड़ा धर्मात्मा है संसारमें, तो उसका जीवन सफल मानते हैं? उसने दान किया, होम किया, जप किया। तो धर्मात्माका जीवन तो सफल जीवन है ही है। बोले—नहीं, उसने तप किया, तो तप करनेकी इन्द्रियाँ सफल हैं। उपासना करनेवालेका मन सफल है, ज्ञान प्राप्त करनेवालेकी बुद्धि सफल है, समाधि लगानेवालेका चित्त सफल है। लेकिन भाई, सम्पूर्ण जीवन किसका सफल है?

वर्णन आया है—कि गोपियाँ श्रीकृष्णके चरणारविन्दको अपने वक्षःस्थलपर रख रही हैं। क्या वर्णन है बढ़िया, रासमें—

एका तदंघ्रिकमलं संतप्तो स्तना।

एक गोपी श्रीकृष्णके विरहसे व्याकुल थी, और उसने भगवान्‌के चरणारविन्दको उठाकर अपने हृदय पर रख लिया। एकने उनका ताम्बूल चर्वित ले लिया। जरा देखो ना! अब यह लाड़ प्यार स्वर्गमें—उद्धवजीने देखा किसीको

नहीं मिलता। इसका कारण क्या है? कि जहाँ अभिमान आजाता है ना, वहाँ मनुष्य सेवा-सुखसे वंचित हो जाता है। देवताओंको भोग बहुत अधिक प्राप्त है, कहते हैं—हमारे घर-घरमें एक-एक विमान है, हमारी उर्वशी रम्भा जैसी अप्सराएँ हैं, नन्दनवन है, सुन्दर स्वस्थ शरीर है, विद्या-बुद्धि है। तो अभिमानके कारण देवता लोग इस सुखसे, और भोगाधिक्यके कारण वे परमार्थसे वंचित हैं। और बलाधिक्यके कारण दैत्य वंचित हैं। बलकी अधिकता है दैत्यमें। अपनी शक्तिके मदमें दैत्य चूर है और अपने भोगके मदमें देवता चूर है। मनुष्य लोभके वशमें चूर है। कामाधिक्यसे देवता गया, क्रोधाधिक्यसे दैत्य गया और लोभकी अधिकताके कारण मनुष्य ईश्वरसे वंचित हो गया। वह बिचारा इकट्ठा ही करनेमें लग गया। यह जानते हैं कि हमारा लड़का भी कमायेगा, हमारा भाई भी कमायेगा और ये अपने-अपने समयमें अच्छे व्यापारी होंगे, लेकिन ये महापुरुष क्या करते हैं? कि इकट्ठा करके उनके लिए जमा करते हैं। यह नहीं—कि अपने बुढ़ापेके लिए जमा करते हों, उसके लिए तो बहुत थोड़ा काफी होता है।

अच्छा देखो, मोह कैसा है? जिनके बेटा नहीं है, वे भी तो जमा करते हैं। तो लोभकी अधिकतासे मनुष्य फँस गया संसारमें। बलकी अधिकतासे दैत्य फँस गया और भोगकी अधिकतासे देवता फँस गया। और इन्हीं लोगोंमें किसीको योगका मद आया, किसीको तपस्यानुष्ठानका मद आया। कोई महाराज, अपने ज्ञानमें ही मग्न। सम्पूर्ण जीवन अगर भगवान्‌में लगा—तो गोपियोंका ही लगा।

निगूढं प्रेमभाजनम्—हमारे प्रेमकी पात्र तो गोपियाँ हैं, जो नहाती हैं मेरे लिए, तेल लगाती हैं मेरे लिए, खाती हैं मेरे लिए, जीती हैं मेरे लिए। श्रीकृष्णकी सेवाके लिए गोपियोंका जीवन है। दो ही पक्ष हैं जीवनमें; या तो तत् पदार्थके लिए जीवन हो या त्वं-पदार्थके लिए। माने अपने लिए होवे तो समाधि लगावे, और उसके लिए होवे—तो प्रेम करे। और न उसके लिए हो न अपने लिए, कि काहेके लिए? लुगाईके लिए, मुटियारके लिए। संसारमें लोग काहेके लिए जिन्दा रहते हैं? कोई स्त्रीके लिए, कोई पुरुषके लिए, कोई पुत्रके लिए। अरे भाई, ये संसारके सम्बन्ध मारके छोड़ेंगे। ये संसारके रिश्ते जबतक कपटसे लतियावेंगे नहीं, तबतक छोड़ेंगे नहीं।

तो जीवन सफल करना हो तो भगवान्‌से प्रेम करो। और गोपियोंने जो भगवान्‌से प्रेम किया, सो सहज, स्वाभाविक प्रेम किया। कैसे भी प्रेम हो—यह सुख तो पहुँचावें प्रियको। यशोदा मय्याने उद्धवसे पूछा था—कि क्यों उद्धवजी!

जब हमारा कन्हैया, हमारे लाला सबेरे उठता है, तो वहाँ माखन मिश्री रोटी पर रखकर कोई उसको देता है, कि नहीं देता? गोपियोंने पूछा—कि जैसे श्यामसुन्दर बाँसुरी बजाते थे तो हम उसके स्वर पर नाचती थीं। क्या मथुरामें भी कभी बाँसुरी बजती है? और उसके स्वर पर कोई नाचनेवला है वहाँ? बिना नृत्यके उसको वंशी बजानेमें कैसे आनन्द आता होगा? अरे बाबा, गोपीका तो जीवन कृष्णके लिए है ना! **वाञ्छन्ति यद् भवभियो मुनयो वयं च।**

संसारसे छूटनेके लिए लोग चाहते हैं, कि श्रीकृष्णका प्रेम हो। मुक्त लोग चाहते हैं कि हम श्रीकृष्ण-प्रेममें मग्न हों। उद्धवजी बोले—हमारे सरीखे दास भी यही चाहते हैं। हम तो पहले समझते थे, कि मथुरामें हम श्रीकृष्णके साथ-साथ रहते हैं, सखा होना अच्छा है। अब वृन्दावनमें आकर हमने समझा कि सखी होना अच्छा है। **वयं च वाञ्छामः**—हम भी चाहते हैं कि गोपियों जैसा प्रेम हमारे हृदयमें आवे।

आप जानते हैं, शान्त रसमें एक प्रेम होता है, श्रीकृष्ण त्रिभंग ललित भावसे खड़े हैं—चाहे कमल पर खड़े हैं, चाहे हृदयमें खड़े हैं। और हम उनका दर्शन कर रहे हैं। दूसरा है, कि हम उनकी सेवा कर रहे हैं, नहीं, उनके साथ खेल रहे हैं। तो सेवा करना दास्य हो गया, और खेलना सख्य हो गया। नहीं, हम उनको खिला रहे हैं—तो वात्सल्य हो गया। कि नहीं, हम उनके साथ मधुर-मधुर भावसे बात कर रहे हैं, खेल रहे हैं, हँस रहे हैं—यह मधुर भाव हो गया। तो रसिकोंने यह विचार किया है—कि शान्त भावमें सिर्फ देखना ही है, दर्शन ही है। उसमें न दास्य है, न सख्य है, न वात्सल्य है, न मधुर है। और दास्य भावमें शान्त है, और दास्य है। सख्य भावमें शान्त है, दास्य है, और सख्य है। वात्सल्यमें शान्त है, दास्य है, सख्य है और वात्सल्य है, परन्तु मधुर नहीं है। सख्यमें भी मधुर नहीं है। अब यह जो गोपियोंका प्रेम है—मीठा-मीठा, यह जो मधुर सम्बन्ध है, इसमें देखो—शान्त भी है, दास्य भी है—पत्नी सेवा भी करती है ना—और सख्य भी है, और वात्सल्य भी है—दुलार भी करती है। और उसका जो अपना भाव है—मधुर, सो तो है ही है। तो शान्तमें, दास्यमें, सख्यमें, वात्सल्यमें मधुर रसका अन्तर्भाव नहीं होता है, परन्तु मधुर रसमें सबका अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए सर्वोत्तम रस है शृंगार रस।

अब यह भी ऐसी विलक्षण बात है, कि संसारके लोग जो हैं, वे तो केवल काम-भोगकी ही बात जानते हैं। संसारी लोगोंके सामने शृंगार रसकी बात कही भी नहीं जाती। रामानन्द रायका चैतन्य महाप्रभुके साथ एक संवाद है न! महाप्रभुने पूछा रामानन्द रायसे—कि सबसे बड़ा आनन्द कौन-सा है? बोले—भगवान्‌का दर्शन।

बोले आगेकी बात? बोले—इससे आगे है उनकी सेवा करना। बोले—नहीं, और आगे बढ़ो! तो बोले--उनके साथ खेलना है। बोले—और आगेकी बात करो। कि नहीं, उनको लाड़ करना, दुलारना, खिलाना, पिलाना। बोले—और आगेकी बात। तो बोले—उनके साथ मधुर भाव होवे। जैसे द्वारिकाकी पटरानियाँ प्रेम करती हैं, वैसे होवे मधुर भाव। बोले—कि और आगेकी बात करो। अच्छा; जैसे गोपियाँ हैं—ऐसा प्रेम हो। बोले—कि और आगेका बोलो। कि जैसा राधारानीका है, वैसा होवे। बोले—और? बोलो—राधा और श्रीकृष्ण मिलन पर..। और जब उन्होंने वर्णन प्रारम्भ किया, तो महाप्रभुने उनके मुँह पर हाथ रख दिया—बस, बस! अब आगे नहीं। यह रसकी पराकाष्ठा है।

देखो भाई! बात सच्ची और ईमानदारी हो। तुमको संसारमें दुःख होता है कि नहीं? अगर तुममें दुःख न हो, तो हम तुम्हारे डाक्टर कैसे? अगर रोग न हो तो डाक्टरोंकी दुकान नहीं चलती है। वह तो संसारमें रोग होता है, शोक होता है—इसलिए डाक्टरोंकी ज़रूरत रहती है। तो अगर तुम्हारे मनमें दुःख होता है, तो न भोगकी जरूरत है, न ज्ञानकी, न यज्ञ-यागकी। तुम मन्द-मन्द मुस्कुराते हुए, मुरली मनोहर, पीताम्बरधारी श्यामसुन्दरका स्मरण करके कृष्ण कृष्ण कृष्ण बोलो; और उसी समय तुम्हारा दुःख कट न जाये, तो जवाब तलब करो हमसे। तुम्हें मुस्कुराते हुए श्रीकृष्णका स्मरण हो, और दुःख होवे—यह बात कभी सम्भव नहीं है। सुखकी मूर्तिका नाम श्रीकृष्ण है। परमानन्द, सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन, समाधि, धर्म, ज्ञान, भोग—सब एक, इसका नाम है भगवान्। अब यदि जानबूझ करके तुम दुःखके ही आशिक हो गये हो—किसी-किसीका इष्ट भी तो बड़ा विलक्षण होता है न, कोई दुःखके ही आशिक हो जाते हैं—तो कोई बात नहीं। तुम दुःखसे मुहब्बत करो, दुःखसे प्रेम करो। दिन भरमें सौ-पचास बार उससे मिल लिया करो, तुमको कोई क्या कहेगा? लेकिन यदि दुःख मिटाना चाहते हो, तो भगवान्से प्रेम करो।

किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य—जिसको श्रीकृष्ण कथाका मजा आगया, रस आगया, उसके लिए ब्राह्मणका जन्म, ब्रह्माका जन्म, ब्रह्माकारवृत्ति—किसीकी कीमत नहीं है। यही कथा है, जिसको हम बोलते हैं। कथाके अमृत-समुद्रमें जिसने पान कर लिया, उसके सारे दुःख मिट गये। देखो, बाबाजी लोग कथाका सहारा लेते हैं, उनको अन्नकी, भोगकी कमी तकलीफ नहीं देती है। आज एक व्यक्ति सुबह कई दिनोंके बाद मिले। उन्होंने कहा—श्यामजी, हम नहीं जानते लोक-परलोक, वैकुण्ठ, नित्य वृन्दावन और भगवान्। ये सब क्या होते हैं—हम

नहीं जानते, लेकिन जब कभी-कभी दु:ख होता है, उस समय जब कथाकी बात याद आती है—तो हमारा दु:ख तुरन्त भाग जाता है। बस, उसीका सहारा रहता है। कथामें सुनी हुई बात जब याद आती है, तो घरमें जलती हुई जो आग है—वह बुझ जाती है, शान्त हो जाती है। तो भाई, घरकी आग बुझानेके लिए भी तो कुछ चाहिए न! लोगोंके घरमें रोग है, वियोग है, मृत्यु है। सबसे बड़ी वस्तु है भगवान्‌की भक्ति। अभिमान नहीं करना; अभिमानमें भगवान्‌की भक्ति नहीं होती है। उद्धवजी कहते हैं—आश्चर्य, आश्चर्य! कहाँ यह गोपी, और कहाँ भगवान्‌का प्रेम!

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः।
कृष्णे क्व चैव परमात्मनि रूढभावः॥

कहाँ ये गाँवकी ग्वार ग्वालिन—**क्वेमाः स्त्रियः**, योगसे भी स्त्री, **वनचरी**—वनमें भटकनेवाली, **व्यभिचारदुष्टाः**—सदाचारसे वंचित, और कहाँ श्रीकृष्णके प्रति अपनी आत्मासे भी अधिक, अपनेसे भी ज्यादा प्रेम! **परमात्मनि रूढभावः**; माने आधारके लिए योग्यताकी अपेक्षा है। भक्तिकी दृष्टिसे यह बहुत गम्भीर बात इस श्लोकमें कही जा रही है। मैं समझता हूँ कि दशम स्कन्धके किसी भी श्लोक पर सम्भवतः इतनी लम्बी टीका श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने नहीं लिखी है। श्रीसुबोधिनीमें सबसे अधिक टीका इसी श्लोक पर की है।

तो कहते हैं—प्रेम तो होना चाहिए उत्तमसे, प्रेम करनेवाला उत्तम है कि निकृष्ट है—यह विचारा नहीं है। प्रेम करनेका अधिकार सबको है। ज्ञान करनेका अधिकार सबको नहीं है, प्रेमका अधिकार सबको है। प्रेममें शास्त्रका प्रभाव नहीं पड़ता है, यह ऐसा द्रव्य है जिसपर शास्त्रका असर नहीं पड़ता है। जैसे दही है ना, और पीतलके बर्तनमें रख दो, तो खराब हो जायेगा कि नहीं? बिगड़ जाता है। तो दही पर पीतलके बर्तनका असर पड़ गया। अब ज्ञान जो है—उसको अशुद्ध अन्त:करणमें रख दो, तो ज्ञान भले हो जाये—उस ज्ञानीका जीवन कलंकित ही रह जायेगा; माने अधिकसे अधिक जो बात हो सकती है—ज्यादा-से-ज्यादा रियायत देकर यह बात कर रहा हूँ—कि अगर अशुद्ध अन्त:करणमें ज्ञान रख दिया जाये—तो यह तो सम्भव है कि मुक्ति हो जाये, लेकिन जबतक ज्ञानीजी महाराज रहेंगे, तबतक वे मलिन ही रहेंगे। ज्ञान सम्प्रदायको लांछन मिलेगा।

लेकिन प्रेम एक ऐसी चीज है, जिसपर शास्त्रका प्रभाव नहीं पड़ता—कि करनेवला कौन है। उसपर प्रभाव इस बातका पड़ता है प्रेम किससे किया गया। विषयका प्रभाव पड़ता है प्रेम पर और शास्त्रका प्रभाव पड़ता है धर्म पर, शास्त्रका

प्रभाव पड़ता है योग पर शास्त्रपर धर्मपर। अधिकारीका प्रभाव पड़ता है धर्मपर, शास्त्रका प्रभाव पड़ता है धर्मपर। अगर अनधिकारीने धर्मानुष्ठान किया, तो विपरीत फल होता है। तो अनधिकारीके करनेसे धर्म बिगड़ जाता है, अनधिकारीके करनेसे योगाभ्यास रोगका हेतु बन जाता है—

देखा देखी कीजै योग।
छीजै काया बढ़े रोग।

तो ज्ञान अनधिकारीमें आकरके दृष्ट-दुःखका नाशक न बने; यह सम्भव है, परन्तु प्रेम तो जिसके अन्तःकरणमें आयेगा—उसका मंगल ही करेगा। यह प्रेमका लक्षण है। प्रेम रस है, प्रेम मधु है, प्रेम अमृत है, जिसके अन्तःकरणमें आवेगा, उस पात्रका विचार नहीं करेगा—कि यह धुला है कि नहीं, मँजा है कि नहीं, किस धातुका बना है, केवल प्रेम होना चाहिए। प्रेमका आधार बननेके लिए प्रेमका विषय कौन है। अगर प्रेमका विषय पवित्र है—कृष्णसे प्रेम किया गया, भगवान्‌से, नारायणसे प्रेम किया गया, तो चाहे प्रेमी कोई भी हो—उसका मंगल ही मंगल है।

अब यहाँ बताते हैं कि प्रेम करनेवाला किस जातिका आदमी है। इसके कैसे आचरण हैं, इसका ज्ञान कितना है—

क्वेमा स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः।

सर्व प्रकारसे ये ग्रामीण हैं। जातिसे हीन हैं, आचारसे हीन हैं और ज्ञानसे हीन हैं। इनमें किसी प्रकारकी पात्रता नहीं है। तो फिर इनके अन्दर यह योग्यता कैसे आयी कि उद्धवजी इनको नमस्कार करें? तो बोले, कि—

कृष्णे क्व चैव परमात्मनि रूढभावः।

प्रेम है बाबा! इसका नाम रूढ़ भाव है। श्रीकृष्णके प्रति सहज प्रेम है। औपाधिक प्रेम नहीं है, यह नहीं समझना—कि कृष्णकी जातिकी जाँच करके तब गोपियोंने कृष्णसे प्रेम किया था, कि उनका रंग-रूप देखा था। नहीं, वे तो कृष्ण हैं—ब्रह्म, परमात्मा और कृष्ण। यह बात जरा पीछे सुनाता हूँ। प्रेम विलक्षण है, क्योंकि रूढ़ है। यह भाव विलक्षण है, और जिससे प्रेम किया गया—वह विलक्षण है, क्योंकि वह साक्षात् परब्रह्म परमात्मा है—**कृष्णे क्व चैव परमात्मनि।** और कैसे? **रूढ़भावः।** और प्रेम करनेवाला जो है, वह कैसा है?

हमारे वैष्णव टीकाकार जो हैं, वे कहते हैं कि उद्धवजीके मुँहसे यह बात निकली—**क्वेमा स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः।** ऐसा शब्द ही क्यों उद्धवजीके

मुँहसे निकला? आप ऐसा समझो कि भगवान्‌के भजनके अधिकारी कौन हैं? क्या जवान भजन करे, बुढ़िया भजन न करे? अमीर भजन करे, गरीब भजन न करे? ऊँच जातिवाला करे, नीच जाति वाला न करे? क्या ब्रह्मचारीजी भजन करें, और व्यभिचारी भजन न करे? धर्मसे भजन करके तो अनेक प्रकारकी विघ्न-बाधा भी प्राप्त होती हैं और जो विघ्न-बाधासे पहले ही भ्रष्ट हो चुका है, यदि वह भजन करे, तो वह तो और उठेगा। जो पतित है, उसके उठनेका कौन-सा साधन है? जरा देखो! संस्कृत भाषा कैसी नशीली होती है—उसका नमूना दिखाते हैं : **क्वेमा-इमा क्व**; ये गोपियाँ कहाँ हैं? कृष्णकी प्रेमिका, कितनी ऊँची हैं? और **प्रिय क्व**—मथुराकी वे स्त्रियाँ—जिनमें हम रहते हैं—वे कौन? **नः अनचरीः स्त्रियो वनचरी**—ये श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित हैं। और वहाँ **व्यभिचारदुष्टाः** और **वयं व्यभिचारदुष्टा**। यह पुल्लिंगमें भी ऐसे ही होता है, स्त्रीलिंगमें भी ऐसे ही है। वनचरी नहीं—अवनचरी। अ माने वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण, उनके वनमें—वृन्दावनमें विचरण करनेवाली, और दूसरा अर्थ है—अवनचरी=अन्य सब अरक्षित हैं, लेकिन ये श्रीकृष्णके द्वारा सुरक्षित हैं। संसारमें जो हैं—वे व्यभिचारसे दूषित हैं, और ये भगवान्‌का भजन करके भगवान्‌के द्वारा सुरक्षित हैं। इनका हाथ भगवान्‌ने पकड़ लिया है। अब कौन ऐसा है—कि आँख उठाकर इनकी ओर देखे? **कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।**

ये तीन रूप मानते हैं—एक ब्रह्म, एक परमात्मा और एक कृष्ण। यह क्या है? जैसे कि ब्रह्म है नम्बर एक, उसके बाद ईश्वर—नम्बर दो हुआ न, और तीन नम्बर—यह संसार। ब्रह्म, ईश्वर और प्रपंच। अब ब्रह्मके अज्ञानसे उत्पन्न मायाका विशेषण मिट गया। तब माया अथवा अविद्याकी उपाधिसे जीव ईश्वर बन गया। उसके बाद माया अविद्याके कारणसे यह दुःखमय संसार बन गया। तीन बातें हुई न! अब देखो, तीनोंके बीचमें ब्रह्म, उसके बाद ईश्वर और उसके बाद भगवान्‌का मान। बीचमें ब्रह्म! अज्ञान है संधि। तो जब अज्ञान है तो ब्रह्म, ईश्वर और संसार-तीन चीजें हो गयीं, और जब अज्ञानकी स्थितिमें जिसका नाम ईश्वर था ना—वह परमात्मा हो गया और जिसका नाम संसार था—वह वृन्दावन हो गया। अज्ञान रहने पर ब्रह्म, ईश्वर और प्रपंच, और अज्ञान मिटने पर, ब्रह्म, ईश्वर और वृन्दावन। और वृन्दावनमें ये वृक्ष, ये लताएँ, ये पेड़ और ये पुरुष, सब श्रीकृष्णकी प्रेममयी लीला! प्रश्न इतना ही है—कि अज्ञान मिटा कि नहीं। यह **कृष्ण क्व चैष परमात्मनि। परमात्मनि कृष्णे तो ब्रह्मेति भगवानिति ब्रह्म!** निर्गुण ब्रह्म है, सगुण ईश्वर है, और

साकार कृष्ण है। निर्गुणमें निराकार और साकार नहीं है, निराकारमें निर्गुण भी है, और साकारमें निर्गुण, निराकार दोनों हैं। परन्तु अज्ञान मिट जाना चाहिए। अज्ञान मिटनेके बाद जो कुछ है—सब ब्रह्ममय है। निराकार भी ब्रह्ममय, साकार भी ब्रह्ममय, समाधि भी ब्रह्ममय और विक्षेप भी ब्रह्ममय। तो निराकार ईश्वर समाधिमय है और साकार ईश्वर विक्षेपमय है, इसीलिए तो नाचता है। नाचनेका क्या अर्थ है? नाचनेका अर्थ है—विक्षेपमय होना।

तो ब्रह्मज्ञानके पूर्व ब्रह्म, समाधि और विक्षेप। विक्षेप संसार है, समाधि विक्षेपका अभाव है, और ब्रह्म है। और ब्रह्मज्ञान हो जानेके बाद—अज्ञान मिट जानेके बाद ब्रह्म ब्रह्म है, समाधि निराकार ईश्वर है और श्रीकृष्ण साकार ईश्वर हैं। ये विक्षेप हैं। विक्षेपात्मक ईश्वर श्रीकृष्ण हैं, गाढ़ता बाधा है। ब्रह्ममें मायाकी बाधतासे ईश्वर, और उसमें भी अतिशय भावकी गाढतासे प्रपंच; भावकी शिथिलतासे निराकारता और दोनोंके राहित्यसे ब्रह्म! यह ऐसी लीला है। यहाँ कोई आपत्ति करे तो पूछो उससे—कि ब्रह्ममें प्रपंच भासता है कि नहीं भासता! और प्रपंच भासता हुआ भी ब्रह्म ही है कि नहीं? तो प्रपंच भी भासता है, और प्रपंचाभाव भी भासता है। जो प्रपंच भास रहा है—वह अज्ञान कालका प्रपंच है, और जो प्रपंचाभाव भास रहा है—वह अज्ञान कालका निराकार ईश्वर है। लेकिन ज्ञान कालमें वही रहा, तो फर्क क्या रहा! बोले—कि वह जो अज्ञान कालका प्रपंच था—वह भगवान्‌का लीलाधाम हो गया, और वह जो अज्ञान कालका ईश्वर था, समाधि थी—वह निराकार ईश्वर होकरके रह गया।

तो भक्त लोग उसको ऐसे कहते हैं—कि परमात्माके तीन रूप हैं; ब्रह्म, परमात्मा और कृष्ण भगवान्। तो निर्गुण जो है—वह ब्रह्म है, निर्गुण निराकारका नाम ब्रह्म है। सगुण निराकारका नाम परमात्मा है, ईश्वर है। और सगुण साकार परमात्माका नाम भगवान् श्रीकृष्ण है। इसीसे—**यत्र यत्र मनो यति तत्र तत्र समाधयः**। ज्ञानीने जिसको देखा—वही ब्रह्म! साकारको देखा तो ब्रह्म, विक्षेप भी ब्रह्म, निराकार भी ब्रह्म! समाधि भी ब्रह्म है।

अब बोले—भाई! यह ज्ञानवाली जो शर्त है—वह बड़ी मुश्किल है। बोले—सगुण विद्याकी विशेषता ही यही है। यदि ज्ञानकी विशेषता रहे, तब वह सगुणवाद हो ही नहीं सकता। निर्गुण ब्रह्म विद्या ज्ञान-प्रधान है और सगुण ब्रह्म-विद्या भाव-प्रधान है। ज्ञानकी अपेक्षा ही उसमें नहीं है; ज्ञान हो कि न हो।

हम जानते-पहचानते नहीं थे—कि भाँगका स्वाद कैसा होता है। हम लोग पीते

नहीं थे। एक बार मैं मिरजापुर गया तो वहाँ बोले—कि यह तो ठण्डाई है; भाँग कहाँ है? और हमको भाँग पिला दी। अब कलेजेके भीतर तो मालूम हो—कि कोई गुदगुदा रहा है। गुदगुदी हो, फुरफुरी हो; और अपना ही कपड़ा न पहचानें! अपने कपड़ेकी पहचान हमको नहीं है—क्योंकि कभी धोना नहीं पड़ता, कभी लेना नहीं पड़ता, कभी धोबीको देना नहीं पड़ता, कभी सम्भालना नहीं पड़ता। तो हम पहचानते तो हैं नहीं। उस समय भी अपने कपड़ेको पहचाने नहीं। एक आदमीने हमारा दुशाला उतार लिया; बोला—यह हमारा है। हमने कहा—होगा भाई, ले जाओ।

अब भला यह बात मैंने क्यों सुनाई—कि हमने अनजानमें भाँग पी ली? लेकिन अनजानमें पीने पर भी भाँगने नशा किया कि नहीं किया? यह ज्ञानकी अपेक्षा नहीं रखता। वृन्दावनमें होलीके दिनोंमें जाओ, तो मन्दिर वाले प्रसादमें हरी-हरी बरफी देंगे—कि खा लो। थोड़ी देरमें नशा हो जायेगा। एक बात आपको सुनावें; एक आश्रम है भारतवर्षमें। हम बीस-तीस बरस पहलेकी बात कर रहे हैं—वहाँ जब कोई जाता, तो वहाँ प्रसाद बँटता था खास तौर पर! वहीं बनाया जाता प्रसाद, और वहीं बँटता था। पेड़े देते थे ज्यादातर। तो जब वहाँ आदमी जाता, तो देखके आदमीको एक पेड़ा, आधा पेड़ा, दो पेड़े प्रसादमें देते। अब उसमें होती भाँग, और वहाँ बैठकर फुरफुरी होने लगती। बोले—भाई, आश्रममें तो बड़ा आनन्द आया। देखो न, दिव्य धाम है। यहाँ आने-से कैसा मजा आता है! अब वे तो भक्त हो जायँ वहाँके। कभी एक दिन, दो दिन आते थे, कभी चार-छह महीनेमें आते थे वे, तो कहते थे—आश्रम आनेपर भक्ति जग जाती है। अब जो रोज रहते थे, वे तो जानते थे—कि भक्ति कहाँसे आती है! भाँग खिलाके महाराज लोगोंको भक्त बना लेते थे।

तो भक्तिमें एक शर्त है। वह है—कि जैसे कोई अनजानमें भी जहर पी लेता है—तो मर जाता है, और अनजानमें भी अमृत पीले, तो अमृत हो जाता है, **त्यगदराज इवोपयुक्तः**। ये जो श्रीकृष्ण भगवान् हैं न, यह सगुण ईश्वर, इष्टदेव, अपना प्रभु है। सगुण कहते ही उसको हैं—जिसमें वस्तु-गुण हो; जैसे अनजानमें भी आग छू जाय, तो आदमी जल जाता है और अनजानमें भी बर्फ छू जाय तो ठंडा हो जाता है। निर्गुण भगवान्‌में वस्तु-शक्ति नहीं है। निर्गुण भगवान्‌में तत्त्व-ज्ञानके द्वारा आवरण भंग करो—तो ठीक है, लेकिन यह महाराज, अपनी शक्तिसे मंगल करनेवाला, कल्याण करने वाला है सगुण भगवान्। यह सगुण विद्या है। क्या? कि चाहे तुम इसको पहचानो, चाहे मत पहचानो; बस, भजन करो—

नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षात्।

तुमने पहचाना? **अविदुषोऽपि अनुभजता**—तुमने पहचाना, कि नहीं पहचाना? बोले—नहीं पहचाना। तब कर क्या रहे हो? कि सेवा कर रहे हैं। किसकी सेवा कर रहे हो? कि भगवान्‌की सेवा कर रहे हैं। बोले—बस ठीक है। अब भजन प्रारम्भ हो गया न!

तो जैसे अनजानसे सेवन किया हुआ अमृत अमर बना देता है, वैसे अनजानमें सेवन किया हुआ यह जो भगवान् है—यह परम कल्याण कर देता है। इसका अर्थ यह हुआ—कि उसमें ज्ञानकी शर्त नहीं है; अज्ञानी भी भगवान्‌से प्रेम करे। आँख बन्द करके भगवान्‌की भक्ति के रास्तेमें दौड़ो। न तो स्खलन है, न पतन है; परम कल्याण है। और ये गोपियाँ—देखो—पहचानती नहीं हैं कृष्णको, और उनसे करती हैं प्रेम। उपयोग करती हैं कृष्णका। यह बात आगे आयेगी—कि गोपियाँ कैसे-कैसे उपयोग करती हैं कृष्णका। कानमें कुण्डल बनाके रखती हैं, आँखमें अंजन बनाके रखती हैं, हृदय पर मणि बनाके रखती हैं, भुजपाशमें बाँधती हैं। ये श्रीकृष्णका उपयोग करती हैं अपने जीवनमें। पहचानती नहीं, पर कृष्ण तो वही हैं न! और वे यदि उनके शरीरसे छू जायेंगे, उनके दिलसे छू जायेंगे—तो उनकी शक्ति कहाँ जायेगी? इसलिए भाई, ज्ञानकी शर्त नहीं है। जानो, चाहे मत जानो; भगवान्‌का भजन करो। और देखो, तुम्हारा मंगल होता है; तुम्हारा कल्याण होता है, कि नहीं होता। घोर-से-घोर दुःख भी भाग जायेगा।

एक बार मैं रो रहा था किसी कारणसे। रोते-रोते ऐसी याद आयी—कि मैं तो रो रहा हूँ, और भगवान् हमको रोते हुए देख रहे हैं। तो क्या करेंगे? कि कहीं आके सामने खड़े हुए, और मुस्कुराये, और अंगूठा दिखाया—कि ली ली ली ली! क्यों रो रहे हो? क्या मैं तुमसे छूट गया? अब बताओ, कि हमारा दुःख रहा—कि भाग गया? यह तो देखो, संसारमें दुःख होता ही तब है, जब मनुष्य भगवान्‌को भूल जाता है, भुला देता है। भगवान्‌की याद करनेवाले को तो—जिस समय उसकी याद है, उस समय दुःख नहीं है, और जिस समय दुःख है—उस समय भगवान्‌की याद नहीं है। इस बातको समझ लो—कि जब दुःख आवे, तो समझना, कि यह आया है—कि क्यों भाई, भूल गये भगवान्‌को? अब उनको बुलाओ, नहीं तो मैं आता हूँ। भगवान्‌ने दुःख बनाया ही इसीलिए है—कि जब तुम उनको भूलोगे, तब दुःख आवेगा तुम्हारे हृदयमें; तुम्हारे दरवाजे पर। या तो भगवान्‌को रहने दो अपने घरमें, नहीं तो मैं आता हूँ।

❋

सत्तावनवाँ प्रवचन

नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षाच्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥ ५९ ॥

अपने मुख्यार्थके रूपमें—वाच्यार्थके रूपमें सगुण ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं, और परम तात्पर्यके रूपमें लक्ष्यार्थकी वृत्तिसे आत्मा और ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन करते हैं। कई जो साधक हैं, मुमुक्षु हैं—वे इस बातको भूल जाते हैं, क्योंकि जब त्वं पदार्थका वर्णन सुनते हैं—कि आत्मा द्रष्टा है, असंग है—तो जीवपनेकी बात हलकी पड़ जाती है, और जब निर्गुण, निर्विकार, निर्धर्मक, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीयके भेदसे शून्य ब्रह्मका निरूपण सुनते हैं—तब उन्हें वाच्यार्थ रूप ईश्वर हलका मालूम पड़ने लगता है। इसका फल यह होता है कि जीवनके लिए जो उपयोगी साधन है, और जो उपकारी प्रक्रिया है—उसकी ओरसे मनुष्यकी दृष्टि हट जाती है।

तो जरा एक बात ध्यानसे देखो : आप भोजन करते हैं; तो भोजन सगुण होता है, कि निर्गुण? अगर भोजन निर्गुण होता है, तो कोई भी चीज खाके आपको जिन्दा रहना चाहिए। नहीं, जिन्दा रहनेके लिए खास-खास सगुण वस्तुका सेवन करना पड़ता है। यह गेहूँ है, यह चावल है, यह सब्जी है—ये सगुण पदार्थ हैं। और जब शरीरमें रोग होता है,—तब? औषधिमें सगुणता है कि नहीं? शक्ति है कि नहीं औषधिमें? पुनर्नवामें दूसरी शक्ति है, सर्पगन्धामें दूसरी शक्ति है। और दूसरी जो औषधियाँ हैं; भाँगमें नशा लानेकी शक्ति है कि नहीं? भाँग सगुण है कि निर्गुण है? एक बात आपसे पूछते हैं; संसारमें जितने द्रव्य होते हैं—माने जितने पदार्थ होते हैं संसारमें, वे सगुण होते हैं, और उनको खानेका असर पड़ता है न! और जितने अक्षर होते हैं—वे भी सगुण होते हैं। उनको बोलनेका असर पड़ता है। ॐ बोलनेका एक प्रभाव शरीरपर पड़ता है, कृष्ण बोलनेका दूसरा प्रभाव पड़ता है, राम बोलनेका दूसरा पड़ता है शरीर पर। जैसे पृथक्-पृथक् औषधियोंमें पृथक्-

पृथक् शक्ति होती है, वैसे पृथक्-पृथक मन्त्रोंमें, और पृथक्-पृथक् नामोंमें भी पृथक्-पृथक् शक्ति होती है। शक्तिहीन कोई वस्तु नहीं होती संसारमें; न नाम, न रूप, न कर्म। जबतक निर्गुण ब्रह्मसे एकताकी प्राप्ति नहीं हो जायेगी, और जबतक आत्मातिरिक्त सम्पूर्ण प्रपंच बाधित नहीं हो जायेगा, तबतक संसारमें कोई भी वस्तु शक्तिहीन है—यह कहना सत्यसे मुँह मोड़ना है।

यदि तुमको अपने जीवनमें कोई भी परिवर्तन करना है—आँखमें परिवर्तन करना है, तो दवा और आपरेशन चाहिए; कानमें परिवर्तन करना है, हाथमें दिल-दिमागमें परिवर्तन करना है—तो उसके लिए शक्तिवाली, गुणवाली दवाका सेवन करना पड़ता है। यदि शक्तिवाली, गुणवाली दवाका सेवन नहीं करोगे, तो तुम्हारे जीवनमें जो रोग है—वह दूर नहीं होगा, थोड़ी देरके लिए निकल भले ही जाय! जो काम सगुण भोजन, शक्तियुक्त भोजन—जिससे शरीरके लिए आवश्यक शक्ति मिले—शरीरके लिए करता है, वही काम आपके अन्तःकरणके लिए भक्ति करती है। भक्ति माने शक्ति; भगवान्‌के श्रीचरणोंमें जो अनुरक्ति है, वह जीवनके लिए बहुत बड़ी शक्ति है।

पहले साबर मन्त्र बोलते थे न—

मेरी भक्ति, गुरु की शक्ति।
फुरो मन्त्र, ईश्वरो वाचा॥

इसमें ऐसी शक्ति देखी थी न! ह जानते हैं कि हम उसमें कोई चालाकी नहीं करते। कोई बेईमानी नहीं थी हमारे अन्दर; और हम उन मन्त्रोंका प्रयोग करते थे, और उसमें सफलता मिलती थी। हारी श्रद्धा थी उसमें; परम्परा थी। जिस सिद्ध पुरुषके मुँहसे निकला था जो मन्त्र, उसका संकल्प था उसमें। सिद्ध पुरुषका संकल्प, मन्त्रकी स्वाभाविक शक्ति और हमारी श्रद्धा—ये तीनों मिलके क्या नये-नये गुल खिलाते थे!

तो भक्तियोगमें एक अपूर्वता है। इस श्लोकको ध्यानसे पढ़ोगे; भक्तिका सिद्धान्त निरूपण करनेके लिए अद्‌भुत है यह—

नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षाच्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः॥

बोले—भाई, सब काम ज्ञानीका ही होगा? संसारमें अज्ञानीका भला करनेके लिए कोई उपाय है कि नहीं? सब साधन, सब भजन, सब भलाई ज्ञानियोंकी ही होगी? हमारी सरकार कह दे—कि जो पढ़े-लिखे शिक्षित लोग हैं, उनकी उन्नतिके तो हम जिम्मेवार हैं, और जो अनपढ़ हैं, उनकी उन्नतिके हम जिम्मेवार

नहीं हैं—तो? नहीं, ऐसी सरकार किसी कामकी नहीं। बच्चा क्या पेटसे पढ़ा-लिखा आवेगा? वह जबतक अशिक्षित रहेगा, तबतक उसकी सम्भाल माँ करेगी कि नहीं? बाप करेगा कि नहीं? माँ-बापके विश्वाससे उसकी उन्नति होगी कि नहीं होगी? तो ईश्वरके राज्यमें भी जैसे शिक्षित पुरुषोंकी उन्नति होती है, वैसे ही जो अशिक्षित हैं, बालक हैं—उनकी उन्नतिकी व्यवस्था भी है। इसीको संक्रान्ति काल बोलते हैं। कहते हैं, कि हम सबको पढ़ा-लिखाके ऐसा बना देंगे—कि सब समझदार बन जायेंगे। और फिर धरतीपर स्वर्ग उतर आयेगा। हम बड़े अनुभवसे, बड़ी जानकारीसे और विश्व-सृष्टिका मूल देख करके—इस विश्व-सृष्टिका जो अभिन्न निमित्तोपादान कारण है—उसका साक्षात् दर्शन करके यह बात कह रहे हैं—कि सृष्टिमें केवल शिक्षासे काम नहीं चल सकता। श्रद्धाका होना आवश्यक है। यदि श्रद्धा मिटा दी गयी सृष्टिमें-से, तो सृष्टिमें दुःखकी वृद्धि होगी; दुःखकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इसीसे जो अध्यात्म पथके पथिक हैं, उनको यह बात समझनी चाहिए—कि कहाँ जानेसे हमारी श्रद्धा बढ़ती है; क्या करनेसे हमारी श्रद्धा बढ़ती है। क्या जप करनेसे हमारी श्रद्धा बढ़ती है; क्या सत्संग करनेसे हमारी श्रद्धा बढ़ती है? हमारे हृदयमें बनी बनाई श्रद्धाको जो बिगाड़ता है—वह हमारा शत्रु है, हमारी साधनाका शत्रु है। वह हमारी उन्नतिमें सहायक नहीं है, विकासमें सहायक नहीं है। वह हमारे जीवनको बिगाड़नेवाला है। इसलिए हमारे जीवनमें श्रद्धा बढ़नी चाहिए।

अब भक्तिकी विशेषता सुनो। भक्तिकी विशेषता यह है—कि जब प्रेमके साथ ईश्वरका स्मरण-चिन्तन किया जाता है, तब यह अपने विषयके गुणको ला करके अपने आधारमें स्थापित करती है। माने, भक्ति कहाँ होगी? दिलमें न; कलेजेमें होगी भक्ति। तो भक्तिकी विशेषता है कि वह गन्दे घरमें नहीं जाती। यह क्या विशेषता है? देखो, कोई भी जो जनताका सेवक होगा, और सेवा करना चाहेगा—वह कोढ़ीकी सेवा करेगा कि नहीं? वह गन्दी नालीको साफ करेगा कि नहीं करेगा? यदि सेवक कहे—कि हम गन्दी नालीके पास नहीं जायेंगे, कोढ़ीके पास नहीं जायेंगे—तो वह सेवक कैसा? तो यह भक्ति जो है न—यह सेवा है। यह बड़े आदमियोंकी सेवा नहीं है; जिनको सेवाकी जरूरत नहीं है, उनकी सेवा नहीं है। यह तो उन लोगोंकी सेवा है, जिनके अन्तःकरणमें कोई राग है, कोई रोग है, कोई दोष है, कोई दुःख है। उनके अन्तःकरणमें भक्ति प्रवेश करती है, घुसती है; और वहाँ जाकरके श्रीकृष्णका चिन्तन, रामका चिन्तन, शिवका चिन्तन, सगुण

ईश्वरका चिन्तन, वह सौन्दर्य-माधुर्यके वारांनिधिका चिन्तन ऐसा हृदयमें ले आती है—कि हृदयकी एक-एक गन्दगी धुल जाय। जो लोग भक्तिको अल्प साधन मानते हैं, वे शुद्धान्तकरण, तत्त्वज्ञानी हैं; तो भाई, इनको अन्तःकरण शुद्ध करनेकी जरूरत नहीं है और या वे संसारी हैं; अपने अन्तःकरणमें राग-द्वेष बनाये रखना चाहते हैं, और ब्रह्म भी हो जाना चाहते हैं। इसलिए जीवनमें भक्तिकी खास जरूरत है!

तो बोले—अब गोपीकी बात करो। गोपीको हम दो दृष्टियोंसे देखते हैं : एक तो श्रीकृष्णके प्रेममें डूबी हुई; बड़े-बड़े भक्त लोग उनके चरणोंकी धूल लेकर अपने मुँहको लगाते हैं, और दूसरा गोपीको इस दृष्टिसे देखते हैं—कि साधनकी दृष्टिसे संसारमें जो कुछ चाहिए, वह उनके पास नहीं है। न तो जाति ऊँची है, न तो सम्प्रदाय उनका ऊँचा है, न तो ज्ञान ऊँचा है, न आचरण ऊँचा है। उनके अन्दर ऊँची अगर कोई चीज है—तो वह है श्रीकृष्णसे प्रेम—

कृष्णं क्व चैव परमात्मनिरूढभावः।

जो लोग संस्कृत जानते हैं, उनके लिए यह बात कहता हूँ; 'आत्मनि-रूढभावः' एक पद है। जैसे 'सरसिज' शब्द है न; इसमें-से सप्तमीका लोप हो जाता है, तो 'सरोज' हो जाता है। तो सरसिज और सरोज—दोनों शब्द हैं। वैसे ही यह 'आत्मनिरूढभावः' एक पद है। और परम् आत्मनि रूढभावः और परमात्मनिरूढः भावः। यह एक पद है। उनके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति प्रेम भाव है—माने अपना ख्याल छोड़ करके श्रीकृष्णसे प्रेम है। एक प्रेमी ऐसे होते हैं, कि संसारका भी ख्याल करते हैं, और ईश्वरसे प्रेम भी करते हैं, और एक प्रेमी ऐसे होते हैं, जो संसारका ख्याल तो नहीं करते—अपना ख्याल करते हैं, और ईश्वरसे प्रेम करते हैं। और गोपियाँ न संसारका ख्याल करती हैं, न अपना ख्याल करती हैं। वे भगवान्‌से प्रेम करती हैं। प्रेम ही उनका स्वरूप है, प्रेम ही उनकी वृत्ति है। यह प्रेम सब अवस्थामें रहता है—जाग्रतमें, स्वप्नमें, सुषुप्तिमें। यह नहीं—कि सोते समय प्रेम कर जाता है, स्वप्नमें, जाग्रतमें प्रेम कट जाता है। यह मिलो—संयोगमें भी रहता है और न मिलो—तब भी रहता है। निकट रहो—तब भी रहेगा, दूर रहो तब भी रहेगा। रोज-रोज मिलो तब भी रहेगा और हजार वर्ष बाद मिलो तब भी रहेगा। प्रेम वह चीज है, जिसके बीचमें जन्म और मृत्यु व्यवधान डालनेमें समर्थ नहीं है। मौत हो, तो भी प्रेम नहीं कटता, और दूसरा जन्म हो जानेसे भी प्रेम नहीं

कटता। प्रेम वह फंदा है महाराज, जो प्रियतमसे एक किये बिना कभी मिटता ही नहीं। न ही यह मल रहने देगा; माने कपट नहीं रहने देगा। प्रेममें मल क्या है? प्रेममें मलिनता केवल कपट है। प्रेमी तो अपने प्रियतमका मैल जीभसे चाटता है। और प्रेममें दूसरेका जो ख्याल है—वह विक्षेप है और जो अपना ख्याल है—वह आवरण है। प्रेममें अपना ख्याल आवरण है, दूसरेका ख्याल विक्षेप है और कपट मलिनता है। और प्रेम इतना शक्तिशाली है कि इन तीनों चीजोंको भस्म कर देता है। जब प्रेम बढ़ेगा, तो न तो उसमें कपट रहेगा, न दूसरेका ख्याल रहेगा और न अपना ख्याल रहेगा। डूब जायगा प्रियतममें। यही तो कहते हैं; यह अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, यह प्रेमी और प्रियतमके बीचमें नहीं रहता है। यह मिटाके छोड़ता है, अगर प्रेम सच्चा हो तो। और हो ईश्वरसे—यह एक शर्त है इसके साथ, क्योंकि विषयकी महिमा ही प्रेमकी महिमा है; आधारकी महिमा प्रेमकी महिमा नहीं है। तो सोनेके बर्तनमें प्रेम रखा है—माने प्रेम करने वाला बड़ा आदमी है, इसलिए प्रेम बढ़िया नहीं होता। प्रेम बढ़िया आदमीसे किया गया है, इसलिए बढ़िया होता है।

तो प्रेम भगवान्‌से किया गया है, इसलिए प्रेम बढ़िया है। बल्कि प्रेमके बारेमें यह बात देखनेमें आती है, कि देखो, रामसे प्रेम तुलसीने किया, कृष्णसे प्रेम मीराने किया, सूरने किया। हिन्दुओंमें बहुत ऐसे हैं—जो शिवसे प्रेम करते हैं। लेकिन जब हम सुनते हैं कि एक मुसलमानने रामसे, कृष्णसे प्रेम किया है; जब सुनते हैं कि एक चाण्डाल भगवान्‌से प्रेम करता है, तो मनमें आता है—अरे! यह चाण्डाल होके भगवान्‌से प्रेम करता है। चलो चलो, दर्शन कर आवें। यह मुसलमान होके भगवान्‌का नाम लेता है; चलो चलो, दर्शन कर आवें। माने छोटे आधारमें जब विशालका प्रेम प्रकट होता है, तब लोगोंके मनमें छोटे आधारके दर्शनकी भी लालसा उत्पन्न होती है। तो यह छोटेमें बड़प्पन कहाँसे आया? बड़ेके प्रति जो प्रेम है, उसीने छोटेमें बड़प्पन ला दिया।

अब श्लोककी व्याख्या देखो। कोई बिलकुल अज्ञानी हो, जानता न हो कि ईश्वर क्या है, तो **सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म**—यह लक्षण परमात्माका है; पहचान है परमात्माकी। आप यह भी समझ लेना—कि जो लोग रोज उपनिषद्‌का पाठ करते हैं और '**सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' जिनको कण्ठस्थ है, और जिन्होंने हिन्दी अनुवाद इसका पढ़ लिया है, वे भी सत्य पदका अर्थ, ज्ञान पदका अर्थ, अनन्त पदका अर्थ

वस्तुतः जानते हैं कि नहीं—इसमें शंका ही रहती है। सैकड़ोंमें कोई जानते हैं—**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्**—

सत्यंका अर्थ जो सर्वसत्रात्मकता है, ज्ञानंका अर्थ जो सर्वावभासक स्वयंप्रकाश है और अनन्तंका अर्थ जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्नता है, सजातीय विजातीय स्वगत भेद-शून्यता है, उसको बहुत थोड़े लोग जानते हैं, बहुत थोड़े लोग समझते हैं। **अहं ब्रह्मास्मि** बोलनेसे कोई ज्ञान नहीं हो जाता।

तो भक्तिकी विशेषता यह है, कि अज्ञानीसे अज्ञानीके लिए भी; और ईश्वरके बारेमें उसकी जितनी जानकारी है—उसीके अनुसार वह सुलभ है। उसमें कुछ जोड़ना नहीं है, जोड़नेकी कुछ जरूरत नहीं है। किसीने एक कहानी लिखी है : एक मुसलमान एकान्तमें बैठके सोचता था—कि जब हको खुदा मिलेगा, तो हम उसके सिरमें तेल लगावेंगे, उसकी दाड़ीमें कंघी करेंगे, उसका पाँव दबावेंगे। हजरत मूसा आये, बोले—मुसलमान! तू क्या कर रहा है? काफिर हो गये तुम तो। क्यों? कि खुदा तो निराकार होता है! उसके कहीं दाड़ी होती है, कहीं सिर होता है, कहीं पाँव होता है? तो उसने कहा—कि हम तो नहीं जानते हैं कि खुदा कैसा होता है। हमको तो यही अच्छा लगता है। अच्छा, आप बताइए कि खुदाका चिन्तन कैसे करूँ? उन्होंने बताया—कि जैसे सूर्य प्रकाशमान होता है, ऐसे प्रकाशका चिन्तन करो। खुदा प्रकाशरूप है। तो वह बेचारा वैसे ध्यान करने लगा। अब आकाशवाणी हुई—मूसा, तुम संसारमें किस लिए भेजे गये हो? इसलिए भेजा गया हूँ—कि जो ईश्वरके जीव है, खुदाके बन्दे हैं, उन्हें खुदाके रास्ते पर लगायें। आकाशवाणीने कहा—तुम उलटा कर रहे हो। क्या तुम कह सकते हो कि जिस सूर्यका ध्यान करनेको तुमने उसको कहा है, ऐसा ही मैं हूँ? एक सूर्यका प्रकाश नहीं, करोड़-करोड़ सूर्यका प्रकाश इकट्ठा हो जाय, तो क्या मेरी बराबरी कर सकता है? नहीं कर सकता-मूसाने कहा। तब तुमने उसको बहुत थोड़ा बताया—कि सूर्यके प्रकाशके समान चिन्तन करो। हमारी महिमा तुमने घटा दी। मूसाने कहा—गलती हुई। असलमें मूसा भी खुदाकी पूरी पूरी महिमा नहीं जानते। मुहम्मद भी नहीं जानते; जो जो वर्णन करने वाले आचार्य हैं, पूरी पूरी महिमाका वर्णन वे भी नहीं कर सकते। जब उपासना करनी होती है, ध्यान करना होता है, चिन्तन करना होता है—तब एक कल्पना बनानी पड़ती है। ध्यान करने वाले निराकारका ध्यान करते हैं कि निराकारकी कल्पना करते हैं? जिसको निराकार ईश्वर बोलते हैं न—

एक बड़ा भारी लम्बा-चौड़ा, इतनी लम्बी उम्र वाला और सर्वका उपादान, सर्वकी सत्ता—यह सब क्या है? यह केवल निराकारकी कल्पना है अपने चित्तमें।

तो बाबा! जैसे तुमको निराकारकी कल्पना करनेका हक है अपने चित्तमें, वैसे ही साकार वालेको साकारकी कल्पना करनेका हक है। काहेको बुद्धिमें गड़बड़ डालते हो? ये सब-के-सब अज्ञानी हैं। तो बोले—अज्ञानीका कल्याण कैसे हो? अज्ञानीका भी कल्याण होता है। ईश्वर यह कहे—कि जीव हमसे प्रेम न करे, क्योंकि उसकी जाति जरा कच्छीकी है; पिंगला हमारी भक्ति न करे, अजामिल हमारी भक्ति न करे; ऐसा नहीं। ईश्वरकी भक्ति अजामिल भी करता है, वृत्रासुर भी करता है। ईश्वरकी भक्ति करनेका अधिकार जीवको भी है, जनताको भी है। सब ईश्वरकी भक्तिके अधिकारी हैं।

अब **अविदुषोऽपि**—अरे भाई, तुम नहीं जानते कि यह क्या बला है। वैद्यको तो पता मालूम है कि यह क्या बला है! और **अनुभजताः**—अज्ञानीसे अज्ञानी मनुष्यसे भी सच्चा भजन न बने तो अनुकरण रूप भजन करे। 'अनु'का अर्थ है अनुकरण। जैसे महात्मा लोग सीताराम सीताराम सीताराम बोलते हैं—वैसे बोले; जैसे माला फेरते हैं—वैसे फेरे। जैसे वे बेलपत्र और चन्दन शंकरजीको चढ़ाते हैं—वैसे चढ़ावे। जैसे वे राधेश्याम राधेश्याम बोलते हैं—वैसे बोले। खुद न समझता हो, लेकिन अनुकरणात्मक भजन करे।

तो बोले—अब यह क्या हुआ? कि ईश्वर जो है न, उसका उपयोग हुआ। यह अपने जीवनमें महान् औषधिका सेवन हुआ—**अगदराज इवोपयुक्तः**। भक्तने क्या किया? भगवान्‌के चरणोंमें-से फूल उठाके सूँघ लिया; गन्धका उपयोग हुआ। उनकी छवि लेकरके अपनी आँखोंसे गौरसे देखा; उपयोग हुआ न! आँखसे उपयोग हुआ। उनकी कथा कानसे सुनी। गये विट्ठल मन्दिर, और दोनों हाथोंसे पाँव पकड़ कर छातीसे लगाये। कितने सुगम बन करके बैठे हैं भगवान्। अरे, भगवानको जो दुर्गम मानते हैं—उनके लिए वे दुर्गम। भगवान्‌को जो कठिन मानते हैं उनके लिए वे कठिन, और जो सुगम मानते हैं, उनके लिए सुगम हैं। दोनों हाथसे विट्ठल भगवान्‌की मूर्ति पकड़ी, और लेकर हृदयसे लगायी; विट्ठल विट्ठल विट्ठल! जिसे रखुभाई बोलते हैं न, वह तो रुक्मिणीका महाराष्ट्र रूप है। महाराष्ट्रमें भगवान्‌को घर-जमाई बनाके रखा है; असलमें तो वे द्वारिकाके हैं। पुण्डरीक भी तो महाराष्ट्रीयन थे, जैसे सन्त तुकाराम हैं, ज्ञानेश्वर हैं, नरसी हैं; जैसे समर्थ रामदास हैं, नामदेव हैं।

तो **अनुभजतेका** अर्थ है—अनुकरण करो। तो उपयोग करो; कैसे उपयोग करो? उनके चरणारविन्दका उपयोग करो—यह, कि उनको हृदयसे लगाओ। उनके हाथका उपयोग करो—यह, कि उनको लेकर अपने सिरपर रख ले। भगवान्‌के वचनका, वंशीका यह उपयोग करो—कि कानसे उनका श्रवण करो; यह अमृत है। जैसे मरनेवाला मनुष्य अमृतका सेवन करे, उपयोग करे—वैसे ईश्वरका उपयोग किया जाता है अपने जीवनमें। यही अचिन्त्य शक्ति है, यही अचिन्त्य प्रभाव है। यही भक्ति-की-शक्ति है—कि अपने जीवनमें ईश्वरका उपयोग आरम्भ कर दो। ईश्वरके साथ खाओ, पीयो; ईश्वरके साथ चलो, उसके साथ सोओ, उसके साथ बोलो। ईश्वरका हाथ पकड़ो, ईश्वरके पाँव दबाओ! तुम्हारे कलेजेमें कभी जलन हो, तो कमलका फूल रख दिया तो ठण्डक पहुँच गयी—वैसे भगवानके चरणारविन्दको लेकरके छातीसे लगाओ। **उपयुक्तः**—भगवानका उपयोग करो जीवनमें। जैसे रोग होने पर औषधिका उपयोग किया जाता है, ऐसे यदि वासना रूप रोग तुम्हारे जीवनमें है, तो ईश्वरका उपयोग करो। **साक्षात्**—गोपियोंने साक्षात् उपयोग किया था। कृष्ण भगवान् **चरणारविन्दं तप्त-स्तनेषु**—गोपियोंके हृदयमें जब ताप होता था, तो श्रीकृष्ण भगवान्‌के चरणार-विन्दको अपने हृदयपर रखती थीं। जब उनका नाचनेका मन होता था तो उनके भुजदण्डको अपने स्कन्ध पर, कन्धे पर रखती थीं। जैसे कोई अमृतका, औषधिका उपयोग करता है—ऐसे उपयोग किया गोपियोंने। इसका नाम है भक्ति! इससे कोई परोक्ष कल्याण हो, परोक्ष मंगल हो—सो बात नहीं। लोग कहते हैं—हमने यह प्राणायाम किया, हमने यह प्रत्याहार किया, साधना की पंचदशी पढ़ी और ब्रह्मसूत्रका स्वाध्याय किया। लेकिन मनीराम? बोले—जहाँके तहाँ। एक इंच भी ऊपर नहीं उठे। तो बाबा, मनको ऊपर उठाने वाली यह भक्ति है। भक्तिमें वह शक्ति है—जो मनको ऊपर उठा दे, जीवनको दु:ख और दोषसे मुक्त कर दे—**श्रेयस्तनोति।**

अब देखें—**साक्षात् अनुभजता साक्षात् अविदुषः साक्षात् श्रेयस्तनोति।** साक्षात् लगाओ न! भक्तिशास्त्रमें ध्यानका अर्थ होता है दर्शन समानाकार वृत्ति; माने प्रेमपूर्वक, प्रीतिपूर्वक दर्शन। प्रीतिपूर्वक; विरोधी बनकर नहीं; रावणके वंशमें नहीं जाना। प्रेम होवे हृदयमें, और दर्शन समानाकार वृत्ति हो—कि जैसे आप इस हालमें बैठे हों, और एक-दूसरेको देख रहे हों। तो जैसे खुली आँखसे इस हालमें बैठे हुए लोग दिख हरे हैं, ऐसे बन्द आँखसे वृन्दावन, राधाकृष्ण,

उनकी लीला, उनके हाव-भाव, उनकी चेष्टा—ऐसे ही देखना। इसका नाम होता है भक्तिमें ध्यान। खुली आँखसे जैसे दुनियाँ दिख रही है, ऐसे बन्द आँखसे भगवान्‌की लीलाको देखना। कृष्ण, कृष्ण, कृष्ण! भस्म कर दे दोषोंको।

अब देखो, हम लोग जीवनमें किसका उपभोग करते हैं? उपयोग करते हैं? देखो न, लोग छोटी-छोटी बातमें फँसे हुए हैं—कोई उनका पैसा न छीन ले जाय, उनकी औरत न छीन ले जाय! उनके बेटेसे कोई काम न ले ले! आजकल बड़े-बूढ़े सत्संगमें जाते हैं, तो बच्चोंसे कहते हैं—नहीं, अभी तुम्हारी बुद्धि कच्ची है। आते-जाते कोई बात पकड़ ली, तब तो सब काम ही बिगड़ जायगा। बच्चे तो सत्संगमें जाके बिगड़ जायेंगे, और खुद बननेके लिए जाते हैं। सत्संग तो बिगाड़नेकी जगह हो गयी न! बड़े-बूढ़ोंके लिए सत्संग नहीं होता है, बच्चोंके लिए सत्संग होता है। बड़े-बूढ़े तो कुछ मरनेके डरसे जाते हैं, कुछ घरमें जो तिरस्कार होता है न—उससे बचनेके लिए जाते हैं। घरमें नई बहू आती है, बेटे उसीके हो जाते हैं, तिरस्कार करते हैं। और बच्चों पर जो संस्कार पड़ता है, वह तो उनको बुढ़ापे तक काम देगा।

तो यह गोपियोंका जीवन-धन, उनका प्राणेश्वर, उनका जीवन-सर्वस्व—जो उनके कानोंमें कुण्डल बनके बैठा है नील कमलाकार, उनके हृदयमें मणि बनके बैठा है, आँखोंमें अंजन बनके बैठा है, मुखमें कुष्ण कृष्ण बन करके बैठा है! ऐसा उपयोग किया गोपियोंने—**श्रेयस्तनोति**। आप निश्चय समझो—कि भगवान्‌का नाम लेकर जो चाहोगे, वह मिलेगा। धन चाहते हो, भोग चाहते हो, धर्म, मोक्ष, ज्ञान चाहते हो—सब मिलेगा। अपना हृदय शुद्ध कर दो। अगर उसे भगवान्‌के प्रेमामृतसे भरना चाहते हो, तो भगवान्‌का आश्रय लेनेसे, भगवान्‌के नामका उच्चारण करनेसे वह होगा। जो कृपा, जो प्रसाद गोपियोंको मिला, संसारमें वह प्रसाद और किसीको नहीं मिला।

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरते प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ
लब्धाशिषां च उद्गाद् व्रजवल्लवीनाम्॥ ६०॥

उद्धवजी लोट-पोट हो रहे हैं प्रेममें। बोले—नारदादिको जो प्रसाद मिला—सो नहीं, प्रसाद तो गोपियोंको मिला। यह बात तो शुकदेवजी पदे-पदे बोलते हैं। ग्वालोंके बारेमें भी उनका ऐसा कहना है—

यत्पादपांसुर्बहुजन्म - कृच्छ्रतो
धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः ।
स एव यद् दृग्विषयः स्वयं स्थितः
किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम्॥

१०.१२.१२

जिनके चरणोंकी धूल बहुत जन्मोंके अभ्याससे भी बड़े-बड़े योगियोंके लिए दुर्लभ है, वे जिनकी आँखोंके सामने खड़े हैं—व्रजके उन ग्वालोंके सौभाग्यका हम क्या वर्णन करें।

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥

१०.१२.११

जब नन्द-यशोदाकी बात आती है, तब कहते हैं—कि जो प्रसाद यशोदा मैयाको मिला, वह प्रसाद ब्रह्माको नहीं मिला; बेटा हैं तो क्या? भवः—शंकरजी आत्मा हैं तो क्या? लक्ष्मीजी वक्षस्थल पर नित्य विराजमान अपनी अर्धांगिनी हैं तो क्या? उनको भी नहीं मिला, जो प्रसाद यशोदाको मिला।

यहाँ उद्धवजी कह रहे हैं कि—**नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः।** लक्ष्मीजी कैसी? कि नितान्तरते—नितान्त प्रेम लक्ष्मीजीको प्राप्त है भगवान्के प्रति। इस जगतकी स्वामिनी हैं, और भगवान्के वक्षःस्थलपर नित्य निवास करने वाली हैं। परन्तु वह प्रसाद, वह कृपा—**य उद्गाद् व्रजवल्लवीनाम् रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ लब्धाशिषां**—रासोत्सवमें, रास-मण्डलमें, रासके आनन्दमें अपने हृष्ट-पुष्ट बलिष्ट भुजदण्डसे गोपियोंका कण्ठ श्रीकृष्णने पकड़ा, और गोपियोंने उनके स्कन्ध पर अपने भुजदण्डको रखा। उस समय जो नृत्य हुआ महाराज, वह 'ता ता थई'—

पादन्यैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासै-
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशाग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः॥

जैसे काले-काले बादलमें जगह-जगह तरह-तरहकी बिजली चमक रही हो, वैसे श्रीकृष्णको पकड़ा गोपियोंने रासमें। एक गोपी एक कृष्ण; और वह पाद विन्यास—

अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवो माधवं माधवं चान्तरेङ्गना।

वहाँ आनन्दकी वर्षा हुई। वहाँ ज्ञानने नृत्य किया, आनन्दने नृत्य किया, सत्यने नृत्य किया। नाचता हुआ सत्य, थिरकता हुआ सत्य; फड़कता हुआ ज्ञान, फड़कता हुआ आनन्द। वहाँ निष्क्रिय सत्, निष्क्रिय चित्, निष्क्रिय आनन्द नहीं—सक्रिय सत्, सक्रिय चित्, सक्रिय आनन्द है। यह सगुण ईश्वरका आनन्द है न! और मनोरथ पूर्ण हुआ गोपियोंका। जो प्रसाद अत्यन्त प्रेमवती उच्च वक्षःस्थल-वासिनी सर्वेश्वरी भगवती लक्ष्मीको प्राप्त नहीं हुआ—जिनके अंग-अंगसे कमलकी गन्ध निकलती है और जिनके शरीर पर दिव्य कान्ति है—उन उत्कर्षिणी, विमला, योगा आदि सखियोंको भी वह प्रसाद प्राप्त नहीं हुआ।

उद्धवजी कहते हैं—बस बस! अब मैं **आसामहो चरणरेणु जुषामहं स्यां**—श्रीकृष्णके पास भी नहीं जाना चाहता। उद्धवजी, कहाँ रहना चाहते हो? वृन्दावनमें। गोपी होना चाहते हो? राधेश्याम! हमारा ऐसा सौभाग्य कहाँ! उनके चरणोंकी धूल मिले—ऐसा चाहता हूँ।

❋

अट्ठावनवाँ प्रवचन

भक्तिसे भगवान् भी झुक जाते हैं। वृन्दावनमें अनेक प्रसंग ऐसे आते हैं, जहाँ भगवान्‌के झुकनेका वर्णन किया जाता है। भगवान् प्रणाम करते हैं—माने बड़ेसे छोटे हो जाते हैं। भक्ति ही भगवान्‌का दर्शन कराती है। भक्ति ही भगवान्‌का अनुभव कराती है; भगवान्‌को पकड़के जीवके पास ले आती है। भगवान् भक्तिके वशमें हैं। **भक्तिरेव**—यह श्रुति है। भक्ति ही सबसे बड़ी वस्तु है।

एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनमें कहीं वृक्षकी, फूलोंकी, लताकी शोभा देख रहे थे। इतनेमें हवाका एक झोंका आया। झोंका आते ही शरीरमें रोमांच हो आया, हृदय गद्‌गद हो गया और बस, सिर झुका लिया। भगवान्‌ने सिर झुका लिया, क्यों?

'एक दिन राधारानीका आँचल हिला। उससे हवा निकली, और जिस वायुमें वह हवा मिली, वह धन्य, अति धन्य हो गयी। उसे वायुने जब आके श्रीकृष्णको गुदगुदाया—आहा! यह तो वृषभानु-नन्दिनी राधारानीके आँचलकी हवा है। आनन्दमें मगन होकरके उन्होंने उस दिशाको प्रणाम किया। बोले—आओ भाई, हम भी उस दिशाको प्रणाम करें, जिसमें वृषभानु-नन्दिनी रहती हैं।'

बात यह है, कि बड़ेका बड़ा होना तो स्वाभाविक है, उसका छोटा होना—यह भी उसमें विशेष अनुग्रहका उदय होना है। जो लोग छोटे होते हैं न, उनको अपने बड़प्पनकी रक्षाके लिए बहुत फिकरमन्द रहना पड़ता है, और जो असली बड़े होते हैं, उनको इस बातका डर नहीं रहता कि उनका बड़प्पन कहीं छूट जायगा, या कोई छीन लेगा। एक दिन मैं मथुरा स्टेशन पर बैठा था। साथमें एक करोड़पति सज्जन थे; गाढ़ेकी धोती घुटनों तक पहने हुए, गाढ़ेके कुर्तेमें सीपके बटन; ऐसे ही प्लेटफार्म पर घूम रहे थे। और उनसे मिलनेके लिए मथुराके एक सज्जन आये थे। बीस तीस हजारकी सम्पत्ति होगी उनके पास; रेशमी कुरता और सोनेके बटन, मथुरिया ठाठमें! अब देखो, बीस-तीस हजार वालेको तो यह डर था कि उनको कोई गरीब न समझे; और जो करोड़पति था—उसको यह था—कि लोग हमें धनी न समझें। बड़ा जब छोटी पोशाकमें आता है न, तो उसकी इज्जत बढ़ जाती है।

हमारे एक मित्र हैं। वे बीकानेरके महाराज गंगासिंहके सेक्रेटरी थे। एक दिन बीकानेरमें घूम रहे थे, तो उन्होंने देखा कि बिलकुल चपरासीकी पोशाक

पहने हुए एक दुकान पर महाराज बैठे हैं, और वहाँ कोई सौदा लेन-देनकी—ऐसे मामूली बातचीत कर रहे हैं। अब देखा उन्होंने, तो झट उतर पड़े अपनी सवारी पर से। महाराजने डाँटा आँखसे—कि यहाँ जाहिर नहीं करना। तो वे चपरासी बनके अपनी रियासतें घूमते थे, कि लोग हमारी अनुपस्थितिमें हमारे बारेमें कैसी बात करते हैं; लोग एक दूसरेके साथ कैसा व्यवहार करते हैं। महाराज होकरके, और ऐसी पोशाकमें ऐसी जगह पर? बोले—कि यह बड़प्पन है महाराजका; यह छोटापन नहीं है।

केवट मीत कहे सुख मानत, बानर बन्धु बड़ाई।
रघुवर! रावरि इहै बड़ाई॥

हे राम! आपका यही बड़प्पन है। इसलिए जो सारी सृष्टिका मालिक है—वह अगर अपनी मिल्कीयत लोगोंको दिखावे, तो यह उसका बड़प्पन नहीं है। वह किसीके घरमें घुसके चोरी करे—यह उसका बड़प्पन है। सारी सृष्टिके मालिकका बड़प्पन माखन चोर होनेमें है। जो अच्युत है, अखण्ड ब्रह्मचारी है, जिसमें द्वैत है ही नहीं, स्त्री-पुरुषका भेद है ही नहीं—वह चीर-हरण करे, इसमें उसका बड़प्पन है। जो निस्पन्द है, निष्क्रिय है, निर्विकार है, वह रास-लीलामें नाचे—तब उसका बड़प्पन है। ईश्वरकी लीलाका स्वरूप ऐसा है।

अब गोपियोंकी बात सुनो। गोपियोंका बड़प्पन भी इसीमें है—**क्वेमाः स्त्रियो वनचरीः**। वे अपने स्वरूपमें यदि प्रकट होतीं तो उसमें उनका बड़प्पन नहीं था। जब उनका मालिक, उनका प्यारा ग्वाला बनकरके आया तो वे ग्वालिन बन कर आयीं। श्रीकृष्ण क्या पढ़ करके आये? बिलकुल निरक्षर भट्टाचार्य! अक्षरकी पहचान नहीं। तो ग्वालिनें अगर पढ़ी-लिखी होतीं, तो उनकी पूजा होती? असलमें प्रेमस्वरूपा गोपियोंका बड़प्पन भी इसीमें है कि जैसे श्रीकृष्ण चीर-हारी बनकरके, माखन-चोर बन करके, ग्वाले बन करके, अपने बड़प्पनको छिपा करके, छोटे बन करके प्रगट हुए हैं, ग्वालिनें भी वैसे ही प्रगट होवें। परन्तु इसी रूपमें गोपियोंकी क्या महिमा है! भागवतमें यह बात जगह-जगह साफ है।

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥

भा. ११.१४.१५

श्रीकृष्ण कहते हैं—कि उद्धव! मैं अपनेको भी उतना प्यार नहीं करता

जितना अपने भक्तोंको करता हूँ। मैं जितना गोपियोंको प्यार करता हूँ, उतना लक्ष्मीको भी नहीं करता। जितना यशोदा मैयाको प्रेम करता हूँ, उतना ब्रह्मा और शंकरको भी नहीं करता।

तो यहाँ प्रश्न यह हुआ, कि और लोगोंसे गोपियोंका सौभाग्य भले बड़ा होवे, परन्तु लक्ष्मीका जो सौभाग्य है—वह सर्वोपरि है। क्यों? कि वह हर समय भगवान्‌के चरणारविन्दरको पकड़ करके अपनी गोदमें रखती हैं; और एक अन्य रूपसे उनके वक्षस्थल पर रहती हैं। हर समय भगवान्‌के वक्षःस्थलसे लगे रहना, और उनके चरणारविन्दको दबाते रहना—ये लक्ष्मीके दो रूप हुए। प्रेममें हृदयका हृदयसे मिलना, और सेवा—प्रेमकी ये दो अभिव्यक्तियाँ हैं। हृदय-से-हृदय मिलनेका यह अर्थ नहीं कि छातीके तानसे छातीका तान मिले; मन-से-मन मिले, बुद्धि-से-बुद्धि मिले, राय एक हो, विचार एक हो; इसका मतलब दिल मिलना होता है।

तो प्रेममें दो बातें हैं; एक तो दिल-से-दिन मिल गया, और दूसरी बात-दिन-रात सेवामें तत्पर रहना। ये दोनों बातें लक्ष्मीको प्राप्त हैं। वे भगवान्‌के दिलसे लगी रहती हैं—माने कभी उनका मतभेद नहीं होता है; रूठती नहीं हैं। कभी नारायण और लक्ष्मीकी लड़ाई नहीं होती, और प्रेम-कलह कभी नहीं होता। यदि छाती पर न हों; कभी घरमें रह जायँ, तो बाहरसे आने पर शंका करें—कि नारायण पता नहीं कहाँसे आ रहे हैं। और जब हर समय छाती पर चढ़ी हैं, तो शंका करनेका तो कोई अवसर ही नहीं है।

तो बोले—भाई! लक्ष्मीका सौभाग्य सब-से बड़ा है। दिल-से-दिल मिला, और सेवामें तत्पर! तो गोपियोंका सौभाग्य उनसे बढ़कर कैसे होगा? गोपियोंका सौभाग्य तो उनसे छोटा होना चाहिए। उनको तो विरह भी मिलता है। तो असलमें हम लोग तो वेदान्तकी प्रक्रियाका विचार ज्यादा कहते-सुनते हैं न! ये वैष्णव लोगोंकी प्रक्रियाका विचार बड़ा विलक्षण होता है। श्वेतदीपाधिपति, कारणार्णवशायी, परमव्योमनाथ, और श्रीकृष्ण—यह ऐसी पद्धति जो भगवत्तत्त्वके विचारकी है, वह देखो—तो श्वेतदीपाधिपति, कारणार्णवशायी, परमव्योमनाथ—यह तुरीय तत्त्वकी सीधमें पड़ता है। और श्रीकृष्ण जो है, क्या है? शुद्ध, मधुर ऐश्वर्य-रहित जो ब्रह्म है, उसको कृष्ण बोलते हैं। आप थोड़ी-सी प्रक्रियाकी बात ध्यानमें ले आओ। ब्रह्ममें ऐश्वर्य है कि नहीं है? ब्रह्ममें ऐश्वर्य नहीं है। जहाँ अपना रोब-दाब जमाना होता है, वहाँ ईश्वरता दिखानी पड़ती है; हम इतने बड़े! अपने

प्रेमियोंके बीचमें ईश्वरता नहीं दिखाई जाती है। वहाँ तो साधारणीकरण हो जाता है; मिल जाते हैं। तो श्रीकृष्ण मधुर ब्रह्म है, ईश्वर ब्रह्म नहीं है। मधुर ब्रह्म—माने मीठा ब्रह्म। तो यहाँ तो मायाका अपवाद कर देनेसे ब्रह्म शुद्ध हो गया। और यहाँ व्रजवासियोंका प्रेम देख करके अपना ऐश्वर्य उन पर निछावर किया, और निछावर करके हरद्वारकी तरफ फेंक दिया, तो मधुर ब्रह्म हो गया। तो मधुर ब्रह्मका नाम कृष्ण है। ऐश्वर्यहीन ब्रह्मका नाम कृष्ण है।

तो परमव्योमनाथकी जो लक्ष्मी है, उसको संयोग तो प्राप्त है, परन्तु संयोग कैसे प्राप्त है? स्वयं तलवेको पकड़के बैठी हैं, और स्वयं छाती पर बैठके पकड़े हैं। माने यह तो लक्ष्मीकी प्रीति हुई—कि वे नारायणको नहीं छोड़ती हैं। अब जरा कृष्णकी ओर देखो—

रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीत कण्ठलब्धाशिषां य उद्गाद व्रजवल्लवीनाम्।

कोई अकेलेकी बात नहीं है, भाई! रास-मण्डलकी बात है, जहाँ **वनिता शतकोटिभिराकुलितां**—हजार दो हजार नहीं, सौ करोड़; और वह भी एक वचन नहीं है, **शतकोटिभिः**—सौ करोड़को भी गुणा करो; इतनी गोपियाँ थीं। असलमें यह अनन्तका वाचक है। संख्या अपनी गिनती भी बताती है, और अनन्तता भी बताती है।

एक बार किसीने पूछा—कि श्रीकृष्णके सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियाँ थीं—यह क्या सच है? मैंने कहा—भलेमानुस! यह तो बहुत कम करके बताया हुआ है। जो इनके अलावा थीं, उनको तो अभी गिना ही नहीं है। कहा—कि कितनी थीं? तो सृष्टिमें जितनी मनोवृत्तियाँ, जितने मनुष्य, पशु-पक्षी, चींटी कीड़े-मकोड़े, जितने प्राणी हैं; भूतमें हुए हैं, इस समय हैं और आगे होंगे; और उनके मनमें जितनी वृत्तियाँ उठती हैं—उनकी अगर गिनती की जा सके, तो श्रीकृष्णकी पत्नियोंकी गिनती की जा सकती है। क्योंकि प्रत्येक वृत्ति ही—चाहे वह किसी भी प्राणीके अन्तःकरणमें भूतमें, वर्तमानमें, भविष्यमें उठती हों—वह जिसमें जागती हैं और जिसमें सोती हैं—वह प्रभु उसका पति है। और वही कृष्ण है। यह सोलह हजारकी गिनती तो एक दूसरे हिसाबसे की हुई है। एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। उनमेंसे एक मूर्धामें जाती है। उस नाड़ीसे जो ऊपरको चढ़ता है, उसको अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। और उन सब नाड़ियोंका जो उद्गम और लयका स्थान है, उन परमात्माका वर्णन करें—कि गिनती सोलह हजारकी करें; वह तो बहुत कम है।

अब आगेकी बात करें। रासोत्सव, रासका आनन्द क्या है? यह 'सव' नहीं, उत्सव है। सव माने यज्ञ होता है। उत्सव माने उद्गाह्य है—माने यज्ञका कर्ता, यज्ञके आधार, यज्ञके फल जहाँ तक पहुँचते हैं—उससे यह ऊपरकी चीज है। और साक्षात् रस ही रस है—**रसो वै सः**। रस माने ब्रह्म, और रास माने रस-समूह, जहाँ ब्रह्म, ब्रह्म, ब्रह्म है। प्रत्येक दो गोपीके बीचमें एक ब्रह्म! जितनी गोपी उतने ब्रह्म! अरे, गोपीकी जितनी मनोवृत्तियाँ, उतने ब्रह्म।

जित देखौं तित स्याममयी है।

अब उसमें **भुजदण्ड गृहीतकण्ठ लब्धाशिषां**। लक्ष्मीने पाँव पकड़ा और उधर छाती पर डेरा लगाया। और इधर गोपियोंका क्या हुआ? स्वयं उनके कन्धेपर अपना भुजदण्ड रखा। दण्ड माने कठोर, कोमल नहीं। कृष्णने जब गोपियोंके कन्धेपर हाथ रखा, तो कोमल कमलके समान हाथ नहीं रखा, भुजदण्ड—जैसे डण्डा रखा हो। कठोर हाथ रखा। क्यों? इसलिए, कि कहीं क्षण भरके लिए भी इधर-उधर जाने न पावें। पकड़के रखा।

भुजदण्डगृहीतकण्ठ—लक्ष्मीने पाँव पकड़ा, और उधर श्रीकृष्णने अपने भुजदण्डसे गोपियोंकी गर्दन पकड़ी। ये सटी रहें हमारे साथ। एक इंच भी, हवा निकलनेका रास्ता भी हमारे और इनके बीचमें न रहे। हमारे और इनके बीचमें किसी भी प्रकारका व्यवधान, किसी प्रकारका अवकाश न रहे। लगाये हुए हैं अपने बगलमें। क्यों जी? गोपी कृष्णसे प्रेम करती है कि कृष्ण गोपीसे प्रेम करते हैं? अब लक्ष्मीके साथ तुलना करो।

श्रीकृष्णका यह प्रेम देख करके गोपियोंकी जो अभिलाषा थी, जो आशा थी, जो लालसा थी, सो पूरी हो गयी। **आशिषां** शब्दका अर्थ संस्कृतमें है लालसा, अभिलाषा, आशा। तो **व्रजवल्लवीनाम्**—ऐसी जो व्रजवल्लवी हैं, व्रजकी गोपियाँ, व्रजांगना; वल्लव माने गोप होता है; प्यारा होता है। और वल्लव माने ध्याता होता है। तो ये जो व्रजके ग्वाले हैं, व्रजकी गोपियाँ हैं, इनके हृदयमें कृष्णका प्रसाद उदय हुआ। उदय हुआ—का अर्थ है, वह पहलेसे था। सूर्य पहलेसे रहता है, तो उदय होता है। **उत् ऊध्वंगा**—जो छिपा हुआ था, वह प्रगट हो गया; माने गोपियोंके ऊपर जो श्रीकृष्णका प्रसाद है, वह नित्य-सिद्ध है। जो प्रसाद प्रगट हुआ, वह **नितान्तरते श्रिय नः** हे अङ्ग प्यारे, साफ तुमको बताते हैं—कि जो कृपा, जो प्रेम, जो प्रसाद गोपियोंके प्रति श्रीकृष्णका प्रगट हुआ, वह अत्यन्त प्रेमवती लक्ष्मीके प्रति नहीं हुआ। और दूसरी जो शक्तियाँ हैं—भूदेवी हैं, लीलादेवी हैं वैकुण्ठमें रहनेवाली—

उनके प्रति तो होगा ही कहाँसे! भले उनके अंगमें-से कमलकी गन्ध निकलती है। फिर दूसरोंकी तो चर्चा ही क्या!

अब दूसरा प्रसंग लो। भाई, गोपियोंकी महिमाका इतना गान उद्धवजी, क्यों कर रहे हो? तुम्हारे मनमें यह क्या बात आगयी? तो इसको **नितान्तरतेः योऽङ्ग प्रसादः व्रजवल्लवीनां उद्गाद् य श्रियो न उद्गाद्।** अच्छा, नितान्त रति माने प्रीति, नितान्त प्रीतिकी पराकाष्ठा, उसका प्रसाद गोपियोंको। **नितान्तरते प्रसादः**—प्रीतिका प्रसाद जैसा गोपियोंके हृदयमें उदय हुआ, वैसा प्रसाद लक्ष्मीके हृदयमें उदय हुआ था? प्रीतिकी जो अन्तिम दशा गोपियोंके जीवनमें प्रगट हुई, लक्ष्मीके जीवनमें वह आयी?

भुजदण्ड—अच्छा, भुजा जो है—वह ऐश्वर्यका सूचक है। जब सगुण ईश्वरका वर्णन करते हैं तो 'चतुःबाहु' करके करते हैं, क्योंकि बाहुमें तो कर्तृत्व होता है। और पादमें गति होती है। पूर्णता समझानेके लिए पादकी कल्पना करते हैं और शक्ति समझानेके लिए बाहुकी कल्पना करते हैं। महात्मा लोग किस ढंगसे समझाते हैं? सगुण ईश्वरकी शक्ति बतानेके लिए उसे चतुर्बाहु बोलते हैं, और उसकी पूर्णता बतानेके लिए उसे चतुष्पाद बोलते हैं। तो नारायणकी पूर्णता बतानेके लिए बोलते हैं चतुर्भुज—कि चारों पुरुषार्थ अपने भक्तोंको देनेके लिए वे चतुर्भुज हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—जो चाहो, लो। जिसको विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय कहें—ये पाद हैं। सगुणकी यही चार भुजाएँ हैं। उनको बोलते हैं राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न। अथवा वासुदेव, प्रद्युम्न, संकर्षण, अनिरुद्ध—ये जो चतुर्रूप हैं—यही मानों चार बाहु हैं। ये चार पुरुषार्थ देनेके लिए हैं। अन्तःकरणमें जो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—ये चार विभाग हैं; इनके साथ इनका सम्बन्ध है। तो ये सगुण-निर्गुणके जो परावर हैं—भागवतमें इनको परावर बोलते हैं—जो परब्रह्मको भी जानें और अवर ब्रह्मको भी जानें। भक्ति और ज्ञान—दोनोंके रहस्यको जान सकता है। और जो केवल निर्गुणको जाने और सगुणका केवल अपवाद करके छोड़ दे, तो अपवाद जो है—वह विवेककी पराकाष्ठा है। और औपाधिक भोगमें अरुचि जो है—वह वैराग्यकी पराकाष्ठा है। उपाधिका अपवाद कर देना; अन्तःकरणकी उपाधि, अविद्याकी उपाधि, मायाकी, व्यक्तिकी, समष्टिकी उपाधि—इनका विवेक करके अपवाद कर देना; यह परमात्माका स्वरूप नहीं, यह विवेककी पराकाष्ठा है। और औपाधिक भोगमें रुचि न होना, अन्तःकरण उपाधियों द्वारा जो भोग प्राप्त किये जाते हैं—उनमें रुचि न होना; यह

वैराग्यकी पराकाष्ठा है। और ये विवेक और वैराग्य जब पूर्ण होते हैं, तब परमात्माके स्वरूपका बोध होता है। बोध होने पर अविद्याकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, और अविद्याकी निवृत्ति ही मोक्ष है। उसके सिवाय मोक्ष नामकी और कोई वस्तु नहीं।

अब यह बताते हैं—कि नितान्त रति जो श्रीकृष्णके प्रति है—उसमें मायाका कोई सम्बन्ध नहीं जोड़ना। तो नारायण जो है—वह परमात्माका सर्वोत्कृष्ट सगुण स्वरूप है, और लक्ष्मी उसके साथ परमात्माकी स्वरूपभूता शक्ति है। इस शक्तिको बोलते हैं बहिरंगा शक्ति; तपस्या शक्ति और स्वरूपभूता अन्तरंगा शक्ति। तीन शक्तियोंका वर्णन करते हैं—आह्लादिनी, संगिनी, संवित्। सत् शक्तिको संगिनी बोलते हैं, चित् शक्तिको संवित् और आनन्द शक्तिको आह्लादिनी बोलते हैं। तो यह जो आह्लादिनी है—यह परमात्माका, सगुण ईश्वरका स्वरूप है। शक्ति और शक्तिमानमें भेद नहीं होता।

अब देखो, यह भक्ति क्या है? यह प्रीति क्या है? सांख्यवादी कहते हैं कि सत्त्वगुणका विकार जो तदाकार वृत्ति है—उसको भक्ति बोलते हैं। मायिक है—माने प्राकृत वृत्ति है। तो भक्ति प्राकृत वृत्ति है—ऐसा सांख्यका सिद्धान्त है। और भक्ति मायाका परिणाम है—यह वेदान्तियोंका सिद्धान्त हैं। वेदान्तियोंमें भी अविद्याका परिणाम है, अविद्या—मूलक अन्तःकरणका परिणाम है। जो सगुण ईश्वरवादी हैं, वे कहते हैं कि यह ईश्वरकी शक्ति है, और जो अत्यन्त उच्च कोटिके सगुण साकार-वादी है, वे शक्ति और शक्तिमानमें भेद नहीं मानते, जैसे आनन्द ईश्वरका स्वरूप है, वही स्त्रीत्व अवस्थामें आह्लादिनी—इन दोनोंमें केवल स्त्रीलिंग और पुल्लिंग शब्दका भेद है, वस्तुतः तात्त्विक भेद नहीं है। वही आह्लादिनी सर्वलक्षमयी, सर्वकान्ति, सम्मोहिनी, परा, सर्वलक्ष्मीमयी श्रीराधारानी है। बिना उनके श्रीकृष्णका कोई अस्तित्व ही नहीं है। तो वही नितान्त रति-रूपा जो राधारानी हैं, उनका जो प्रसाद है, वह उनकी अंगभूता गोपियोंमें प्रकट है। वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।

अच्छा, अब उद्धवजीकी अभिलाषा देखो—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥ ६१॥

बहुत प्रसिद्ध है यह श्लोक। उद्धवजी बोलते हैं—मेरे लिए सबसे बड़े सौभाग्यकी बात क्या है? देखो, असलमें अगर ईश्वरकी प्राप्ति, श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी लालसा अपने जीवनमें लाना चाहते हो, तो किसी लालसा वालेका संग करो। तब पता चलेगा कि लालसामें मजा क्या है। विरक्त होना, त्यागी होना, असंग होना; ये सब दूसरी बातें हैं, और ईश्वरप्राप्तिकी लालसा दूसरी बात है। भक्त लोग कृष्ण-प्राप्तिकी लालसा नहीं करते, कृष्ण-प्रेमकी लालसा करते हैं—

कृष्ण मिले चाहे मत मिले
हमें मिले कृष्ण का प्रेम।

कृष्णसे भी बड़ा कृष्णका प्रेम है, क्योंकि कृष्णको नचाने वाला कौन? कृष्णका प्रेम। तो कृष्ण—प्रेमकी लालसा जिनके अन्दर है, उनका सत्संग करो। तब देखो, उसमें क्या आनन्द आता है।

तो उद्धवजी कहते हैं—हमें तो इनका ही सत्संग चाहिए। तो बोले—इनका सत्संग कैसे मिलेगा? बोले—अच्छा, एक जन्म नहीं दो जन्म, दस जन्म; कभी-न-कभी तो मिलेगा। **आसामहो चरणरेणु जुषामहं स्यां।** —हे विधाता, हे नारायण, हे कृष्ण! अब मेरा मन यहाँसे कहीं जानेका नहीं है; मथुरा जानेका नहीं है। मैं चाहता हूँ कि व्रजकी रजमें यह मेरा शरीर, यह मेरी माटी मिल जाय। इस माटीमें माटी मिलाके तुम क्या चाहते हो? यह चाहता हूँ—कि यहाँ गुल्म, लता, औषधि—कुछ बनूँ। जो छोटे-छोटे क्षुप हैं, जिनमें तना नहीं होता; बेला, गुलाब जैसी कोई जंगली झाड़ी बन जाऊँ। गुल्मलता—चमेलीकी लता बन जाऊँ। और **औषधीनाम्**—यहाँकी दूब बन जाऊँ, नागरमेथा, ज़ौ, मटर, गेहूँ बन जाऊँ। गुल्मसे लता छोटी और लतासे औषधि छोटी। ऐसा क्यों बनना चाहते हो? कि गोपियोंके चरणोंकी धूल हमें मिले। बहुत ऊँचे पेड़ न बनें; अगर बड़े-पीपल बन जायेंगे तो धूल उड़करके जल्दीसे हमारे सिरपर नहीं पहुँचेगी। और बाबा, यह तो वृन्दावन है; तो सिर उठाके बड़ा वृक्ष बनना उचित नहीं है। यहाँ तो नन्हा-सा पेड़ बनकर, नन्हा-सा कोई घासका पौधा बनके रहना—जिससे लोगोंके चरण मेरे ऊपर पड़ें। वही उचित है। तो बोले—उद्धवजी! चरणोंकी धूल जिनके ऊपर पड़े—तुम यहाँ ऐसी कोई घास, कोई पौधा क्यों बनना चाहते हो? प्रेमियोंके चरणोंकी धूल भाई! बड़ी विचित्र होती है; प्रेम आ जाता है। और जिसके हृदयमें प्रेम नहीं है—वह हृदय नहीं है, पत्थर है। भागवतमें है न—**तदश्मसारं हृदयम्**—वह दिल नहीं, फौलादका टुकड़ा है—जो भगवान्‌का नाम

लेकर द्रवित नहीं होता, पिघलता नहीं; आँखोंमें आँसू नहीं आते; शरीरमें रोमांच नहीं होता। बड़े दिलदार बने फिरते हैं—और भगवान्‌से प्रीति नहीं। भाई, जबतक दिल रहे, तबतक प्रीति रहे।

तो बोले—आखिर गोपियोंमें ही ऐसी क्या बात है?

या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा।

जिन्होंने स्वजन और आर्यपथ, अपने सगे-सम्बन्धी और आर्यपथ—इनको छोड़ दिया। तो बोले—आजकल तो जिसको देखो महाराज! वही ऐसा ही है। आजकल तो प्रणाली यही है न, कि घरमें बच्चे न पलें। जच्चाखानोंमें पैदा होवें और राष्ट्रीय जच्चा—घरमें पलें; और वहीं स्कूल कालेजमें पढ़ें। अपने माँ-बापको पहचानें नहीं—ऐसा नया जमाना आ रहा है। तो उनके लिए स्वजन छोड़ना क्या मुश्किल होगा? स्वजन तो बेचारे कुछ हैं ही नहीं। वे स्वजनको स्वजन जानते ही नहीं। मैंने सुना—कि रूसमें एक माँ अपने बच्चेसे मिलने जाया करती थी; हफ्तेमें एक बार। कभी अंगूर ले जाय, कभी अनार ले जाय, कभी मिठाई ले जाय। एक दिन उसने अपने बच्चेसे पूछा—कि बेटा, तुम क्या चाहते हो? तो उसने दोनों हाथ अपनी माँके गलेमें डाल दिये, और बोला—कि मुझे माँ चाहिए।

तो अब नई सृष्टि तो ऐसी आ रही है, जब लोग स्वजनको जानेंगे ही नहीं। और धर्मको तो नई सृष्टि यह बोलती है—कि यह तो लोगोंके दिमागमें जहर भरा हुआ है। तो न स्वजन रहे, न धर्म रहे। तो अब क्या रहेगा? कि अब मोह होगा दुनियाँमें; राग-द्वेष रहेगा दुनियाँमें। तो इस सृष्टिकी तो चर्चा नहीं करनी। हम उन लोगोंकी चर्चा कर रहे हैं, जिनके लिए दुस्त्यज थे ये सब। श्रोताका ध्यान 'दुस्त्यज' शब्द पर जाय—इसलिए मैंने यह बात कही। गोपियोंके लिए स्वजन न हों—सो बात नहीं। इतना प्रेम करते थे गोपियोंको उनके पति, कि ले ले के डण्डा दरवाजा बन्द करके बैठते थे—कि हम निकलने नहीं देंगे घरसे। उनके माँ-बाप, भाई-बन्धु, उनके परिवार—सब गोपियोंको मानते थे—कि ये तो हमारी सर्वस्व हैं। और इतना प्रेम प्राप्त होने पर 'दुस्त्यज'—जिनको छोड़ना बड़ा मुश्किल है।

अच्छा; बोले—भाई, तुमको अपना धर्म छोड़ना बड़ा मुश्किल लगता है? अजी, धर्म छोड़नेमें क्या लगता है? कहो—आज ही संध्या-वन्दन छोड़ दें, आज ही जनेऊ निकालके फेंक दें। नहीं, गोपियोंके लिए धर्म दुस्त्यज था। इसका मतलब है कि वे स्वभावसे धर्मात्मा थीं; स्वभावसे कुटुम्बमें उनकी प्रीति थी।

अपने दिलको ठोंकके देखो; तुम्हारे लिए धर्म दुस्त्यज है? अरे, धर्म तो सबसे सुगम है छोड़ना। आज तो अधर्म छोड़ना दुस्त्यज है। बोले—किसीसे गुस्सा मत करना, किसीको गाली मत देना, किसीसे दुराचार-व्यभिचार मत करना, झूठ मत बोलना; बोले—बड़ा दुस्त्यज है महाराज! झूठ भला हम कैसे छोड़ेंगे? 'दुस्त्यज' विशेषणका यह अर्थ है—**या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा**। उनके लिए धर्म दुस्त्यज था। आज-कलके लोगोंके लिए अधर्म दुस्त्यज है, और धर्म सुत्यज है। सुगमतासे छोड़ दें, भाई!

बोले—प्रेमीका तो धन्धा ही यही है, कि वह धर्मको न माने। कि नहीं, नहीं! बोले— क्या क्या उन्होंने?

भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्।

उन्होंने मुकुन्द पदवीका भजन किया। ध्यान करते-करते मुकुन्द हो गयीं; मुकुन्दकी पदवी उन्होंने प्राप्त की। जैसे किसीको मिनिस्टरकी पदवी मिल जाय, राष्ट्रपतिकी, महामहोपाध्यायकी पदवी मिल जाय! तो क्या हुआ? महामहोपाध्याय हो गया न! तो गोपियोंने मुकुन्दकी पदवी प्राप्त कर ली। कृष्णोऽहम्—गोपी बोलती थी; मैं ही कृष्ण हूँ। मेरी चाल देखो न! अब भी तुमको विश्वास नहीं हुआ? मैं ही कृष्ण हूँ—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।

मुकुन्द—मु माने मुरि है नीची जिससे। मुक्तिका तिरस्कार कर दिया है जिसने। मुकु माने प्रेम। मुक्तिं ददाति इति मुकुन्दः—जो मुक्तिको भी नीचा दिखाने वाले प्रेमका दान करे, उसका नाम मुकुन्द। मुखे कुन्दवत् हास्यः यस्य—जिनके मुखारविन्द पर मुस्कान हमेशा खेलती रहती है—उनकी पदवी प्राप्त की—मुकुन्द पदवी।

अभी एक बात सुनानी है। ब्रह्माजी कहते हैं—कि हमें व्रजवासियोंके चरणोंकी धूल चाहिए। उनके वचनमें है—कि किसी व्रजवासीकी भी धूल हो; व्रजकी गाय, बकरी, भेड़; उनके पाँवसे उड़के धूल हमारे ऊपर पड़ जाय। और उद्धव कहते हैं—गोपियोंके चरणोंकी धूल हमको मिले। किसीके चरणोंकी धूल नहीं, गोपियोंके चरणोंकी धूल। बोले—भाई, दोनोंमें क्या फर्क है? ब्रह्मा अपराधी हैं, और उद्धव भगवत् प्रेमी हैं। अब भगवत्प्रेमी भी, गोपी-प्रेमी भी हैं। ये तो अनुगत बन गये न! चेले बन गये गोपियोंके।

उनसठवाँ प्रवचन

आसामहो चरणरेणु जुषामहं स्यां।
वृन्दावने किमपि गुल्म - लतौषधीनाम्॥ ६१॥

एक प्रकरण हैं, उसमें बताया है कि ईश्वरकी प्राप्तिके दो साधन हैं—ध्यान और ज्ञान। ये दोनों शब्द हैं वहाँ। उसमें एक ध्यानज्ञानाध्याय है—ध्यान ज्ञान प्रकरण; निर्गुण ब्रह्मका ज्ञान, और सगुण ब्रह्मका ध्यान। ध्यानसे तद्भावापत्ति, तन्मयता; और ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है। ध्यानसे सगुण ब्रह्ममें जो स्थिति होती है, वह अभ्यास-साध्य है, और ज्ञानसे जो निर्गुण ब्रह्ममें स्थिति होती है—वह साध्य नहीं, सिद्ध है। इसमें केवल आवरण-भंग करनेकी जरूरत होती है। अपनी-अपनी रुचि, अधिकार, निष्ठा आदि बातें इसके साथ लगी हैं। जिन लोगोंको ध्यानकी बातें सुननेका नशा हो जाता है, उनको ज्ञानकी बात अच्छी नहीं लगती, और जिनको ज्ञानकी बात सुननेका नशा हो जाता है, उनको ध्यानकी बात अच्छी नहीं लगती। देखो, यह विक्षिप्त प्रपंच भी जब परमात्माका स्वरूप है—यह महात्माओंका अनुभव है—तो ज्ञानमें आया हुआ जो परमात्माका स्वरूप है, वह परमात्मा नहीं है—ऐसा सोचना तो एकदम गलत है।

तो आओ, ध्यानकी बात करें। हमने ऐसा अनुभव किया है कि जब प्रेम आता है, या किसीसे द्वेष होता है, ईर्ष्या होती है, स्पर्धा होती है—तो जिसके लिए दिलमें डाह होता है, उसकी मूर्ति आकर ऐसी सामने खड़ी हो जाती है कि हटाए नहीं हटती है। हम सोचते हैं कि दुश्मनकी मूर्ति हमारे हृदयमें न आवे; और वह जबदस्ती घुस जाती है। लेकिन उसके साथ जलन लगी रहती है। और जब किसीके प्रति काम आता है मनमें, तो उसकी शकल सूरत मूरत ऐसे मनमें आती है—कि मालूम होता है कि बस, दिलमें अगर कोई चीज है तो वही, वही है। साहित्य-दर्पणमें बड़ा सुन्दर उदाहरण है—

'यह हमारे मनमें कैसा अद्वैतवाद हो गया है! कि छज्जे पर भी वही है और रास्ते पर भी वही है।' जिसके प्रति मनमें काम होता है, उसकी स्मृति होती है। जब लोभ होता है तो नोटोंके बण्डल-ही-बण्डल दिखायी पड़ते हैं। तो ध्यानकी बात मिली न—कि जिससे राग होता है, जिससे सम्बन्ध होता है—उसका ध्यान अपने चित्तमें आता है। अब कहो कि हम डण्डा मारके उसको निकाल दें—तो

वह निकलता नहीं है। बल्कि जिद्दी आदमी हो तो डण्डा मारने पर और हठमें आ जाय—कि हम तो यही करेंगे।

तो यह जो काम है, राम है, आसक्ति है—इसीसे ध्यान होना संसारमें देखनेमें आता है। अब यदि सगुण-साकार ईश्वरसे राग हो जाय, राग हो जाय, आसक्ति हो जाय, सम्बन्ध हो जाय—तो देखो, उसका कैसा ध्यान होता है। वह आता है न—**न ररांचि मैं न लखि।**

मियाँजी नमाज पढ़ रहे थे। कोई स्त्री जा रही थी अपने प्रेमी मित्रसे मिलने; तो नमाजके कपड़े पर पाँव पड़ गया। बड़े ही नाराज हुए मियाँ जी, क्रोधमें आग बबूला हो गये। तो बोली—कि मैं तो एक मनुष्यके प्रेममें पागल हुई और तुमको नहीं देखा। और तू ईश्वरके प्रेममें नमाज पढ़ रहे हो, और हमको देखते हो और इतना गुस्सा तुमको आता है।

तो प्रेममें ध्यान होना स्वाभाविक है। प्रेमके बिना चित्त लगता नहीं, प्रेमके बिना ध्यान होता नहीं, न ही संसारका राग करता है। संसारमें राग रोग है और द्वेष बड़ा भारी दोष है। ये दोनों भाई-भाई, मधु-कैटभ—हमेशा साथ-साथ रहते हैं; और वैराग्य माने होता है राग—द्वेष रहित होना। वैरागिया टाईपके लोग होते हैं न! वे सोचते हैं हमारी तरह दुनियाँके सब लोग बैरागी हो जायँ। पागल हैं वे। यही उनके वैराग्यकी कमी है कि जो दूसरोंको वैराग्यवान बनाना चाहते हैं। उससे तुम्हारा राग है—कि ऐसा बने, ऐसा बने। तभी तो उसे वैरागी बनाना चाहते हो।

तो यह वैराग्य हुक देनेसे नहीं आता। भूलें मत रहना; बड़ा दृढ़ विवेक होने पर यह वैराग्य आता है या भगवान्‌की कृपा होवे, संतकी कृपा होवे—तब यह वैराग्य आता है या भगवान्‌की बड़ी भारी उपासना होवे प्रेमसे, तब यह वैराग्य चित्तमें आता है।

देखो, गोपियोंने किसीसे ध्यानकी शिक्षा ग्रहण नहीं की थी। उन्होंने सीखा नहीं था—कि ध्यान कैसे करना है। आप लोगोंने तो सीखा भी होगा; और नहीं तो कम-से-कम शिकायत ही करते होंगे—कि जब हम ध्यान करने बैठते हैं, तो नहीं लगता है। बिना सीखे भी शिकायत करते होंगे। ध्यान करना होवे तो जरा आसन ठीक ढंगका चाहिए, क्योंकि शरीर और मनका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। शरीरमें स्थिरता नहीं आवेगी तो मनमें भी स्थिरता नहीं आवेगी। शरीर थोड़ा सीधा होना चाहिए; और श्वासकी गति समान होनी चाहिए। और किसीसे राग-द्वेष लेके नहीं बैठना चाहिए। भूखे भी नहीं बैठना चाहिए; भूखा आदमी ध्यान

करने बैठ जावेगा तो ध्यान नहीं लगेगा। भूख हो तो थोड़ा हल्का खा लेना चाहिए; प्यास हो तो पानी पी लेना चाहिए। लघुशंका लगी हो तो लघुशंका करके ध्यानमें बैठना चाहिए, नहीं तो भगवान्‌का ध्यान नहीं होगा, लघुशंकाका ध्यान होगा। तो शरीरको निर्मल करके, आसनमें थोड़ी स्थिरता लाकर, शरीर सीधा करके, श्वास स्वाभाविक बनाके और अपने मनको भगवान्‌के उस रूपमें जोड़ना चाहिए—जिससे प्रेम हो।

एक बार मेरे पास दो बंगाली युवक आये। पहले मैंने उनको कभी देखा नहीं था। उम्र तो थी उनकी पच्चीस-पच्चीस तीस-तीस बरसकी, परन्तु देखनेमें मालूम पड़ें कि, सत्रह-अट्ठारह बरसकी लड़कियाँ हैं। मेरे मनमें यह प्रश्न हुआ, कि ये युवक हृष्ट-पुष्ट हैं, तो ये लड़की सरीखे क्यों लगते हैं? जब उनसे बात हुई, तब मालूम हुआ कि वे अपनेको सोलह बरसकी लड़कीके रूपमें ही ध्यान करते हैं—कि हम सोलह बरसकी लड़की हैं, गोपी हैं, कृष्णकी प्रेमिका हैं। श्रीकृष्ण हमारे प्रियतम हैं। ध्यान स्थूल शरीरमें परिवर्तन कर देता है। जब श्रीकृष्णने रुक्मिणीसे कहा कि तुम दूसरे पुरुषसे ब्याह कर लो, तो रुक्मिणीने क्या कहा?

जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा।

'जो विमूढ़ स्त्री है, वह चलते-फिरते मुर्देको अपना प्यारा मान करके उसके साथ सम्बन्ध जोड़ती है। मैं ऐसी नहीं हूँ। मैं समझती हूँ—कि किसके साथ प्रेम करना चाहिए और किसके साथ ब्याह करना चाहिए।'

या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री॥ भा. १०.६०.५४५

'जिसने कभी तुम्हारे चरण-कमलकी आराधना नहीं की है, जिसने तुम्हारे चरण-कमलकी मकरन्दको कभी सूंघा नहीं है—वह और किसीसे प्रेम करेगा।'

तो देखो, गोपीकी स्थिति, भगवान्‌से प्रेम करके क्या हुई—उद्धवजी इसका वर्णन कर रहे हैं। जो जिसके चरणकी धूल सिर पर लगाता है, उसके अन्दर वैसे ही गुण आते हैं। धरती एक प्रकारका आकर्षण है, और इसपर हम जो पाँव रखते हैं, उससे धरतीका एक तरहका गुण प्रवेश करता है। जड़ भरतका तो कहना है—कि महापुरुषके चरणकी रजमें नहाना चाहिए। **विना महत् पाद रजोऽभिषेकम्**—महापुरुषकी धूलमें स्नान किये बिना किसीका हृदय शुद्ध नहीं होता; परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती। हम बड़े जती, हम बड़े सती, बड़े साधक, बड़े भक्त हैं—अभिमान आ जाता है।

तो अगर गोपियों सरीखा प्रेम प्राप्त करना होवे तो उद्धवजीसे गोपियोंके

चरणोंकी रेणु प्राप्त करनी होगी। एक प्रसंग-वश बात याद आगयी। (अभी तो नहीं है प्रयोजन) जड़ भरतके प्रसंगमें यह बात कही गयी है—कि अगर कोई महापुरुषका अपराध करे, तो महापुरुष उसको दण्ड देगा, कि नहीं देगा? बोले—नहीं देगा। **भुवनिष्टबन्धो**। भागवतमें 'निष्टबन्ध' शब्दका कई बार प्रयोग है। **निष्टबन्ध प्रहर्षं**—हिमालय कौन सा है? कि निष्टबन्धको आनन्द देनेवाला है। तो बोले—अच्छा, महापुरुष तो किसीको दण्ड नहीं देगा, लेकिन वह जो अपराधी है, उसका क्या होगा? तो बोले—कि उसको तो दण्ड मिलता है। कौन दण्ड देता है? **नित्यं महत्पुरुष-पादरेणुभिर्निरस्ततेजस्तु तदेव शोभनम्**—वह जो महापुरुषके चरणोंकी धूल होती है न, वह धूल ही उसको तेजोहीन कर देती है। उसका यश, उसकी कीर्ति—सब चला जायेगा। उसका तिरस्कार होगा; वह लोगोंकी नजरोंमें गिर जायेगा। यह बात श्रीमद्भागवतमें आयी है। माने रजकी भी महिमा है।

एक होम्योपैथिक डाक्टर थे बहुत बड़े; बड़े प्रतिभाशाली विद्वान; प्राणाचार्य और क्या-क्या उनकी पदवी थी। होम्योपैथीकी वे चिकित्सा करते थे। एक बार मेरे पास आये, और मैंने पूछा उनसे, कि होम्योपैथी चिकित्सा करने वाले कहते हैं कि होम्योपैथी दवा लाभ तो करती है, लेकिन हानि नहीं करती। इसको आप युक्तिसे समझा सकते हो? उन्होंने कहा—यह बात बिलकुल गलत है। जब औषधि शरीरके भीतर जाती है तो वह किसी-न-किसी प्रक्रियासे फायदा पहुँचाती है; शरीरमें कुछ हेर-फेर, कुछ खटपट करती है। वह हेरफेर, वह खटपट कभी किसीके अनुकूल पड़ती है, तो कभी किसीके प्रतिकूल पड़ती है। इसलिए जो चीज फायदा कर सकती है, वह चीज नुकसान भी कर सकती है।

तो यह जो पादपांशु है—इसको जो श्रद्धासे, प्रेमसे अपने सिर पर धारण करता है—उसके अन्दर सद्गुणका संचार करती है, और जो अपराधकी भावनासे अपने सिरपर धारण करता है—उसके तेजका हनन करती है। जैसे कोई बदमाशोंमें रहकर बदमाशी करे तो उसकी अपकीर्ति नहीं होगी, और सत्संगमें रहके बदमाशी करे—तो उसकी ज्यादा अपकीर्ति होगी; उसका तेज, उसका यश, उसका तप और भी क्षीण होगा। क्यों? कि वहाँ तो सब लोग उसका बुरा मानने वाले हैं न!

तो यह जो महापुरुषके चरणोंकी धूल है, यह अपराधियोंके लिए दण्ड भी देने वाली है, और श्रद्धालुओंको सद्गुण भी देने वाली है। तो बोले—यदि चाहिए तुमको भगवान्का ध्यान—तो प्रेम करना पड़ेगा। बिना प्रेमके ध्यान नहीं

होगा और बिना ध्यानके भगवान् नहीं मिलेंगे, और प्रेमीके चरणोंकी धूल सिरपर पड़े बिना प्रेम नहीं मिलेगा। **रसिकन को सत्संग नित।** नित्य रसिकोंका सत्संग करना चाहिए।

वृन्दावनकी माधुरी इन रसिकन मिलि आस्वादन कियो। वृन्दावनकी माधुरीका आस्वादन तो रसिक लोग करते हैं। तो उद्धवजीने कहा—कि जब गोपियोंके प्रेमकी परछाईं हमारे भीतर आवेगी, तब ऐसा प्रेम आयेगा। बोले—कि तब तो उनके चरणोंकी धूल चाहिए। चरणोंकी धूल कहाँ मिलेगी? बोले—वृन्दावनमें।

एक बात और; पत्थर तो सब हैं, लेकिन नर्मदाका पत्थर लेकर उसमें शंकरकी आराधना होती है और गण्डकीका पत्थर लेकर उसमें शालिग्राम, नारायणकी आराधना होती है। हैं सब पाषाण ही, परन्तु भगवान्‌की आराधनाके लिए तत्-तत् पाषाणमें शिव-बुद्धि, नारायण—बुद्धि शास्त्रके अनुसार की जाती है। यह जो सुनार शक्ल बना देते हैं सोनेमें—यह स्त्रीकी है, यह पुरुषकी है, यह शिव की है, यह नारायणकी है—लेकिन नारायणकी, भगवान् आकृति होने पर वह पूज्य हो जाती है। अच्छाजी, अष्टमी-नवमी हर महीनेमें आती है, और रविवार सोमवार हर महीनेमें आते हैं—लेकिन रामनवमी और जन्माष्टमी क्यों पवित्र हैं? देखो, कालमें जो पवित्रताका आरोप है, उसको एकादशी बोलते हैं, जन्माष्टमी, रामनवमी बोलते हैं—आराधनाके लिए। और वस्तुमें जो नारायणपनेका आरोप है—उसे शालिग्राम बोलते हैं, नर्मदाशंकर बोलते हैं। ऐसे जो देशमें नारायणपनेका भाव है, ब्रह्मपनेका भाव है—वह क्या है? वह वृन्दावन है। क्या दिव्य देश है। इसको तुम अलीगढ़ मत समझो। इसको तुम दिल्ली मत समझो। वह दिव्य देश है। गुरुका शरीर मनुष्य नहीं है। काशीकी भूमि प्राकृत नहीं है, त्रिशूलके ऊपर अविमुक्त क्षेत्र है। यह देखो, यह उपासनाकी महिमा है। जैसे मूर्ति दिव्य होती है, काल दिव्य होता है, वैसे देश भी दिव्य होता है। भगवान्‌के धामको दिव्य देश बोलते हैं। तो वृन्दावन—यह दिव्य देश है। अगर तुम एक देशको, ब्रह्म नहीं बोल सकते, तो सर्वदेशको क्या ब्रह्म देखोगे? सर्वकालको क्या ब्रह्मरूप देखोगे, अगर एक कालमें ब्रह्म नहीं देख सकते? कहीं छत फाड़के ब्रह्म थोड़े ही घुसेगा? अरे, अपने दिलमें उसके लिए जगह तो बनानी पड़ेगी न! सोनेके एक कणको तो पहचाना नहीं—कि सोना है; सिल्ली मिलेगी तो पहचान जाओगे?

तो बोले—क्या होना चाहते हो तुम, उद्धवजी? तो **गुल्म लतौषधीनाम्**—

झाड़ी हैं, छोटी-छोटी लता हैं। तो झाड़ी निरर्थक होती है, तमोगुणी होती है। लता फूलकी सुगन्ध देती है, भोग देती है; रजोगुण है। औषधि जो है—जौ गेहूँ आदि—यह भोजन देती है, लोगोंका पालन करती है—तो सात्विक है। एक बार पैदा हुआ, फिर सूख गया। उद्धवजीने यह नहीं कहा कि हम जड़ हो जायँ। कहीं जड़ हो गये, और पाँच सौ बरस तक जड़ ही बने रहे, तो प्रेम कहाँसे मिलेगा? नहीं, झटसे जौ, गेहूँ—कुछ बनें, गोपियोंके चरणोंकी धूल उसके ऊपर पड़े, और चार महीनेमें सूख जायँ। फिर गोपियोंके प्रेमसे व्रजमें कोई प्राणी बनें। तो जल्दीसे यह जड़-भाव सूख करके चेतन-भावकी प्राप्ति होवे—इसके लिए छोटे-छोटे वृक्ष बनना चाहते हैं।

बोले—भला गोपियोंके बारेमें तुम्हारी इतनी श्रद्धा क्यों है? असलमें जातिका अभिमान, आचारका अभिमान ज्ञानका अभिमान तोड़नेके लिए प्रेमके सामने झुक जाना। गोपियोंने क्या किया? कि स्वजनोंको, आर्यपथको छोड़ दिया। देखो, असली स्वजन—माने साजन कौन है? कि कृष्ण है। और आर्यपथ कौन है? कि आर्यपथ भी कृष्ण है। वही आर्योंका आर्य है, वही स्वजनोंका स्वजन है। उसकी प्राप्तिके लिए लोक भी है, परलोक भी है। गोपियोंने उन स्वजनोंको छोड़ा—जिनको छोड़ना संसारी लोगोंके लिए बड़ा कठिन है। स्वजनोंको छोड़ा, तो किया क्या? बोले—किसीके साथ जाके ब्याह की रजिस्ट्री करा ली। और एक ने माँ-बापको छोड़ा; काहेके लिए? कि भगवान्‌का भजन करनेके लिए। दोनोंमें कुछ फर्क मालूम पड़ता है? एकने संध्या-वन्दन छोड़ा, काहेके लिए? कि श्रीकृष्णकी प्रीतिमें मगन रहनेके लिए। और एकने काहेके लिए छोड़ा? कि ताश खेलनेके लिए। दोनोंके उद्देश्यमें फर्क है न! देखो, असलमें ब्रह्मज्ञानमें माया विशिष्ट ईश्वरसे भी वैराग्य करना पड़ता है, वेदान्तसे भी वैराग्य करना पड़ता है, गुरुसे भी वैराग्य करना पड़ता है। ब्रह्म पदवी बड़ी ऊँची पदवी है, जिसमें द्वैतका भी विरोध करके ब्रह्मज्ञान होता है। ब्रह्मज्ञानकी ऐसी महिमा है।

एक घरमें तीन पीढ़ियाँ थीं; दादा था, पिता था और बेटा था। बेटा बापकी भी सेवा करता था और बाबाकी भी। एक दिन कोई राजा आया। उसने लड़केके बापसे कहा कि तुम अपना बेटा हमको दे दो। हमें उत्तराधिकारीकी जरूरत है। हम चाहते हैं कि तुम्हारे बेटेको गोद लेके युवराज बनावें। बापने सोचा कि ठीक है; हमारा बेटा राजा हो जावेगा, तो बहुत बढ़िया! अब दादाने

कहा कि यदि तुम बेटेको युवराज बननेके लिए भेज दोगे, तो हमारी सेवा कौन करेगा? दोनोंमें मतभेद हो गया; पिताने अपने पिताका विरोध करके भी अपने बेटेको राजा होनेके लिए भेज दिया। अरे बाबा! यह कैसा बेटा है, जो अपने पिताका विरोध करके अपने बेटेको राजा होनेके लिए भेजता है? तो बोले—वह समझता है कि हमारा बेटा जब राजा हो जावेगा, तो अब जितनी सेवा करता है—इससे ज्यादा हमारी और हमारे पिताकी सेवा करेगा। तो वेदान्त ज्ञानमें यह विशेषता है—कि वह श्रवणसे तो होता है, माने कोई भी वाक्य-तत्त्वमस्यादि महावाक्य—श्रोत्र-इन्द्रियसे सुना जायेगा, लेकिन वह वाक्य ब्रह्मज्ञान करा करके श्रोत्रको भी बाधित कर देगा और स्वयं भी बाधित हो जायगा। जिस कानके द्वारा सुन-सुनके ज्ञान होता है, उस कानको मिथ्यात्व कोटिमें डालना, और जिस महावाक्यके श्रवणसे ज्ञान होता है, उस महावाक्यको भी मिथ्या कोटिमें डाल देना; इनके वीर्यका भेद करके जिससे अपना जीवन मिला, उसका विरोध करके भी ब्रह्मको प्राप्त किया जाता है। लेकिन महाराज, धर्मका विरोध करो, गुरुका विरोध करो, शास्त्रका, ईश्वरका विरोध करो—तो प्राप्त क्या करो? कि कानी कौड़ी! तो यह तो बुद्धिमानीकी बात नहीं है न!

अब देखो, गोपियोंकी स्थिति क्या है—

या दुस्त्यजमार्यपथं च हित्वा।
भेजुर्मुकुन्द पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

उन्होंने लौकिक स्वजनका त्याग किया और पारलौकिक आर्यपथका परित्याग किया, जो छोड़ना लोगोंके लिए मुश्किल है। अब उनको छोड़के उन्होंने प्राप्त किसको किया? बोले—**मुकुन्द पदवीं**—मुकुन्दकी पदवी प्राप्त की। मुकुन्द पदवी कोई मामूली चीज नहीं है। श्रुतियोंके लिए भी यह अभी मृग्य है; श्रुतियोंने प्राप्त कर लिया—सो नहीं, अभी श्रुतियोंके लिए भी ढूँढकर पानेके योग्य है। ऐसी मुकुन्द पदवी गोपियोंने प्राप्त की।

अब देखो, थोड़ा इस बातको सुनाते हैं। पहले तो यह विचार करो—कि श्रुति जो है, वह ज्ञानका खजाना है। ब्रह्मसूत्रमें एक प्रसंग है उत्पत्यासम्भावादि प्रकरण नामका। उसमें शांडिल्य रुचिका शंकराचार्य भगवान्‌ने बड़ा भारी उपहास किया है, बड़ी हँसी उड़ाई है। वे कहते हैं—कि शांडिल्यने कहा, जो बात वेदमें नहीं है, और वैदिकोंको जो ज्ञात नहीं हुई, वह पांचरात्रमें आयी। तो शंकराचार्यने कहा, कि पाँचरात्रमें यह बात कहाँसे आगयी? वेदके ऋषियोंको जो बात नहीं

दिखी, उसको कहाँसे डुबकी लगाके तुम ले आये? तो यह जब बात कही जाती है कि **वेद कुतेव मर्म नहीं जाने**—वेदका मर्म उसको नहीं मालूम है—तो उसका अर्थ समझना चाहिए; उसका असली अर्थ समझना चाहिए। वृन्दावनमें तो यह बात बहुत सुननेको मिल जायेगी। वे ऐसे बोलते हैं, कि देखोजी, यह गोपी भाव जो है न, यह बड़ा गुप्त है। इसमें शिवजीका प्रवेश नहीं है, नारदजीका प्रवेश नहीं है। ब्रह्मा विचारेको तो उसका पता ही नहीं है। पर हम उनकी बात पूरी करते हैं; कि अच्छा, आपका तो प्रवेश है न! आपकी तो पहुँच है न वहाँ तक! हमको तो बड़ा सन्तोष है इस बातसे। जहाँ ब्रह्मा-शिव-नारदकी पहुँच नहीं है—वहाँ आपकी पहुँच है! बाबा, हमको आपकी पहुँच वाला नहीं चाहिए; हमको तो ब्रह्मा-शिव-नारदकी पहुँच वाला चाहिए। यह जो समझदारीकी बात होती है, उसको समझना चाहिए—कि आखिर क्या बात कही जा रही है!

तो **श्रुतिभिर्विमृग्याम्** का अर्थ यह है, कि श्रुति जब प्रतिपादन करती है, तो 'नेति' 'नेति' कहती है। श्रुति जब वर्णन करती है,—तो कहती है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सः।

यहाँसे वाणी लौट जाती है। समझो—वाणी देवी, सरस्वती देवी परमात्माको ढूँढनेके लिए निकली। तो अकेले जानेमें तो उनको डर लगा। देखो, **वाचो निवर्तन्ते**—वाचो बहुवचन है न; तो कई रूप उन्होंने धारण किये; यह विधि प्रतिपादक है, यह निषेध प्रतिपादक है, यह अन्वय प्रतिपादक है, यह व्यतिरेक प्रतिपादक है : तो यह सरस्वतीने तरह-तरहके रूप धारण किये। फिर भी सन्तोष नहीं हुआ। तो बोलीं—कोई-न-कोई पुरुष तो साथ होना चाहिए। तो पुरुष लेके जायँ और परमात्मा नाराज हो जाय—कि औरत होके यह परपुरुषको साथ लेकरके आयी है—तो? तो बोले—एक नपुंसक ढूँढा। नाजिर आया; कौन? **मनसा च**—मनको साथ लिया। सरस्वतीने, वाणीने अनेक रूप धारण किये माने प्रतिपादन की अनेक शैलियाँ—यह अभिधा वृत्ति है, यह लक्षणा, यह व्यञ्जना; अनेक अनेक वृत्तियोंका रूप धारण किया। और फिर मनको साथ लिया। लेकिन बाबा, परमात्मा तो ऐसी जगह कन्दरामें छिपा था—कि पहुँच नहीं सकी। **निवर्तन्ते**—बीच रास्तेसे ही लौट आयी। तो यह बात किसने कही? यह बात अश्रौत नहीं है, इसमें वेदकी निन्दा नहीं है। कहो—कि वेदकी पहुँच परमात्मा तक नहीं है—ऐसी बात यदि कोई और कहता, तब वेदकी निन्दा होती। जब स्वयं वेद ही कह रहा है—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सा।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञानं अविजानताम्॥

स्वयं श्रुति ही कह रही है कि हमारी पहुँच नहीं। तो इसमें वेदकी निन्दा तो नहीं हुई; यह तो वेदकी स्पष्टवादिता हुई, कि जैसे हम घट-पटादि विषय—वस्तुओंको विषय बनाते हैं, इस ढंगसे हम परमात्माको विषय नहीं बना सकते।

अच्छा, अब दूसरी बात सुनाते हैं। **श्रुतिभिर्विमृग्याम्**का अर्थ है, कि इदं इदंके रूपमें घट-पटादिके समान श्रुतिने भी जिसको अभी प्राप्त नहीं किया है, ढूँढ रही है—उसको गोपियोंने प्रेमसे प्राप्त कर लिया। उसे प्रेमसे प्राप्त करके अपने हृदयसे लगाया। उसकी सेवा की, उसके साथ एक हो गयीं, और उस मुकुन्द पदवीको प्राप्त कर लिया।

अब एक और बात देखो। **श्रुतिभिर्विमृग्याम्** और भी है भागवतमें। गोपियोंको देख करके श्रुतियोंको भी आश्चर्य होता है। क्यों? तो हम लोग आधिदैविक रूपसे भी श्रुतियोंको मानते हैं। जैसे पण्डित लोग शब्दका उच्चारण करते हैं न, वह शब्दका आधिभौतिक रूप है, और उससे तो परावाणीके द्वारा, पश्यन्ती वाणीके द्वारा जो श्रुतिका उच्चारण होता है, जो दर्शन होता है—वह आध्यात्मिक है। और सरस्वती देवीके रूपमें जो यह श्रुति रहती है—प्रत्येक श्रुतिकी जो अधिष्ठातृ देवता है—उसके रूपमें श्रुति आधिदैविक है। तो श्रुति वर्णन करती है, और श्रुतिको आश्चर्य क्या है—यह सुनो। आप लोग तो इस विषयको अनेक बार सुन चुके होंगे।

न वा अरे सर्वस्व कामाय सर्वं प्रियं भवति।
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति॥

बृहदारण्यक २.४.५

बड़ी लम्बी चौड़ी श्रुति है। लोग बेटेके लिए बेटेसे प्रेम नहीं करते, अपने लिए बेटेसे प्रेम करते हैं। पत्नीके लिए पत्नीसे प्रेम नहीं होता; पतिके लिए पतिसे प्रेम नहीं होता—सब अपने लिए होता है। कहनेका अभिप्राय यह है कि प्रेम जो होता है—वह अपने सुखके लिए होता है। संसारमें जितना प्रेम है, सबकी यही गति है। किसीके तो देखनेमें अपनेको मजा आता है, किसीको सुननेमें, किसीको छूनेमें, किसीको सूँघनेमें, किसीको चखनेमें मजा आता है; किसीको पीसनेमें मजा आता है। मजा आता है हमेशा अपनेको; इसलिए संसारमें **आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।** सबको खुश करनेके लिए सबसे

प्रेम नहीं होता, अपनेको खुश होनेके लिए सबसे प्रेम होता है। वही प्रेम आपको जब तकलीफ देने लगता है—पति जब कष्ट देता है तो स्त्री मायके चली जाती है, आजकल तलाक दे देती है; पतिको कष्ट मिलता है तो वह पत्नीको छोड़ करके दूसरे घरमें चला जाता है; तो लोग अपने सुखके लिए प्रीति करते हैं। तो श्रुतिने कहा, कि अपना आत्मा ही सुख-स्वरूप है, क्योंकि यही परम प्रेमास्पद है।

अब इधर गोपियोंकी दशा बिलकुल इससे न्यारी है। वे तो अपने लिए नहीं, श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिए प्रेम करती हैं। उनका तो सारा जीवन ही कृष्णको सुख पहुँचानेके लिए है। वे खाती हैं कृष्णके लिए, पहनती हैं कृष्णके लिए, सँवरती हैं कृष्णके लिए। वृन्दावनमें रहती हैं कृष्णके लिए, पति-पुत्र-ससुरको मानती हैं कृष्णके लिए; नहीं तो वे किसीको न मानें। वे तो धर्मको, देवीको, देवताको, परलोकको मानती ही इसीलिए हैं कि कृष्ण प्रसन्न हों। श्रुतिने देखा—तो आश्चर्य-चकित! ब्रह्माजीने कहा था कि हमको तो वृन्दावनमें किसीके चरणोंकी धूलमें नहानेका मौका मिले—

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रि रजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितुं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥

१०.१४.३४

ब्रह्माजी! तुमको क्या चाहिए—मुक्ति? बोले—न; मुक्तिका तिरस्कार करके हम जन्म चाहते हैं। बोले—कहाँ, ब्रह्मलोकमें? ब्रह्मा बनना चाहते हो फिर? न, व्रजमें। बोले—अच्छा, व्रजमें, मथुरामें? नहीं; **अरण्यां**—वृन्दारण्यमें। अच्छा, वहाँ क्या बनना चाहते हो; कोई गोपी ग्वाल? न, उनका तो मैं अपराधी हूँ। ग्वालोंको चुरा लिया, गायके बछड़ोंको चुरा लिया, तो अपराधी हो गया। वह बननेका सौभाग्य हमारा कहाँ है? सबसे बड़ा सौभाग्य होगा—कि ऐसा कुछ बनूँ, कि व्रजके किसी प्राणीके चरणोंकी धूल गिरके मेरे पास पड़े। ऐसा क्यों चाहते हो? व्रजवासियोंके सम्पूर्ण जीवनके सर्वस्व, व्रजवासियोंके जीवनधन, हृदयेश्वर श्रीकृष्ण हैं; जिनके चरणोंकी धूलि ढूँढती रहती हैं श्रुतियाँ। क्या मतलब? कि श्रुतियाँ चाहती हैं कि हमें गोपियोंके चरणोंकी धूलि मिले। जैसे गोपियाँ कहती हैं कि कृष्णके लिए हमारा सब कुछ है, वैसा हमारा भी हो जाय। हमारा सब कुछ

परमात्माके लिए हो जाय। **यत् पदरजः श्रुतिमृग्यमेव**—जिनके चरणोंकी धूल श्रुतियाँ ढूँढती हैं।

अरे, भक्त लोग तो ऐसे कहते हैं—श्रुतियाँ तो निस्सत्व हैं। अब हम इनमें क्या ढूँढें? कि श्रुतियोंके भीतर जो माल-मसाला था, जो तत्त्व था—उसको तो गाँवकी ग्वालिनोंने अपनी आँखोंसे बुला-बुलाकर, अपनी ओर आकृष्ट करके अपनी ओर खींच लिया। श्रुतियाँ तो रह गयीं निस्सत्त्व!

वयमिव इह गोकुलकन्या धन्या.....मन्यामहे गति यासां नयनतरो

मैं तो गोकुल-कन्याओंको धन्य मानता हूँ, जिनकी आँखोंमें काला अंजन बनके कृष्ण निवास करता है।

बोले—बात यह है कि श्रुतिमें ये तीन भाग हैं, तत्पदार्थकी प्रधानतासे तत्त्वका निरूपण, त्वं पदार्थकी प्रधानतासे तत्त्वका निरूपण और ऐक्य पदार्थकी प्रधानतासे तत्त्वका निरूपण। तो जबतक परमात्मा दूसरा है, तबतक वह परम प्रेमास्पद होना चाहिए। दूसरा है, तबतक वह परम प्रेमास्पद होना चाहिए। अब जब दोनों एक हैं—तो दोनोंमें जो एक है, वह परम प्रेमास्पद होना चाहिए। यह अद्भुत लीला है। तो योगसे आत्मरसका आस्वादन होता है, भक्तिसे भगवद् रसका आस्वादन होता है और ज्ञानसे ऐक्य रसका आस्वादन होता है। और तीनों विभाग असलमें श्रुतियोंके ही हैं।

तो परमात्म-प्रतिपादक श्रुति, आत्म-प्रतिपादक श्रुति, ऐक्य-प्रतिपादक श्रुति—ये जो त्रिधा श्रुति है, वही महावाक्य बन करके, गोपी बन करके, और श्रुति बन करके प्रकट होती है।

तो मुकुन्द पदवी जो है; वह है—**मुक्तिं ददाति इति मुकुन्दः**—जो मुक्ति देवे-सो मुकुन्द। और **मुखे कुन्दवत् हासो यस्य**—जिसके मुख पर कुन्दवत् हास है—सो कुन्द। और मुक्ति जिससे निन्दित है, उसको कहते हैं मुकु; मुकु कहते हैं प्रेमको। जो हमारे हृदयमें प्रेम-दान करे, उसका नाम मुकुन्द। तो जब भगवान् प्रेम-दान करता है, तब भगवान्का होता है ध्यान, भगवान्की होती है सेवा। और जब भगवान्का ध्यान और भगवान्की सेवा होती है, तब मुकुन्द पदवीकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिए उद्धवजी कहते हैं कि हमको तो गोपियोंके चरणोंकी धूल चाहिए। भले कुछ भी होना पड़े—पर हमको मिले गोपियोंके चरणोंकी धूल!

❋

साठवाँ प्रवचन

किसी व्यक्तिको समाधि लगा लेनेसे ही कुछ नहीं होता। क्यों? कि समाधिका अधिष्ठान जो परमात्मा है—वह तो दिख नहीं रहा है। उसको क्या दिख रहा है? संसार। वह समाधि भी संसार है—जहाँ समाधिके अधिष्ठान परमात्माका दर्शन नहीं हो। और दूसरा कोई देख रहा है धूल, रज; और उसके साथ दीखता है परमात्मा। तो वह परमात्मा ही दीख रहा है! दृश्यकी इसी श्रेणीकी स्थिति समाधि है। यदि इसमें परमात्माका दर्शन नहीं है, तो संसारका दर्शन है। तो जिसको दीख रही है धूलि, रज—और साथ-साथ उसका अधिष्ठान, आधार परमात्मा दीख रहा है—उसकी स्थिति सर्वोच्च है। महत्त्वपूर्ण है परमात्माका दीखना; कहाँ दीख रहा है—यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। आप गौर करें प्रेमीकी स्थितिको, जिसमें वह भगवान्‌के चरणारविन्दकी रज बनना चाहता है। अच्छा, यदि वह धूल बन जायेगा, रज बन जायेगा—तो क्या उसको संगीत सुननेको मिलेगा? क्या वह रूप निहारेगा? गन्ध सूँघेगा? उसको बहुत बढ़िया स्पर्श मिलेगा? अरे, वह तो अपने आपको मटियामेट करके, अपनी सारी इन्द्रियोंको मिटा करके और अपने अन्तःकरणकी सारी वृत्तियोंको मिटा करके अपने प्रियतमके चरणारविन्दकी रज बनना चाहता है। उसके ऊपर तो हजार-हजार विरक्त बनने वालोंको न्यौछावर किया जा सकता है। मुँहसे वैराग्य कहनेसे वैराग्य नहीं होता। जबतक वस्तुका दर्शन नहीं करोगे, तबतक शब्दोंकी उलझनमें फँस जाओगे। इस स्थितिकी कल्पना करो न; एक आदमी कहता है—मकान नहीं चाहिए। और एक आदमी यह कहता है—कि हमको तो भगवान्‌के चरणारविन्दकी धूल चाहिए। अरे, अभी तो लड़ाई कर रहा है कि हमको यह नहीं, यह नहीं, यह नहीं चाहिए, और दूसरा जाके बिलकुल अपने स्थान पर बैठ गया। जबतक छोड़ेगा नहीं, तबतक बैठेगा कैसे?

अब देखो; इन दोनोंमें फर्क है न—भगवान्‌के चरणोंकी धूल बनना, और भक्तके चरणोंकी धूल बनना। भगवान् जरा संकोची स्वभावके हैं। जब कोई भक्तका भक्त बनता है, तब तो उसके भक्त बन जाते हैं, दासानुदास बनते हैं। तो उद्धवजीको यद्यपि सख्य भावकी प्राप्ति है, फिर भी वे गोपियोंके चरणोंकी धूल चाहते हैं। आप विचार करके देखो! सम्बन्धमें उद्धवजी भाई लगते हैं; वसुदेवके भाई देवभागके पुत्र हैं। भागवतमें उनका नाम बृहद्बल बताया हुआ है। उनका जन्मका नाम बृहद्बल है, परन्तु उनका ऐसा गुण था कि जहाँ भी जाते थे—सब

लोग खुश हो जाते थे। एक आदमी ऐसा होता है, कि जहाँ भी जाय, मनहूसियत फैल जाय। वे लोग ऐसे होते हैं, जो दुःख लिए लिए डोलते हैं। उद्धवजी ऐसे थे, जो आनन्द लिए लिए डोलते थे। परमानन्द मुकुन्द उनके हृदयमें बैठे हुए; जहाँ जायँ—वहीं आनन्द! तो लोगोंने उनका नाम उद्धव रख दिया। वे युद्ध करनेमें भी बड़े निपुण थे। बाणासुर आदिके जो युद्धोंके प्रसंग हैं—उनमें उद्धवजी श्रीकृष्णकी बगलमें रहके युद्ध भी करते थे। तो ये श्रीकृष्णके सम्बन्धी भी हैं, सखा भी हैं।

सखा भी चार तरहके होते हैं। एक सुहृद् होते हैं; बड़ी उम्रके, जो भलाई चाहते हैं; 'देखो, धूपमें मत जाना, पेड़ पर मत चढ़ना, डालीमें मत घुसना!' दूसरे सखा होते हैं; हमजोली, बराबरीके, एक संग खेले! तीसरे होते है छोटे, और चौथे हैं नर्म सखा—माने जो गुप्त जीवनके रहस्य हैं, शृंगार रसके जो प्रसंग हैं—उनमें भी जिनका प्रवेश है। सुहृद्, सखा, प्रिय सखा और प्रिय-नर्म सखा—ये चार प्रकारके सखा होते हैं। तो उद्धवजी श्रीकृष्णके सखा है—माने बराबरीके सखा हैं। अब ये जब वृन्दावनमें आये, तो कहते हैं—कि हम वृन्दावनमें ही रहें, मथुरा न जायँ। तो देखो, इसमें गोपियोंकी छाया क्या है? घर छोड़ दिया और जाति छोड़ दी—माने मथुरा नहीं जायेंगे, तो अपने घरमें तो कभी जायेंगे ही नहीं। और माँ-बाप, भाई-बन्धु, सब छूट गये। जाति और सम्प्रदाय छूट गये। वे कहते हैं—कि हम तो वृन्दावनमें ही रहेंगे। बोले—किसी भक्तके पास जब कोई जाके बैठता है, और उसका दिल भक्तकी ओर उन्मुख होता है—कि जरा देखें, भक्तके हृदयमें क्या है—तो जब वह उधर देखने लगता है, तो अपना हृदय-सरोवर शान्त हो जाता है और उसमें भक्तके भावके चन्द्रमाकी छाया पड़ती है। तो अपने हृदयमें भी चाँदनी खिल जाती है। अब गोपियोंके सम्पर्कमें जब उद्धवजी आये, और उनका चित्त शान्त हुआ, तब उसमें गोपियोंके भावकी छाया पड़ने लगी। तो जैसे गोपियाँ छोड़ती हैं अपना कुटुम्ब, अपना घर; वैसे उद्धवजी भी अपना घर और अपनी जाति, अपना सम्बन्ध—सब छोड़नेको राजी हैं। बोले—जो मजा गोपियोंके सम्पर्कमें है, वह तो कृष्णके सम्बन्धमें भी नहीं है। बस, अब तो वहाँ नहीं जायेंगे।

अब यहाँ तत्त्वकी बात नहीं है। तत्त्वमें तो सब ब्रह्म है। हम भी ब्रह्म, तुम भी ब्रह्म, मच्छर भी ब्रह्म। तत्त्वकी दृष्टिसे सब ब्रह्म। लेकिन इतनेसे क्या दोष और दुःख दूर हो गये? अरे, जबतक वह उतरके अपने हृदयमें रास नहीं करेगा, जबतक हृदयके चबूतरे पर वृत्तिके साथ गलबहियाँ डालकरके वह नृत्य नहीं करेगा, जबतक राधाके साथ विहार नहीं होगा—तबतक क्या व्यक्तिगत दुःख

जायेगा? व्यक्तिगत देहमें, व्यक्तिगत इन्द्रियमें, व्यक्तिगत जीवनमें जो व्यवहारमें दुःख है—वह व्यावहारिक ब्रह्मसे जायेगा। अव्यवहार्य ब्रह्मसे वह कैसे जायेगा? **श्रुतिभिर्विमृग्याम्**—श्रुतियाँ जिसको ढूँढती हैं, श्रुतियोंका उद्योग है कि हम ईश्वरको ढूँढें। तो बाबा, ईश्वरको चाहते हो? देखो, हम इसका पता बतावें—**शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम् गोधूलि धूसराङ्गो नृत्यति वेदाङ्ग सिद्धान्तः।**

सहेली हो! एक आश्चर्यकी बात सुनो। मैं नन्दबाबाके आंगनमें देख आयी हूँ—कि गाँवके खिरककी धूल सारे शरीरमें लगी हुई है, और नंग-धड़ंग, कमरमें करधनी, हाथमें कंगन, कंठमें बघनखा और मुख पर डिठौना कि नजर न लगे; और वह बड़ी-बड़ी आँखों वाला कमर पर एक हाथ रखे और एक सिर पर उठाके वेदान्तका सिद्धान्त 'ता ता थेई थेई, ता ता थेई' नाच रहा है।

मेरे इस उपदेशका आदर करो, क्योंकि आप लोग वेदान्तके जंगलमें भटकते-भटकते, ढूँढते ढूँढते, नेति-नेति करते थक गये हैं। चलो चलो! गोपियोंके घरमें चलो। वहाँ तुम्हारे उपनिषदोंका अर्थ ऊखलसे बाँध करके रखा हुआ है।

मैंने वेद-वृक्षकी एक-एक शाखा अलग-अलग ढूँढ करके देख ली; ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हुई। अब मिला, अब मिला; कहाँ मिला? कि गोपीने अपने आँचलके नीचे ढाँप लिया था उसको, इसीलिए वह नहीं मिला था। तो बाबा, अगर चाहते हो श्रीकृष्णको, ईश्वरको, परमात्माको—तो उसके लिए चाहिए प्रेम। और प्रेम मिलता है प्रेमके धनीसे, प्रेमके भिखारीसे नहीं मिलता है। देखो, धन किससे मिलेगा? धन माँगनेवालेसे कि जिसके पास धन इकट्ठा है—उससे? तो जिसके पास धन इकट्ठा है—धन उससे मिलता है। श्रीकृष्ण प्रेमके भिखारी हैं, और गोपियाँ प्रेमकी धनी हैं। प्रेम मिलेगा—तो गोपियोंसे मिलेगा। इसलिए उद्धवजीने कहा—कि हम तो बाबा, गोपियोंके चरणारविन्दकी धूल चाहते हैं, केवल धूल।

वैसे तो संसारमें बहुत हैं, जिन्होंने भगवान्के लिए त्याग किया। क्या महात्माओंने त्याग नहीं किया? साधारण बात है, लोग त्याग करके ही तो ईश्वरको प्राप्त करते हैं। यह नियम है—

त्यजते हि त्यज देहं ब्रह्मत्यक्तुं परमपदम्।

त्याग करते-करते ही परमात्माकी प्राप्ति होती है, क्योंकि सब कुछ त्याग कर देनेके बाद त्याग करनेवालेका जो प्रत्यक् आत्मा है—वही परमात्मा है।

इसलिए बिना त्याग किये तो कोई परमात्माको प्राप्त कर ही नहीं सकता। तो त्याग तो सब करते हैं, लेकिन गोपियोंको जैसा रसीला परमात्मा मिला, उसकी ओर तो ध्यान दो! यह भगवत्प्रेमकी बात है। गोपियोंने क्या सौभाग्य प्राप्त किया? बोले—स्वयं भगवान्‌ने उनके वक्षस्थलपर अपना चरणारविन्द रख दिया है। ऐसा सौभाग्य किसीका? भगवान् मुग्ध हो गये एक जरासी बातमें। या तो भगवान्‌ने देखा, कि गोपीके हृदयपर मैं अपना चरणारविन्द, चरणाकमल रख करके उसको शीतल नहीं करूँगा, तो यह भस्म हो जायेगी; और या दूसरी बात है—कि गोपीका हृदय इतना कोमल है, कि भगवान् भी ललचा गये कि यदि इनके हृदय पर मैंने अपना चरण-कमल नहीं रखा तो मेरी भगवत्ता ही सफल नहीं होगी। इतना क्यों? कि इतना कोमल हृदय तो और किसीका कभी हमको मिला ही नहीं, जिसका हम स्पर्श करें। दो ही बातें हो सकती हैं।

अब भगवान्‌के चरणारविन्द कैसे हैं? वह बताता हूँ—

या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै
र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।
कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम्॥ ६२॥

यह श्रीमद्भागवत एक ओर तत्वज्ञानका ग्रन्थ है, तो दूसरी ओर रसका ग्रन्थ है। पंचदशीमें केवल चिद्भावका विवेक है। उसमें दस प्रकरण विद्यारण्य स्वामीके हैं और पाँच उनके शिष्यके हैं। पाँचमें सद्विवेक है और पाँचमें चिद्विवेक है, और पाँच आनन्द है। आनन्दके बिना कैसे चलेगा? परम प्रेमास्पद तो आनन्द ही होता है; तो पाँच प्रकरण पीछेसे बनाके जोड़े गये। तो बताते हैं—देखो, प्रेममें जिनकी स्थिति है, वे कृष्णकी आराधना करते हैं। संसारमें देखनेमें यह आता है, कि दूसरेकी पूजा कौन करता है? जिसको कुछ साधना हो। फलकी प्राप्तिके लिए लोग पूजा, उपासना, भक्ति करते हैं। बोले—नहीं भगवान्‌के चरणारविन्दकी उपासना वे लोग करते हैं, जो स्वयं फल-रूप हैं। पकड़ो इस बात को; **धिचार्चितं, यद् भगवतश्चरणारविन्दं क्रियार्चितं तं।** भगवान् तो और भी होंगे; हम दूसरे भगवान्‌की अभी चर्चा नहीं कर रहे। **भगवतः कृष्णस्य तत् चरणारविन्दं, तत् यत् क्रियार्पितं**—लक्ष्मीने जिसकी पूजा की है। लक्ष्मी तो फल-रूपा हैं। लोग चाहते हैं कि हमको लक्ष्मी मिले। सृष्टिमें लक्ष्मीका अर्थ होता है धन-सम्पत्ति। धन-सम्पत्तिमें भोग भी है, धन-सम्पत्तिमें ज्ञान भी है। लक्ष्मीकी कृपा किसी पर

होवे, तो भोगी लोग उसके पास भोग ले आते हैं, और बड़े-बड़े पण्डे—विद्वान्, ज्ञानी लोग उसके पास ज्ञान ले आते हैं, और धर्मात्मा लोग उसको लाके धर्म देते हैं। वे लक्ष्मीके कृपापात्र हैं। लक्ष्मीका कृपापात्र होना बुरा नहीं है। पर लक्ष्मीके कृपा-पात्रमें जब अभिमान आता है, तब वह असुर हो जाता है। जब असुर हो जाता है, तब लक्ष्मी उसका तिरस्कार कर देती है।

तो वह लक्ष्मी क्या करती है? लक्ष्मीका मद होता है न। वह लक्ष्मीका मद दूसरोंको हो जाता है स्वयं लक्ष्मीको लक्ष्मीका मद नहीं होता। एक बात देखो; नारायण भगवान् जो हैं, वे लक्ष्मीसे हमेशा विरक्त रहते हैं; असंग। आप लोगोंने पुराण शास्त्र बहुत सुने हैं। जब लक्ष्मीजी नारायण भगवान्का पाँव दबाती रहती हैं न, तो दबाती है पाँव, और स्वाभाविक तो यही लगता है कि नारायण लक्ष्मीकी ओर देखते रहते होंगे—कि बड़ी कोमल हैं, बड़ी मधुर हैं, बड़ी सुन्दर हैं, बड़ी प्रेमिका हैं। देश देखके नारायण भी तृप्त होते होंगे। बोले—कि ना, ऐसा वर्णन शास्त्रमें आपको कहीं नहीं मिलेगा, कि लक्ष्मी तो पाँव दबा रही हैं, और नारायण उनको देख रहे हैं। यही बात तो शास्त्रमें बतानेकी होती है। अधखुले नेत्रसे, अर्धोन्मीलित—न नींद न जागरण—अपनी स्वरूप समाधिमें मगन रहते हैं। लक्ष्मी कहती हैं कि इनके पास कुछ ऐसा है—जो मुझसे ज्यादा मजेदार है। अगर मैं सबसे बड़ी चीज होती, सुन्दर होती, आनन्द होती—तो ये प्यारी आँखोंसे हमेशा हमको देखा करते न! नहीं; इनके पास कुछ है बाबा! अधखुली आँखसे भीतर आत्म-दर्शन करते रहते हैं नारायण। नारायण लक्ष्मी-दर्शन नहीं करते। अर्धोन्मीलित आँखोंसे योग-निन्द्रामें उन्मग्न-निमग्न होते रहते हैं नारायण। श्रीमद्भागवतमें आया—

या मां विरक्तमपि न प्रजहाति कश्चित्।

लक्ष्मीने यही तो शिकायत की थी, कि विष्णुमें यही दुर्गुण है; और सब तरहसे सद्गुण हैं। ब्रह्मासे अच्छे हैं, रुद्रसे अच्छे हैं। इन्द्र, सनकादि मार्कण्डेय—सबसे अच्छे हैं। मैं उन्हें बहुत चाहती हूँ, लेकिन वे मुझसे विरक्त हैं। तो क्या करती हैं? **श्रियार्चितं**—वे पूजा करती हैं भगवान्के चरण-अरविन्दकी। ब्रह्मादि चाहते हैं कि हमारी ओर देखें, और वे करती हैं भगवान्के चरणारविन्दकी पूजा।

देखो, भगवान्ने सबको चरण दे दिये हैं। यह सबमें जो गति शक्ति है न, वह विष्णुकी है। जैसे पूजा होती है न, तो लोगोंके पाँवकी पूजा होती है। कैसे प्रेमसे पाँव फैलाते हैं पुजानेके लिए! ब्राह्मासे कहो न—कि महाराज, आपका चरण

धो लें—तो दोनों पाँव झट फैला देंगे। वे खुश हो जाते हैं—कि आहा! हमारे पाँव धुल रहे हैं। हाथ क्यों नहीं पुजाते—कि हमारा हाथ धो लो? तो हाथका देवता इन्द्र है। इन्द्रकी पूजा कर्मकी पूजा होती है, और पाँवका देवता विष्णु है। तो पाँवमें बैठे हुए विष्णुकी पूजा होती है। वह सबको गति देता है, माने आगे बढ़ाता है। विष्णुका काम है आगे बढ़ना। ब्याह होता है, तो सब दूल्हेके पाँव धुलाते हैं—वह चाहे किसी भी जातिका हो। लड़कीके पाँव भी धोते हैं; लड़कीके पाँवमें भी विष्णु ही रहते हैं। वह पूजा होती है विष्णुकी, और वह पाँव वाला अगर गलतीसे समझ ले—कि हमारी पूजा हो रही है, तो उसकी बुद्धिकी बलिहारी है। असलमें पूजा विष्णुकी होती है, हड्डी, माँस, चामकी नहीं होती। ब्राह्मणकी, दूल्हेकी, लड़कीकी, माँकी, बापकी; इनके पाँवोंकी पूजा नहीं होती है; इनमें बैठे हुए विष्णुकी पूजा होती है। तो विष्णुने सबका पाँव पुजवा दिया।

अब देखो! जो बड़ा आदमी होता है, वह सबसे नीचे रहता है; सबका आधार है वह। पाँव ही सबका आधार है। सबका भार उठाने वाला यही तो है न! आगे बढ़ाने वाला यही तो है। तो सबसे ज्यादा अगर पाँवकी पूजा किसीको मिली—तो विष्णुको मिली। अगर तुम्हें कभी मन एकाग्र करनेका होवे न, तब देखो लक्ष्मीकी गोदमें भगवान्‌के चरणारविन्द। इसमें एक कमलकी रेखा है, एक अंकुशकी रेखा है, एक ध्वजाकी रेखा है। इन रेखाओंमें अपने मनको घुमाओ। अरे बाबा, तुम्हारे प्राणायामका परदादा निकलेगा यह। प्राणायाम करने पर मन भाग जाय तो भाग जाय, लेकिन वज्रमें, कमलमें, ध्वजमें-से कहीं नहीं जा सकता। वज्र काहेके लिए है? पापका पहाड़ जो मनमें है, उसे नष्ट करनेके लिए है। अंकुश? मनके मतवाले हाथीको वशमें करनेके लिए है। कमल भगवान्‌के हृदयकी कोमलताको प्रकट करनेके लिए है। ध्वजा काहेके लिए है? कि अन्तमें जीत तुम्हारी होगी; मनसे घबराना नहीं। भगवान्‌के इन चिन्होंका इसलिए ध्यान किया जाता है। लक्ष्मीजी उनकी अर्चना करती हैं। चंचला होने पर भी यह लक्ष्मी उनका परित्याग नहीं करती है।

श्रियार्चितम् और **अजादिभिरर्चितम्**—अज माने ब्रह्मा और आदि माने रुद्र, इन्द्र आदि। ये देवता लोग जो हैं, इनके भी अधिकार निश्चित हैं। लक्ष्मी सम्पद्-रूपा है, और ये देवता आदि ईश्वर हैं। ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र—कोई ईश्वरके अवतार हैं, कोई अपने धर्मानुष्ठानके बलसे इतने ऊँचे पद पर पहुँचे हुए हैं। अधिकारी हैं, ऐसे समझो न! एक ओर तो स्त्री पूजा करती है और दूसरी ओर बड़े ऊँचे-ऊँचे

अधिकारी ब्रह्मा इन्द्र रुद्र आदि; ये पूजा करते हैं। हम संसारी लोग सेठोंको बड़ा मानते हैं, और संसारी लोग मिनिस्टरोंको बड़ा मानते हैं। सबसे बड़ा साधु कौन? कि जिसके पास मिनिस्टर दर्शन करनेको जाय। साधुकी कसौटी मिनिस्टर हो गया—माने मिनिस्टरकी बुद्धि बड़ी भारी है; वह जिसको साधु माने—वह साधु! तो यह मिनिस्टरके प्रति आदर भाव कहाँसे आया? बोले—भाई, तुम ऐश्वर्यको बड़ा मानते हो। बोले—अगर भगवान्‌के चरणारविन्दकी यही महिमा है, कि लक्ष्मी पूजा करती है और बड़े-बड़े अधिकारी—ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र आदि पूजा करते हैं; अगर इसीसे भगवान्‌के चरण बड़े हैं, तो कुछ शंका तो जरूर है। बोले—कि नहीं भाई, भगवान्‌की वे भी पूजा करते हैं। कौन? कि

आप्तकामैर्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।

जिसको कुछ नहीं चाहिए=आप्तकाम। श्री जी, लक्ष्मीजी तो यह चाहती हैं, कि हमेशा भगवान्‌के साथ रहनेको मिले। और ब्रह्मा, रुद्र आदि चाहते हैं—कि हम अपने अधिकारमें रहें और अपने कर्तव्यका ठीक पालन करें। लेकिन महाराज, ये जो महात्मा होते हैं न, इनका ईश्वरसे कोई लेन-देन नहीं है। बही-खाता नहीं है कोई इनका ईश्वरके पास। भगवान्‌के खातेमें सब लेने-देने वाले हैं, और पुण्यात्माका नाम रहता है—कि पापीको यह दण्ड देना है, और पुण्यात्माको यह बख्शीश देनी है, पर महात्माओंका नाम ईश्वरके रजिस्टरमें रहता ही नहीं है। क्यों? कि बाबा, उनको न कुछ लेना है, न देना है। उनकी करनी-धरनीका हिसाब भगवान् नहीं रखते। ऐसा शास्त्रमें बिलकुल स्पष्ट है। वेदान्त दर्शन पढ़ो न! महात्मा कुछ करके भगवान्‌से कुछ लेना नहीं चाहता; और भगवान्‌को जब देना होगा, तो उसके कामका हिसाब करके नहीं देंगे। भगवान् तो अपने आपको देनेके बाद भी, बिना बही-खातेके, अपने आपको महात्माके प्रति अर्पित करके फिर भी अपनेको कर्जदार मानते हैं। अब क्या लिखके रखें? उसका हम पर इतना कर्ज है—यह लिखके रखें? तो बोले—भाई, कर्ज भी इतना है कि भगवान् अपने बही-खातेमें लिखें—तो लिख नहीं सकते। वह तो महाराज, पैसे वाले की कीमत आँकते हैं—कि हमने इतना दिया; हमने इतना दिया।

बोले, कि ठीक है; **आप्तकामैर्योगेश्वरैः**—योगेश्वर भी उनको चाहते हैं। भक्ति योगेश्वर हैं न, जिनको संसारसे कुछ लेना नहीं, कुछ देना नहीं; योगके स्वामी हैं। महात्मा लोग चाहें—तो जिसको चाहें, योग दे दें। जैसे देखो, कुबेरका नाम धनेश्वर है। कुबेर किसी पर खुश होवे, तो क्या देगा? धन देगा। तो योगेश्वर

किसको कहते हैं? जो योग दे सके। जो हाथ पकड़के परमात्माके साथ जीवात्माको मिला दे; संयोग, साधन। तुरन्त साधनका संचार कर दे। तो योगेश्वरजीको क्या चाहिए? कि आप्तकाम है। **आप्तकामाय मह्यम्** नहीं है। जो संस्कृत नहीं जानते होंगे, उनको इस शब्दमें क्या बात कही गयी है? इसमें कहा गया है—कि मैं कामोंका कामी हूँ। मैं भोगका इच्छुक हूँ। और जो **कामेश्वरो वैत्रा**—हमारे भोगकी इच्छाको पूरी करो। अब जाओ कुबेरके पास। अब यह बात दूसरी है कि संस्कृत भाषा ऐसी है, कि उससे दूसरा मतलब निकाल लें।

तो योगेश्वर कौन है? जो आप्तकाम है। आप्तकाम माने काम जिसको मिल गये हों, कुछ बाकी नहीं हो। ईश्वर मिल गया तो काम बाकी रहा? कामके बापको तो अपना लिया। तो यह नन्हा मुन्ना बच्चा बेचारा, यह क्या करेगा? कामके बापको आप लोग जानते हैं कि नहीं? कामके बापका नाम है कृष्ण। जब कृष्ण है हमारा, तो संसारकी वस्तुओंकी कामना है? तो महात्मा कौन है? बोले—आप्तकाम।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शंतिमाप्नोति न कामकामी॥

गीता २.७०

कामकामीको शान्ति नहीं मिलती। और यही काम 'कामाः' बनकर बैठा हुआ है। शान्ति कहाँसे मिलेगी? महात्माके लिए सारे भोग, सारी कामनाएँ, सारी वस्तुएँ अपने आप उसके अन्दर जाकरके उसके आत्मरूपमें समा जाती हैं, शान्त हो जाती हैं। नदियाँ जाती हैं समुद्रके पास, समुद्र नहीं जाता है नदियोंके पास।

तो इन आप्तकाम महात्माओंको कुछ चाहिए तो है नहीं, लेकिन एक आश्चर्य है—कि ये कृष्ण भगवान्‌के चरणारविन्दको अपने हृदयमें स्थापित करके ढूँढा करते हैं। ये चरणारविन्द लक्ष्मीजी सम्भालके रखती हैं, ब्रह्मादि हाथ जोड़े दूर खड़े रहते है, योगेश्वर लोग अपने हृदयमें इनका ध्यान करते हैं। और उधर कृष्णने क्या किया? गोपियोंकी दशा, गोप-वृन्दोंकी अवस्था देख करके स्वयं जाकरके अपना चरणारविन्द उनके वक्षःस्थल पर स्थापित किया। और उन्होंने दोनों हाथसे पकड़ करके उनका आलिंगल किया और अपने ताप, संतापको दूर किया।

ऐसा गोपियोंकी चरणोंकी धूलमें मैं मिल जाना चाहता हूँ—यह बात उद्धवजी कह रहे हैं।

❋

इकसठवाँ प्रवचन

वन्दे नन्द - व्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥ ६३॥

मनुष्यका अभिमान जबतक नहीं छूटता है, तबतक न वह भक्तिका अधिकारी होता है और न ज्ञानका। अभिमान छूटे, तब सेवा हो; अभिमान छूटे—तब आदमी अपने आपको अर्पित करे, और अभिमान छूटे—तब गुरुकी शरणमें जाय और ज्ञान प्राप्त करे। जो लोग भक्तिको, और ज्ञानको अभिमानका भूषण बना कर रखते हैं न—कि देखो, हमारे अन्तःकरणके एक कोनेमें भक्ति रहती है, एक कोनेमें ज्ञान रहता है और एक कोनेमें योग रहता है, और हम कितने बड़े आदमी हैं—तो यह बड़प्पन किसी भी योग्यताका सूचक नहीं है। यह तो संसारी लोगोंका काम है—कि हमारे पास इतना धन है, इतना ऐश्वर्य है! इसीसे साधन-चतुष्टयका वर्णन जब करते हैं न, तब उसमें श्रद्धा नामकी एक वस्तु बताते हैं। श्रद्धा माने क्या होता है? अपने बड़प्पनका अभिमान छोड़ करके भक्ति और ज्ञान प्राप्त करनेकी चेष्टा। और संसारी बड़प्पनको अपने सिर पर रखोगे—तो भगवान्‌के रास्तेमें नहीं चल सकते।

खोर है रस की साँकरिया।
कोई चलै न गरब की ले के गागरिया॥

घमण्डका घड़ा सिर पर रखके कहो—कि हम प्रेमके रास्तेमें चलेंगे—तो नहीं चल सकते।

यह प्रेम को पंथ करारो महा
तरवार की धार पै धावनो है।

तो उद्धवजी जब आये व्रजमें, तब वे यदुवंशके मन्त्री, श्रीकृष्णके सखा, बृहस्पतिके शिष्य थे; पद वाक्य-प्रमाणपारावारपारीण—पद माने व्याकरणशास्त्र, वाक्य माने पूर्वमीमांसाशास्त्र और प्रमाण माने न्यायशास्त्र; तो व्याकरण, मीमांसा और न्याय—तीनोंमें जैसे समुद्रका थाल लें लिया हो। बड़े भारी पण्डित बनके, अभिमान लेके आये थे।

अब गोपियोंका प्रेम देख करके उनका अभिमान जो था, वह टूट गया। तो प्रायश्चित भी तो कर लेना चाहिए न! अगर कहीं मैल लग गया कोई, तो धो लेना चाहिए। तो अब अपनी मैल धो रहे हैं। कैसे? कि गोपियोंके चरणोंकी धूलमें लोट रहे हैं। यह उद्धवजीकी स्थिति है।

तो जब उद्धवजी गोपियोंके चरणोंकी धूलमें लोट-पोट करने वाले हुए तो पहले ज्ञान किया। यह जो **आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां** है न, यह उद्धवजीका संगीत है। कोई कहे—कि गोपियोंका विरह-दुःख देख करके उद्धवजीके हृदयमें करुणा आयी होगी, कोई आवेश आया होगा; और आवेशमें आके जैसे आदमी कोई काम कर देता है, वैसे आवेशमें आके उद्धवजी उन ग्वालिनोंके चरणोंकी धूलमें लोट-पोट हो गये होंगे। बोले—नहीं, आवेशमें नहीं लोटे; पहले संगीत किया, गान किया। अगर आदमी घबराया हुआ हो या आवेशमें हो, तो उससे कोई गान नहीं होता। देखो, महात्मा लोग जब शाप भी देते हैं न, तो पहले गा लेते हैं। नारदजीके मनमें आयी कि मणिग्रीव, नल-कूबरको शाप देंवे, तो गाने लग गये। पहले पन्द्रह बीस मिनट तक खूब मजेमें गाया। अगर दिलमें कोई घबराहट होती, कोई क्रोध होता—तो गानेका मजा थोड़े ही आता। अब बोले—'कि आओ बेटा, जरा सुनो! शंकरजीके तो तुम भक्त हो और कुबेरके बेटे हो। कुबेरजी शंकरजीके बड़े भक्त हैं। तुम्हारे बापके पास इतना धन है, और तुम्हें इतना ऊँचा अधिकार मिला है। यह सब होने पर भी शराबके नशेमें चूर होकरके नंगी औरतोंके साथ नाच रहे हो। तो, बेटा, यह तुम्हारे स्वरूपके अनुरूप नहीं है। अब थोड़े दिनके लिए पेड़ हो जाओ।' नारदजी, तुम यह क्या कर रहे हो? पेड़ बना रहे हो? कि नहीं, नहीं! वहाँ तुमको यह याद रहेगी, कि हमने यह काम किया था—कि यह शाप नारदजीने दिया था। तो तुमको पछतावा होगा और भगवान्‌की भक्ति मिलेगी।

देखो, शाप देनेसे पहले गा लिया। इसका यह अर्थ हुआ—कि नारदजी स्वस्थ हैं, कोई क्रोधके आवेशमें शाप नहीं दे रहे हैं। इसी प्रकार उद्धवजीने जब अपने शरीरको गोपियोंके चरणोंकी धूलमें लुटाया, तब वे भावावेशमें नहीं थे; बिलकुल स्वस्थ थे। बोले—कि बस बस! हमारे जीवनकी सफलता इसीमें है, कि—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।

नन्दबाबाके व्रजकी जो स्त्रियाँ हैं—कोई भी हो, कृष्णकी प्रेमिका हो कि न हो; स्त्री सामान्यके प्रति उद्धवजीके मनमें यह भाव है। जैसे राजा चलता है न, तो एक राजा चलता है, और उसके साथ सैकड़ों आदमी चलते हैं। तो लोग कहते हैं—देखो, राजा जा रहा है। राजा शब्दके अन्तर्गत सबका समावेश हो जाता है। तो यदि नन्द बाबाके व्रजमें एक गोपी भी श्रीकृष्णसे सच्चा प्रेम करने वाली हो, तो चाहे कोई प्रेमिका हो, चाहे न हो—हम उसको चरणोंके धूलिकी वन्दना करते हैं। पादरेणुम्।

श्रीकृष्णके आगे-आगे धेनु, और मुखमें वेणु और पाँवमें रेणु; धेनु, वेणु, और रेणु—तीनोंका ध्यान करो। सामने धेनु, मुखमें वेणु और पाँवमें रेणु; एक त्रिकोण बनेगा मनमें, और तुरन्त ध्यान लग जायेगा। त्रिकोणमें और षट्कोणमें ध्यान लगानेकी बड़ी शक्ति होती है। युगलका ध्यान करना होता है—तो षट्कोण; दो देखनेसे षट्कोण बनता ही है। गौरी-शंकरके विराजमान होनेसे, राधा-कृष्णके, सीता-रामके विराजमान होनेसे षट्कोण बनता है। तो पादरेणुकी बड़ी भारी शक्ति है।

फिर बोले—**अभीक्ष्णशः**, माने बारम्बार, पुनः-पुनः, एक बार नहीं, बार-बार। कोई अपनेको कहता तो हो ज्ञानी, और कभी किसीको प्रणाम करना पड़े, तो शरीर तन जाय, तो? ब्रह्मज्ञान तो शरीरको मोम बना देता है; यह शरीरको पत्थर नहीं बनाता, लोहा नहीं बनाता। जैसे साँपकी केंचुल अलग रह जाय, ऐसे ब्रह्मज्ञान शरीरको अलग छोड़ देता है। अरे, शरीर ऊपर बैठे कि नीचे बैठे; कि लोग तारीफ करें कि गाली दें—वे तो सब अपने-अपने कर्मका फल लेते हैं। और ब्रह्मज्ञानी तो ज्यों-का-त्यों अपनी जगह पर है न!

तो आप देखो, उद्धवजी क्या करते हैं? ये गाँवकी गँवार ग्वालिन श्रीकृष्णके प्रेम रसमें डूबी हुई—उनके चरणोंकी नहीं—चरणधूलिकी बारम्बार इच्छा करते हैं। बोले—चरणोंको छूनेकी तो हमको हिम्मत नहीं है, अधिकार नहीं है। अच्छा उद्धवजी, तुम ग्वालिनोंका आदर करते हो? कि नहीं, ग्वालिनोंका नहीं—प्रेमका आदर करते हैं। अच्छा, क्या संसारी प्रेमका आदर करते हो? कि नहीं, श्रीकृष्ण-प्रेमका आदर करते हैं। यह संसारी प्रेमका आदर थोड़े ही है! तो ऐसी कौनसी बढ़िया बात गोपियोंके जीवनमें है—जो तुम्हारे ऊपर असर कर गयी है?

देखो, लोगोंके मनमें एक ऐसा अभिनिवेश होता है; वह मिशनरी टाईप जबसे ज्यादा चला है न हिन्दुस्तानमें, तबसे लोगोंका ऐसा ख्याल हो गया है—कि जो ज्यादा संस्था बनाता है, ज्यादा व्याख्यान देता है, ज्यादा घूमता है, मिशनरी पादरी लोग जैसा संघटित होकर काम करते हैं न, वैसे ही हिन्दुस्तानी साधु भी करें—तो बहुत बढ़िया हो। हिन्दुस्तानी साधुका ढंग है आत्मानुभूति, और पश्चात्य साधुका ढंग है परोपकार। तो जो पाश्चात्य शिक्षासे शिक्षित हैं, पाश्चात्य संस्कृतिसे ज्यादा प्रभावित हैं—वे यही देखते हैं कि भाई! उन्होंने कितने अस्पताल खोले, इनकी संस्थाकी कितनी ब्रांच हैं, कितनी शाखाएँ हैं, कितना संघटित कार्य है। तो जो प्रेमी होता है, वह तो अपनेमें ही डूबा रहता है; तो आत्मनिष्ठ हो गया न! तो गोपियोंने ऐसा कौन-सा परोपकार कर दिया—कि उद्धवजी! तुम्हारे जैसा विद्वान्

उनके चरणोंमें लोटे? बोले—हाँ, उन्होंने अस्पताल नहीं बनाये, संस्था नहीं बनायी और लाउड स्पीकार नहीं बजाये; लोगोंको निमन्त्रण देकर व्याख्यान नहीं दिया। गोपियोंने कुछ नहीं किया। तब इनकी महिमा क्या है? कि एक मिशनरी जितना काम करता है, उससे ज्यादा काम इनसे हो गया—

यासां हरिकथोद्गीतं पुनातिं भुवनत्रयम्।

कि भाई! एक साधुका ज्यादा असर कहाँ? कि एक प्रान्तमें, एक देशमें कि नहीं; स्वामी विवेकानन्दजीका प्रभाव तो देखो—सारे विश्वमें है; कौन नहीं जानता। परन्तु गोपियोंने दुनियाका उपकार क्या किया? कि **पुनाति भुवनत्रयम्**—तीनों लोक पवित्र कर दिये गोपियोंने। आजकल जिन लोगोंका नाम बड़े प्रेमसे, बड़े महत्वपूर्ण ढंगसे लिया जाता है न, पाँच हजार बरसमें इनके नामकी क्या दशा रहेगी—यह हम बता नहीं सकते। आप क्या समझते हैं—ये जो छोटे-मोटे नेता, छोटे-मोटे नामवर लोग निकलते हैं—सौ दो सौ पाँच सौ बरसमें इनका नाम कहीं होगा? फिर इतिहासमें पढ़ाये जाते रहेंगे। और देखो, गोपियोंका माहात्म्य जो है, वह पाँच हजार बरस पहले जितना माना जाता था न, आज इससे भी ज्यादा बढ़ गया है। भारतवर्षका कोई कवि होवे—क्या तमिल कवि और क्या डोगरी भाषाका कवि, माने मद्रासका हो चाहे कश्मीरका; जिसने कृष्णका गुण-गान नहीं किया, जिसने गोपियोंका गुणगान नहीं किया, वह कवि क्या? गोस्वामी तुलसीदासजी रामके कवि हैं, लेकिन उन्होंने कृष्ण गीतावली लिखी है; बड़ी सुन्दर रचना है। अरे बाबा! बिना कृष्ण-कथाके कवित्व पूरा नहीं होता, और बिना गोपियोंके कृष्ण-कथा पूरी नहीं होती। तो '**यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्**' लोगोंके लिए मन्त्र बताया। देखो, तुम कृष्णको पाना चाहते हो? भजन करना चाहते हो? हाँ! तो महाराज, मन्त्रका उपदेश करो। गोपीजनवल्लभ मन्त्रका जप करो। राधावल्लभ मन्त्र कहो ना। तो नित्य मन्त्र हो गया न!

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।

जो कृष्णको चाहेगा, वह गोपीकी बात दुहरा-दुहराके, गोपीकी भावना दुहरा-दुहराके, गोपी कैसे-कैसे कृष्णकी सेवा करती थी—उसको दुहरा-दुहराके श्रीकृष्ण-प्रेमकी शिक्षा प्राप्त करेगा।

उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृद्ध्वनिः।

जिस समय दही मथ रही हैं गोपियाँ, उनकी मथानी उनके स्वरमें स्वर मिलाकर नाच रही है। उनके कंगण किन्-किन् कर हे हैं, झाँझ बजा रहे हैं; और

गोपी गा रही है—कृष्ण कृष्ण कृष्ण। ये प्रेमकी ध्वजाएँ हैं। प्रेम किसीसे करो—रामसे, कृष्णसे, शिवसे, नारायणसे—लेकिन प्रेम सीखना हो तो गोपियोंसे सीखो। प्रेमकी गुरु गोपियाँ हैं। तो **यासां हरिकथोद्गीतं पुनीतं भुवनत्रयम्।**

वेदमें उद्गीतका गान होता है। और यह गोपियोंके द्वारा उद्गीत है। और **हरिकथोद्गीतं**—जैसे कृष्ण—कथाका माहात्म्य है, ऐसा ही गोपी—कथाका माहात्म्य है।

तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।

अपने जीवनको यदि धन्य-धन्य करना चाहते हो, तो हरिकथा कथा, और सब वृथा व्यथा। और सब वृथा, और वृथा नहीं—व्यथा। भगवान्‌की कथा ही कथा है। जरा सोचो तो; चौबीस घण्टेमें घण्टे दो घण्टे तुमको घरमें बैठके बातचीत करनेका मौका मिलता है। अगर इसी बातमें लगे रहोगे—कि उनकी बेटी ऐसी, उनकी बहू ऐसी और वह ऐसा—तो तुम्हारे दिलका मटियामेट हो जायेगा। तुम्हारा दिल संसारी हो जायेगा। तुम ईश्वरके रास्तेमें नहीं बढ़ सकोगे। जब तुम यह चर्चा अपने घरमें निकालोगे—कि कृष्ण ऐसे, ग्वाले ऐसे, गोपियाँ ऐसे, वृन्दावन ऐसा, जमुनाजी ऐसीं और रास-लीला ऐसी है; ये कथाएँ जब तुम अपने घरमें निकालोगे, तब तुम्हारा मन भगवान्‌में लगेगा और तुम्हारा कल्याण होगा। यदि जरा भी मनमें होवे—कि हम संसारसे निकलें, तो अपनी चर्चाका विषय तुम्हें बदलतना पड़ेगा। मनुष्यका मन तो तब जाहिर होता है, जब दो आदमी अकेलेमें बैठते हैं और आपसमें बात करते हैं। क्या बात करते हैं बैठके? लोगोंके सामने बैठेंगे, तो भगवान्‌का भजन करेंगे, और एकान्तमें बैठके राग-द्वेषकी चर्चा करेंगे। तुम ईश्वरके रास्ते पर चलना चाहते हो, कि संसारमें फँसके मरना चाहते हो? यह मृत्युका मार्ग है। **प्रमाद मृत्योर्नाम**—प्रमाद जो हो रहा है अपने जीवनमें, वही मृत्यु है।

तो ये गोपियाँ आपसमें किसकी चर्चा करती थीं? कृष्णकी। गोपियोंने जो कृष्ण-कथा की, वह कथा करो। गोपियोंकी कथा कृष्णकी कथाके समान है। और जो उसको सुनता है, पढ़ता है और आपसमें उसकी चर्चा चलाता है, उसके बारेमें सोचता है—वह तीनों लोकोंको पवित्र कर देता है।

आप जानते हैं न! शब्द जो हम मुँहसे बोल रहे हैं; तो यह नहीं समझना, कि जब ब्राडकास्ट करनेवाली मशीन लगायी जायेगी और वहाँ दूसरी तरफ रेडियो लगेगा, तभी वे लोग सुन सकेंगे; अगर यहाँ मशीन पकड़ने वाली नहीं है और वहाँ खींचने वाली नहीं है—तब भी हमारी आवाज वहाँ पहुँचती है। यह नहीं समझना,

कि तब हमारी आवाज वहाँ—रूसमें-अमरीकामें नहीं पहुँचती है, क्योंकि हम मुँहसे जो शब्द बोलते हैं—वे सारी सृष्टिमें फैल जाते हैं। तुम गाली देते हो—तो समझते हो कि हमने चुपचाप गाली दे दी। एक आदमीने सुना, तो क्या हुआ? यह गाली सारी सृष्टिमें फैलती है, और संसार गालीमय बनता है। और जब तुम कृष्ण कृष्ण कृष्ण बोलते हो, कल्याणमस्तु बोलते हो—तो तुम्हारी आवाज सारी दुनियाँमें फैलती है। अकेलेमें रहो, दुकेलेमें रहो, सबके बीचमें रहो; जो तुम कल्याणी वाणी बोलोगे, वह तुम्हारी कल्याणी वाणी सम्पूर्ण सृष्टिका कल्याण करेगी। गोपियोंने जो कृष्ण-चरित्रका गान किया, वह उस समयकी तीनों लोकोंको पवित्र कर रहा था। लोगोंको विषय-चिन्तनसे खींचकर कृष्ण-चिन्तनमें लगाता था। आज भी वह शब्द, वह ध्वनि विश्वमें व्याप्त है। अभी देशान्तरके शब्दको हम पकड़ लेते हैं न, माने अमेरिकामें बोला गया शब्द यहाँ सुन लिया गया; कैसे? मशीनने पकड़ लिया। हमारे घरमें रखा हुआ बैटरीका रेडियो बिना बिजलीके तारके अमेरिकामें बोले हुए शब्दको पकड़ लेता है। आकाशमें शब्द व्याप्त न होता, तो कैसे पकड़ता? तो भाई! जैसे देशान्तरमें बोला हुआ शब्द अब यहाँ पकड़ा जाता है, ऐसे विज्ञान इस दिशामें कोशिश कर रहा है कि कालान्तरमें बोला हुआ शब्द भी अब पकड़ा जा सके। कुरुक्षेत्रमें लाके एक ऐसी मशीन रखेंगे, कि भगवान् कृष्णने अर्जुनको जो गीताका उपदेश दिया था, पाँच हजार बरस पहले बोले हुए वे शब्द मशीनसे पकड़े जायँ। और लोग श्रीकृष्णके मुखसे सारी गीताका श्रवण करें।

आज विज्ञान हर दिशामें अपने चरण बढ़ा रहा है; कालान्तरिक शब्दको भी पकड़ेगा। तब मालूम पड़ेगा कि बोलनेका कितना महत्व है। आप अपनी बोली हुई बात सुनेंगे न; कभी सुन लेंगे—कि देखो, अमुक दिन हमने अमुक की निन्दा की थी, तो मशीनमें पकड़ी गयी—तब कहेंगे कि हाय राम! मैंने बड़ी गलती की। जो ऐसा शब्द कहा। अरे बाबा, न पकड़े मशीन; ईश्वरके कान हैं, और जो तुम बोलते हो, वह ईश्वर सुनता है। जो तुम सोचते हो, वह ईश्वर देखता है—तुम अपने और अपनी सृष्टिका कैसा निर्माण कर रहे हो।

अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम्॥ ६४॥

अब उद्धवजीने सोचा—कि चलें मथुरा। देखो, इसमें एक बढ़िया बात है; उन्होंने चुपचाप गोपियोंसे पूछ लिया—कि 'गोपियो! हम जायँ?' गोपियोंने कहा—'उद्धवजी! तुहारे रहनेसे तो कृष्णकी बहुत चर्चा होती है। हम भी सुनाती

हैं, तुम भी सुनाते हो। काहेको जाते हो? यहीं रहो न!' तो रह गये। एक बार तो घरसे जाके लौट आये, दो बार लौट आये; दस बार लौट आये। कोई एक बरसके लगभग उद्धवजी व्रजमें रहे। एक दिन उद्धवजीने गोपियोंसे कहा—कि गोपियों! जैसे तुम लोगोंके मनमें श्रीकृष्णके कुशल-मंगल, उनके अन्तरंग भाव जाननेकी इच्छा थी, ऐसे ही कृष्णको भी तो तुम्हारे अन्तरंग भाव जाननेकी इच्छा होगी! तो अगर तुम्हारा समाचार उनको नहीं मिलेगा, तो उनको भी तो तुम्हारे अन्तरंग भाव जाननेकी इच्छा होगी! तो अगर तुम्हारा समाचार उनको नहीं मिलेगा, तो उनको भी तो कष्ट होगा न! तो गोपियोंने कहा—अच्छा उद्धवजी! उनको यदि कष्ट होता हो, तो उसको मिटानेके लिए तुम जाओ, हमें चाहे जितना कष्ट होवे। प्रेमका एक यह गुण है कि प्रेमी हमेशा अपने प्रियतमको सुख पहुँचानेके लिए बड़ेसे बड़ा कष्ट सहनेको तैयार रहता है। जहाँ अपने सुखके लिए चेष्टा होती है, वहाँ काम है, और जहाँ उसको सुख पहुँचानेकी चेष्टा होती है—वहाँ प्रेम है। यही प्रेम और कामका अन्तर है। अपने लिए—कि उसके लिए? **कस्मै देवाय हविषा विधेम?** 'कस्मै'में 'ए'का लोप हो गया है। निरुक्तमें 'कस्मै'का 'एकस्मै' लिखा है; उस एक देवताके लिए हम यह हविष लिए खड़े हैं।

तो गोपियोंने अनुज्ञा दे दी—कि अच्छा उद्धवजी, जाना। तब वे यशोदा मैयाके पास गये। अब यशोदा मैयासे पूछ लेते पहले—कि अच्छा मैया, जायँ? और मैया कह देती कि जाओ, और तब गोपियोंसे जाके पूछते—कि गोपियो! जायँ? और गोपियाँ कह देतीं—कि मत जाओ; तो मैयासे आज्ञा मिल जानेके बाद गोपियोंके रोकनेसे रुक जाते, तो बात उल्टी पड़ जाती। नहीं, पहले जब गोपियोंसे चुपचाप अनुमति ले ली, तब मैयासे जाके पूछा। अब मैयाने कहा—कि उद्धवजी, तुम्हारे आनेसे तो बड़ा आनन्द है। हमको तो कृष्णकी चर्चा सुननेको मिलती है; काहेको जाते हो?

मैया, कभी-कभी कृष्णके मनमें ताजा माखन खानेकी आती होगी! तो ताजा माखन तैयार कर, और भेज दे। मैं एक दिन खिलाके फिर आ जाऊँगा।

मैयाने कहा—अच्छा बेटा, ताजा माखन ले जा।

और गोपियोंने क्या भेजा? कि महाराज, उन्होंने तो ऐसी-ऐसी मालाएँ बनायीं! किसीने घुँघचीकी माला बनायी और उसमें अपना खास चिन्ह लगा दिया—कि यह किसने बनाया है? यह चन्द्रावलीने बनाया, यह धन्याने बनाया,

यह ललिताने बनाया, यह भद्राने बनाया! अलग-अलग अपनी अपनी माला, अपने अपने ढंगसे वस्त्र, अपने अपने ढंगसे आभूषण, अपने ढंगके कंगन—जो कृष्णके काममें आवें, और कोई दूसरा न पहचान सके कि किसने भेजा है! मैयाने खानेकी बढ़िया-बढ़िया वस्तुएँ दीं। और नन्द बाबाने क्या दिया? कस्तूरी, नाना प्रकारकी बढ़िया बढ़िया वस्तुएँ, जो बलदेवके लिए रखी हुई थीं; नाना प्रकारके पकवान, देवकी रोहिणीके लिए वस्त्राभूषण; सब दिये।

उद्धवने नन्द बाबासे जानेके लिए पीछे पूछा, जब यशोदा मैयाने कबूल कर लिया। क्यों? कि ज्यादा प्रेम गोपियोंका, फिर उसके बाद यशोदा मैयाका, उसके बाद नन्दबाबाका। और उसके बाद ग्वाल-बालोंसे चर्चा की। यशोदा मैयाने बाँसुरी भी भेजी। और श्रीकृष्णका ब्याह न हो जाय; उसकी बहू आयेगी तो उसके लिए क्या-क्या सामग्री चाहिए—ब्याहके लिए मैयाने जो-जो इकट्ठी करके रखी थी, वह सब सामग्री भेजी।

गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नरुरुहे रथम्।

फिर गोपोंसे सलाह की। और गोपोंने भी जिस वृक्षका फल श्रीकृष्णको बहुत प्यारा लगता था, जिस लताका पुष्प कृष्णको प्यारा लगता था, जिन वस्त्रभूषणोंसे वे अपनेको सजाते थे—वे सब लाकरके, भेंटकी सारी सामग्री लाकरके उद्धवजीको दी। अब जानेके लिए उद्धवजी रथ पर बैठे।

तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः।
नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः॥ ६५॥

जब देखा लोगोंने—कि अब उद्धवजी निकले, तब नाना प्रकारकी भेंट कृष्णके लिए, कृष्णके सम्बन्धियोंके लिए हाथमें ले—लेकर वे आये। नन्द बाबा, यशोदा—सबकी आँखोंमें आँसू भरे हुए हैं। कभी-कभी आँखोंमें आँसू आना भी आवश्यक होता है। सूखी आँख; राम राम! अब यह ऐसा है कि दुःखका रोना दूसरा है, और प्रेमका रोना दूसरा है। अनुरागसे आँसू आने चाहिए।

अब अनुरागको भी समझो। एकने किया राग, और दूसरेने किया अनुराग। राग आया सामनेसे, और अनुराग निकला अपने हृदयमें। अनु माने पश्चात्; जो रागके पीछे हो—उसका नाम अनुराग। तो इसका अर्थ क्या है? कि समझो, यशोदा मैया कहती हैं—कि कृष्णने तो हमको बहुत प्यार किया। जब कोई गोपी उलाहना देने आती थी, तो भाग करके हमारी गोदमें छिप जाता था। लेकिन मैंने उसे ताड़ना दी। देखो, उस दिन कितना प्रेम था कृष्णका, कि मैं मैयाकी गोदमें बैठकर मैयाका

दूध पीऊँ, और मेरा हृदय इतना पत्थर—कि मैं डण्डा लेके दौड़ी उसके पीछे मारनेको। क्या दूध ज्यादा कीमती था? क्या मक्खन ज्यादा कीमती था? क्या वह घड़ा—जो फूट गया—ज्यादा कीमती था? लेकिन देखो! कन्हैयाका तो मेरे साथ इतना प्रेम—कि वह मेरा दूध पीनेके लिए मेरी छातीसे चिपटा जाय, और मैं ऐसी अभागिन, ऐसी कठोर हृदय—कि मैंने उसे अपनी गोदमें-से उतारके धरतीपर फेंक दिया। लठिया लेकरके खदेड़ा, ऊखलमें बाँध दिया। मैंने उसके प्रेमको नहीं पहचाना, उद्धव! वह मेरे साथ कितना प्रेम करता था; और मैंने उसके साथ कितनी कठोरता बरती। अब यह हुआ अनुराग; कि सामने वालेके प्रेमको याद करके अपने हृदयमें व्याकुलता हो रही है।

हे भगवान्! आप घरमें कभी रोते हैं कि नहीं? किस चीजके लिए रोते हैं—जरा ध्यान तो करना। बेटेके लिए आपको आँसू आते हैं? धनके लिए आँसू आते हैं? अपमान होने पर आँसू आते हैं? आप अनेक प्रसंगोंमें घरमें रोये होंगे। हमको याद है, बचपनमें हम कितनी बार रोये। लेकिन आप भगवान्के लिए कभी रोते हैं कि नहीं? बेटेके लिए, माँके लिए, पत्नी, धन, इज्जत—सबके लिए रोयें, और भगवान्के लिए आपकी आँखमें दो बूँद आँसू भी न आवें। तो अब हम आपकी आँखको कुछ कहें, कि आपके दिलको कुछ कहें? यह तो कुछ शोभा नहीं देता है। आप स्वयं अपने लिए कुछ कह लीजिये—कि आपकी आँखोंमें सबके लिए आँसू आये; ईश्वरके लिए नहीं आये!

तो बोले, भाई! जब ईश्वरके लिए रोना है—तब तो कहो, कि संसार मिथ्या है और तुम ब्रह्म हो। और जब धनके लिए रोना है, पुत्रके लिए रोना है, तो बोले—संसार सत्य है और हम जीव हैं। ऐसे लोग परमार्थके मार्गमें ईमानदार नहीं हैं; संसारके लिए तो जीव, और जब ईश्वरके लिए रोनेकी बात आवे—तब कहें, कि हम ब्रह्म और संसार मिथ्या! ऐसे लोग साधनके मार्गमें न वैराग्यवान हैं, न ज्ञानी हैं, न ईमानदार हैं। असलमें ईश्वरके लिए जब रोना आता है, तब हृदयकी कठोरता मिटती है, मोह मिटता है, ममता मिटती है। दिलका मैल धुलता है और मनुष्य ईमानदारीसे ईश्वरकी ओर बढ़ता है।

हंसि हंसि न कंत न पाईयाँ जिन पाया तिन रोय॥

तो नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः—नन्द, उपनन्द, सुनन्द, महानन्द, यशोदा; और भी बहुतसे आये। हृदयमें अनुराग है, आँखोंमें आँसू हैं और बोल रहे हैं—उद्धवजी! हम कुछ नहीं चाहते, सिर्फ एक बात चाहते हैं—

मनसो वृत्तयो नः स्यः कृष्णपदाम्बुजाश्रयाः।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु॥ ६६॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे॥ ६७॥

अब व्रजवासी लोगोंने दो श्लोकोंमें अपनी अभिलाषा प्रकट की है। एक बात देखना; यहाँ यह नहीं कहा है कि तुम कृष्णसे जाके यह कह देना, यह सन्देश देना। कृष्ण चाहे जहाँ रहें और चाहे जो कहें, हम अपनेको ऐसा बनाना चाहते हैं; हमारी रहनी ऐसी होवे। कृष्णकी रहनी कैसी हो—उसे हम कोई हस्तक्षेप नहीं करते; हमारी रहनी उनके बारेमें ऐसी होवे—ऐसा हम चाहते हैं।

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णापादाम्बुजाश्रयाः—तीन विभाग कर दिये; हमारे मनकी वृत्ति कहाँ रहे, हमारी वाणी क्या करे, और हमारा शरीर क्या करे। मन, वाणी और शरीर—ये विभाग किये। तो मनकी वृत्तियाँ हमारी श्रीकृष्ण-पादाम्बुजका आश्रय लेकरके रहें। अब आँख बन्द की—और लो, श्रीकृष्णके चरणोंका, तलवोंका ध्यान किया और अपने मनकी वृत्ति लाके उसमें लगा दी—ऐसे नहीं होता यह। यह मत समझना कि भक्ति माने सिर्फ ख्याल-ही-ख्याल होता है! यह ठोस काम है। भागवतमें जहाँ रहुगणका प्रसंग है, वहाँ ग्यारह वृत्तियोंका वर्णन है : हम चलें, तो कृष्णके लिए। यह नहीं—कि जब आँख बन्द करते हैं तो कृष्णके लिए, और चलते हैं तो पैसा कमानेके लिए। मनसे ख्याल करते हैं—तो कृष्णके लिए, और हाथसे जो रोटी बनाते हैं तो वह अपने खानेके लिए! नहीं, हाथसे रोटी बनावें—सो भी कृष्णके लिए, और पाँवसे चलें, तो भी कृष्णके लिए। यह मनकी वृत्ति माने भीतर-भीतरका ख्याल नहीं। हमारे शरीरसे जो काम होते हैं—कानसे सुनना, त्वचासे छूना, आँखसे देखना, जीभसे स्वाद लेना, नाकसे सूँघना और मनमें संकल्प-विकल्प करना—ये सब किसके लिए होवें? कि ये सब उसके लिए, अपने प्राणप्यारेके लिए, अपने प्रभुके लिए होवें। वृत्ति शब्दका अर्थ संस्कृतमें होता है व्यवहार—**वर्तनं वृत्तिः**; मनके जितने व्यवहार होते हैं—वे सब। बिना मनके हाथ काम नहीं करता, बिना मनके पाँव नहीं चलता, बिना मनके आँख नहीं देखती, बिना मनके कान नहीं सुनता।

अब यह बात जो है न—व्रजवासियोंके मनकी अभिलाषा है, लालसा है। व्रजवासी क्या चाहते हैं—यह कल सुनावेंगे।

*

बासठवाँ प्रवचन

उद्धवजीकी जुदाईका अवसर आया। कहते हैं कि दुष्टका जब संयोग होता है, तब दु:ख होता है और सन्तका जब विग्रोग होता है—तब दु:ख होता है।

मिलत एक दारुण दुख देहीं।
बिछुरत एक प्राण हर लेहीं॥

तो व्रजवासियोंके लिए उद्धवजीका वियोग भी दु:खद है। लेकिन जब किसीको बड़ी चोट लग चुकी होती है न, तो छोटी चोटसे उतना दु:ख नहीं होता है। व्रजवासी लोग तो श्रीकृष्णके विरहका दु:ख सह रहे हैं। बीचमें उद्धवजी आये। कुछ महीनों तक कृष्णकी चर्चा रही; आनन्द रहा। उनकी जुदाईके समय दु:ख तो होना ही था, परन्तु दु:ख उद्धवकी जुदाईका नहीं है, दु:ख तो श्रीकृष्णके वियोगका ही है। और सब-के-सब व्रजवासी श्रीकृष्णके अनुरागसे भरे हुए हैं। तो बताया—कि हृदयमें तो अनुराग है, और आँखोंमें आँसू हैं, और हाथोंमें भेंटकी सामग्री है; और सब उद्धवजीको घेर कर खड़े हुए हैं। उन्होंने अपने हृदयका भाव प्रकट किया।

यह जो श्रीकृष्ण-प्रेम की चर्चा है—यह हृदयको श्रीकृष्णमें लगानेकी है—यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिए। एक शास्त्र होता है—जो यह सिखाता है कि कैसे चलना चाहिए, कैसे बोलना चाहिए, कैसे करना चाहिए। यह कर्मशास्त्र जुदा चीज है। उसके लिए तो मनुस्मृतिकी ही कथा आनी चाहिए। मनुस्मृतिमें जो बात साफ-साफ बताई; भोजन करनेके बाद कैसे मुँह धोना चाहिए, लघुशंका करनेके लिए कितना दूर जाना और कितनी बार हाथ धोना चाहिए; कैसे जनेऊ पहनना, कैसे सन्ध्या-वन्दन करना; यह आचार शास्त्र है। और यह जो प्रसंग है, यह आचार शास्त्र नहीं है, यह साधन शास्त्र है। इसमें हृदयका निर्माण कैसे करना—इसका वर्णन है। आजकल लोगोंको बाहरी बातोंमें ज्यादा दिलचस्पी होती है न! अपने

दिलको बनानेकी किसको पड़ी है; शरीर बनानेसे ही फुरसत नहीं है; यह खाना, यह पहनना; ऐसे करना, वैसे करना। तो यह ध्यानका शास्त्र है, और इसका गुर यह है—कि जब ईश्वरसे प्रेम हो जाय, तब ध्यान लगेगा। बिना प्रेमके ध्यान नहीं लगेगा। अच्छा भाई, ध्यान न हो; हमारा मन इधर-उधर चले, तो? आखिर संसारमें किसी-न-किसीका मूल्यांकन तुम्हारे चित्तमें होगा; माने दुनियाकी किसी चीजको कीमती समझोगे। तब यह बात देख लो—कि तुम ईश्वरको सबसे ज्यादा कीमती समझते हो कि दुनियावी चीजोंको। जब दुनियाँकी किसी चीजको कीमती समझोगे, तो जिससे वह मिलेगी—उससे राग होगा और जिससे उसके मिलनेमें बाधा होगी—उससे द्वेष होगा; और संसारी बन जावोगे। आज संसारमें जितना संघर्ष है, जितना वैमनस्य है, जितनी कटुता है, जितना युद्ध है—यह क्यों है? कि दुनियाँकी बाहरी चीजोंकी बड़ी कीमत सममझते हैं। और वे जैसे मिलें, वैसे करनेको तैयार। और जिससे मिलनेमें बाधा पड़े, उसका नाश करनेके लिए तैयार! यही संसारकी स्थिति है।

एक व्यवहारकी बात आपको सुना रहा हूँ। जब ईश्वरका मूल्यांकन हो जाता है—कि सबसे ज्यादा कीमती चीज ईश्वर है—तब दुनियाकी कीमत अपने आप कम हो जाती है। जब दुनियाकी कीमत कम हो जाती है, तो जिससे दुनिया मिलती है—उसके प्रति पराधीन होनेकी जरूरत नहीं, और जो दुनियाँ मिलनेमें बाधा डालता है—उससे दुश्मनी करनेकी जरूरत नहीं। तब व्यवहारमें समता आजाती है। और जो ईश्वरका मूल्यांकन करते हैं, उनके चित्तमें तो समता आती है और जो संसारका मूल्यांकन नहीं करते हैं—उनके चित्तमें राग-द्वेष आता है।

तो यह जो हमारा शास्त्र है—साधनका शास्त्र, यह हृदयमें ईश्वरका मूल्यांकन बढ़ाता है। सबसे अधिक कीमत ईश्वरकी है। एक मर गया और दूसरा भी मरने वाला है—'निर्हृत्य पुत्रं पितरं जिजीविषे'—बेटेको तो जाके श्मशानमें डाल आये, और चाहते यही हैं कि हमारा बाप जिन्दा रहे। संसारकी यही गति है। मरती ही जा रही है दुनियाँ, और लोग उसको रखनेके लोभमें किंचित् भी कमी करना पसन्द नहीं करते। तो भाई मेरे! इसीलिए भक्तोंका हृदय अपने हृदयमें उतारनेकी जरूरत है। आखिर तुमको भी वहीं जाना है, जहाँ सब गये। बाप गये, दादा गये, परदादा गये, रोज-रोज जा रहे हैं। और तुम छोटी चीज पकड़के उसके लिए चोरी करते हो, उसके लिए बेईमानी करते हो, छल करते हो, कपट,

अनाचार करते हो, व्यभिचार करते हो। संसारमें कितने फँसे हुए हो! तो ईश्वर और ईश्वरके भक्तके प्रति अपने हृदयमें वृत्ति आनी चाहिए।

अब जरा श्लोककी तरफ देखो। नन्द आदि भक्त उपस्थित हैं। तो नन्द बाबा बोले—कि नहीं बोले; इसमें दो मत हैं; **नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः।**

आँसू तो सबकी आँखोंमें हैं, और अनुराग सबके हृदयमें है। और आगे-आगे नन्द बाबाको लेकर सब आये हैं, परन्तु यशोदा मैयासे बोला नहीं गया, नन्दबाबासे बोला नहीं गया। देखोजी, **नन्दादयो**का क्या अर्थ है? इसको असद्गुण-संविज्ञान बहुव्रीहि बोलते हैं। समासमें नन्द शब्द है, फिर भी नन्द हैं आदिमें जिनके—वे गोप बोले, नन्द नहीं बोले; यह अर्थ है। बहुव्रीहि समास अन्य पदार्थ-प्रधान होता है, और उसमें सद्गुण-संविज्ञान और असद्गुण-संविज्ञान; ये दो भेद होते हैं। तो नन्द बाबा तो बेचारे चुप रह गये; उनसे तो बोला ही नहीं गया। यशोदा मैयासे भी बोला नहीं गया, और दूसरे गोपोंने यह बात कही।

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु॥ ६६॥

हमारी मनकी वृत्तियाँ श्रीकृष्ण चरणाम्बुजका आश्रय लेकरके रहें। अब देखो, कृष्ण—माने कृष्ण नामसे प्रसिद्ध नन्दनन्दन श्यामसुन्दर, उनके चरण-कमल; क्यों? बोले—कि जो पिताके समान व्रजवासी हैं या भाईके समान व्रजवासी हैं, वे कृष्णको ईश्वर तो नहीं मानते हैं। कि ईश्वर तो नहीं मानते हैं, लेकिन श्रीकृष्णके वियोगमें ऐसी चोट लगी है उनके दिलमें, ऐसा उनका दिल घायल हुआ है, कि अत्यन्त दीनताका उदय चित्तमें हुआ है, और दैन्य संचारी भाव प्राबल्यसे वे भूल गये—कि कृष्ण हमारे बेटे, कृष्ण हमारे मित्र हैं। बोले—सब लोग ईश्वर ईश्वर करते हैं; सचमुच हमने कृष्णसे प्यार नहीं किया। पुत्रसे प्यारके वियोगमें अपने प्राण छोड़ दिये। हम लोग क्या कृष्णके प्रेमी हैं? कृष्णके विरहमें जिन्दा हैं; हमारा दिल नहीं फट गया, हमारी आँख नहीं फूट गयी, हमारे प्राण नहीं निकल गये! अभी हम जीवित हैं श्रीकृष्णके विरहमें, और बनते हैं प्रेमी। हम प्रेमी होते तो कृष्ण हमारे बीचमें होते न! वसुदेवके साथ क्यों गये? भाई, मथुराके लोग और वसुदेव कृष्णको ईश्वर ईश्वर कहते हैं, तो कृष्ण उनके पास रह रहे हैं। तो क्यों न हम भी ईश्वर ईश्वर कहने लग जायँ? और कृष्ण हमारे पास आ

जाय, हमारे पास रहने लग जायँ। जो कहनेसे श्रीकृष्ण प्रसन्न हो—वही कहनेके लिए हम राजी!

तो **कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः, कृष्ण पादाम्बुज आश्रय यासां**—हमारी वृत्तियाँ कैसी बनें? उनका आश्रय श्रीकृष्ण—पादाम्बुज हों। अम्बुज माने कमल। तो श्रीकृष्णके चरण-कमल हमारी वृत्तियोंका आश्रय बनें।

अब देखो, कमलमें चार चीजें तो साफ-साफ रहती हैं; गन्ध है न कमलमें, बड़ी मादक, बड़ी मोहक सुगन्ध है। तो घ्राणकी वृत्ति श्रीकृष्ण पादाम्बुजमें लगे। रस है कमलमें; हस पीते हैं। तो हमारी रसना श्रीकृष्णके पादाम्बुजका रस-पान करे। रूप है कमलमें, बड़ा सुन्दर नीला, लाल, पीला; तो हमारी नेत्र-वृत्ति श्रीकृष्णके चरणकमलमें रूपका दर्शन करे। हमारी वृत्तियोंका व्यवहार वहाँ जाय। स्पर्श है, कमलमें बड़ा कोमल स्पर्श है। तो श्रीकृष्णके चरण-कमलमें सुगन्ध है, रस है, सुन्दरता है और कोमलता है। तो इसको बोलते हैं सौरभ्य—माने सुगन्ध, और सौरस्य माने सुन्दर रस, और सौन्दर्य, और सौकुमार्य—कोमलता। तो हमारी वृत्ति श्यामसुन्दरके चरणारविन्दमें ऐसी लगे, कि उसको छोड़ करके एक क्षणके लिए भी अलग न हो।

तो बोले—भाई, चार वृत्तियोंका ही वर्णन करते हो, पाँचवें—शब्दका वर्णन क्यों नहीं करते कृष्णके चरणमें? बोले—शब्द तो तब होंगे न, जब चलेंगे। नहीं, चले नहीं; हमारे हृदयमें ऐसे स्थिर हो जायँ, कि भगवान् चलें नहीं। इसके लिए शब्द ध्वनिका वर्णन नहीं किया, कि पगध्वनि तो तब होती है न, जब पाँव उठाए जाते हैं। अथवा यूँ कहो—कि **वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां** से शब्दका वर्णन अलगसे किया हुआ है। इसलिए कमलमें जो चार चीजें स्पष्ट हैं—उनका वर्णन किया हुआ है। भगवान्‌के चरणारविन्दमें जो गन्ध है, उसका वर्णन जगह-जगह आया है। श्री लक्ष्मीजी महारानी कमलके वनमें रहती हैं; तो बड़ी सुगन्ध होगी वहाँ। लेकिन भगवान्‌के चरण कमलमें ऐसी गन्ध है कि कमलके वनकी गन्ध फीकी पड़ जाती है। उसे छोड़ करके लक्ष्मीजी यहाँ आती हैं। और ऐसी सुगन्ध है यह—कि सनक सनन्दन सनातन सनत्कुमार—चारों, जो अक्षरयुत हैं, उनके हृदयमें भी जब यह भगवान्‌के चरणारविन्दकी गन्ध अनजानमें ही, नासिकाके सांसोंके साथ प्रवेश करती है—तो शरीरमें रोमांच हो जाता है; हृदय द्रवित हो जाता है। अक्षरयुत—यह युत शब्द संस्कृतका ही है, टेढ़ाके अर्थमें; इसका 'जुष' 'युत्' होता है तो जो अक्षरयुत हैं—माने अक्षरके साथ जुड़े हुए हैं, एकदम जुटे हुए हैं। अक्षर ब्रह्म तत्त्व

है; **अहं ब्रह्मास्मि**—मैं ब्रह्म हूँ; और चित्तवृत्ति हमेशा ब्रह्ममें स्थित है। इसका अर्थ यह नहीं करना कि भगवान्‌के चरणारविन्दकी गन्धने अगर कोई असर कर दिया, तो ब्रह्मज्ञानका नाश कर दिया, या चिद् ब्रह्म नहीं रहेगा। है ब्रह्म ही; वह तो नाकका काम है—कि गन्ध लेगा। हृदयका काम है इसमें द्रवता आना, लेकिन सन्तोंका चित्त संसारसे द्रवित नहीं होता, भगवत् चरणारन्दिकी गन्धसे द्रवित नहीं होता है। यह रस है भगवान्‌के चरणारविन्दमें; स्वाद लो। ऐसा स्वाद आयेगा, कि दुनियाँका स्वाद फीका पड़ जायेगा—

जो मोहि राम लागते मीठे।
तो षट्‌रस अनरस नवरस रस सब ह्वै जाते सीठे॥

दुनियाँमें जो इधर-उधर भटकना पड़ता है न, वह वैराग्यकी कमीसे। और वैराग्य क्यों नहीं है? भगवान्‌के चरणारविन्दमें प्रेम नहीं होनेसे। इस लिए हमारे मनके सारे व्यवहार, हमारे मनकी सारी वृत्तियाँ श्रीकृष्णके चरणारविन्दमें लगें। **वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां**—माने हमारा मन, हमारा तन और हमारा वचन—तीनों कृष्णमें लगें। तो मनके लिए तो बोले—**मनसो वृत्तयो नः स्युः**। अब वचनके लिए बोलते हैं—**वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां**। हम वाणीसे श्रीकृष्ण नामका अभिधान करें। हम यह चाहते हैं कि हमारी वाणी बोले। भगवान्‌ने जीभ दी है, तो इससे बोलना चाहिए, परन्तु क्या बोलना चाहिए? जिससे अपना दिल खराब हो, दूसरेका दिल खराब हो—सो नहीं बोलना चाहिए। बोलना सबको नहीं आता है। ज्यादा लोग तो ऐसी बात करते हैं, जिससे दूसरेका दिल खराब हो जाय। दूसरेका न हो, तो अपना तो हो जाता है न! अपने शरीर पर गन्दा छींटा पड़नेसे अपनेको बचाते हैं; कहीं मोटर आगे जा रही हो तो उसके पीछे हो जाते हैं—कि हमारे ऊपर छींटे नहीं पड़ें। तो शरीर पर गन्दा छींटा पड़नेसे बचाते हैं, और दिलमें गन्दा छींटा नहीं पड़े—इससे अपने दिलको नहीं बचाते हैं। देखो न, लोग कैसे बहिर्मुख हो गये हैं। आज कैसा हो गया है आदमी, कि भीतरको शुद्ध करने वाली जो चीज है, उसको छोड़ देते हैं, और बाहर पर इतने लट्टू हो रहे हैं। हमारी वाणी नामोंका अभिधान करे—**वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां**। नाम गावे, नाम जपे! नाम रटे। नाम भजे।

एक व्यक्ति रात-दिन राम नाम लेते रहते थे। मैंने पूछा, तुमको मीठा लगता है, कि नहीं? वे बोले—बहुत मीठा लगता है। जैसे शक्कर मुँहमें डालने पर मीठा लगता है, वैसे भगवान्‌का नाम लेनेपर मीठा लगता है? बोले—हमको तो नहीं

लगता, हम भी लेते हैं नाम। कि इसलिए—कि जीभ बिगड़ गयी है न! दुनियाँका नाम लेते-लेते जीभका स्वाद बिगड़ गया है। जिसकी जीभमें कुष्ठ रोग हो जाता है, उसको मिश्री भी मीठी नहीं लगती। जिसके चित्तमें वासनाका रोग हो जाता है, उसको भगवान्‌का नाम मीठा नहीं लगता। वासना-रहित होकरके बोलो—कृष्ण कृष्ण कृष्ण! देखो, क्या आनन्द आता है। यह आनन्दका झरना है, आनन्दकी स्रोतस्विनी है, आनन्दकी गंगा है। इसमें वह नमक है, जो पत्थरको—दिलके पत्थरको गला देता है। नमक शब्द भी संस्कृतका है। नमक है, नामक है। **नमयति नामयति माधवन्तम्**—जो भगवान्‌को भी झुका दे। भगवान् अपना सिर सीधा करके अपने आसन पर बैठे। और चार हाथ तक देखें; दूर नजर ही न जाय। तो भगवान्‌का नाम गया उनके पास; बोला—महाराज, ऐसे सीधे-सीधे न बैठो, जरा झुको। तो क्यों झुकें? कि देखो, वह नीचे तुम्हारा नाम ले ले के भक्त पुकार रहा है न! और तुम तो ऊपरको ही देख रहे हो। तो नाम इसीको कहते हैं—जो भगवान्‌को भी झुका दे; जो भक्त हृदयको नम बना दे। नम, नम्रीभूत, द्रव जो भगवान्‌के हृदयको बना दे—उसको नाम बोलते हैं।

अभिधायिनी—यह शब्द लौकिक व्याकरण, पाणिनी व्याकरणकी रीतिसे **वाचोऽभिधायिनी नाम्नां**—ऐसा होना चाहिए। हमारी वाणी कैसी हो? कि नामका अभिधान करने वाली हो। परन्तु वैदिक प्रयोग है **अभिधायिनीम्**; क्यों है? कि प्रथमाका प्रयोग न होके द्वितीया विभक्तिका प्रयोग है। क्यों हो गया? बोले—असलमें हमको लौकिक वाणी चाहिए ही नहीं। हम तो वैदिक, वेदोंका जो कार्यरूप सत्य है—भगवन्नाम, उसका उच्चारण अपनी वाणीसे करें। हमारी वाणी 'कृष्ण' 'कृष्ण' छोड़कर और कुछ न बोले, और हमारा मन श्रीकृष्णके चरणारविन्दको छोड़कर और कहीं न जाये। और—

कायस्तत्प्रह्वणादिषु—हमारा शरीर बस, उनको नमस्कार करनेमें लगे, उनकी सेवा करनेमें लगे, उनको सुख पहुँचानेमें लगे। बोले—भाई, मुक्ति-उक्ति नहीं चाहिए? बड़े-बड़े जो ज्ञानी होते हैं, वेदान्ती होते हैं—वे मुक्ति चाहते हैं। बोले—नहीं चाहिए मुक्ति। जैसे कोई किसी मालिककी सेवा कर रहा हो। सेवा करते-करते मन ऊब गया। बोले—मालिक, अब हमारा मन कुछ दिन अपने घर रहनेका है। अब हमको पेंशन दे दो। ऐसा होता है न! मुक्ति मालिकसे छुट्टी। जैसे सेवक चाहे, कि हम मालिकसे छुट्टी पा लें; बेटा चाहे कि हम बापसे छुट्टी पालें; पत्नी चाहे कि हम पतिसे छुट्टी पालें; बोले—हमारे खाने-पीनेकी व्यवस्था

कर दो, अब हम तुमसे अलग रहेंगे। जरा स्वतन्त्र होनेका विचार है। सेवक बोला कि अब हमारा मन तुम्हारी सेवामें रहनेका नहीं है। एक सेवक तो यह हुआ; और एक वह हुआ—कि मालिकने कहा, जाओ भाई! अब हम तुमको पेंशन देते हैं। घरमें रहो, खूब मजेसे स्वतन्त्र रहो। सेवकने कहा—कि बाबू! हमारा घर तो यही है। अब इस घरको छोड़कर हम दूसरे घरमें कहाँ जायँ? सारी जिन्दगी यहाँ कटी, तो अब क्या हम बुढ़ापेमें छुट्टी लें और स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करें?

आपने सुना होगा; एक बार गाँधीजी और कस्तूरबामें लड़ाई हो गयी। वहाँ तक बात बढ़ी, कि गाँधीजीको आया गुस्सा, और हाथ पकड़ा कस्तूरबाका और बोले—निकल जाओ घरमें-से। तो दरवाजे पर पहुँचा दिया। उस समय गाँधीजी इतने बड़े महात्मा नहीं हुए थे और उनको सत्याग्रह करना नहीं आता था। तो कस्तूरबा दरवाजे पर बैठ गयीं, बोलीं—कि तुमको शर्म नहीं आती है। तुम तो हो मर्द; अगर घरमेंसे निकल गये, तो जाके किसीके घर रातमें जाके सो जाओगे, खा लोगे और रह लोगे। अब मैं हूँ औरत! मेरे तो इस घरके सिवाय दूसरा कोई घर नहीं है। तो मैं कहाँ जाऊँ? किसके घरमें जाके खाऊँ? और कहाँ सोऊँ? तो मैं तो घरमें जाती हूँ। अगर तुमको न जँचता हो, तो तुम घरसे निकल जाओ। मेरा घर तो यह है। तुम्हारा कोई दूसरा घर है—तो वहाँ जाओ।

तो जैसे अब पति कहे—कि हम तुमको पेंशन देते हैं, तुम स्वतन्त्र जाके रहो; तो यह मुक्ति क्या होती है? इसे भक्तोंकी भाषामें समझो। यह बात मैंने दृष्टान्तके रूपमें तुम्हें बतायी है। अगर भगवान् स्वयं कहें—कि मेरे भक्त जी! अब तुम मुक्ति ले लो; स्वतन्त्र हो जाओ, ब्रह्म हो जाओ, अब हम तुम्हें सेवासे मुक्ति देते हैं—तो भक्त कहेगा—नहीं प्रभु! हमको छुट्टी नहीं चाहिए, मुक्ति नहीं चाहिए। आपके चरणारविन्दकी सेवामें हमको जितना आनन्द आता है, उतना आनन्द हमारे लिए मुक्तिमें भी नहीं है। इसलिए हम मुक्ति पाना नहीं चाहते, हम भक्ति चाहते हैं।

तो भगवान् मुक्ति तो सरलतासे देते हैं, क्योंकि उनको सेवकसे कुछ लेना-देना नहीं है। अगर भक्त यह सममझे—कि हमारे बगैर भगवान्का काम बिगड़ जायेगा, उनकी सेवा कौन करेगा, इसलिए वे हमको मुक्ति नहीं देते हैं—तब वह मालिक भी स्वार्थी हुआ और सेवक भी स्वार्थी हुआ। दोनों स्वार्थी हैं—

गुरु लोभी शिष्य लालची दोनों खेलें दांव।
दोनों बीचहिं डूब मरें जस पत्थर की नाव॥

तो भक्तको भगवान् कहते हैं—कि तुमको मुक्ति देते हैं। तुम स्वतन्त्र हो जाओ। और भक्त कहता है—कि हमको तो मुक्तिसे बढ़कर तुम्हारी सेवा है।

अब देखो, व्रजवासी क्या बोलते हैं :

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मङ्गलाचरितैर्दानै - रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे॥ ६७॥

देखो जी, शरीर कैसा मिले—इसकी हमको कोई परवाह नहीं है। हम कृष्णका घोड़ा होनेको तैयार हैं, कृष्णका गदहा होनेको तैयार हैं। कृष्णके गाँवमें सफाई करनेके लिए हम सूअर होनेको भी तैयार हैं। **कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापि**—हम मनुष्य योनिमें रहें, कि ग्वाले रहें, कि देवता बनें, कि ब्रह्मा बनें—हमें इसकी कोई परवाह नहीं है। हमारी शक्ल-सूरत कैसी हो, किस जातिमें जन्म हो, किस गुरुके चेले बनें और कौनसे पन्थमें जायँ—इसका हमको ख्याल नहीं है। हमारे कर्मके अनुसार जहाँ जाना पड़े, वहाँ हम जानेको तैयार हैं। स्वर्गमें जायेंगे, नरकमें जायेंगे, धरतीमें रहेंगे—लेकिन तुम्हारे चरणोंमें प्रेम बना रहे। हम तुम्हारे सामने भाँड बनके नकल करें, कि वेश्या बनके नाचें, कि बन्दर बन करके नकल करें, कि कोयल बनके कुहू-कुहू करें, कि मोर बनके नाचें, कि लता बनके अपने फूलसे तुम्हारी नाकको तृप्त करें, कि वृक्ष बन करके तुम्हारे ऊपर छाया करें, कि मिट्टी बनकर तुम्हारे चरणोंके नीचे रहें—**यत्र क्वापीश्वरेच्छया**; संसारका मालिक ईश्वर हमारे कर्मके अनुसार हमें जहाँ भेजेगा—

जेहिं जेहिं जोनि करमबस भ्रमहीं।
तेहि तेहि नाथ देहु यह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू।
देहि नाथ जेहिं नात निबाहू॥

नाथयोनि सहस्रेषु तेषु तेषु

हजार-हजार योनियोंमें कर्मके अनुसार हमारा जन्म होवे; हमको तो चाहिए श्रीकृष्णकी भक्ति।

तो देखो, ईश्वर स्वतन्त्र है, और अपनी मौजसे जहाँ चाहे—वहाँ हमें भेज दे। अच्छा, तुम चाहते क्या हो? बस, हम यह चाहते हैं, कि हमारे जीवनमें यदि कोई मंगलमय आचरण होवे, दान होवे—तो उसका फल यह होवे कि **रतिर्नः कृष्ण**

ईश्वरे; ईश्वर कृष्णमें हमारी रति होवे, प्रीति होवे। बोले—कि ईश्वरकी इच्छासे तो तुम भटकाये जा रहे हो, अब इस भटकाने वाले ईश्वरसे प्यार क्या करना? बोले—नहीं, भटकाने वाले ईश्वरसे हम प्रेम नहीं चाहते हैं। कैसे?

नः मङ्गलाचरितैर्दानैः ईश्वरे कृष्णे नः रतिरस्तु।

हमारे मंगलाचरणों और दानके फलस्वरूप ईश्वर कृष्णमें हमारी प्रीति होवे। एक ईश्वर है, जो कर्मके अनुसार फल देनेवाला है, जन्म-जन्ममें भटकानेवाला है; और एक ईश्वर है हमारा ईश्वर, हमारा प्राणेश्वर, हमारा हृदयेश्वर। वह पीताम्बरधारी मुरली-मनोहर श्यामसुन्दर नन्दनन्दन है, जिसके मुखारविन्द पर मन्द-मन्द मुस्कान है, जिसकी आँखोंमें प्रेमभरी चितवन है; बस, उसके प्रति हमारी प्रीति हो। कृष्ण कहाँ हैं, कृष्ण क्या हैं? कृष्ण क्या कर रहे हैं—इससे हमारा कोई मतलब नहीं। हमारा मतलब तो यह है—कि हमारे हृदयमें जो प्रीति है, वह बनी रहे। श्रीकृष्णके प्रति हमारी प्रीति बने।

एवं सभाजितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप।
उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम्॥ ६८॥

इस प्रकार हे राजन् नराधिप परीक्षित! तुम भी श्रीकृष्ण-प्रेममें पागल हो। अब गोपोंने उद्धवजीका समादर किया। काहेसे समादर किया? कुछ भेंट-पूजा दी उनको? कि उद्धवजीके चरण छुए? कि उद्धवजीको माला पहनाई? कि कपड़े दिये? बोले—नहीं; गोपोंने आदर किया कृष्ण-भक्तिके द्वारा। उद्धवने यही तो कहा था न—कि तुम लोग अपना मन श्रीकृष्णमें लगाओ। तो गोपोंने दिखा दिया कि हमारा मन कृष्णमें कैसे लगा हुआ है! जैसा उपदेश किया था उद्धवजीने, वह उपदेश मानों गोपों तक पहुँचके सफल हो गया।

अब उद्धवजी फिरसे लौटकर मथुरामें आये। मथुरामें क्यों आये? कि **कृष्णपालिताम्**—मथुरा कृष्णके द्वारा रक्षित है। असल बात यह है कि मथुरा पर इतना भय था, कि उन दिनों श्रीकृष्ण मथुरामें पहरा दिया करते थे—कि कभी जरासंध मथुरा पर आक्रमण न कर दे। कंसके जो मित्र हैं, वे मथुरामें आग न लगा दें, लोगोंको मार न डालें—इसके लिए कृष्ण स्वयं मथुराकी रक्षा करते थे।

मथुरां कृष्णपालिताम्।

अब उद्धवजीके मनमें आया—कि ऐसे व्रजवासियोंका पालन छोड़ करके, रक्षा छोड़कर कृष्ण मथुराकी रक्षा कर रहे हैं? चलो चलो! उनको उलाहना देंगे, कि क्यों कृष्ण! ये व्रजवासी भला छोड़ने लायक हैं?

कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम्।
वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात्॥ ६९॥

उद्धवने आकरके श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रणाम किया, और बताया—कि व्रजवासी उनसे कितना प्रेम करते हैं। भरी सभामें जब उद्धवजीने व्रजवासियोंके प्रेमका वर्णन प्रारम्भ किया, माता-पिताका प्रेम, नन्दबाबाके भाइयों नन्द, उपनन्द, सुनन्द आदिका प्रेम, यशोदा मैयाकी बहनोंका प्रेम, ग्वाल-बालोंका प्रेम—तो श्रीकृष्णके शरीरमें रोमांच हो गया और उनकी आँखोंसे आँसूकी धारा गिरे। और श्रीकृष्णसे कुछ बोला न जाय। उद्धवजी बोले—बड़े, निष्ठुर हो श्रीकृष्ण, जो तुम अपने ऐसे प्रेमियोंको छोड़कर मथुरामें रह रहे हो। गोपियोंकी बात भरी सभामें नहीं कही। जब फिर एकान्तमें मिले, तब गोपियोंका प्रेम बताया। और श्रीकृष्ण ऐसे मगन हुए! बोले—उद्धवजी! गोपियोंमें और हममें जरा भी अन्तर नहीं है। अपना शरीर कृष्णके भीतर राधारानी, वृन्दावन, ललिता, विशाखा सारीकी सारी गोपियाँ श्रीकृष्णके शरीरमें हैं। बादमें बताया—कि देखो, जो अपनेसे प्रेम करने वाली कुब्जाको—जो जातिसे हीन, रूपसे हीन, आचारसे हीन, ज्ञानसे हीन है, लेकिन हमको एक बार जिसने चन्दन लगा दिया—उसका भी मैं परित्याग नहीं करता हूँ, तो उद्धव! मैं अपने व्रजके इतने प्रेमियोंका त्याग कैसे कर सकता हूँ?

इसके बाद जिसके लिए जो भेंटकी सामग्री थी—वसुदेवके लिए, बलरामके लिए, राजा उग्रसेनके लिए—सबको सबके पास पहुँचा दिया। और उद्धवजी तो अनन्य होकरके श्रीकृष्णसे प्रीति करने लगे।

हरि ओम्

*

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एवं सम्प्रति उपलब्ध साहित्य

वेदान्त

मुण्डक सुधा	200.00
माण्डूक्य प्रवचन (आगम प्र.) भाग-1	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण) भाग-2	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (अद्वैत प्रकरण) भाग-3	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (अलात शान्ति) भाग-4	100.00
ईशावास्य प्रवचन	20.00
ईशानुभूति (ईशावास्योपनिषद् के आधार पर)	45.00
केनोपनिषद्	150.00
कठोपनिषद् (दो भागोंमें)	250.00
बृहदारण्यकोपनिषद्	120.00
श्वेताश्वतरोपनिषद्	150.00
छान्दोग्य-बृहदारण्यक एक दृष्टिमें	40.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 1	100.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 2	100.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 3	120.00
दृग दृश्य विवेक	200.00
विवेक कीजिये (विवेक चूड़ामणि प्रवचन)	100.00
अपरोक्षानुभूति प्रवचन	120.00
वेदान्त बोध	110.00
साधना और ब्रह्मानुभूति	70.00
महाराजश्रीकी डायरीसे	60.00
आनन्द सूत्र	40.00
आनन्दानुभव	35.00
जीवन्मुक्ति विवेक	150.00
अष्टावक्रगीता	50.00
अष्टावक्रगीता प्रवचन	90.00
मिथ्यात्व ज्ञान	20.00
ध्यान और ज्ञान	90.00
गम्भीर चिन्तन	200.00
निगम चिन्तन	100.00

श्रीमद्भगवद्गीता

गीता-रस-रत्नाकर (सम्पूर्ण गीता)	200.00
सांख्ययोग (गीता अध्याय-2)	200.00
कर्मयोग (गीता अध्याय-3)	60.00
ध्यानयोग (गीता अध्याय-6)	150.00
ज्ञान-विज्ञान-योग (गीता अध्याय-7)	130.00
अक्षर ब्रह्मयोग (गीता अध्याय-8)	50.00
राजविद्या राजगुह्ययोग (गीता अध्याय-9)	90.00
विभूतियोग (गीता अध्याय-10)	175.00
भक्ति योग (गीता अध्याय-12)	90.00
ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (गीता अ.-13)	250.00
पुरुषोत्तमयोग (गीता अध्याय-15)	120.00
दैवी-सम्पदयोग (गीता अध्याय-16)	50.00
दैनिक जीवनमें गीता	170.00
योग: कर्मसु कौशलम्	20.00
मामेकं शरणं ब्रज	45.00
गीतामें भक्तिज्ञान समन्वय	30.00
गीतामें मानवधर्म	25.00
वासुदेव: सर्वम्	10.00
मया ततमिदं सर्वं (मेरा सब ताना-बाना)	25.00
गीता दर्शन (तीन भागोंमें)	650.00

श्रीमद्भागवत

भागवत दर्शन (दो भागोंमें)	600.00
ईशानुकथा (नवम स्कन्ध)	30.00
भागवत - दशम स्कन्ध	150.00
मुक्ति स्कन्ध (एकादश स्कन्ध) (दो भागोंमें)	270.00
रास पंचाध्यायी	150.00
श्रीकृष्णलीला रहस्य	80.00
भागवतामृत	150.00
भागवत व्यंजन	50.00
भागवत सर्वस्व	80.00
गोपीगीत	100.00
वेणुगीत	40.00
युगलगीत	50.00
प्रणयगीत	60.00
गोपियोंके पाँच प्रेमगीत	20.00

उद्धवगीत	25.00
कपिलोपदेश	80.00
ब्रह्म-स्तुति	85.00
हंसगीता (हंसोपाख्यान)	15.00
सद्गुरुसे क्या सीखें ?	15.00
उनकी कृपा	20.00
ऊखल बन्धन लीला	50.00
सत्संग महिमा	20.00
प्रह्लाद चरित	60.00
उद्धव व्रजगमन	270.00
भागवत विमर्श (दो भागोंमें)	65.00
मानव जीवन और भागवत धर्म	100.00
गर्भ स्तुति	60.00
वसुदेव देवकी स्तुति	20.00
भागवत विचार दोहन	90.00
भिक्षुगीत	35.00
मैं ही मैं (चतु:श्लोकी भागवत)	40.00
सुदामा चरित	20.00
रामायण	
श्रीरामचरितमानस (तीन भागोंमें)	1000.00
अध्यात्म रामायण	250.00
श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत	100.00
मानस दर्शन	40.00
सुन्दरकाण्ड (वाल्मीकि रामायणान्तर्गत)	75.00
श्रीमद्वाल्मीकि रामायण	400.00
भक्ति एवं साधना	
विष्णु पुराण	.00
भक्ति एवं लीला	60.00
नाम महिमा	25.00
भगवन्नाम	10.00
शरण	10.00
प्रार्थना	10.00
नारद भक्ति दर्शन	160.00
भक्ति सर्वस्व	185.00
भक्तिदर्शनामृत	50.00
भक्तिका चमत्कार	35.00
अवतार रहस्य	20.00
माधुर्य कादम्बिनी	30.00
शिव संकल्प सूक्त	50.00
कृष्ण-कृष्णके उच्चारणसे कृष्ण प्राप्ति	15.00
मोहनकी मोहनी	20.00
ध्यानके समय	20.00
हनुमत्स्तोत्र	30.00
सत्संग सुधा	20.00
प्रार्थना षट्पदी	40.00
साधन विचार	50.00
मंत्र विज्ञान	30.00
योगदर्शन	100.00
भगवान्के पाँच अवतार	50.00
विष्णु सहस्रनाम	65.00
भक्त-चरित	15.00
भक्ति : विशेषताएँ	10.00
आदित्य हृदय स्तोत्र	15.00
श्रीअखण्डानन्द स्तव:	6.00
ब्रह्ममूर्ति श्रीउड़िया बाबा	90.00
महाराजश्री-एक परिचय	25.00
सबके प्रिय सबके हितकारी	25.00
प्रेरक-प्रसंग	20.00
श्रीपूर्णानन्द तीर्थ स्तव: (चित्रावली)	100.00
श्रीगुरुदेव प्रात: स्मरणम्	35.00
भिक्षु स्वामी शंकरानन्द	20.00
पावन प्रसंग	150.00

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी.जी. खेरमार्ग, मालाबार हिल, मुम्बई-400006

फोन : (022) 23682055 (समय 11 से 6 बजे तक) मो. : 09619858361

शाखा कार्यालय : श्रीअखण्डानन्द पुस्तकालय, आनन्द कुटीर, मोतीझील

वृन्दावन-281121, फोन : (0565) 3205722, मो. : 09837219460

उद्धव व्रजगमन

भगवान्‌की भक्ति करनेवाला भगवान्‌के पक्षमें है ऐसा कहा जायेगा-कुछ भगवान्‌के विपक्षी भी होते हैं, पर आप तो पक्षी होंगे, संसारका बन्धन छोड़ आनन्दके आकाशमें उड़नेवाले-या-हो सकता है आप पक्षियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ हों-नीर-क्षीर विवेकी हों-हंस हों, हंस भी न हों-आप परमहंस हों-परमहंस भी न हों-श्रीपरमहंस हों।

बस यह कथा है-उद्धव जैसे ज्ञान प्रधान भक्तकी जो 'भ्रमर-गीत' सुन, गोपियोंकी गालियाँ सुन, भक्ति प्रधान ज्ञानी हो जाते हैं।

यह गाथा है एक परिवर्तन की अपने उद्धव बनानेकी-वृन्दावन जानेकी-भगवान्‌के पास आनेकी, उनके भक्तों द्वारा सुनाये गीत उन्हींके सामने गुनगुनानेकी-शिकायत भुनभुनानेकी-भेदके भ्रमको भगानेकी, ज्ञानका बीज उगानेकी उसे भक्तिके रूपमें प्रल्लवित, पुष्पित, फलित करनेकी तथा पुनः भक्तिरूपी रसीले बिना छिलकेवाले फलसे ज्ञान रूपी बीज प्राप्त करनेकी।

आइये! भगवान्‌के पक्षी हो-ज्ञान-भक्तिका पंख (पक्ष) लगाकर आनन्दाकाशमें विचरण करें!

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट

आनन्दकानन प्रेस
टेढ़ीनीम, वाराणसी • फोन : 2392337